कल्याण
वर्ष १६ अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ६२१००]

विषय-विकार मिटाओ, पाप हरो देवा ।
श्रद्धा-भक्ति बढ़ाओ, संतनकी सेवा ॥
ॐ जय जगदीश हरे !

वार्षिक मूल्य भारतमें ५≈) विदेशमें ७॥=) (शिल्डिङ्ग ११½)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≈) (८ पैंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India).

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण मार्च सन् १९४२ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-**गीता**-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५२०, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २॥) बढ़िया कपड़ेकी जिल्द २॥।)
२-**गीता**-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५८०, ४ चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ··· १।)
३-**गीता**-प्रायः सभी विषय १।) वालीकी तरह, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४७२, मूल्य ॥≈) सजिल्द ··· ॥।=)
४-**गीता**-बंगला टीका, प्रायः सभी विषय हिन्दी गीता ॥≈) वालीकी तरह, पृष्ठ ५४०, मूल्य ··· ॥।)
५-**गीता**-गुटका (पाकेट साइज) हमारी १।)वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९-३२ पेजी, पृष्ठ ५८८ स० मू० ॥)
६-**गीता**-मोटे टाइप, साधारण भाषाटीकासहित, साइज मझोला, पृष्ठ ३२०, मूल्य ॥), सजिल्द ··· ॥≈)
७-**गीता**-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ १०६, मूल्य ।-), सजिल्द ··· ··· ।≈)
८-**गीता**-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मूल्य ।) सजिल्द ··· ।=)
९-**गीता**-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृष्ठ ३३६, सजिल्द, मूल्य ··· ··· ।)
१०-**गीता**-साधारण भाषाटीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥ सजिल्द ≈)॥
११-**गीता**-मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च, पृष्ठ २९६, सजिल्द मूल्य ··· ··· =)
१२-**गीता**-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· -)॥
१३-**गीता**-७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ··· ··· ··· -)
*१४-**गीताडायरी**-यह हर साल नयी छपती है। अजिल्द ।) सजिल्द ··· ··· ।-)
१५-**श्रीरामचरितमानस (मूल मोटा टाइप)**-पृष्ठ ८००, सुनहरे चित्र ७, सजिल्द मूल्य ··· ३॥)
१६-**श्रीरामचरितमानस (मूल-गुटका)**-पृष्ठ ६८८, चित्र २ रंगीन और ७ लाइन ब्लॉक, सजिल्द, मूल्य ··· ॥)
१७-**ईशावास्योपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ··· ··· ≈)
१८-**केनोपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ··· ··· ॥)
१९-**कठोपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ··· ··· ॥-)
२०-**मुण्डकोपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· ।≈)
२१-**प्रश्नोपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· ··· ।≈)
उपर्युक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ··· ··· २।-)
२२-**माण्डूक्योपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३०४, मूल्य ··· १)
२३-**तैत्तिरीयोपनिषद्**- ,, ,, पृष्ठ २५२, मूल्य ··· ॥।-)
२४-**ऐतरेयोपनिषद्**- ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ··· ।=)
उपर्युक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ··· ··· २।=)
२५-**छान्दोग्योपनिषद्**-(उपनिषद्-भाष्य खण्ड ३) सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ-संख्या ९६८, चित्र ९, सजिल्द ३॥।)
२६-**श्वेताश्वतरोपनिषद्**-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, साइज डिमाई आठपेजी, पृष्ठ २७२, सचित्र, मोटा टाइप, मू० ॥।=)
२७-**श्रीमद्भागवत-महापुराण**-(मूल गुटका) पृष्ठ ७६८, सचित्र, सजिल्द ··· ··· २॥)
२८-**श्रीविष्णुपुराण**-हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ६२८, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जिल्द ··· २॥।)
२९-**श्रीकृष्णलीलादर्शन**-करीब ७५ सुन्दर-सुन्दर चित्र और उनका परिचय, पृष्ठ १६०, सजिल्द, मूल्य ··· २॥)
३०-**भागवतस्तुतिसंग्रह**-(सानुवाद, कथाप्रसंग और शब्दकोषसहित) सजिल्द, मूल्य ··· २।)
३१-**अध्यात्मरामायण**-सातों काण्ड, सम्पूर्ण मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ४०८, मूल्य १॥।) सजिल्द २)
३२-**श्रीतुकाराम-चरित्र**-पृष्ठ ५९२, चित्र ९, मूल्य १≈) सजिल्द ··· ··· १॥)
३३-**भागवतरत्न प्रह्लाद**-३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, पृष्ठ ३४४, मूल्य १) सजिल्द १।)

* पुस्तक समाप्त हो गयी है।

३४-विनय-पत्रिका-गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनु०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, ६ चित्र, मू० १) स० १|)
३५-गीतावली- ,, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, अनु०-श्रीमुनिलालजी, ८ चित्र, पृष्ठ ४६४, मूल्य १) सजिल्द १|)
३६-श्रीकृष्ण-विज्ञान-गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७२, मूल्य |||) सजिल्द ... १)
३७-श्रीश्रीचैतन्यचरितावली-(खं० १)-लेखक-श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ २९६, मूल्य |||=) सजिल्द १=)
३८- ,, ,, (खं० २)-९ चित्र, ४६४ पृष्ठ, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ, मूल्य १=) सजिल्द १|=)
३९- ,, ,, (खं० ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ... १|)
४०- ,, ,, (खं० ४)-१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ||=) सजिल्द ... |||=)
४१- ,, ,, (खं० ५)-१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य |||) सजिल्द ... १)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली-पाँचों भाग--पूरी पुस्तक सजिल्द (दो जिल्दोंमें) लेनेसे ||=) कम लगता है। अलग-अलग अजिल्द ४|=) सजिल्द ५||=) पाँचों भाग दो जिल्दोंमें ... ... ५)

४२-मुमुक्षुसर्वस्वसार-भाषाटीकासहित, अनुवादक-श्रीमुनिलालजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य |||-) सजिल्द ... १-)
४३-तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३६०, एण्टिक कागज, मूल्य ||=) स० |||-)
४४- ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ४४८, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य |-) स० |=)
४५- ,, भाग २- ,, ,, ,, ६३२, मूल्य |||=) सजिल्द १=)
४६- ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ७५०, सचित्र, प्रचारार्थ मूल्य |=) स० ||)
४७- ,, भाग ३- ,, ,, ,, ४६०, मूल्य ||≡) सजिल्द |||=)
४८- ,, ,, ,, (गुटका) ,, ,, ,, ५६०, सचित्र, मूल्य |-) सजिल्द |=)
४९- ,, भाग ४- ,, ,, ,, ५७०, सचित्र, मूल्य |||-) सजिल्द १)

५०-पूजाके फूल-सचित्र, पृष्ठ ४२०, मूल्य |||-)
५१-देवर्षि नारद-५ चित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य |||) स० १)
५२-शरणागतिरहस्य-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ||≡)
५३-श्रीभगवन्नामकौमुदी-सानुवाद, पृष्ठ ३३६ सचित्र, ||=)
५४-श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृष्ठ २८६, मूल्य ||=)
५५-शतपञ्च चौपाई-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३४०, मू० ||=)
५६-सूक्ति-सुधाकर-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७६, मू० ||=)
५७-ढाई हजार अनमोल बोल(संतवाणी) पृष्ठ ३५२, ||=)
५८-आनन्दमार्ग-सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ||-)
५९-कवितावली-गो० तुलसीदासजीकृत, सटीक, ४चित्र, ||-)
६०-दोहावली-(सानुवाद) अनु०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दो रंगीन चित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ||)
६१-श्रुतिरत्नावली-सचित्र, सम्पा०-श्रीभोलेबाबाजी, मू० ||)
६२-स्तोत्ररत्नावली-अनुवादसहित, ४ चित्र (नये संस्करणमें ७४ पृष्ठ बढ़े हैं) मूल्य ||)
६३-दिनचर्या-सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ||)
६४-तुलसीदल-सचित्र, पृष्ठ २९८, मूल्य ||) सजिल्द ||≡)
६५-श्रीएकनाथ-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ २४४, मूल्य ||)
६६-नैवेद्य-लेखक--श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ २७६, मूल्य ||) सजिल्द ||≡)
*६७-सुखी जीवन-पृ० २२८, मूल्य ||)

६८-भक्त-भारती-(सचित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र |≡)
६९-तत्त्व-विचार-सचित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य |=)
७०-उपनिषदोंके चौदह रत्न-पृष्ठ १०४, चित्र १४, मू० |=)
७१-लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृष्ठ ३६८, मूल्य |=)
७२-भक्त नरसिंह मेहता-सचित्र, पृष्ठ १८०, मूल्य |=)
७३-विवेक-चूडामणि-सचित्र, सटीक, पृष्ठ १९२, |-), ||)
७४-भक्तराज हनुमान्-सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य |-)
७५-सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र-सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य |-)
७६-भक्त बालक-५ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य |-)
७७-भक्त नारी-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ८०, मूल्य |-)
७८-भक्त-पञ्चरत्न-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० |-)
७९-आदर्श भक्त-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० |-)
८०-भक्त-सप्तरत्न-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १००, मू० |-)
८१-भक्त-चन्द्रिका-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९६, मू० |-)
८२-भक्त-कुसुम-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ ९४, मूल्य |-)
८३-प्रेमी भक्त-९ चित्रोंसे सुशोभित, पृष्ठ १०८, मूल्य |-)
८४-प्राचीन भक्त-चित्र बहुरंगे १२, सादा १, पृष्ठ १५२, मू० ||)
८५-भक्त-सौरभ-चित्र बहुरंगे ५, पृष्ठ ११६, मूल्य |-)
८६-भक्त-सरोज-चित्र बहुरंगे ९, पृष्ठ ११६, मूल्य |=)
८७-भक्त-सुमन-चित्र बहुरंगे ७, सादे २, पृष्ठ १२०, मू० |=)
८८-प्रेमी भक्त उद्धव-३ रंगीन चित्र, पृष्ठ ६८, मूल्य ≡)

* पुस्तक समाप्त हो गयी है, पुनर्मुद्रण होनेपर मिल सकेगी।

Our English Publications

1. The Philosophy of Love (By Hanumanprasad Poddar) 1-0-0
2. The Story of Mira Bai (By Bankey Behari) 0-13-0
3. Gems of Truth (By Jayadayal Goyandka) 0-12-0
4. Mysticism in the Upanishads (By Bankey Behari) 0-10-0
5. Songs from Bhartrihari (By Lal Gopal Mukerji and Bankey Behari) 0-8-0
6. Mind: Its Mysteries & Control (By Swami Sivananda) Part I 0-8-0
7. " " Part II 1-0-0
8. Way to God-Realization (By Hanumanprasad Poddar) 0-4-0
9. Gopis' Love for Sri Krishna (By Hanumanprasad Poddar) 0-4-0
10. The Divine Name and Its Practice (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
11. Our Present-day Education (By Hanumanprasad Poddar) 0-3-0
12. The Immanence of God (By Malaviyaji) 0-2-0
13. Wavelets of Bliss (By Hanumanprasad Poddar) 0-2-0
14. The Divine Message (By Hanumanprasad Poddar) 0-0-9

MANAGER—THE GITA PRESS, GORAKHPUR.
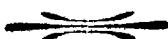
पुस्तकें मँगानेवालोंके लिये कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।≈) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्रायः गुम हो जाया करता है; अतः इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

(५) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका महसूल कम लगता है और वह कल्याणके ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता, कल्याण-कार्यालय स्वयं बरदास्त करता है। पर प्रेसकी पुस्तकों और चित्रोंपर ॥) सेर डाकमहसूल और ≶) फी पार्सल रजिस्ट्रीखर्च लगता है, जो कि ग्राहकोंके जिम्मे होता है। इसलिये 'कल्याण' के साथ किताबें और चित्र नहीं भेजे जा सकते, अतः गीताप्रेसकी पुस्तक आदिके लिये अलग आर्डर देना चाहिये।

कमीशन-नियम

ग्राहकोंको कमीशन १२॥) सैकड़ा दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें या ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। फ्री डिलीवरीके योग्य पुस्तकोंके साथ भी ३०) से कमके चित्रोंकी फ्री डिलीवरी नहीं दी जा सकेगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंका और चित्रोंके ही कारण पुस्तकों पर जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा। पुस्तक-विक्रेताओंको विशेष कमीशनके लिये पत्र देकर पूछना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

नोट—जहाँ हमारी पुस्तकें बुकसेलरोंके पास मिलती हों वहां उन्हींसे खरीदनेमें थोड़ी पुस्तकें यहाँसे मँगवानेपर जो खर्च पड़ता है उससे कममें या उतनेमें ही मिल जाती हैं। अतः थोड़ी पुस्तकें बुकसेलरोंसे ही लेनेमें सुविधा होनेकी सम्भावना है।

शस्त्रशिक्षा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, मार्च १९४२ सौर फाल्गुन १९९८ { संख्या ८ पूर्ण संख्या १८८

चरण-वन्दन

चरन कमल बंदौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई ॥ १ ॥
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तेहि पाई ॥ २ ॥
—सूरदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम् ॥
(ऋ० १ । ५० । १३)

उदय हुआ यह आत्मसूर्य है, लिये निखिल बल-तेज महान ।
करता हुआ नाश द्वेषीका, करूँ न मैं पर-हिंसा-भान ॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥
(अथर्व० ३ । २४ । ५)

सौ हाथोंसे करो इकट्ठा तुम धन-वैभव-यान ;
पर हजार हाथोंसे कर दो प्यारे ! उसका दान ।
जोती, बोई और कमाई करै फसलकी वृद्धि ;
एक-एक दानेसे सौ-सौ दानोंकी हो सिद्धि ।
कर ले प्राप्त फसल तू अपनी, बढ़ती हुई समृद्धि ;
खूब फूल-फल इस जगतीमें भर जीवनमें ऋद्धि ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥
(ऋ० १० । १३७ । १; अ० ४ । १३ । १)

नीचे गिरा हुआ हूँ प्रभुवर ! हाथ पकड़कर मुझे उठा लो ।
पापी हूँ मैं पतित पुरातन, जीवन देकर देव सँभालो ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥
(अथर्व० ४ । १९ । ६)

असत् भूमिसे उठकर घेरे अन्तरिक्ष-सा क्षेत्र महान् ।
और भले ही बढ़कर ढक ले स्वर्गलोक-आलोक-वितान ॥
सह न सकेगा किन्तु बोझ वह अपना ही, गिर जायेगा ।
सन्तापित कर स्वयं जनकको लौट उसीपर आयेगा ॥

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—महाराजजी ! उपासनामें कैसे रुचि हो ?

उत्तर—उपासना करनेसे ही उपासनामें रुचि हो सकती है। जिसका जो इष्ट हो, उसे निरन्तर उसीका चिन्तन करते रहना चाहिये। हम जिसकी निरन्तर भावना करेंगे, वह वस्तु हमें अवश्य प्राप्त हो जायगी। उपासक तो एक नयी सृष्टि पैदा कर लेता है। इस प्राकृत संसारसे तो उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

प्र०—भगवन् ! ऐसी दिव्य दृष्टि कैसे प्राप्त हो ?

उ०—वह तो भगवद्भजनसे ही प्राप्त हो सकती है। भजनसे ऐसी कौन चीज है, जो प्राप्त नहीं हो सकती। इससे अष्ट सिद्धि और निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त हो सकती है। ऐसे महापुरुषोंको ही दिव्य वृन्दावनके दर्शन होते हैं, साधारण बुद्धिवाले उसे कैसे देख सकते हैं। वास्तवमें भक्त और ज्ञानी इस सृष्टिमें नहीं रहते। उनकी तो सृष्टि ही अलग होती है। इस सृष्टिमें तो वे आग लगाकर आते हैं।

प्र०—महाराजजी ! उनकी सृष्टि कैसी होती है ?

उ०—जिसमें निरन्तर रास हो रहा है।

प्र०—वह कैसे दीखे ?

उ०—जो इस दुनियासे अंधे हैं, उन्हें ही वह दिव्य रास दिखायी देता है।

प्र०—इस दुनियाके त्यागका क्या स्वरूप है ?

उ०—इस संसारके त्यागके दो रूप हैं—देहत्याग और गेहत्याग। देहत्याग तो यह है कि लँगोटीको भी फेंक दिया जाय, तथा गेहत्याग यह है कि पञ्चकोषसे अलग हो जाय।

× × × ×

१. यदि भगवान्‌का चिन्तन करते हुए हमें संसारकी चीजें अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिये कि हम अभी अपने लक्ष्यसे कोसों दूर हैं। जब संसारकी बढ़िया-से-बढ़िया चीजको देखकर भी हमें घृणा हो तभी समझना चाहिये कि कुछ भगवदनुराग हुआ। भगवद्भक्तको तो सभी चीजें तुच्छ दिखायी देनी चाहिये।

२. याद रक्खो नाम मन्त्रसे भी बढ़कर है; क्योंकि मन्त्रजपमें तो विधिकी आवश्यकता है, किन्तु नामजपमें कोई विधि नहीं है। नाममें इतनी शक्ति है कि इससे संसारसमुद्र भी सूख जाता है। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

३. कर्म और उपासनासे ज्ञानका कोई विरोध नहीं है, उसका विरोध तो अज्ञानसे ही है।

रसनासे अनुरोध

क्षणभंगुर जीवनकी कलिका
कल प्रातको जाने खिली न खिली;
मलयाचलकी शुचि शीतल मन्द
सुगन्ध समीर मिली न मिली।
कलि-काल कुठार लिये फिरता,
तन 'नम्र' से चोट झिली न झिली;
कह ले हरि-नाम अरी रसना !
फिर अन्त-समयमें हिली न हिली॥

—'नम्र'

खोल दे पलक !

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

खोल दे पलक, देख ले झलक, कहाँ है खलक ! न काया है न माया है, न धूप है न छाया है, आपमें आप समाया है ! न ग्राम है न नाम है, न हड्डी है न चाम है; तू पूर्णकाम, आप्तकाम है ! न रूप है न कुरूप है, रूप तेरा अनूप है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है ! न रोग है न राग है, न योग है न याग है, न तुझमें लपेट है न लाग है ! न द्वेष है न दोष है, न क्रोध है न रोष है; तू निष्कलंक है, निर्दोष है ! न पास है न दूर है, विश्वमें भरपूर है, हाजिर हुजूर है ! न दुखी है न दीन है, न मोटा है न महीन है; हृष्टपुष्ट सर्वांगपीन नित्यनवीन है ! न दरिद्री है न कंगाल है, पूर्णधनी-मालामाल है; लालोंका लाल है ! बाहर है, अंदर है, सबसे अधिक सुन्दर है; निर्गुण होकर भी गुणमन्दिर है ! सारका भी सार है, सर्वाधार-निराधार है; तू ही वार है, तू ही पार है ! तूने आप अपनी कर ली आड़ है, तभी झोंकने लगा भाड़ है; बीजका हो गया झाड़ है ! जबसे तूने चाहा नाम, तभीसे बिगड़ गया सब काम; खो दी सारी प्रतिष्ठा, हो गया बदनाम ! डस लिया तुझे सर्प काम, भूल गया अपना नाम; फिरने लगा ग्राम-ग्राम ! क्रोधाग्निसे उबलने लगा, भीतर-ही-भीतर घुलने लगा, चिन्ता-चितामें जलने लगा; लोभने कर दीं आँखें बंद, सूझता भी हो गया अंध, करने लगा अंधा-धुंध ! कायासे तूने कर लिया है संग, तभी हो रहा तंग; नहीं तो तू है असंग ! छोड़ दे उसका संग, हो जा अनंग; दुःखका कर दे भंग ! यह देह है जड, तू है अजड; देह है असत्, तू है सत्; देह है दुःखरूप, तू है सुखस्वरूप; फिर तेरा और देहका मेल ही कैसे हो सकता है ! कहीं रात-दिनका मेल होता है ! कहीं रज्जु भी सर्प हुई है ! सचको झूठ जानता है, झूठको सच मानता है; उलटी तानता है । जब कष्ट आता है, रोता-चिल्लाता है ! कालको, कर्मको, ईश्वरको दोष लगाता है ! ऐनक-पर-ऐनक लगा ली है, आँखें ढक गयी हैं; फिर दीखे कहाँसे । अपनेको पराया जानता है, परायेको अपना मानता है; देशको भूल गया है, परदेशको देश समझ बैठा है ! परदेशमें कहीं सुख मिलता है । सुख तो देशमें ही होता है । बाहर भटक रहा है, घरकी खबर नहीं है ! अरे ! तेरे घरमें अटूट खजाना भरा हुआ है, फिर भी तू कौड़ी-कौड़ीको मोहताज हो रहा है ! करोड़पति होकर दो कौड़ीका आदमी बन गया है ! पुण्यवश लाखका घर मिल गया है, लाखके घरको खाक क्यों कर रहा है ! आँखें खोल दे; बाहर मत देख, भीतर देख ! जगत्में तेरी ही रोशनी है, तेरी रोशनीमें ही सब काम हो रहा है ! तेरी चमकसे सूर्य चमकता है, तेरी दमकसे ही चन्द्र दमक रहा है, तू ही पृथ्वीमें प्रवेश करके चराचरका पालन-पोषण करता है ! तू ही अग्नि होकर बाहर और भीतर-के अन्नको पकाता है, तू ही गङ्गा-यमुना आदि होकर बह रहा है, समुद्रमें तेरी ही गम्भीरता है, पवनमें तेरी ही गति है, आकाशरूप होकर तू ही सबको अवकाश दे रहा है ! जैसे तुझमें ब्रह्माण्ड कल्पित है, उसी प्रकार कल्पित देह है, इसमें नहीं रत्तीभर भी सन्देह है ! जब तू कानके साथ मिल जाता है तब रोचक, भयानक और यथार्थ शब्द सुनने लग जाता है; जब तू चमड़ीके साथ मेल कर लेता है तब ठिठुरने अथवा तपने लगता है; जब तू आँखका संग करता है तब चकाचौंधमें पड़ जाता है; जब तू जीभके साथ अभ्यास करता है, तब तेरी लार टपकने लगती

है और जब तू नासिकाके साथ सम्बन्ध करता है, तब तू नाक सिकोड़ने अथवा फुलाने लगता है। जब तू वाणीमें प्रवेश करता है, तब खोटी-खरी कहने लगता है; जब तू हाथपर बैठ जाता है, तब लपकने लगता है; जब पैरके साथ एकमेक हो जाता है, तब कोस नापने लगता है; जब तू उपस्थमें स्थित होता है, तब आनन्द मानता है और जब तू पायुके साथ मिलनेका भ्रम करता है, तब वेगका त्याग करता-सा दीखता है। जब तू मनमें घुस जाता है, तो चौदह लोकोंकी खबर लाता है; हर्ष, शोक, संकल्प-विकल्प, लज्जा-भय, संशय-संकोच, राग-द्वेष करने लगता है; बुद्धिमें घुसकर विज्ञाता, चित्तमें बैठकर स्मरणकर्त्ता और अहंकारके साथ मिलकर अहंकारी बन जाता है। प्राणके साथ मेल करनेसे भूखा-प्यासा प्रतीत होता है। अनुकूल पदार्थ मिलनेसे सुखी और प्रतिकूल मिलनेसे दुखी होता है। वस्तुतः तू आत्मा ही अनुकूल है, तेरे सिवा सभी अनात्म पदार्थ प्रतिकूल हैं, तेरी अनुकूलतासे प्रतिकूल भी कभी-कभी अनुकूल-से भासते हैं; नहीं तो स्वरूपसे तेरे सब प्रतिकूल होनेसे दुःखरूप ही हैं, इसलिये तू विशेष करके दुःख ही पाता है! देख! द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता, भोक्ता भोग्य नहीं हो सकता, प्रमाता प्रमेय नहीं हो सकता। तुझ असंग आत्मामें द्रष्टापन, भोक्तापन और प्रमातापन भी सम्भव नहीं है; भ्रमसे तुझमें द्रष्टापन आदिका अनुभव होता है। भ्रम अनर्थका कारण है। भ्रमसे ही तू नाना प्रकारके कष्ट पा रहा है। दृश्य, भोग्य और प्रमेय विषयोंका संग छोड़ दे; फिर तू न द्रष्टा है, न भोक्ता है, और न प्रमाता है, किन्तु अखण्ड सुखस्वरूप आत्मा है! मैं तेरी हितकारिणी हूँ, सबका हित चाहती हूँ। सुख और सुखके साधन बताना मेरा काम है। सावित्रीरूपसे मैं इस लोकके भोगोंकी प्राप्ति कराती हूँ, गायत्रीरूपसे उच्च लोकोंके दिव्य भोग प्राप्त कराती हूँ, और सरस्वती बनकर स्वाराज्य-कैवल्य-निर्वाण पदकी प्राप्ति कराती हूँ! यद्यपि मैं निरन्तर सबका हित करनेके लिये पुकारती ही रहती हूँ, फिर भी जिस किसीका कोई महान् पुण्य उदय होता है, जिसका भाग्य जागनेवाला होता है, वही मेरी वाणी सुन सकता है! तेरा कोई बड़ा भारी पुण्य उदय हुआ है; इसलिये जैसे कौसल्या रानी श्रीरामको और यशोदा रानी श्रीकृष्णको जगाया करती थीं, उसी प्रकार मैं तुझे जगा रही हूँ! जाग जा! तीनों शरीर ज्वरवाले हैं; तू ज्वरोंसे रहित, केवल आनन्द-स्वरूप है! तीनों शरीर मिथ्या हैं; तू तीनों कालमें एकरस रहनेवाला, सत्यस्वरूप है; तीनों शरीर जड़ और परिच्छिन्न हैं और तू चेतनस्वरूप अपरिच्छिन्न है! तेरा और तीनों शरीरोंका किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं हो सकता; तू अपनेको नहीं जानता, इसीसे तुझे सम्बन्ध भासता है! मेरा कहना मान जा, अपनेको जान जा! जाग जा, आँखें खोल दे, जाग जा!! मोह-निद्रा त्याग दे, बच्चा जाग जा! मुन्ना जाग जा! लल्ला जाग जा!

श्रुतिभगवतीकी शोक-मोह-नाशक अमृत-रस-भरी वाणी सुनकर मुमुक्षुने खोल दिये पलक, देख ली अपनी अद्भुत झलक! भाग गया कलकमय खलक! हो गया बेखटके, बेकलक! शरीरसहित भी अशरीर होकर सुखसे विचरने लगा! बोलो, तरन-तारिणी भव-भय-हारिणी, कल्याणकारिणी, जगज्जननी श्रुतिमातेश्वरीकी जय!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

संत-वाणी

जो प्राणी आनन्दघन भगवान्‌के वास्तविक स्वरूप तथा अलौकिक गुणोंको जान लेता है। वह शरणागत होनेके लिये बाध्य हो जाता है; शरणागत होनेपर फिर और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता, यह भक्तियोगका अन्तिम साधन है। शरणागति जीवनमें केवल एक बार होती है। जिस प्राणीको अपने व्यक्तित्वका कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागतिके रसको चख सकता है। यह रस अत्यन्त मधुर तथा परम पवित्र है। कामनायुक्त प्राणी शरणागत हो नहीं सकता। यह सभी जानते हैं कि विषयोंसे अरुचि अर्थात् भोगवासनाओंका अन्त होनेपर शरीर तथा संसारकी सभी परिस्थितियाँ व्यर्थ तथा निरर्थक हो जाती हैं, संसारका मूल्य कुछ भी नहीं रहता। समानता स्वाभाविक आ जाती है और फिर वह प्राणी शरणागत होनेका अधिकारी हो जाता है। शरणागतिके अधिकारीको प्रियतमकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, वरं वे स्वयं प्रतीक्षा करते रहते हैं, विषयोंसे अरुचि स्वाभाविक होती है, और द्वेष प्रयत्नसे होता है। जबतक विषयोंसे द्वेष रहता है, तबतक ही विषयी प्राणियोंसे घृणा करता है और जबतक विषयोंसे राग होता है तबतक विषयी प्राणियोंसे प्रीति होती है। प्रीति तथा घृणा दोनों ही मनमें विकार तथा अहङ्कारको जीवित रखते हैं, विषयोंसे अरुचि होनेपर प्रीति तथा घृणा नहीं रहती। उस बेचारेको तो संसारका तत्त्वज्ञान हो जाता है। किसी व्यक्तिके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, अर्थात् सभी व्यक्तियोंसे पूर्ण असङ्गता होती है, उसके हृदयमें शुद्ध प्रेमके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्तिसे नहीं होता, व्यक्तियोंसे तो राग-द्वेष ही हो सकता है। और त्याग भी किसी व्यक्तिविशेषका नहीं होता। त्याग कुल संसारका और प्रेम जो संसारातीत है, उससे होता है। अथवा त्याग शरीरका और प्रेम जो शरीरसे परे है, उससे होता है।

जो प्राणी बड़े-बड़े भोगोंको प्राप्त करना चाहता है, उसकी शुभकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। यद्यपि वर्तमानमें बड़ा तप तथा त्याग करता है, किन्तु उसका विषयोंसे राग निवृत्त नहीं होता। शुभकर्मवादी स्थूलशरीरका त्याग नहीं कर सकता और न स्थूलशरीरकी गुलामीसे ही छूट सकता है। जो प्राणी और भी ऊँचे-ऊँचे लोक-लोकान्तरोंकी अभिलाषा करता है, वह भी विषयोंसे पार नहीं हो पाता। यद्यपि स्वर्गादि भोगोंका त्याग करता है, फिर भी बेचारा विषयोंसे छूट नहीं पाता। उस प्राणीको स्थूलशरीरका सङ्ग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्मशरीरका सङ्ग करना पड़ता है, अर्थात् भावनाओंके द्वारा वह अपने प्रेमपात्रके लोकोंमें गमन करता है। जो प्राणी लोक-लोकान्तरकी अभिलाषाका त्याग कर देता है, परन्तु समाधिजन्य आनन्दका त्याग नहीं करता, वह बेचारा भी विषयोंसे छूट नहीं पाता। यद्यपि उसका किसी वस्तुसे सम्बन्ध नहीं होता परन्तु जो सभी वस्तुओंका कारण है, उस अनन्तशक्तिसे उसका सम्बन्ध रहता है, और कारण-शरीरका सङ्ग करना पड़ता है। शरणागत होनेपर वह सभी शरीरोंसे और विषयोंसे छूट जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जिस व्यवहारमें लेशमात्र भी सङ्कोच हो, मत करो। अचिन्त्य तथा अभय अपना स्वभाव बना लो। किसी प्रकारका भी चिन्तन न होने दो। यदि आ जाय तो विचारपूर्वक उसका त्याग कर दो। कोई भी काम जमा न रक्खो। आनन्द आपकी प्रतीक्षा करता है, उससे भूलकर भी निराश मत हो।

—स्वामी शरणानन्द

भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

[भाग १६, अङ्क ४, पृष्ठ १२४७ से आगे]

(३)

इस परमतत्त्वके निराकार स्वरूपको परमरूप मानकर उसके विशुद्धसत्त्वात्मक रूपको इस परमतत्त्वकी प्राप्तिका निकटतम उपाय अङ्गीकार करके आलोचना की जा चुकी है। किन्तु एकमात्र यही आलोचनाकी पद्धति नहीं है; दूसरी दृष्टि भी है और वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है।

भागवतमें यह बात स्पष्ट ही कही गयी है कि एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन प्रकारसे कहा गया है—

> वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
> (१।२।११)

जिस प्रकार एक ही वस्तु दूध भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जानेपर भिन्न-भिन्न गुणोंवाला जान पड़ता है—जैसे नेत्रोंके द्वारा शुक्ल, रसनाके द्वारा मधुर इत्यादि—उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व वस्तुतः अद्वय होनेपर भी उपासनाके भेदसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण किया जाता है। उसकी प्रतीति ज्ञानीके प्रति ब्रह्मरूपसे, योगीके प्रति परमात्मारूपसे और भक्तके प्रति भगवद्रूपसें होती है।* परन्तु एक ही तत्त्व-वस्तुके अनेक रूप होने किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं? इसमें उसकी अचिन्त्य शक्ति ही कारण है। इस शक्तिके प्रभावसे वह एकत्वका परित्याग न करते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकट होने लगती है। इसीसे श्रीमद्भागवत (१०।४०।७) में उसे 'बहुमूर्त्येकमूर्त्तिकम्' कहा गया है। गोपालपूर्वतापिनी मन्त्र २० के 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' इस वाक्यमें तथा विष्णुपुराणके 'एकानेकस्वरूपाय' (१।२।३) इस वचनमें भी यही बात कही गयी है। आचार्योंने इस बातको समझानेके लिये वैदूर्यमणिका दृष्टान्त दिया है।

इस सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व-वस्तुमें अनन्त शक्ति है, जो तीन श्रेणियोंमें विभक्त है। स्वरूपशक्ति या चिच्छक्ति—यह अन्तरङ्गा है; दूसरी जडशक्ति या मायाशक्ति—यह बहिरङ्गा है और तीसरी इन दोनोंके बीचकी जीवशक्ति—यह तटस्था है। इन सभी शक्तियोंकी व्यक्त और अव्यक्त दो अवस्थाएँ हैं। जिस समय ये सब शक्तियाँ समान रूपसे अव्यक्त रहती हैं, उस समय तत्त्व-वस्तुको एक रूपसे ग्रहण किया जाता है। यही ब्रह्म है। और जब ये सब शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं तो उसे 'भगवान्' नामसे कहा जाता है। इस अवस्थामें शक्ति और शक्तिमान् अलग-अलग जान पड़ते हैं।

'ब्रह्म' कहनेसे जैसे केवल तत्त्व ही समझा जाता है, उसी प्रकार 'भगवान्' कहनेसे तत्त्व और उसके साथ-साथ तीन प्रकारकी शक्तियोंका भी बोध होता है। स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—इन तीनोंहीके आश्रय भगवान् हैं। उनका आश्रय किये बिना कोई भी शक्ति नहीं रह सकती। अव्यक्तावस्थामें सारी शक्तियाँ उन्हींमें लीन हो जाती हैं और व्यक्तावस्थामें उन्हींमेंसे प्रकट होती हैं। ये दोनों ही अवस्थाएँ उनमें एक साथ रहती हैं। एक ही स्वरूपमें भगवत्त्व और केवलत्व—ये परस्परविरुद्ध दो धर्म हैं। यही उसका अचिन्त्य ऐश्वर्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
> दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
> कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
> स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥
> (३।४।१६)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपने निष्क्रिय होकर भी कर्म किये, जन्मरहित होकर भी जन्म ग्रहण किया, कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे डरकर दुर्गका आश्रय लिया और उसके सामनेसे भाग गये तथा स्वयं आत्माराम होकर भी अनेकों

---

* श्रीमद्भागवतमें कपिलदेवजी कहते हैं—

> यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
> एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

स्कन्दपुराणमें कहा है कि एक भगवान्को ही अष्टाङ्गयोगवाले 'परमात्मा' कहते हैं, औपनिषदगण 'ब्रह्म' कहते हैं और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' बताते हैं—

> भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
> ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

स्त्रियोंके सहित गृहस्थाश्रममें रहे—इन आपके विचित्र चरित्रोंको देखकर ज्ञानियोंकी बुद्धि भी थक जाती है।'

वे एक होकर भी अनेक हैं (भागवत १०। ६९। २), अनेक होकर भी एक हैं (पद्मपुराण), एक साथ ही अनेकरूप और एकरूप हैं (भागवत १०। ४०। ७) तथा स्थूल-अस्थूल और अणु-अनणु (कूर्मपुराण) इत्यादि हैं।

वृत्रासुरके भयसे डरे हुए देवताओंने जिस समय अपनी रक्षाके लिये भगवान्‌की स्तुति की है, उस समय उन्होंने उनकी इस लीलाको दुर्बोध बताते हुए—'दुरवबोधोऽयं तव विहार-योगः'—उनकी परस्परविरुद्ध अचिन्त्य शक्तिकी बातका उल्लेख किया है और यह दिखाया है कि इसमें कोई विरोध नहीं है। वे विश्वात्मक और दुष्टविमर्दक हैं तथा साधुजनोंके रक्षक और विश्वस्रष्टा हैं और साथ ही आत्माराम होनेके कारण उदासीन भी हैं—उनमें ये दोनों ही बातें संगत हैं। यथा—

'न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्। समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्॥

(६। ९। ३६-३७)

'अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपमें परस्परविरुद्ध धर्म भी अविरुद्धरूपसे ही रहते हैं। उनकी महिमाको समझना विचार-शक्तिसे परेकी बात है। आजकलके जो लोग अनेक प्रकारके विकल्प, वितर्क, विचार और प्रमाणाभासमय कुतर्कपूर्ण शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा अपने-अपने चित्तोंको मलिन करके दुराग्रही हो गये हैं, उनके लिये अनन्त गुणगणोंसे सुशोभित एवं स्वातन्त्र्यमय ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीभगवान्‌के स्वरूपके विषयमें किसी प्रकारका विवाद उठानेका अवसर नहीं है। प्रभो! आपका स्वरूप मायाके प्रपञ्चसे परे और केवल है। जिस समय अपने इस स्वरूपमें आप आत्ममायाका लय कर लेते हैं, उस समय आपके लिये कोई बात असम्भव नहीं रहती; क्योंकि मूलमें तो दो स्वरूप हैं नहीं, वह तो एक और अद्वितीय ही है। इसीसे आप एक ही समयमें साधारण पुरुषके समान कर्ता-भोक्ता भी हैं और ज्ञानीकी तरह उदासीन भी। एक ही रस्सी जैसे भ्रान्तदर्शीको सर्पादिरूपमें प्रतीत होनेपर भी तत्त्वदर्शीको रस्सीरूपमें ही भासती है, उसी प्रकार आप भी अज्ञानीकी दृष्टिसे कर्ता-भोक्ता दिखायी देनेपर भी ज्ञानीकी दृष्टिसे उदासीन ही रहते हैं।

शक्ति जिस समय व्यक्त अवस्थामें रहती है, उस समय उसकी व्यक्तताकी पूर्णता भी रहती है और साथ ही न्यूनाधिकता भी। यह भी नित्यसिद्ध ही है। अतः भगवत्तत्त्वमें अनन्त वैचित्र्य रहेगा ही। स्वरूपशक्ति स्वरूपानुगत है। इसलिये यह व्यापकतमा शक्ति है। इसके एक अंशमें तटस्था शक्ति आश्रित है और दूसरे अंशमें मायाशक्ति। शेष अंश निर्मलस्वरूप शक्तिमय है। विशुद्ध सत्त्व ही स्वरूपशक्ति है। यही योगमाया या आत्ममाया है। यह अप्राकृत, मायातीत और चिद्रूप है।* अन्तरङ्गा शक्तिके प्रभावसे भगवान् नित्य पूर्णस्वरूपसे प्रतिष्ठित हैं। स्वरूपशक्ति व्यञ्जक है और वैकुण्ठादि व्यङ्ग्य हैं। तटस्था शक्तिके द्वारा वे शुद्धजीव (चिद्रूप) हैं, जैसे सूर्यकी किरणें। तटस्था शक्ति व्यञ्जक है और जीवका स्वरूप व्यङ्ग्य है। बहिरङ्गा शक्तिके प्रभावसे वे प्रधान (जडरूप) हैं। यह प्रतिच्छविकी बहुरंगताके समान है। यहाँ माया व्यञ्जक है और प्रधान व्यङ्ग्य है।

एक ही परमतत्त्व अपनी स्वभावसिद्ध अचिन्त्य शक्तिकी महिमासे सर्वदा स्वरूप, स्वरूपशक्ति, जीव और प्रधानरूपमें नाना विचित्र भावोंसे विराजमान है। जिस प्रकार सूर्य-मण्डलस्थ एक ही तेज मण्डल, बाह्य रश्मिपुञ्ज और उनके प्रतिफलनके रूपमें विभिन्न भावसे वर्तमान है, यह भी ठीक उसी प्रकार है।

स्वरूपशक्ति पूर्ण होनेपर भी अंशीरूपसे प्रकृतिके ऊपर साक्षात् कोई कार्य नहीं करती और न जीवके ऊपर ही करती है। इसीलिये यह सृष्टि आदि व्यापारमें उदासीन रहता है। यह तो केवल स्वयं अपनेसे ही विलास करनेमें निरत रहता है। यही श्रीभगवान्‌का लीलासंज्ञक व्यापार है, जो नित्य है।

---

* आत्ममाया नित्यशक्ति—स्वरूपभूता शक्ति है—'आत्ममाया तदिच्छा स्यात् गुणमाया जडात्मिका।' आत्ममाया वस्तुतः इच्छा-ज्ञानक्रियात्मिका है। योगमाया भगवन्निष्ठ चिच्छक्तिका विलास है और सनकादिमें रहनेवाली अष्टांग योग-शक्ति है। यह आत्मानुभवका ही नामान्तर है। आत्ममाया या अव्यभिचारिणी स्वरूपशक्ति विचित्र है। इस विचित्रताके कारण ही स्वरूपानन्दके वैचित्र्यका आस्वाद किया जाता है। स्वरूपानन्द ही कैवल्य (भाग० ११। ९। १८) या केवलानुभवानन्दरूपी आत्मा है।

किन्तु जिस रूपमें स्वरूपशक्ति कुछ न्यूनभावसे व्यक्त होती है वह एक ओर, अग्निसे जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार, जैसे तटस्था शक्तिको चालित करके शुद्ध जीवको अभिव्यक्त करती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मायाशक्तिको चालित करके प्रकृतिको व्यक्त कर देती है। यही परमात्माका सृष्टि आदि व्यापार है। इसीसे परमात्माको भगवान्का 'स्वांश' कहा है। यह परमात्मा ही अवतारी पुरुष, परमपुरुष, जीवशक्तिका आश्रय और मायाशक्तिका सञ्चालक है, तथा यही सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रेरक है।

इन तीन प्रकारकी शक्तियोंका अपना-अपना वैभव है। इनमेंसे प्रत्येकके स्फुरणसे ही उसके वैभवका आविर्भाव होता है। गोलोक-वैकुण्ठादि समस्त धाम, अनन्त कल्याण-गुण-राशि, चिदानन्दमय श्रीविग्रह और भक्तगणके सहित दिव्य लीलासमूह—ये सब चिन्मय और स्वरूपविभवके अन्तर्गत हैं। ये सब स्वरूपशक्तिके ही खेल हैं। अनन्त और विचित्र शुद्ध जीवसमुदाय उनकी तटस्था शक्तिका वैभव है। तथा पृथ्वी आदि कार्य या स्थूल पदार्थ और प्रकृति आदि कारण या सूक्ष्म पदार्थ उनका बहिरङ्ग वैभव है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और पिण्ड इस बहिरङ्ग वैभवके ही अन्तर्गत हैं। ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त बहिरङ्ग वैभवमें मायाका आवरण विद्यमान है।

(४)

श्रीमद्भागवतकी सूक्ष्मरूपसे आलोचना करनेपर यह बात समझमें आती है कि विचारदृष्टिसे भगवान्का स्वरूप तीन प्रकारका जान पड़ता है। उसमें स्वयं स्वरूप मुख्य है एवं तदेकात्मरूप और आवेश अपेक्षाकृत गौण हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्दविग्रह, स्वप्रकाशानन्दघन एवं परमनयनाभिराम स्वयंरूप ही श्रीभगवान्का परमरूप है। यह उनका अनन्यापेक्षी एवं स्वतःसिद्ध रूप है तथा समस्त कारणवर्गमें अनुस्यूत परमकारणरूपसे सर्वत्र अनुवृत्त है। इससे सृष्टि आदि व्यापार नहीं होते। सृष्टि आदि उनके स्वांश पुरुषके कार्य हैं, साक्षात् उन्हींके कार्य नहीं हैं। भगवान् स्वयंरूपसे नित्य अपने ही साथ अपनी लीलामें मग्न रहते हैं। यह जो भगवान्के आकार या मूर्तिकी बात कही गयी है, इसके सम्बन्धमें यह कहना न होगा कि यह प्राकृतिक देह नहीं है। यह चिन्मय, आनन्दमय और उनका स्वरूपभूत ही है। भगवान्में देह और आत्माका कोई भेद नहीं है। वक्ताकी विवक्षाके अनुसार एक ही चिन्मय आकारको आत्मा या देह—दोनों ही रूपोंमें कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥
(१० । ४४ । १४)

अर्थात् 'गोपियोंने ऐसी कौन तपस्या की है, जिसके प्रभावसे उन्हें श्रीभगवान्के लोकोत्तरलावण्यमय स्वभावसिद्ध रूपका निरन्तर भावसहित साक्षात्कार करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है! यह रूप तो केवल लावण्यका सार ही नहीं, अपितु यश, श्री और ऐश्वर्यका भी एकमात्र आश्रय एवं नित्य नया-नया है। इसके समान ही कोई दूसरा रूप नहीं है। फिर इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप होना तो दूरकी बात है। इसीलिये वह अत्यन्त दुर्लभ है।' *

नारदपञ्चरात्रमें कहा है—

निर्दोषगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा ॥

'भगवान्के श्रीविग्रहमें स्वगतभेद नहीं है। उसमें कर, चरण, मुख, उदर आदि जो कुछ अवयवरूपसे प्रतीत होते हैं, वे सभी अखण्ड आनन्दरूप हैं। वह निर्दोष गुणोंसे युक्त, जड देहके गुणोंसे रहित और स्वतन्त्र है।'

भक्तके नेत्रोंसे भगवान्का शरीर मध्यम आकारका प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः सबका आधार होनेके कारण सर्वव्यापक ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥
(१० । १४ । २२)

* हमने जिस दृष्टिकोणसे इस प्रसंगकी आलोचना की है, उसके अनुसार यही भगवान्का परमरूप है। श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने गीतातात्पर्यनिर्णय ग्रन्थमें भगवान्के परमरूपके विषयमें ऐसा कहा है—

एकं रूपं हरेर्नित्यमचिन्त्यैश्वर्ययोगतः ।
बहुसंख्यागोचरं च विशेषादेव केवलम् ॥

'अतएव यह सारा संसार असत्स्वरूप, स्वप्नके समान प्रतिभासहीन और अनेकों दुःखोंका कारण है। यह मायासे उत्पन्न होनेके कारण वस्तुतः असत् होनेपर भी नित्य-ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्तरूपी आपके आश्रित होनेसे सद्रूप जान पड़ता है।' (यह भगवान्‌के प्रति ब्रह्माजीका वचन है)।

इससे ज्ञात होता है कि भगवत्-शरीर नित्यसुखबोधस्वरूप और अनन्त है। सारा संसार इसकी मायानाम्नी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा बार-बार उत्पन्न और लीन होनेके कारण स्वप्नके समान भास रहा है। यह संसार अज्ञानमात्रसे कल्पित नहीं है। यह अविद्यावृत्तिवाली मायाका कार्य है। यह असत् होनेपर भी भगवत्सत्ताके कारण मूढ पुरुषको सत्‌के समान जान पड़ता है।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि भगवान्‌का विग्रह जगत्‌का आधार है और वह एक एवं मध्यम आकारवाला होनेपर भी सर्वगत है।

भगवान्‌ने इस एक ही देहसे एक ही समयमें भिन्न-भिन्न रूपसे स्थित रहते हुए सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह किया—इस बातने नारदजीको भी विस्मयमें डाल दिया था (भाग० १० । ६९ । २)। योगीलोग भी एक साथ बहुत-से देह निर्माण करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यवहार कर सकते हैं—यह बात सत्य है। योगशास्त्रमें ऐसा शरीर 'निर्माणकाय' या 'निर्माणचित्त' नामसे प्रसिद्ध है। योगीलोग उसे अस्मितामात्रसे रच लेते हैं।* अतः श्रीकृष्णके भी यदि ऐसे ही निर्माणकाय होते तो उन्हें देखकर नारद-जैसे महायोगीको आश्चर्य होनेकी कोई बात नहीं थी। किन्तु वास्तवमें वे निर्माणकाय नहीं थे। वह एक ही नित्यसिद्ध देह था—उसी समय रचा हुआ कोई कल्पित शरीर नहीं था। एक ही देह एक ही समयमें विभिन्न स्थानोंमें रहकर भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा था।† परन्तु वह व्यापक शरीर

* योगशास्त्रमें निर्माणकायका वर्णन आया है। मन्त्रादिसे रचे हुए कायमें कर्माशय रहता है, किन्तु ध्यानजनित कायमें कर्माशय नहीं रहता। योगीलोग इस निर्माणकायका अवलम्बन करके साधक अवस्थामें तपस्यादिद्वारा और भोगद्वारा पुण्यसञ्चय एवं कर्मक्षय कर सकते हैं। सिद्धावस्थामें इस देहका आश्रय लेकर वे जिज्ञासु योग्य शिष्यको ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं। परमर्षि कपिलने जिस समय आसुरिको षष्टितन्त्रका उपदेश किया था उस समय निर्माणकायद्वारा ही किया था। स्वयं भगवान् भी सम्प्रदाय-प्रवर्तनके समय निर्माण-कायका अवलम्बन करते हैं। इस बातका 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रथम स्तबकमें पातञ्जलसिद्धान्तरूपसे उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि यह निर्माणकाय मायिक देह या बैन्दव देहसे अतिरिक्त कोई और चीज नहीं है। किसी-किसी बौद्ध-सम्प्रदायमें भी निर्माण-कायकी बात आयी है। बुद्धके तीन या चार कायोंमें यह प्रधान है। इस देहका आश्रय लेकर ही वे जगत्‌में ज्ञानधर्मका प्रचार किया करते हैं—यही उन लोगोंका मत है। सम्भोगकाय इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। बुद्धका यथार्थ स्वरूप धर्मकाय या स्वभावकाय नामसे परिचित है। जैन आचार्यगण जिस वैक्रिय और आहारक शरीरका वर्णन करते हैं, वह भी कुछ अंशोंमें निर्माणदेहके ही समान है। कहना न होगा कि ये दोनों ही देह सिद्ध योगियोंकी विशेष योग-शक्तिके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। इस शक्तिको वे लोग 'लब्धि' कहते हैं। इनमें वैक्रिय देह जन्मसिद्ध और कृत्रिम—दोनों ही प्रकारका हो सकती है, किन्तु आहारक देह सर्वदा ही कृत्रिम होता है। श्रीनारदजीके द्वारा देखा हुआ भगवान् श्रीकृष्णका देह इनमेंसे किसीके भी अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह भी योगमायाके प्रभावसे ही नारदजीको दिखायी दिया था; किन्तु योगमाया जीवशक्ति नहीं है, वह श्रीभगवान्‌की चिद्रूपा स्वरूपशक्ति है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

† इसीको सम्प्रदायविशेषकी परिभाषामें स्वयंरूपका 'प्रकाश' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥

उद्धवकी इस उक्तिसे भगवान्‌के रूपकी उस-उस शरीरसे अनु-रूपता सिद्ध होती है। यही एक रूप—नररूप एक होनेपर भी एक साथ समस्त देश और सारी क्रियाओंमें व्याप्त है। यही आश्चर्य है। श्रीरूपगोस्वामिपादने कहा है—

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एव हि।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते॥ (लघुभागवत)

'परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी एक ही विग्रह एक ही कालमें भावसिद्ध असंख्य ध्याताओंको दिखायी देता है, इसलिये वह व्यापक है।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यशोदाजी अपने पुत्रके इस रूप-की व्यापकताको क्यों उपलब्ध नहीं कर सकीं। यदि वे कर लेतीं तो उन्हें बाँधनेकी चेष्टा न करतीं। इसका कारण यह है कि वात्सल्यादि प्रेमरसविशेषका ऐसा ही स्वभाव है कि यह आनन्दके प्रवाहद्वारा ऐश्वर्यानुभवको आच्छादित कर देता है। कोई-कोई समझते हैं कि भगवान्‌का शरीर वास्तवमें है तो व्यापक, किन्तु मायावश वह मनुष्याकारमें प्रतीत होता है; यह ठीक नहीं है, किन्तु वह एक ही साथ कर-पादादिमान् होनेसे परिच्छिन्न भी है और साथ ही विभु भी है।

भी नहीं था। वह परिच्छिन्न भी था और अपरिच्छिन्न भी। स्वरूपशक्तिकी महिमा ऐसी ही है। अतः भगवान्‌का स्वरूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः विभु है—इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। भागवतमें ही कहा है—

> इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
> तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह॥
> (१०। ६९। ४१)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार गृहस्थोंके पवित्रता-सम्पादक सम्पूर्ण धर्मोंका आचरण किया। नारदजीने उन्हें एक होनेपर भी समस्त पत्नियोंके घरोंमें अलग-अलग देखा।'

यहाँ भी 'एकं सन्तम्' कथनसे जान पड़ता है कि यह बहुरूपता केवल बहुत रूपोंसे दिखायी देना ही है। यह कायव्यूहके कारण नहीं है। 'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* इत्यादि वाक्योंसे भगवान्‌के शरीरकी विभुता प्रमाणित होती है। नारदजी भगवान्‌की दी हुई शक्तिके प्रभावसे इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके थे। वास्तवमें यह अनन्तवीर्य श्रीभगवान्‌की योगमायाका ही खेल है—'योगमाया-महोदयम्'। भागवतके पञ्चम स्कन्धमें जो लोकाधिष्ठाता भगवद्-विग्रहका विवरण है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं—'महाविभूतेः पारमैश्वर्यपतित्वात्, एकयैव मूर्त्या समन्तादास्ते।'

स्वयंरूपसे न्यून रूप ही 'तदेकात्म रूप' है। यह न्यूनता वस्तुतः शक्तिके प्राकट्यमें ही समझनी चाहिये। इस प्राकट्यके तारतम्यके कारण तदेकात्म रूप—विलास और स्वांशभेदसे दो प्रकारका है। तदेकात्म रूपके आकार और चरित्रादिमें स्वयंरूपसे थोड़ा-सा भेद प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः दोनों एक और अभिन्न ही हैं। इनमेंसे 'विलास'में तो शक्तिकी न्यूनता कम रहती है और 'स्वांश'में कुछ अधिक रहती है। स्वरूपकी अन्याकारता अवश्य ही लीलाके ही कारण है। किन्तु यहाँ उसका प्रकरण नहीं है।† जब विलासशक्तिकी अपेक्षा भी कम शक्ति प्रकट होती है, तब उसे साधारणतः 'स्वांश' कहते हैं। भगवान्‌में यद्यपि अनन्त गुण विद्यमान हैं, तो भी जीव सहजमें समझ सकें—इसलिये उनके 'स्वयं रूप'में चौसठ गुण माने गये हैं। इसीसे श्रीकृष्णरूपको पूर्णभावमें चौसठ गुणसम्पन्न कहा जाता है। श्रीकृष्णके विलास वैकुण्ठपति श्रीनारायणमें साठ गुण माने गये हैं। समस्त लोकको चमत्कृत करनेवाली अद्भुत अनन्त 'लीलाएँ', अतुलित प्रेमद्वारा सुशोभित 'प्रियमण्डल', त्रिभुवनके चित्तको आकर्षित करनेवाला 'वंशीनाद' तथा जिसके समान और जिससे बढ़कर उत्कर्ष और कहीं नहीं है, ऐसा चराचरको विस्मयमें डालनेवाला 'रूपसौन्दर्य'—ये चार असाधारण गुण अर्थात् लीला और प्रेमद्वारा प्रियाधिक्य एवं रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य एकमात्र श्रीगोविन्दमें ही उपलब्ध होते हैं। उनकी विलास-मूर्ति नारायणमें साठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। इन साठ गुणोंमें अचिन्त्यमहाशक्तित्व,

---

* न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। १३-१४)

अर्थात् जिसका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पश्चात् नहीं है; इतनेपर भी स्वयं ही जगत्‌के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदिमें है और अन्तमें भी है, यहाँतक कि जो स्वयं ही जगत्-रूपमें भी विराजमान है। जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—उसी भगवान्‌के मनुष्याकार धारण करनेसे उसे अपना पुत्र मानकर यशोदाने प्राकृत बालककी तरह रस्सीसे ऊखलमें बाँध रक्खा है।'

† आकारके देशगत बहुत्वरूप भेद और संस्थानगत भेदसे वस्तुके स्वरूपकी भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती। एक ही विग्रह एक साथ अनेकों स्थानोंमें प्रकट हो सकता है, जिस प्रकार कि द्वारकामें एक ही श्रीकृष्णरूप एक ही समयमें विभिन्न मन्दिरोंमें प्रत्यक्ष हो रहा था। नारदजी यह देखकर ही विस्मित हुए थे—यह बात पहले कही जा चुकी है। व्रजमण्डलमें भी ऐसी ही बात हुई थी (देखिये—भाग० १०। १३। १९)। वैष्णवाचार्य इसका 'प्रकाश' नामसे वर्णन करते हैं। यह 'तदेकात्म' रूप नहीं है। ये सब रूप 'स्वयंरूप' ही हैं; क्योंकि उनकी आकृति, गुण और लीला आदि मूल रूपसे अभिन्न हैं। आकृतिमें भेद रहनेपर भी यदि स्वभावगत भेद न हो तो उसे 'स्वयंरूप' ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार कि श्रीकृष्ण त्यागके भयसे मूर्च्छिता रुक्मिणीजीके पास चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये थे। यह चतुर्भुजरूप वैकुण्ठनाथ चतुर्भुज श्रीनारायणके समान 'विलासरूप' नामसे नहीं कहा जा सकता। यह प्रकाशके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः इस चतुर्भुजरूपका आविर्भाव होनेके समय भी वे द्विभुज ही थे और उनका यशोदानन्दनरूप स्वभाव अक्षुण्ण था। बंदीगृहमें चतुर्भुजरूप दिखानेके समय भी उनकी द्विभुजरूपता अव्याहत ही थी (भाग० १०। ३। ४६)।

कोटिब्रह्माण्डविग्रहत्व, सकलावतारबीजत्व, हतारिगतिदायकत्व और आत्मरामगणाकर्षित्व—ये पाँच श्रीकृष्णके समान ही श्रीनारायणमें भी हैं। तथापि श्रीकृष्णमें ये सब गुण अद्भुतरूपसे विद्यमान हैं—इतनी ही विशेषता है। ब्रह्मा, सूर्य, गणेश और इन्द्र आदि देवताओंमें ये नौ गुण (श्रीकृष्णके चार असाधारण गुण और श्रीनारायणके पाँच असाधारण गुण) नहीं हैं। सर्वदा स्वरूपस्थिति, सर्वज्ञत्व, नित्यनूतनत्व, सच्चिदानन्दविग्रहत्व और समस्त सिद्धियोंका वशकारित्व—ये पाँच गुण श्रीकृष्ण और नारायणके सिवा शिवादि देवताओंमें भी अंशरूपसे विद्यमान हैं, किन्तु किसी भी जीवमें ये गुण नहीं हैं। जीवमें पचास ही कल्याणगुण हो सकते हैं, परन्तु वे होते हैं बिन्दुरूपमें या आभासरूपमें ही। अतः सिद्धान्त यह है—

(क) चौसठ गुण—स्वयं भगवान् श्रीकृष्णमें ही चौसठ गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। उनमें पूर्वोक्त लीलामाधुर्यादि चार गुण असाधारण हैं। ये उनके 'विलास' स्वरूप नारायण और नारायणके विलासस्वरूप वासुदेवमें भी नहीं हैं। उनके स्वांशभूत देवताओंमें भी ये गुण नहीं हैं, जीवमें होनेकी बात तो दूर रही।

(ख) साठ गुण—परव्योमनाथ श्रीनारायण और वासुदेवमें साठ गुण हैं। उनमें अविचिन्त्यमहाशक्तित्वादि पूर्वोक्त पाँच गुण असाधारण हैं। ये देवताओंमें या जीवोंमें नहीं हैं। तथापि यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्णमें इन गुणोंकी सत्ता अवश्य ही अद्भुत भावसे है। ऐसा होनेपर भी इन्हें नारायणादिके असाधारण गुण कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

(ग) पचपन गुण—शिव और ब्रह्मा आदि भगवान्‌के स्वांशभूत और जगद्व्यापारमें अधिकारप्राप्त भगवद्विभूतिरूप अवतार या देवताओंमें पचपन गुण हैं। उनमें सर्वदा स्वरूपस्थिति आदि पूर्वोक्त पाँच गुण अंशरूपसे रहते हैं। पुरुषोत्तम भगवान्‌में ये गुण पूर्णरूपसे विद्यमान हैं।

(घ) पचास गुण*—भगवत्कृपाप्राप्त जीवमात्रमें ही ये सब गुण बिन्दुरूपसे हैं, किन्तु साधारण जीवोंमें ये आभास-रूपसे रहते हैं और स्वयं श्रीपुरुषोत्तममें पूर्णरूपसे। जीवमात्रमें ही ये कल्याणगुण, आभासरूपमें होनेपर भी, हैं अवश्य। इसीसे प्रत्येक जीव कभी-न-कभी भगवान्‌की कृपासे भगवद्धाममें प्रवेश पानेका अधिकार प्राप्त कर सकता है। †

[क्रमशः]

---

* श्रीमद् रूपगोस्वामिपादने इन पचास गुणोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—सुरम्याङ्गत्व, सर्वसुलक्षणसद्भाव, रुचिरता, तेजस्विता, बलवत्त्व, वयःसम्बन्ध, नाना अद्भुत भाषा-ज्ञान, सत्यवादिता, प्रियवादिता, वावदूकता, सुपाण्डित्य, बुद्धिमत्ता, प्रतिभासम्बन्ध, विदग्धता, चातुर्य, दक्षता, कृतज्ञता, सुदृढव्रतत्व, देशकालपात्रज्ञान, शास्त्रदृष्टि, शुचित्व, वशित्व, स्थैर्य, दम, क्षमा, गभीरत्व, धृति, साम्य, वदान्यता, धार्मिकत्व, शौर्य, करुणा, मान्यमानकारिता, दाक्षिण्य, विनय, ह्रीमा, शरणागतपालकत्व, सुखित्व, भक्तसौहार्द, प्रेमवश्यता, सर्वशुभङ्करिता, प्रताप, कीर्ति, लोकप्रियता, साधुसमाश्रयत्व, नारीचित्तरञ्जनत्व, सर्वाराध्यत्व, समृद्धिशालिता, वरीयस्ता और ऐश्वर्य। (भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण० १। १९-२५)।

† किन्तु यह बात सब लोग स्वीकार नहीं करते—विशेषतः जीवतारतम्यवादी श्रीमन्मध्वाचार्य। वे सब जीवोंकी मुक्तियोग्यता स्वीकार नहीं करते। यहाँतक कि उनके मतमें तो मुक्त पुरुषोंका भी परस्पर तारतम्य निवृत्त नहीं होता—'मुक्तानां च न हीयते तारतम्यं च सर्वदा।' जो जीव मुक्तिके योग्य नहीं हैं, वे या तो 'नित्यसंसारी' होते हैं या 'तमोयोग्य'। इनमें नित्यसंसारी मध्यम श्रेणीके मनुष्य हैं—'मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि।' अधम श्रेणीके मनुष्य तथा दैत्य, राक्षस और पिशाच—ये सब तमोयोग्य हैं। यह जीवगत स्वाभाविक तारतम्य वस्तुतः है या नहीं—इस विषयमें प्राचीन और मध्यकालीन बौद्ध एवं जैन आचार्योंने भी बहुत विचार किया है।

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

मुझसे मिलनेकी टान लिखी सो यह तो आपके प्रेमकी बात है। और आजकल भजन कम होता लिखा तथा सांसारिक कामोंमें फँसाव लिखा सो सत्सङ्ग कम हुआ होगा। आपने लिखा कि पीछे पछताते भी हैं सो इस तरहके पछतानेसे पूरा काम नहीं बनेगा। असली पछताना तो उसीका समझा जाता है, जिसको उस कामके लिये फिर दुबारा नहीं पछताना पड़ता। एक कामके लिये अनेक बार पछताये, फिर भी काम न हो और बार-बार पछताना पड़े, तब क्या समझा जाय? परन्तु इस तरहका सुन्दर मौका लग जानेपर भी यदि भगवान्‌के भजन-ध्यानमें जोरसे न लगकर इसी प्रकार ही संसारमें भटकते रहे तो जन्म-जन्ममें पछताना पड़ेगा। इसलिये सारी बात विचारकर ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे आगे पछताना न पड़े। अगर साधन तेज करके जिस कामके लिये आना हुआ है, उसे सिद्ध कर लेंगे तो फिर कभी पश्चात्ताप नहीं करना पड़ेगा।

आपने लिखा कि आजकल संसारका चिन्तन ही अधिक होता है, भजन नहीं बनता, अतः मन भगवान्‌में कैसे लगे; सो प्रेम होनेसे मन भगवान्‌में लगता है। प्रेमकी बातें श्री..........के पत्रमें लिखी हैं, उन्हें ध्यानमें लाना चाहिये।

× × × यदि इस तरहका प्रेम भगवान्‌में हो जाय तो भगवान्‌के आनेमें बिल्कुल सन्देह नहीं। क्योंकि श्रीपरमात्मादेव स्वयं सर्वसामर्थ्यवान् और स्वतन्त्र हैं। इसलिये उनके साथ पूर्ण प्रेम करना चाहिये। × × × भगवान्‌में निष्कामभावसे पूर्ण प्रेम करनेके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। उनके साथ प्रेम होनेके बाद आपको कुछ भी नहीं करना होगा। फिर आपको किसीकी भी गरज नहीं रहेगी। लोग ही आपकी गरज करेंगे। किन्तु उनके साथ प्रेम नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं हुआ।

(२)

× × × पहले मैंने आपको सत्सङ्गके समाचार लिखे थे; उनके अनुसार आप साधन करते हैं या नहीं, सो लिखना चाहिये। समयको अनमोल समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। समयकी अमूल्यता समझनेके बाद भगवान्‌के मिलनमें इस तरहकी ढील नहीं हो सकती। इसलिये समयको अनमोल समझना चाहिये। जिस समय आप समयकी अमूल्यता समझ लेंगे, उस समय आपको भगवान्‌के सिवा संसारकी अन्य कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगेगी तथा संसारके ये क्षणभङ्गुर भोग प्रत्यक्ष नाशवान् प्रतीत होने लगेंगे एवं सर्वत्र एक श्रीपरमात्मादेव ही दीखने लग जायँगे। किन्तु समयको अमूल्य समझे बिना कुछ भी नहीं होगा। समयको अनमोल जान लेनेके बाद एक पलक भी व्यर्थ काममें नहीं बितायी जा सकती। जबतक संसारके तुच्छ

भोगोंके लिये समय बिताया जाता है, तबतक समयका कुछ भी प्रभाव नहीं जाना। आपको विचारना चाहिये कि हम कौन हैं, किसलिये यह मनुष्य-शरीर हमें मिला है, हमें क्या करना चाहिये और क्या कर रहे हैं।

(३)

आपने लिखा कि मेरा प्रेम बहुत कम हो गया, सो प्रेम तो कभी कम हो नहीं सकता। यदि देखनेमें कम नजर आये तो भी वास्तवमें कम नहीं होना चाहिये। निष्काम कर्म, उपासना और प्रेमका क्षय हो नहीं सकता। प्रेमका उपाय…………के पत्रमें लिखा गया है। पहले भी आपका प्रेम अधिक नहीं था, आपने भूलसे अधिक मान लिया था। वास्तविक प्रेम तो कभी कम होता ही नहीं। सकाम प्रेम रहा होगा। प्रेम तो कुछ और ही चीज़ है। असली प्रेमका विषय तो आप जानते भी नहीं। प्रेमी आदमियोंके साथ प्रेम होनेसे ही प्रेमका मर्म जाना जाता है। श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके साथ गोपियोंका सच्चा प्रेम था तथा कुछ उद्धव और अर्जुनका भी था। जिसने भगवान्‌के प्रेमका मर्म जाना है, वह उस भगवत्प्रेमके लिये एक पलमें आनन्दपूर्वक सर्वस्व त्याग सकता है। सर्वस्व त्याग देनेमें उसे कुछ भी क्लेश नहीं होता, बल्कि आनन्द ही होता है। वह प्रेमीके एक पलके सङ्गके लिये भी प्राणपर्यन्त चेष्टा करता है। प्रेमीके सङ्गके लिये लाख रुपया त्यागना भी कोई बड़ी चीज़ नहीं। अपने प्रेमीके एक क्षणके सङ्गके लिये चाहे सर्वस्व नाश हो जाय, पर वह अपने प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देता और प्रेमीका समाचार सुननेपर आनन्दमें विह्वल हो जाता है तथा प्रेमीका सन्देश सुनानेवालेका उपकार वह कभी नहीं भूलता, जैसे भरतजी हनुमान्‌जीका उपकार नहीं भूलते।* प्रेमीका नाम सुननेसे भी नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, रोमाञ्च हो जाता है और हृदयमें आनन्द नहीं समाता तथा जिसके साथ प्रेम होता है उसके साथ लज्जा, भय, मान, मोह, सत्कार और सांसारिक वस्तुकी कामनाका बर्ताव कभी नहीं होता।

(४)

तुमने लिखा कि मेरा ईश्वरमें प्रेम हो जाय—ऐसी बात लिखनी चाहिये, सो ठीक है; जिनका ऐसा प्रेम है, उन लोगोंको धन्यवाद है। ईश्वरमें प्रेम होनेकी बात भी उन्हींको मालूम है, किन्तु फिर भी अपनी समझके अनुसार कुछ लिखा जाता है।

भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुणानुवाद, प्रभाव तथा मर्मकी गुप्त बातें सुननेसे भगवान्‌में बहुत जल्दी प्रेम हो सकता है। तथा भगवान्‌के आज्ञानुसार निष्कामभावसे कर्म करनेसे और भगवान्‌से मिलनेकी उत्कण्ठा होनेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

ऊपर लिखी बातोंको काममें लाकर भगवान्‌का प्रभाव जान लिया जाय, तब भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होकर भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं।

××× समय बीता जा रहा है। जल्दी चेतना चाहिये। तुम्हारा साधन कैसा होता है? भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्गको सबसे उत्तम समझनेसे बहुत जल्दी भगवान् मिल सकते हैं। जबतक संसारके भोग, शरीर तथा रुपयोंको श्रेष्ठ समझा जाता है तभीतक भगवान्‌के मिलनेमें ढील होती है; एवं जबतक समयकी अमूल्यता नहीं समझी जाती तभीतक भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब हो रहा है। जब एकमात्र भगवान्‌को ही श्रेष्ठ

* एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।………………॥

समझ लिया जायगा तथा समयकी अमूल्यता समझमें आ जायगी, तब भगवान्‌के मिलनेमें देर नहीं हो सकती ।

(५)

उस मनमोहन प्यारेमें शीघ्र ही सबकी अनन्यभक्ति हो जाय—ऐसा उद्देश्य रखकर सत्सङ्गकी चेष्टा होनी चाहिये । निरन्तर भगवान्‌का ध्यान रहते हुए ही ऊपर लिखे अनुसार कोशिश होनी चाहिये । ध्यानकी गाढ़ स्थिति रहनेपर हृदयमें बहुत ऊँचे-ऊँचे भावोंकी बातें उत्पन्न हो सकती हैं । श्रीभगवद्भक्तिके प्रचारका काम जल्दी तेज कैसे हो—इस प्रकार विचार रखनेसे श्रीभगवद्भक्तिका प्रचार ज्यादा बढ़ सकता है । इसके समान और कोई भी काम नहीं है । श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय १८ श्लोक ६८-६९ में यही बात कही है ।* इसलिये कटिबद्ध होकर निष्कामभावसे चेष्टा करनी चाहिये, फिर कुछ भी चिन्ता नहीं । समयको अमूल्य समझ लेनेके बाद कञ्चन-मिट्टी सभी समान हो जाते हैं । इसलिये समयको अमूल्य समझनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये । तथा श्रीपरमात्मादेवके सिवा अन्य कुछ भी न रहे—ऐसे ध्यानके आनन्दमें निरन्तर मग्न रहना चाहिये । समय बीता जा रहा है । एक क्षण भी तेज साधनके बिना नहीं बिताना चाहिये एवं स्वप्नमें भी शरीरमें अहंभाव नहीं रहना चाहिये । इस प्रकार लोगोंको कहना चाहिये और कहना चाहिये कि मनुष्य-शरीर बहुत ही कठिनतासे मिलता है, यदि इस मौकेपर भी कल्याण नहीं होगा तो फिर न मालूम क्या दशा होगी—ऐसा समझकर तुरंत भगवान्‌के परायण हो जाना चाहिये ।

(६)

आपका ता० २७ । ३ । ४१ का पत्र मिला । आप कल्याणके लेख पढ़ते हैं तथा उनको काममें लानेकी चेष्टा करते हैं, सो बहुत आनन्दकी बात है । आपको कोशिश करनेपर भी सफलता न मिली, इसलिये तीन प्रश्नोंका उत्तर पूछा सो नीचे लिखा जाता है ।

(१) *प्रश्न*—परस्त्रीका तो त्याग है । अपनी स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्यसे रहनेका बहुत दिल होता है, किन्तु सफलता नहीं मिलती ।

उत्तर—स्त्रीके साथ एक शय्यापर नहीं सोना चाहिये । एक कमरेमें भी दोनोंको अलग-अलग सोना चाहिये और विवेक-विचारपूर्वक संयम रखना चाहिये । यदि विवेक-विचारसे न हो सके तो स्त्री-पुरुष दोनोंकी सम्मतिसे नियम करके हठपूर्वक संयम करना चाहिये । स्त्रीसहवाससे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, आयुका नाश तो होता ही है । इसलिये इनके नाशका भय दिखलाकर विवेक-वैराग्यपूर्वक संयम रखना चाहिये ।

(२) *प्रश्न*—भजनके समय मन भटकता रहता है । बहुत कोशिश करनेपर भी एकाग्रता नहीं होती । मन तो हजारों कोस चला ही जाता है ।

उत्तर—मनको यह भय दिखलाना चाहिये कि मृत्युका कोई पता नहीं, न जाने कब आ जाय । यदि भगवान्‌के चिन्तन बिना संसारका चिन्तन करते

---

* *य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।*
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है । और मेरा उससे बढ़कर प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा मेरा पृथ्वी-भरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।'

हुए मृत्यु हो गयी तो बड़ी बुरी दशा होगी। इसलिये सचेष्ट होकर मनको बारंबार भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये गीतातत्त्वाङ्कमें अध्याय ६ श्लोक २५, ३५, ३६ का तथा अध्याय ८ श्लोक ५, ६, ७ का अर्थ देखना चाहिये।

(३) *प्रश्न*—भजनपर श्रद्धा होनेके बाद कुछ लक्ष्मीकी प्राप्ति जरूर होती है, परन्तु वह ईमानदारीकी नहीं होती। प्रार्थना करता हूँ कि ईमानदारीकी कमाई मिले, किन्तु मिलती है छल-कपटसे ही।

उत्तर—धनकी प्राप्ति ईमानदारीसे नहीं होती, छल-कपटसे होती है। इसमें आपके प्रारब्ध और ईश्वरपर विश्वासकी कमी है। आत्मबलकी कमीके कारण ही ऐसा होता है। जितना ही प्रारब्ध और ईश्वरपर विश्वास बढ़ेगा, उतना ही आत्मबल बढ़ेगा। अतः आत्मबलकी वृद्धिके लिये प्रारब्ध और ईश्वरपर विश्वास करना चाहिये। प्रारब्धपर विश्वास करना यह है कि प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिलना होगा, वह न्याययुक्त चेष्टा करनेसे भी मिल ही जायगा; फिर पाप क्यों करना चाहिये। प्रारब्धसे अधिक तो मिलेगा नहीं। यदि प्रारब्धमें न मिलना होगा तो चेष्टा करनेपर भी नहीं मिलेगा, फिर विश्वासमें ही कमी क्यों आने दी जाय। और ईश्वरपर विश्वास करना यह है कि जब ईश्वर विश्वम्भर है तो अपनेको क्या चिन्ता है। वह सबका पेट भरेगा ही। और पेट भर जानेपर फिर रुपयोंकी जरूरत ही क्या है। लक्ष्मी मिलकर यदि सकाम भक्तिमें भी कमी आये तो फिर उन रुपयोंसे लाभ ही क्या है?

एक-अनेक

(कीर्तन-ध्वनि)

तनसे कहो मनसे कहो
कृष्ण कहो राम कहो
सीतापति राम कहो
राधा-वर श्याम कहो
रघुकुल-सुख-कन्द कहो यादव-कुल-चंद कहो
सत-चित-आनन्द कहो निशि-दिन निर्द्वन्द कहो
शोभाके धाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
कोसल-भूपाल कहो गोकुलका ग्वाल कहो
गो-द्विज-प्रतिपाल कहो दुष्टोंका काल कहो
नीलाम्बुज श्याम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
मुरलीधर श्याम कहो शारँगधर राम कहो
सुबह कहो, शाम कहो निशि-दिन निष्काम कहो
परम मधुर नाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
मुरलीकी मधुर तान दुष्ट-दमन धनुष-बान
श्रवन, मनन, सुधा-पान स्वजन-सुखद, अभय-दान
लोचन-अभिराम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
त्रेतामें राम बने द्वापरमें श्याम बने
विविध-रूप-नाम बने भक्तोंके काम बने
पूर्ण-कला-धाम कहो
कृष्ण कहो राम कहो
एक ब्रह्म विविध नाम अज अनूप पूर्णकाम
सुन्दर सुखकर ललाम भ्रम तज भज अष्ट याम
बेकल! अविराम कहो
कृष्ण कहो राम कहो

—केदारनाथ 'बेकल', एम्० ए० (प्री.), एल्० टी०

श्रीकृष्णसे विनय

(स्वर्गीय मुंशी बनवारीलालजीकी 'बज़्म-ए-बृंदाबन'से)

*श्रीजगदीश वृंदाबन-बिहारी । श्रीराधारमन माधव मुरारी ॥
श्रीगोविंद राधाकृष्ण गोपाल । मदनमोहन श्रीघनश्याम नँदलाल ॥
श्रीमुरली मनोहर श्यामसुंदर । श्रीभगवान गोपीनाथ गिरधर ॥
श्रीजदुपति श्रीबाँकेबिहारी । चतुर्भुज श्याम मूरत चक्रधारी ॥
श्रीजगदातमा माधव विधाता । दयालू दीनबंधू प्रानदाता ॥
मुकटधारी मदनगोपाल मोहन । नवल सुंदर छबीले लाल मोहन ॥
कन्हैया नंदनंदन नंदप्यारे । दिलारामे-जहाँ[१] जसुदा-दुलारे ॥
तुही है हुस्ने रुखसारे हक़ीक़त[२] । तुही है परदा-बरदारे हक़ीक़त[३] ॥
तुही है क़ाशफ़े असरारे[४] अज़ली[५] । तुही है रूनुमाये हुस्ने अब्दी[६] ॥
तुही है जलवा-फ़रमाए दो आलम[७] । तुही है खुद तमाशाए दो आलम[८] ॥
तुही लौहे तिलिस्मे जानोतन[९] है । तुही बख़शंदए रूहो बदन[१०] है ॥
तुही वहशत फ़ज़ाए इश्क़े रुसवा[११] । तुही नक़शो निगारे हुस्ने ज़ेबा[१२] ॥
तुही है मूजिदे ईजादे कोनेन[१३] । तुही है बानिये बुनयादे कोनेन[१४] ॥
तुही है इश्क़े अज़ली[१५] हुस्ने जावेद[१६] । तुही है खिलवते दिल[१७] बज़्मे तौहीद[१८] ॥
तुही है रौनक़े गरमीए बाज़ार[१९] । तुही खुद जिंस[२०] तुही खुद ख़रीदार[२१] ॥
तुही है नग़मए बुलबुल[२२] चमन[२३] में । तुही गुंचा[२४] तुही है गुल[२५] चमन में ॥
तुही परवाना[२६] तू ही शमा[२७] महफ़िल । तुही गुल-बन[२८] तुही शोरे अनादिल[२९] ॥
तुही लछमन, तुही सीता, तुही राम । तुही गोपी, तुही राधा, तुही श्याम ॥
ज़मीनो[३०] चर्खो[३१] मेहरो[३२]माह[३३] तेरे । दो आलम हैं तमाशागाह[३४] तेरे ॥

---

* उर्दूमें 'श्री'को 'शिरी' पढ़ा जाता है और वैसे ही लिखा जाता है; अतः यहाँ भी जहाँ-जहाँ 'श्री' शब्द आवे, उसे इसी तरह तोड़कर पढ़ना चाहिये । तभी छन्दकी गति ठीक बैठेगी ।

१. जगत्के चित्तको सुख देनेवाले; २. सत्यके चेहरेका सौन्दर्य; ३. सत्यका पर्दा उठानेवाला (रहस्यका उद्घाटन करनेवाला); ४. भेद खोलनेवाला; ५. आदिम; ६. अनादि सौन्दर्यके स्वरूपको प्रकट करनेवाला; ७. दोनों लोकों (इस लोक और परलोक) को प्रकाशित करनेवाला; ८. दोनों लोकोंका तमाशा (दर्शनीय वस्तु); ९. प्राण और शरीरके रहस्यको प्रकट करनेवाली जादूकी तख्ती [यवन देशोंमें पुराने ज़मानेमें जादूकी इमारतें बनायी जाती थीं, जिनके द्वार आदि जादूसे ही खुलते थे । उन्हें तिलिस्म कहते थे और उस सारे यन्त्रकी कुल तरकीब एक तख्तीपर लिखी रहती थी, जिसको पढ़कर और समझकर ही उस इमारतमें प्रवेश और उसका उपयोग हो सकता था । उस तख्तीको लौहे तिलिस्म कहते थे ।]; १०. आत्मा और शरीर दोनोंका देनेवाला; ११. प्रेमकी मस्ती और बदनामी देनेवाला; १२. श्रेष्ठ सौन्दर्यके फूल-बूटे (शृङ्गार); १३. दोनों लोकोंका आविष्कार करनेवाला; १४. दोनों लोकोंकी नींव रखनेवाला; १५. आदिम प्रेम; १६. नित्य सौन्दर्य; १७. हृदयका एकान्त (शान्ति देनेवाला); १८. अद्वैतकी महफ़िल; १९. संसाररूपी बाज़ारमें होनेवाली चहल-पहलकी शोभा; २०. बिक्रीकी वस्तु; २१. मोल लेनेवाला; २२. बुलबुलका सङ्गीत; २३. बगीचा; २४. कली; २५. फूल; २६. पतंगा; २७. दीपक; २८. फूलोंकी क्यारी; २९. बुलबुलोंका कलरव; ३०. पृथ्वी; ३१. ज्योतिश्चक्र (आकाश); ३२. सूर्य; ३३. चन्द्र; ३४. नाट्य-

फ़ना[३५] तर्ज़े ख़िरामे नाज़[३६] की आन[३७]। बका[३८] इक लब[३९] की तेरे मंद मुस्कान ॥
बुते[४०] चितचोर माखन के लुटेरे। हयातो[४१] मौत दोनों खेल तेरे ॥
मिलाये तूने हस्तोनेस्त[४२] बाहम[४३]। घरौंदा[४४] तेरा बाज़ीगाहे आलम[४५] ॥
ज़बाने सब्ज़ा[४६] नातिक[४७] है सना[४८] में। कि है सरगर्म[४९] हर ज़र्रा[५०] हवा में ॥
नमूदे आफ़रीनश[५१] है तुझी से। वजूदे आफ़रीनश[५२] है तुझी से ॥
तुही ख़ल्लाक़[५३] है कोनो मकाँ[५४] का। तुही रज़्ज़ाक़[५५] है हर उंसो जाँ[५६] का ॥
अलग कब तुझसे तेरी गुफ़्तगू[५७] है। ग़रज़[५८] इक तू ही तू है, तू ही तू है ॥
तुही है सबसे बरतर[५९] सबसे बाला[६०]। तुही है हाल अस्याँ[६१] सुननेवाला ॥
अधम बिगड़े हुए लाखों सँवारे। मेरी भी टेर सुन ले प्रानप्यारे ॥
शहनशाहे जहाँ आलम पनाहे[६३]। बराये ख़ुद[६४] सुए शौला[६५] निगाहे[६६] ॥

(२)

अर्ज़दाश्त[६७]

अजब है कुछ मेरी हालत का इज़हार[६८]। सरासर हूँ अधम, पापी, गुनहगार[६९] ॥
न लायक़ इलतमासो इल्तजा[७०] के। न क़ाबिल अपनी अर्ज़े मुद्दआ[७१] के ॥
नदामत[७२] नामए ऐमाल[७३] से है। खिजालत[७४] आप अपने हाल से है ॥
निकम्मा हूँ निकम्मी ज़िंदगी है। मेरी हस्ती[७५] को ख़ुद शरमिंदगी है ॥
न अक़बा[७६] का न दुनिया का, न दीं[७७] का। अजब कुछ हूँ, नहीं लेकिन कहीं का ॥
असीरे बंद दुनिया[७८] हूँ सरासर। गिरफ़्तारे क़फ़स[७९] बेबालो बे पर[८०] ॥
वो नंगे इख़तिलाते आबोगिल[८१] हूँ। कि रब्ते जिस्मो जाँ[८२] से मुनफ़इल[८३] हूँ ॥
वो आवारा[८४], वतन[८५] जिसने न देखा। वो बुलबुल हूँ, चमन जिसने न देखा ॥

शाला; ३५. विनाश; ३६. नाज़ भरी हुई (इठलाती हुई) चालकी अदा; ३७. शोभा; ३८. सत्ता; ३९. ओठ; ४०. उपास्यदेव (प्रेमास्पद); ४१. जीवन और मृत्यु; ४२. सत् और असत् (अस्तित्व और अभाव); ४३. परस्पर; ४४. मिट्टीका घर जो बालक खेलमें बनाते हैं; ४५. संसाररूपी खेलका स्थान (रङ्गभूमि); ४६. हरी-हरी घासके तिनके जो जीभसे मालूम होते हैं; ४७. बोल रहा; ४८. प्रशंसा; ४९. उत्साहसे भरा हुआ; ५०. कण-कण; ५१. सृष्टिका उदय अथवा विकास; ५२. सृष्टिकी स्थिति; ५३. रचनेवाला; ५४. दुनियारूपी भवन; ५५. भरण-पोषण करनेवाला, रोटी देनेवाला; ५६. मनुष्य तथा जन्तु; ५७. चर्चा; ५८. सारांश यह कि; ५९. ऊँचा; ६०. श्रेष्ठ; ६१. पापियोंका वृत्तान्त; ६२. संसारका सम्राट्; ६३. जगत्का रक्षक; ६४. अपने लिये; ६५. शौलाकी ओर [शौला कविका उपनाम है]; ६६. एक निगाह, एक दृष्टि; ६७. निवेदन; ६८. वर्णन; ६९. अपराधी; ७०. निवेदन और प्रार्थना; ७१. अभिप्राय-निवेदन; ७२. लज्जा; ७३. करतूतोंका चिट्ठा; ७४. पश्चात्ताप; ७५. अस्तित्व; ७६. परलोक; ७७. धर्म; ७८. संसारके बन्धनमें जकड़ा हुआ; ७९. पिंजरेमें बंद; ८०. बिना बालका (लुंजा) और बिना पंखका; ८१. आब=पानी, गिल=मिट्टी [पाँच तत्त्वोंमेंसे दो ख़ास तत्त्व], इख़तिलात=मिलावट, नंग=शर्म दिलानेवाला; अर्थात् पानी और मिट्टीकी मिलावट यानी आदमीके नामको भी लजानेवाला; ८२. रब्त=सम्बन्ध, जिस्म= शरीर, जाँ=जीव; अर्थात् शरीर और जीवका सम्बन्ध; ८३. लज्जित; ८४. इधर-उधर भटकनेवाला; ८५. घर (भगवद्धाम);

अलग हूँ, दूर हूँ, सबसे जुदा हूँ । अजब बेकस[86] हूँ बे बर्गो नवा[87] हूँ ॥
न कोई छोड़ जाने की निशानी । न कोई यादगारे ज़िंदगानी[88] ॥
हज़ारों है गुनाहों की गवाही । सफ़ेदी[89] पर हैं क्या क्या रू सियाही[90] ॥
न ज़िक्रे हक़[91] है ना फ़िक्रे अमल[92] है । न कर्मो धर्म[93] है, विद्या न बल है ॥
न जोगी हूँ न संन्यासी, जती हूँ । न रिंदे[94] बादाकश[95] ना मुत्तक़ी[96] हूँ ॥
न ज़ाहिद[97] हूँ न हूँ मस्ते ख़राबात[98] । न आबिद[99] हूँ, न हूँ अहले करामात[100] ॥
न साधू हूँ, न बैरागी, न अवधूत । न लाहूती[101], न जबरूती[102], न मलक़ूत[103] ॥
मेरी ग़फ़लत[104] की हद कुछ भी नहीं है । ख़याले नेकोबद[105] कुछ भी नहीं है ॥
नहीं छूने के क़ाबिल जिस्मे नापाक[106] । मिलेगी किस तरहसे खाकमें खाक[107] ॥
ग़रज़ जो कुछ हूँ, सब तुझ को खबर है । मेरा अंजाम[108] क्या, मद्दे नज़र[109] है ॥
हमेशा है गुनहगारों पै रहमत[110] । हमेशा है तेरी बख़शिश[111] की आदत ॥
किया दुश्मन का भी उद्धार तूने । उतारा डूबतों को पार तूने ॥
दयालू दीनबंधू के सहारे । थका बैठा हूँ मंज़िल[112] के किनारे ॥
नहीं इक वक़्त का तोशा[113] बग़ल में । झुका पड़ता है सिर फ़िक्रे अमल में ॥
कुढब रस्ता है और मंज़िल कड़ी है । जो गठरी सिर पै है, बोझल बड़ी है ॥
न पस्ती वो बलंदी[114]का ठिकाना । हज़ारों क़ाफ़ले[115] गो[116] हैं रवाना ॥
न रहबर[117] कोई राहे पुरख़तर[118] में । अँधेरा होगा हर जानिब[119] नज़र में ॥
बुरा है वक़्त वह, जिसका कि डर है । समाँ[120] यह है कि जो पेशे नज़र[121] है ॥
दमे आख़िर[122] रवाँ[123] आँखों में होगा । किसी दिन यह समाँ आँखों में होगा ॥
बदलती हों मुहब्बत[124] की निगाहें । हर इक जानिब हों हसरत[125] की निगाहें ॥
दमे रुख़सत[126] हो घरवालों ने घेरा । खड़ा हो सब लदा असबाब[127] मेरा ॥
हजूमे अहले मातम[128] हो सिरहाने । अज़ीज़ो अक़रबा[129] ख़ेशो यगाने[130] ॥

---

८६. असहाय; ८७. बिना पत्ते और सामान (फल, शाखा आदि) का वृक्ष—बेकार और निकम्मा; ८८. जीवनकी स्मृति; ८९. सफेद बाल (बुढ़ापा); ९०. धब्बे, काले दाग़; ९१. भगवान्‌की चर्चा; ९२. करतूतोंकी चिन्ता; ९३. धर्म-कर्म; ९४. मस्त; ९५. भगवत्प्रेमकी सुरा पीकर छका हुआ; ९६. पवित्रात्मा; ९७. त्यागी; ९८. ज्ञानकी शराबमें मतवाला; ९९. महात्मा; १००. अलौकिक सामर्थ्यवान्; १०१. शून्यमें रमण करनेवाला; १०२. मोक्षकामी एकान्तवासी मुनि; १०३. अन्य लोकोंमें विचरनेवाला सिद्ध पुरुष; १०४. प्रमाद, ग़लती; १०५. भले-बुरेका विचार; १०६. अपवित्र शरीर; १०७. मिट्टी; १०८. अन्त, परिणाम; १०९. ध्यानमें; ११०. दया; १११. क्षमा-प्रदान; ११२. जीवन-यात्रा; ११३. भोजन-सामग्री, पाथेय; ११४. ऊँचाई-निचाई; ११५. यात्रियोंके टोल; ११६. यद्यपि; ११७. मार्गदर्शक; ११८. खतरेसे भरा हुआ मार्ग; ११९. प्रत्येक दिशामें; १२०. दृश्य; १२१. दृष्टिके सामने; १२२. अन्तिम श्वास, अन्तिम क्षण; १२३. प्रस्तुत; १२४. प्रेम; १२५. अतृप्त लालसा; १२६. विदाईके समय; १२७. सामान; १२८. शोक प्रकट करनेवालोंकी भीड़; १२९. प्रियजन एवं निकटके लोग (सम्बन्धी); १३०. अपने एवं पराये;

हर एक की हो निगाहे हसरत-आलूद[१३१] । खड़ी हो बेकसी[१३२] बालीं[१३३] पै मौजूद ॥
अजब मायूस[१३४] हो नाकामे दुनिया[१३५] । तपाँ[१३६] हो, हम[१३७] असीरे दाम दुनिया[१३८] ॥
किसी को इक दो दम की इंतज़ारी[१३९] । किसी के दिल में हो फ़िक्रे सवारी[१४०] ॥
मेरे हर काम बाहम बट रहे हों । उठानेवाले भाई छुट रहे हों ॥
ग़रज़ सामाने रुख़सत[१४१] जब हो तैयार । पड़े जान[१४२] और अजलमें[१४३] आके तकरार[१४४] ॥
उसे ताजील[१४५] हो हुक्मे कज़ा की[१४६] । इसे हो ढील अर्ज़े मुद्दआ की ॥
वो विफरी[१४७] हो कि आगे घरके निकलूँ । यह मचली हो कि दर्शन करके निकलूँ ॥
पड़ा झगड़ा हो कुछ आपस में भारी । वो क्या? बस इक तुम्हारी इंतज़ारी ॥
नज़र आ जाय छब बाँकी अदा की । मुँदें आँखें तो हो झाँकी अदा की ॥
तसव्वुर[१४८] रिश्तये जाँ में[१४९] जकड़ लूँ । छुटे तब नब्ज़[१५०] जब दामन[१५१] पकड़ लूँ ॥
जब आये आँख में दम प्रानप्यारे । लगा हो ध्यान चरनों में तुम्हारे ॥
वही हो ध्यान जिसको मैं दिखाऊँ । वही झाँकी हो, जिसको मैं बताऊँ ॥

(३)

झाँकी

कदम की छाँव हो जमुना का तट हो । अधर मुरली हो माथे पर मुकट हो ॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से । मुकट झोकों में हो मौजे हवा[१५२] से ॥
ख़मीदा[१५३] नाज़ से हो क़द्दे बाला[१५४] । मुकट घेरे हुए हो मह[१५५] का हाला[१५६] ॥
सितारे झड़ रहे हों पीत पट से । गुथी मोती की लड़ियाँ हों मुकट से ॥
कसी नाज़ुक कमर हो काछनी से । बँधी बंसी हो जामे की तनी से ॥
गले में हों जड़ाऊ हारो हेकल[१५७] । पड़े गुलगोश[१५८] में हों क्रीट-कुंडल ॥
भरी गजरों से हो नाज़ुक[१५९] कलाई । बने हों बर्गे गुल[१६०] दस्ते हिनाई[१६१] ॥
पड़ी सिंघार[१६२] की हो फूलमाला । गले में दस्ते शौक़े[१६३] बृजे बाला[१६४] ॥
बराबर हों श्रीराधा किशोरी । मधुर सुर बाँस की बजती हो पोरी[१६५] ॥
कमर उलझी हुई नाज़ुक कमर से । हो उलझा पीतपट नीलाम्बर से ॥
मुकट से चंद्रिका, हाले से हाला । कड़ों से हार, बनमाला से माला ॥

---

१३१. लालसापूर्ण दृष्टि; १३२. बेबसी; १३३. सिर; १३४. निराश; १३५. संसारके लिये निकम्मा; १३६. जलता हुआ; १३७. साथ-साथ; १३८. संसारके जालमें फँसा हुआ; १३९. प्रतीक्षा; १४०. शव-यात्राकी चिन्ता; १४१. बिदाईका सामान; १४२. जीवन; १४३. मृत्यु; १४४. झगड़ा; १४५. उतावली; १४६. मृत्युके देवता (यमराज) की आज्ञा; १४७. मचली; १४८. ध्यानमें आयी हुई मूर्ति; १४९. प्राणोंके सूत्रमें; १५०. नाड़ीकी गति; १५१. अञ्चल; १५२. हवाकी अठखेलियाँ; १५३. झुकी हुई; १५४. ऊँची क़द; १५५. चाँद; १५६. तेजोमण्डल; १५७. हार एवं हमेल; १५८. गुलाबके फूल-से कान; १५९. सुकुमार; १६०. गुलाबके फूलकी पँखुड़ियाँ; १६१. मेंहदीसे रचे हुए हाथ; १६२. हरसिंगारके फूल; १६३. अनुरागपूर्ण हाथ; १६४. व्रजबालाएँ [यहाँ भी बृजका उच्चारण 'बिर्ज'के समान होगा ।] १६५.

लड़ी बेसर[166] से और मुक्ता[167] से मकतूल[168]। लटों से क्रीट, कुण्डल से करनफूल ॥
इधर उलझे हुए बाज़ू[169] से बाज़ू। उधर उलझे हुए गेसू[170] से गेसू ॥
सफ़ाए रंग[171] से आईना[172] हो दंग[173]। झलकता गौर में हो श्याम का रंग ॥
तबस्सुम[174] हो दमे नज़्ज़ारा बाहम[175]। अयाँ[176] इक छब में हो हुस्ने दो आलम[177] ॥
जुदा हों गो बराये नाम[178] दोनों। बने हों एक राधा श्याम दोनों ॥
बहमदीगर[179] हो अक्से[180] हुस्ने ज़ेबा। कन्हैया राधा हों, राधा कन्हैया ॥
जो हो यूँ हुस्ने यकताका[181] नज़ारा। बहारे रूये ज़ेबा[182] का नज़ारा ॥
गिरे गरदन ढलक कर पीतपट पर। खुली रह जायँ खुद आँखें मुकट पर ॥
अगर इस छब का आख़िर[183] में समाँ हो। मेरा मरना हयाते जाविदाँ[184] हो ॥
दुशाले की एवज़[185] हो बृज की धूल। पड़ें उतरे हुए सिंघार के फूल ॥
मिले जलने को लकड़ी बृजबन की। बने अकसीर[186] यूँ फुककर बदन की ॥
ग़रज़ इस तरह हो अंजाम मेरा। तुम्हारा नाम हो, और काम मेरा ॥
यह दौलत छोड़ दूँ नादाँ[187] नहीं हूँ। बहिश्त[188] और मोक्ष का ख्वाहाँ[189] नहीं हूँ ॥
तुम्हीं को शर्म है जाँ के दिये की। तुम्हीं को लाज है पैदा किये की ॥
रहूँ ता[190] इख़तिलाते आबो गिल में। रहे नक़्शा[191] इन्हीं चरनों का दिल में ॥
ज़बाँ[192] जबतक दहन[193] में हो न बेकार[194]। पुकारा ही करूँ सरकार-सरकार ॥
हमेशा विर्दे[195] हो नामे गिरामी[196]। हमेशा हो ज़बाँ पर नामे-नामी[197] ॥
इसी आनंद में बाक़ी[198] निबाहूँ[199]। न मुहताजे अज़ीज़ो अक़रबा[200] हूँ ॥
किसी के सामने फैले न दामन। न अहसाँ[201] हो किसी का बारे गर्दन[202] ॥
रहूँ बाग़े जहाँ[203] में रंगो बू से[204]। कटें दिन ज़िंदगी के आबरू[205] से ॥

बाँसकी दो गाँठोंके बीचका भाग; १६६. नाकका आभूषण; १६७. मोती; १६८. एक प्रकारका गहना; १६९. भुजा; १७०. बाल; १७१. रंगकी स्वच्छता; १७२. दर्पण. १७३. विस्मित, हैरान; १७४. मुसकान; १७५. उस दृश्यके समय; १७६. प्रकट; १७७. दोनों लोकोंका सौन्दर्य; १७८. नाममात्रके लिये; १७९. एक दूसरेका; १८०. प्रतिबिम्ब; १८१ अनुपम सौन्दर्य; १८२. श्रेष्ठ मुखच्छवि; १८३. अन्त समय; १८४. अमर जीवन; १८५. बदले, स्थानमें; १८६. वह फुकी हुई दवा जिससे मुर्देमें भी जान आ जाय; १८७. अज्ञान, मूर्ख; १८८. स्वर्ग; १८९. चाहनेवाला; १९०. जबतक; १९१. चित्र; १९२. जिह्वा; १९३. मुँह; १९४. बोलनेमें असमर्थ; १९५. जिह्वापर; १९६. महान् नाम; १९७. प्रसिद्ध नाम (भगवन्नाम); १९८. शेष जीवन; १९९. व्यतीत करूँ; २००. प्रियजनों एवं कुटुम्बियोंकी कृपाका भिक्षुक; २०१. उपकार; २०२. गर्दनका बोझ, सिरको झुका देनेवाला; २०३. संसाररूपी वाटिका; २०४. स्वतन्त्रतापूर्वक; २०५. प्रतिष्ठा;

उगे सर्व[206] सही बाला[207] तो अच्छा । अगर हो मर्ज़िये बाला[208] तो अच्छा ॥
रवाँ[209] बहरे करम[210] हो सैल दर सैल[211] । रहे दुनिया की दौलत हाथ का मैल ॥
भरोसा है मुकटधारी तुम्हारा । तुम्हारा ही है, 'बनवारी' तुम्हारा ॥
गरज़ हो जब कभी झगड़ा मेरा तै । कहें सब बोलो राधा कृष्णकी जै ॥

जीवनकी सफलता

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

जीवनकी सफलता किस बातपर निर्भर है ? ऐसा प्रश्न हमारे मनमें अनेक बार आता है। उसका सीधा-सादा उत्तर एक ही है—अपनी भावनाओंपर। मनुष्य अपनी कल्पनासे ही अपने-आपको सफल अथवा विफल बनाता है। हम जैसी कल्पना करते हैं, उसी प्रकारकी सृष्टि अपने आसपास रच लेते हैं। मनुष्यको चाहिये वह सदा आत्मनिरीक्षण करता रहे। जब उसके मनमें ईर्ष्या, क्रोध आदिसे रंजित विचार आने लगें तो उसे समझना चाहिये कि उसका आध्यात्मिक पतन हो चुका है। जब हमारे मनमें किसी कारणवश दूसरेके अकल्याणके विचार उठने लगते हैं तो यही विचार अपने अकल्याणके विचारमें परिणत हो जाते हैं। हम जिन व्यक्तियोंका अकल्याण चाहते हैं, उनसे भय खाने लगते हैं और फिर जिस अवस्थाको हम अपनी कल्पनामें चित्रित करते रहते हैं, वह एक दिन वास्तविकतामें परिणत हुई दिखायी देती है।

मनुष्य जिस भी स्थितिमें रहता है, उसी स्थितिमें उसे दो प्रकारकी शक्तियाँ मिलती हैं—एक जो उसका कल्याण चाहती हैं और दूसरी जो उसका पतन चाहती हैं। हमारा कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति वे हैं जो हमसे लाभ उठाते हैं, और हमारा अकल्याण चाहनेवाले लोग वे हैं जिन्हें हमारी उपस्थितिसे नुकसान होता है। यदि हमारे विचार हमारे कल्याण चाहनेवालोंपर केन्द्रित रहें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा। ऐसे लोगोंके प्रति हमारा प्रेम प्रवाहित होगा। इस तरह हमारा हृदय शुद्ध और हमारा मन बलवान् हो जाता है। प्रेमके विचार ही मनुष्यको सफलता और जीवन देते हैं। अतएव अपने प्रेमियोंके विषयमें चिन्तन करना सदा ही आत्माके लिये हितकर होता है। यदि हमारे विचार हमारे अकल्याण करनेवाले लोगोंमें केन्द्रित हो गये तो हमारा पतन निश्चित है। जो हमारा कल्याण नहीं चाहते, उनका हम भी कल्याण नहीं चाहते। हम ऐसे लोगोंका विनाश चाहते हैं। पर इस प्रकारकी मनोवृत्ति हमारा ही विनाश कर डालती है। जैसा हम पहले किसी लेखमें बता चुके हैं, आत्मघात और परघातकी मनोवृत्तियोंकी जड़ एक ही है।

मनुष्यको चाहिये कि वह सदा ही किसी-न-किसी भले काममें लगा रहे, इससे उसके कल्याण चाहनेवालोंकी संख्या बढ़ती जायगी और उसके अकल्याण चाहनेवालोंकी संख्या घटती जायगी। जैसे-

२०६. यह जीवनरूपी सरोका वृक्ष; २०७. सीधा और ऊँचा (ठीक रास्तेपर और उन्नतिकी ओर); २०८. उसकी कृपा, जो सबके ऊपर है, अर्थात् आपकी कृपादृष्टि; २०९. प्रवाहित; २१०. दयाका समुद्र; २११. लहर-पर-लहर।

जैसे एक प्रकारके लोगोंकी संख्या बढ़ती है, हमारे विचार भी उसी प्रकार बदलते जाते हैं। हम अपने आसपास चलनेवाले विचारोंसे सदा प्रभावित होते रहते हैं। जिस समय हम अपने आसपास ऐसा वातावरण बना लेते हैं, जिसमें अधिक लोग हमारा कल्याण चाहते हैं, तो हमारा कल्याण निश्चित ही है। कारण इन लोगोंके विचार हमारे विचारोंको भला बना देते हैं और उसके फलस्वरूप फिर हमारा वास्तविक जगत् भी भला बन जाता है। इस तरहकी क्रिया और प्रतिक्रिया सदा ही हमारे मन और वातावरणमें हुआ करती है।

देखा गया है जब कोई हमारा शत्रु यह देखता है कि हम उसके विषयमें कुछ भी नहीं सोचते और न उससे किसी प्रकारका भय खाते हैं तो वह हमारा धीरे-धीरे मित्र हो जाता है। प्रत्येक पुरुष शक्तिका पुजारी है। जो मनुष्य किसी दूसरेसे ईर्ष्या नहीं करता, वह अगाध ईश्वरीय शक्तिका धारण करनेवाला होता है; अर्थात् दूसरे लोगोंकी शत्रुतासे भयभीत न होना अपने-आपमें अनन्त शक्तिके अस्तित्वका प्रतीक है। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तिका अकल्याण करनेके विचार यदि किसी व्यक्तिके मनमें आयें भी तो वे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

जो मनुष्य संसारमें कोई भी मौलिक कार्य करना चाहता है, उसे परिणामके लिये उद्विग्न न होना चाहिये। वास्तवमें प्रत्येक कार्यका परिणाम व्यक्त जगत्में प्रकाशित होनेके पूर्व अव्यक्तमें रहता है। यदि किसी बीजको बोया जाय, उसके लिये योग्य खाद्य और पानी दिया जाय, तो वह तुरंत ही वृक्षके रूपमें परिणत नहीं हो जायगा। दूसरे जो वृक्ष जितना अधिक दिन ठहरनेवाला होता है, वह उतना ही अधिक समय व्यक्त जगत्में आनेमें लेता है और उसकी बाढ़ भी धीरे-धीरे होती है। जो वृक्ष शीघ्रतासे जमीनके बाहर आ जाते हैं और वेगके साथ बढ़ते हैं, वे शीघ्र नष्ट भी हो जाते हैं; उनका जीवनकाल थोड़ा ही होता है।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति जो संसारमें मौलिक कार्य करना चाहता है, उसे जगत्में होनेवाली अपनी प्रसिद्धिसे प्रसन्न न होकर उसे हानिप्रद समझना चाहिये। यदि कोई हमारे काममें बाधा डाले तो हमें उन बाधाओंको पार अवश्य करना चाहिये, पर हमें अपने विचार नकारात्मक कदापि न होने देने चाहिये।

जिस समय हम किसी व्यक्तिको हमारी हानि करते देखें, वह समय हमारे लिये भारी धर्मसंकटका है। धर्मसंकट इस बातका है कि कहीं हम उसका मन-ही-मन अकल्याण सोचने लगें। हमें चाहिये कि हम अपना हृदय उसके प्रति दुर्भावोंसे कलुषित न होने दें। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति अन्याय करता है तो उस अन्यायका प्रतिकार कर्तव्यबुद्धिसे करना बुरा नहीं, पर उस अन्यायके विषयमें सदा चिन्तित रहना अपने-आपको पतनकी ओर ले जाना है। वास्तवमें यदि हमारे अंदर कोई मौलिक गुण है तो वह अपने-आप संसारमें प्रकाशित हो ही जायगा, चाहे उसके प्रति कितने ही आवरण कोई क्यों न डाले। जो मनुष्य अपने-आपपर किये गये अन्यायोंको दूसरोंसे नहीं कहता फिरता, किन्तु दूसरे ही उसकी खोज करते हैं, वह अपनी संसारमें प्रतिष्ठा बढ़ा लेता है। वास्तवमें मनुष्यकी प्रतिष्ठा तो उसकी कार्यशक्ति, आध्यात्मिक बलपर निर्भर रहती है। चालबाजी थोड़े समयके लिये सफल भले ही हो जाय, किन्तु उसका अन्त मनुष्यको दिवालिया बना देता है। सरलचित्त मनुष्य ही संसारमें सुखी और सफल होता है। मनुष्यको अपने-आपकी कीमत बढ़ानी चाहिये। अपने-आपको धोखा कौन दे सकता है; दूसरोंको धोखा देना अपने-आपको धोखा देना है।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌से तुरंत उत्तर मिलेगा

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपके चारों पत्र मिल गये। उत्तर लिखनेमें मेरी ओरसे बहुत ही अवहेलना हुई, इसके लिये मनमें बड़ा संकोच है। कई बार पत्र लिखनेका विचार किया। दो-चार पंक्तियाँ लिखीं भी परन्तु कोई-न-कोई विघ्न आ गया, जिससे लिखना रुक गया। आप इतनेपर भी मुझसे नाराज नहीं हुए और पत्रोंका उत्तर न लिखनेपर भी बराबर पत्र लिखते रहे, इस कृपा और प्रेमके बदलेमें मैं तो कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ। आपने मेरे लिये जो कुछ भी शब्द लिखे हैं, उनको पढ़कर मुझे तो लज्जा आती है। मैं ऐसे शब्दोंके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। वास्तवमें आपके पत्रोंका उत्तर वही दे सकता है, जिसमें आपके लिखे शब्दोंका अर्थ घटता हो। हाँ, मैं आपकी श्रद्धापर इससे कोई आक्षेप नहीं करता। पाषाण या धातुमयी मूर्तिमें भी श्रद्धा और प्रेमके कारण भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। वस्तुतः सब जगह भगवान् हैं भी। मेरा तो यही लिखना है कि आपको मुझमें जो बातें दिखायी देती हैं, उसका कारण श्रद्धा ही है। मेरी दृष्टिसे तो मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखायी देती। मेरा असौजन्य और अकृतज्ञता तो इसीसे सिद्ध है कि रुग्णावस्थामें आपके लिखे हुए करुण और प्रेमभरे पत्रोंका मैं महीनोंतक उत्तर नहीं लिख पाता। आप अपनी श्रद्धामयी सज्जनतासे फिर भी मुझको चाहते हैं, यह आपकी महिमा है। मेरा तो यह निवेदन है कि आप जिस प्रकार मुझे स्मरण करते हैं और मुझको पत्र लिखते हैं, उसी प्रकार दयार्णव, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणगणालङ्कृत, परम सुहृद्, आपके नित्य परम आत्मीय, सदा अतिसमीप रहकर आपकी सारी स्थितियोंको भलीभाँति जानने-समझनेवाले और किसीकी भी बड़ी-से-बड़ी भूलपर भी कभी उसका अहित न करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्‌का स्मरण कीजिये और मनकी भाषामें उन्हें पत्र लिखिये। एक पत्र भी पूरा नहीं लिख पायेंगे—तुरंत आपको आश्वासनपूर्ण उत्तर मिलेगा।

'निरबल है बल राम पुकारो आये आधे नाम।'

भक्तशिरोमणि गजेन्द्र पूरा नाम भी उच्चारण नहीं कर पाये थे, उनके सामने भगवान् प्रकट हो गये और उन्होंने गजराजको तुरंत बचा लिया। यह अनहोनी या कल्पित कथा नहीं है।

रोगमें क्या समझना चाहिये ?

परन्तु रोगकी निवृत्तिके लिये भी उन्हें क्यों पुकारना चाहिये। रोगकी सौगात भेजनेवाले क्या कोई दूसरे हैं ? और यदि प्रियतमके हाथसे भेजी हुई चीज रोग है, तो फिर हमें उससे दुःख क्यों होना चाहिये ? जिस वस्तुसे प्रियतमका सम्बन्ध है, जो उनके घरसे आयी है, जिसको उन्होंने भेजा है, जो उनके हाथोंसे स्पर्शित है, जिसको लेकर वही आये हैं, उससे हमें भय और शोक क्यों होना चाहिये ? प्रियतमकी प्यारी छबि उसके पीछे छिपी है, उनका हाथ उससे संलग्न है, अगर यह बात है तो हमें प्रियतमका प्यारा हाथ देखकर उस वस्तुका आलिङ्गन करना चाहिये। और प्रियतम स्वयं ही स्वाँग बदलकर आये हैं तब तो कहना ही क्या है। वस्तुतः दोनों ही बातें सत्य हैं। हम इनमेंसे एकको भी स्वीकार कर लें तो हमारे लिये प्रत्येक क्षण परमानन्दसे पूर्ण हो जायगा। यह तो प्रेम-मार्गकी बात हुई। शरणागति और निर्भरतामें भी यही बात है। भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परमानन्दका अनुभव होना और सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर करना शरणागतिका लक्षण है। इसमें सारी क्रियाएँ भगवत्-

प्रेरित होती हैं। यहाँ क्रियाहीनता नहीं है। परन्तु वह क्रिया कठपुतलीके नाचके समान है। वह किसी फलके लिये किया जानेवाला साधन नहीं है। इस निर्भरताके मार्गसे भी रोगके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। चिन्ता तो एकमात्र चिन्तामणिकी ही होनी चाहिये, जिसकी चिन्तासे अन्यान्य समस्त चिन्ताएँ सदाके लिये नष्ट हो जाती हैं।

ज्ञानकी दृष्टिसे तो मायाके कार्यमें मोह होना ही अज्ञान है। अज्ञानकी अपने हाथों दी हुई गाँठको तो खोलना ही चाहिये। ज्ञान और भक्तिके समन्वय पक्षमें भी शरीरकी बीमारीके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं। आप विद्वान् हैं, स्वयं विचार कीजिये।

भगवान्‌की दयामें विश्वास

मेरे निवेदनके अनुसार तो आपको श्रीभगवान्‌में, उनकी अपार करुणामें, उनके अनन्त प्रेममें, उनकी अहैतुकी सुहृदतामें, उनकी असीम दयामें विश्वास करके यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये 'हमारा परम कल्याण ध्रुव है'। यदि भगवान्‌पर विश्वास करके आप अपने कल्याणके लिये संशयहीन हो जायँगे तो आपका कल्याण निश्चित है। बस, भगवान्‌की दयापर विश्वास करनेभरकी देर है। इस विश्वासकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्‌से करुण प्रार्थना करनी चाहिये। एक बारकी हृदयकी करुणायुक्त पुकार भगवान्‌के आसनको डुला देती है। 'जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।' जो उनके लिये खिन्न होता है, जिनको उनका विरह-ताप जलाये डालता है, उससे मिले बिना वे नहीं रह सकते। रोगसे घबड़ाइये नहीं। यह रोग यदि आपके अनन्तकालीन जीव-जीवनका अन्तिम रोग बन सके, तो रोगका स्वागत करना चाहिये। और ऐसा बन सकना आपके हाथ है। आपके हाथसे मेरा मतलब आपके पुरुषार्थसे नहीं है, आपके हृदयसे है। जो यह कह सके कि 'मेरे हाथमें कुछ नहीं है, हे नाथ! सब कुछ तुम्हारे हाथ है, जो चाहे सो करो, तुम्हारी चीजमें मैं एतराज करनेवाला कौन? फिर मैं भी तुम्हारी ही चीज हूँ। एतराज करता हूँ तो तुम्हीं करते-करवाते हो। तुम्हीं तुम्हारी जानो। और जो चाहे सो करो-कराओ।'

(२)

प्रेम और विकार

····आप लिखते हैं, 'मैं प्रेम-धनसे शून्य हूँ। बिना प्रेमके जीवन कैसा, वह तो बोझरूप है।' यह आपका लिखना सिद्धान्ततः ठीक ही है। प्रेमशून्य जीवन शून्य ही है। परन्तु वास्तवमें यह बात है नहीं। प्रेम सभीके हृदयमें है, भगवान्‌ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्‌में भेजा है। हमने उस प्रेमको नाना प्रकारसे इन्द्रिय-चरितार्थतामें लगाकर विकृत कर डाला है, इसीलिये उसके दर्शन नहीं होते और कहीं होते हैं तो बहुत ही विकृतरूपमें होते हैं। विकृत स्वरूपका नाश होते ही मोहका पर्दा फट जाता है; फिर प्रेमका असली ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, जिसके प्राकट्यमात्रसे ही आनन्दाम्बुधि उमड़ पड़ता है। प्रेम और आनन्दका नित्ययोग अनिवार्य है। भगवान्‌के आनन्दसे ही सृष्टि हुई है और इस प्रेमसे ही आनन्दका विकास और पोषण होता है। प्रेमकी कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहाँ आनन्दका अभाव हो और आनन्द भी कोई ऐसा नहीं, जिसमें कारणरूपसे प्रेम वर्तमान न हो। परन्तु जहाँ प्रेमके नामपर कामकी क्रीड़ा होने लगती है, वहाँ प्रेम अपनेको छिपा लेता है। चिरकालसे मलिना माया-के मोहवश हम कामकी क्रीड़ामें लगे हैं। कामको ही प्रेम समझ बैठे हैं। इसीलिये प्रेम हमसे छिप गया है और इसीलिये प्रेमके अभावमें हम आनन्दरहित केवल 'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः' और 'कामोप-भोगपरमाः' होकर शोक-विग्रह बन गये हैं। इस काम-

की कालिमाको धोनेके लिये आवश्यकता है किसी ऐसे क्षारकी जो इसकी जड़तकका नाश कर दे और वह क्षार वैराग्य है। गोविन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषय-चम्पक-चञ्चरीक होता ही है। बार-बार उस परम प्रेमार्णव—अनन्त प्रेमार्णव सुधा-सार श्यामसुन्दरका स्मरण करना और उसकी दिव्य पद-नख-ज्योतिके प्रकाशसे समस्त सञ्चित मोहान्धकारका नाश करनेके निश्चयसे प्रत्येक क्षणके प्रत्येक चिन्तनमें अपार अलौकिक आनन्दका अनुभव करना (अनुभव न हो तो भावना करना) कर्तव्य है। उसके इस मधुर चिन्तनके प्रभावसे जगत्‌के समस्त रस नीरस, कटु और त्याज्य हो जायँगे। तब उस रस-विग्रहकी रश्मियाँ हमारे ऊपर पड़ेंगी और हमारे सुप्त प्रेमको जगाकर हमें उसके दिव्य दर्शन करायेंगी।

(३)

प्रतिकूल स्थितिमें प्रसन्न रहना

····प्रतिकूल समयमें सभी कुछ सम्भव है। परन्तु इन सब बातोंके होते हुए भी आप-सरीखे विचारशील पुरुषके चित्तमें अशान्ति क्यों रहनी चाहिये। वेदान्त, भक्ति और कर्म—तीनों ही दृष्टियोंसे चित्तका निरुद्वेग रहना उचित है। वर्तमान दुःस्थिति कर्मका फल है, तो उसका भोग अवश्य ही सिर चढ़ाकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये। ज्ञानकी दृष्टिमें जहाँ दृश्य-जगत्‌का ही अभाव है, वहाँ जगत्‌की तुच्छातितुच्छ स्थूल स्थितियोंकी तो सत्ता ही कहाँ है। स्वप्नका दुःख जागे हुए बुद्धिमान् पुरुषको क्यों होना चाहिये। अनुकूलता, प्रतिकूलता सारी ही असत् हैं, अज्ञानसे आरोपित हैं। निन्दा-स्तुति, मानापमान, लाभ-हानि—सभी तो मोहके कार्य हैं। इनसे बुद्धिमान्‌की चित्तवृत्ति-में विकार क्यों होना चाहिये।

सच्चे भक्तकी दृष्टिमें तो सभी कुछ प्रियतम प्रभुकी देन है। वह तो प्रत्येक स्थितिमें प्रियतमका कोमल मधुर स्पर्श पाकर सुखी होता है। किसी भी स्वाँगमें आये, आता वह प्रियतम ही है। फिर भय-चिन्ता किस बातकी? यदि उसका विधान मानें तो उस मङ्गलमयका प्रत्येक विधान हमारे मङ्गलके लिये होता है। फिर उसका किया हुआ विधान होनेसे हमारे लिये प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाना चाहिये—क्योंकि इसीमें उसको सुख है, ऐसी ही उसकी इच्छा है। और विचार करके देखें तो विधानके रूपमें स्वयं विधाता-का ही प्रकाश है।

आपको किसी वैषयिक अनुकूल समयकी आशा और प्रतीक्षा क्यों करनी चाहिये। यदि वैसा अनुकूल समय न भी आया तो आपका क्या हर्ज है। प्रत्येक प्रतिकूलतामें ही अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये। श्रीभगवान्‌के इन शब्दोंको याद रखना चाहिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(गीता ५। २०)

समस्त जीवनके वेदान्ताभ्याससे लाभ उठानेका यही तो अवसर है।

फिर भगवान्‌ने भागवतमें एक जगह ऐसा भी कहा है कि 'जिनपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उनका धन क्रमशः हरण कर लेता हूँ! और अपनी कृपाके द्वारा उनके प्रत्येक उद्योगको असफल करता हूँ।' अतएव आपको तो हरेक दृष्टिसे ही अन्तरमें प्रसन्न, निर्विकार, सम और शान्त रहना चाहिये। यह पत्र मैं आपके लिये ही लिखता हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यथासाध्य उद्योग नहीं करना चाहिये, अथवा कष्टमें पड़े हुए घरवालोंके कष्टमें हिस्सा नहीं बँटाना चाहिये। करना सब चाहिये और पूरे बलसे करना चाहिये। परन्तु करना चाहिये, नाटकके कुशल पात्रकी भाँति ही।

एक बात और ध्यानमें आ गयी। चित्त बहुत ही घबड़ाये तो श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका कुछ दिनोंतक रोज लगातार आर्तभावसे पाठ करना चाहिये। इससे अद्भुत कार्य होता है; परन्तु यह बहुत ऊँचा भाव नहीं है।

खर्च यथासाध्य घटाना चाहिये और काम-काजके लिये भी प्रयत्न करते रहना चाहिये। नामस्मरण तो सतत चालू रहना ही चाहिये।

घबड़ाना नहीं चाहिये। याद रखिये, प्रभु सदा आपके साथ हैं। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। विषाद करके उनका अपमान नहीं करना चाहिये।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

उनका आश्रय लेनेपर, उनमें चित्त लगानेपर उनकी कृपासे सारे कष्टोंसे सहज ही पार हुआ जा सकता है।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

२–षड्विध गार्हस्थ्य—गृहस्थ छः प्रकारके होते हैं, जैसे—

(क) 'वार्ताक' गृहस्थ—जो गृहस्थ कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि वैश्य-वृत्ति करते हैं, तथा नित्य-कर्मादिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'वार्ताक' गृहस्थ कहते हैं।

(ख) 'शालीन' गृहस्थ—जो गृहस्थ यज्ञ करना-कराना, वेद पढ़ना-पढ़ाना तथा दान देना और लेना—इन छः प्रकारके कर्मोंमें निरत रहकर जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं, वे 'शालीन' गृहस्थ कहलाते हैं।

(ग) 'यायावर' गृहस्थ—जो गृहस्थ देश-देशान्तरमें भ्रमण करके सद्गृहस्थोंके घरसे स्वकुटुम्बके भरण-पोषणके लिये उपयोगी द्रव्योंका संग्रह करके जीविका-निर्वाह करता है, तथा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करता रहता है, उसे 'यायावर' गृहस्थ कहते हैं।

(घ) 'घोरसांन्यासिक' गृहस्थ—जो गृहस्थ जीविकाके लिये शिष्टलोगोंके घरसे चावल संग्रह करते हैं, तथा जलद्वारा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'घोरसांन्यासिक' गृहस्थ कहते हैं।

(ङ) 'उञ्छवृत्ति' गृहस्थ—जो गृहस्थ शिलोञ्छवृत्तिके द्वारा जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'उञ्छवृत्ति' गृहस्थ कहते हैं। (खेतका स्वामी जब खेतसे अन्नको काट ले जाता है, तब खेतमें पड़े हुए अन्नके दानोंको चुन-कर इकट्ठा करनेका नाम 'उञ्छवृत्ति है।' तथा व्यापारियोंके द्वारा बाजारमें छोड़े हुए दानोंको चुनकर इकट्ठा करनेको 'शिलवृत्ति' कहते हैं।)

(च) 'अयाचित' गृहस्थ—जो गृहस्थ 'चातक' वृत्तिके द्वारा (बिना याचनाके ही प्राप्त हुई वस्तुके द्वारा) जीविका-निर्वाह करते हैं, तथा नित्यकर्मोंका साधन करते हैं, उन्हें 'अयाचित' गृहस्थ कहते हैं।

अब गृहस्थ-धर्म कहा जाता है—

गृहस्थ अपने अनुकूल स्त्रीका पाणिग्रहण करे। गोत्र और प्रवरका सम्बन्ध न रहे, ऐसा देखकर विवाह करे। पति-पत्नी-में परस्पर प्रेम होना आवश्यक है, गृहस्थके घर स्त्रियोंका आदर होना आवश्यक है। माता-पिता, पति, देवर—जो भी गृहस्थीका चलानेवाला हो, वही अपनी-अपनी कन्या, बहिन, पत्नी, भौजाईका आदर-सत्कार करे, तथा उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान करे। ऐसा करनेसे ही गृहस्थी (परिवार) का कल्याण होगा और शान्ति मिलेगी। यदि कोई माननीय व्यक्ति अतिथिरूपमें आये तो गृहस्थको चाहिये कि आगे जाकर सम्मानपूर्वक उसे ले आये। प्रेमपूर्ण मन, वचन और व्यव-हारसे उसे तृप्त करे। बुलानेके बाद विदा करनेतक सर्वत्र विनीत भाव प्रदर्शन करे। सन्ध्या, स्नान और जप गृहस्थको

अवश्य करना चाहिये। मिथ्याभाषण, अभक्ष्यभक्षण, अपेय वस्तुका पान, व्यभिचार, चोरी, जीवहिंसा, बन्धुद्रोह तथा अन्यान्य शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका अनुष्ठान गृहस्थको नहीं करना चाहिये।

गृहस्थको धन, गृहच्छिद्र, मन्त्रणा, तपस्या, दान, अपमान, आयुष्काल तथा भोगविशेष—इन नौ बातोंको लोगोंमें प्रकट नहीं करना चाहिये। माता, पिता, गुरु, मित्र, विनीत, उपकारी, दरिद्र, अनाथ तथा सम्भ्रान्त व्यक्तिको दान करनेसे वह दान सफल होता है। धूर्त, बंदी, पापी, कुवैद्य, द्यूत खेलनेवाला, शठ, चाटुकार, नर्तक (नाचनेवाले) तथा चोरको जो दान दिया जाता है, वह निष्फल हो जाता है। सर्वसाधारणकी सम्पत्ति, याचित वस्तु, धरोहर, स्त्रीधन, कुलक्रमागत सम्पत्ति, स्थापित द्रव्य, तथा सन्ततिके रहते सर्वस्व दान करना उचित नहीं।

प्रतिदिन गृहस्थको अवश्य ही कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। कोई विशेष अवसर उपस्थित होनेपर गोदान करना बड़ा ही पुण्यजनक होता है। थके व्यक्तिकी थकावट दूर करनेसे, रोगीकी शुश्रूषासे, पूज्य पुरुषोंके चरण धोने तथा जूठन उठानेसे एवं देवपूजा करनेसे गोदानके समान फल होता है। गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ अवश्य करने चाहिये। 'वेदाध्ययन तथा वेदादि शास्त्रोंका अध्यापन, नित्य होम, विश्वेदेवोंके लिये अन्न निवेदित करना, पितृतर्पण और अतिथि-सेवा'—यही पञ्चमहायज्ञके नामसे अभिहित होते हैं।

गृहस्थोंके चूल्हा जलानेसे अनेकों छोटे-छोटे कीट-पतङ्ग जल जाते हैं, चक्कीमें अनेकों जीव पिस जाते हैं, झाड़ूसे अनेकों जीव मर जाते हैं, ऊखलमें तथा जलके घड़ेमें अनेकों जीव गिर जाते हैं। गृहस्थोंकी ये प्रतिदिनकी हिंसाएँ हैं, इनके द्वारा होनेवाले पापोंसे मुक्ति पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा ही होती है।

माता-पिता, अन्य गुरुजन, भार्या, सन्तान, आश्रित, दरिद्र, अभ्यागत तथा अतिथि—ये पोष्यवर्ग हैं; जातिके लोग और भाई-बन्धु भी पोष्यवर्गके अन्तर्गत हैं। इस पोष्यवर्गका पालन करना गृहस्थके लिये अवश्य कर्त्तव्य है, इनका पालन न करनेसे मनुष्य नरकमें जाता है। यदि गृहस्थ इन सबके पालनमें असमर्थ हो तो सत्य, सरलता, अतिथि-पूजा, पत्नी-प्रेम, स्त्री-पुत्रका प्रतिपालन तथा वेदचर्चा करे। माता-पिता और गुरुकी सेवा तो मनुष्यमात्रका साधारण धर्म है। इनका यहाँ उल्लेख न करनेसे कोई हानि नहीं है।

अतिथिको भोजन कराके गृहस्थ भोजन करे। अतिथिको भोजन करानेके पहले कुमारी, नववधू, गर्भिणी, रोगी तथा शिशुओंको भोजन कराया जा सकता है। घरके दूसरे लोगोंको अतिथि-भोजनके बाद ही भोजन करना आवश्यक है। शूद्र गृहस्थके भी यही धर्म हैं। केवल वेद-चर्चा उनके लिये नहीं है। पञ्चमहायज्ञके निर्वाहके लिये शूद्र केवल नमस्कार-मन्त्रका उच्चारण करे। ब्राह्मणादि गृहस्थोंके लिये जिस प्रकार श्राद्ध आवश्यक कर्म है, उसी प्रकार शूद्रके लिये भी है। (धर्मसिद्धान्त—मनु, गौतम और वसिष्ठ)

३ चतुर्विध वानप्रस्थ—वानप्रस्थ धर्म चार प्रकारका है, जैसे—

(क) 'वैखानस' ब्रह्मचर्य—जो बिना जोते हुए स्थानमें उत्पन्न सस्यादिका संग्रह कर, गाँवके बाहर अग्निहोत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें रत रहकर वानप्रस्थ आश्रममें रहता है, उसे 'वैखानस' वानप्रस्थ कहते हैं।

(ख) 'उडुम्बर' वानप्रस्थ—जो प्रातःकाल उठकर किसी ओर चले जाते हैं, तथा बेर एवं नीवार, श्यामाक (साँवाँ) प्रभृति धान्योंका संग्रह करके जीवन-निर्वाह करते हैं, तथा अग्निहोत्रादि वानप्रस्थ-धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें 'उडुम्बर' वानप्रस्थ कहते हैं।

(ग) 'वालखिल्य' वानप्रस्थ—जो आठ मास जीविका उपार्जन करते हैं, तथा जटा बाँधकर चातुर्मास्यके चार महीने व्रत पालन करते हैं, तथा कार्तिकी पूर्णिमाको समस्त उपार्जित सामग्रीका त्याग कर देते हैं, उन्हें 'वालखिल्य' वानप्रस्थ कहते हैं।

(घ) 'फेनप' वानप्रस्थ—जो वृक्षसे गिरे हुए पत्र और फलके द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, तथा जहाँ कहीं रह जाते हैं, एवं विधिपूर्वक वानप्रस्थ-धर्मका पालन करते हैं, उन्हें 'फेनप' वानप्रस्थ कहते हैं।

अब वेदोक्त वानप्रस्थ-धर्मका वर्णन किया जाता है—

गृहस्थको चाहिये कि पौत्र-दौहित्रके उत्पन्न हो जानेपर अथवा वृद्धावस्था आनेपर अरण्यमें प्रस्थान करे, आयुके

तीसरे भागमें वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले । अरण्यमें जानेके समय पत्नी पुत्रोंके पास रहे अथवा स्वामीके साथ वह भी अरण्यवासके लिये चली जाय । वानप्रस्थमें क्षौर-कर्मका त्याग करे, कन्था या मृगचर्म पहने । गाँवमें प्रवेश न करे । स्वयं उत्पन्न फल-मूलका संग्रह करे । इस प्रकार फल-मूलका संग्रह करना उसके लिये चोरी नहीं है । वानप्रस्थको क्षमावान् और शुक्र-संयमी होना चाहिये । आश्रममें अतिथि आये तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसकी सेवा करे ।

तीन बार स्नान तथा पञ्चमहायज्ञ वानप्रस्थको अवश्य करने चाहिये । दान करना वानप्रस्थका धर्म है, परन्तु दान लेना नहीं चाहिये । अभक्ष्य न हो तो मधुकरी भिक्षा भी वानप्रस्थके लिये ग्राह्य है । (धर्मसिद्धान्त—मनु, गौतम और वसिष्ठ)

४ संन्यासधर्म—श्रीब्रह्माजी देवर्षि नारदसे संन्यासीके धर्म बतलाते हैं—

भैक्ष्याशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥
(नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५ । ३३)

संन्यासीको चाहिये कि बिना माँगे स्वयं आकर प्राप्त हुई, अथवा मधुकरी भिक्षाके द्वारा जीवन-यात्राका निर्वाह करे । इसके अतिरिक्त विषय-चिन्तनका त्याग करके एकतत्त्व-का अभ्यास करना अर्थात् 'प्रतिक्षण उदय होनेवाली चित्त-वृत्तिका मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार अहंरूपी एकावलम्बनका स्मरण करना (अभेदरूपी यह अहंप्रत्यय स्वानुभूतिग्राह्य है); सर्वेन्द्रियसमाहाररूपी तपस्या; 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इन विचारोंके साथ तैलधारावत् एकतानतामें डूब जाना अर्थात् सत्त्वैकतानता; ब्रह्मात्मैक्यविचारमें—'चिन्तयन् परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति' के विचारमें मग्न होना; तथा प्रवृत्तिसे रहित केवल ज्ञानप्रसादमें स्थित होना*—यही छः संन्यासीके धर्म हैं ।

दूसरे शास्त्रोंमें संन्यास† का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याश्यं ब्रह्ममूलता ।
निष्परिग्रहताद्रोहः समता सर्ववस्तुषु ॥
प्रियाप्रियपरिष्वङ्गे सुखदुःखाविकारिता ।
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं .... ॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता ।
भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राडर्थ उच्यते ॥

स्वेच्छापूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानमें निःस्पृहता; सात्त्विक

* ज्ञानप्रसादरूप वैराग्यके उत्पन्न होनेपर आत्मज्ञान-प्राप्त योगी समझते हैं कि—'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्य अविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यमेतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्य-मिति ।' (पातञ्जलदर्शनके १ । १६ सूत्रपर भगवान् वेदव्यासकृत भाष्य) अर्थात् प्रापणीय (जो पाना था) प्राप्त हो गया; क्षेतव्य (जिसे नष्ट करना आवश्यक था) अविद्यादि पञ्चक्लेश अब क्षीण हो गये; जिस भवसंक्रम (अविच्छिन्न जन्म-मरण-प्रवाह) के विच्छिन्न हुए बिना जीव जन्मता और मरता है, तथा मरकर जन्म लेता है वह भवसंक्रम अब छिन्न हो गया । ज्ञानकी ही पराकाष्ठा यह वैराग्य है तथा इस वैराग्यसे कैवल्यका अविनाभाव सम्बन्ध है । अर्थात् इस वैराग्यसे कैवल्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं, कैवल्य इस प्रकारके वैराग्य-का नामान्तरमात्र है । इसी (पर-) वैराग्यके विषयमें श्रुति कहती है—

'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।'
(कठ० २ । १-२)

'विवेकी पुरुष नित्य सत्य ब्रह्म-चैतन्यमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त कर संसारके अनित्य विषयोंको—स्त्री, पुत्र, वित्त, मित्रादि किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते ।'

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।'
(ना० प० उप० ९-१०)

† 'संन्यास' शब्दका अर्थ है—सम्यक्रूपसे न्यास, त्याग । अविद्या या मिथ्याज्ञानका त्याग ही संन्यास है । जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसी जानना ही मिथ्याज्ञान कहलाता है । एक अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, अतएव जगत्को ब्रह्मरूपमें न देखकर जगत्रूपमें देखना या जानना मिथ्या-ज्ञान है । जिस ज्ञानमें ब्रह्मके अतिरिक्त द्वितीय पदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिभात होता है, वही मिथ्याज्ञान है । इस प्रकारके मिथ्या-ज्ञानके वश जो काम्य कर्म किये जाते हैं, उनके न्यास—त्यागको संन्यास कहते हैं । अनन्त-अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न ब्रह्मकी माया-शक्ति जगत्के रूपमें विवर्तित होती है, और शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न है । अतएव जगत्का जगत्-रूपसे जो ज्ञान होता है, वह भी ब्रह्म ही है—इस प्रकार जगत्का त्याग करके उसे सर्वव्यापक ब्रह्मभावनाके द्वारा आच्छादन करनेको 'संन्यास' कहते हैं । अर्थात् जगत्में अनात्मभावकी दृष्टिका परित्याग कर भोक्तृ-भोग्यरूपमें प्रतीयमान जगत्को ब्रह्मरूपमें देखनेका नाम ही संन्यास है ।

भिक्षान्नके द्वारा जीवन-यात्राका निर्वाह; 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्मके ध्यानमें लीन रहना; अपरिग्रह; किसी जीवका अनिष्ट-चिन्तन न करना; सब वस्तुओंमें एक ही आत्मा है—ऐसा विचार करके सर्वत्र समचित्तता; प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर सुख-दुःखमें समभाव रखना; जल और मृत्तिकाद्वारा बाह्यशौच तथा इन्द्रियनिग्रह और मनोमलके त्यागके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि करना; इन्द्रियोंको दमन करके अन्तर्मुखी करना; नियत धारणा तथा ध्यानके अभ्यासमें लगे रहना; तथा सब प्रकारके विषयोंके चिन्तनसे रहित होकर ब्रह्मात्मैक्यभावमें लीन होना—इत्यादि गुणोंका अधिकारी पुरुष 'परिव्राजक' कहलाता है। *

को यतिः ? यति—संन्यासी किसे कहते हैं ?

विधिवत् चतुर्थाश्रमी परमहंसपरिव्राजको यः। 'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह', 'तत्त्वमसि', 'अहमस्मि', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म'—इत्यादि श्रुतिभ्यः श्रवणादिना 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यभेदेन अवस्थानं लब्धुं निरलसः सन् नित्यं नियमेन यत्नशीलः स यतिः, स विविदिषासंन्यासी, स सलिङ्गः परमहंसः।

अर्थात् सनातन-धर्मके शास्त्रोंके अनुसार, गुरुपरम्परासे प्रचलित नियमोंके अनुसार अष्टश्राद्ध, विरजाहोमादि अनुष्ठानोंके अन्तमें प्रैष मन्त्रका उच्चारण कर ज्ञानदण्डको धारण करते हुए 'अनिकेतः स्थिरमतिः' के रूपमें जो 'इस अन्तःकरणमें प्रकाशित आत्मचैतन्य ही मायातीत ब्रह्मचैतन्य है, निराकार ब्रह्मचैतन्य ही इस अन्तःकरणमें अनुस्यूत आत्मचैतन्य है', 'तुम्हीं ब्रह्म हो', 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है', 'ब्रह्म एक और त्रिविध भेदसे शून्य है', 'यह सब कुछ आत्मा ही है', 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है', 'ब्रह्म प्रज्ञान और आनन्दस्वरूप है', 'यह आत्मा ब्रह्म है'—इन श्रुतिवाक्योंके अनुसार सुविचारके द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासनके साथ जीवचैतन्य और परब्रह्मके अभेदज्ञानमें स्थिति लाभ करनेके लिये आलस्यका त्याग करके प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रयत्न करते हैं, वे ही यति हैं, वे ही विविदिषा-संन्यासी हैं, वे ही सलिङ्ग परमहंस भिक्षु हैं। चेष्टार्थक 'यत्' धातुके आगे 'इन्' प्रत्यय ('सर्वधातुभ्य इन्।' उणा० ४। ११७) करनेसे 'यति' पद सिद्ध होता है। 'यतते, चेष्टते मोक्षार्थमिति यतिः।' जो मोक्षके लिये चेष्टा करते हैं, जो संयतात्मा हैं, वे ही यति हैं।

श्रीव्रज-रज-वन्दना

दिव्य महारास जहाँ सकल-कलानिधान
कीन्हौ लै सुकृतवान ब्रजबनितान कों।
जिन में उघारे सानि जुद्ध मिस असखान[1],
खेल मिस रस-खान सुघर सखान कों॥
जिन तें बदर-पांडु-बदन बिहारी भए[2],
स्वजन-सनेही-समुदाय-सुख-दान कों।
जिन के लगे तें पुलकैं 'कुमार' बार-बार[3],
बंदौं बार-बार ब्रजरज-कनिकान कों॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

* वैदिक शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्यादिव्रतपरायण पारिव्राज्य (संन्यास) दीक्षामें संस्कृत महात्माको 'परिव्राजक' शब्दसे अभिहित किया गया है। अब कालके प्रभावसे कोई-कोई देशाटन करनेवाले उक्तरीतिसे विधिपूर्वक संस्कृत न होकर भी 'परिव्राजक' कहकर अपना परिचय देते हैं, अथवा दूसरोंके द्वारा दिलाते हैं—यह व्यवहार धर्मशास्त्र-विरुद्ध तथा निन्दित है।

१. अमित्रोंको। २. बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं (श्रीमद्भा० १०। ३५। २४)। ३. रोम-रोम।

जीवन-पहेली और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—रायसाहब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

अनादि कालसे मानव-संसारमें ये शंकाएँ उठती रही हैं और, जबतक मनुष्यमें विचार-शक्ति काम करेगी, उठती रहेंगी, कि जीवन क्या वस्तु है, मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, जीवनका प्रयोजन क्या है, दुःख क्यों होता है, इत्यादि। यही नहीं, यह सारा संसार—उसके समस्त पदार्थ ही पहेलीरूप हैं। बच्चे भी यह प्रश्न कर बैठते हैं कि चन्द्रमा क्या है, कहाँ लोप होता है; सूर्य क्या है, कहाँसे आता है; वर्षा क्या है, इत्यादि। हम भी जब गौर करते हैं तो एक ठीकरीपर विचार करते-करते विचारोंके समुद्रमें डूब जाते हैं, कहीं थाह ही नहीं लगती।

तब क्या यह पहेली हल हुए बिना ही रहेगी और रही है? नहीं, जितनी यह पहेली जटिल एवं दुस्तर मालूम होती है, उतनी ही यह सहल भी है; क्योंकि यह व्यापक एवं व्याप्त है। जब जीवन सबका स्वतः—अनायास ही सिद्ध है, जब संसारमें हम हैं और हमारे अंदर संसार है, तब उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न बिना हल हुए कैसे रह सकते हैं। उनका समाधान कहीं बाहरसे थोड़े ही आयेगा। मैं एक घरमें रहता हूँ और मुझसे उस घरके सम्बन्धमें अथवा मेरे निवासके सम्बन्धमें कोई प्रश्न करे तो मैं उसका उत्तर सहजमें ही दे दूँगा। तब जीवन अथवा संसार एक पहेली-सा क्यों प्रतीत होता है? इस पहेलीको सुलझानेमें गुत्थियाँ पड़कर अनेक मत-मतान्तर, अनेक सम्प्रदाय, अनेक साधन-सामग्रियाँ खड़ी हो गयी हैं।

मानव-जीवन एवं संसार ससीम, सान्त दीखता हुआ भी असीम, अनन्त है; उसके सम्बन्धमें प्रश्न भी अनन्त होंगे तो उनके समाधान भी अनन्त। उलझन यही है कि हम ससीमको असीमकी दृष्टिसे और असीम, अनन्तको ससीम, सान्तकी दृष्टिसे देखकर शान्ति चाहते हैं; जिस भूमिकापरसे प्रश्न उठते हैं, उस भूमिकापर उनका समाधान तलाश नहीं करते। उनके उत्तर हम उस भूमिकासे उतरती हुई भूमिकापर ढूँढ़ते हैं, जो इन्द्रियगोचर ज्ञानके परेके प्रश्न हैं, उन्हें हम इन्द्रियजन्य अनुभव, अनुमान, युक्ति एवं ज्ञानसे हल करना चाहते हैं। जीव, ईश्वर, माया, जगत् साधारण बुद्धिसे परेकी वस्तुएँ हैं, दिव्य-दृष्टिके आलोकमें हैं; उनका विवेचन हम चर्म-चक्षुके प्रमाणोंके आधारपर करें तो कैसे हो। उनके सम्बन्धके प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्मवृत्ति, अन्तर्मुखी वृत्तिके स्थलसे उठते हैं; इसी तरह उनके समाधान भी श्रद्धा-विश्वासके स्थलसे ही पर्याप्त हो सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार जीवन-पहेलीके प्रश्न एवं उत्तर अपने लिये गढ़ता रहता है। बिना इस ऊहापोहके जीवन चल ही नहीं सकता, विश्वास एवं श्रद्धाके बिना कोई एक क्षण भी जी नहीं सकता। अविश्वास भी एक तरहका विश्वास ही है। इसलिये जो जितना ऊँचा उड़ा, उसने उतना ही अपना अनुभव बताया। वही सम्प्रदाय बन गया, मत बन गया। वह असत्य नहीं, वह विरोध नहीं खड़ा करता, वह असमञ्जस पैदा नहीं करता, वह अशान्ति उत्पन्न नहीं करता; विरोध तब पैदा होता है जब या तो उड़ान भरे बिना ही गप मार दी जाय या यह धारणा कर ली जाय कि बस, मेरी उड़ान ही एक उड़ान है, दूसरी है ही नहीं। जितने सम्प्रदाय हैं, जितने मत हैं, सभी सच्चे, शान्तिदायक हैं। सबने जीवन-पहेलीको हल करनेके, संसार-समुद्रको पार करनेके साधन निर्माण किये हैं और देश-काल और अधिकारी-भेदसे वे सभी उपयोगी हैं; पर या तो उनके बनाये साधनोंको सिद्ध न करते हुए नाममात्रको

उनका आश्रय लिया जाय या उन्हीं साधनोंको एकमात्र साधन मानकर सीमा बाँध दी जाय और जो अनन्त, असीम है उसे ससीम करनेका प्रयास किया जाय, तभी उस मतमें विरोधाभास होने लगता है, परस्पर असमञ्जस दीखने लगता है। आचार्यों एवं महात्माओंके अनुभव, उनके उपदेश आत्मसाक्षात्कारके, भगवद्दर्शन-के थे; वे विशाल, उदार थे। तो भी उन्होंने सत्ता महान्‌को न इति, न इति कहकर ही बताया है। एक ही रोगके अनेक इलाज एवं अनेक ओषधियाँ हैं। एक ही सवाल अनेक तरीकों (रूल आफ थ्री, प्रेक्टिस, ईक्वेशन आदि) से हल होता है। इसी तरह जीवन-पहेलीका भी अनेक प्रकारसे समाधान होता है।

संसार और उसमें रहनेवाला हमारा जीवन पृथक्-पृथक् नहीं हैं, एक दूसरेसे सटे हुए हैं; एककी पहेली बिना दूसरेकी पहेलीको सुलझाये सुलझ ही नहीं सकती। और संसार एक बाजीगरके अचंभा दिलानेवाले खेलसे कहीं बढ़कर है। हम अपने एक रोम अथवा श्वासकी गतिको नहीं जानते, संसारको क्या समझेंगे। फिर भी हम ग्रहणको, भविष्यको जान लेते हैं; आकाशमें उड़ने, विद्युत्-शक्तिपर अधिकार जमानेमें सफल होते हैं। ससीमता है तो बेहद और असीमताका तो ठिकाना ही क्या है। यही विचित्रता, विलक्षणता है। इसके रहस्य, मर्म, गूढसारको बिना दिव्य-दृष्टिके जान नहीं सकते और यह दिव्य-दृष्टि प्राप्त करनेके उपाय एवं साधन महात्माओंने अनेक बताये हैं; जिसमें जिसकी रुचि वा योग्यता हो, वह उसीको कर सकता है। नियति वा कालके भरोसे बैठ रहना अपनी चेतनाको भुलाना, ईश्वरीय शक्ति जो हमारे अंदर है, उसका अनादर करना है, प्रमाद है।

एक सत्ता, एक चेतना सारे जगत्‌की सूत्रधार है—उसे परमात्मा कहें, चेतनता कहें, कुछ भी कहें। उसके बिना नियन्त्रण एवं व्यवस्था हो ही नहीं सकती। सुतरां प्रश्नोंकी वही सूत्रधार है तो उत्तरोंकी भी वही होगी। एकरस होनेसे, असीम-अनन्त होनेसे, नित्य-सत्य होनेसे वही सब साधनोंकी पोषक है। अतः सब साधन एक ही ध्येयको पूरा करनेवाले हैं, उनमें दोषारोपण करना दृष्टिदोष है।

यही कारण है कि गीता सार्वभौम, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। वह संसारकी एवं जीवनकी पहेलीको सुलझानेमें उच्च-से-उच्च और नीचे-से-नीचे सब साधनों-का वर्णन करती है।

जो लोग गीताको एकदेशीय, एकांगी समझकर यह कह देते हैं कि बस, उसमें उनका माना हुआ एक ही ध्येय है, एक ही मन्तव्य है, दूसरे मन्तव्य उसमें हैं ही नहीं, वे गीताके माहात्म्यको कलङ्कित ही करते हैं।

ज्ञानवादी जो गीताका प्रतिपाद्य विषय सम्यग्दर्शन, साम्यभाव, आत्मौपम्यबुद्धि ही मानते हैं, और कुछ नहीं—श्रीकृष्ण अभेदवादके ही पक्षपाती थे, ऐसा जो कहते हैं, वे गीताको एवं श्रीकृष्णको मेरे खयालमें एकांगी, अपूर्ण ठहरा देते हैं। भला, ज्ञान बिना कर्म एवं उपासनाके उत्पन्न ही कैसे होगा। बिना उपासनाके बुद्धिमें शुद्धता, तीव्रता, विशालता, निर्मलता, सुदृढ़ता आयेगी कहाँसे और बिना क्रियाके ज्ञान किस कामका होगा। भावशून्य ज्ञान एक प्रकारकी जडता ही होगी। उससे यदि आनन्द-की प्राप्ति होती है तो वह भावरहित हो नहीं सकता; क्योंकि आनन्द भी भाव ही है। अपने-आपका ज्ञान क्या ? अपने-आपसे प्रेम क्या ? अपने-आपका बोध क्या ? सच्चे ज्ञानवान्‌के नजदीक अपना-आप ही नहीं, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञानकी त्रिपुटी ही नहीं रहती; वही साम्य-अवस्था है। पर जगत्‌की विषम-अवस्था है। अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्त होकर संसार बना है; तब साम्यभाव रखना, सम्यग्दृष्टि रखना, आत्मौपम्य-बुद्धि रखना जल्पनामात्र ही तो रहेगा।

यह अवस्था निर्विकल्प समाधिकी है—जहाँ 'न तो तू रहा, न तो मैं रहा; जो रही, सो बेखबरी रही।' वहाँ समता, दर्शन और उसे धारण करना—ये तीन पदार्थ कहाँ रहेंगे। क्या भगवान्‌की उत्तम विभूति अवतारको और शूकर एवं श्वानको एक-से ही मानना सम्यग्दर्शन है? क्या स्त्री, पुत्री एवं माँमें एक ही भावना हो सकती है या होनी चाहिये? असलमें गलती होती है साधनको ही सिद्धि माननेसे अथवा सिद्धिको साधन माननेसे। धन सुखका साधन है, सिद्धि अर्थात् सुख नहीं है। सुख धन नहीं है। यद्यपि अवतार व्यक्तिविशेष ही हैं, तो भी सांसारिक दृष्टिसे वे ईश्वर ही हैं; उनसे हमारी समानता गीता कहीं प्रतिपादित नहीं करती। बल्कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको सबमें उत्कृष्ट एवं अलग बता रहे हैं—नदियोंमें गङ्गा मैं हूँ, इत्यादि। फिर साम्यभावमें प्रेम हो ही नहीं सकता; प्रेमके लिये प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेमका हेतु—तीन तत्त्व चाहिये। यहाँ विषमता विशेषता आये बिना नहीं रहेगी, अस्तिमें सब एक ही वस्तु होते हुए भाति एवं प्रियमें अलग-अलग हो जाते हैं। जल सब एक हैं; पर प्यालेके जलमें नाव नहीं चल सकती, समुद्रमें चलेगी। जीव सब शरीरमें एक-सा रहते हुए भी हरेक अवयव अपना ज्ञान एवं कार्य पृथक्-पृथक् ही रखता है, आकाश एक होते हुए भी उपाधिभेदसे घटाकाश-मठाकाश भिन्न हैं, विद्युत्-शक्ति व्यापक होते हुए भी बैटरी एवं डाइनेमोमें उसकी मात्रा अधिक रहती है, अग्नि सब काष्ठोंमें होते हुए भी संघर्षण जहाँ होगा वहीं प्रकाश करेगी। साम्यभावका उपदेश हमपर लागू तब हो कि जब हम इन्द्रियोंके संयमद्वारा, विचारकी एकाग्रता एवं निर्मलताद्वारा हर्ष-शोकसे उपराम हो गये हों। अभी तो हम अपनी इन्द्रियोंके अधीन हैं, उनकी बनावटके अनुकूल हमारा अनुभव एवं ज्ञान है, तब समता कैसी! साम्य-अवस्थामें जगत् ही नहीं रहता; क्योंकि जगत्‌में तो जड-चेतन, ऊँच-नीच, भूत-भविष्य आदि विषमता विद्यमान है। साम्यवादमें कर्म एवं पुरुषार्थ कैसा! कारण-कार्यका भेद क्या रहेगा! साम्य-अवस्था निर्विकल्प समाधिकी है। बस,

गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि 'हे अर्जुन! यदि तुम ऐसी स्थितिमें न रह सको तो एक सत्ता-सामान्यके ही कायल रहो। संसारकी एवं जीवनकी पहेली इससे भी हल हो जायगी कि बस, एक सत्ता-सामान्य ही व्यापक है, नाम-रूपसे उस सत्तासामान्यमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यदि यह धारणा भी दुष्कर हो तो पुरुष एवं प्रकृति अर्थात् जड-चेतनके सिद्धान्तको स्वीकार कर लो, उससे भी तुम्हारा मोह निवृत्त हो जायगा। जडका चेतनपर कोई अधिकार नहीं, यही मान लो। यह भी न हो सके तो ईश्वरवादको मानकर उसके सहारे निर्भयता प्राप्त कर लो। ईश्वरकी लीला अथवा माया अपार है, अपने कर्मोंको ईश्वराधीन समझो एवं कर दो। यह भी बननेमें न आये तो संसारमें जो उत्तम-से-उत्तम वस्तु है (The best in the world and the best in man) उसे ही दिव्य, अलौकिक विभूति मानकर उसका सदुपयोग करो। अपने विशुद्ध अन्तरात्माकी प्रेरणाके अनुकूल चलो और निर्भय हो जाओ। यह भी न हो तो देवी-देवताओंको एक अलौकिक सत्ताकी तरंगें समझकर पूजो। इनमेंसे कुछ भी न हो तो सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणके विवेकको धारण करते हुए आचरण करो; योगसे, 'ओम्'के जपसे—किसी भी तरहसे दिव्यदृष्टि प्राप्त करो; कर्मोंका फल त्याग कर अर्थात् ममताको छोड़कर, अपने इष्टमें तल्लीन होकर, उपासनाद्वारा वृत्तियोंको तदाकार कर, अपनी दृष्टि सूक्ष्मातिसूक्ष्म, दिव्य, प्रकाशमय बनाओ। बस, फिर सारी शङ्काएँ निवृत्त होकर शान्ति मिल जायगी।

आजकल लोग गीतामें अवतारवाद, देवपूजा,

हरिनाम-स्मरण एवं जप, यज्ञ-हवन आदि साधनोंका जो उल्लेख है उसे खींचातानीसे जगत्-सेवा, कर्मपरायणता, साम्यभावपूर्वक व्यवहार आदिकी कल्पनाओंमें परिणत कर लेते हैं। यह चातुर्य अवश्य है; पर ऐसा करना एक ओर गीताको एकदेशी, एकाङ्गी, अपूर्ण बनाना है, ऋषिप्रणीत अनेक उपायों एवं साधनोंकी अवहेलना करनी है, तो दूसरी ओर जनताको भ्रममें डालकर ईश्वरसे विमुख कर देना है। गीता उन सभी विषयोंका प्रतिपादन करती है, जो मनुष्यके जीवनकी पहेलीको सुलझानेमें, उसे शान्ति देनेमें सहायक है, उसकी सारी चेष्टाएँ जो उसे मदद देनेवाली हैं, उन सबका वर्णन गीतामें है। जिस सम्प्रदायवादको आजकल कोसा जाता है, उसीको प्रकारान्तरसे बढ़ाया भी जाता है। खींचातानीके अर्थोंसे एक मन्तव्य कायम करनेवालोंका भी एक सम्प्रदाय बन गया। वास्तवमें साम्प्रदायिकतामें दोष नहीं है, उसके उपयोगमें दोष आ सकता है। गीता हमारी उन्नतिका उत्तरोत्तर मार्ग बताती है; जिसकी जैसी सामर्थ्य हो, ग्रहण कर ले। जब प्राणायाम एवं ओम्‌का जप भी गीताका विषय है, तब हरिस्मरण-को हेय किस तरह माना जायगा? क्या ओम् और राममें कुछ अन्तर है? क्या प्राणायाम एवं त्राटकमें कुछ सैद्धान्तिक भेद है? यज्ञसे वर्षाका होना जो गीतामें कहा गया है, वह तो भौतिक विज्ञानसे भी सिद्ध है। भौतिक विज्ञान कहता है कि अग्निसे वायुमण्डलमें हलचल मचेगी और जो जल उस मण्डलमें होगा, वह विचलित होगा ही। फिर जपको तो यज्ञ ही कहा गया है। ऐसी दशामें मैं नहीं जानता कि भगवान् श्रीकृष्णके स्पष्ट वाक्योंको गूढ क्यों बनाया जाय। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' आदि कितने सरल, स्वाभाविक उपदेश हैं! स्व और परसे साफ जाहिर है कि प्राकृतिक एवं संस्कारजनित जो जातिभेद है, वह मिट नहीं सकता। हिंदूधर्म जन्म एवं कर्म दोनोंसे जाति मानता है और भौतिक विज्ञान भी Law of heredity and Struggle for existence को आदर देता है।

गीताजीमें मूर्तिपूजाका कथन नहीं मिलता, इसलिये मूर्तिपूजा केवल भावना जमानेका साधनमात्र है; उसमें भगवद्-आवेशकी भावना व्यर्थ है—ऐसा कई लोग मानते हैं। मेरे विचारमें किसी भी दृष्टिकोणसे मूर्तिमें भगवदंशका न होना सुसिद्ध नहीं है। ईश्वर यदि सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ नहीं तो ईश्वर कैसा; और यदि वह ऐसा है तो वह सर्वव्यापी अपने-आप हो जायगा। अन्यथा उसकी शक्ति एवं ज्ञान अपूर्ण रह जायँगे। जब ईश्वर सर्वव्यापी है तो मूर्तिमें क्यों नहीं? गीताके उपदेष्टा श्रीकृष्ण, संकलनकर्ता वेदव्यास एवं सुनानेवाले संजय मूर्तिमान् थे या अमूर्तिमान्? पुनः संकल्पसे ही सब सिद्धि होना मान्य हो तो मूर्तिमें भगवान्‌का संकल्प क्या उसमें भगवान्‌को ला नहीं धरेगा? पढ़ने-लिखनेके आरम्भमें अक्षरोंकी सहायता आवश्यक होती है, परन्तु क्या पढ़-लिख जानेपर भी उन अक्षरोंको भुलाया जा सकता है या बिना अक्षरोंके काम चल सकता है? नहीं, तो फिर मूर्तिको क्षणिक साधन ही क्यों कहा जाय? मूर्तिकी पूजा-पद्धतिका रहस्य भी महत्त्व रखता है; पर वह जाना तब जाय, जब उसके जाननेकी इच्छा हो। पूजामें भगवत्-स्मरण, त्यागवृत्तिके साथ अनुराग, अपनी ममताका समर्पण, वातावरणकी शुद्धि इत्यादि अनेक लाभदायक प्रयोजन भरे हैं।

मूर्ति और हरिनाम-जपका विवरण सविस्तर गीतामें न मिलना यह जाहिर नहीं करता कि उसमें इनका निषेध है; यदि निषेध होता तो स्पष्ट बतला दिया जाता। नहीं, ये दोनों तत्त्व इतने साधारण एवं व्यापक हर समय रहे हैं कि उनपर जोर देनेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। नामकी महिमा कौन-से हिंदू-शास्त्रमें नहीं है। मामूली समझका व्यक्ति भी जानता है कि

विद्या-ज्ञान, कला-कौशल, व्यवहार—सब नामहीके तो आश्रित हैं; बिना नाम उनका अस्तित्व कहाँ है। नामहीसे बोध-पहचान होती है, नामसे ही भाव उत्पन्न एवं शमन होते हैं, नामके द्वारा ही क्रिया होती है। संसार भी नाम एवं रूप ही तो है, तब नाम एवं मूर्तिका विवरण विशेषरूपसे करना अनावश्यक ही होता। तिसपर भी गीतामें ओम्-जप एवं पूजा-पद्धतिका उल्लेख विद्यमान है, देवताओंकी पूजाका जिक्र साफ दर्ज है।

गीताजीमें ईश्वरका विवेचन ही ऐसा है कि जिसमें अव्यक्त ब्रह्म (निर्गुण-निराकार) एवं व्यक्त ईश्वर (सगुण-साकार) दोनोंका ही समावेश नहीं, फिर भी इनकी सारी सीढ़ियों (stages) का उसमें समावेश हो जाता है। उसका ईश्वर स्तुतिका मोहताज नहीं तो वह भावशून्य आकाशकी पोल भी नहीं। Impersonal और Personal दोनों वही है। सच तो यह है कि ईश्वर जब ईश्वर ही ठहरा तो वह ऐसा और वह वैसा, यह फतवा हम उसपर देनेवाले कौन। हम अपनेको ही नहीं जानते, उसे क्या जानेंगे। अर्जुन-जैसा व्यक्ति भगवान्‌की दिव्यदृष्टि पाकर भी उस विराट्-स्वरूपको देख विह्वल हो उठा तो हमारी क्या बिसात है जो हम ईश्वरपर आरोप लगायें, उसका स्वरूप निश्चय कर लें।

गीतामें जीवन-पहेली एवं सांसारिक उलझनें सुलझानेकी तरकीबें भरी पड़ी हैं; आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—तीनों दृष्टिबिन्दुओंसे वह ओतप्रोत है। इस विषयमें मैं अपनी विचारधारासे जो खोज कर पाया हूँ, वही व्यक्त करूँगा; वह संगत है या असंगत, यह दिव्यदृष्टिवाले जानें।

संसारके सञ्चालन एवं मानवजीवनकी गतिमें सबसे प्रथम स्थान व्यवहारको दिया जाता है, नियन्त्रण ही मुख्य अन्वेषणयोग्य वस्तु है—गीतामें इसे खूब दर्शाया है और तीनों पहलुओंसे इसका विवेचन किया गया है। स्वधर्म, संसारका धर्म, प्रकृतिका धर्म, आत्माका धर्म, जीवका धर्म, ईश्वरीय धर्म—ये सब स्वधर्म हैं और इन्हींके आश्रित जीवन एवं नियन्त्रण हो सकता है, परधर्मसे हो ही नहीं सकता। अब सर्वधर्म त्याग कर एक सूत्रधारका अवलम्बन सूक्ष्मतर चेष्टा होगी। पावरहाउससे अनेक तारोंद्वारा निकलनेवाली करेंटोंका स्रोत एक पावरहाउस ही है। सूर्य अनेक रश्मियोंका केन्द्र है। मानवजीवन संसारचक्रका ही तो अंश है। अंश अंशीकी तरफ खिंचता है, और अंश अंशीके तद्रूप ही होता है। इसीलिये विज्ञानियोंने व्यवहारमें अन्तरात्माकी प्रेरणाके अनुकूल आचरण करनेका आदेश दिया है। जो अन्तरात्माके कलुषित हो जानेकी शंका होती है, वह निर्मूल-सी है। अन्तरात्मा दिव्य विभूति (Higher Self) है, जो मनुष्यत्व—Self और पशुत्व—Lower Self से कहीं गहरी तहमें है। उसकी आवाज चित्त एकाग्र होने, निर्मल होनेसे ही सुनी जा सकती है और चित्तकी एकाग्रता एवं निर्मलता ईश्वराराधनसे होनी सहज है। क्योंकि ईश्वरोपासनासे ममता कम होती जाती है; वृत्ति तदाकार, एकाग्र, स्वच्छ होती जाती है; वातावरण एवं वायुमण्डल भी पवित्र लहरोंसे व्याप्त होता जाता है। प्रकृति स्वभावसे मलिन नहीं है, उसका विरोध दुःखदायी है। ईश्वराराधनसे सीधी एवं सच्ची सूझ प्राप्त होती रहती है और सब ग्रन्थियाँ खुलती जाती हैं, शङ्काएँ हल होती जाती हैं, विकार मिटते जाते हैं, शान्ति आती जाती है। इल्हाम (Intuition) द्वारा अद्भुत रहस्योंका उद्घाटन होता जाता है। यही दिव्यदृष्टि होती है।

गीताका रहस्य बड़ा अलौकिक है। उसमें सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्यका सविस्तर विवरण न

होनेसे क्या ये तत्त्व हेय गिने जायँगे ? ये सारे तत्त्व गीतामें हैं और फिर हैं । जैसे मूर्तिपूजा आदि विषय गौणरूपसे आये हैं, उसी प्रकार ये भी गौणरूपसे उसमें निहित हैं । सत्य एक आत्मा है, अहिंसा ममताका त्याग ही है, अपरिग्रह उपराम है, ब्रह्मचर्य स्वस्वभावस्थिरता है; ये सब स्वधर्ममें आ जाते हैं और सदाचारका आश्रय बन जाते हैं । उसके उपदेश नैतिकता या लोकमतपर अवलम्बित नहीं हैं,—वे अटल सिद्धान्तोंके आधारपर निर्धारित हैं; लोकमत और नैतिकता उनके आश्रित हैं । हाँ, जो उपदेश सामूहिक तौरपर दिये गये हैं, वे व्यक्तिविशेषपर केवल आंशिकरूपमें लागू होंगे—इतनी सावधानी रखनी होगी । गीताजीमें सारे वाद-विवादोंका अन्त और सामञ्जस्य मिलेगा । ब्रह्मका अकर्तृत्ववाद, ईश्वरका कर्तृत्ववाद, प्रकृतिका स्वभाववाद आदि समस्त विचार-धाराओंका उसमें समन्वय मिलेगा, कोई पहेली उससे हल हुए बिना नहीं रहेगी—ऐसी मेरी धारणा है ।

संसार एवं मानवजीवनकी पहेलियोंके हल करनेका राजमार्ग मेरे नजदीक यही है कि अपने नित्यके जीवन एवं अनुभवसे अन्वेषण-अनुसन्धान करते हुए, भगवान्में श्रद्धा-विश्वास रखते हुए, ईश्वराराधन एवं नामजप करते हुए, ममताका त्याग करते हुए, सहजमें जो बन आये उसे विवेकपूर्वक करते हुए, जो विवेक हमारे अंदर हो उस विवेकको काममें लाते हुए, आगे बढ़ते हुए पवित्र दिव्यदृष्टिकी भूमिकाको प्राप्त करनेमें तत्पर रहें । तब स्वतः ईश्वर-कृपासे हमारी दृष्टि दिव्य होती जायगी । जिन महात्माओंने दिव्यदृष्टि पायी है, उनकी अनुभूति हमारी पथ-प्रदर्शक होगी और उनको निर्भयता, निःसन्देहता प्राप्त हुई है तो हमें क्यों नहीं होगी, यह भरोसा आशा दिलाता रहेगा ।

अनिर्वचनीय शोभा

सोभा कहत कही नहिं आवै ।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्तिकौं पावै ॥
सजल मेघ घनस्याम सुभग बपु, तड़ित बसन बनमाल ।
सिखि-सिखंड, बन-धातु बिराजत, सुमन सुगंध प्रवाल ॥
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति, गो-रज मंडित केस ।
सोभित मनु अंबुज पराग-रुचि-रंजित मधुप सुदेस ॥
कुंडल-किरन कपोल लोल छबि, नैन कमल-दल-मीन ।
प्रति-प्रति अंग अनंग कोटि-छबि, सुनि सखि परम प्रवीन ॥
अधर मधुर मुसक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन ।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहीं लवलीन ॥

—सूरदासजी

अमरत्वका राजपथ—ब्रह्मचर्य

(लेखक—श्री 'अलख निरंजन')

(१)

मानव-जीवन साधनामय है। मनुष्य जब इस संसारमें अवतीर्ण होता है, तभीसे वह साधनामें जुट जाता है। वह जीवन चाहता है, अमर होना चाहता है; इसलिये मृत्युके विरुद्ध उसे निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। भूख-प्यास, रोग-व्याधि आदि नाना प्रकारके दुःख उसे कालके गालमें ले जानेकी चेष्टा करते हैं; और उसे इनके विरुद्ध, इनके आक्रमणको विफल करनेके लिये संघर्ष करना पड़ता है। ये नाना प्रकारके दुःख ही तो मृत्युके दूत हैं। ये मृत्युके दूत मानव-शरीरको एक-न-एक दिन आक्रमण करते-करते निरस्त्र कर ही डालते हैं। इसीलिये मानव-संघर्षका दो प्रकारका उद्देश्य हो जाता है—निरन्तर मृत्युके आक्रमणको निष्फल करते रहनेकी चेष्टा करना, तथा इसके साथ-साथ मानव-जीवनको अमर बनाना।

जीवनकी अमरता जीवन-क्षेत्रकी विभिन्नताके कारण विभिन्न प्रकारकी होती है। अतएव साहित्य, संगीत, कलासे लेकर नाना प्रकारके वैज्ञानिक और दार्शनिक क्षेत्रोंमें प्राप्त होनेवाली मानव-जीवनकी अमरतामें बहुत अन्तर आ जाता है। तथापि यदि इनका संक्षेपमें वर्गीकरण करें तो कह सकते हैं कि मानव-जीवनका अमरत्व इहलौकिक और पारलौकिक दृष्टिसे दो प्रकारका होता है। इहलौकिक अमरत्व कला और विज्ञानके क्षेत्रोंमें प्राप्त किया जा सकता है, और पारलौकिक अमरत्व दर्शन और अध्यात्मके क्षेत्रोंमें। अतएव साहित्य, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म—किसी भी क्षेत्रमें काम करनेवालेके सामने मानव-संघर्षके दोनों उपर्युक्त उद्देश्य आते हैं और उनकी पूर्त्तिमें ही जीवनकी सफलता और असफलताकी जाँच हो सकती है। परन्तु यदि किसीने भूख-प्यास, रोग-व्याधि आदि दुःखोंके निवारणमें ही जीवनको समाप्त कर डाला और जीवनमें अमरत्वकी प्राप्ति न कर सका तो उसका जीवन कदापि सफल नहीं कहा जा सकता। अतएव जीवनका चरम उद्देश्य अमरत्व ही है, ऐसा कहना पड़ेगा।

परन्तु चाहे मनुष्य जीवनके किसी भी क्षेत्रमें उतरा हुआ हो, चाहे जिस प्रकारकी वह साधना करता हो, अन्तिम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे अग्रसर होना पड़ेगा एक ही राजपथसे, और वह अमरत्वका एक ही राजपथ है—'ब्रह्मचर्य'। व्यभिचारसे मनुष्य पतनको प्राप्त होता है, शक्तिहीन हो जाता है, परतन्त्र हो जाता है और समाजको भी ऐसा ही बनाता है; परन्तु 'ब्रह्मचर्य' मनुष्यको उन्नत करता है, शक्तिशाली बनाता है और स्वतन्त्र जीवन प्रदान करता है। तथा इसके द्वारा मनुष्य समाजको भी इन्हीं सद्गुणोंसे युक्त करता है। व्यभिचारी मनुष्य समाजका पाप है, कलंक है; और ब्रह्मचारी समाजका तिलक है, शोभा है। व्यभिचार और 'ब्रह्मचर्य'—इस प्रकार मनुष्य-जीवनके दो पथ हैं, इन्हींको यमराजने नचिकेताको उपदेश देते हुए प्रेय और श्रेयके नामसे पुकारा है—

> अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
> स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः।
> तयोः श्रेय आददानस्य साधु-
> र्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
>
> (कठ० १। २। १)

'श्रेय (ब्रह्मचर्य) का मार्ग और है, तथा प्रेय (व्यभिचार) का मार्ग और है; इन दोनों मार्गोंमें चलकर मनुष्य नाना प्रकारकी चेष्टाओंमें लगते हैं। परन्तु इनमेंसे जो श्रेय (ब्रह्मचर्य) के पथको पकड़ता है, उसका

कल्याण होता है; तथा जो प्रेय (व्यभिचार) की ओर जाता है, वह अपने उद्देश्यसे च्युत हो जाता है।'

अतएव 'ब्रह्मचर्य' की साधनाके साथ व्यभिचारका संसर्ग न हो, इस दृष्टिसे 'व्यभिचार' किसे कहते हैं—यह जान लेना आवश्यक है। सामान्यतः मन और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंको मानव-जीवनके उपर्युक्त उद्देश्योंके विपरीत लगाना ही व्यभिचार है। मनुष्यकी साधना जिस क्षेत्रमें जिस लक्ष्यकी ओर हो रही हो, उसके विपरीत मन तथा इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको ही व्यभिचार कहेंगे। अतएव बोलना-चालना, उठना-बैठना, सोचना-विचारना आदि सभी क्रियाएँ जो साधनामें सहायक नहीं, आवश्यक नहीं होतीं, व्यभिचारका रूप धारण करती हैं। और यह व्यभिचार वह विघ्न है, जिसे मनुष्य साधन-पथमें स्वयं बुलाकर अपने उद्देश्यसे च्युत होता है। व्यभिचार मृत्युका सन्देशवाहक है और अमरत्वके पथमें मनुष्यको धोखा देता है। अतएव साधकको व्यभिचारसे सावधान रहना आवश्यक है। इसके विपरीत दूसरा मार्ग है—श्रेय (ब्रह्मचर्य) का। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—ब्रह्मके लिये विचरण करना। 'ब्रह्म' शब्द बहुत ही प्राचीन है, यास्कने अर्थवाचक शब्दोंके अन्तर्गत इसका समावेश किया है। अतएव 'ब्रह्मचर्य' का अभिप्राय है—अपने अर्थ, लक्ष्य, साधनके लिये विचरण करना। तात्पर्य यह है कि जीवनका प्रत्येक क्षण अपने क्षेत्रविशेषकी साधनामें, लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेमें मनुष्य लगाये तो कहा जा सकता है कि वह 'ब्रह्मचर्य' के पथपर चल रहा है। और यही है अमरत्वकी प्राप्तिका राजमार्ग।

(२)

'ब्रह्मचर्य' की इस तात्त्विक व्याख्याके अतिरिक्त यदि लौकिक व्याख्याका आश्रय लिया जाय तो भी जिसने 'ब्रह्मचर्य' का जितना ही अधिक पालन किया, वीर्य-रक्षाके लिये जीवनमें जितना ही अधिक यत्नशील रहा, वह उतना ही अधिक अपने जीवनको अमरत्वकी ओर अग्रसर करनेमें समर्थ होता है, उतना ही अधिक वह अपनी और मानव-समाजकी सेवामें सफल होता है। समाजमें देखा जाता है कि जो मनुष्य 'ब्रह्मचर्य' की साधनामें निष्ठावान् होता है, वह अधिक शक्ति-सम्पन्न होता है और उसका जीवन भी उतना ही अधिक उन्नत होता है। 'ब्रह्मचर्य' है वह अमोघ वज्र, जो मृत्यु-सैन्यरूपी वृत्रका निरन्तर संहार करता रहता है। इसीलिये श्रुति कहती है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

'ब्रह्मचर्यकी साधनारूपी तपसे (ही) देवताओंने मृत्युपर विजय प्राप्त की।'

वस्तुतः ब्रह्मचर्यकी साधनासे ही मृत्युका नाश होकर अमरत्वकी प्राप्ति होती है। अतएव जीवनको अमर बनानेके लिये, अथवा मानव-जीवनकी सफलता-की प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम साधन 'ब्रह्मचर्य' का आश्रय लेना आवश्यक है।

अमरत्व, मुक्ति, स्वातन्त्र्यकी प्राप्तिका पहला पाठ है—ब्रह्मचर्य। जिस व्यक्तिने इस साधनाको अपने क्षेत्रविशेषकी साधनाका प्रधान अङ्ग बना लिया, उसने जीवनमें सर्वोपयोगी कार्य किया। भारतवर्षमें तो जहाँ सारा समाज, राष्ट्र, मृत्युके पंजेमें, पराधीनताके दलदलमें कराह रहा है, वहाँ जो-जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यकी साधनामें रत हो अपने साधन-क्षेत्रमें अग्रसर हो रहे हैं वे धन्य हैं; उन्हींसे समाजका वास्तविक कल्याण होता है और हो सकता है। शेष विडम्बनामें पड़े हुए अपने-आपको और समाजको धोखा देते हैं। युवक साधकके लिये तो 'ब्रह्मचर्य' की साधना ही जीवनमें प्रधान स्थान रखती है। और तात्त्विक दृष्टिसे 'ब्रह्मचर्य' ही एकमात्र साधना है, और यही अमरत्वका एकमात्र राजमार्ग है।

(३)

भगवान् बुद्धने ठीक ही कहा है—

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परम दुक्करं॥

'जो बुरे काम हैं, जिनसे अपना अहित होता है, उनका करना आसान होता है। यही कारण है कि मानव-समाजमें अधिकांश पुरुष प्रेय-मार्गके ही पथिक होते है। क्योंकि जो शुभ और हितकर काम हैं, उनका करना परम कठिन होता है।' 'ब्रह्मचर्य' का पथ भी इसी कारण सुगम नहीं, किन्तु कठिन है। परन्तु जिन्होंने इस कठिन मंजिलमें पैर रक्खा और जितना ही अधिक दूर गये, उनके श्रमका पारितोषिक उन्हें सुख-शान्ति और स्वच्छन्दता उतने ही अधिक परिमाणमें मिली।

जिस मनुष्यका जीवन विलासके लिये नहीं है, जो जीवनको तपस्याका साधन बनाना चाहता है, वही जीवनकी यथार्थताको समझता है, तथा इसके साफल्यके सुखद फलका आस्वादन करता है। विपरीत इसके विलासके पीछे भटकनेवाले जीवके आगे माया अपने कपट-जालको छायाके समान लिये फिरती है; क्योंकि उसने प्रकाशसे मुँह मोड़ लिया है, प्रकाश उसके पीछे है। अतएव अन्तमें उसे धोखा खाना पड़ता है। 'ब्रह्मचर्य' है तपोमय जीवनका वास्तविक स्वरूप। इसके बिना मनुष्यकी जो दशा होती है, उसका कुछ आभास भगवान् बुद्धकी इस वाणीसे अभिव्यक्त होता है—

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्ण कोंचा व झायन्ति खीणमच्छे व पल्लले॥

'जिन्होंने ब्रह्मचर्यका आचरण नहीं किया और यौवन-कालमें ही दैवी सम्पत्तिका सञ्चय नहीं किया, वे बिना मछलीके तालाबमें बूढ़े क्रौंच पक्षीके समान ध्यान लगाते हैं!'

वस्तुतः 'ब्रह्मचर्य' की अवहेलना करना वैयक्तिक सत्यानाशका कारण तो है ही; यह एक सामाजिक पाप है। इसकी अवहेलना करनेवाले पुरुष समाजमें एक ऐसे संक्रामक रोगको उत्पन्न करते हैं, जिससे समाजका शरीर जर्जर हो जाता है और वह मृत्यु, पारतन्त्र्यके गर्भमें जा गिरता है। ऐसे गिरे हुए समाजको भी उठानेका यदि कोई सर्वप्रथम उपाय है तो वह है केवल 'ब्रह्मचर्य' का साधन। और भगवान् बुद्धने भी कहा है—

यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो न पमज्जति।
सोमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥

'जो पहले भूल करके फिर सँभल जाता है, पीछे भूल नहीं करता, वह मेघसे मुक्त चन्द्रमाकी भाँति इस लोकको प्रकाशित करता है।' अतएव अपने उत्थानके साथ-साथ अधःपतनको प्राप्त हुए समाजको उठानेकी जिन्हें अभिलाषा है, उनके लिये 'ब्रह्मचर्य' है परम साधन। जिन्हें जीवनमें नैराश्य, असफलता, चिन्ता ही सदा घेरे रहती है, उनको भी अमरत्वकी ओर बढ़ानेवाला है—ब्रह्मचर्य; क्योंकि यही है अमरत्वका राजपथ।

शौच
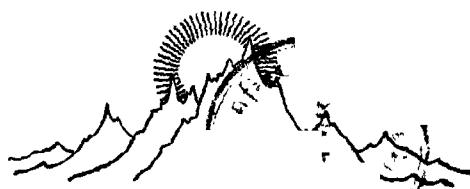
(शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः)

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

वह विचारक था। सम्भव नहीं था कि वह दूसरोंकी देखा-देखी एक छकड़ा सामान यों ही लादे-लादे फिरता। वैसे वह श्रद्धालु था; और जिस दिनसे उसने रामानुज-सम्प्रदायकी दीक्षा ली, आचारसम्बन्धी प्रत्येक नियमका उसने अक्षरशः पालन किया। बिना कोई अपवाद निकाले, बिना कोई बहाना बनाये, वह नियमोंको बड़ी कठोरतासे निभाता था। दूसरे लोगोंके लिये वह आदर्श हो गया। फिर भी यह केवल कर्म-भार वह कबतक ढोता। वह विचारक था।

रमाकान्तने सोचना प्रारम्भ किया—'दूसरोंकी दृष्टि-मात्रसे मेरा भोजन अपवित्र हो जाता है। मेरे पात्र दूसरोंके स्पर्शके पश्चात् फिर अग्निसे भी शुद्ध नहीं होते। मेरे आसनपर कोई हाथ भी रख दे तो वह मेरे कामका नहीं। अन्ततः यह सब क्यों? क्या श्रीमन्नारायणकी पूजाके निमित्त? लेकिन प्रभु तो प्रेमाधीन हैं। वे तो शूद्रोंपर भी प्रसन्न होते ही हैं। अविधि और विधि वहाँ केवल सच्ची प्रपत्ति है। तब क्या मैं दूसरोंसे अधिक पवित्र हूँ! लोग ऐसा कहते तो हैं; फिर भी क्या यह सत्य है?'

'दूसरोंसे मैं अधिक श्रेष्ठ हूँ' यह अहङ्कार ही तो गहन जाल है। रमाकान्त तन्मय था विचारोंमें, 'मेरे मनमें काम-क्रोधादि भरे हैं। मैं ही जानता हूँ कि मेरा मन कितना अशुद्ध है। रहा शरीर—हे भगवान्! हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, कफ, पित्त, थूक, मूत्र, मल, चर्म, केश प्रभृतिसे बना यह शरीर!! इनमेंसे कोई भी छू जाय तो मुझे स्नान करना पड़ता है और मैं इन्हींको ढो रहा हूँ।'

शास्त्र और गुरुकी आज्ञा समझकर उसने नियमोंको शिथिल नहीं किया, पर अब उसे शरीरसे घृणा हो गयी। 'मैं शुद्धाचारी और पवित्र हूँ' यह धारणा जाने कहाँ लुप्त हो गयी। जब वह शौचके पश्चात् हाथमें मिट्टी लगाता 'उफ, यह रक्त और हड्डी क्या मलनेसे पवित्र होगी?' भोजन बनाते समय जब पर्दा लगाकर वह भीतर बैठता 'छिः! यह मांसका लोथड़ा तो चौकेमें ही है।' जब भोजन करने लगता 'यह चर्म और नख मुखमें डाला जा रहा है! मुखमें ही क्या है? लार, अस्थि, चर्म!! भगवान्‌का प्रसाद समझकर भोजन कर लेता।'

शरीरसे उसे घृणा हो गयी। जिस शरीरके साज-शृङ्गारमें हम सब मरे जाते हैं, जिसे पुष्ट, नीरोग एवं निरापद रखनेके लिये जमीन-आसमान एक किया जाता है, उसे वह फूटी आँखों देखना नहीं चाहता था। विवश था उसे धारण करनेके लिये। आत्महत्या पाप जो है। 'ओह, यही महा अशुद्ध और मलपूर्ण शरीर फिर धारण करना पड़ेगा?' वह फूट-फूट कर रोने लगता था यह सोचकर ही। उसे इसी जीवनमें शरीर रखना पल-पल भारी हो रहा था।

[२]

माता-पिताका आग्रह था और रमाकान्त-जैसा श्रद्धालु उनकी आज्ञा टाल नहीं सकता था। विवाह हो गया और पत्नी घर आयी। व्यर्थ! भला, वह नितान्त एकान्त-प्रिय कहीं सन्तानोत्पादन कर सकता है।

'माताके उदरमें नौ महीने निवास—एक ओर मल, एक ओर मूत्र, कहीं पीव और कहीं रक्त। उस मांसकी

थैलीमें रहना और फिर रक्तमें लथपथ निकलना। एक जीवको मेरे कारण यह सब कष्ट—छिः !' वह इसकी कल्पनासे काँप जाता था। यों काम उसमें भी था, पर स्त्रीको देखते ही उसे दीखता था मांस, रक्त, अस्थि। वासना हवा हो जाती और घृणासे वह दूर भागता। जिसे अपने ही शरीरसे घृणा हो, वह दूसरेके शरीरको भला कैसे छू सकता है।

वह रोगी नहीं था और न कभी रोगने उसे दर्शन ही दिया। रोग तो होते हैं असंयमसे। जो भोजनमें रुचि न रखता हो, 'इसका बनेगा क्या?' यह सोचकर भोज्य पदार्थोंसे घृणा करता हो, केवल प्रसाद समझकर, कुछ भगवान्‌को भोग लगाकर पेटमें डालता हो,—वह भी शुद्ध सात्त्विक, नपा-तुला, बालकी खाल निकाल-निकालकर जिसकी अशुद्धि दूर की गयी हो, ऐसे भोजनको ग्रहण करनेवालेके समीप रोगके आनेका मार्ग ही क्या है।

उसका काम क्या था? दिनभर अपनी पवित्रताके खटरागमें और अपने लक्ष्मीनारायणकी पूजामें लगे रहना। दूसरोंका प्रभाव तो तब पड़े, जब दूसरे पास जा सकें। दूसरोंकी वस्तुएँ भी तो बत्तीस बार धोकर प्रयोगमें आती थीं। अन्न-दोष, संग-दोष, स्थान-दोष, क्रिया-दोष—इनमेंसे किसीके फटकनेको स्थान ही न था। ऐसी स्थितिमें मनीरामका कल्याण प्रसन्न ही रहनेमें था। वे भी डरते थे कि कहीं अप्रसन्न हुए और इन्होंने अपवित्र समझकर हमें भी थालीकी भाँति रगड़-रगड़कर धोना प्रारम्भ किया तो पानीमें ही खोपड़ी सफाचट हो जायगी।

रूप—हड्डी, मांस, अस्थि आदि हैं—नेत्र बेचारे जहाँ जाते, वहीं घृणा और फटकार पड़ती। शब्द—कोई मांसका लोथड़ा पास है—कर्णका आनन्द मिट्टी हो जाता इस भावके आते ही। स्पर्श—राम! राम!! चमड़ा छुयेगा, अरे ये फूल बने हैं मलकी खाद खाकर—सब गुड़ गोबर हो उठता त्वक्‌का। रस—क्या? इनका परिणाम है मल और मूत्र, और तब ये उससे भिन्न हैं? रसना बेचारी क्या करे। वमन करनेको जी चाहता था।

गन्ध—नासिकाका सब मजा किरकिरा हो जाता जब उसे बुद्धि खरी-खरी सुनाती कि ये सब गन्धें केवल मल-मूत्रसे पुष्ट हुई हैं या सड़कर नाबदान-जैसी गन्ध देती हैं। ज्ञानेन्द्रियोंकी तो यह दशा थी और कर्मेन्द्रियों-को धोने, इधरसे उधर करने, उठाने-रखनेसे अवकाश ही नहीं था। वे करें तो क्या? तनिक किसी कार्यमें विलम्ब होनेपर सबमें देर होने लगती। मनीराम फटकारने लगते। क्योंकि रमाकान्तजी तो सब कार्य तिल-तिल पूरा करेंगे। और फलतः मनीरामजीका रात्रि-विश्राम मारा जायगा। इसलिये इन्द्रियोंके तनिक भी प्रमाद करनेपर वे लाल-पीले होने लगते। वे बेचारी बसमें न रहें तो जायें कहाँ?

[३]

'ओह, फिर स्नान करना होगा! सो भी इस शीत-कालमें। लोग इतना भी ध्यान नहीं रखते कि जूतेको मार्गसे तनिक दूर उतारा करें।' रमाकान्त स्नान करके आ रहे थे। द्वारके समीप ही किसीने जूता उतार दिया था। वह पैरको लग गया। उन्हें तनिक खेद हुआ। सर्दीके मारे हाथ-पैर अकड़े जा रहे थे। 'प्रमाद तो मेरा ही है, मुझे देखकर चलना चाहिये।' वे वहींसे चल पड़े, और पुनः स्नान करके आये। पूजा जो अभी शेष थी।

पूजा समाप्त हुई। प्रसाद अपने हाथ ही प्रस्तुत करना था। पात्रमें चूल्हेपर चावल सिद्ध होने लगा और रमाकान्तजी पास बैठे अपनी विचारधारामें तल्लीन हो गये। 'यह शरीर—इसका निर्माण ही समस्त अपवित्र वस्तुओंसे हुआ है और इसे पवित्र करनेके लिये इतना प्रयास! क्या यह कभी शुद्ध हो सकता है? तब यह प्रयास क्यों होता है?'

जूतेके स्पर्शका स्मरण हो आया—'चमड़ेका जूता

और उसके स्पर्शसे शरीर अपवित्र हो गया ! क्यों ? शरीर क्या उससे भी गंदे चमड़ेसे नहीं बना है ? तब यह पवित्रता किसके लिये है ? शरीरका क्या पवित्र और क्या अपवित्र होना । यह सब है आत्मशुद्धिके निमित्त । लेकिन यह आत्मा है क्या ? जिसकी शुद्धिके लिये रात-दिन एक करना पड़ता है, वह आत्मा शरीरके भीतर ही तो है !'

जैसे विद्युत् छू गयी हो—'जरा-से मृतक-चर्मके स्पर्शसे तो यह शरीर अपवित्र हो गया और जो आत्मा शरीरके भीतर इस मज्जा-मांसमें ही रहता है, वह कैसे शुद्ध होगा ?' हृदयपर एक कठोर ठेस लगी । वे गम्भीर चिन्तामें तल्लीन हो गये । इतने तल्लीन कि चावल जलकर भस्म हो गया, पर उन्हें कुछ पता नहीं ।

रमाकान्तजी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे । थोड़ी हिंदी और काम चलानेभरको संस्कृत जानते थे । उसीसे विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके कुछ ग्रन्थ पढ़ लेते थे । वैसे उन्हें पढ़नेका अवकाश भी कहाँ था । अपनी ही पद्धतिसे वे सोच रहे थे 'यदि आत्मा शरीरमें ही रहता है तो कहाँ रहता है ? उसका स्थान हृदय बतलाया गया है । तब क्या रक्तपूर्ण हृदयमें वह रक्तसे लथपथ है ?'

उन्होंने हृदयमें मनको एकाग्र किया । इन्द्रियोंको थोड़ी शान्ति मिली इस बराबर धोने-माँजनेकी खटपटसे । मनीराममें इतनी शक्ति ही न थी जो इधर-उधर कर सकें । उन्हें तो आज्ञापालन करना था । क्योंकि बराबर-की स्वच्छताने उन्हें भी झाड़-पोंछकर स्वच्छ कर दिया था । बाहरी शुद्धि मन शुद्ध करनेमें हेतु होती ही है । और मन शुद्ध होनेपर इस प्रकार अपने ही अंगोंमें अपवित्रता-का बोध होना स्वाभाविक है !

'हृदय है—छिः यह भी मांसका ही है ! इसके भीतर है रक्त । महा अपवित्र रक्त !! इसके और भीतर—अन्तस्तलमें ? हृदयाकाश—विशुद्ध प्रकाशमय हृदयाकाश!!!' बस ! इसके पश्चात् मनीराम पता नहीं कहाँ छूमंतर हो गये । वे भगे नहीं, उनकी सत्ता ही लुप्तप्राय हो गयी । रमाकान्तजी स्थिर, अविचल, शान्त बैठे थे ।

दिन गया, रात्रि आयी और वह भी चली गयी । 'प्रातःकाल आज रमाकान्त चरणस्पर्श भी करने नहीं आया ? सर्दीमें भी वह दिनभर पानीमें हाथ डाले रहता है । उसे स्नान और सन्ध्या ही दिनभर लगी रहती है । कहीं सर्दी तो नहीं लग गयी ?' माताका ममत्व आर्द्र हो उठा । रमाकान्तजीके एकान्तमें कोई बाधा न पड़े, इसलिये कोई उनके पास नहीं जाता था । वे प्रायः दूसरे घेरेवाली कोठरीमें अकेले रहते थे । माता उधर गयीं । द्वार खुला पड़ा था, चूल्हेपर पात्र रक्खा था, अग्निके बदले कुछ भस्म थी और रमाकान्त आसनपर बैठे थे ।

माताने पुकारा, बहुत पुकारनेपर भी जब वे न बोले तो स्पर्श किया 'शरीर शीतल, जैसे हिम ! नासिकाके पास हाथ ले जानेपर भी श्वासकी गति प्रतीत नहीं होती !' माता चीख पड़ीं । भीड़ लग गयी और बहुत चिल्लाहट हुई । थोड़ी देरमें श्वास चला, शरीरमें थोड़ी उष्णता आयी और रमाकान्तजीने नेत्र खोल दिये ।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' रमाकान्त पूर्णतः बदल गये थे । अब न शरीरका पता रहता था और न संसारका । जब मौज आती तो उपर्युक्त वाक्य कहते और हँस पड़ते । इसके सिवा उन्हें कोई कार्य न था ।

बुद्धधर्मका उदय और अभ्युदय

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

बौद्ध धर्म तथा दर्शनके यथार्थ विस्तृत विवेचनके लिये न तो हमारे पास स्थान है न पर्याप्त साधन । यहाँ इसका सामान्य रूपसे ही परिचय करा देना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं । बौद्धधर्मके दो रूप इतिहासके पृष्ठोंमें दीख पड़ते हैं । एक शुद्ध धार्मिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक ग्रन्थियोंको बिना खोले हुए व्यवहारके लिये आवश्यक आचारका सरल प्रतिपादन किया गया है । भगवान् बुद्धके उपदेश इसी सरल धार्मिक रूपमें पाये जाते हैं । दूसरा दार्शनिक रूप है । जब आध्यात्मिक तत्त्व-जिज्ञासाने आचारमीमांसाको एक प्रकारसे गौण बना दिया, तब प्रकाण्ड बौद्ध विद्वानोंने ब्राह्मणदर्शनके अनुकरणपर बुद्धके सरल उपदेशोंकी आध्यात्मिक व्याख्या कर शुद्ध तर्ककी सहायतासे तत्त्वोंका गम्भीर अन्वेषण किया तथा बुद्ध-धर्मकी धुँधली दार्शनिक रूपरेखाको स्पष्ट दर्शाया । यह दार्शनिक रूप हमें पहले-पहल विक्रमकी द्वितीय शताब्दीमें अश्वघोषके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है तथा तदनन्तर अनेक शताब्दियोंतक लब्ध होता चला जाता है । पहले रूपका वर्णन पाली-भाषामें निबद्ध बुद्धागमों—त्रिपिटकों—में मिलता है तथा दूसरे रूपका वर्णन, अधिकांशमें, संस्कृतभाषामें प्रणीत ग्रन्थरत्नोंमें दीख पड़ता है । पहले रूपके शुद्ध दार्शनिक न होनेपर भी उसमें दार्शनिक आधारका अभाव नहीं है । अतः इस निबन्धमें इन द्विविध रूपोंका दर्शन संक्षेपमें कराया जायगा । बौद्धधर्मके इस समय इतने महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ या उनके चीनी तथा तिब्बती भाषान्तर मिल गये हैं तथा मिलते जा रहे हैं कि उन सबके वर्णनके लिये एक अलग पोथा तैयार हो जायगा; अतः यहाँ नितान्त महत्त्वशाली ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंके संक्षिप्त परिचयसे ही सन्तोष करना होगा ।

बुद्धका जीवन-चरित

इस धर्मके संस्थापक महात्मा बुद्धकी जीवन-घटनाओंसे परिचय प्राप्त करना इस धर्मकी विशेषताओंके समझनेके लिये आवश्यक है । प्राचीन कोसल जनपदके एक प्रधान नगर कपिलवस्तुमें शाक्यलोगोंके गणमें शाक्य शुद्धोदनकी भार्या मायादेवीके गर्भसे ५०५ विक्रम पूर्व सालकी वैशाखी पूर्णिमाको लुम्बिनीनामक उद्यानमें (वर्तमान नाम रुम्मिनदेई) बुद्धका जन्म हुआ था । इनका नाम रक्खा गया सिद्धार्थ । जन्मके सात दिनके भीतर ही माताका देहान्त हो गया । उस समयके नियमानुसार शिक्षणीय विद्याओंमें पारङ्गत होकर सिद्धार्थने १९ वर्ष सांसारिक जीवन बिताया । इस बीचमें इनका विवाह भी हो गया था तथा पुत्रके मुखकमलके अवलोकन करनेका भी इन्हें सौभाग्य प्राप्त हो गया था, पर हृदयमें सांसारिक विषयोंसे अखण्ड वैराग्य जाग रहा था । अतः युवती पत्नीके प्रेममय आलिङ्गन, नवजात शिशुके आनन्दमय अवलोकन तथा सांसारिक विशाल वैभवको लात मारकर १९ सालकी उम्रमें सिद्धार्थने अभिनिष्क्रमण किया । छः सालतक मगधदेशके अनेक स्थानोंपर भिन्न-भिन्न गुरुओंसे शिक्षा ग्रहण की तथा कठोर तपस्यामें अपना शरीर गला डाला । इस मार्गकी आध्यात्मिक उन्नतिमें व्यर्थता विचारकर सिद्धार्थने बुद्धगयाके पास 'उरुवेल' नामक ग्राममें चार आर्यसत्योंका साक्षात्कार किया तथा उसी दिनसे 'बुद्ध' के नामसे प्रसिद्धि प्राप्त की । आध्यात्मिक जगत्की यह महत्त्वपूर्ण घटना ४७१ वि० पू० संवत्की वैशाखपूर्णिमाको घटित हुई, जिस समय सिद्धार्थ केवल पचीस वर्षके युवक थे । उसके अनन्तर आषाढ़ी पूर्णिमाको वे काशीके समीपस्थ मृगदाव (इसिपत्तन=सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पाँच पञ्चवर्गीय भिक्षुओंके सामने धर्मचक्रका प्रवर्तन किया तथा अपनी शेष आयु इस धर्मके प्रचारमें बितायी । अपने नगरके गणराज्यके आदर्शपर इन्होंने भिक्षुओंके लिये संघकी स्थापना की तथा जीवनको सुधारनेके लिये 'विनय' तथा 'धर्म' के उपदेशोंको दिया । मगधके राजा बिम्बसार तथा अजातशत्रुने इनके अहिंसापरक उपदेशोंको बड़े ध्यानसे सुना तथा इस धर्मके प्रचारमें हाथ बटाया । अन्ततः ४२६ वि० पू० संवत्की वैशाखी पूर्णिमाको अस्सी सालकी आयुमें मल्लगणतन्त्रकी राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में भगवान् बुद्धका निर्वाण सम्पन्न हुआ[1] । इस प्रकार बुद्धधर्मके इतिहासमें वैशाखी पूर्णिमाकी तिथि बड़ी पवित्र मानी जाती है, क्योंकि उसी तिथिको बुद्धके जीवनकी तीन घटनाएँ—जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति—सम्पन्न हुई हैं । भगवान् बुद्धके द्वारा पवित्रित किये जानेसे जन्म-स्थान लुम्बिनी, अनुत्तर सम्यक् संबोधिकी प्राप्तिका स्थान

---

१. बुद्धके अन्तिम कालके विशेष विवरणके लिये द्रष्टव्य महापरिनिब्बानसुत्त (दिघ्घनिकायका १६वाँ सुत्त)

बोधगया, अनुत्तर धर्मचक्रके प्रवर्तनका स्थान सारनाथ तथा अनुपादिशेष निर्वाणधातुकी प्राप्तिका स्थान कुशीनगर —बौद्धधर्मके चार तीर्थस्थल माने जाते हैं।

पाली त्रिपिटक

भगवान् बुद्धके द्वारा रचित किसी भी ग्रन्थका पता नहीं चलता। उनके उपदेश जनताकी बोलचालकी भाषामें मौखिक हुआ करते थे। उस भाषाका नाम मागधी या पाली दिया जाता है। इसी पाली भाषामें बुद्धके उपदेशोंके संग्रह-स्वरूप तीन संग्रहग्रन्थों अथवा पिटकोंकी उपलब्धि होती है। बुद्धकी शिक्षाएँ दो प्रकारकी होती थीं–एक तो धर्मके सामान्य रूपके विषयमें तथा दूसरी संघभुक्त भिक्षु तथा भिक्षुणियोंके नियमके विषयमें। पहले उपदेशको 'धर्म' या सुत्त (सूत्र या सूक्त) कहते हैं तथा दूसरे उपदेश 'विनय' नामसे पुकारे जाते हैं। बस, सुत्त तथा विनयके भीतर बुद्धके समस्त उपदेश सम्मिलित कर दिये गये हैं। ये ग्रन्थ भिक्षुओंको याद थे। अतः ४२६ वि० पू० संवत्में बुद्धकी निर्वाणप्राप्तिके अवसर-पर इनमें किसी प्रकारके भ्रम या अशुद्धिकी आशंकासे महाकाश्यपके सभापतित्वमें बौद्ध भिक्षुओंका प्रथम सम्मेलन (प्रथम संगीति) राजगृहमें हुआ, जिसमें बुद्धके सहचर 'आनन्द' के सहयोगसे 'सुत्तपिटक' तथा नापित-कुलोत्पन्न उपालिके सहयोगसे 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। स्वयं सुत्तपिटकके भीतर संक्षिप्त दार्शनिक अंश भी उपलब्ध होता है, जिसे 'मातिका' (मात्रिका) के नामसे पुकारते हैं। इन्हीं मात्रिकाओंके पल्लवीकरणका परिणाम आजकल उपलब्ध अभिधम्म (अभिधर्म=अध्यात्मविषय) पिटक है। अभिधर्म बुद्धधर्मका विशुद्ध दार्शनिक पिटक है, जिसमें सुत्तपिटकमें उल्लिखित बुद्धके उपदेशोंके लिये दार्शनिक भित्ति तथा आधार तैयार किया गया है। अशोकके समय (वि० पू० तृतीय शतक) तक तीनों पिटकोंकी सृष्टि हो चुकी थी, क्योंकि उनके पुत्र महेन्द्र तथा कन्या संघमित्राके उद्योगसे लंकाद्वीपमें तथागतके धर्मके साथ इन पिटकोंका भी प्रथम प्रवेश उसी समय हुआ। आजकल उपलब्ध पाली पिटक बौद्धधर्ममें सबसे प्राचीन स्थविरनिकायके साथ सम्बन्ध रखता है। अतः बुद्धके आचार तथा दार्शनिक विचारकी हमारी जानकारी इन्हीं त्रिपिटकोंके ऊपर अवलम्बित है।

इन संग्रहग्रन्थोंका विस्तार इस प्रकार है—

(१) **सुत्तपिटक**—पाँच निकाय (सुत्तसमूह) में विभक्त हैं—दिघ्घनिकाय ३४ सुत्त, मज्झिमनिकाय १५२ सुत्त, संयुत्तनिकाय ५६ संयुत्त, अंगुत्तरनिकाय ११ निपात तथा अन्तिम निकाय है खुद्दकनिकाय, जिसमें निम्नलिखित १५ छोटे-मोटे ग्रन्थ सम्मिलित माने जाते हैं–(१) खुद्दकपाठ, (२) धम्मपद (गौतमबुद्धकी ४२३ उपदेशात्मक गाथाओंका सुप्रसिद्ध संग्रह), (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरागाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक (बुद्धके पूर्वजन्मसम्बन्धिनी ५५० कथाएँ), (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अपदान, (१४) बुद्धवंस तथा (१५) चरियापिटक। इन सबमें मज्झिमनिकाय बुद्धके सिद्धान्तोंकी जानकारीके लिये विशेष महत्त्व रखता है।

२–**विनयपिटक**—भिक्षु तथा भिक्षुणियोंके नियम एवं आचार तथा उनके इतिहासविषयक ग्रन्थ। इसके तीन प्रधान खण्ड हैं–(१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, जिसके दो अवान्तर भेद हैं–(क) भिक्खु पातिमोक्ख तथा (ख) भिक्खुनी विभंग, (२) खन्धक–जो इस पिटकका प्रधान भाग है तथा जिसके दो अवान्तर विभेद हैं—(क) महावग्ग तथा (ख) चुल्लवग्ग और (३) परिवार।

(३) **अभिधम्मपिटक**–सुत्तपिटकमें उल्लिखित तत्त्व-प्रतिपादक अंशोंका विस्तार इस पिटकमें किया गया है। बौद्धदर्शनके आध्यात्मिक रहस्योंके जाननेके लिये यही पिटक सबसे अधिक उपयोगी है। तत्त्वोंके विषयमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं—

(१) **पुग्गलपञ्ञत्ति**–व्यक्तियोंका वर्णन है। साथ-ही-साथ मनोभावोंकी संक्षिप्त, पर सुन्दर विवेचना की गयी है।

(२) **धातुकथा**–सृष्टिके पदार्थोंके स्वरूपोंका यथार्थ वर्णन किया गया है (धातु=पदार्थ)।

(३) **धम्मसंगणि**–मानसिक स्थितिका विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण वर्णन। बौद्धदर्शनके मनोविज्ञानके जाननेके लिये नितान्त उपादेय।

(४) **विभंग**–पूर्व ग्रन्थका पूरक ग्रन्थ है। ज्ञानके विविध प्रकारोंका वर्णन है। इन्द्रियजन्य ज्ञानसे लेकर बुद्धके सर्वश्रेष्ठ ज्ञानतकके समस्त अवान्तर ज्ञानोंका सूक्ष्म विवरण दिया गया है। साथ-ही-साथ ज्ञानमार्गके विघ्नोंका संक्षिप्त वर्णन भी है।

(५) पट्ठानपकरण—अध्यात्मविषयक प्रश्नोंका विवेचन।

(६) कथावत्थु—बौद्धसम्प्रदायके इतिहासके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। आत्मा, निर्वाण, अर्हत् पदकी प्राप्ति, बुद्धकी दस अमानुषिक शक्तियाँ आदि प्रश्नोंके विषयमें पाखण्डमतका खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ मोग्गलिपुत्त तिस्स (३रा. शतक वि० पू०) की रचना बतलाया जाता है।

(७) यमक—सब प्रश्नोंपर अस्ति तथा नास्तिरूपसे द्विविध विचार।[1]

बुद्धके उपदेश

मुख्यतया बुद्ध एक धार्मिक सुधारक तथा आचारके शिक्षकके रूपमें पाली त्रिपिटिकोंमें वर्णित किये गये हैं। उस समय इस देशके प्रचलित धर्ममें जो बुराइयाँ दिखलायी पड़ीं, उनका दूर करना उनके धर्मका प्रधान उद्देश्य था। वे अध्यात्मशास्त्रकी गुत्थियोंको सुलझानेवाले, शुद्ध तर्ककी सहायतासे आध्यात्मिक तत्त्वोंका विवेचन करनेवाले दार्शनिक न थे। गृहस्थजीवनमें रहते समय उनके कोमल हृदयपर दुःखके अस्तित्वने गहरा प्रभाव डाला। रोगी, वृद्ध तथा मरे हुए आदमीको देखनेसे उन्हें निश्चय हो गया कि दुःखका चक्कर वास्तविक है और कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो इस चक्करमें पड़कर न पीसा जाता हो। अतः इस क्लेशसे मुक्ति पाना ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। इस कारण आध्यात्मिक तत्त्वोंके विषयमें जब कोई प्रश्न करता था, तब उसे जटिल तथा तर्कानुसार अनिश्चित बतलाकर टाल दिया करते थे। इस टालमटोल करनेका कारण उनकी तद्विषयक अज्ञानता न थी; प्रत्युत मानव-जीवनकी विषम समस्याओंके हल करनेमें अनुपयुक्त तथा अनावश्यक समझना ही था। पाली ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक प्रसङ्गोंकी पर्याप्त चर्चा मिलती है। मज्झिमनिकायके[2] वर्णनानुसार मालुंक्यपुत्तने श्रावस्तीके जेतवनमें विहार करते समय बुद्धसे इन दस मेण्डक[3] प्रश्नोंको पूछा था—(१) क्या यह लोक शाश्वत है? (२) क्या यह लोक अशाश्वत है? (३) क्या यह लोक अन्तवान् है? (४) क्या यह लोक अनन्त है? (५) क्या शरीर तथा जीव एक ही—अभिन्न वस्तु हैं? (६) अथवा शरीर भिन्न है और जीव दूसरा है? (७) क्या संबोधिको प्राप्त करनेवाले पुरुष मरनेके बाद होते हैं? (८) अथवा ऐसे पुरुष मरनेके बाद नहीं होते? (९) अथवा मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते? (१०) क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते? इन प्रश्नोंके उत्तर देनेके लिये अत्यन्त आग्रह किये जानेपर बुद्धने इन्हें अव्याकृत (व्याकरण=कथनके योग्य) बतलाया; इनका उत्तर ठीक-ठीक ढंगसे दिया नहीं जा सकता; क्योंकि आचारमार्गके लिये वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (=लोकोत्तर ज्ञान), सम्बोध (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी मुक्ति) उत्पन्न करनेमें इनकी जानकारीकी तनिक भी जरूरत नहीं है। सबसे विकट तथा प्रत्यक्ष विषय है क्लेश तथा उसका निवारण। इस विषयमें अनुपयोगी होनेके कारण इनका हल करना अनावश्यक है। यदि कोई मनुष्य विषसे बुझे हुए बाणसे घायल पड़ा कराहता हो और उसके सगे-सम्बन्धी उसकी चिकित्साके लिये विषवैद्यको ले आनेके लिये उद्यत हों, तब उसका बाणके बनानेवालेकी जाति, रूप, रंग, नाम, गोत्र, निवासस्थान आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आग्रह करना कितना उपहासास्पद है। लौकिक बुद्धि पुकारकर सलाह देती है कि वह काल उसे शरीरमें धँसे हुए तथा असीम पीड़ा पहुँचानेवाले बाणको हाथसे झटसे निकाल बाहर करनेका है, इस प्रकारके व्यर्थके तत्त्वविचारका नहीं। लौकिक रोगका यह दृष्टान्त तात्त्विक चिन्ताको व्यर्थ बतलानेके लिये पर्याप्त है।

मुख्य विषय है कि इस लोकमें दुःखकी सत्ता है; यह इतनी वास्तविक है कि उसका कोई अपलाप नहीं कर सकता। यदि दुःख है तो उसकी उत्पत्तिकी चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि बिना उत्पत्तिको जाने उसके निरोध (रोकने) के लिये प्रयत्न नहीं किया जा सकता। निरोधके बाद विचारणीय

१ विशेषके लिये देखिये—

विन्टरनित्स—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर (भाग २)

विमला चरण ला—हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर (भाग २)

२. द्रष्टव्य चूलमालुंक्यसुत्तन्त (६३वाँ सूत्र), मज्झिमनिकाय पृ० २५१—२५३

३. 'मेण्डक प्रश्न' उन विषम प्रश्नोंको कहते हैं, जिनका निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन्हें पश्चिमी न्यायके सुप्रसिद्ध 'हार्न्स ऑफ ए डाइलेमा' का प्रतीक समझना चाहिये। द्रष्टव्य 'मिलिन्द-पञ्हो'।

विषय उसकी उपलब्धि करानेवाले मार्गका है । अतः दुःखकी इन चतुर्विध समस्याओंका सुलझाना ही मानवमात्रके लिये प्रधान कार्य है । बुद्धने इन समस्याओंको समझा और उनकी गुत्थियोंको सुलझाया, इसीलिये वे सम्यक् संबुद्ध (अच्छी प्रकार जागनेवाले) के नामसे पुकारे जाते हैं । इन समस्याओंका उत्तर बुद्धने दिया है—(१) इस संसारमें जीवन दुःखसे परिपूर्ण है; (२) उस दुःखका कारण विद्यमान है; (३) इस दुःखसे वास्तविक छुटकारा मिल सकता है; (४) इस निरोधके लिये उचित उपाय या मार्ग है । इन्हें ही बुद्धधर्ममें आर्यसत्यके नामसे पुकारते हैं—(१) दुःख, (२) दुःखसमुदय, (३) दुःख-निरोध, (४) दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद् । बुद्धधर्मके प्राथमिक स्वरूपको जाननेके लिये इन सत्योंका परिचय पाना आवश्यक है ।

आर्यसत्य[1]

(१) दुःखम्

आर्यसत्योंमें प्रथम दुःखरूप सत्य लोकके अनुभवपर अवलम्बित है । इस जगतीतलके प्राणियोंपर दृष्टिपात करनेसे सब प्राणी रोग, जरा तथा मरणके शिकार होते दिखलायी पड़ते हैं । यह इतना स्थूल है कि इसका अपलाप हो ही नहीं सकता । ब्राह्मण दार्शनिकोंके समान बुद्धने भी प्राणियोंके *जीवनको अशान्त बनानेवाले इस क्लेशकी सत्ताका पता लगाया*, पर उनकी विशेषता इसके निरोध तथा तदुपायभूत मार्गकी विवेचना है ।

(२) दुःखसमुदयः

दूसरा सत्य दुःखके कारणकी खोज करनी है । इसके लिये केवल एक ही कारण नहीं खोज निकाला गया, प्रत्युत कारण-परम्पराका अन्वेषण नये प्रकारसे बुद्धने किया, जिसमें एक कारण दूसरे कारणके आधारपर अवलम्बित रहता है । सबसे बड़ा दुःख जरा-मरण (बुढ़ापा तथा मृत्यु) है । इसकी उत्पत्तिका कारण जाति (जन्म ग्रहण करना) है । यदि इस संसारमें प्राणीका जन्म ही नहीं होता, तो तज्जन्य वृद्धता तथा मरणके क्लेश सहनेका अवसर ही नहीं आता । इस जाति-का कारण है भव[3] । भव उन कर्मोंको कहते हैं, जिनके कारण प्राणीका पुनर्भव—पुनर्जन्म होता है । यदि ऐसे फलोन्मुख कर्मोंका सर्वथा अभाव रहता, तो जन्मके पचड़ेमें आकर क्लेश सहनेका मौका ही न आता । इस भवका कारण है—उपादान[4] अर्थात् आसक्ति । प्राणीकी आसक्तिके विषय अनेक हैं, कभी वह स्त्रीमें आसक्ति (कामोपादान) धारण करता है, कभी शील-व्रतमें । पर आत्माके नित्यत्वमें उसकी आसक्ति सबसे प्रधान है । आत्माको नित्य मानना ही अनेक स्वार्थ तथा हिंसामूलक कार्योंका निदान है । इस उपादानकी उत्पत्ति रूपादि पञ्च विषयोंमें उत्पन्न तृष्णा (इच्छा) के कारण होती है । यह तृष्णा कारण होते हुए भी वेदनाका कार्य है । वेदनाके कारण तृष्णाका आविर्भाव होता है । इन्द्रियजन्य अनुभव वेदनाके नामसे प्रसिद्ध है । इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य वस्तुके अनुभवके बिना उसकी उपलब्धिके लिये तृष्णाकी उत्पत्ति ही असंगत है । इस वेदनाका कारण स्पर्श है—इन्द्रिय तथा विषयके सम्पर्ककी 'स्पर्श' संज्ञा है । अनुभव प्राप्त करनेका प्रधान साधन है विषयके साथ इन्द्रियोंका

---

१. द्रष्टव्य चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति (पृ० ४७६)

इन सत्योंके पहले 'आर्य' विशेषण लगानेका अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग ही इनकी सत्यताकी उपलब्धि करते हैं । पामरजन जीते हैं, मरते हैं, पर इन तत्त्वोंपर नहीं पहुँच पाते ।

> कर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः ।
> अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीडां च ॥
> करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म ।
> अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्वेजते गाढम् ॥

२. इन आर्यसत्योंकी खोज करनेके कारण सिद्धार्थका नाम बुद्ध हुआ, ऐसा बतलाया जाता है; पर वैद्यकशास्त्रके सिद्धान्तोंपर अवलम्बित होनेवाला यह तत्त्व बुद्धसे पहलेका है । द्रष्टव्य सांख्य-प्रवचनभाष्य (पृ० ६)—'तदिदं मोक्षशास्त्रं चिकित्साशास्त्रवत् चतुर्व्यूहम् । यथा हि रोग आरोग्यं रोगनिदानं भैषज्यम् इति चत्वारो व्यूहाः समूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्याः । तथैव हेयं हानं हेयहेतु-र्हानोपायश्चेति चत्वारो व्यूहा मोक्षशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति ॥'

वैद्यकशास्त्रकी इस समताके कारण बुद्धका एक नाम पड़ा महाभिषक्=बड़ा वैद्य । बौद्ध साहित्यमें भी भैषज्य-नामधारी ग्रन्थोंके अस्तित्वका पता चलता है ।

३. इस शब्दके अर्थके विषयमें गहरा मतभेद है । यहाँ अभि-धर्म-कोशसम्मत अर्थ दिया गया है—'स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद् भवः ।' (अभिधर्मकोश ३ । २४)

'पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च ।' (चन्द्रकीर्ति—माध्यमिकवृत्ति पृ. ५६५)

४. उपादान तथा तृष्णाके अर्थके लिये देखिये चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ. ५६५)

सम्पर्क—स्पर्श[1]। यह स्पर्श सिद्ध नहीं होता, यदि वस्तुग्रहण करनेमें समर्थ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मनकी सत्ता स्वीकृत न होती। अतः यह षडायतन स्पर्शका कारण है और वह स्वयं नाम-रूपका कार्य है। नाम-रूपका अर्थ है प्राणीका दृश्यमान शरीर तथा मनसे संवलित संस्थान-विशेष। पर यह नाम-रूप ही नहीं होता यदि इसमें विज्ञान (या चैतन्य) का अभाव होता। माताके गर्भसे ही यह चित्तधारा या चैतन्य भ्रूणके नाम-रूपको सिद्ध होनेमें सहायक होती है। अतः इसे उसका कारण बतलाना उचित ही है। यह विज्ञान संस्कार (पूर्वजन्मके कर्म तथा अनुभवसे उत्पन्न संस्कार) के कारण उत्पन्न होता है, जो स्वयं अज्ञान—तथ्य बातके न जाननेके कारण अपनी सत्ता धारण करता है। इस प्रकार समस्त दुःखोंका आदि, मूल कारण अविद्या ही है। यदि जगत्की सत्य बातोंका ज्ञान प्राणीको होता तो वह उन कार्योंके अनुष्ठानसे ही विरत रहता, जिनका फल भोगनेके लिये उसे इस संसार-चक्रमें बारंबार आना पड़ता है। अतः वास्तवमें अविद्या ही इस विशाल भवप्रासादकी नींव है। उसकी दृढतापर इसकी सत्ता है, उसके मूलोच्छेदनसे यह प्रासाद बालूकी भीतके समान तुरंत ही भूमिसात् होकर छिन्न-भिन्न हो सकता है। अतः बुद्धने कारणपरम्पराकी गहरी छानबीन करके इस द्वितीय आर्यसत्यका पता लगाया—दुःखका समुदय।

इस कारण-परम्परामें १२ कारणोंका समुच्चय है—जरा-मरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार तथा अविद्या। इनमें पूर्व-पूर्व कार्यके लिये उत्तर-उत्तर कारण दिये गये हैं। यही है बौद्धोंका सुप्रसिद्ध भवचक्र तथा द्वादश[2] निदान। आजकलके बौद्ध भिक्खु भी अपने हाथमें चरखी चला-चलाकर इसी तत्त्वकी शिक्षा दिया करते हैं। इन द्वादश निदानोंका सम्बन्ध प्राणीके तीन जीवनोंसे है। हमारा वर्तमान जीवन भूतजीवनका कार्य है, पर भविष्य जीवनका कारणभूत है। जैसे कर्म हमने प्राचीन जन्ममें किये हैं, वैसे हम इस जन्ममें हैं और इस जन्ममें जैसे कर्म कर रहे हैं, वे अगले जन्मकी रूपरेखाको निष्पन्न करनेके कारण हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन प्राचीन कर्मसमुदायका कार्यरूप तथा अग्रिम जन्मका कारण माना गया है। इन निदानोंमें आदि दो निदानों—अविद्या तथा संस्कारका सम्बन्ध भूतकालके जन्मसे तथा अन्तिम दो निदानों—जाति तथा जरा-मरणका सम्बन्ध अगले जन्मसे है, मध्यके ८ निदानों (विज्ञानसे लेकर भवतक) का सम्बन्ध हमारे इस वर्तमान जीवनसे है[3]।

इन्हीं द्वादश निदानोंका दूसरा नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह बुद्धधर्मका मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इस शब्दके अर्थके विषयमें समधिक मतभेद दीख पड़ता है[4]। पर इसका सर्वमान्य अर्थ है प्रतीत्य—प्रति+इ (जाना) + ल्यप्—किसी वस्तुके होनेपर समुत्पाद (सम्, उत्+पद्+घञ्) किसी अन्यकी उत्पत्ति[5] अर्थात् सापेक्षकारणवाद। बुद्धधर्मके अन्यान्य सिद्धान्तोंके मूलमें यही प्रतीत्य समुत्पादका सिद्धान्त है।

(३) दुःखनिरोधः

तीसरे आर्यसत्यका नाम दुःखनिरोध है। अर्थात् सत्तात्मक तथा कारण-कलापसे समुत्पन्न दुःखका आत्यन्तिक

---

१. ब्राह्मण दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी स्पर्शका यही अर्थ स्वीकृत है। द्रष्टव्य गीता—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। (२।१४)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (५।२२)

२. निदानोंकी संख्याके विषयमें बौद्धग्रन्थोंमें मतभेद दीख पड़ता है। दिघ्यनिकाय पृ० ११०—११३ के महानिदानसुत्तमें केवल नौ निदानोंकी परम्पराका वर्णन मिलता है; उसमें षडायतन, संस्कार तथा अविद्याके नामोंका उल्लेख नहीं पाया जाता। पर मज्झिमनिकायके ३८वें सुत्तन्त महातण्हासंक्षय (महातृष्णासंक्षय) में निदानोंकी उपरिनिर्दिष्ट संख्या तथा क्रमका सविस्तर वर्णन दिया गया है। इन निदानोंके अर्थमें बौद्धग्रन्थोंमें बहुत ही मतभेद दिखायी पड़ता है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ३।१९—२५।

३. द्रष्टव्य—स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः

पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः॥

(अ० को० ३।२०)

४. द्रष्टव्य चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ५

५. प्रतीत्यशब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। समुत्पादः पदिः प्रादुर्भावार्थ इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः—चन्द्रकीर्तिः

तिरस्कार किया जा सकता है। कारणकी सत्तासे कार्यकी सत्ता बनी हुई है। यदि कारणको निरोध कर दिया जाय, तो आप-से-आप चलनेवाली मशीनकी तरह कार्यका निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। सारे क्लेशोंका मूल कारण अविद्या है। अतः विद्याके द्वारा अविद्याका निरोध कर देनेसे दुःखका निरोध स्वतः हो जायगा।

(४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्

बुद्धने मृगदावमें दिये गये प्रथम व्याख्यानमें ही इस मार्गकी रूपरेखा निर्धारित कर दी। मार्गनिर्धारणमें उनके अपने खास प्रवृत्तिमार्गीय तथा निवृत्तिमार्गीय जीवनने खूब प्रभाव जमाया। एक ओर चैनकी बंसी बजानेवाले, सुख-समृद्धिके आनन्दमें अपना जीवन यापन करनेवाले धनी-मानी लोगोंके जीवनकी ओर उनकी दृष्टि गयी, दूसरी ओर कठिन तपस्या तथा घोर व्रतके अनुष्ठानसे ईश्वरीय देन—इस कञ्चनमयी कायाको सुखाकर काँटा बना डालनेवाले तपस्वियोंके नियमपालनकी ओर उनकी नज़र गयी। फल इन दोनों जीवनोंका क्लेशमय ही प्रतीत हुआ। इसलिये इन दोनों छोरोंको छोड़कर उन्होंने सुनहले मध्यम-मार्गका अवलम्बन किया। इस तरह आचारपद्धतिके लिये बुद्धने 'मध्यमप्रतिपदा'—मध्यमार्गको खोज निकाला।

इस मार्गमें आत्मशुद्धिके लिये आठ नियमोंके अनुष्ठानकी व्यवस्था की है, अतः इसे आर्य अष्टाङ्गिक मार्गकी संज्ञा प्राप्त हुई है। ये आठ नियम निम्नलिखित हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। चारों आर्यसत्योंका तत्त्वज्ञान सम्यक् दृष्टि कहलाता है। तत्त्वज्ञानका सहायक सम्यक संकल्प है। संकल्पको शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है और इसके लिये उसमें किसी प्रकारकी कामना, द्रोह तथा हिंसाके भाव न होने चाहिये। संकल्पको व्यवहारमें उतारना चाहिये। झूठ, चुगली, बकवाद तथा कटुवचनसे विरहित वाणी सम्यक् वचन कही जा सकती है। हिंसा तथा दुराचारको छोड़ना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है न्यायपूर्ण सच्चे व्यवहारसे जीविका उपार्जन करना। इतनेसे ही काम नहीं चलता बल्कि जीवनकी विशिष्ट परिस्थितियोंमें भलाई-बुराई, कर्तव्य तथा कामनाके द्वन्द्वयुद्धमें सदा लड़नेके लिये भी तैयार रहना चाहिये। इस प्रकार अनुत्पन्न बुराइयोंकी उत्पत्ति न होने देनेके लिये तथा उत्पन्न बुराइयोंके विनाशके लिये तथा भलाईकी वृद्धिके लिये साधककी ओरसे दृढ़ निश्चय तथा उद्योग किया जाना सम्यक् व्यायामके अन्तर्गत आता है। इसके साथ-साथ अपने शरीर, चित्त, वेदना आदिके अशुचि तथा अनित्य स्वरूपकी यथार्थ उपलब्धि करके लोभ तथा चित्तसन्तापसे किनारा कसना भी साधकके लिये आवश्यक है। इसे ही सम्यक् स्मृतिके नामसे पुका[1]। इस प्रकार कायिक, वाचिक तथा मानसिक नियमनका अन्तिम परिणाम होना चाहिये सम्यक् समाधि। अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेषके विषम द्वन्द्वोंका विनाश होनेसे चित्तका अपना शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रतारूप धारण करना समाधिकी पराकाष्ठा है। उसी दशामें निर्वाणका सद्यः साक्षात्कार किया जाता है।

बुद्धके आचारमार्गका सूत्र यहीं है—

> सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा
> सचित्त-परिमोदपनं एतं बुद्धान सासनं।
> (धम्मपद १४। ५)

अर्थात् समस्त पापोंका न करना, पुण्योंका सञ्चय करना तथा अपने चित्तको परिशुद्ध (पर्यवदापन) करना—बुद्धका यही अनुशासन है।

(अपूर्ण)

---

१. द्रष्टव्य दिघ्घनिकायका महासति पट्ठानसुत्त पृ. १९०–१९३; मज्झिमनिकायका १० वाँ सुत्त।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१३)

(चैत्रके व्रत)

कृष्णपक्ष

आरम्भका निवेदन—प्रत्येक प्रयोजनके सभी व्रत मास[1], पक्ष और तिथि-वारादिके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। मास चार प्रकारके माने गये हैं। वे सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उनमें सूर्य-संक्रान्तिके आरम्भसे उसकी समाप्तिपर्यन्तका 'सौर'[2], सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्तके एक दिन—जैसे ३० दिनका 'सावन'[3], शुक्ल और कृष्ण पक्षका 'चान्द्र'[4] और अश्विनीके आरम्भसे रेवतीके अन्ततकके चन्द्र-भोगका 'नाक्षत्र'[5] मास होता है। ये सब प्रयोजनके अनुसार पृथक्-पृथक् लिये जाते हैं—यथा विवाहादिमें 'सौर'[6], यज्ञादिमें 'सावन'[7], श्राद्ध आदिमें 'चान्द्र'[8] और नक्षत्रसत्र (नक्षत्र-सम्बन्धी यज्ञ, यथा श्लेषा-मूलादिजन्मशान्ति) में 'नाक्षत्र'[9] लिया जाता है।.....मास-गणनामें वैशाख आदिकी अपेक्षा सर्वप्रथम चैत्र क्यों लिया गया ? इसका कारण यह है कि सृष्टिके आरम्भ (अथवा ज्योतिर्गणनाके प्रारम्भ) में चन्द्रमा चित्रापर था—(और चित्रा चैत्रीको प्रायः[10] होती ही है) इस कारण अन्य महीनोंकी अपेक्षा चैत्र पहला महीना माना गया है, और इसके पीछे वैशाख आदि आते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार चैत्रीको चित्रा होना सम्भव माना गया है उसी प्रकार वैशाखीको विशाखा, ज्यैष्ठीको ज्येष्ठा, आषाढ़ीको पूर्वाषाढ़ा, श्रावणीको श्रवण, भाद्रीको उत्तराभाद्रपद, आश्विनीको अश्विनी, कार्तिकीको कृत्तिका, मार्गशीर्षीको मृगशिरा, पौषीको पुष्य, माघीको मघा और फाल्गुनीको पूर्वाफाल्गुनी होना भी सम्भव सूचित किया गया है।.....प्रत्येक मासके शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं। इनका उपयोग लोकव्यवहारमें दक्षिण प्रान्तमें शुक्ल और कृष्ण और अन्य प्रान्तोंमें कृष्ण और शुक्लके क्रमसे करते हैं। वास्तवमें वह व्रतोत्सवादिमें[11] शुक्लसे और तिथिकृत्यादिमें[12] कृष्णसे प्रारम्भ किया जाता है।.....

(१) **गौरीव्रत** (व्रतविज्ञान)—यह चैत्र कृष्ण प्रतिपदासे चैत्र शुक्ल द्वितीयातक किया जाता है। इसको विवाहिता और कुमारी दोनों प्रकारकी लड़कियाँ करती हैं। इसके लिये होलीके भस्म और काली मिट्टीके मिश्रणसे गौरी-की मूर्ति बनायी जाती है और प्रतिदिन प्रातःकालके समय समीपके पुष्पोद्यानसे फल, पुष्प, दूर्वा और जलपूर्ण कलश लाकर उसको गीत-मन्त्रोंसे पूजती हैं। यह व्रत विशेषकर अहिवातकी रक्षा और पतिप्रेमकी वृद्धिके निमित्त किया जाता है।

(२) **होलामहोत्सव** (पुराणसमुच्चय-मुक्तकसंग्रह)—यह उत्सव होलीके दूसरे दिन चैत्रकृष्ण प्रतिपदाको होता है। लोकप्रसिद्धिमें इसे धुरेडी, छारंडी, फाग या बोहराजयन्ती कहते हैं। नागरिक नर-नारी इसे रंग, गुलाल, गोष्ठी, परिहास और गायन-वादनसे और देहाती लोग धूल-धमासा, जलक्रीडा और धमाल आदिसे सम्पन्न करते हैं। आजकल इस उत्सव-का रूप बहुत विकृत और उच्छृङ्खलतापूर्ण हो गया है। लोगोंको सभ्यताके साथ भगवद्भावसे भरे हुए गीत आदि गाकर यह उत्सव मनाना चाहिये। इस उत्सवके चार उद्देश्य प्रतीत होते हैं। (१) जनता जानती है कि होलीके जलानेमें प्रह्लादके निरापद निकल आनेके हर्षमें यह उत्सव सम्पन्न

---

१. मस्यन्ते परिमीयन्ते चन्द्रवृद्धिक्षयादिना। (मदनरत्न)
२. अर्कसंक्रान्त्यवधिः सौरः।
३. त्रिंशद्दिनः सावनः।
४. पक्षयुक्तश्चान्द्रः (माधवीय)
५. सर्वर्क्षपरिवर्तैस्तु नाक्षत्रो मास उच्यते। (विष्णु)
६. सौरो मासो विवाहादौ।
७. यज्ञादौ सावनः स्मृतः।
८. आब्दिके पितृकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते। (गर्ग)
९. नक्षत्रसत्राण्यन्यानि नाक्षत्रे च प्रशस्यते। (विष्णु)
१०. 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' 'सास्मिन् पौर्णमासीति'। (पाणिनि)
११. व्रतोत्सवे च शुक्लादि।
१२. कृष्णादि तिथिकर्मणि। (ब्रह्म)

होता है। (२) शास्त्रोंमें इस दिन इसी रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञ घोषित किया गया है, अतः नवप्राप्त नवान्नके सम्मानार्थ यह उत्सव किया जाता है। (३) यज्ञकी समाप्तिमें भस्मवन्दन और अभिषेक किया जाता है, किन्तु ये दोनों कृत्य विशेषकर कुत्सित रूपमें होते हैं। (४) वैसे माघ शुक्ल पञ्चमीसे चैत्र शुक्ल पञ्चमीपर्यन्तका वसन्तोत्सव स्वतः होता ही है।

(३) सङ्कष्टचतुर्थीव्रत (भविष्यपुराण)—यदि निकट भविष्यमें किसी अमिट सङ्कटकी शङ्का हो या पहलेसे ही सङ्कटार्पन्न अवस्था बनी हुई हो तो उसके निवारणके निमित्त सङ्कटचतुर्थीका व्रत करना चाहिये। यह सभी महीनोंमें कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी हो तो प्रथम दिनका व्रत करे। व्रतीको चाहिये कि वह उक्त चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर दाहिने हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'मम वर्तमानागामिसकलसङ्कटनिरसनपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये सङ्कटचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके चौकी या वेदीपर 'तीव्रायै, ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै, उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै च दिक्षु विदिक्षु, मध्ये विघ्ननाशिन्यै सर्वशक्तिकमलासनायै नमः' इन मन्त्रोंसे पीठपूजा करनेके बाद वेदीके बीचमें स्वर्णादिनिर्मित गणेशजीका—१ 'गणेशाय नमः' से आवाहन, २ 'विघ्ननाशिने नमः' से आसन, ३ 'लम्बोदराय नमः' से पाद्य, ४ 'चन्द्रार्धधारिणे नमः' से अर्घ्य, ५ 'विश्वप्रियाय नमः' से आचमन, ६ 'ब्रह्मचारिणे नमः' से स्नान, ७ 'कुमारगुरवे नमः' से वस्त्र, ८ 'शिवात्मजाय नमः' से यज्ञोपवीत, ९ 'रुद्रपुत्राय नमः' से गन्ध, १० 'विघ्नहर्त्रे नमः' से अक्षत, ११ 'परशुधारिणे नमः' से पुष्प, १२ 'भवानीप्रीतिकर्त्रे नमः' से धूप, १३ 'गजकर्णाय नमः' से दीपक, १४ 'अघनाशिने नमः' से नैवेद्य(-आचमन), १५ 'सिद्धिदाय नमः' से ताम्बूल और १६ 'सर्वभोगदायिने नमः' से दक्षिणा अर्पण करके 'षोडशोपचार' पूजन करे। और कर्पूर अथवा घीकी बत्ती जलाकर नीराजन करे। इसके पीछे दूर्वाके दो अङ्कुर लेकर 'गणाधिपाय नमः २, उमापुत्राय नमः २, अघनाशाय नमः २, एकदन्ताय नमः २, इभवक्त्राय नमः २, मूषकवाहनाय नमः २, विनायकाय नमः २, ईशपुत्राय नमः २, सर्वसिद्धिप्रदाय नमः २, कुमारगुरवे नमः २ और 'गणाधिप नमस्तेऽस्तु उमापुत्राघनाशन। एकदन्तेभवक्त्रेति तथा मूषकवाहन। विनायकेशपुत्रेति सर्वसिद्धिप्रदायक। कुमारगुरवे तुभ्यं पूजयामि प्रयत्नतः॥' इनमें आरम्भसे १० मन्त्रोंद्वारा दो-दो और अन्तके पूरे मन्त्रसे एक दूर्वा अर्पण करके—'यज्ञेन यज्ञ०' से मन्त्र-पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। और 'संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा सङ्कष्टभूतं सुमुख प्रसीद। त्वं त्राहि मां मोचय कष्टसंघान्नमो नमो विघ्नविनाशनाय॥' से नमस्कार करके 'श्रीविप्राय नमस्तुभ्यं साक्षाद्देवस्वरूपिणे। गणेशप्रीतये तुभ्यं मोदकान् वै ददाम्यहम्॥' से मोदक, सुपारी, मूँग और दक्षिणा रखकर वायन (बायना) दे। ...... इसके बाद चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका गन्ध-पुष्पादिसे विधिवत् पूजन करके 'ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' से चन्द्रमाको अर्घ्य देकर 'नभोमण्डलदीपाय शिरोरत्नाय धूर्जटेः। कलाभिर्वर्धमानाय नमश्चन्द्राय चारवे॥' से प्रार्थना करे। फिर 'गणेशाय नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक। सङ्कष्टं हर मे देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' से गणेशजीको ३ अर्घ्य देकर—'तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धिप्रदायिके॥' से तिथिको अर्घ्य दे। पीछे सुपूजित गणेशजीका 'आयातस्त्वमुमापुत्र ममानुग्रहकाम्यया। पूजितोऽसि मया भक्त्या गच्छ स्थानं स्वकं प्रभो॥' से विसर्जन कर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और स्वयं तैलवर्जित एक बार भोजन करे। ...... यह व्रत गणेशजीका है, फिर इसमें चन्द्रमाका प्राधान्य क्यों माना गया है? इस विषयमें ब्रह्माण्डपुराणमें लिखा है कि पार्वतीने गणेशजीको प्रकट किया, उस समय इन्द्र-चन्द्रादि सभी देवताओंने आकर उनका दर्शन किया किन्तु शनिदेव दूर रहे। कारण यह था कि उनकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी और पदार्थके टुकड़े हो जाते थे। परन्तु पार्वतीके रुष्ट होनेसे शनिने गणेशजीपर दृष्टि दी। फल यह हुआ कि गणेशजीका मस्तक उड़कर अमृतमय चन्द्रमण्डलमें चला गया। ...... दूसरी कथा यह है कि पार्वतीने अपने शरीरके मैलसे गणेशजीको उत्पन्न करके उनको द्वारपर बैठा दिया। जब थोड़ी देर बाद शिवजी आकर अंदर जाने लगे तो गणेशजीने

१. यदा संक्लेशितो मर्त्यो नानादुःखैश्च दारुणैः।
तदा कृष्णे चतुर्थ्यां वै पूजनीयो गणाधिपः॥
(भविष्यपुराण)

२. चतुर्थी गणनाथस्य मातृविद्धा प्रशस्यते।
मध्याह्नव्यापिनी चेत्स्यात्परतश्चेत्परेऽहनि॥
(बृहस्पति)

उनको नहीं जाने दिया। तब उन्होंने अनजानमें अपने त्रिशूलसे उनका मस्तक काट डाला और वह चन्द्रलोकमें चला गया। इधर पार्वतीकी प्रसन्नताके लिये शिवजीने हाथीके सद्योजात बच्चेका मस्तक मँगवाकर गणेशजीके जोड़ दिया। विज्ञानियोंका विश्वास है कि गणेशजीका असली मस्तक चन्द्रमामें है और इसी सम्भावनासे चन्द्रमाका दर्शन किया जाता है।······यह व्रत ४ या १३ वर्षतक करनेका है। अतः अवधि समाप्त होनेपर इसका उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्र मण्डलपर कलश स्थापन करके उसपर गणेशजीकी स्वर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादि धारण कराये। उसी जगह चाँदीके चन्द्रमाका अर्चन करे। नैवेद्यमें 'इक्षवः सक्तवो रम्भाफलानि चिमटास्तथा। मोदका नारिकेलानि लाजा द्रव्याष्टकं स्मृतम्॥' का ग्रहण करे। घी, तिल, शर्करा और बिजौरेके टुकड़ोंको एकत्र करके इनका यथाविधि हवन करे। इसके पीछे २१ मोदक लेकर १ गणञ्जय, २ गणपति, ३ हेरम्ब, ४ धरणीधर, ५ महागणाधिपति, ६ यज्ञेश्वर, ७ शीघ्रप्रसाद, ८ अभङ्गसिद्धि, ९ अमृत, १० मन्त्रज्ञ, ११ किन्नाम, १२ द्विपद, १३ सुमङ्गल, १४ बीज, १५ आशापूरक, १६ वरद, १७ शिव, १८ कश्यप, १९ नन्दन, २० सिद्धिनाथ और २१ ढुण्ढिराज—इन नामोंसे एक-एक मोदक अर्पण करे। इसके अतिरिक्त गोदान, शय्यादान आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। उक्त २१ मोदकोंमें १ गणेशजीके लिये छोड़ दे, १० ब्राह्मणोंको दे और १० अपने लिये रक्खे।······कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें मयूरध्वज नामका राजा बड़ा प्रभावशाली और धर्मज्ञ था। एक बार उसका पुत्र कहीं खो गया और बहुत अनुसन्धान करनेपर भी न मिला। तब मन्त्रिपुत्रकी धर्मवती स्त्रीके अनुरोधसे राजाके सम्पूर्ण परिवारने चैत्र कृष्ण चतुर्थीका बड़े समारोहसे यथाविधि व्रत किया। तब भगवान् गणेशजीकी कृपासे राजपुत्र आ गया और उसने मयूरध्वजकी आजीवन सेवा की।

(४) **शीतलाष्टमी** (स्कन्दपुराण)—इस देशमें शीतलाष्टमीका व्रत केवल चैत्र कृष्ण अष्टमीको होता है, किन्तु स्कन्दपुराणमें चैत्रादि ४ महीनोंमें इस व्रतके करनेका विधान है। इसमें पूर्वविद्धा अष्टमी[1] ली जाती है। व्रतीको चाहिये कि अष्टमीको शीतल जलसे प्रातःस्नानादि करके 'मम गेहे शीतलारोगजनितोपद्रवप्रशमनपूर्वकायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्धये शीतलाष्टमीव्रतं करिष्ये।' यह संकल्प करे। तदनन्तर सुगन्धियुक्त गन्ध-पुष्पादिसे शीतलाका पूजन करके प्रत्येक प्रकारके मेवे, मिठाई, पूआ, पूरी, दाल-भात, लपसी और रोटी-तरकारी आदि कच्चे-पक्के, सभी शीतल पदार्थ (पहले दिनके बनाये हुए) भोग लगाये। और शीतलास्तोत्रका पाठ करके रात्रिमें जागरण और दीपावली करे। नैवेद्यमें यह विशेषता है कि चातुर्मासीय व्रत हो तो—१ चैत्रमें शीतल पदार्थ, २ वैशाखमें घी और शर्करासे युक्त सत्तू, ३ ज्येष्ठमें पूर्व दिनके बनाये हुए अपूप (पूए) और ४ आषाढ़में घी और शक्कर मिली हुई खीरका नैवेद्य अर्पण करे[2]। इस प्रकार करनेसे व्रतीके कुलमें दाहज्वर, पीतज्वर, विस्फोटक, दुर्गन्धयुक्त फोड़े, नेत्रोंके समस्त रोग, शीतलाकी फुन्सियोंके चिह्न और शीतलाजनित सर्वदोष दूर होते हैं और शीतला सदैव सन्तुष्ट रहती है। शीतलास्तोत्रमें[3] शीतलाका जो स्वरूप बतलाया है, वह शीतलाके रोगीके लिये बहुत हितकारी है। उसमें बतलाया है कि 'शीतला दिगम्बरा है, गर्दभपर आरूढ़ रहती है, शूप, मार्जनी (झाड़ू) और नीमके पत्तोंसे अलङ्कृत होती है और हाथमें शीतल जलका कलश रखती है।' वास्तवमें शीतलाके रोगीके सर्वांगमें दाहयुक्त फोड़े होनेसे वह बिल्कुल नग्न हो जाता है। 'गर्दभपिण्डी' (गधेकी लीद) की गन्धसे फोड़ोंकी पीड़ा कम होती है। शूपके काम (अन्नकी सफाई आदि) करने और झाड़ू लगानेसे बीमारी बढ़ जाती है, अतः इन कामोंको सर्वथा बंद रखनेके लिये शूप और झाड़ू बीमारके समीप रखते हैं। नीमके पत्तोंसे शीतलाके फोड़े सड़ नहीं सकते। और शीतल जलके कलशका समीप रखना तो आवश्यक है ही।

(५) **सन्तानाष्टमी** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह व्रत भी

---

१. व्रतमात्रेऽष्टमी कृष्णा पूर्वा शुक्लाष्टमी परा। (माधव)

२. भक्षयेद्वटकान् पूर्वाश्चैत्रे शीतजलान्वितान्।
वैशाखे सक्तुकं तावत्साज्यं शर्करयान्वितम्॥
एवं या कुरुते नारी व्रतं वर्षचतुष्टयम्।
तत्कुले नोपसर्पन्ति गलगण्डग्रहादयः॥
विस्फोटकभयं घोरं कुले तस्य न जायते।
शीतले ज्वरदग्धस्य पूतगन्धगतस्य च॥
प्रणष्टचक्षुषः पुंसस्त्वामाहुर्जीवनौषधम्।
(स्कन्द०)

३. वन्देऽहं शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम्।
मार्जनीकलशोपेतां शूर्पालङ्कृतमस्तकाम्॥
(शीतलास्तोत्र)

चैत्र कृष्ण अष्टमीको ही किया जाता है। इसमें प्रातः-स्नानादिके बाद श्रीकृष्ण और देवकीका गन्धादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें सात्त्विक पदार्थोंका भोग लगाये।

(६) **कृष्णैकादशी** (नानापुराणस्मृति)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंके शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंमें किया जाता है[1]। फल दोनोंका ही समान है। शुक्ल और कृष्णमें कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार शिव और विष्णु दोनों आराध्य हैं, उसी प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंकी एकादशी उपोष्य है[2]। विशेषता यह है कि पुत्रवान् गृहस्थ शुक्ल एकादशी और वानप्रस्थ, संन्यासी तथा विधवा दोनोंका व्रत करें तो उत्तम होता है[3]। इसमें शैव और वैष्णवका भेद भी आवश्यक नहीं; क्योंकि जो जीवमात्रको समान समझे, निजाचारमें रत रहे और अपने प्रत्येक कार्यको विष्णु और शिवके अर्पण करता रहे, वही शैव और वैष्णव होता है। अतः दोनोंके श्रेष्ठ बर्ताव एक होनेसे शैव और वैष्णवोंमें अपने-आप ही अभेद हो जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट प्रभावके कारण ही शास्त्रोंमें एकादशीका महत्त्व अधिक माना गया है।······इसके शुद्धा और विद्धा—ये दो भेद हैं। दशमी आदिसे विद्ध हो वह 'विद्धा' और अविद्ध हो वह 'शुद्धा' होती है। इस व्रतको शैव, वैष्णव और सौर—सब करते हैं[6]। वेधके विषयमें बहुतोंके विभिन्न मत हैं। उनको शैव, वैष्णव और सौर पृथक्-पृथक् ग्रहण करते हैं। (१) सिद्धान्तरूपसे उदयव्यापिनी ली जाती है। परन्तु उसकी उपलब्धि सदैव नहीं होती। इस कारण (२) कोई पहले दिनकी ४५ घड़ी दशमीको त्यागते हैं। (३) कोई ५५ घड़ीका वेध निषिद्ध मानते हैं। (४) कई दशमी और द्वादशीके योगकी एकादशीको त्यागकर द्वादशीका व्रत करते हैं। (५) कई एकादशीको ही उपोष्य बतलाते हैं। (६) मत्स्यपुराणके मतानुसार क्षय एकादशी निषिद्ध होती है। (७) जिस दिन दशमी (अनुमान) १। १५, एकादशी ५७। २२ और द्वादशी १। १३ हो उस दिन एकादशीका क्षय हो जाता है। (८) किसीके मतमें दशमी ४५ से जितनी ज्यादा हो उतना ही ज्यादा बुरा वेध होता है। यथा ४५ का 'कपाल', ५२ का 'छाया', ५३ का 'ग्रासाख्य', ५४ का 'सम्पूर्ण', ५५ का 'सुप्रसिद्ध', ५६ का 'महावेध', ५७ का 'प्रलयाख्य', ५८ का 'महाप्रलयाख्य', ५९ का 'घोराख्य' और ६० का 'राक्षसाख्य' वेध होता है। ये सब साम्प्रदायिक वेध हैं। और (९) वैष्णवोंमें ४५ तथा ५५ का वेध त्याज्य होता है।······एकादशीके १ उन्मीलिनी, २ वञ्जुली, ३ त्रिस्पृशा, ४ पक्षवर्धिनी, ५ जया, ६ विजया, ७ जयन्ती और ८ पापनाशिनी—ये आठ भेद और हैं। इनमें त्रिस्पृशा (तीनको स्पर्श करनेवाली) एकादशी (यथा सूर्योदयमें एकादशी, तत्पश्चात् द्वादशी और दूसरे सूर्योदयमें त्रयोदशी हो वह) महाफल देनेवाली मानी गयी है[7]।······एकादशीके नित्य और काम्य दो भेद हैं। निष्काम की जाय, वह 'नित्य' और धन-पुत्रादिकी प्राप्ति अथवा रोग-दोषादिकी निवृत्तिके निमित्त की जाय, वह 'काम्य' होती है। नित्यमें मलमास या शुक्रास्तादिकी मनाही नहीं, किन्तु काम्यमें शुभ समय होनेकी आवश्यकता है। व्रतविधि सकाम और निष्काम दोनोंकी एक है। यदि असामर्थ्य अथवा आपत्ति आदि

---

१. एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
(सनत्कुमार)

२. यथा विष्णुः शिवश्चैव तथैवैकादशी स्मृता।
(वराहपुराण)

३. विधवाया वनस्थस्य यतेश्चैकादशीद्वये।
उपवासो गृहस्थस्य शुक्लायामेव पुत्रिणः॥
(कालादर्श)

४. समात्मा सर्वभूतेषु निजाचारादविप्लुतः।
विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते (शैवः खलूच्यते)॥
(स्कन्द)

५. संसाराख्यमहाघोरदुःखिनां सर्वदेहिनाम्।
एकादश्युपवासोऽयं निर्मितं परमौषधम्॥
(वसिष्ठ)

एकादशीं परित्यज्य योऽन्यव्रतमुपासते।
स करस्थं महारत्नं त्यक्त्वा लोष्टं हि याचते॥
(स्मृत्यन्तर)

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्णाशीतिवत्सरः।
एकादश्यामुपवसेत्पक्षयोरुभयोरपि॥
(कात्यायन)

६. वैष्णवो वाथ शैवो वा सौरोऽप्येतत्समाचरेत्।
(सौरपुराण)

७. अरुणोदय आद्या स्याद् द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

८. एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।
उपवासेन दानेन न निर्द्वादशिको भवेत्॥
(मार्कण्डेय)

अमिट कारणोंसे नित्य व्रत न किया जा सके तो एकभक्त, नक्तव्रत, अयाचित अथवा दूसरेके द्वारा व्रत हो जाय तो कोई दोष नहीं। यद्यपि दिनक्षय, सूर्यसंक्रान्ति और चन्द्रादित्यके ग्रहणमें व्रत करना वर्जित है किन्तु एकादशीके नित्य व्रतके लिये ऐसे अवसरमें भी फल-मूलादिसे परिहार कर लेनेकी आज्ञा है। यदि एकादशीके नित्यव्रतके दिन (माता, पिता आदिका) नैमित्तिक श्राद्ध आ जाय तो श्राद्ध और उपवास दोनों करे किन्तु श्राद्धीय भोजनको (जिसे पुत्रको भी करना चाहिये) दाहिने हाथमें लेकर सूँघ ले और गौको खिलाकर स्वयं उपवास रक्खे[2]।......व्रतके दूसरे दिन पारण किया जाता है। उस दिन यदि द्वादशी बहुत कम हो और नित्यकर्मके पूर्ण करनेमें देर लगे तो प्रातःकाल और मध्याह्नकालके दोनों काम उषाकालमें कर ले। यदि सङ्कटवश पारण न हो सके तो केवल जल पीकर पारण करे। इनके अतिरिक्त अन्य विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंमें यथास्थान दिये गये हैं।... एकादशीका व्रत करनेवालेको चाहिये कि वह प्रथमारम्भका व्रत मलमासादिमें न करे। गुरु-शुक्रके उदयके चैत्र, वैशाख, माघ या मार्गशीर्षकी एकादशीसे आरम्भ करके श्रद्धा, भक्ति और सदाचारसहित सदैव करता रहे। व्रतके (दशमी, एकादशी और द्वादशी—इन) तीन दिनोंमें कांस्यपात्र, मसूर, चने, मिथ्याभाषण, शाक, शहद, तेल, मैथुन, द्यूत और अत्यम्बुपान—इनका सेवन न करे।......व्रतके पहले दिन (दशमीको) और दूसरे दिन (द्वादशीको) हविष्यान्न (जौ, गेहूँ, मूँग, सेंधा नमक, काली मिर्च, शर्करा और गोघृत आदि) का एक बार भोजन करे। दशमीकी रातमें एकादशीके व्रतका स्मरण रक्खे और एकादशीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'मम कायिकवाचिकमानससांसर्गिकपातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्तये श्रीपरमेश्वरप्रीतिकामनया विजयैकादशीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके जितेन्द्रिय होकर श्रद्धा, भक्ति और विधिसहित भगवान्का पूजन करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि अर्पण करके नीराजन करे। तत्पश्चात् जप, हवन, स्तोत्रपाठ और मनोहर गायन-वादन और नृत्य करके प्रदक्षिणा और दण्डवत् करे। इस प्रकार भगवान्की सेवा और स्मरणमें दिन व्यतीत करके रात्रिमें कथा, वार्ता, स्तोत्रपाठ अथवा भजन आदिके साथ जागरण करे। फिर द्वादशीको पुनः पूजन करनेके पश्चात् पारण करे[3]।......यद्यपि एकादशीका उपवास अस्सी वर्षकी आयु होनेतक करते रहना आवश्यक है, किन्तु असामर्थ्यादिवश सदैव न बन सके तो उद्यापन करके समाप्त करे। उद्यापनमें सर्वतोभद्रमण्डलपर सुवर्णादिका कलश स्थापन करके उसपर भगवान्की स्वर्णमयी मूर्तिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन करे। घी, तिल, खीर और मेवा आदिसे हवन करे। दूसरे दिन द्वादशीको प्रातःस्नानादिके पीछे गोदान, अन्नदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मण-भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। ब्राह्मण-भोजनके लिये २६ द्विजदम्पतियोंको सात्त्विक पदार्थोंका भोजन कराके सुपूजित और वस्त्रादिसे भूषित २६ कलश (प्रत्येकको एक-एक) दे।......चैत्र कृष्ण एकादशी 'पापमोचिनी' है। यह पापोंसे मुक्त करती है। च्यवन ऋषिके उत्कृष्ट तपस्वी पुत्र मेधावीने मञ्जुघोषाके संसर्गसे अपना सम्पूर्ण तप-तेज खो दिया था, किन्तु पिताने उससे चैत्र कृष्ण एकादशीका व्रत करवाया। तब उसके प्रभावसे मेधावीके सब पाप नष्ट हो गये और वह यथापूर्व अपने धर्म-कर्म, सदनुष्ठान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गया।

(७) वारुणीयोग[4] (वाचस्पति-निबन्ध)—यह पुण्य-

---

१. दिनक्षयेऽर्कसंक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
उपवासं न कुर्वीत पुत्रपौत्रसमन्वितः॥
(मत्स्यपुराण)

२. उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत्।
उपवासं तदा कुर्यादाघ्राय पितृसेवितम्॥
(कात्यायन)

३. स्नात्वा सम्यग्विधानेन सोपवासो जितेन्द्रियः।
सम्पूज्य विधिवद्विष्णुं श्रद्धया सुसमाहितः॥
पुष्पैर्गन्धैस्तथा धूपैर्दीपैर्नैवेद्यकैः परैः।
उपचारैर्बहुविधैर्जपहोमप्रदक्षिणैः॥
स्तोत्रैर्नानाविधैर्दिव्यैर्गीतवाद्यमनोहरैः।
दण्डवत् प्रणिपातैश्च जयशब्दैस्तथोत्तमैः॥
गीतैर्वाद्यैः संस्तवैश्च पुराणश्रवणादिभिः।
एवं सम्पूज्य विधिवद्रात्रौ कृत्वा प्रजागरम्॥
याति विष्णोः परं स्थानं नरो नास्त्यत्र संशयः।
(ब्रह्मपुराण)

४. चैत्रासिते वारुणऋक्षयुक्ता त्रयोदशी सूर्यसुतस्य वारे।
योगे शुभे सा महती महत्या गङ्गाजलेऽर्कग्रहकोटितुल्या॥
(त्रिस्थलीसेतु)

प्रद महायोग तीन प्रकारका होता है। पहला चैत्र कृष्ण त्रयोदशीको वारुण नक्षत्र (शतभिषा) हो तो 'वारुणी', दूसरा उसी दिन शतभिषा और शनिवार हों तो 'महावारुणी' और तीसरा शतभिषा, शनिवार और शुभ योग हो तो 'महा-महावारुणी' होता है। इस योगमें गङ्गादि तीर्थस्थानोंमें स्नान, दान और उपवासादि करनेसे शतशः सूर्यग्रहणोंके समान फल होता है। उस दिनका पुण्यकाल पञ्चाङ्गसे ज्ञात हो सकता है। (उदाहरणार्थ तीनों योग इस प्रकार होते हैं। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी १३ । ७, शतभिषा १७ । ५—इस दिन प्रातः १३ । ७ तक 'वारुणी'; चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५ । १५, शतभिषा ३० । ३२—इस दिन ५ । १५ तक महावारुणी; और चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५० । ५५, शतभिषा २२ । २० और शुभयोग १३ । ७—इस दिन पूर्वाह्नमें १३ घड़ी ७ पलतक महामहावारुणी मानना चाहिये। त्रयोदशीमें नक्षत्रादि जितनी देर रहें उतनी घड़ीतक वारुणी आदि रहते हैं।)

(८) प्रदोषव्रत (स्कन्दपुराण)—यह व्रत शिवजीकी प्रसन्नता और प्रभुत्वकी प्राप्तिके प्रयोजनसे प्रत्येक मासके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है। शिवपूजन और रात्रि-भोजनके अनुरोधसे इसे 'प्रदोष'[1] कहते हैं। इसका समय सूर्यास्तसे दो घड़ी रात बीतनेतक[2] है। जो मनुष्य प्रदोषके समय परमेश्वर (शिवजी) के चरण-कमलका अनन्य मनसे आश्रय लेता है उसके धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव और सुख-सम्पत्ति सदैव बढ़ते रहते हैं[3]। यदि कृष्ण पक्षमें सोम और शुक्ल पक्षमें शनि हो तो उस प्रदोषका विशेष फल होता है[4]। कृष्ण-प्रदोषमें प्रदोषव्यापिनी परविद्धा त्रयोदशी ली जाती है[5]। उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवमूर्तिके समीप पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे और हाथमें जल, फल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर 'मम शिवप्रसाद-प्राप्तिकामनया प्रदोषव्रताङ्गीभूतं शिवपूजनं करिष्ये' यह सङ्कल्प करके भालपर भस्मके भव्य तिलक और गलेमें रुद्राक्षकी माला धारण करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प और बिल्व-पत्रादिसे उमा-महेश्वरका पद्धतिके अनुसार पूजन करे। यदि साक्षात् शिवमूर्तिका सान्निध्य प्राप्त न हो सके तो भीगी हुई चिकनी मिट्टीको 'हराय नमः' से ग्रहण करके 'महेश्वराय नमः' से कुक्कुटाण्ड अथवा कराङ्गुष्ठके प्रमाणकी मूर्ति बनाये। फिर 'शूलपाणये नमः' से प्रतिष्ठा और 'पिनाकपाणये नमः' से आवाहन करके 'शिवाय नमः' से स्नान कराये। और 'पशुपतये नमः' से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करे। तत्पश्चात् 'जय नाथ कृपासिन्धो जय भक्तार्तिभञ्जन। जय दुस्तरसंसारसागरोत्तारण प्रभो। प्रसीद मे महाभाग संसारार्तस्य खिद्यतः। सर्वपापक्षयं कृत्वा रक्ष मां परमेश्वर।' से प्रार्थना करके 'महादेवाय नमः' से पूजित मूर्तिका विसर्जन करे[6]।··· इस व्रतकी पूर्ण अवधि २१ वर्षकी है, परन्तु समय और सामर्थ्य न हो तो उद्यापन करके इसका विसर्जन करे। विशेष विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंसे जान सकते हैं।

(९) केदारदर्शन (पृथ्वीचन्द्रोदय)—चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको केदारनाथका ध्यान और मानसोपचार पूजन करके व्रत करे और बन सके तो गङ्गास्नान करके एकभुक्त व्रत करे तो इस व्रतके करनेसे केदारनाथके दर्शनोंके समान फल होता है और जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(१०) चैत्री अमा (हेमाद्रि)—चैत्र कृष्ण अमावस्या-को प्रातःस्नानादिके पीछे यथासामर्थ्य अन्न, गौ, सुवर्ण और वस्त्रादिका दान, पितरोंका श्राद्ध और देवताओंके समीप जप-ध्यान और पूजन करके ब्राह्मण-भोजन कराये तो बहुत पुण्य होता है। यदि इस दिन सोम, भौम अथवा गुरुवार हो तो ऐसे योगके दान-पुण्य, ब्राह्मण-भोजन और व्रतसे सूर्यपर्वके समान फल होता है।

(११) वह्निव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह चैत्र कृष्ण अमावस्याको किया जाता है। इसमें परविद्धा अमा लेनी चाहिये। व्रतके पहले दिन (चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको)

---

१. शिवपूजानक्तभोजनात्मकं प्रदोषम्। (हेमाद्रि)

२. प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते। (माधव)
प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकात्रयमिष्यते। (गौडग्रन्थ)

३. ये वै प्रदोषसमये परमेश्वरस्य कुर्वन्त्यनन्यमनसोऽङ्घ्रिसरोजसेवाम्।
नित्यं प्रवृद्धधनधान्यकलत्रपुत्रसौभाग्यसम्पदधिकास्त इहैव लोकाः॥ (स्कन्द०)

४. यदा त्रयोदशी कृष्णा सोमवारेण संयुता।
यदा त्रयोदशी शुक्ला मन्दवारेण संयुता॥
तदातीवफलं प्राप्तं धनपुत्रादिकं लभेत्। (हेमाद्रि)

५. शुक्लत्रयोदशी पूर्वा परा कृष्णा त्रयोदशी। (माधव)
यदा तु कृष्णपक्षे परविद्धा न लभ्यते तदा पूर्वविद्धा ग्राह्या। (वसिष्ठ)

६. हरो महेश्वरश्चैव शूलपाणिः पिनाकधृक्।
शिवः पशुपतिश्चैव महादेवेति पूजयेत्॥ (शिवपूजा)

नित्यके स्नानादिसे निवृत्त होकर अग्निदेवकी सुवर्णनिर्मित मूर्तिका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अमावस्याको 'ॐ अग्नये स्वाहा' इस मन्त्रसे तिल, घी और शर्कराका हवन करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेके पश्चात् वह्निकी मूर्ति ब्राह्मणको दे दे।

(१२) **पितृव्रत** (विष्णुधर्म)—चैत्र कृष्ण प्रतिपदासे अमावस्यातक प्रभास्वर, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, क्रव्याद, भूत, आज्यपति और सुकालिन् नामके पितरोंका पूजन करनेसे पित्रीश्वर प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **संवत्सर** (अनुसन्धानमञ्जूषा)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको पूजित होता है। इसमें मुख्यतया ब्रह्माजीका और उनकी निर्माण की हुई सृष्टिके प्रधान-प्रधान देवी-देवताओं, यक्ष-राक्षस-गन्धर्वों, ऋषि-मुनियों, मनुष्यों, नदियों, पर्वतों, पशु-पक्षियों और कीटाणुओंका ही नहीं—रोगों और उनके उपचारोंतकका पूजन किया जाता है। इससे यह स्वतः सूचित होता है कि संवत्सर सर्वप्रधान, महामान्य[1] है। संवत्सर उसे कहते हैं जिसमें मासादि भलीभाँति निवास करते रहें।[2] इसका दूसरा अर्थ है बारह महीनेका 'कालविशेष'। यही श्रुतिका[3] वाक्य भी है। जिस प्रकार महीनोंके चान्द्रादि तीन भेद हैं उसी प्रकार संवत्सरके भी सौर, सावन और चान्द्र—ये तीन भेद हैं।[4] परन्तु अधिमाससे चान्द्रमास १३ हो जाते हैं। ऐसा होनेसे संवत्सर १२ महीनेका नहीं रहता, १३ का हो जाता है। इसका स्मृतिकारोंने यह समाधान किया है कि 'बादरायणने अधिमासको ३०-३० दिनके दो महीने नहीं माने,[5] ६० दिनका एक महीना माना है।' इसलिये संवत्के बारह महीने ही हो जाते हैं। फिर भी १३ महीने माने जायँ तो दूसरे श्रुति-वाक्यके[6] अनुसार १३ मासका भी संवत्सर होता है। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार संवत्सरके सौर, सावन, चान्द्र, बार्हस्पत्य और नाक्षत्र—ये ५ भेद हैं। परन्तु धर्म-कर्म और लोक-व्यवहारमें चान्द्र संवत्सरकी प्रवृत्ति[7] ही विख्यात है।...चान्द्र संवत्सरका प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे होता है।[8] इसपर कोई यह पूछ सकते हैं कि जब चान्द्रमास कृष्ण प्रतिपदासे प्रारम्भ होते हैं तो संवत्सर शुक्लसे क्यों होता है। इसका समाधान यह है कि कृष्णके आरम्भमें मलमास आनेकी सम्भावना रहती है और शुक्लमें नहीं रहती। इस कारण संवत्सरकी प्रवृत्ति शुक्ल प्रतिपदासे ही अनुकूल होती है। इसके सिवा ब्रह्माजीने सृष्टिका[9] आरम्भ इसी शुक्ल प्रतिपदाको किया था और इसी दिन मत्स्यावतारका[10] प्रादुर्भाव तथा सत्ययुगका आरम्भ हुआ था। इस महत्त्वको मानकर भारतके महामहिम सार्वभौम सम्राट् विक्रमादित्यने भी अपने संवत्सरका आरम्भ (आजसे १ कम दो हजार वर्ष पहले) चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको ही किया था।......इसमें सन्देह नहीं कि विश्वके यावन्मात्र संवत्सरोंमें शालिवाहन शक और विक्रम संवत्सर—ये दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं। परन्तु शकका विशेषकर गणितमें प्रयोजन होता है और विक्रम-संवत्का इस देशमें गणित, फलित, लोक-व्यवहार और धर्मानुष्ठानोंके समय-ज्ञान आदिमें अमिट रूपसे उपयोग और आदर किया जाता है। प्रारम्भमें प्रतिपदा[11] लेनेका यह प्रयोजन है कि ब्रह्माजीने जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय इसको 'प्रवरा' (सर्वोत्तम) तिथि सूचित किया था। और वास्तवमें यह प्रवरा है ही।

---

१. कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥
अनादिरेष भगवान् कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात् स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मत्वान्महेश्वरः॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

२. स च संवत्सरः सम्यग् वसन्त्यस्मिन् मासादयः। (स्मृतिसार)

३. द्वादश मासाः संवत्सरः। (श्रुति)

४. चान्द्रसावनसौराणां त्रयः संवत्सरा अपि। (ब्रह्मसिद्धान्त)

५. 'षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः। (स्मृत्यन्तर)

६. अस्ति त्रयोदशमासः। (श्रुति)

७. स्मरेद् सर्वत्र कर्मादौ चान्द्रं संवत्सरं सदा।
नान्यं यस्माद्वत्सरादौ प्रवृत्तिस्तस्य कीर्तिता॥ (आर्ष्टिषेण)

८. चान्द्रोऽब्दो मधुशुक्लप्रतिपदारम्भः। (दीपिका)

९. चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। (ब्रह्मपुराण)

१०. कृते च प्रभवे चैत्रे प्रतिपच्छुक्लपक्षगा।
रेवत्यां योगविष्कम्भे दिवा द्वादशनाडिकाः॥
'मत्स्यरूपकुमार्यां च अवतीर्णो हरिः स्वयम्।
(स्मृतिकौस्तुभ)
ग्रन्थान्तरेषु चैत्रशुक्लतृतीयायां मत्स्यावतारः संसूचितः।

११. तिथीनां प्रवरा यस्माद् ब्रह्मणा समुदाहृता।
प्रतिपद्यापदे पूर्वं प्रतिपत्तेन सोच्यते॥
(भविष्योत्तर)

इसमें धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और राजनैतिक आदि अधिक महत्त्वके अनेक काम आरम्भ किये जाते हैं। इसमें संवत्सरका पूजन, नवरात्र (घट) स्थापन, ध्वजारोपण, तैलाभ्यङ्ग-स्नान, वर्षेशादिका फलपाठ, पारिभद्रका पत्र-प्राशन और प्रपास्थापन आदि लोकप्रसिद्ध और विश्वोपकारक अनेक काम होते हैं। इसके द्वारा सनातनी जनतामें सर्वत्र ही संवत्सरका महोत्सव मनाया जाता है।

(२) संवत्सरपूजन (ब्रह्माण्डपुराण)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। यदि चैत्र अधिक मास हो तो दूसरे चैत्रमें करना चाहिये। इसमें 'सम्मुखी' (सायाह्न-व्यापिनी) प्रतिपदा ली जाती है। ज्यौतिष शास्त्रके अनुसार उस दिन उदयमें जो वार हो, वही उस वर्षका राजा होता है। यदि उदयव्यापिनी दो दिन हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहले दिन जो वार हो, वह वर्षेश होता है। चैत्र मलमास हो तो पूजनादि सभी काम शुद्ध चैत्रमें करने चाहिये। मलमासमें कृष्ण पक्षके काम पहले महीनेमें और शुक्ल पक्षके काम दूसरेमें करने चाहिये। यथा शीतलापूजन प्रथम चैत्रमें और नवरात्र तथा गौरीपूजन दूसरे चैत्रमें होते हैं।...... चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य स्वजनपरिजनसहितस्य वा आयुरारोग्यैश्वर्यादि-सकलशुभफलोत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थं ब्रह्मादिसंवत्सरदेवतानां पूजनमहं करिष्ये' यह संकल्प करके नवनिर्मित समचौरस चौकी या बालूकी वेदीपर श्वेत वस्त्र बिछाये और उसपर हरिद्रा अथवा केसरसे रँगे हुए अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाकर उसपर सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापन करके 'ॐ ब्रह्मणे नमः'से ब्रह्माजीका आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, नीराजन, नमस्कार, पुष्पाञ्जलि और प्रार्थना—इन उपचारोंसे पूजन करे। इसी प्रकार १ कालाय, २ निमेषाय, ३ त्रुट्यै, ४ लवाय, ५ क्षणाय, ६ काष्ठायै, ७ कलायै, ८ सुषुम्णायै, ९ नाडिकायै, १० मुहूर्ताय, ११ निशाभ्यः, १२ पुण्यदिवसेभ्यः, १३ पक्षाभ्याम्, १४ मासेभ्यः, १५ षडृतुभ्यः, १६ अयनाभ्याम्, १७ संवत्सरपरिवत्सरे-डावत्सरानुवत्सरवत्सरेभ्यः, १८ कृतयुगादिभ्यः, १९ नवग्रहेभ्यः, २० अष्टाविंशतियोगेभ्यः, २१ द्वादशराशिभ्यः, २२ करणेभ्यः, २३ व्यतीपातेभ्यः, २४ प्रतिवर्षाधिपेभ्यः, २५ विशतेभ्यः, २६ सानुयात्रकुलनागेभ्यः, २७ चतुर्दशमनुभ्यः, २८ पञ्च-पुरन्दरेभ्यः, २९ दक्षकन्याभ्यः, ३० देव्यै, ३१ सुभद्रायै, ३२ जयायै, ३३ भृगुशास्त्राय, ३४ सर्वास्त्रजनकाय, ३५ बहुपुत्रपत्नीसहिताय, ३६ वृद्धयै, ३७ ऋद्धयै, ३८ निद्रायै, ३९ धनदाय, ४० गुह्यकस्वामिने, ४१ नलकूबरयक्षेभ्यः, ४२ शङ्खपद्मनिधिभ्याम्, ४३ भद्रकाल्यै, ४४ सुरभ्यै, ४५ वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यासंस्थायिभ्यः, ४६ नागयक्षसुपर्णेभ्यः, ४७ गरुडाय, ४८ अरुणाय, ४९ सप्तद्वीपेभ्यः, ५० सप्तसमुद्रेभ्यः, ५१ सागरेभ्यः, ५२ उत्तरकुरुभ्यः, ५३ ऐरावताय, ५४ भद्रा-श्वकेतुमालाय, ५५ इलावृताय, ५६ हरिवर्षाय, ५७ किम्पुरुषे-भ्यः, ५८ भारताय, ५९ नवखण्डेभ्यः, ६० सप्तपातालेभ्यः, ६१ सप्तनरकेभ्यः, ६२ कालाग्निरुद्रशेषेभ्यः, ६३ हरये क्रोड-रूपिणे, ६४ सप्तलोकेभ्यः, ६५ पञ्चमहाभूतेभ्यः, ६६ तमसे, ६७ तमःप्रकृत्यै, ६८ रजसे, ६९ रजःप्रकृत्यै, ७० प्रकृतये, ७१ पुरुषाय, ७२ अभिमानाय, ७३ अव्यक्तमूर्तये, ७४ हिम-प्रमुखपर्वतेभ्यः, ७५ पुराणेभ्यः, ७६ गंगादिसप्तनदीभ्यः, ७७ सप्तमुनिभ्यः, ७८ पुष्करादितीर्थेभ्यः, ७९ वितस्तादि-निम्नगाभ्यः, ८० चतुर्दशदीर्घाभ्यः, ८१ धारिणीभ्यः, ८२ धात्रीभ्यः, ८३ विधात्रीभ्यः, ८४ छन्दोभ्यः, ८५ सुरभ्यै-रावणाभ्याम्, ८६ उच्चैःश्रवसे, ८७ ध्रुवाय, ८८ धन्वन्तरये, ८९ शस्त्रास्त्राभ्याम् ९० विनायककुमाराभ्याम्, ९१ विघ्नेभ्यः, ९२ शाखाय, ९३ विशाखाय, ९४ नैगमेयाय, ९५ स्कन्दग्रहेभ्यः, ९६ स्कन्दमातृभ्यः ज्वराय रोगपतये, ९७ भस्मप्रहरणाय, ९८ ऋत्विग्भ्यः, ९९ वालखिल्याय, १०० काश्यपाय, १०१ अगस्तये, १०२ नारदाय, १०३ व्यासादिभ्यः, १०४ अप्सरोभ्यः, १०५ सोमपदेवेभ्यः, १०६ असोमपदेवेभ्यः, १०७ तुषितेभ्यः, १०८ द्वादशादित्येभ्यः, १०९ सगणैकादश-रुद्रेभ्यः, ११० दशपुण्येभ्यो विश्वेदेवेभ्यः, १११ अष्टवसुभ्यः, ११२ योगिभ्यः, ११३ द्वादशभृगुभ्यः, ११४ द्वादशाङ्गिरोभ्यः, ११५ तपस्विभ्यः, ११६ नासत्यदस्राभ्याम्, ११७ अश्विभ्याम्,

---

१. प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद् ध्वजारोपणं
स्नानं मंगलमाचरेद् द्विजवरैः साकं सुपूजोत्सवैः।
देवानां गुरुयोषितां च विभवालंकारवस्त्रादिभिः
संपूज्या गणकाः फलं च शृणुयात्तस्माच्च लाभप्रदम्॥
(उत्सवचन्द्रिका)

२. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी।'
(स्कन्दपुराण)

३. चैत्रे सितप्रतिपदि यो वारोऽर्कोदये स वर्षेशः।
उदयद्वितये पूर्वो नोदययुगलेऽपि पूर्वः स्यात्॥
(ज्योतिर्निबन्ध)

११८ द्वादशसाध्येभ्यः, ११९ द्वादशपौराणेभ्यः, १२० एकोनपञ्चाशद्मरुद्गणेभ्यः, १२१ शिल्पाचार्याय विश्वकर्मणे, १२२ सायुधसवाहनेभ्योऽष्टलोकपालेभ्यः, १२३ आयुधेभ्यः, १२४ वाहनेभ्यः, १२५ वर्मभ्यः, १२६ आसनेभ्यः, १२७ दुन्दुभिभ्यः, १२८ देवेभ्यः, १२९ दैत्यराक्षसगन्धर्वपिशाचेभ्यः, १३० सप्तभेदेभ्यः १३१ पितृभ्यः, १३२ प्रेतेभ्यः, १३३ सुसूक्ष्मदेवेभ्यः, १३४ भावगम्येभ्यः और १३५ बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने नमः परमात्मविष्णुमावाहयामि स्थापयामि—इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण देवताओंका पृथक्-पृथक् अथवा एकत्र यथाविधि पूजन करके 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षे क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥' से प्रार्थना करे। और विविध प्रकारके उत्तम और सात्त्विक पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद एक बार स्वयं भोजन करे। पूजनके समय नवीन पञ्चाङ्गसे उस वर्षके राजा, मन्त्री, सेनाध्यक्ष, धनाधिप, धान्याधिप, दुर्गाधिप, संवत्सरनिवास और फलाधिप आदिके फल श्रवण करे। निवासस्थानोंको ध्वजा, पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करे। द्वारदेश और देवीपूजाके स्थानमें सुपूजित घट स्थापन करे। पारिभद्रके कोमल पत्तों और पुष्पोंका चूर्ण करके उनमें काली मिरच, नमक, हींग, जीरा और अजमोद मिलाकर भक्षण करे। और सामर्थ्य हो तो 'प्रपा' (पौसरे)का स्थापन करे। निम्बपत्र-भक्षण और प्रपाके प्रारम्भकी प्रार्थना टिप्पणीके मन्त्रोंसे करे। इस प्रकार करनेसे राजा, प्रजा और साम्राज्यमें वर्षपर्यन्त व्यापक शान्ति रहती है।

(३) **तिलकव्रत** (भविष्योत्तर)—यह व्रत चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त नदी या तालाबके तटपर जाकर अथवा घरपर ही पटवासकके चूर्णसे संवत्सरकी मूर्ति लिखकर उसका 'संवत्सराय नमः', 'चैत्राय नमः', 'वसन्ताय नमः' आदि नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मणका अर्चन करे। उस समय ब्राह्मण 'संवत्सरोऽसि०' मन्त्र पढ़े। तब 'भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षे क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥' से प्रार्थना करे। और दक्षिणा दे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षभर करे तो भूत-प्रेत-पिशाचादिकी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं।

(४) **आरोग्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त पहले दिन व्रत करके प्रतिपदाको एक चौकीपर अनेक प्रकारके कमल बिछाकर उनमें सूर्यका ध्यान करे। श्वेत वर्णके सुगन्धित गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दही, चीनी, घी, पूए, दूध, भात और फल आदि अर्पण करे। वह्नि और ब्राह्मणको तृप्त करे। फिर सम्पूर्ण सामग्रीका एक-एक ग्रास भक्षण करे और शेषको त्याग दे। उसके बाद ब्राह्मणकी आज्ञा हो तब फिर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षपर्यन्त व्रत और शिवदर्शन करे तो सदैव आरोग्य रह सकता है।

(५) **विद्याव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको एक वेदीपर अक्षतोंका अष्टदल बनाकर उसके मध्यमें ब्रह्मा, पूर्वमें ऋक्, दक्षिणमें यजुः, पश्चिममें साम, उत्तरमें अथर्व, अग्निकोणमें षट्शास्त्र, नैर्ऋत्यमें धर्मशास्त्र, वायव्यमें पुराण और ईशानमें न्यायशास्त्रको स्थापन करे। और उन सबका नाम-मन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके व्रत रक्खे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको १२ महीने करके गोदान करे और फिर उसी प्रकार १२ वर्षतक यथावत् करता रहे तो वह महाविद्वान् बन सकता है।

(६) **नवरात्र** (नानाशास्त्र-पुराणादि)—ये चैत्र, आषाढ़, आश्विन और माघकी शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक नौ दिनके होते हैं; परन्तु प्रसिद्धिमें चैत्र और आश्विनके नवरात्र ही मुख्य माने जाते हैं। इनमें भी देवीभक्त आश्विनके नवरात्र अधिक करते हैं। इनको यथाक्रम वासन्ती और शारदीय कहते हैं। इनका आरम्भ चैत्र और आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको होता है। अतः यह प्रतिपदा 'सम्मुखी' शुभ

---

१. शकवत्सरभूपमन्त्रिणां रसधान्येश्वरमेघपातिनाम्।
श्रवणात् पठनाच्च वै नृणां शुभतां यात्यशुभं सहाश्रिया॥
(ज्योतिर्निबन्ध)

२. पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः॥
मरिचं लवणं हिङ्गु जीरकेण च संयुतम्।
अजमोदयुतं कृत्वा भक्षयेद्रोगशान्तये॥
(पञ्चाङ्गपारिजात)

३. प्रपेयं सर्वसामान्या भूतेभ्यः प्रतिपादिता।
अस्याः प्रदानात् पितरस्तृप्यन्तु च पितामहाः॥
(दानचन्द्रिका)

४. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसि अनुवत्सरोऽसि वत्सरोऽसि।'
(यजुर्वेद)

५. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी॥'
(स्कन्द)

होती है। नवरात्रोंके आरम्भमें अमायुक्त प्रतिपदा अच्छी नहीं ।[1] आरम्भमें घटस्थापनके समय यदि चित्रा और वैधृति हों तो उनका त्याग कर देना चाहिये;[2] क्योंकि चित्रामें धनका और वैधृतिमें पुत्रका नाश होता है।[3] घटस्थापनका समय 'प्रातःकाल' है।[4] अतः उस दिन चित्रा या वैधृति रात्रितक रहें (और रात्रिमें नवरात्रोंका स्थापन या आरम्भ होता नहीं,[5]) तो या तो वैधृत्यादिके आद्य तीन अंश त्यागकर चौथे अंशमें करे[6] या मध्याह्नके समय (अभिजित् मुहूर्तमें) स्थापन करे।[7] स्मरण रहे कि देवीका आवाहन, प्रवेशन, नित्यार्चन और विसर्जन—ये सब प्रातःकालमें शुभ होते हैं।[8] अतः उचित समयका अनुपयोग न होने दे। स्त्री हो या पुरुष, सबको नवरात्र करने चाहिये। यदि कारणवश स्वयं न कर सकें तो प्रतिनिधि (पति-पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, सहोदर या ब्राह्मण) द्वारा करायें।[9] नवरात्र नौ रात्रि पूर्ण होनेसे पूर्ण होते हैं। इसलिये यदि इतना समय न मिले या सामर्थ्य न हो तो सात[10], पाँच, तीन या एक दिन व्रत करे और व्रतमें भी उपवास, अयाचित, नक्त या एकभक्त—जो बन सके यथासामर्थ्य वही कर ले। यदि नवरात्रोंमें घटस्थापन करनेके बाद सूतक[11] हो जाय तो कोई दोष नहीं, परन्तु पहले हो जाय तो पूजनादि स्वयं न करे।[12] चैत्रके नवरात्रोंमें शक्तिकी उपासना तो प्रसिद्ध ही है; साथ ही शक्तिधरकी उपासना भी की जाती है। उदाहरणार्थ एक ओर देवीभागवत, कालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण, नवार्णमन्त्रके पुरश्चरण और दुर्गापाठकी शतसहस्रायुतचण्डी आदि होते हैं तो दूसरी ओर श्रीमद्भागवत, अध्यात्मरामायण, वाल्मीकीय रामायण, तुलसीकृत रामायण, राममन्त्र-पुरश्चरण, एक-तीन-पाँच-सात दिनकी या नवाह्निक अखण्ड रामनामध्वनि और रामलीला आदि किये जाते हैं। *यही कारण है कि—ये 'देवी-नवरात्र' और 'राम-नवरात्र'* नामोंसे प्रसिद्ध हैं। नवरात्रका प्रयोग प्रारम्भ करनेके पहले सुगन्धियुक्त तैलके उद्वर्तनादिसे मङ्गलस्नान करके नित्यकर्म करे। और स्थिर शान्तिके पवित्र स्थानमें शुभ मृत्तिकाकी वेदी बनाये। उसमें जौ और गेहूँ—इन दोनोंको मिलाकर बोये। वहीं सोने, चाँदी, ताँबे या मिट्टीके कलशको यथाविधि स्थापन करके गणेशादिका पूजन और पुण्याहवाचन करे। और पीछे देवी (या देव) के समीप शुभासनपर पूर्व (या उत्तर)-मुख बैठकर 'मम महामायाभगवती (वा मायाधिपतिभगवत्) प्रीतये (आयुर्बलवित्तारोग्यसमादरादिप्राप्तये वा) नवरात्रव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करके मण्डलके मध्यमें रक्खे हुए कलशपर सोने, चाँदी, धातु, पाषाण, मृत्तिका या चित्रमय मूर्ति विराजमान करे और उसका आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, नीराजन, पुष्पाञ्जलि, नमस्कार और प्रार्थना आदि उपचारोंसे पूजन करे। इसके बाद यदि सामर्थ्य हो तो नौ दिनतक नौ (और यदि सामर्थ्य न हो तो सात, पाँच, तीन या एक) कन्याओंको देवी मानकर उनको गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित करके भोजन कराये और फिर आप भोजन करे। व्रतीको चाहिये कि उन दिनोंमें भूशयन, मिताहार, ब्रह्मचर्यका पालन, क्षमा, दया, उदारता एवं उत्साहादिकी वृद्धि और क्रोध, लोभ, मोहादि-

१. 'अमायुक्ता न कर्तव्या प्रतिपत् पूजने मम।' (देवीभागवत)

२. 'प्रारम्भं नवरात्रं स्याद्वित्वा चित्रां च वैधृतिम्।' (देवीभागवत)

३. 'वैधृतौ पुत्रनाशः स्याच्चित्रायां धननाशनम्।' (रुद्रयामल)

४. भास्करोदयमारभ्य यावत्तु दश नाडिकाः।
प्रातःकाल इति प्रोक्तः स्थापनारोपणादिषु॥ (विष्णुधर्म)

५. 'न च कुम्भाभिषेचनम्।' (रुद्रयामल)

६. 'त्याज्या अंशास्त्रयस्त्वाद्यास्तुरीयांशे तु पूजनम्।' (भविष्य)

७. संपूर्णा प्रतिपद्ध्येव चित्रायुक्ता यदा भवेत्।
वैधृत्या वापि युक्ता स्यात्तदा माध्यन्दिने रवौ॥
अभिजित्तु मुहूर्तं यत्तत्र स्थापनमिष्यते। (रुद्रयामल)

८. प्रातरावाहयेद्देवीं प्रातरेव प्रवेशयेत्।
प्रातः प्रातश्च सम्पूज्य प्रातरेव विसर्जयेत्॥ (देवीपुराण)

९. 'स्वयं वाप्यन्यतो वापि पूजयेत् पूजयीत वा।' (पूजापङ्कजभास्कर)

१०. अथात्र नवरात्रं च सप्तपञ्चत्रिकादि वा।
एकभक्तेन नक्तेनायाचितोपोषितैः क्रमात्॥ (दीक्षित)

११. व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम्॥ (विष्णु)

१२. 'त्रिकालं पूजयेद्देवीं जपस्तोत्रपरायणः।' (देवीभागवत)

का त्याग रक्खे । इस प्रकार नौ रात्रि व्यतीत होनेपर दसवें दिन प्रातःकालमें विसर्जन करे तो सब प्रकारके विपुल सुख-साधन सदैव प्रस्तुत रहते हैं । और भगवान् (या भगवती) प्रसन्न होते हैं ।

(७) **पञ्चरात्र** (भविष्यपुराण)—ये व्रत नवरात्रोंके अन्तर्गत किये जाते हैं । विशेषता यह है कि इनमें पञ्चमीको एकभुक्त व्रत करे, षष्ठीको नक्तव्रत रक्खे, सप्तमीको अयाचित भोजन करे, अष्टमीको अन्नवर्जित उपवास रक्खे और नवमी-को पारण करे तो इससे देवीकी प्रसन्नता बढ़ती है ।

(८) **बालेन्दुव्रत** (विष्णुधर्म)—यह चैत्र शुक्ल द्वितीयाको किया जाता है । इस दिन सूर्यास्तके समय शुद्ध जल-से स्नान करके चावलोंका बालेन्दुमण्डल बनाये अथवा चन्द्र-दर्शनके समय उसीमें बालेन्दुमण्डलकी कल्पना करके आकाशस्थ चन्द्रमाका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । ईख, गुड़, अक्षत, सुपारी और सैन्धव अर्पण करे । और 'बालचन्द्रमसे नमः' इस मन्त्रसे आहुति देकर भोजन करे । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको एक वर्षतक करनेसे सुख और भाग्यकी वृद्धि होती है । इसमें तैलपक्व पदार्थ खानेकी मनाही है ।

(९) **नेत्रव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी द्वितीयाको किया जाता है । इसके लिये सूर्य-चन्द्रस्वरूप अश्विनी-कुमारोंकी मूर्ति बनवाकर उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । ब्रह्मचर्यसे रहे । ब्राह्मणोंको सोने-चाँदीकी दक्षिणा दे और गौके दहीमें गौका घी मिलाकर भोजन करे । यह व्रत १२ वर्षतक किया जाता है और इसके करनेसे नेत्रोंकी ज्योति और मुख-मण्डलकी आभा बढ़ती है ।

(१०) **दोलनोत्सव** (व्रतरत्न)—चैत्र शुक्ल तृतीयाको प्रातःकालके समय जानकीनाथ रामचन्द्र भगवान्का राजोपचार पूजन करके उनको पालनेमें विराजमान कर झुलाये और इसी प्रकार सुरेश्वर और रमापतिको दोलारूढ़ करके उनके दर्शन करे तो सर्व पाप दूर होते हैं ।

(११) **गौरीतृतीया** (व्रतोत्सवसंग्रह)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) किया जाता है । सौभाग्यवती स्त्रियाँ उस दिन प्रातःस्नान करके उत्तम रंगीन वस्त्र (लाल धोती आदि) धारण करके शुद्ध स्थानमें २४ अंगुलकी सम-चौरस वेदी बनायें और उसपर केसर, चन्दन और कपूरसे मण्डल बनाकर उसमें सोने या चाँदीकी मूर्ति स्थापन करके अनेक प्रकारके फल, पुष्प, दूर्वा और गन्धादिसे पूजन करें । उसी जगह गौरी, उमा, लतिका, सुभगा, भगमालिनी, मनोन्मना, भवानी, कामदा, भोगवर्द्धिनी और अम्बिका—इनको भी गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित और सुशोभित करें । और भोजनमें केवल एक बार दूध पियें तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख प्राप्त होता है ।

(१२) **ईश्वर-गौरी** (व्रतोत्सव)—इसी दिन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) काष्ठादिकी पूर्वनिर्मित शिव-गौरीकी मूर्तियोंको स्नान करवाके उत्तम प्रकारके वस्त्र और आभूषणादिसे भूषित कर पूजन करे और डोल, पालने या सिंहासनादिमें उनको सावधानीके साथ विराजमान करके सायङ्कालके समय विविध प्रकारके गाजे-बाजे, लवाजमे, सौभाग्यवती स्त्रियों और सत्पुरुषोंके समारोहके साथ उनको नगरसे बाहर किसी पुष्पोद्यान या सरोवरके तटपर स्थापित करे और वहाँ कुछ कालतक क्रीड़ा-कौतुकादिकी कला प्रदर्शन करानेके पीछे उनको उसी प्रकार वापस लाकर यथास्थान स्थापित कर दे । इस प्रकार प्रतिवर्ष करते रहनेसे नगर, ग्राम और उपबस्ती आदिमें सर्वत्र ही उद्योग, उत्साह, आरोग्यता और सर्वसौख्य बढ़ते हैं ।

(१३) **गौरीविसर्जन** (व्रतोत्सव)—यह भी चैत्र शुक्ल तृतीयाको होता है । होलीके दूसरे दिन (चैत्र कृष्ण प्रतिपदा-) से जो कुमारी और विवाहिता बालिकाएँ प्रतिदिन गनगौर पूजती हैं, वे चैत्र शुक्ल द्वितीया (सिंजारे) के दिन किसी नद, नदी, तालाब या सरोवरपर जाकर अपनी पूजी हुई गनगौरों-को पानी पिलाती हैं और दूसरे दिन सायङ्कालके समय उनका विसर्जन कर देती हैं । यह व्रत विवाहिता लड़कियोंके लिये पतिका अनुराग उत्पन्न करानेवाला और कुमारिकाओंको उत्तम पति देनेवाला है ।

(१४) **श्रीव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल पञ्चमी-को किया जाता है । इसलिये तृतीयाको अभ्यङ्ग-स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करे । माला आदि भी सफेद ले और व्रतमें संलग्न रहे । घी, दही और भातका भोजन करे । चतुर्थीको स्नान करके व्रत रक्खे और पञ्चमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् लक्ष्मीका पूजन करे । पूजनमें धान्य, हलदी, अदरख, गन्ने, गुड़ और लवण आदि अर्पण करके कमलके पुष्पोंका लक्ष्मी-सूक्तसे हवन करे । यदि कमल न मिलें तो बेलके टुकड़ोंका, और वे भी न हों तो केवल घीका हवन करे । और पद्मिनी (कमलोंवाली तलाई) में स्नान करके सुवर्णका दान करे तो 'श्री' (लक्ष्मी) की प्राप्ति होती है ।

(१५) लक्ष्मीव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पञ्चमीको) किया जाता है । इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं ।

(१६) सौभाग्य-व्रत (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पञ्चमीको होता है । इसमें पृथ्वीका, पञ्चमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं ।

(१७) कुमारव्रत (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है । उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे । आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे । उपवास रक्खे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये । इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पञ्चमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है । शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमें आ सकता है । और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है ।

(१८) मोदनव्रत (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता है । उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्यनारायणका पूजन करे । ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे ।

(१९) नामसप्तमी (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है । और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है । यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढ़में वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्यता और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है ।

(२०) सूर्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है । इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या धोकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे । और कमलके प्रत्येक दलमें निम्नलिखित मूर्ति स्थापित करे । यथा पूर्वके दलपर दो ऋतुचारक 'गन्धर्व', आग्नेय पत्रपर दो ऋतुकारक 'गन्धर्व', दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो 'राक्षस', पश्चिमके दलपर ऋतुकारक दो 'महानाग', वायव्यके दलपर दो 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और ईशानके दलपर एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम पृथक्-पृथक् गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पञ्चोपचार पूजन करके सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और अन्य सबके निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे । और प्रत्येकके निमित्त एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये । इस प्रकार शुक्ल पक्षकी प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है ।

(२१) अशोककलिकाप्राशनव्रत (कृत्यरत्नावली, कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है । उस दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आशापाला) के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल पत्तोंकी आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे और 'त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम् । शोकार्तः कलिकां प्राश्य मामशोकं सदा कुरु ॥' से आठ कलिकाएँ भक्षण करके व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है । यदि उस दिन बुधवार हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकारका शोक नहीं होता ।

(२२) भवानीव्रत (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्टमीको भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन देवीका पूजन करके अपूप आदिका भोग लगाये और व्रत करे ।

(२३) रामनवमी (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी चारों जयन्तियोंमें गणना है । यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है । इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है । यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये । इसमें अष्टमीका वेध हो तो निषेध[१] नहीं, दशमीका वेध वर्जित है । ...... यह व्रत नित्य[२], नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है । नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त और

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिभिः ।
न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥
(दीक्षित)

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते ।
निष्कामानां विधानात्तु तद् काम्यं तावदिष्यते ॥
(रामार्चन)

अमिट फल होता है और किसी निमित्त या कामनासे किया जाय तो उसका यथेच्छ फल मिलता है। भगवान् रामचन्द्रका जन्म[1] हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार, पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परन्तु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।......जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महाफल मिलता है।......व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर 'उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मां हरे॥' इस मन्त्रसे भगवान्के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे। और 'मम भगवत्प्रीतिकामनया (वा मुकफलप्राप्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये' यह संकल्प करके काम-क्रोध-लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।...तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपञ्चायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ-प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी) की सुवर्ण-निर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णु-पूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजन-विधि है। उसके अनुसार पूजन करे।...उस[2] दिन दिनभर भगवान्का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण करे और दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण-भोजन कराये और इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

1. 'श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने जीवेन्दोः कीटराशौ मृगभगतकुजे श्रे झषे भेषगेऽर्के।
मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिगे मार्गत्रेये नवम्यां पञ्चोच्चे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥'
(रामचन्द्रजन्मपत्री)

2. चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद्रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितॄनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥
(रामार्चनचन्द्रिका)

(२४) मातृकाव्रत (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) शुक्लैकादशी (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके 'ममाखिल-पापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।......इसका कथा-सार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन-विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुखी हुई और श्रृङ्ग्यश्रृङ्गकी आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको पूर्वरूपमें प्राप्त किया।

(२६) मदनद्वादशी (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे। और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे और उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १३ महीने करे तो उसको पुत्र-शोक नहीं होता।

(२७) मदनपूजा (धर्मशास्त्रसमुच्चय)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम कपड़ेपर मदनदेवकी मनोमोहक मूर्ति अङ्कित करे

और उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके घीसे बनाये हुए मोदकारी मोदकोंका 'नमो रामाय कामाय कामदेवस्य मूर्तये । ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राणां नमः क्षेमकराय वै ॥' से नैवेद्य अर्पण करे । और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण करे तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख होता है ।

(२८) **प्रदोषव्रत** (व्रतविज्ञान)—यह अतिप्रशस्त सर्वाचरणीय श्रेष्ठ व्रत प्रत्येक मासकी शुक्ल और कृष्ण त्रयोदशीको किया जाता है । कृष्णका विधान पहले लिखा ही जा चुका है, उसीके अनुसार शुक्लका व्रत करना चाहिये । विशेषता यह है कि सन्तानके लिये 'शनिप्रदोष', ऋणमोचनके लिये 'भौमप्रदोष' और शान्तिरक्षाके लिये 'सोमप्रदोष' अधिक फलदायी हैं । इनके सिवा आयु और आरोग्यकी वृद्धिके लिये 'अर्कप्रदोष' उत्तम होता है । व्रतीको चाहिये कि उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवजीका पूजन करे और 'भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमते । रुद्राय नीलकण्ठाय शर्वाय शशिमौलिने ॥ उमायोघनाशाय भीमाय भयहारिणे । ईशानाय नमस्तुभ्यं पशूनां पतये नमः ॥' से प्रार्थना करके भोजन करे ।

(२९) **चैत्री पूर्णिमा** (पुराणसमुच्चय)—प्रत्येक मासकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमाका और तत्प्रकाशक सूर्यका तथा विष्णुरूप सत्यनारायणका व्रत किया जाता है । यह पूर्णिमा चन्द्रोदयव्यापिनी ली जाती है । इसमें देवपूजन, दान-पुण्य, तीर्थ-स्नान और पुराण-श्रवणादि करनेसे पूर्ण फल मिलता है । यदि इस दिन चित्रा हो तो विचित्र वस्त्रोंका दान करनेसे सौभाग्यकी वृद्धि होती है ।

(३०) **तिथीशपूजन** (धर्मानुसन्धान)—यह व्रत प्रतिपदादि प्रत्येक तिथिके स्वामीका पूजन करनेसे सम्पन्न होता है । विधान यह है कि प्रातःस्नानादिके पीछे वेदी या चौकीपर रक्त वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतोंका अष्टदल बनाये । उसके मध्यमें जिस दिन जो तिथि हो, उसके स्वामीकी सुवर्णमयी मूर्तिका पूजन करे । तिथियोंके स्वामी प्रतिपदाके 'अग्निदेव', द्वितीयाके 'ब्रह्मा', तृतीयाकी 'गौरी', चतुर्थीके 'गणेश', पञ्चमीके 'सर्प', षष्ठीके 'स्वामिकार्तिक', सप्तमीके 'सूर्य', अष्टमीके 'शिव' (भैरव), नवमीकी 'दुर्गा', दशमीके 'अन्तक' (यमराज), एकादशीके 'विश्वेदेवा', द्वादशीके 'हरि' (विष्णु), त्रयोदशीके 'कामदेव', चतुर्दशीके 'शिव', पूर्णिमाके 'चन्द्रमा' और अमाके 'पितर' हैं । इनका व्रत और पूजन प्रतिदिन करते रहनेसे हर्ष, उत्साह और आरोग्यकी वृद्धि होती है ।

(३१) **हनुमद्व्रत** (उत्सवसिन्धु-व्रतरत्नाकर)—यह व्रत हनुमान्‌जीकी जन्मतिथिका है । जिन पञ्चाङ्गोंके आधारसे व्रतोंका निर्णय किया जाता है, उनमें हनुमान्‌जीकी जन्मतिथि किसीमें कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी और किसीमें चैत्र शुक्ल पूर्णिमा है । किसी भी देवताकी अधिकृत या जन्मतिथि एक होती है, परन्तु हनुमान्‌जीकी दो मानते हैं । यह विशेषता है । इस विषयके ग्रन्थोंमें इन दोनोंके उल्लेख अवश्य हैं, परन्तु आशयोंमें भिन्नता है । पहला 'जन्मदिन' है और दूसरा 'विजयाभिनन्दन' का महोत्सव ।······'उत्सवसिन्धु'[1] में लिखा है कि—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, भौमवारको स्वाति नक्षत्र और मेष लग्नमें अञ्जनीके गर्भसे हनुमान्‌जीके रूपमें स्वयं शिवजी उत्पन्न हुए थे । 'व्रतरत्नाकर'[2] में भी यही है कि कार्तिक कृष्णकी भूततिथि (चतुर्दशी) को मङ्गलवारके दिन महानिशामें अञ्जनादेवीने हनुमान्‌जीको जन्म दिया था । दूसरे वाक्यकी अपेक्षा पहलेमें स्वाति नक्षत्र और मेष लग्न विशेष है । परन्तु कार्तिकीको कृत्तिका होनेसे कृष्ण चतुर्दशीको चित्रा या स्वातिका होना असम्भव नहीं ।······ इनके विपरीत 'हनुमदुपासनाकल्पद्रुम'[3] नामक ग्रन्थमें, जो एक महाविद्वान्‌का सङ्कलन किया हुआ है, चैत्र शुक्ल पूर्णिमा, मङ्गलवारके दिन मूँजकी मेखलासे युक्त, कौपीनसे संयुक्त और यज्ञोपवीतसे भूषित हनुमान्‌जीका उत्पन्न होना लिखा है । साथमें यह विशेष लिखा है कि 'कैकेयीके हाथसे चील्हके

---

१. ऊर्जस्य चासिते पक्षे स्वात्यां भौमे कपीश्वरः ।
मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भाच्छिवः प्रादुरभूत् स्वयम् ॥
(उत्सवसिन्धु)

२. कार्तिकस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि ।
भौमवारेऽञ्जना देवी हनुमन्तमजीजनत् ॥
(व्रतरत्नाकर)

३. चैत्रे मासि सिते पक्षे पौर्णमास्यां कुजेऽहनि ।
मौञ्जीमेखलया युक्तः कौपीनपरिधारकः ॥
(ह० क०)

४. कैकेयीहस्ततः पिण्डं जहार चिल्हिपक्षिणी ।
गच्छन्त्याकाशमार्गेण तदा वायुर्महानभूत् ॥
तुण्डात् प्रगलिते पिण्डे वायुनीत्वाञ्जनाञ्जली ।
क्षिप्तवान् स्थापितं पिण्डं भक्षयामास तत्क्षणात् ॥
नवमासगते पुत्रं सुषुवे साञ्जना शुभम् ।
(हनुमदुपासनाकल्पद्रुम)

द्वारा आयी हुई यज्ञकी खीर खानेसे अञ्जनाके हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए, यह अंश असम्बद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि स्कन्दपुराणादिमें कई कथाएँ ऐसी हैं, जिनसे हनुमान्‌जीका रामसे बहुत पहले उत्पन्न होना सूचित होता है। अस्तु।''''''रामचरित्रके अन्वेषणमें वाल्मीकीय रामायण अधिक मान्य है। उसमें हनुमान्‌जीकी जन्मकथा (किष्किन्धा-काण्ड सर्ग ६६ और उत्तरकाण्ड सर्ग ३५ में) पूर्ण रूपसे लिखी गयी है। उससे ज्ञात होता है कि अञ्जनीके उदरसे हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए। भूखे होनेसे ये आकाशमें उछल गये और उदय होते हुए सूर्यको फल समझकर उनके समीप चले गये। उस दिन पर्वतिथि (अमावास्या) होनेसे सूर्यको ग्रसनेके लिये राहु* आया था। परन्तु वह इनको दूसरा राहु मानकर भागने लगा, तब इन्द्रने अञ्जनीपुत्रपर वज्रका प्रहार किया, उससे उनकी ठोडी टेढ़ी हो गयी। इसीसे ये हनुमान् कहलाये। इस अंशमें चैत्र या कार्तिकका नाम नहीं है। सम्भव है कल्पभेद या भ्रान्तिवश अन्य ग्रन्थोंमें चैत्र लिखा गया हो।''''''हनुमान्‌जीका एक जन्मपत्र भी है, उसमें तिथि चतुर्दशी, वार मङ्गल, नक्षत्र चित्रा और मास अनिर्दिष्ट है। कुण्डलीमें सूर्य, मंगल, गुरु, भृगु और शनि—ये उच्चके हैं और ये ४, १, ७, ३ और १० इन स्थानोंमें यथाक्रम बैठे हैं। इन सबके देखनेसे यह तथ्य निकलता है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिमें हनुमान्‌जीका जन्म हुआ था। और चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको सीताकी खोज, राक्षसोंके उपमर्दन, लंकाके दहन और समुद्रके उल्लङ्घन आदिमें हनुमान्‌जीके विजयी होने और निरापद वापस लौटनेके उपलक्ष्यमें हर्षोन्मत्त वानरोंने मधुवनमें मनाया था और उससे सभी नर-वानर सुखी हुए थे। इस कारण उक्त दोनों दिनोंमें व्रत और उत्सव किया जाय तो 'अधिकस्याधिकं फलम्' तो होगा ही।''''''इस व्रतमें तात्कालिक (रात्रिव्यापिनी) तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो दूसरा व्रत करना चाहिये। व्रतीका कर्तव्य है कि वह हनुमज्जन्मदिनके व्रत-निमित्त धनत्रयोदशी (का० कृ० १३) की रात्रिमें राम-जानकी और हनुमान्‌जीका स्मरण करके पृथ्वीपर शयन करे। और रूपचतुर्दशी (का० कृ० १४) को अरुणोदयसे पहले उठकर राम-जानकी और हनुमान्‌जीका पुनः स्मरण करके प्रातःस्नानादिसे जल्दी निवृत्त हो ले। तत्पश्चात् हाथमें जल लेकर 'ममाखिलानिष्टनिरसनपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये तेजोबलबुद्धिविद्याधनधान्यसमृद्ध्यायुरारोग्यादिवृद्धये च हनुमद्व्रतं तदङ्गीभूतपूजनं च करिष्ये।' यह संकल्प करके हनुमान्‌जीकी पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमाके समीप पूर्व या उत्तरमुख बैठकर अति नम्रताके साथ 'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥'से प्रार्थना करे और फिर उनका यथाविधान षोडशोपचार पूजन करे। स्नानमें समीप हो तो नदीका और न हो तो श्रीजल मिला हुआ कूपोदक, वस्त्रोंमें लाल कौपीन और पीताम्बर, गन्धमें केसर मिला हुआ चन्दन, मूँजका यज्ञोपवीत, पुष्पोंमें शतपत्र (हजारा), केतकी, कनेर और अन्य पीले पुष्प, धूपमें अगर-तगरादि, दीपकमें गोघृतपूर्ण बत्ती और नैवेद्यमें घृतपक्व अपूप (पूआ) अथवा आटेको घीमें सेंककर गुड़ मिलाये हुए मोदक और केला आदि फल अर्पण करे। और नीराजन, नमस्कार, पुष्पाञ्जलि और प्रदक्षिणाके बाद 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्। वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥'से प्रार्थना करके प्रसाद वितरण करे और सामर्थ्य हो तो ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। रात्रिके समय दीपावली, स्तोत्रपाठ, गायन-वादन या संकीर्तनसे जागरण करे।''''''यदि किसी कार्य-सिद्धिके लिये व्रत करना हो तो मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशीको प्रातःस्नानादि करके एक वेदीपर अक्षत-पुञ्जसे १३ कमल बनाये। उनपर जलपूर्ण पूजित कलश स्थापन करके उसके ऊपर लगाये हुए पीले वस्त्रपर १३ कमलोंमें १३ गाँठ लगा हुआ नौ सूतका पीला डोरा रक्खे। फिर वेदीका पूजन करके उपर्युक्त विधिसे अथवा पद्धतिके क्रमसे हनुमान्‌जीका पूजन और जप, ध्यान, उपासना आदि करे। और ब्राह्मणभोजनादिके पीछे स्वयं भोजन कर व्रतको पूर्ण करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।''''''कथा-सार यह है कि सूर्यके वरसे सुवर्णके बने हुए सुमेरुमें केसरीका राज्य था। उसके अति सुन्दरी अञ्जना नामकी स्त्री थी। एक बार उसने शुचिस्नान करके सुन्दर वस्त्राभरण धारण किये। उस समय पवनदेवने उसके कर्णरन्ध्रमें प्रवेश कर आते समय आश्वासन दिया कि

* यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्॥
अथाहं पर्वकाले तु जिघृक्षुः सूर्यमागतः।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम्॥
(वाल्मीकीय रामायण)

तेरे सूर्य, अग्नि एवं सुवर्णके समान तेजस्वी, वेद-वेदाङ्गोंका मर्मज्ञ, विश्ववन्द्य, महाबली पुत्र होगा।.....ऐसा ही हुआ। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी महानिशामें अञ्जनाके उदरसे हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए। दो प्रहर बाद सूर्योदय होते ही उन्हें भूख लगी। माता फल लाने गयी, इधर वनके वृक्षोंमें लाल-वर्णके बालक सूर्यको फल मानकर हनुमान्‌जी उसको लेनेके लिये आकाशमें उछल गये। उस दिन अमा होनेसे सूर्यको ग्रसनेके लिये राहु आया था, किन्तु इनको दूसरा राहु मानकर भाग गया। तब इन्द्रने हनुमान्‌जीपर वज्र-प्रहार किया। उससे इनकी ठोड़ी टेढ़ी हो गयी, जिससे ये हनुमान् कहलाये। इन्द्रकी इस धृष्टताका दण्ड देनेके लिये इन्होंने प्राणीमात्रका वायुसञ्चार रोक दिया। तब ब्रह्मादि सभी देवोंने अलग-अलग इन्हें वर दिये। ब्रह्माजीने अमितायुका, इन्द्रने वज्रसे हत न होनेका, सूर्यने अपने शतांश तेजसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ होनेका, वरुणने पाश और जलसे अभय रहनेका, यमने यमदण्डसे अवध्य और पाशसे नाश न होनेका, कुबेरने शत्रुमर्दिनी गदासे निःशङ्क रहनेका, शङ्करने प्रमत्त और अजेय योद्धाओंसे जय प्राप्त करनेका और विश्वकर्माने मयके बनाये हुए सभी प्रकारके दुर्बोध्य और असह्य अस्त्र, शस्त्र तथा यन्त्रादिसे कुछ भी क्षति न होनेका वर दिया।.....इस प्रकारके वरोंके प्रभावसे आगे जाकर हनुमान्‌जीने अमित पराक्रमके जो काम किये, वे सब हनुमान्‌जीके भक्तोंमें प्रसिद्ध हैं। और जो अश्रुत या अज्ञात हैं, वे अनेक प्रकारकी रामायणों, पद्म, स्कन्द और वायु आदि पुराणों एवं उपासना विषयके अगणित ग्रन्थोंसे ज्ञात हो सकते हैं। ऐसे विश्ववन्द्य महाबली और रामचन्द्रके अनन्य भक्त हनुमान्‌जीके जप, ध्यान, उपासना, व्रत और उत्सव आदि करनेसे सब प्रकारके संकट दूर होते हैं। देवदुर्लभ पद, सम्मान और सुख प्राप्त होते हैं। और राम-जानकी तथा हनुमान्‌जीके प्रसन्न होनेसे उपासकका कल्याण होता है। एवमस्तु।

श्रीभगवानबाबाजी महाराजकी संक्षिप्त जीवनी और उपदेश

(लेखक—पू० श्रीभोलानाथजी महाराज)

सब लोगोंको पता ही है कि मेरे पूज्यपाद श्रीपिताजी और सद्गुरुवर्य श्रीबाबाजी महाराज शुक्रवार, १३ दिसम्बर १९४० की रातको सवा नौ बजे इस अनित्य संसारसे कूच कर गये थे। आपका इस तरह छिप जाना खासकर उन लोगोंके लिये बड़ा हानिकारक हुआ है कि जो दुनियामें सचाई, मोहब्बत और ईश्वर-प्राप्तिके इच्छुक हैं; बल्कि आपका ग़ायब हो जाना हर एकके लिये हानिकारक है, चूँकि आपके दिली भाव दुखियाओंकी आत्माको नजदीक और दूर फायदा पहुँचाते थे। आपका व्यक्तित्व पूर्ण था।

प्रश्न—कामिल या पूर्णकी परिभाषा क्या है?

उत्तर—जिसके दिलसे भय और आशा, कुछ पाने और खोनेके खयालात ग़ायब हो चुके हों और जिसकी नज़रमें सभी विषमताओं और अनेकताओंमें एक ही सत्ता नज़र आ रही हो; जिसके लिये इज़्ज़त-बेइज़्ज़ती, नफा-नुकसान, ज़िंदगी और मौत, अपना और परायाके खयालात हमेशाके लिये दिलसे ग़ायब हो चुके हों।

प्रश्न—क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या दुनियामें कोई ऐसी स्थिति या हालत भी है कि जहाँ पहुँचकर मनुष्यको परमानन्दका दर्जा मिल सकता है?

उत्तर—हमारा अपूर्ण होना ही इस बातका सबूत है कि दुनियामें कोई पूर्णावस्था है। अगर ऐसा न होता तो हम अपूर्ण भी न होते। व्यष्टिभाव समष्टिभावको प्रकट करता है, बूँद समुद्रको ज़ाहिर करती है, अणु सूर्यका प्रमाण है।

प्रश्न—क्या यह सम्भव है कि इस तरह प्रलोभनोंसे भरी दुनियामें भी कोई उस पूर्णताको हासिल कर सके कि जिसके आनन्दका अनुभव हमारी इन्द्रियों और सीमित बुद्धिकी पहुँचसे बाहर है?

उत्तर—अगर इन्द्रियोंके लिये सांसारिक प्रलोभन एक खास आकर्षण रखते हैं तो फिर आत्माके लिये उस पूर्णताका आकर्षण क्या कम हो सकता है?

प्रश्न—लेकिन हमें तो ऐसा मालूम होता है कि दुनियाके प्रलोभनोंसे बचना ही असम्भव है।

उत्तर—इन प्रलोभनोंसे छुटकारा दो तरहसे मिलता है—एक तो इन्हींमें त्रुटि नज़र आनेसे और दूसरे किसी और बड़ी चीज़के सामने देखनेसे। एक-न-एक दिन अनुभव हमें यह बतलाता है कि दुनियामें जिस प्यासको हम बुझाना चाहते हैं, उसका इलाज नहीं है; क्योंकि इन भोगकी सामग्रियों-को इकट्ठा करनेमें दुःख, इनकी स्थितिमें इनके नाश होनेकी

फ़िक्र, और इनके खो जानेसे इनके न रहनेका रंज होता है। जब मनुष्यको इस दौड़धूपमें तसल्ली नहीं मिलती तो इसके दिलमें किसी ऐसी चीज़की तलाश पैदा हो जाती है कि जिससे उसे शान्ति मिल सके। अथवा यह होता है कि जब मनुष्य दुनियावी पुरुषार्थमें असफल होता है और उसके दिलमें परमानन्दको प्राप्त करनेकी तड़प पैदा हो जाती है तो उसको निराशाओंकी दुनियामें ईश्वरकी ओरसे कोई ऐसी झलक मिल जाती है कि जिसको देखते ही मनुष्यका दिल लोक और परलोककी कामनाओंका त्याग कर देता है, जिस तरह आँखमें सुरमा डालनेसे दो आँसू खुदबखुद बह निकलते हैं।

तात्पर्य यह कि मनुष्यको किसी-न-किसी दिन उस पूर्ण सत्ताकी तरफ़ मुँह करना ही पड़ता है। जब इधर इच्छा है और उधर इच्छित पदार्थ है तो फिर यह सन्देह करना कि इसको पाना असम्भव है ग़लत हो जाता है। जब यह सिद्धान्त ठीक है तो फिर मानना ही पड़ेगा कि पूर्वके महात्माओंको पूर्णता प्राप्त होती रही, अब भी प्राप्त है और आगे भी प्राप्त होती रहेगी! धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने कभी ऐसे महात्माओंके दर्शन किये हैं। मनुष्यमें स्वाभाविक इच्छा है कि वह दुःखोंको जड़से उखाड़कर फेंक दे और सुखके अणु-अणुको जहाँ भी हो समेटकर अपना कर ले। जब इस क़िस्मका पूर्ण सुख दुनियावी पदार्थोंमें न मिल सके तो फिर किसी-न-किसी सत्ताको तो हमारी इस स्वाभाविक इच्छा-का स्वाभाविक जवाब देना ही पड़ेगा। यह सिद्धान्त दुरुस्त और बिल्कुल दुरुस्त है, लेकिन ऐसी महान् आत्माएँ सर्वत्र नहीं होतीं। लंबे अर्सेतक घूमनेके बाद यह कालचक्र अपने विकासवादके वृक्षसे ऐसा सुन्दर और आनन्ददायक फूल पैदा करता है कि जिसकी ख़ुशबूसे सामने आनेवालोंके हृदय और दिमाग़ तर हो जायँ। वे कहते फिरें कि—

बजाँ चमन कि नसीमे वज़द ब तुर्रए दोस्त।
चिह जाए दम ज़दने नाफ़हाए तातारीस्त॥

'उस बाग़में कि जिसमें प्यारेके तुर्रोंको छूकर हवा चलती है, नाफ़ाहे तातार (यह वह जगह है, जहाँ कस्तूरीवाले हिरन पैदा होते हैं) की क्या मजाल है कि दम मार सके! यानी आत्मानन्दके सामने दुनियावी आनन्द हेच हो जाते हैं।'

प्रश्न—ऐसे महात्माओंके दर्शन कैसे हों और उनकी पहचान क्या है?

उत्तर—जब ख्वाहिश पैदा होती है तो उस ख्वाहिशकी दृष्टि ही ऐसे बुजुर्गोंको पहचान लेती है या ऐसे महात्मा खुद जिज्ञासुओंको दर्शन दे देते हैं। जिस तरह पतंगे और दीपकके दर्म्यान सम्बन्ध स्थापित होता है, उसी तरह जिज्ञासु और ब्रह्मज्ञानीमें रिश्ता क़ायम होता है। इनकी पहचानके सम्बन्धमें सिर्फ़ यह है कि जिसको वे अपनी दृष्टि दे दें, वही समझ सकता है। ज़ाहिरी बातोंसे अंदाज़ा करना इसलिये मुश्किल हो जाता है कि अगर किसी अभिनेताको एक ब्रह्मज्ञानीका पार्ट करना पड़े तो उसमें ज़ाहिरी बातें तो वे सब होंगी जो एक पूर्ण ब्रह्मज्ञानीके सम्बन्धमें किताबोंमें लिखी हैं, लेकिन उसके दिलपर खुद उन बातोंका कोई असर नहीं होता। वैसे तो पूर्ण ब्रह्मज्ञानी-की पहचान हम ऊपर बता ही आये हैं।

हेच मैदानी कि बाशद औलिया।
आँ के कर्द अज़ ग़ैर हक़ दिल रा सफ़ा॥

यानी तू कुछ जानता है कि औलिया—पूर्णपुरुष किसे कहते हैं? जिसने दिलकी तख्तीको सिवा सत्यके और सब बातोंसे साफ़ कर डाला हो, जिसके दिलमें न तो किसी चीज़को हासिल करनेकी ख्वाहिश पैदा हो और न किसी चीज़के जानेका डर रहे, जो भी सामने आये उससे अपने-ही-जैसी मोहब्बत करे, सबमें एक ही सत्ताको देखता हो और ऐसी पूर्ण स्थितिपर पहुँचा हो कि जहाँ पहुँचकर फिर गिरनेका डर न हो।

न मुझे किसीका ख़याल है न ज़रा भी ख़ौफ़े ज़वाल है।
जिसे होवे असर ज़वाल ना, मेरा वह कमाले-कमाल है॥
है फ़िराक़े आब ये आरज़ू कि विसाले आब हो किस तरह।
ये ख़याले वस्ल है हिज्र-सा, इसे तर्क कर—यह विसाल है॥
मेरा रंग पर्दाए-मौजमें न छुपा छुपायेसे भी कभी।
मैं सरापा हस्तिए-आब हूँ, न फ़िराक़ है न विसाल है॥
है जहूरे हस्ती यह 'नाथ' जो, वह ख़याले हस्तीए ख़ाम है।
इसे छोड़ जाय यहाँ पै जो, उसे फिरके आना मुहाल है॥

यानी एक मुक्तकी परिभाषा यह है कि जो त्याग और ग्रहण और हर क़िस्मकी इच्छाओंसे दूर हो। लेकिन ये सब बातें दिलसे ताल्लुक़ रखती हैं और किसीके दिलकी पहचान दिलहीसे हो सकती है।

मैंने जिस आत्माके सम्बन्धमें अफ़सोस ज़ाहिर किया है, वह मेरी नज़रोंमें पूर्ण और परमपूर्ण थी। ज़ाहिरी रिश्तेमें वे मेरे पूज्य पिता थे और परमार्थके लिहाज़से सद्गुरु थे। मैंने उनको उसी हदतक समझा कि जिस हदतक

उन्होंने अपने-आपको मुझे समझाया। मुझे अफ़सोस है कि उन्होंने उस वक्त अपनेको छिपा लिया कि जब उनकी ज़रूरत दुनियाको हदसे ज्यादा थी। ऐसा क्यों हुआ, इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि विश्वकी व्यवस्थामें उसके नियामकने इस बातकी ज़रूरत समझी होगी। अगर कोई शख्स एक कमरेसे उठकर दूसरेमें चला जाय तो पहले कमरेवालोंको उसकी जुदाईका अनुभव होता है, लेकिन दूसरे कमरेवाले उसकी नज़दीकीका अनुभव करते हैं; उसकी सत्तामें इस स्थानपरिवर्तनसे कोई फ़र्क़ नहीं आता, लेकिन किसीसे जुदा और किसीसे मिलनेका अनुभव ज़रूर होता है। इस सूरतमें यह नुक़्सान एक बहुत बड़ा नुक़सान है, इस बातका वे लोग अनुभव करते हैं कि जिनपर यह विपत्ति आयी है। मेरी इतनी उम्रकी समीपताने मुझपर यह साबित किया कि इस आध्यात्मिक पुरुषमें अहंकारका कहीं नामतक न था और सत्यरूपी सूर्यकी किरणें अहंकारके बादल सरक जानेकी वजहसे खुल्लमखुल्ला अध्यात्मकी झलक लेकर सामने आती थीं। मुझे रह-रहकर खयाल आता है कि यह व्यक्ति अगर कुछ वक्त और मनुष्यके चोलेमें रहता तो लोगोंको किस क़दर फ़ायदा होता। लेकिन फिर मिर्ज़ा ग़ालिबका यह शेर याद आता है—

थी कहाँ ये अपनी क़िस्मत कि विसाले यार होता।
गर और ज़िंदा रहते, यही इंतज़ार होता॥

ख़ैर, फिर तसल्ली इस बातसे होती है कि जो कुछ भी वे अपने उपदेश और ईश्वरसम्बन्धी विचार हमारे लिये छोड़ गये हैं वे हम लोगोंके लिये बहुत काफ़ी हैं अगर हम उनपर ग़ौर करें और अपने मालिककी मेहरबानियोंको साथ लेकर उनपर अमल करनेकी कोशिश करें।

अब मैं आपको आपकी ज़िन्दगीकी कुछ घटनाओं और शिक्षाओंसे वाक़िफ़ करता हूँ। उनकी तमाम शिक्षाओं-को बयान करना मेरे लिये उसी तरह मुश्किल है कि जिस तरह समुद्रको घड़ेमें बंद करना। श्रीबाबाजी महाराजका शुभ जन्म २०जनवरी १८६७को काँगड़ेके रमणीय जंगलोंमें हुआ। आपका शुभनाम श्रीदेवीदासजी रक्खा गया। आपके पूज्य पिता उस वक्त गुज़र गये कि जब आपकी उम्र ६ महीनेकी थी; आप अपनी माताको बेहद प्यारे थे। आपकी शिक्षाका ज़माना एक सुनहरी वक्त था। आपकी आध्यात्मिकताका असर हर छोटे-बड़ेपर अपने-आप होता था। आप अक्सर फ़र्माया करते थे कि हमें १२ सालकी उम्रमें यह मालूम हो गया था कि 'परमात्म-तत्त्व हमसे जुदा नहीं है, लेकिन हम अभीतक अपने अहंकारको खोकर उसमें मिले न थे।' अध्यापक आपको 'अरस्तू' (Aristotle*) के नामसे पुकारते थे। जब सम्बन्धियोंमें कोई झगड़ा हो जाता तो आप शिक्षाप्रद बातोंसे सुलह करा देते थे। वाणीकी शक्तिका यह असर था कि जो बात मुँहसे निकल जाती, वह उसी तरह हो जाती। धुनके ऐसे पक्के थे कि जब किसी बातको अच्छा समझकर मान लिया तो फिर उनको अपने इरादेसे हटा सकनेवाली कोई ताक़त न होती थी, और जिस बातको बुरा समझते फ़ौरन ही त्याग देते थे। अगर किसी बात या शेरको सुनना तो उसको उस वक्ततक अपना न समझना जबतक कि वह आपके अंदर क्रियात्मक रूप ग्रहण न कर ले। दुनिया और उसके पदार्थोंकी क़दर आपके दिलमें कम होती जाती थी। उपासना और साधनका यह हाल था कि जब उसकी यादमें निमग्न होते तो उस वक्त दुनियाका कोई हर्ष और शोक आपकी एकाग्रतामें फ़र्क़ न ला सकता। अगर किसी नज़दीकीकी मौत हो गयी है तो भी अपनी यादमें संलग्न हैं और अगर कोई दुनियाकी अच्छी खबर आयी है तो भी ध्यानमें मग्न हैं। आपकी पूज्य माताजीने अपनी खुशियोंको बढ़ता देखनेके लिये आपकी शादी छोटी उम्रमें कर दी थी। कुछ समय बाद आप सख्त बीमार हो गये और आपने ईश्वरसे प्रार्थनाकी—'ऐ पिता (उस वक्ततक ईश्वरसे बाप-बेटेका सम्बन्ध था)! अगर इस समय मैं अच्छा हो जाऊँ तो बाक़ी तमाम उम्रको आपहीके नामपर क़ुर्बान कर दूँगा। इस दुआके फ़ौरन बाद ही आप अच्छे हो गये और अपने उस वायदेको पूरा करनेके लिये जङ्गलोंमें जानेका इरादा कर लिया, यहाँतक कि मकानसे नीचे उतर आये। लेकिन जब दरवाज़ा खोलकर बाहर जानेका इरादा किया तो किसी ताक़तने आपका हाथ पकड़ लिया और पूछा 'कहाँ जाते हो?' जवाब दिया 'अपने वायदेको पूरा करने।' उसी ताक़तने यह कहा कि 'नहीं, आपको जङ्गलोंमें जानेकी ज़रूरत नहीं, आप यहीं रहकर अपने उद्देश्यको पूरा कीजिये और दुनियाको यह सिखलाइये कि एक शख्स दुनियावी सम्बन्धों और व्यापारोंमें रहता हुआ भी किस तरह अपने ईश्वरसे मिल सकता है।' बस, आपको अपना इरादा छोड़ देना पड़ा। जब कुछ और बड़े हुए तो पूज्य माताजीने तमाम दौलत जो कि आपके पिताजी छोड़ गये थे आपके सुपुर्द कर

* यूनान देशके एक प्रसिद्ध दार्शनिक।

दी और कहा कि 'बेटा, तुमको अभीसे अधिकार है; इसका जिस तरह चाहो उपयोग करो। श्रीबाबाजी महाराज, जो कि दुनियावी प्रलोभनोंसे कहीं ऊपर थे, इस दौलतको पाकर ज़रा भी खुश न हुए बल्कि लगातार अतिथि-सेवा और दुखियोंका दुःख दूर करनेमें खर्च करने लगे। आपने अपनी क्रिया-शक्तिसे यह बतला दिया कि दौलत बुरी चीज़ नहीं, अगर उसका उपयोग न्याययुक्त हो। आप दुनियामें रहे, लेकिन कमलके फूलकी तरह, या इस तरह कि जिस तरह धूप कुल चीज़ोंपर पड़ती है और उनके गुणोंसे हमेशा अलग रहती है या जिस तरह दृष्टि हर चीज़से सम्बन्ध पैदा करती है लेकिन बँधती कहीं नहीं। अक्सर यह शैर फ़रमाते—

तअल्लुक हिजाबस्तो बे हासिली।
चूँ पैवंद हा बिगुसली वासली॥

यानी सांसारिक सम्बन्ध तेरे और ईश्वरके बीच एक पर्दा है, जब तू इन पैवंदों (सम्बन्धों) को तोड़ देगा तो तू अपने मालिकसे मिल जायगा। इसका मतलब ज़ाहिरी त्याग नहीं बल्कि दिली त्याग था। दूसरा शैर फ़रमाते—

इन्तख़ाबे रा कि अज़ दुनिया ओ उक़बा करदा अम्
ला तअल्लुक मुर्दनस्तो बेतकल्लुफ़ ज़ीस्तन।

यानी मैंने लोक और परलोकका निचोड़ यह निकाला है कि मनुष्य सम्बन्धहीन होकर मरे और बिना किसी उज्रके जीवन यापन करे। यानी दुनियासे जुदाईके वक्त सिवा अपने खुदाके किसी और चीज़से ताल्लुक़ न हो और दुनियामें जैसा वक्त आये काटता जाय!

दुनियावी लहरोंके मुताबिक़ आपके सामने रंज और खुशीकी खबरें आती रहीं, लेकिन आप हर हालतमें इस तरह स्थिर रहे कि जिस तरह कोई बड़ी चट्टान समुद्रकी लहरोंकी चोटोंसे परेशान नहीं होती। अकसर फ़रमाते कि 'जिन हालतोंमें दुनियाको परेशानियाँ होती हैं, उन्हीं हालतोंकी उपस्थिति हमारे लिये सुख और सन्तोषका कारण होती है।' लेकिन फिर फ़रमाते कि 'यह भी एक कमी ही थी, वर्ना सुख और दुःखमें तो कोई फ़र्क़ ही नहीं होना चाहिये।' जैसे—

दिले दारम कि दर वै ग़म न गुंजद।
च आये ग़म कि शादी हम न गुंजद॥

यानी मेरा वह दिल है कि जिसमें रंज तो क्या, खुशी भी नहीं समा सकती; क्योंकि खुशीमें खुश रहनेवाला कभी रंजमें स्वस्थचित्त नहीं हो सकता। रंजसे तो सिर्फ़ वही शख्स नहीं घबड़ाता कि जिसको खुशीकी ज़रूरत नहीं। अकसर फ़रमाते—

बाले सुक्खाँ नू मात दवाँ, बालेई दुःख पए।
छड़ दे पल्ला सुक्खाँ दा, नाल दुःख भी गए॥

यानी ऐ ज्यादा आरामके अभिलाषी, यह अभिलाषा ही दुःखको बुलाती है। अगर तू किसी तरह सुखोंका पल्ला छोड़ दे यानी सुखोंकी ख्वाहिश छोड़ दे तो फिर तेरे लिये जगत्‌में दुःख है ही नहीं।

अपने जीवनके नाटकको पूरा करनेके लिये वक्तके मुताबिक़ आपने अपने हर पार्टको इस उम्दगीके साथ अदा किया कि देखनेवाले हैरान रह गये। आपकी ज़िंदगीका एक-एक क्षण और एक-एक चेष्टा दूसरोंके लिये लगातार शिक्षाप्रद रही। इसके बाद आपने सरकारी नौकरी की। जब आपकी तनख्वाहकी तरक़्क़ीका ज़िक्र आता तो आप फ़रमाते 'कि मेरी तरक़्क़ीकी फ़िक्र कोई क्यों करे जब कि मेरी तनख्वाह पहले ही हदसे ज़्यादा है।' अकसर फ़रमाते—

I am content with what God has given me as my share,
And commit to my Creator my every care.
To do good in the past has been indeed His will,
He will do good as well in what is to come still.*

ईमानदारीका यह हाल कि कभी सरकारी समयमें दफ्तरकी स्याहीसे अपनी व्यक्तिगत चिट्ठीतक न लिखते। सचाईका यह हाल कि कभी कोई बात दिलके ख़िलाफ़ न करते, चाहे कितना भी नुकसान हो जाय।

जब आप दफ्तर पहुँचते तो बड़े-छोटे खिदमतमें हाज़िर होते और आपसे ईश्वरका नाम सुननेकी ख्वाहिश ज़ाहिर करते। आपकी एक-एक बात उनके दिलोंको यहाँतक ऊँचा कर देती कि दुनियाके सुख-दुःख उनके लिये बेमाने हो जाते। गोया घरमें भगवान्‌का ज़िक्र, रास्तेमें उसीका ख़याल और दफ्तरके काम उसीके हुक्मकी तामील! यानी ज़िंदगी

---

* भगवान्‌ने जो कुछ मुझे दिया है, उसीसे मैं सन्तुष्ट हूँ और अपनी प्रत्येक चिन्ता अपने सिरजनहारके चरणोंमें समर्पित करता हूँ। उनकी इच्छा पहले भी मंगलमयी रही है और आगे जो कुछ होनेवाला है, उसमें भी हमारा मंगल ही निहित है।

क्या थी—एक अविच्छिन्न हरिस्मरणका नमूना था। अकसर फ़रमाते—

'जो दम ग़ाफ़िल सो दम काफ़िर।'

अर्थात् जो श्वास भगवान्‌की स्मृतिसे शून्य है वह विधर्मी है, ईश्वरविमुख है।

सन् १९०४ के भूडोलकी चर्चाको लेकर लोग आपके पास हाज़िर हुए और कहने लगे कि 'कलका दिन निहायत खौफ़नाक था, क्योंकि दिनभर भूकम्पके धक्के आते रहे; मगर साथ ही यह बात भी थी कि जबतक ज़मीन हिलती रही हिंदू 'राम-राम' और मुसलमान 'अल्लाह-अल्लाह' करते रहे, मगर जबसे भयोत्पादक असर ग़ायब हो गये दुनिया फिर अपने कामोंमें उसी तरह लग गयी। तो आपने फ़रमाया कि फिर तो वह भूकम्प ही वरणीय था कि जिससे उसकी याद आती रही।

आपके पास हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, अंग्रेज़—सब आते और आपके उपदेशसे कृतार्थ होते। आपकी नज़रोंमें अपना-पराया कोई न था। आप फ़रमाते कि 'ईश्वर एक है; बाक़ी सब उसके बच्चे हैं, इसलिये सब भाई हैं। मज़हबी मतभेद एक ही मंज़िलपर पहुँचनेके भिन्न-भिन्न रास्ते हैं।' आप फ़रमाते कि 'आजतक किसी मज़हबमें यह बहस नहीं हुई कि ख़ुदा दो हैं। पानीके अलग-अलग नाम होनेपर भी पानी एक ही रहता है।' आप इस सिद्धान्त-पर यहाँतक स्थिर थे कि किसी मज़हबवालेको आपके सामने आकर अपने पार्थक्यका अनुभव न होता था। गोया यह सूरत होती कि—

बनी आदम आज़ाए यक दीगर अंद।
कि दर आफ़रीनश ज़ यक जौहर अंद॥

अर्थात् मनुष्यके बच्चे एक-दूसरेके अंग हैं, क्योंकि उत्पत्तिके समय एक ही तत्त्वसे प्रकट हुए हैं।

आपने अपनी ज़िंदगीमें सिवा अपने ईश्वरके और कुछ न चाहा। अकसर यही सुनाते—

तुद्ध बाझ और जो मँगना, सिर दुक्खाँ दे दुक्ख।
दे नाम संतोखिया, जे उतरे मन दी भुक्ख॥

यानी तुझसे सिवा तेरे और कुछ माँगना दुःखोंको दावत देना है; मनकी भूख तो सिर्फ़ तेरे नामसे दूर हो सकती है। आपने इसको यहाँतक क्रियात्मक रूप दे रक्खा था कि एक दिन एक अंग्रेज़ आपके पास आये और कहने लगे कि आपकी एक चीज़ गिर गयी थी, मैं उसे लेकर आया हूँ। श्रीबाबाजीने जवाब दिया कि 'वैसे तो आपको धन्यवाद है, लेकिन मेरे ख़यालमें तो मेरी कोई चीज़ गिर ही नहीं सकती; क्योंकि गिरनेवाली चीज़ोंको तो मैंने पहले ही गिरा दिया है और जो मेरे पास है, वह कभी गिर ही नहीं सकती।' उन्होंने कहा कि 'महाराज, कुछ भी हो, यह चीज़ तो आपकी ही है'। हँसे और कहा—'अच्छा, तो फिर लाइये; हम भी देखें वह चीज़ क्या है।' उस साहबने एक टाइप किया हुआ काग़ज़ आपके सामने रक्खा, जिसपर लिखा हुआ था—

I am convinced there is no condition higher than that silence which comes of the abandonment of all latent desires.

यानी मुझे पक्का यक़ीन हो गया है कि उस हालतसे बढ़ी कोई हालत नहीं कि जो तमाम वासनाओंके त्यागसे मिलती है।

श्रीबाबाजीने फ़रमाया कि 'वाक़ई यह चीज़ हमारी ही थी; लेकिन यह गिरी कहाँ थी, यह तो हर वक्त हमारे पास मौजूद है।' कुछ अर्से बाद आपने नौकरी भी छोड़ दी और उसके बाद पेन्शन भी। पेन्शन इस ख़यालसे कि पेन्शनका हक़दार नौकरी करनेवाला हो सकता है, न कि वह कि जिसने नौकरी नहीं की। नौकरी करनेवाला 'मैं' और 'मेरा' था। जब वह न रहा तो फिर पेन्शनका हक़ ही क्या रहा।

भ्रातृत्वका यह हाल कि सबको अपना भाई समझते। एक दिन आप नाभासे शिमला तशरीफ़ ले जा रहे थे। रास्तेमें गाड़ी बदलनी थी, दैवयोगसे उस वक्त आप अकेले थे। स्टेशनपर कोई कुली वग़ैरह भी नहीं था। सामनेसे कोई शख़्स जा रहा था। आपने उसको आवाज़ दी—'भाई साहब, हमारा ट्रंक उठाकर दूसरी गाड़ीमें रख दीजिये।' उसने झुँझलाकर कहा—'क्या आपने मुझे कुली समझा है जो मैं आपका ट्रंक उठाता फिरूँ?' आपने फ़रमाया कि 'नहीं, मैंने आपको कुली कब कहा? मैंने तो कहा है कि भाई साहब, मेरा ट्रंक उठाकर दूसरी गाड़ीमें रख आइये।' उसने कहा 'यह हर्गिज़ नहीं हो सकता, मैं ट्रंक न उठाऊँगा।' आपने फ़रमाया कि 'आप तो ट्रंक उठायेंगे नहीं और मैं उठा नहीं सकता; इसलिये बेहतर यही है कि मैं इसकी

चाबियोंको इसीपर रख दूँ और आप इसको अपने घर ले आयें। अब आपको अपना ट्रंक इस हालतमें अपने घर ले जाते तो शर्म न आयेगी; शर्म तो इसलिये आती है कि आपको किसी दूसरेका ट्रंक उठाना पड़ता है।' आपने जेबसे चाबियाँ निकालीं, उस ट्रंकपर रक्खीं और खुद चले गये। इस दृश्यको देखकर वह शख्स हैरान हो गया। उसने झट ट्रंक उठाया और आपके पीछे-पीछे हो लिया, ट्रंकको गाड़ीमें रखकर आपसे माफ़ी माँगी और कहा 'मैं जानता न था कि आप कौन हैं!' श्रीबाबाजीने फ़रमाया—भाईको भाईका काम करनेमें क्या शर्म है!

बनी आदम आज़ाए यक दीगर अंद।
कि दर आफ़रीनश ब यक जौहर अंद॥

आपको एक दफ़ा एक शख्सने आकर कहा कि 'आप बाग़की सैरको नहीं निकलते?' तो फ़रमाने लगे कि 'बाग़की सैर तो बीमार किया करते हैं।' उसने कहा हुज़ूर! हम बीमार नहीं हैं, लेकिन फिर भी बाग़की सैर करते हैं।' श्रीबाबाजीने पूछा कि 'आप सैर करने किसलिये जाते हैं?' तो कहा कि 'बैठे-बैठे दिल घबड़ा जाता है तो सैरको चले जाते हैं और जब वहाँ घबड़ाता है तो वापस आ जाते हैं।' तब आपने फ़रमाया कि 'हमें न तो घबड़ाहटकी बीमारी लगती है और न हम इसके इलाजके लिये बाग़में जाते हैं।' उसने पूछा 'तो क्या आप सैर बिल्कुल नहीं करते?' तो जवाब दिया कि नहीं, करते तो हैं लेकिन किसी और बाग़की!

अंदेशए खारस्त दरीं सैरे गुलिस्ताँ।
दर खल्वते दिल गुलशने बेख़ार बबीनेद॥

'ज़ाहिरी बाग़ोंमें काँटोंका भी डर है, किन्तु जिस बाग़की हम सैर करते हैं वहाँ कोई काँटा है ही नहीं।' इच्छाओंका यह हाल फ़रमाते कि हमें दुनियाँमें कभी किसी चीज़की ख्वाहिश ही पैदा न हुई, क्योंकि हमको मालूम हो गया था कि इन इच्छाओंका दो वजहसे कोई अर्थ नहीं होता—अगर 'उसे' भूलकर ये पदार्थ हासिल किये जाते हैं तो आराम न मिलेगा और अगर उसे (ईश्वरको) हासिल करके इनको चाहते हैं तो समुद्रकी मौजूदगीमें जलकण अलहदा रह ही नहीं जाते। फ़रमाते—

ख़याले मुल्के दो आलम नियावरद ब ख़याल।
सरे कि नेस्त दमे ख़ाली अज़ ख़याले हबीब॥

यानी लोक और परलोकका ख़याल उस दिमाग़में कहाँ आ सकता है कि जिसे दमभरके लिये भी प्यारेके ख़यालसे फ़ुरसत नहीं।

फ़रमाते कि जबतक मनुष्यके दिलमें बालकी नोंक-जितनी भी ख्वाहिश बाक़ी है वह ज्ञान पोशीदा है। यह बात महात्माओं और महापुरुषोंके तरीक़ेके खिलाफ़ है कि ईश्वरसे सिवा ईश्वरके कुछ भी माँगा जाय। और तो तब माँगे जब खुदाको पा लेनेपर किसी और चीज़का मिलना संभव न हो; यहाँ तो सिद्धान्त यह है कि जो उसकी तरफ़ चलता है, दुनिया उसके पीछे दौड़ती है!!

मोहब्बतका यह हाल कि जो सामने आता फ़रमाते कि 'मैं तुम्हारे साथ तुमसे ज़्यादा मोहब्बत करता हूँ,' जिसका असली सबूत यह था कि आपने ज़िंदगीके हर आरामको दुनियाके लिये कुरबान कर दिया था। अपने शरीर और उसकी ताक़तोंपर यहाँतक क़ाबू था कि अगर तीन-तीन महीने अनाज नहीं खाया और बीस-बीस घंटे बोलते रहे तो भी स्वास्थ्यपर कुछ असर न पड़ता था। आसनके यहाँतक पक्के थे कि ३२ साल बैठकर गुज़ार दिये। आहिस्ता-आहिस्ता श्रीमहाराज अपनी खुदीको क्षीण करते गये और सन् १९१४ में अपनी खुदीको छोड़कर अपने मालिकसे एक हो गये। उस वक़्तकी हालत देखनेयोग्य थी। ऐसा मालूम होता था कि आध्यात्मिकताका समुद्र चारों तरफ़ हिलोरें ले रहा है। हज़ारों लोग दर्शनोंको आते और निहाल होते। जिस तरह कोई गरमीसे सताया पानीमें ग़ोता लगाकर ठंडा हो जाता है, उसी तरह दुनियाके दुखी प्राणी आपकी ख़िदमतमें आकर खुश होते थे। आपके नज़दीक बैठ जाना ही ख़ुदाके अस्तित्वका सबूत दे देता था। दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता आपके सामने घुटने टेककर आपका सम्मान करते थे। ग़रीब और अमीर, राजे और महाराजे आपके चरणोंको चूमकर निहाल होते, गोया आपकी नज़दीकी ही आत्मानन्दका आस्वादन करानेवाली थी। इस अहङ्कारके त्यागके बाद आप अकसर फ़रमाते कि 'एक तिनकेकी सत्ता तो ख़ुदा और दुनियाके साथ कुछ होगी, लेकिन मेरी अलहदा हस्ती उसके साथ इतनी भी नहीं'। पूर्णतापर पहुँच जानेके बाद भी आपने अपने-आपको मुक्त नहीं किया बल्कि फ़रमाने लगे कि 'मैं उस वक़्ततक अपने आपको मुक्त पुरुषोंमें शुमार नहीं कर सकता कि जबतक दुनियाका कोई अणु भी अज्ञान और शोककी ज़ंजीरोंमें जकड़ा हुआ है' और यह बात उस वक़्त फ़रमायी कि जब आप अपनी खुदीको मिटा चुके थे यानी मुक्त हो चुके थे।

अब मैं आपकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें कुछ अर्ज़ करता हूँ—

'ईश्वर एक है। उसके सिवा आपको कोई नफ़ा या नुक़सान नहीं पहुँचा सकता।'

'जङ्गलोंमें जानेकी ज़रूरत नहीं, दुनियामें—यहाँ भी वह मिल सकता है।'

'अपने कर्तव्योंको उसका हुक्म समझकर पालन करते जाओ।'

'सबमें भगवान्‌को देखकर प्यार करो।'

'किसीका बुरा न चाहो।'

'हर मज़हब और उनके महात्माओंकी क़द्र करो।'

'अगर ख्वाहिश करना ही है तो उसकी ख्वाहिश करो कि जिसको हासिल कर लेनेसे सब चीज़ें खुद-बखुद मिल जाती हैं।'

'दुनियासे दिल न लगाओ। मौतको याद रक्खो, लेकिन नेक काम करते वक्त अपनेको अमर समझो।'

'दुनियाके भोगोंका आवश्यकतानुसार और बतौर दवाई उपयोग करो।'

'इस मुसाफ़िरखानेसे मोहब्बत करो, लेकिन इतनी कि जिससे घर न भूल जाय।'

'उसकी मर्ज़ीपर राज़ी रहो; जो कुछ वह दे, उसको सबसे ज्यादा समझो।'

'सब्रसे बड़ी दौलत कोई नहीं।'

'अगर दुनियाको हासिल ही करना है तो पहले इसके मालिकसे रिश्ता जोड़ लो, यह खुद-बखुद मिलेगी।'

'कोई काम छिपकर न करो।'

'किसी कामको करके झूठ न बोलो।'

'कठिनाइयोंमें ईश्वरकी याद करो।'

'इच्छाओंको कम करो।'

'हो सके तो किसीकी मदद करो, नहीं तो कम-से-कम किसी-को तकलीफ़ न दो।'

'मौतसे न डरो, क्योंकि उसका वक्त नियत है।' इत्यादि, इत्यादि······

इस छोटेसे लेखमें आपकी शिक्षाओंका कहाँतक बयान किया जा सकता है। जिज्ञासु इनको किसी-न-किसी तरह हासिल करते ही रहेंगे।

आपने आखिरकार १३ दिसम्बर १९४७ की रातको सवा नौ बजे अपने शरीरको बड़े इतमीनान और शान्तिके साथ छोड़ दिया। हज़ारों-लाखोंको इसका रंज है और रहेगा, यद्यपि आप अपने उपदेश और आध्यात्मिक भावोंके रूपमें हमेशा ही ज़िंदा रहेंगे। आपने अपनी ज़िंदगीके आखिरी क्षणोंमें भी इसी बातको ज़ाहिर किया कि मनुष्य 'उस' की मर्ज़ीपर किस तरह खुश रह सकता है। आप दो रोज़ बीमार रहे। शहरके क़ाबिल डाक्टर-हकीम खिदमतमें हाज़िर हुए, लेकिन उनसे यही कहा गया कि 'हम बीमार नहीं हैं, अगर बीमार होते तो तन्दुरुस्तीकी ख्वाहिश करते। और अगर दवाई करना ज़रूरी है तो हम दवा खा ही रहे हैं और वह है—'सर्व रोगका औषध नाम।' यानी सब बीमारियोंकी दवा उसका नाम है और सच बात तो यह है कि हमें यह बीमारी बीमारी नहीं मालूम होती। यह उसकी मर्ज़ी है और हमें उससे हरगिज़ विरोध नहीं। हमने उससे विरोध सीखा ही नहीं। इसलिये जो उसकी मर्ज़ी है, वह हर तरह पूरी हो; क्योंकि वही बेहतर और दुरुस्त है।' और इसके बाद आपने ज़ाहिरी दुनियासे आँखें बंद कर लीं और वास्तविक दुनियामें आँखोंको खोल दिया! हुज़ूरका शैर याद आया—

> बेदार शौ अज़ ख्वाब कि ईं जुम्ला खयालात।
> अंदर नज़रे मर्दमे बेदार चूँ ख्वाबस्त॥

यानी ऐ प्यारे! जाग और समझ कि इस संसार और उसके पदार्थोंके खयाल एक जागते हुए शख्सकी नज़रमें स्वप्नकी तरह हैं!

मेरी ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे हम लोगोंको भी उस पारमार्थिक धनमेंसे कोई कण प्रदान करें कि जिसका अनन्त खज़ाना श्रीबाबाजी भगवानके पवित्र दिलमें मौजूद था, ताकि हम भी इतमीनानसे अपनी जिंदगी बसर कर सकें।

मैं हुज़ूरकी खिदमतमें अपने आँसू जो कि (आँ+सू यानी जो कि उसके तरफ़ झुके हुए हैं) पेश करता हूँ।

एक अंग्रेजकी राम-भक्ति

('अमर सन्देश')

मधुरांतकम चेंगलपेट जिलेका एक छोटा-सा शहर है, जो मद्रासको पांडिचेरीके रास्तेपर है। वहाँपर श्रीरामचन्द्रजीका एक छोटा-सा मन्दिर है। उस मन्दिरके नजदीक एक बड़ी झील भी है।

मद्राससे पांडिचेरी जानेवालोंको, जो मधुरांतकमकी उस झीलके बाँधपर है, उसी सड़कसे जाना पड़ता है। वह झील इतनी सुन्दर और काफ़ी बड़ी है कि जिन लोगोंको उस रास्तेपर जाना पड़ता है, उन लोगोंका मन उस झीलकी तरफ़ आकर्षित हो जाता है और वे लोग उस झीलके सुन्दर और मनोहर दृश्यको कभी भूल नहीं सकते। उपर्युक्त झील और श्रीरामचन्द्रजीके मन्दिरके बारेमें एक विचित्र लेकिन सच्ची कहानी प्रचलित है, जिससे मालूम होता है कि एक ईसाई अंग्रेज साहब भी श्रीरामचन्द्रजीके भक्त बन सके और उनको भगवान्‌के दर्शन भी मिले थे।

बात १८८२ ई० की है। उस समय लियानल प्राइस साहब चेंगलपेट जिलेके कलक्टर थे। उनको मधुरांतकमकी झील देखनेकी बड़ी इच्छा हुई। झील इतनी बड़ी थी कि उसके आसपासके कई गाँवोंकी खेतीबारीके लिये उसका जल पर्याप्त था। लेकिन दुर्भाग्यवश हर साल बरसातमें जब झील भर जाती थी तब उसका बाँध टूटकर सारा पानी बाहर चला जाता था और झील हमेशा सूखी-की-सूखी ही रह जाती थी।

इलाकेवाले प्रतिवर्ष गर्मीके दिनोंमें उस झीलके बाँधकी मरम्मत करते थे। हर साल मरम्मतके समय मि० प्राइस खुद वहाँ आकर पड़ाव डालते और अपनी मौजूदगीमें ही सारा काम कराते थे। बरसातमें बाढ़से इसका बाँध हर साल टूट जाया करता था। कलक्टर साहबको झीलकी बड़ी चिन्ता होती थी। सन् १८८२ में भी सदाकी तरह झीलकी मरम्मत शुरू हुई। स्वयं कलक्टर साहब उसका निरीक्षण कर रहे थे। एक बार आप मन्दिरके पाससे निकले। उनकी इच्छा हुई कि चलकर मन्दिर देख आवें।

वे मन्दिरमें आये। ब्राह्मणोंने उनको मन्दिर दिखाया। साहबने देखा कि एक स्थानपर ढेरों पत्थर जमा हैं। साहबने ब्राह्मणोंसे पत्थरोंके जमा कर रखनेका कारण पूछा। ब्राह्मणोंने जवाब दिया—'साहब! श्री-सीताजीका मन्दिर बनाना है। लेकिन उसके लिये हम लोग सिर्फ़ पत्थर ही जमा कर सके हैं। शेष कामके लिये काफ़ी धन जमा करनेमें हम असमर्थ हैं। ऐसे सत्कार्यके सफलतापूर्वक सिद्ध होनेमें धनका अभाव ही एक बाधा हो रही है।'

'मुझे भी तुम्हारी देवीजीसे एक प्रार्थना करने दो।'

वहाँके भक्त ब्राह्मण अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और माता सीताजीके गुणों और महिमाओंका वर्णन करने लगे। उसे सुनकर साहबने उन लोगोंसे पूछा,—'क्या तुमलोग विश्वास करते हो कि तुम्हारी देवी भक्तोंकी मनोकामना पूरी करेंगी?'

ब्राह्मणोंने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—'निस्सन्देह।' कलक्टर साहबने फिर पूछा, 'अच्छा, यदि मैं भी तुम्हारी देवीजीसे कुछ प्रार्थना करूँ तो मेरी भी इच्छा उनकी कृपासे पूरी होगी?' ब्राह्मणोंने जवाब दिया 'जरूर।' तब साहबने उन लोगोंसे कहा, 'यदि तुम लोगोंकी बात सच हो तो मैं भी तुम्हारी देवीजीसे प्रार्थना करता हूँ कि इस झीलकी रक्षा, जिसकी मरम्मत हर साल हो रही है और पीछे जिसका नाश भी होता आ रहा है, यदि तुम्हारी देवीजीकी कृपासे हो जाय तो तुम्हारी देवीजीका मन्दिर बनानेका भार मैं अपने ऊपर लूँगा।' प्रार्थना करके साहब वहाँसे लौट गये। मरम्मतका काम पूरा हो जानेके बाद साहब अपने घर चले गये।

फिर वर्षा शुरू हुई। साहबको बड़ी चिन्ता लगी। अबकी बार साहब घरमें चुप न बैठ सके। उन्होंने मधुरांतकममें अपना पड़ाव डाला। एक रातको बहुत जोरसे पानी बरस रहा था। इतने जोरसे वृष्टि हो रही

थी कि उस समय बाहर निकलना भी बहुत कठिन था। साहब बहुत अधीर हो उठे। उनको ज़रा भी चैन न मिला। वे तुरंत हाथमें छत्री लेकर झीलकी तरफ़ लपके। उनके दो नौकर, जो उस समय जाग रहे थे, पीछे-पीछे चले। उनको साहबके कामपर बड़ा अचरज हो रहा था।

साहब झीलके बाँधपर आकर खड़े हो गये। आकाशसे मूसलधार वृष्टि हो रही थी। रह-रहकर बिजली चमकती थी। बिजलीके प्रकाशमें साहबने देखा कि झील पानीसे ठसाठस भरी है। अब यदि थोड़ा भी जल उसमें ज़्यादा पड़ जायगा तो बस, सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा।

साहब घबड़ाये हुए वहाँ आकर खड़े हो गये, जहाँ हर साल बाँध टूटता था। लेकिन वहाँ उन्हें कहीं टूट जानेका कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ा। अकस्मात् वहाँ बिजलीकी रोशनी दीख पड़ी। उस तेज:पुञ्जके बीचमें श्याम और गौर वर्णके दो सुन्दर युवक हाथमें धनुष-बाण लिये खड़े नज़र आये। उन दोनोंके सुन्दर और सुदृढ़ शरीर और उनके अनुपम रूप-लावण्यको देखकर साहबको बड़ा अचंभा हुआ। एक साथ आश्चर्य और भयका अनुभव होने लगा। वे एकाग्र-दृष्टिसे उसी तरफ़ देखने लगे, जहाँ दोनों वीर खड़े थे। अब साहबको पक्का विश्वास हो गया कि वे दोनों अलौकिक और अतुलनीय हैं। साहब अपनी छत्री और टोपी दूर फेंककर उन करुणामूर्तियोंके पैरोंपर गिर पड़े और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

नौकरोंको साहबका यह अद्भुत आचरण देखकर सन्देह हुआ कि कहीं हमारे साहब पागल तो नहीं हो गये। वे दोनों दौड़कर साहबके पास आये और घबड़ाये हुए-से पूछने लगे, 'साहब! आपको क्या हो गया?' साहब उन लोगोंसे गद्गद स्वरमें कहने लगे—'नादानो! उधर देखते नहीं हो? देखो उधर, उधर! कैसे सुन्दर—दो सुन्दर और बलवान् युवक हाथोंमें धनुषबाण लिये खड़े हैं। उनके चारों ओर बिजलीकी-सी रोशनी फैल रही है! उनमें एक हैं श्यामवर्णके और दूसरे गौर-वर्णके। उनकी आँखोंसे करुणाकी मानो वर्षा हो रही है। उनको देखते ही हमारी भूख-प्यास मिटती जा रही है। अभी उन दोनोंको देख लो। उधर देखो, उधर!!!'

नौकरोंको कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा। साहबको पूरा विश्वास हो गया कि स्वयं श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीने ही झीलकी रक्षा की। दूसरे दिन सबेरे ही मधुरांतकम-के लोगोंने पहली बार देखा कि झील पानीसे परिपूर्ण है। लोगोंके आनन्दकी कोई सीमा न थी। साहबने अपने कथनानुसार दूसरे ही दिनसे श्रीसीताजीके मन्दिरका काम शुरू कर दिया। जबतक मन्दिरका काम पूरा न हुआ, तबतक वे वहीं रहे। जिस दिन झीलकी रक्षा हुई, उस दिनसे वहाँके श्रीरामचन्द्रजीका नाम पड़ा 'एरि कात्त पेरुमाल' अर्थात् 'भगवान् जिसने झीलकी रक्षा की है।'

श्रीजानकीजीके मन्दिरमें एक पत्थरपर तामिलमें यह बात खुदी हुई है, जिसके माने यह हैं कि, 'यह धर्म-कार्य जान कम्पनीके जागीर-कलेक्टर लियानल प्राइसका है।' इस विचित्र घटनासे हम लोगोंको मालूम होता है कि एक अंग्रेज ईसाई सज्जन श्रीरामचन्द्रजीके भक्त बनकर उनके दर्शन पा सके और श्रीसीताजीके मन्दिरके निर्माता बने। जो मनुष्य भगवान्‌का सच्चा भक्त है और भगवान्‌पर विश्वास करके उनको मानता है, वह चाहे जिस कुलका भी क्यों न हो, उसपर दयासिन्धु भगवान्‌की पूर्ण रूपसे अनुकम्पा रहती है।

(हिन्दीप्रचार-समाचार)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

व्यायाम और खेल-कूद

पिता—केशव ! क्या तुम जानते हो कि हर एक मशीन काम करनेसे घिसती है ?

केशव—हाँ, सो तो घिसेगी ही।

पिता—लेकिन कुछ मशीनें ऐसी भी हैं जो काम करनेसे घिसती नहीं, बल्कि और सुन्दर, मजबूत तथा बढ़िया बन जाती हैं।

केशव—वाह ! यह तो एक विचित्र बात है !

पिता—हाँ, दुनियाकी सबसे विचित्र बात !

केशव—भला, ये मशीनें हैं कहाँ ?

पिता—सबके पास हैं।

केशव—अरे, क्या इतनी सस्ती हो गयीं ? पर आपके पास तो नहीं हैं।

पिता—मेरे पास भी हैं और तुम्हारे पास भी।

केशव—अयँ ! आप किन मशीनोंकी बात कह रहे हैं ?

पिता—मेरा मतलब अपनी देहकी मशीनोंसे है।

केशव—ओह, अब समझा। परन्तु क्या हमारी देहकी मशीनें काम करनेसे घिसती नहीं ?

पिता—घिसती हैं, परन्तु ये मशीनें सजीव होती हैं। इसलिये अपनी क्षतिको अपने-आप पूरा कर लिया करती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इनमें क्षतिकी अपेक्षा पूर्तिकी चाल अधिक तेज हो जाती है। इसीलिये ये मशीनें काम करनेसे दिन-पर-दिन अधिक पोढ़ी, अच्छी और सुन्दर बनती जाती हैं।

केशव—क्या इसके लिये कोई प्रमाण भी मौजूद है ?

पिता—हाँ, प्रमाण एक नहीं अनेक हैं और सब प्रत्यक्ष हैं। तुम उस जीवन लोहारको तो जानते होगे जिसकी दूकान लोहहीमें है ?

केशव—जी हाँ, खूब अच्छी तरह जानता हूँ। उसे तो मैं रोज ही आते-जाते देखा करता हूँ।

पिता—क्या तुमने उसकी भारी-भारी भुजाओंपर भी ध्यान दिया है ? कैसी मोटी और मजबूत हैं ?

केशव—हाँ, बहुत ही मजबूत हैं। तभी तो वह इतना भारी घन उठा-उठाकर घंटोंतक चलाता रहता है और फिर भी नहीं थकता।

पिता—हाँ, लेकिन ये भुजाएँ भी इतनी मोटी और मजबूत केवल इसीलिये हैं कि उन्हें रोज उस घनको घंटोंतक चलाना पड़ता है। यदि आज वह इस कामको छोड़ दे और पढ़ने-लिखनेका काम करने लगे, तो वे भुजाएँ भी वैसी न रह जायँगी। भला क्या तुमने कभी दफ्तरके बाबुओंकी भी भुजाएँ ऐसी मोटी और मजबूत देखी हैं ?

केशव—नहीं, उनकी भुजाएँ तो प्राय: कोमल और सुकुमार हुआ करती हैं।

पिता—हाँ, क्योंकि बाबुओंको लोहारकी तरह भारी-भारी घन नहीं चलाना पड़ता, केवल कलम चलानी पड़ती है। यदि आज जीवन लोहार किसी दफ्तरके बाबूसे अपना काम बदल ले, तो थोड़े ही दिनोंके बाद उन दोनोंकी भुजाओंमें बहुत बड़ा परिवर्तन दिखायी देने लगेगा। अर्थात् जीवनकी भुजाएँ तो दिन-पर-दिन कोमल और कमजोर होती जायँगी और बाबूकी भुजाएँ अधिकाधिक मोटी तथा मजबूत होने लगेंगी। यही नियम शरीरके हर एक अंगके लिये लागू है। उदाहरणार्थ जिन लोगोंको नित्य दिनभर बाइसिकिलपर दौड़ना पड़ता है, उनकी टाँगें उसी प्रकार मजबूत हो जाती हैं, जैसे लोहारके हाथ। इसी तरह आँखें और कान भी नित्यके अभ्याससे बहुत अधिक तेज हो जाते हैं। जिन लोगोंको आँखोंसे बराबर काम लेना पड़ता है, उनकी आँखें बहुत-सी ऐसी चीजोंको देख सकती हैं, जिन्हें दूसरे लोग नहीं देख पाते और जिन लोगोंको अपने कानसे बराबर काम लेना पड़ता है उनके कान बहुत-से ऐसे शब्द सुन सकते हैं, जिन्हें दूसरे लोग नहीं सुन पाते। मैंने उस दिन एक किताबमें पढ़ा था कि जंगली आदमियोंकी आँखें कुछ मोटी और उभरी हुई हुआ करती हैं, क्योंकि उनकी मांसपेशियाँ शत्रु या शिकारकी खोजमें दूर-दूरतक देखने और

ज़ोर देकर देखनेके कारण बड़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार उनके कान भी ज़ोर देकर सुननेके कारण बहुत तेज़ हो जाया करते हैं।

केशव—अच्छा यदि किसी अंगको बिल्कुल ही काममें न लाया जाय तो क्या हो?

पिता—जो अंग बिल्कुल ही काममें न लाया जायगा उसकी मांसपेशियाँ सिकुड़ कर छोटी पड़ जायँगी और वह अंग सूखकर मुर्दा हो जायगा। क्या तुमने प्रयागके माघमेलेमें उस साधूको नहीं देखा था, जो अपने हाथको सदा ऊपर ही उठाये रहता था?

केशव—हाँ-हाँ देखा था। ठीक है, अब ख़याल आया। उसका एक हाथ ऊपरको उठा हुआ था और सूखकर बिल्कुल लकड़ी-सा बन गया था।

पिता—हाँ, वह लकड़ी-सा इसीलिये बन गया था कि उससे वर्षोंतक कोई काम नहीं लिया गया। यदि हम अपने शरीरको बिल्कुल ठीक हालतमें मज़बूत और नीरोग रखना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि अपने प्रत्येक अङ्गसे उचित ढंगपर काम लें। कुछ धंधे ऐसे हैं, जिनमें शरीरपर अपने-आप काफी मेहनत पड़ जाती है, जैसे किसानीका काम, बाग़वानीका काम, मल्लाहीका काम, धोबीका काम इत्यादि। अतएव ऐसे धंधेवालोंको अलगसे मेहनत करनेकी ज़रूरत नहीं जान पड़ती। किन्तु बहुत से धंधे ऐसे हैं, जिनमें या तो सबेरेसे शामतक बैठे रहना पड़ता है अथवा केवल आँखों और अङ्गुलियोंसे काम करना पड़ता है, जैसे दर्ज़ीका काम, मोचीका काम, दूकानदारीका काम, चित्रकारीका काम इत्यादि। ऐसे धंधेवालोंके लिये ज़रूरी है कि वे नित्य नियमपूर्वक खुली हवामें कुछ देर ऐसे परिश्रमके काम करें, जिनसे उनके हाथ, पैर और सम्पूर्ण शरीरकी मांसपेशियाँ सञ्चालित हो सकें। तभी उनका शरीर ठीक हालतमें रह सकता है और तभी वे सब रोगोंसे बच सकते हैं। पढ़ने-लिखनेवालोंको तो केवल मस्तिष्कसे ही काम करना पड़ता है। अतएव ऐसे लोगोंको इस प्रकारके शारीरिक परिश्रमकी और भी ज़्यादा ज़रूरत है। वास्तवमें हमारा शरीर सदैव परिवर्तन चाहता है। अस्तु, जिन लोगोंको दिनभर शारीरिक परिश्रम करना पड़ता हो, उन्हें आवश्यक है कि वे अपने शरीरको कुछ देर आराम दें। और जिन्हें सबेरेसे सन्ध्यातक केवल बैठना पड़ता हो अथवा मस्तिष्कसे काम करना पड़ता हो, उन्हें आवश्यक है कि वे कुछ देरतक शारीरिक परिश्रम करें। ऐसा शारीरिक परिश्रम जो नियमपूर्वक शरीरको ठीक रखने या उसे अधिक उन्नत और बलवान् बनानेके लिये किया जाता है, कसरत या व्यायाम कहलाता है। व्यायामकी महिमा बड़ी भारी है। हमारे प्राचीन आर्योंमें इसका बेहद प्रचार था। इसीके प्रतापसे बालि, अङ्गद, हनूमान्, बलराम तथा भीम-जैसे अलौकिक बलशाली पहलवान यहाँ हो चुके हैं, जिनकी कीर्ति-कहानी हमारे यहाँ आज भी घर-घर कही और सुनी जाती है। प्राचीन यूनान देशमें भी, जिसने समस्त यूरोपको पहले-पहल अभ्युत्थानका मार्ग दिखलाया था, व्यायामकी लोकप्रियता बेहद बढ़ी हुई थी। व्यायामके ही द्वारा वहाँके निवासियोंने किसी समय अपने शारीरिक विकासको यहाँतक पूर्णतापर पहुँचा दिया था, कि इटलीके शिल्पकार आजतक उनके शारीरिक सौन्दर्यको अपनी मूर्तियोंमें दिखानेकी चेष्टा किया करते हैं। यूनानी व्यायामशालाओंके नाम हज़ारों वर्ष बाद आज भी बड़े आदरके साथ लिये जाते हैं और ओलम्पिक खेलों (Olympic Games) की यादगार आज भी दुनियामें बड़े गौरवकी चीज़ बनी हुई है। आजकल भी तुमने सैण्डो और प्रोफ़ेसर राममूर्तिका नाम तो सुना होगा?

केशव—जी हाँ। मैंने सुना है कि राममूर्ति दो-दो मोटरोंको एक साथ रोक लेते थे और लोहेकी मोटी-मोटी ज़ंजीरोंको केवल अपने झटकेसे तोड़ देते थे।

पिता—हाँ, यह सारी महिमा भी व्यायामकी ही है। कहाँतक कहें, इसकी महिमाको सम्पूर्ण रूपसे बतलानेके लिये बहुत-सा समय चाहिये। अतएव थोड़ेमें तुम इतना ही समझ लो कि हमारे शरीरका सम्पूर्ण उत्थान और पतन एक 'व्यायाम' शब्दके अंदर ही छिपा हुआ है। उचित व्यायामकी आवश्यकता हमारे शरीरकी उन्नतिके लिये उतनी ही अधिक है, जितनी

कि उचित भोजनकी आवश्यकता। व्यायाम और भोजन— बस ये ही दो ऐसे पहिये हैं, जिनपर हमारे शरीरकी गाड़ी उन्नतिके रास्तेपर आगे बढ़ सकती है। यदि इनमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जाय तो गाड़ी लँगड़ी हो जायगी और नीचे गिर पड़ेगी। अतएव हमें इन दोनोंहीपर पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। दुनियामें आजकल जितने भी उन्नतिशील राष्ट्र हैं, सबों-में इन दोनों बातोंपर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। जर्मनी हो या जापान, इंगलैंड हो या अमेरिका—सब जगह व्यायामकी महत्ता उतनी ही अधिक मानी जाती है, जितनी भोजनकी आवश्यकता। किन्तु हमारे देशमें बात बिल्कुल उलटी दिखायी देती है। यहाँ तो जिन लोगोंको सबेरेसे शामतक कठिन शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है, उन्हें पेटभर भोजन नहीं जुरता और जिन्हें दूध-मलाई और मालपूआ खानेको मिलता है, वे शारीरिक परिश्रमके पास नहीं फटकते। अस्तु, ऐसी अवस्थामें यदि हम अधिकतर रोगी और कमजोर बने रहें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? याद रखो कि व्यायामको छोड़कर और कोई भी ऐसा दूसरा साधन नहीं है, जिससे हमारा खून हमारे शरीरके हर एक भागमें अच्छी तरह बराबर चक्कर लगाता रहे। हमारे शरीरमें मीलों लंबी खूनकी ऐसी पतली-पतली नालियाँ बिछी हैं कि उनके सामने एक बाल भी इतना मोटा जान पड़ता है जितना एक बारीक सूतके सामने मोटा रस्सा। अस्तु, इन तमाम नालियोंमें खूनका बराबर दौड़ते रहना तभी सम्भव है जब कि हम कसरतद्वारा शरीरके हर एक हिस्सेपर पूरा जोर डालें और उसे सञ्चालित करें।

केशव—यदि यह खून सब जगह ठीक-ठीक न दौड़े तो क्या होगा?

पिता—देखो, खूनके दौड़नेसे हमारे शरीरमें दो प्रकारके काम होते हैं; प्रथम तो शरीरके हर एक हिस्से-को पूरा-पूरा भोजन मिल जाता है, जिससे हमारी तमाम क्षति पूरी हो जाती है। इस सम्बन्धमें पहले बतला चुका हूँ कि अन्य मशीनोंके समान हमारे शरीरकी मशीनें भी काम करनेसे बराबर घिसती रहती हैं। हम स्वयं चाहे कोई काम न भी करें, परन्तु हमारे भीतरकी मशीनोंका काम नहीं रुक सकता। वे तो अपना काम हर घड़ी और हर क्षण, जबतक हम जीते हैं, करती ही जायँगी। उदाहरणार्थ हमारे हृदय, फेफड़े, पाकाशय, जिगर, गुर्दे आदि अपना काम एक पल-भरके लिये भी नहीं छोड़ सकते, चाहे हम सोते रहें या जागते, काम करते रहें या बैठे। अतएव इनका घिसना और छीजना भी दिन-रात बराबर जारी रहता है। लेकिन यह सारी क्षति हमारे भोजन किये हुए पदार्थोंके रससे ये पूरी कर लिया करते हैं और यह रस इनके पासतक हमारे खूनके ही द्वारा पहुँच सकता है। अस्तु, जबतक हमारा खून इनकी बारीक-से-बारीक रगोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक न दौड़े, तबतक इन्हें पूरी-पूरी खूराक नहीं मिल सकती और न ये अपनी क्षतिको ही किसी तरह पूरा कर सकते हैं। खूनके दौड़नेसे जो दूसरा काम हमारे शरीरमें हुआ करता है, वह है शरीरकी भीतरी सफाई। इस सम्बन्धमें हम उस दिन 'स्वच्छ वायु-सेवन' की चर्चा करते हुए तुम्हें बतला चुके हैं* कि किस प्रकार हमारे भीतरकी गंदगी खूनके साथ शरीरके हर एक भागसे बहकर फेफड़ोंमें आती है और फिर किस प्रकार कार्बोनिक एसिड गैसके रूपमें वह श्वासके द्वारा बाहर निकाल दी जाती है। पश्चात् हमारा खून फेफड़ोंसे हवाकी आक्सीजनको लेकर शरीरके प्रत्येक भागमें लौट जाता है और फिर उसे पोषित करता है। अस्तु, यदि यह खून शरीरके हर एक भागमें और उसकी पतली-से-पतली नालियोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक न दौड़े, तो न तो हमारे भीतरकी भलीभाँति सफाई होगी और न उसे पूरी-पूरी खूराक या पोषण ही मिलेगा। परिणाम यह होगा कि हमारा शरीर दिन-पर-दिन दुर्बल, रोगी और क्षीण होता जायगा।

केशव—अच्छा तो व्यायाम किया कैसे जाता है?

पिता—व्यायाम करनेकी सैकड़ों विधियाँ हैं। इनमेंसे दंड और बैठक करना तथा मुगदर भाँजना—हमारी देशी

* 'कल्याण' का गत जनवरीवाला अङ्क देखिये।

और बहुत पुरानी विधि है। आजकलकी नयी विधियोंमें डम्बेल और जिम्नास्टिककी कसरतें भी बहुत अच्छी हैं। इनसे शरीरका विकास बड़े सुन्दर रूपमें होता है। इनके अतिरिक्त दौड़ना, कूदना, उछलना, पानीमें तैरना, नाव खेना और घुड़सवारीका काम भी व्यायामके ही अन्तर्गत है। तरह-तरहके खेल-कूद भी व्यायाममें ही शामिल हैं, जैसे टेनिस, पोलो, हाकी, फुटबाल, वॉलीबाल, क्रिकेट इत्यादि। इनमेंसे कुछ खेलोंका प्रबन्ध प्राय: हर एक अंग्रेजी स्कूल और कालिजमें रहा करता है। किन्तु ये सब खेल पैसेवालोंके लिये हैं। हमारा हिंदुस्तानी कबड्डीका खेल एक ऐसा खेल है, जिसमें कसरत और मनबहलाव तो उतना ही होता है जितना उपर्युक्त खेलोंमें, किन्तु पैसा एक भी नहीं खर्च होता। अतएव इससे गरीब और अमीर सब लाभ उठा सकते हैं। योगासनकी क्रियाएँ भी हमारी नसों, रगों और मांसपेशियोंको खींचने और ताननेमें बड़ा काम करती हैं। साथ ही इनसे साँस भी जल्दी नहीं फूलती। अलग-अलग प्रकारके आसन अलग-अलग अंगोंके लिये उपयोगी बतलाये जाते हैं। इनमेंसे 'शीर्षासन' की प्रशंसा सबसे ज़्यादा है। किन्तु कुछ लोगोंको यह ठीक नहीं पड़ती। मैंने भी जब-जब इसे आरम्भ किया तब-तब सिरमें कठिन पीड़ा पैदा हो गयी। इसलिये मुझे तो 'सर्वांगासन' और 'मयूरासन' ही ज़्यादा अच्छे जँचे। इनसे पेट, पीठ, छाती, टाँगों और अँतड़ियोंकी कसरत बहुत अच्छी हो जाती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको अपनी-अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुसार अपने ढंगकी कसरत स्वयं पसंद कर लेनी चाहिये। उद्देश्य सबका एक ही है, अर्थात् शरीरका स्वास्थ्य। हाँ, कसरत चुननेमें इस बातका ध्यान जरूर रहे कि शरीरकी सम्पूर्ण मांसपेशियोंपर या उसकी अधिक-से-अधिक मांसपेशियोंपर जहाँतक सम्भव हो ज़ोर डाला जा सके और यह ज़ोर कभी आवश्यकतासे अधिक न हो। वैसे तो हमारे प्रत्येक अंगका सम्बन्ध दूसरे अंगोंके साथ इतना घनिष्ठ है कि किसी भी एक अंगके सञ्चालनसे दूसरे अंगोंपर प्रभाव पड़ना जरूरी है। उदाहरणके लिये लोहारको केवल अपनी भुजाओंसे काम लेना पड़ता है, किन्तु फिर भी उसके हृदय और फेफड़ोंका काम भी उससे बढ़ ही जाता है और रक्तके सञ्चालनमें भी तेज़ी आ जाती है, जिससे शरीरकी सम्पूर्ण क्रिया तेज हो जाती है। लेकिन भुजाओंकी मांसपेशियोंपर विशेष रूपसे ज़ोर पड़नेके कारण केवल उसी भागका विकास अधिक होता है; शेष दूसरे भाग उतना विकास नहीं पाते। अस्तु, आदर्श व्यायाम वह है, जिससे शरीरके प्रत्येक भागपर समानरूपसे और उचित मात्रामें ज़ोर पड़े और सम्पूर्ण शरीरका समानरूपसे विकास हो। इस विचारसे खुले मैदानमें प्रात:काल तेज़ीके साथ पैदल चलना सबसे अच्छी कसरत कही जा सकती है। इससे हाथ, पैर, छाती, पेट और अँतड़ियोंका एक साथ और समानरूपसे व्यायाम हो जाता है। साथ ही मैदानकी स्वच्छ वायुके सेवन तथा प्रकृतिके चित्र-विचित्र दृश्योंको देखनेसे मन भी अत्यन्त प्रफुल्लित और पवित्र हो जाता है। तुम्हारे लिये हम एक और कसरत बतलाते हैं, जिसे तुम घरपर आसानीसे कर सकते हो।

केशव—वह कौन-सी कसरत है?

पिता—वह है एक जिम्नास्टिककी कसरत, किन्तु घरपर आसानीसे की जा सकती है और बड़ी अच्छी भी है। एक मामूली लोहेका दो हाथ लंबा पाइप, अथवा लकड़ीका चिकना डंडा, लाठी या बाँस लेकर और उसके दोनों सिरोंको तार या रस्सीसे बाँधकर उसे छतसे आड़ा टाँग लो। और बस फिर इसी डंडेको रोज दोनों हाथोंसे पकड़कर लटको और ज़ोर-ज़ोरसे झूलो। इस प्रकार दो-चार मिनट झूल लेनेके बाद अपनी टाँगोंको और सारे शरीरको कड़ा करके धीरे-धीरे ऊपरको उठाओ और डंडेको अपने मुँहसे छुआओ। पश्चात् उसी प्रकार धीरे-धीरे फिर नीचेको आ जाओ। इस प्रकार तीन-चार बार करो। तत्पश्चात् उसी तरह लटकते हुए शरीरको कड़ा करके टाँगोंको जितना ऊपर ले जा सकते हो धीरे-धीरे ले जाओ और फिर नीचे ले आओ। इसे भी रोज तीन-चार बार करो। इस प्रकार केवल पाँच-सात मिनटकी कसरतसे सारे

शरीरका व्यायाम हो जायगा और फिर किसी दूसरे प्रकारके व्यायामकी जरूरत न रहेगी।

केशव—लेकिन क्या इतनी ही कसरतसे हम राममूर्तिकी तरह बलवान् बन सकते हैं ?

पिता—नहीं, और न हमें उसकी आवश्यकता ही है। लोहेकी जंजीरें तोड़ना, मोटरगाड़ियाँ रोकना अथवा पहलवानी करना पेशेवर लोगोंके काम हैं। ऐसे लोग अपना सारा ध्यान केवल शारीरिक बलको बढ़ानेमें ही लगाया करते हैं और फिर उनसे दूसरा काम नहीं हो सकता। मस्तिष्कका काम तो ऐसे लोगोंसे बहुत ही कम हो सकता है और ये दीर्घायु भी अधिकतर नहीं देखे जाते। हम और तुम-जैसे व्यक्तियोंका उद्देश्य शारीरिक बलको उतना बढ़ाना नहीं है, जितना उसे स्वस्थ, नीरोग और जीवनमें अधिक-से अधिक काम लायक बनाये रखना है। अतएव हमें केवल उतने ही व्यायामकी जरूरत है, जितनेसे हमारा शरीर सदा स्वस्थ और फुर्तीला रह सके और हमारी मानसिक शक्तियोंके विकासमें सहायता मिले।

केशव—अच्छा, हमें कसरत करनी किस समय चाहिये।

पिता—कसरतका सबसे अच्छा समय प्रातःकाल है। सन्ध्याको भी वह की जा सकती है, किन्तु सन्ध्यामें मनुष्य दिनभरकी मेहनतके बाद थका हुआ-सा रहता है। अतएव ऐसे समयमें कठिन व्यायामके लिये तबियत नहीं होती। लेकिन सबेरे हो या सन्ध्या, कसरत कभी भोजनके बाद तत्काल ही नहीं करने लगना चाहिये, नहीं तो लाभके बजाय हानि ही उठानी पड़ेगी। भोजनके कम-से-कम तीन-चार घंटे बाद ही कसरत की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कसरत सदैव स्वच्छ और खुली हुई हवामें करनी चाहिये। बंद कोठरियोंमें अथवा गर्द या धुएँसे भरी हुई हवामें कसरत करना सदैव हानिकारी सिद्ध होती है।

केशव—समझ गया। अब कल सबेरेसे ही कसरत शुरू कर दूँगा।

भय अध्यात्ममार्गका बाधक है

(लेखक—प्रो० श्रीफ़ीरोज़ कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

ईश्वरमें विश्वास अध्यात्ममार्गकी पहली सीढ़ी है। यह पहला गुण है, जो साधकके प्राणोंमें भगवत्कृपा प्राप्त करनेकी आशाका सञ्चार करता है। भगवान्‌में विश्वास और उनकी कृपाकी आशा—इन दो गुणोंको जिज्ञासु जितने अंशमें अपना पाता है, उतने ही अंशमें वह मनोबलसे सम्पन्न होता है, निर्भीक होता है। और सदुद्देश्यकी सिद्धिके लिये निर्भीक चेष्टा ही उसे मार्गके क्लेश और आयासको सहन करनेकी शक्ति देकर अन्ततः अपने चरम लक्ष्यतक पहुँचाती है। संशय और सन्देह बहुत अंशोंमें मनुष्यको आशाहीन बना देता है, उसके बलको क्षीण कर देता है, और शुभ एवं पुण्य कर्म करनेके सङ्कल्पको शिथिल कर देता है। संशयात्मा पुरुषमें साहस और मनोबलका अभाव होता है; वह सदा सन्देह और भयका शिकार बना रहता है, जिसके कारण वह धैर्यके साथ आये हुए दुःखोंको सहन नहीं कर पाता बल्कि नये-अनागत दुःखोंके जालमें स्वयं फँस जाता है। भय अध्यात्मरूपी शरीरके लिये एक जहरीला फोड़ा है, जो मनुष्यको भगवान् एवं मनुष्यके प्रति अपने कर्तव्यका पालन नहीं करने देता और उसके चित्तको अपनेमें ही भुलाये रखता है। भयसे दुःखकी निवृत्ति कदापि नहीं होती; वह तो पहलेसे दुःखकी सम्भावना खड़ी कर देता है और दुःखको बुलाता है, फिर चाहे दुःख आये ही नहीं, तथा दुःखके आनेपर वह उसे बढ़ा देता है और तिलको पहाड़का रूप दे देता है। मनुष्यके भाग्यमें सुख बदा हो, तो भी भय उस भाग्यको चरितार्थ नहीं होने देता। यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि 'अविश्वास' नामकी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि अविश्वास भी एक प्रकारका विश्वास ही है—विश्वासके अभावमें विश्वासका ही नाम तो अविश्वास है। इसी प्रकार भयका अर्थ अविश्वास नहीं किन्तु विश्वास ही है—वह विश्वास शुभमें न होकर अशुभमें होता है; और इस प्रकार भीरु मनुष्य चाहे वह धर्मात्मा ही क्यों न हो, अनजानमें शैतानके हाथका खिलौना बन जाता है, कुप्रवृत्तियोंके—आसुरी प्रवृत्तियोंके वशीभूत हो जाता है। गीता (१६। १–३) में जिन दैवी गुणोंका वर्णन आया है, उनमें सर्वप्रथम स्थान 'अभय' को दिया गया है; और उसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि दैवी सम्पदा मुक्तिकी ओर ले जानेवाली है और आसुरी सम्पदा बन्धनकी ओर।

जो लोग संसारमें सुख-चैनसे रह रहे हैं, सम्पन्न अवस्थामें हैं, उन्हें धनके नाश हो जाने अथवा भारी घाटा

लगानेका भय सदा ही बना रहता है। स्वास्थ्यकी हानि, बुढ़ापा, अशक्तता तथा इन सबके कारण होनेवाली पराधीनताका भय भी दुःखका एक अव्यर्थ कारण है। कीर्ति एवं लोकप्रियताके नाशका भय बहुधा लोगोंको इतना भीरु बना देता है कि वे प्रचलित रूढियोंको भ्रममूलक और प्रत्यक्ष हानिकर निश्चय कर चुकनेपर भी उनके दास बने रहते हैं, क्योंकि उनमें इतना मनोबल नहीं होता कि वे अपने विचारोंको सबके सामने प्रकट कर सकें। बहुधा धर्मभीरु पुरुष, सर्वथा निर्दोष होनेपर भी, किसी अभियोगमें फँस जानेके भयसे आत्महत्यातकपर उतारू होते देखे गये हैं। और सबसे अधिक अपनी तथा अपने प्रियजनोंकी मृत्युका भय हमें सर्वथा पौरुषहीन बना देता है, हमारे सारे सुखोंको किरकिरा कर देता है और दुःखोंको बढ़ा देता है। भयसे न तो हमें आनेवाले दुःखसे त्राण मिलता है, न प्राप्त दुःखकी निवृत्ति होती है और न उसका दंश ही कम होता है; बल्कि यह तो मन्थर विषकी भाँति जीवनको, विशेषकर आध्यात्मिक जीवनको नष्ट कर देता है। परन्तु सच्चे आध्यात्मिक पुरुष लोकापवादसे कभी नहीं डरते, वे तो सदा अपने अन्तरात्माकी अनुमतिकी ही अपेक्षा रखते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि लॉंगफ़ेलो- (H. W. Longfellow) ने क्या ही सुन्दर कहा है—

'हमारी जय और पराजयका निर्णय हमारे अन्तरात्माके द्वारा ही होता है, सड़कपर एकत्रित हुए जनसमूहके नारोंसे अथवा एक स्थानपर सम्मिलित हुई भीड़के जयघोषों और साधुवादोंसे नहीं।'*

वृद्धावस्था, अशक्तता एवं पराधीनता—तीनों ही महान् दुःख हैं, यहाँतक कि इनकी कल्पना भी दुःखदायिनी है। परन्तु इनकी निवृत्तिका उपाय भय नहीं है; इनका निराकरण तो उच्च श्रेणीकी आध्यात्मिक शक्तिके अर्जनसे ही हो सकता है, जिससे मनुष्य शरीरसे ऊपर उठकर आत्मामें स्थित हो सके। किन्तु इस प्रकारका आध्यात्मिक जीवन—इस प्रकारकी आध्यात्मिक स्थिति भगवान्‌के अत्यन्त निष्ठावान् भक्तोंको ही प्राप्त हो सकती है, जिन्हें अपने शारीरिक कष्टोंकी अपेक्षा आत्माका अनुभव अधिक होता है। सच बात तो यह है कि भयकी यह कठिनतासे छूटनेवाली बीमारी आध्यात्मिक नुस्खेसे ही दूर हो सकती है; और भगवान्‌के मार्गपर मनुष्य जितना आगे बढ़ता है, उतनी ही निर्भीकतासे वह जीवनकी समस्याओंका मुकाबला करता है। ईश्वरमें पूर्ण विश्वास हो जानेपर और उसकी मर्जीपर अपनेको छोड़ देनेपर वास्तविक एवं कल्पित सभी प्रकारके दुःखोंका भय जाता रहता है। पतिव्रता एवं पतिभक्ता नारीको अपने पतिके चरित्रके सम्बन्धमें कभी कोई सन्देह नहीं होता, चाहे उसका पति वास्तवमें चरित्रहीन ही क्यों न हो; फिर स्वयं भगवान् जिसके प्रियतम हों—जिनके विषयमें चरित्रहीनता अथवा लम्पटताकी कल्पना ही नहीं हो सकती—उस सच्चे भक्तमें तो भयका नामोनिशान भी नहीं रह सकता। वह तो अपने ऊपर आनेवाले कष्टोंको परीक्षाके रूपमें ग्रहण करेगा, अथवा अपने ही पूर्वकृत दुष्कृतोंका ईश्वरके द्वारा भेजा हुआ दण्ड समझेगा।

भय और द्वेष बहुधा साथ-साथ रहते हैं। मनुष्य डरता उसीसे है, जिसके प्रति उसके मनमें द्वेष होता है, और डर भी उसका उसी मात्रामें होता है जिस मात्रामें उसका द्वेष होता है। बंदरघुड़की दिखानेवाले लोग बहुधा डरपोक होते हैं; जितना जल्दी वे कमजोरपर रोब गाँठने लगते हैं, उतना ही जल्दी वे बलवान्‌के सामने झुक जाते हैं और उसकी खुशामद करने लगते हैं। संसारकी सबसे अधिक लड़ाकू जातियाँ बाहरी आक्रमणोंसे सबसे अधिक भयभीत रहती हैं; और भय, सन्देह एवं द्वेषके कारण उनमें सब ओरसे युद्धकी सामग्री—रण-सज्जाकी इतनी अधिक वृद्धि होती है कि उसे देखकर दुःख होता है। अतः भयकी दूसरी दवा मनुष्यजातिके प्रति प्रेम है। असीसीके संत फ्रान्सिसने अपने प्रेमके द्वारा एक खूँखार भेड़ियेको वशमें कर लिया था, और थोरो (H. D. Thoreau) के प्रेमपूर्ण व्यवहारसे वशीभूत होकर गिलहरी उनके हाथसे दाने चुगने लगी थी। हमारे इस अभागे देशमें आये दिन जो साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं, उनमें देखा गया है कि एक जातिके मनस्वी और अहिंसाव्रती पुरुष निर्भय होकर दूसरी जातिकी बस्तियोंमें घूमते हैं और उनके प्राण अथवा शरीरको आँच भी नहीं आती। प्रेम और अहिंसाका जोड़ा है तथा निर्भयता इन दोनोंके साथ अनिवार्यरूपसे रहती है। बहुधा देखा गया है कि भयके वशीभूत होकर मनुष्य हिंसा कर बैठता है, यही कारण है कि साँप मनुष्यको काटनेकी घातमें रहता है और मनुष्य जहाँ भी किसी साँपको देखता है, उसे मारने दौड़ता है। भय और प्रेम एक साथ नहीं रह सकते और जैसा कि बाइबलमें कहा है, 'प्रेममें भय नहीं होता, बल्कि पूर्ण प्रेम भयको सर्वथा भगा देता है।'*

भयकी जाग्रति प्रायः दुराचारीके मनमें होती है; उसे कानूनका, अथवा यदि वह धर्मभीरु होता है तो, यमराजके

* Not in the clamour of the crowded street,
Not in the shouts and plaudits of the throng,
But in ourselves are triumph and defeat.

* "There is no fear in love, but perfect love casteth out fear." (I John iv. 18)

दण्डका भय होता है। भय दुराचारका असाधारण लक्षण है, जिस प्रकार कँपकँपी शीतज्वर (मलेरिया) का लक्षण है; और दोनों ही व्याधियोंका शमन हो सकता है। अपराधको छिपानेकी चेष्टा कदापि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अपराधीके लिये अपने अपराधको छिपाना स्वयं अपराध है। अतिशय स्पष्टवादिताके द्वारा अपराधी समाजकी सहानुभूति प्राप्त कर सकता है, फिर उसे चाहिये कि वह कानूनको अपना काम करने दे। दुराचाररूपी रोगकी दवा भय नहीं है, किन्तु निर्भीकता और परिणामको भुगतनेकी तैयारी—चाहे वह कैसा ही भयङ्कर क्यों न हो—यही उसका समुचित उपचार है। इसके साथ-साथ हार्दिक पश्चात्ताप एवं उसी जातिका पापाचरण पुनः न करनेका दृढ़ संकल्प भी आवश्यक है। बीती हुई बातके लिये रोने-धोने और कायरकी भाँति लोकापवाद अथवा कानूनी दण्डके भयसे अभिभूत होनेकी अपेक्षा दुराचारीको स्पष्टवादिता एवं पश्चात्तापके द्वारा अपने हृदयको शुद्ध करनेसे अधिक शान्ति मिलेगी। ऐसे अनेक संगीन अपराध हैं, जो कानूनकी दृष्टिमें अपराध ही नहीं हैं, अतएव जिनके लिये कानूनमें कोई दण्डविधान नहीं है; अथवा जहाँ कानूनी कार्रवाई हो भी सकती है, वहाँ बहुधा योग्य वकीलकी युक्तियोंके द्वारा कानूनकी कड़ाईसे बचा जा सकता है। परन्तु इस प्रकारकी युक्तियोंसे मनुष्य-समाजकी दृष्टिमें कलंकसे भले ही बच जाय, परन्तु वह अपने सरजनहारके कोपसे अपनी आत्माकी रक्षा नहीं कर सकता। प्रतिभायुक्त किन्तु दूषित चतुराईके द्वारा पार्थिव शासकोंकी आँखोंमें धूल झोंकी जा सकती है, परन्तु अपराधीके हृदयमें बैठी हुई अदालत तो पहले ही उसके विरुद्ध फैसला दे चुकती है। वास्तवमें किये हुए अपराधका भय जीवनभर मनुष्यका पिंड नहीं छोड़ेगा और दूसरे अन्याय्य उपायोंके द्वारा यदि उसे दबानेकी चेष्टा की जायगी तो वह आत्माके लिये और भी क्लेशदायक हो जायगा। भयसे मुक्त होनेके लिये अपराधका दण्ड भुगतना ही होगा और अपराध-स्वीकार एवं पश्चात्तापके द्वारा उसके परिणामको निर्भय होकर ग्रहण करना होगा।

कभी-कभी सदाचारी पुरुष भी अपने पुत्रों अथवा सम्बन्धियोंके दूषित आचरणोंको निर्दोष सिद्ध करनेकी व्यर्थ चेष्टामें पड़कर, स्वयं अपराध कर बैठते हैं, और उस भूलके परिणामका भय उनके सम्पूर्ण शेष जीवनको अशान्तिमय बना देता है। भगवान् हमें पुत्र इसलिये देते हैं कि हम उन्हें शिक्षित कर धर्मके—न्यायके मार्गपर चला सकें, न कि इसलिये कि वे अपने माता-पिताकी आध्यात्मिक प्रगतिमें रोड़े अटकायें। दुर्भाग्यवश यदि किसी पिताको अपने पुत्रके दोषयुक्त आचरणका जान-बूझकर झूठा और पक्षपातपूर्ण समर्थन करना पड़े तो हमारी समझमें उस भूलके मार्जनका सर्वोत्तम उपाय यह है कि जिन-जिन लोगोंसे उसका सम्बन्ध हो, उन सबके सामने स्पष्ट शब्दोंमें अपनी भूल स्वीकार कर ली जाय और उसके लिये हृदयसे पश्चात्ताप तथा भगवान्से क्षमा-प्रार्थना की जाय।

अवश्य ही मानवीय विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें असंस्कृत एवं अविकसित प्रकृतिके जीवोंके लिये, जिनपर प्रेमका प्रभाव नहीं पड़ता अथवा जिनपर दूसरे प्रकारसे शासन नहीं किया जा सकता, भयकी आवश्यकता है। कुछ लोगोंके हृदयमें किसी मात्रामें भयका सञ्चार करना आवश्यक होता है; क्योंकि कुछ समयतक उनके लिये वह हितकारी होता है—जबतक कि वे इस योग्य न हो जायँ कि उन्हें तर्कके द्वारा समझाया जा सके, उनपर साम-नीतिका प्रयोग हो सके, उतने समयके लिये प्रेमके ही अरुणोदयके रूपमें भयकी आवश्यकता है। उदारतापूर्ण एवं अनुकूल व्यवहारके द्वारा प्रजा एवं सैनिकोंके हृदयपर अधिकार कर सकनेके पूर्व राजा एवं सेनापतिके लिये बहुधा यह आवश्यक होता है कि वे उनके भय एवं सम्मानके पात्र बनें। सरकसके बाघको तबतक भूखों मारते हैं, जबतक वह अपने रक्षककी आज्ञाओंका दुम दबाकर पालन न करने लगे; बालक जब अपने अध्यापककी बात माननेको किसी प्रकार भी राजी नहीं होता तब उसे बेंत दिखाकर डराया जाता है; जंगली जातियोंको, यदि वे समाजमें रहना चाहती हैं तो, समाजके नियमोंका पालन करनेके लिये कठोर कानूनद्वारा बाध्य किया जाता है; अपराधीको कानूनके भयसे शासनमें रक्खा जाता है और जिस क्षण वह उच्छृंखलता करता है, उसी क्षण उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई शुरू कर दी जाती है। परन्तु सरकसवाले यदि बाघको सदाके लिये भूखा रक्खें तो परिणाममें वह मर ही जायगा, और बालकको यदि निरन्तर ताड़ना ही दी जाय तो वह निश्चय ही मन्दबुद्धि हो जायगा, उसकी बुद्धिका विकास मारा जायगा। यह याद रखना चाहिये कि हम सभी पशुसे मनुष्य बनते हैं और मानवतासे देवत्वकी ओर—दैवी राज्यकी ओर बढ़ते हैं। अतः सभी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें तथा असंस्कृत प्रकृतिके जीवोंके लिये कुछ समयतक भय उपयोगी सिद्ध होता है; सहृदयतापूर्ण बर्तावका तबतक उनपर कोई असर नहीं होता जबतक कि पहले उन्हें भय नहीं दिखलाया जाता, और भयकी तभीतक आवश्यकता होती है, जबतक कि उनका हृदय सहृदयताको ग्रहण करनेके योग्य न बन जाय, प्रेमपूर्ण बर्तावकी कदर न करने लग जाय। 'भय बिनु होइ न प्रीति'—यह लोकोक्ति ऐसे ही जीवोंके सम्बन्धमें लागू होती है। इसी प्रकार सच्ची स्वतन्त्रताका मार्ग प्रशस्त करनेके लिये नियमोंका बन्धन—शास्त्रोंका

नियन्त्रण आवश्यक होता है, और पूर्णतया उन्नत समाजमें कानूनका पर्यवसान प्रेममें होता है ।

बहुधा हमें यह कहा जाता है कि भगवान् और उनके कोपसे डरो । परन्तु किसीसे डरनेकी आवश्यकता तभी होती है, जब कि हमने उसका कोई अपराध किया हो । यदि हमने उसका कोई अपराध नहीं किया है तो फिर हम उससे डरें क्यों । अतः पापाचारियोंको ही भगवान्से डरनेकी आवश्यकता है—जितने अंशमें उन्होंने पाप किये हैं । इसपर यह कहा जा सकता है कि साधु-से-साधु पुरुषसे भी अपराध बननेमें आते ही हैं, उनसे भी भूल होती है; और जगत्‌में सर्वथा निष्पाप मनुष्यका मिलना असम्भव है । यह ठीक है कि सर्वथा निष्पाप मनुष्यका जगत्‌में मिलना कठिन है; फिर भी हम स्पष्टवादिता, पश्चात्ताप एवं जो अपराध एक बार हमसे बन चुका है, उसे दुबारा न करनेके दृढ़ संकल्पके द्वारा अपने अन्तरात्माको शुद्ध करके पापके मार्गसे धर्मके मार्गपर लौट तो सकते ही हैं । ऐसा कर चुकनेके बाद भगवान्से डरते रहनेकी आवश्यकता नहीं है । भगवान्‌के सम्बन्धमें बहुधा ऐसी कल्पना की गयी है कि वे हमारे पाप-पुण्यका निर्णय करनेवाले न्यायाधीश हैं । परन्तु जबतक हम कोई ऐसा अपराध न कर बैठें, जो कानूनके द्वारा दण्डनीय हो, तबतक हम न्यायाधीशसे कभी नहीं डरते । जब कि हम एक सीमाके अंदर रहकर ईमानदारी एवं सचाईके साथ जीवन यापन करते हैं, तब हमारे लिये निरन्तर अफसरोंसे डरते रहना पागलपन ही है । परन्तु भगवान्‌की 'पिता'के रूपमें भी कल्पना की गयी है; और यद्यपि एक न्यायाधीशसे तो क्षमाकी आशा नहीं की जा सकती—क्योंकि इच्छा होनेपर भी वह कानूनसे बँधे रहनेके कारण दण्ड्य मनुष्यको क्षमा नहीं कर सकता, किन्तु पितासे तो हम इस प्रकारकी आशा कर ही सकते हैं । अतः 'न्यायाधीश'से निरन्तर डरते रहनेके बदले हम 'पिता' से निरन्तर प्रेम करते हुए उनकी इच्छाको—सङ्कल्पको पूर्ण करनेकी चेष्टा क्यों न करें और इस प्रकार अपने हृदयसे भयके भूतको सदाके लिये भगा दें । मोक्षके मार्गपर पैर रखनेके पहले हमें सन्देहको विश्वासमें, भयको प्रेममें, निराशाको आशामें और नश्वरताको अमरतामें बदल देना होगा ।

भयकी सर्वथा निवृत्ति यद्यपि असम्भव तो नहीं है, किन्तु इसमें सफलता बड़े ऊँचे साधकोंको ही मिल सकती है । भयका मूल अहङ्कार है, जो जगत्‌के इस विशाल एवं जटिल जालको रच देता है और आत्मा उसीमें फँस जाता है । यदि आत्मा अहङ्कारके द्वारा निर्मित इस जालसे अपनेको पृथक् करके इसका द्रष्टा बन जाय और इसे एक लुभावना किन्तु सारहीन मायाका खेल समझ ले तो जिस वस्तुके साथ उसका अब कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है, उसके विरूप अथवा नष्ट हो जानेका कोई भय उसके मनमें नहीं रह सकता, इस प्रकारके भयका कोई कारण ही नहीं रह जाता । गीता (१८ । ९) में भी अनासक्ति एवं कर्मफलके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है और उन्हें वास्तविक त्यागमें सहायक बताया गया है, जो योगीके लिये आवश्यक है । जिसके पास अशर्फियोंकी थैली हो, वह लुटेरों एवं बनैले जन्तुओंके भयसे जंगलमेंसे होकर जानेमें हिचकेगा; परन्तु यदि उसे यह ज्ञान—यह अनुभूति हो गयी है कि शरीर और धन उसे धरोहरके रूपमें इसलिये मिले हैं कि उनका उपयोग भगवत्सेवामें—केवल परोपकारके कार्योंमें किया जाय, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये नहीं, तो वह घने-से-घने जंगलमेंसे होकर बेखटके चला जायगा । यदि उसका मन साफ़ है, उसकी अन्तरात्मा निर्दोष है, तो लोकापवादसे उसे तनिक भी दुःख न होगा । पुत्रके मृत्युशय्यापर पड़े रहनेपर भी वह शोकसे मूर्च्छित नहीं होगा, यदि वह यह अनुभव करेगा कि 'भगवान्‌ने ही दिया है और वे ही अपनी वस्तुको—अपनी धरोहरको वापस ले रहे हैं ।'

भय और दुःख बहुधा अपने क्षुद्र 'अहं' एवं उससे सम्बद्ध व्यापारोंमें आसक्तिसे, झूठी ममत्वबुद्धिसे तथा मिथ्या अभिमान एवं उससे उत्पन्न होनेवाले सन्तोषसे प्रादुर्भूत होते हैं । हमारे पास कोई पदार्थ हो और साथ ही उसके चले जानेकी आशङ्का, उसके नाशका भय न हो—यह असम्भव है । उस वस्तुके चले जानेका शोक तो केवल उस व्यक्तिको नहीं होगा, जो उस पदार्थका उपयोग केवल इसलिये करता है कि भगवान्‌ने मुझे उस वस्तुको अपनी (भगवान्‌की) इच्छाके अनुसार बर्तनेकी आज्ञा दे रक्खी है; क्योंकि उसे इस बातका ज्ञान पहलेसे रहेगा कि वह वस्तु मेरे पास कुछ ही दिनोंके लिये रक्खी गयी है, बराबरके लिये उसपर अधिकार मुझे नहीं दिया गया है । अतः सर्वोत्तम उपाय है—भीतरसे संन्यासी हो जाना, सभी वस्तुओंका उपयोग करना किन्तु भीतर उनसे बेलाग रहना, मानो उनपर हमारा कोई अधिकार नहीं है, भगवान्‌ने केवल उन्हें बरतनेके लिये हमें दे रक्खा है । यदि मनको इस प्रकारका बना लिया जाय और ममताका भाव मनसे निकाल दिया जाय तो भय अपने-आप ठीक उसी प्रकार हमारे मनसे निकल जायगा, जिस प्रकार एक बेल, उस वृक्षके कट जानेपर जिसके चारों ओर वह लिपटी हुई होती है, अपने-आप गिर पड़ती है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल ऊँची श्रेणीके पुरुष ही, जिनका अहंभाव सर्वथा निवृत्त हो गया है, जो जीवनरूपी नाटकके पात्र न रहकर केवल उसके द्रष्टा बन गये हैं, दुःख, शोक, हानि एवं वियोगकी घटनाओंको देखकर भी सर्वथा निर्विकार रह सकते हैं और भयको पूरी तरहसे जीत सकते हैं ।

श्रीहरिः

गीताप्रेस गोरखपुरके सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय छोटे-बड़े सुनहरे और रंगीन चित्र

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीशक्ति और संत-भक्तोंके दिव्यदर्शन

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें वह वस्तु हमारे लिये अवश्य संग्रहणीय है। किसी भी उपायसे हमें भगवान्‌का स्मरण सदा बना रहे तो हमारा धन्य भाग्य हो। भक्तोंके, भगवत्स्वरूपके एवं उनकी मधुर मोहिनी लीलाओंके सुन्दर-सुन्दर दृश्योंके चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत्-स्मरणमें लग जाता है और हम सांसारिक पाप-तापोंको भूल जाते हैं।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। आपकी दृष्टि जहाँ नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें इनको लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, स्वरूप, लीला और धामका बारम्बार स्मरण करके अपने मन प्राणको प्रफुल्लित कीजिये तथा चित्रोंके सहारे भगवान्‌की मोहिनी मूर्तिका ध्यान कीजिये।

१५×२० इञ्च साइजके कागजपर छपे हुए सुनहरे चित्रका मूल्य -)॥।, रंगीनका मूल्य -)। मात्र।

७॥×१० इञ्च साइजके कागजपर छपे हुए सुनहरे चित्रका मूल्य)॥, रंगीनका मूल्य)।🝆 मात्र।

इनके सिवा ५×७॥ इञ्च साइजके कागजपर छपे हुए रंगीन चित्रोंका दाम १।) सैकड़ा है। चित्र बहुत सस्ते, सुन्दर और दर्शनीय मिलते हैं। सब चित्र असली आर्टपेपरपर छपे हैं।

चित्रोंके दाम बिल्कुल नेट रक्खे हुए हैं। इनमें कमीशन नहीं दिया जाता

पुस्तकों तथा चित्रोंकी विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

श्रीकृष्णका आवाहन

एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिस्त्वं हे भक्तवत्सल गृहाण निमन्त्रणं मे ।
प्रेमाश्रुपाद्यपरिधौतपदाम्बुजे ते आत्मानमेव कुसुमाञ्जलिमुत्सृजामि ॥
एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिर्मे पादाम्बुजे तव निवेदनमेतदेव ।
प्राणेश हे हृदयकोमलपद्मतल्पे त्वां शाययामि सुचिरं न विसर्जयामि ॥
विश्वजीवन विमोहनच्छविः कोऽसि देव यदुदेषि मे पुरः ।
त्वां पिबामि हृदयेन निर्भरं तिष्ठ तिष्ठ सविधे क्षणं मम ॥
छायारूपमिवात्मानं दर्शयन्नेव लीयसे । पूर्णं दर्शय पूर्णात्मन् पूर्णो मेऽस्तु मनोरथः ॥
मयार्प्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वम् ।
किञ्चिन्निजस्वं न हि विद्यते मे यद्दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द ॥
हृदासनमधिष्ठाय प्रसीद मम पूजया । त्वयि प्रीते हृषीकेश क्लेशः संक्षीयतेऽखिलः ॥

भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ! आप कृपा करके केवल एक बार मेरा आमन्त्रण स्वीकार कर लीजिये । पधारिये ! पधारिये ! केवल एक बारके लिये मेरे प्यारे अतिथि बन जाइये । मैं अपने प्रेमके आँसूसे आपके पाँव धोकर आपके चरणकमलोंमें अपने आपकी ही पुष्पाञ्जलि चढ़ा रहा हूँ । हाँ, स्वामी ! आइये, बस एक बार—केवल एक बार आइये । मेरे अतिथि बन जाइये । मैं आपके चरणोंमें केवल इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि प्राणेश्वर ! मैं अपने हृदयकी सुख-सेजपर आपको सुलाऊँ और चिर-कालतक अनन्त कालतक आपको अपनी आँखोंसे ओझल न होने दूँ । जगत्के सर्वस्व ! मेरे ज्योतिर्मय स्वामी ! आपकी झाँकी तो बड़ी मोहक है । आप मेरे सामने चमक जाते हैं । केवल क्षणभर—पलभर ठहर जाइये । मैं जी भरकर आपकी सौन्दर्य-सुधाका पान तो कर लूँ । आप परछाईंकी भाँति झलककर छिप क्यों जाते हैं ? पूर्णानन्द-स्वरूप ! आप मुझे भरआँख दीख क्यों नहीं जाते ? मेरा मनोरथ पूरा कीजिये आँखमिचौनी मत खेलिये । आपके चरणोंमें मैंने अपने-आपको सौंप दिया । आप, अपनी चीज स्वयं सम्हालिये । प्रभो, वास्तवमें तो मेरा अपना कुछ है ही नहीं, फिर मैं आपके चरणोंमें क्या सौंपूँ ? आप मेरे हृदयके सिंहासनपर बैठकर मेरी पूजा स्वीकार कीजिये और प्रसन्न होइये । मेरे मालिक ! आपके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण क्लेश क्षीण हो जाते हैं ।

—ताराकुमारस्य

कल्याण
वर्ष १६ अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ६२१००]

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

वार्षिक मूल्य भारतमें ५≋) विदेशमें ७॥=) (शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≘) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India).

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण अप्रैल सन् १९४२ की

विषय-सूची

श्रीहरिः

नयी पुस्तक ! नयी पुस्तक !!

तत्त्व-चिन्तामणि पाँचवाँ भाग

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

इस समय सारे संसारमें द्वेष, कलह और मार-काट मची हुई है। सभी लोग एक दूसरेका विनाश करनेमें लगे हुए हैं, प्रकृति मानो पूर्णरूपसे क्षुब्ध हो रही है, किसीके जीवनमें सुख-शान्ति नहीं है, प्राणिमात्र विकल है। यह सब ईश्वरमें अविश्वास, सच्चे धर्मपर अनास्था और सदाचारके लोपका परिणाम है। इस भीषण स्थितिसे त्राण पाने और मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके पुनीत पथपर लोगोंको अग्रसर करनेके लिये आवश्यकता है ईश्वरीय भावोंके पवित्र प्रचारकी। ऐसे आध्यात्मिक भाव सत्सङ्गके विना सहजमें नहीं मिल सकते। परन्तु सत्पुरुषोंका सङ्ग सब लोगोंको मिलना कठिन है। इसीलिये सत्पुरुषोंकी वाणीका प्रचार किया जाता है जिससे दूर-दूरके स्थानोंमें रहनेवाले लोग भी अनायास ही सत्सङ्गका लाभ उठा सकें। 'तत्त्व-चिन्तामणि' ग्रन्थ ऐसा ही ग्रन्थ है। अबतक इसके चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं और उनसे लोगोंको बड़ा लाभ पहुँचा है। यह उसका पाँचवाँ भाग है। इसमें 'कल्याण'में प्रकाशित ३४ लेखोंका संग्रह है। लेखोंके नाम इस प्रकार हैं—

१-मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र २-हमारा लक्ष्य और कर्त्तव्य ३-जीवनका रहस्य ४-कुछ धारण करनेयोग्य अमूल्य बातें ५-ब्रह्मचर्य ६-त्रिविध तप ७-धर्मके नामपर पाप ८-सच्ची वीरता ९-समाजके कुछ त्याग करनेयोग्य दोष १०-प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति ११-धर्म-तत्त्व १२-पशु-धन १३-वनस्पति घीसे हानि १४-प्राचीन हिन्दू राजाओंका आदर्श १५-परलोक और पुनर्जन्म १६-तीर्थोंमें पालन करनेयोग्य कुछ उपयोगी बातें १७-शोकनाशके उपाय १८-कुछ साधनसम्बन्धी बातें १९-काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना २०-कुछ उपयोगी साधन २१-सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व २२-अवतारका सिद्धान्त २३-श्रद्धा-विश्वास और प्रेम २४-भगवान्‌की दया २५-अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा २६-नामकी अनन्त महिमा २७-ध्यान-साधन २८-प्रेम और समता २९-शरणागति और प्रेम ३०-प्रेम-साधन ३१-श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन ३२-वैराग्य-चर्चा ३३-आत्माके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर ३४-मुक्तिका स्वरूप-विवेचन।

इन लेखोंमें अनुभवसिद्ध तत्त्वोंका विवेचन और आदर्श सद्गुणोंका प्रदर्शन बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया गया है। आसुरी दुर्गुणोंसे छूटकर अपनी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति चाहनेवाले और मनुष्यजीवनमें परमध्येयकी प्राप्ति करनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक नर-नारीको इस ग्रन्थका अध्ययन और मनन करना चाहिये।

डबल क्राउन सोलहपेजी पृष्ठ ५०४, चार सुन्दर तिरंगे चित्र, अक्षर मोटे, मूल्य केवल ॥।-), डाकखर्चसहित १≈); सजिल्द १), डाकखर्चसहित १।≈)। पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

सनकादिका सत्कार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ | गोरखपुर, अप्रैल १९४२ सौर चैत्र १९९८ | संख्या ९
पूर्ण संख्या १८९

मैं फल पायो !

दुहुँ भाँतिन को मैं फल पायो ।
पाप किए ताते बिमुखन सँग देस देस भटकायो ।
तुच्छ कामना हित कुसंग बसि झूठे लोभ लुभायो ॥
कौन पुन्य अब बृंदावन बरसाने सुबस बसायो ।
आनँद निधि ब्रज अनन्य मंडली उर लगाय अपनायो ॥
सुनिबेहू को दुर्लभ सो सब रस बिलास दरसायो ।
स्यामा स्याम दास नागरको कियो मनोरथ भायो ॥

—नागरीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥

(अथर्व० ४ । १८ । ६)

जो हिंसाकी इच्छा करता, कभी नहीं कर सके उसे ;
अपने पैर और अङ्गुलिको तोड़ तापमें सदा बसे ॥
करता है कल्याण हमारा, बोता अपने हित विष-बीज ;
पापोंके प्रतिफलमें तपता, जाता उसका वैभव छीज ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

(ऋ० ७ । ५९ । १२)

जो त्रिकालज्ञा त्रिलोकीमें, त्रिलोचनि अम्बिका—
सुखदा, सुभग सौरभमयी, अमिताभ, पुष्टि-विवर्धिका ॥
वह मृत्यु-भयसे मुक्त कर दे, माँ अमृतमय गोद दे ।
ज्यों कर्कटी-फल वृन्तसे हो मुक्त परम प्रमोद दे ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥

(अथर्व० १० । ७ । ३७)

नहीं ठहरता अरे, वायु क्यों ? क्यों न कहीं मन रम जाता ?
यह जल—यह प्रवाह क्यों बहता ? क्यों न कहींपर थम जाता ?
अरे, निरन्तर गति-संसृतिमें, इनको यहाँ किधर जाना ?
अन्त कहाँ होगा चलनेका, कभी किसीने पहचाना ?
हाँ, हाँ, यहाँ रहेंगे ये क्यों ? जहाँ असत्य-विनाश रहे ;
इन्हें सत्य पानेकी इच्छा, जहाँ अमरता-स्रोत बहे !

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥

(अथर्व० ६ । २६ । १)

पाप ! अब परिपाक तेरा ।
भर गया घट फूटनेको, छूटनेको भाग्य मेरा ॥
अब न मैं आधीन तेरे, तू पड़ा मेरे चरणमें ;
दास बन सुख दे मुझे, फिरसे न हो छल-छन्द फेरा ।
छोड़ दे अब तो, कुटिल ! मैं हूँ सरलताका पुजारी ;
आज मंगल-लोकमें मेरा तने कल्याण-डेरा ॥

स्वामी श्रीचन्द्रोदयानन्दजी पुरीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—सारे शरीरको चाहे व्यावहारिक कार्मोंमें लगा दो, किन्तु जीभको तो प्रभुके नाम लेनेमें ही लगाओ। शरीरमें तरह-तरहके व्यसन भरे पड़े हैं, इसलिये वह सबका त्याग करनेमें तो समर्थ नहीं है। अतः पहले एक व्यसनको त्याग कर जब उसके त्यागमें उसकी निष्ठा स्थिर हो जाती है तो वह दूसरे व्यसनको भी त्याग सकता है। यदि मनुष्य भगवान्‌के नामोंका चिन्तन करनेमें प्रवृत्त रहे तो उसका कल्याण क्यों न होगा। भगवान्‌का आश्रय लेनेपर क्या दुर्लभ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो पापयोनियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य तथा स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं।'

२—मनुष्यजन्मका प्रधान उद्देश्य है अपना परम कल्याण कर लेना और उसके बाद शरीरको परोपकारमें लगा देना। संतजन अपने मुखसे जो वाणी निकालते हैं, वह अपने लिये नहीं वरं परोपकारके लिये ही होती है। अपना उपकार तो वे कर चुके, अब तो परोपकारके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं; क्योंकि सब लोग उन्हींसे अपने आचरणकी शिक्षा लेते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। वह जिसे प्रामाणिक कर देता है, उसीका लोग अनुवर्तन करने लगते हैं।'

३—नाम-कीर्तन करनेवालोंको स्नान, सन्ध्या और गायत्री-जप आदि नित्यकर्म भी यथाधिकार अवश्य करने चाहिये। शूद्रोंको सन्ध्यादिका अधिकार नहीं है, इसलिये वे केवल कीर्तन ही करें। अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्‌का पूजन करनेसे हृदयका कल्मष दूर होकर प्रभुमें प्रेमकी वृद्धि होगी।

४—भक्ति और ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। जो ज्ञानका लक्ष्य है, वही भक्तिका भी है। जबतक पुरुष अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन नहीं करता, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता और चित्त शुद्ध हुए बिना ज्ञानमें स्थिति नहीं हो सकती। बोध तो वही प्राप्त कर सकता है, जिसका चित्त शुद्ध हो गया है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपना अधिक-से-अधिक समय भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगाना चाहिये तथा संसारकी सारी आस्थाओंको छोड़कर भगवत्प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर निष्कामभावसे अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना चाहिये।

प्रार्थना

दयामय! जीवनके दिन तो बीते चले जा रहे हैं। वह दिन कब होगा जब मैं तन-मन-धन, घर-संसार—सबकी परवा छोड़कर केवल तुम्हारे भजनमें ही लगा रहूँगा। बहुत बार ऐसा सोचता हूँ, परन्तु कर नहीं पाता। समय बीत रहा है। सब ओर, सभी वस्तुओं और स्थितियोंमें परिवर्त्तन हो रहा है। जो आज है, वह कल नहीं दीखता। किसी भी स्थितिमें सच्चे सुखके दर्शन नहीं होते। अपनी भावनाके अनुसार निरन्तर कल्पित सुख-दुःखके सागरमें डूबता-उतराता रहता हूँ। जानता हूँ—खूब समझता हूँ कि यह सब कुछ विनाशी है; तथापि इससे मुँह मोड़कर तुम्हारे नित्य-नव सुन्दर स्वरूप, नित्य कल्याणमय नाम और नित्य सत्य निर्भय पदका आश्रय नहीं ले पाता। प्रभो! मेरी यह मोह-निद्रा कब भङ्ग होगी? दिन-रात चित्त अशान्त रहता है, नाना प्रकारकी कल्पनाएँ मनको सर्वथा वैसे ही क्षुब्ध बनाये रखती हैं जैसे भीषण तूफानके कारण आकाशमें उछलती हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गें समुद्रको!

मेरे स्वामी! मैं इस अशान्तिसे कब छुटकारा पाऊँगा? कब मैं जाति, कुल, विद्या, रूप, कीर्त्ति, सम्पत्ति, स्थिति और साधनाके अभिमानसे छूटकर तुम्हारे चरणोंपर अपनेको न्योछावर कर सकूँगा! तुम्हारे ही परम बलसे बलवान् और परम धनसे धनवान् होकर कब मैं सारे अभावोंके अभावका शान्तिमय अनुभव कर सकूँगा?

दीनबन्धो! मैं यह पढ़ता-सुनता हूँ, कहता हूँ, और कभी-कभी विवेकके जागनेपर ऐसा देखता भी हूँ कि सर्वत्र, सभी स्थानों, स्थितियों और क्रियाओंमें तुम्हीं भरे हो। तुम्हारी ही स्वरूप-भूता मङ्गलमयी अनिच्छामयी इच्छासे यह सारा खेल हो रहा है। मोहभरी आँखोंसे जहाँ अमङ्गल दीखता है, वहाँ भी तुम्हारा मङ्गलमय विधान ही काम कर रहा है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभीमें तुम्हारा मङ्गलमय करस्पर्श प्राप्त होता है। सब कुछ तुमसे ही निकला है, तुममें ही वर्तमान है और तुम्हींमें लय हो जायगा। आगे, पीछे और अभी बीचमें केवल तुम-ही-तुम हो। तुम्हारी स्वाभाविकी स्वरूपमयी करुणा सभी जीवोंपर सदा बरस रही है और उनका महामङ्गल कर रही है; परन्तु नाथ! मैं इस सत्यको यथार्थरूपमें ग्रहण नहीं कर पाता! वरं अज्ञानवश नाना प्रकारकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता रहता हूँ।

प्रभो! अब ऐसी कृपा हो जिससे मेरे इस अज्ञानका पर्दा फट जाय, मोहका आवरण हट जाय और मैं तुम्हारे स्वरूप और तुम्हारे खेलको समझकर तुम्हारा अपना बन जाऊँ। नहीं तो, प्रभो! यही कर दो कि मेरे मनमें भली-बुरी कोई इच्छा ही न रहे, मैं कुछ भी न चाहूँ। तुम्हारी इच्छा हो सो करो, तुम जो चाहो सो होने दो; और मैं, तुम जिस स्थितिमें जैसे भी रक्खो उसीमें रहकर सदा तुम्हारा नाम रटता रहूँ।

—'तुम्हारा ही कहलानेवाला एक अधम'

श्रीभगवन्नाम और स्मरण-भक्ति

(लेखक—श्रीआत्मानन्दजी)

पळशी तूँ तरी नाम कोठें नेशी ।
आम्ही अहर्निशीं नाम घोकूँ ॥
आम्हां पासोनियाँ जातां नये तुज ।
तें हें वर्म बीज नाम घोकूँ ॥
देवा आम्हां तुसें नाम हें पाहिजे ।
मग मेढी सहजे देणें लागे ॥
भोळे भक्त आम्ही चुकलोंपि कर्म ।
सांपडलें वर्म रामदास ॥ १ ॥

'प्रभो ! चाहे आप हमसे कितना ही दूर भागते रहें, आप निश्चय ही अपना नाम तो हमसे छीन नहीं सकते; हम अहर्निश उसे रटते रहेंगे। वास्तवमें आप हमसे अलग हो ही नहीं सकते, दूर जा ही नहीं सकते। इस बातको भलीभाँति जानकर हम आपके नामकी रट लगाये रहेंगे। बस, हमें आवश्यकता इसी बातकी है कि आपके नामको पकड़े रहें, उससे चिपटे रहें; फिर तो आप निश्चय ही हमारे सामने प्रकट होंगे, प्रकट हुए बिना रह न सकेंगे। हम भोले भक्त अबतक बड़ी भूलमें रहे; अन्तमें हमें आपको पानेका गुर हाथ लग ही गया।'

(समर्थ रामदास)

कल्याण-प्राप्तिके लिये साधकको चाहिये कि वह अपनी प्रकृति एवं रुचिके अनुसार नवधा भक्तिमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिका अभ्यास शुरू कर दे। प्रकटरूपमें इन नौ प्रकारकी भक्तियोंमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिका ही आश्रय लेकर भक्त क्रमशः भीतर-ही-भीतर आगे बढ़ता रहता है, और बढ़ते-बढ़ते जब वह भक्तिकी अन्तिम सीढ़ी—आत्मनिवेदन-भक्तिपर पहुँच जाता है, तब उसे भगवत्साक्षात्कार हो जाता है। भक्तहृदयके लोगोंका यह विश्वास होता है कि जीवनमें भगवान् ही उनके प्रधान अवलम्ब हैं, अथवा वे ही उनके प्राणाधार हैं; वे यह समझते हैं कि उनके जीवनका मुख्य कर्तव्य उसे इस प्रकार ढालना, इस प्रकारका बनाना है कि जिससे भगवान्में अतिशय प्रेम होकर उनका साक्षात्कार हो सके। हमारे पूर्वजोंने—भारतीय ऋषि-मुनियोंने अपने विशाल अनुभवके आधारपर परिपक्व विचारके द्वारा यह निश्चय किया है कि नवधा भक्तिमें स्मरण-भक्ति ही वर्तमान युगके लिये सर्वोत्तम साधन है। इसमें न तो एक कौड़ीका खर्च है, न इसके लिये शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता है और न इसमें किसी प्रकारका शारीरिक परिश्रम है; और इसका अभ्यास सब समय सब अवस्थाओं-में सब प्रकारके लोग कर सकते हैं—चाहे वे किसी धर्म, किसी जाति, किसी मत, किसी स्थिति और किसी भी उम्रके हों, स्त्री हों अथवा पुरुष। यही कारण है कि स्मरण-भक्ति सबसे अधिक सुसाध्य एवं सरल मानी जाती है, यद्यपि इसमें भगवान्के प्रति अटल विश्वास एवं कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी इसे अक्षुण्ण रखनेकी अनवरत मानसिक चेष्टाकी बड़ी आवश्यकता होती है। भारतीय संतोंने सभी युगोंमें पूरे उत्साहके साथ उन सब लोगोंको, जो उनके सम्पर्कमें आये और जो कठिन साधन नहीं कर सकते थे, इसी भक्तिका उपदेश दिया। स्मरण-भक्ति (जिसे साधारणतः लोग नाम-स्मरण कहते हैं) का अर्थ है—भगवान्के किसी भी पवित्र नामका (जो भक्तको प्रिय हो) मन-ही-मन उच्चारण करना अथवा नामके सहारेसे नामी (भगवान्) का चिन्तन करना। भगवन्नामकी बार-बार आवृत्ति करनेका नाम है 'जप'। 'जप' शब्दका धात्वर्थ यही है। नाम-जप हमारे अंदर सांसारिक पदार्थोंके प्रति, जो सभी अनित्य हैं, वैराग्य उत्पन्न करके हमें जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ा देता है। इसका अभ्यास यदि बराबर चलता रहे तो यह एक दिन अवश्य हमें भगवान्का साक्षात्कार

एवं मोक्षकी प्राप्ति करा देता है। शास्त्र इस बातकी घोषणा करते हैं कि असुर-बालक प्रह्लाद, राजकुमार ध्रुव, देवी शबरी (जो जातिकी भीलनी थी), महर्षि वाल्मीकि (जो अपने जीवनके आरम्भमें एक विख्यात डाकू थे) तथा प्राचीन युगके अनेकों बड़े-बड़े महात्मा इस साधनके अभ्याससे आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुके हैं। आधुनिक कालके इतिहासमें भी इस प्रकारके कई उदाहरण मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी (जो जातिके ब्राह्मण थे), संत तुकाराम (जो वैश्यकुलके थे), गोरा कुम्हार (जो शूद्र थे), चोखा मेला (जो अन्त्यज थे), संत कबीर (जो जातिके जुलाहे थे), देवी मीरा (जो राजघरानेकी थीं) तथा स्वामी रामदास (जो संन्यासी थे)—ये सभी स्मरण-भक्तिके द्वारा ही ऊँची-से-ऊँची स्थितिको प्राप्त हुए थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न जाति एवं धर्मोंके वृद्ध-युवा, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष एवं सभी आश्रमोंके अनेकों ऐसे संत हो गये हैं जिन्होंने स्मरण-भक्तिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया। वे सभी उच्चतम कोटिके संत थे। उन्होंने अपने निजी उदाहरणसे स्मरण-भक्तिका माहात्म्य प्रकट किया। वर्तमान युगमें भी ऐसे लोगोंके उदाहरण मिल सकते हैं, जिन्हें इस साधनसे लाभ हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये भगवन्नाम सभी कालमें उपयोगी है।

कुछ लोगोंका मत यह है कि वैखरी वाणीके द्वारा भगवन्नामके स्पष्ट उच्चारणका नाम ही नामस्मरण है। एक प्रकारसे यह ठीक भी है, क्योंकि मनकी प्रेरणासे ही नामका उच्चारण सम्भव है। परन्तु इस क्रियाको वास्तवमें नामस्मरण न कहकर नामोच्चारण कहना अधिक सुसङ्गत होगा। अवश्य ही इससे साधकके वागिन्द्रिय एवं श्रवणेन्द्रियकी शुद्धि होती है। यही नहीं, शास्त्रोंमें तो नामकी यहाँतक महिमा कही गयी है कि मरते समय यदि किसीके मुखसे भगवन्नामका उच्चारण मात्र हो जाय तो केवल उतनेसे ही उसका कल्याण होना निश्चित है। इसीलिये नामोच्चारणके अभ्यास-पर इतना जोर दिया गया है। परन्तु दुर्भाग्यवश प्रतिकूल प्रारब्धके कारण बहुधा अन्तसमयमें लोगोंकी बोली बंद हो जाती है, जिसके कारण वे नामोच्चारण कर नहीं पाते। परन्तु ऐसी स्थितिमें मरणासन्न व्यक्तिको भगवन्नाम सुनानेसे भी बहुत शुभ परिणाम होता देखा गया है; क्योंकि मृत्युके समय प्राणीको जो असह्य वेदना हुआ करती है, उसमें भगवान्‌की स्मृति छूट जानेका भय रहता है और नामश्रवणसे भगवत्स्मृतिको जगानेमें सहायता मिलती है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें ऐसा विधान किया गया है कि मरणासन्न व्यक्ति जिस कोठरी या कमरेमें हो, वहाँका वातावरण शान्त होना चाहिये; वहाँपर जो लोग मौजूद हों, उनके द्वारा कोई ऐसी क्रिया नहीं होनी चाहिये जिससे मुमूर्षुकी वृत्तियों-में विक्षेप हो और मुमूर्षु व्यक्तिके मित्रों एवं सम्बन्धियों-को चाहिये कि वे उसकी अन्य प्रकारकी सेवा करनेके साथ-ही-साथ धीमे स्वरमें उसे भगवान्‌के मधुर नामोंका श्रवण कराते रहें। मनुष्यके जीवनमें उसकी सबसे बड़ी सेवा यही मानी गयी है कि अन्तसमयमें उसे भगवान्‌के पावन नामोंका श्रवण कराया जाय। वैखरी वाणीके द्वारा नामोच्चारणकी अपेक्षा केवल होठ हिलाते हुए (मध्यमा वाणीके द्वारा) उपांशु उच्चारणका अधिक माहात्म्य माना गया है। वैखरी अथवा मध्यमा वाणीके द्वारा नामोच्चारणका दीर्घकालतक अभ्यास करते रहनेसे वही आगे चलकर नामस्मरणमें परिणत हो जाता है। नामस्मरण सर्वथा मानसिक क्रिया—पश्यन्ती वाणीका कार्य है। इसमें साधक दुःखपूर्ण संसारसे मुक्ति पानेके लिये अपने मनको भगवन्नामके मौन जपमें लगा देता है। परन्तु अभ्यास दृढ़ हो जानेपर उसका भगवान्‌में इतना गाढ़ प्रेम हो जाता है कि उस स्थितिमें वह निरन्तर होनेवाले भजनको मोक्षसुखसे भी बढ़कर मानने

लगता है। यह भक्तिकी बहुत ऊँची अवस्था है। परन्तु इससे भी ऊँची अवस्था एक और होती है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। स्मरण-भक्तिकी महिमाके प्रमाणरूपमें यहाँ हम एक महान् संतके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करते हैं—

महर्षि वाल्मीकिका प्रारम्भिक जीवन एक डाकूका जीवन था। एक बार जब वे डाका डालनेकी घातमें घरसे बाहर निकले थे कि रास्तेमें उनकी नारदजीसे भेंट हो गयी। देवर्षिने उन्हें समझाया कि 'जिन परिवारवालोंके लिये तुम पापमय जीवन व्यतीत कर रहे हो, वे तुम्हारे सुखके ही साझेदार हैं; इस पापके परिणाममें तुम्हें जिन घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी, उन्हें भोगनेको उनमेंसे कोई भी तैयार न होगा।' सच्चे संतका उपदेश व्यर्थ नहीं जाता। नारदजीकी वह बात रत्नाकर (वाल्मीकिके डाकू-जीवनका नाम) को लग गयी। उन्हें अपनी मूर्खता ध्यानमें आ गयी। उन्होंने ऋषिके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया और उनसे अपने पूर्व कुकृत्योंके लिये क्षमा-याचना की और उनका आशीर्वाद माँगा। डाकूको हृदयसे पश्चात्ताप करते देख ऋषिको दया आ गयी और उसी समय उन्होंने रत्नाकरको राम-मन्त्रकी दीक्षा दी। धैर्यपूर्वक दीर्घकालतक राम-नामका जप करनेसे रत्नाकरका अन्तःकरण शुद्ध होकर उन्हें भगवान्‌का साक्षात्कार हो गया और आगे चलकर वे महर्षि वाल्मीकिके नामसे प्रसिद्ध हुए; उन्होंने रामायण-जैसे अनुपम ऐतिहासिक महाकाव्यका निर्माण करके सारे जगत्‌को ज्ञान दिया। इस घटनासे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नाम-स्मरणमें नीच-से-नीच मनुष्यको भी महात्मा बना देनेकी शक्ति है, जिससे वह दूसरोंका भी कल्याण करनेमें समर्थ हो जाता है। शर्त यह है कि नाम किसी योग्य गुरुसे प्राप्त होना चाहिये और उसका अभ्यास पूरी लगनके साथ दीर्घकालतक किया जाना चाहिये। भक्तिकी साधनामें केवल भगवन्नामके मानसिक जपकी अपेक्षा भी भगवच्चिन्तनका स्थान अवश्य ऊँचा है। क्योंकि भगवच्चिन्तनमें ध्यान भी आ जाता है, जिसके द्वारा साधक नामीके स्वरूपमें गहरी डुबकी लगानेमें समर्थ होता है और ध्यानसे, ध्यानरहित नामस्मरणकी अपेक्षा, भगवत्साक्षात्कार बहुत जल्दी होता है। नामोच्चारण तो नामस्मरणमें छिपा रहता है।

कभी-कभी जब भक्त भगवान्‌के चिन्तनमें तन्मय हो जाता है तो उनका पवित्र नाम उसकी वैखरी वाणीसे अनायास निकल पड़ता है। नामोच्चारणकी अपेक्षा नामस्मरण निःसन्देह भक्तिकी उच्चतर साधना है और नामोच्चारणकी अपेक्षा नामस्मरणका फल भी अधिक होता है। क्योंकि उससे साधकका जीवन सब ओरसे पवित्र हो जाता है—उसके मन, वाणी और शरीर तीनों शुद्ध हो जाते हैं। नामस्मरणसे मानस रोगोंकी निवृत्ति तो होती ही है; साथ ही यदि शरीरमें किसी प्रकारकी व्याधि या पीड़ा हो तो मन दूसरी ओर लग जानेके कारण उसकी तीव्रता भी कम हो जाती है। नामस्मरणसे पूरा लाभ तो तब होता है जब उसका अभ्यास तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे किया जाय, उसका तार कभी टूटे ही नहीं। स्मरण निरन्तर होने लगे, इसके लिये यह आवश्यक है कि साधक नियमितरूपसे तथा निश्चित समयतक इसका एकाग्र मनसे प्रतिदिन अभ्यास करे और क्रमशः स्मरणके समयको बढ़ाता जाय। यदि सम्भव हो और साधक आवश्यक समझे तो अपने उपासना-गृहकी पवित्रताको बढ़ानेके लिये उसे भगवान् तथा संतोंके चित्रोंसे सजा ले, ताकि उन मूक चित्रोंसे मिलनेवाले महान् उपदेशोंकी उसे बार-बार स्मृति होती रहे। परन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें साधकको अनुभव होगा कि उसका मन भगवन्नामके साथ जबर्दस्ती बाँधे जानेमें आनाकानी करता है। क्योंकि मन स्वभाव-

से ही नवीनताका प्रेमी है, उसे लगातार एक ही व्यापारमें लगे रहना पसंद नहीं है; और सामान्यत: वह संसारका ही चिन्तन करना, नामस्मरणको छोड़कर दूसरी ही उधेड़बुनमें लग जाना अधिक पसंद करता है, जिसका उसकी ध्येय वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जो साधक दृढनिश्चयी एवं दृढसंकल्प होता है, वह इस प्रकारके अनुभवसे घबड़ाता नहीं, हताश नहीं होता, परन्तु अपने पवित्र उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भगवान्में पूर्ण विश्वास करके धैर्यपूर्वक एवं तत्परताके साथ अपने चञ्चल मनको उसके लिये नियत किये हुए कार्यमें बार-बार लगानेका अभ्यास करता है (देखिये गीता ६ । २५-२६)। दूसरे साधकोंके बहुमूल्य अनुभवोंसे लाभ उठानेके लिये वह सत्संगका सेवन करता है तथा श्रवण एवं कीर्तनके उसे अनेकों अवसर प्राप्त होते रहते हैं, जिससे उसे मनोबल प्राप्त होता है एवं उसके मनमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। कभी-कभी साधक केवल नामस्मरणके द्वारा अपने मनको निगृहीत करनेमें असमर्थ पाता है। अत: मनको एकाग्र करनेके लिये वह अपने मानसिक नेत्रोंके सामने भगवान्की एक मनोमोहक मनुष्याकार मूर्ति स्थापित करता है; क्योंकि अतीत कालमें भक्तोंके सामने उनके मनुष्याकारमें प्रकट होनेका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। इस उपायसे उसका चित्त भगवान्में अधिक सुगमतासे स्थिर हो जाता है। वह प्रारम्भमें अपने हृदयमें ही भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करता है। यहाँसे नवधा भक्तिकी अगली सीढ़ी—पादसेवन-भक्तिका प्रारम्भ होता है। नामस्मरण एवं मूर्तिध्यान—इन द्विविध साधनोंका अभ्यास करनेसे साधकका मन अधिक ठहरने लगता है और धीरे-धीरे वह अपने विद्रोही मनको निगृहीत करनेमें समर्थ होता है। मनका यह गुण है कि स्वभाव-से मुलायम होनेके कारण लगातार चेष्टा करनेपर इसे उच्चतर शक्तियोंके प्रभावमें लाया जा सकता है। अत: साधकके बार-बार समझानेसे यह उसकी बात मान लेता है, उसके द्वारा नियत किये हुए काममें स्थिरतासे लग जाता है और अन्तमें संसारका चिन्तन छोड़कर भगवान्के चरणकमलोंसे चिपट जाता है, चिहुँट जाता है। इस प्रकार साधक पादसेवनकी मंजिलको सफलता-पूर्वक तै कर लेता है। इसके बाद वह एक-एक करके नखसे शिखातक भगवान्के सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंका ध्यान करता है और अन्तमें उनके मन्दस्मितयुक्त मुखारविन्दपर चित्तको टिका देता है। इस ध्यानके साथ-साथ वह भगवान्की मानस पूजा भी करता है और इस प्रकार अर्चन-भक्तिकी भूमिकामें प्रवेश करता है।

इस भूमिकामें पहुँचकर भक्त भगवान्की महिमाको पूर्णरूपसे जान लेता है, उसका अहङ्कार विलीन हो जाता है और वह अत्यन्त विनम्रभावसे भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उनके चरणोंमें लोट जाता है। इस प्रकार वह वन्दन-भक्तिकी भूमिकामें पहुँच जाता है। इसके बाद उसे यह अनुभव होता है कि मनुष्य-मात्र तथा कीट-पतंगादिसे लेकर पशु-पक्षी आदि सभी निम्न कोटिके जीव भी भगवान्के ही रूप हैं और उन सबकी सेवा भगवदुपासनाका ही अङ्ग है। यों समझ-कर वह छोटे-से-छोटे प्राणीकी भी बड़े चावसे सेवा करता है और इस प्रकार आगे चलकर वह दास्य-भक्तिकी भूमिकामें पहुँच जाता है। परन्तु जीवकी आध्यात्मिक स्थिति क्रमश: ऊँची-से-ऊँची होती चली जाती है और वह सदा दास्यकी ही स्थितिमें नहीं रहता। कपीश्वर हनुमान्की ऋष्यमूक पर्वतपर पहले-पहल भगवान् रामचन्द्रजीसे भेंट हुई; तभीसे वे अपनेको श्रीरामका दास मानने लगे और अन्ततक उन्होंने अपना यही बाना रक्खा। परन्तु अपनी दास्य-भक्तिके द्वारा उन्होंने यह अनुभव किया कि जीवात्माके रूपमें मैं भगवान्का प्रतिबिम्ब हूँ और प्रत्यगात्माके रूपमें उनसे अभिन्न हूँ। संसारमें भी देखा जाता है कि ईमानदार

और योग्य नौकर अपने मालिककी नेकनामीके साथ नौकरी बजाकर तरक्की पा जाते हैं और अपने मालिकके सहायक अथवा मुनीम बन जाते हैं और अन्तमें उनके साझेदार भी हो जाते हैं। इसी प्रकार जो भक्त दास्यभक्तिका पार्ट पूरी तरह निभा लेते हैं, उन्हें इस सेवाके पुरस्कारमें मित्रता (सख्य-भक्ति) का दर्जा मिलता है। इस भूमिकाकी बाहरी पहचान यह होती है कि साधक भगवान्‌के उच्च श्रेणीके भक्तोंकी अन्तरङ्ग गोष्ठियोंमें प्रवेश पा जाता है और उसे इस योग्य समझ लिया जाता है कि वह अपने आध्यात्मिक अनुभवोंका दूसरोंके साथ मिलान कर सके। यह सभी लोग जानते हैं कि ज्यों-ज्यों अधिक समय बीतता है और दो मित्र एक दूसरेसे अपने मनकी बात कहकर तथा अपनी बीती हुई सुनाकर और कठिन समयमें एक दूसरेकी सहायता करके, दुःखमें धीरज बँधाकर तथा बीमारी आदिमें सेवा करके हृदयसे एक दूसरेके अधिक निकट होते जाते हैं—यहाँतक कि उनके हृदय एक प्रकारसे अभिन्न हो जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी मित्रता अधिकाधिक गाढ़ होती जाती है; परन्तु अपने-अपने स्वाँगके अनुकूल उन्हें बाहरी भेद रखना ही पड़ता है। यही बात भक्त और भगवान्‌के सम्बन्धमें भी माननी चाहिये। जबतक भक्तका शरीर एवं बाह्य जगत्‌में अध्यास रहता है, तबतक उसे यह अनुभव होता है कि मैं भगवान्‌से पृथक् हूँ। परन्तु भगवान्‌से गाढ़ प्रेम हो जानेपर उसके लिये भगवान्‌का पार्थक्य असह्य हो जाता है। अतः भक्तिकी चरम सीमापर पहुँचकर वह अपने शरीर और आत्मा दोनोंको बिना किसी शर्तके भगवान्‌के अर्पण कर देता है। उसे यह अनुभव हो जाता है कि मेरा यह नश्वर शरीर, जिसे मैं अबतक अपना स्वरूप मानकर उससे प्रेम करता रहा हूँ, मुझे कुछ ही काल-के लिये भगवान्‌की उपासनाके निमित्त, अर्थात् भगवान्‌के नित्य स्वरूपका अनुभव करनेके लिये और न केवल मनुष्यमात्रकी अपितु मनुष्येतर प्राणियोंकी भी सेवा करनेके लिये धरोहररूपमें मिला है और उसे किसी भी समय बिना क्षणभरकी पूर्व सूचनाके मुझसे छीना जा सकता है, वापस लिया जा सकता है। इस प्रकार वह आत्मनिवेदनकी भूमिकामें पहुँच जाता है और अब उसे भगवान्‌से पृथक् होनेका भाव नहीं सताता। ऊपर बताये हुए भावोंमेंसे किसी भी भावको लेकर जो साधक भक्तिका साधन शुरू कर देता है और बराबर किये ही चला जाता है, उकताकर उसे छोड़ नहीं देता, वह भगवद्विश्वासके बलसे अपने-आप ही आगेकी भूमिकाओंमें पहुँच जाता है। स्मरण-भक्ति जब गाढ़ हो जाती है और भक्तका मन उसके काबूमें हो जाता है तब उसे परा भक्ति प्राप्त होती है, जिसमें जीवका यह भ्रम कि मैं भगवान्‌से भिन्न हूँ, मिट जाता है। परन्तु भक्तकी यह स्थिति अधिक दिनोंतक ठहरती नहीं, जिसके कारण उसे दुःख होता है। कहते हैं कि स्मरणकी अत्यन्त गाढ़ अवस्थामें भक्त आत्मनिवेदन-की भूमिकामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें कुछ समयतक परा भक्तिका आनन्द लूटता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि भगवान्‌के नाममें महान् शक्ति है। उससे साधकके पिछले (सञ्चित एवं क्रिय-माण) कर्मोंका क्षय हो जाता है, उसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने जाग्रत् कालके प्रत्येक पलको, जब उसे कोई दूसरा उपयोगी काम न हो, नामस्मरणमें लगाये। साधक जब आत्म-निवेदनकी भूमिकामें पहुँचनेको होता है, तब उसे केवल भगवन्नामके मानसिक जप एवं मूर्तिध्यानसे सन्तोष नहीं होता। जब वह किसी खास भूमिकामें पहुँच जाता है तब वह अधिकाधिक चिन्तनशील—ध्यानपरायण होता जाता है—यहाँतक कि उसका जीवन बिल्कुल बदल जाता है। उसकी स्मरण-भक्ति

ज्ञानमें परिणत हो जाती है और उसके ध्यानका क्षेत्र अधिक व्यापक एवं विशाल हो जाता है। जीवनके सम्बन्धमें उसकी दृष्टि उदार हो जाती है, पहले-जैसी संकुचित-सीमित नहीं रहती। वह अनुभव करने लगता है कि नाम और रूप ईश्वरकी उपाधियाँ हैं; अतः अब उनसे उसका पहले-जैसा प्रेम नहीं रहता। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मायाके कार्य होनेके कारण वे परिणामी हैं, और वह दोनोंके आवरणको भेदकर उनके अन्तरालमें पहुँच जाता है। इस प्रकार ध्यान करते-करते उसे यह अनुभव हो जाता है कि भगवान्‌का निर्गुण स्वरूप ही इस परिच्छिन्न नित्य-परिवर्तनशील अनित्य वैचित्र्यमय सृष्टि—इस नामरूपात्मक जगत्‌का अपरिच्छिन्न अपरिणामी नित्य एकरस आधार है। उसे यह भी अनुभव हो जाता है कि जीवात्माके रूपमें मैं परमात्माका प्रतिबिम्ब हूँ और प्रत्यगात्माके रूपमें परमात्मासे अभिन्न हूँ। भक्तिकी उच्चतर भूमिकामें भक्तको यह अनुभव होता है कि मृत्युके समय जीवको इस संसारकी सभी प्रिय वस्तुओंसे—शरीर, स्त्री, पुत्र, सगे-सम्बन्धी, मित्र-बान्धव, धन और कीर्ति—सभीसे नाता तोड़ना पड़ता है, सब कुछ यहीं छोड़कर अकेले ही अपने घरकी ओर जाना पड़ता है। उस समय उसके साथ यदि कोई चीज जाती है तो वह है उसके शुभ कर्म जो उसने अपने जीवनमें इस जगत्‌में रहकर किये हैं, भगवद्भक्तिकी साधना जो उसने दीर्घकालतक अविच्छिन्नरूपसे की है तथा जगत्‌की सेवा जो मनुष्य एवं दूसरे प्राणियोंकी सेवाके द्वारा उसने की है। ध्यानकी इस शैलीसे संसारके प्रति आसक्तिके जो अन्तिम संस्कार उसके मनमें होते हैं, वे सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं—वह आसक्ति जिसने चिरकालतक मानो जीवात्मा और परमात्माका वियोग कर रक्खा था, यद्यपि भक्तके हृदयमें दोनों बराबर साथ रहे। इस अनुभवके साथ ही उसके अंदर ज्ञानोत्तरा भक्ति अथवा परा भक्तिका विकास होता है, और भक्तके जीवनका शेष भाग सर्वव्यापी परमात्मा और जीवात्माकी एकताका अखण्ड चिन्तन अथवा स्मरणरूप ही होता है। उसकी इस अनुपम भक्तिका पुरस्कार उसे यह मिलता है कि मृत्युके समय उसे भगवान्‌की स्मृति और शरीर छोड़नेपर उनके साथ नित्य संयोग प्राप्त होता है (देखिये गीता ८ । ५)।

इन सब बातोंका निचोड़ अथवा निष्कर्ष यह है कि भगवन्नामके स्मरणरूपी शस्त्रके द्वारा साधक अपनी विशृङ्खल वृत्तियों (बहिर्मुख मन) को निगृहीत कर लेता है और उन्हें अन्तर्वीक्षण एवं सदाचारके मार्गमें चलाता है और चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा, जो भक्तिकी पूर्णता एवं मोक्षकी प्राप्तिके लिये आवश्यक हैं, हृदयके दुर्गपर अधिकार कर लेता है। यह है स्मरण-भक्तिकी महिमा।

जीवनकालमें, मृत्युके समय तथा मृत्युके बाद भी नामस्मरण बहुत काम आता है। चित्त अथवा चेतना अन्तिम क्षणतक आत्माका साथ देती है, उसके साथ सम्बन्धको निभाती है, इन्द्रियोंकी भाँति उसका साथ छोड़ नहीं देती। चेतनाशून्य तो प्रतीत होता है केवल शरीर और जगत्‌के बाहरी सम्बन्ध जिन्हें जीव जल्दी ही छोड़नेवाला होता है। इसके बाद जीवात्मा अपने पिछले पार्थिव जीवन और अगले जन्मकी सम्भावनापर विचार करने लग जाता है। इसीलिये मुमूर्षु व्यक्ति जिस स्थानमें हो, वहाँ पूर्ण शान्ति बनाये रखनेकी आवश्यकता है। नामस्मरणका दीर्घ कालतक अभ्यास किये रहनेपर मृत्युकी असह्य वेदना तथा पिछले जीवनकी घटनाओं तथा आगामी जीवनकी सम्भावनापर विचार करनेके कारण मनमें अनिवार्यरूपसे विक्षेप होनेपर भी नामस्मरणका वह अभ्यास बरबस उस मुमूर्षु व्यक्तिके काम आ जाता है, जिससे उसका

पार्थिव स्तरसे ऊपर उठना आसान हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि शरीर छोड़नेके अन्तिम क्षणमें स्वयं भगवान् भक्तकी रक्षा करते हैं—सँभाल करते हैं (गीता ९ । २२)।

जीवनके अन्तिम क्षणोंमें मुमूर्षु व्यक्तिको नामस्मरणका लाभ मिले ही, इसके लिये एक खास सम्प्रदायके साधक दीर्घ अभ्यासके द्वारा प्राणवायुको इस प्रकार साधते हैं कि प्रत्येक श्वासके साथ भगवान्‌का पवित्र और मधुर नाम शरीरके बाहर और भीतर सञ्चारित होने लगे और मन साथ-ही-साथ जीवात्मा और परमात्माका अभेद-चिन्तन करता रहे। इस साधनाका नाम है 'अजपा जप'। यह उच्चतम कोटिका नामस्मरण है। यह बात कही जाती है कि मृत्युके समय मनुष्यके मनमें जो विचार होता है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्यको मरते समय भगवान्‌की स्मृति हो, जिससे वह आनन्दनिधि भगवान्‌को ही प्राप्त हो और उसे इस दुःखमय संसारमें फिर न आना पड़े (देखिये गीता २ । ७२; ८ । ६)। कहते हैं कि अजपा जपसे अन्तसमयमें भगवत्स्मृति अवश्य होती है। ऊपर यह बात कही जा चुकी है कि भक्त पहले मुक्तिके लिये भक्तिकी साधना करता है और आगे चलकर भगवत्प्रेमका उद्रेक होनेपर उसकी मनोवृत्ति इतनी बदल जाती है कि वह मुक्तिको न चाहकर नित्य-निरन्तर भक्तिकी ही कामना करता है। परन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है भागवतीय नियम अचूक होते हैं और उन नियमोंके अनुसार जब जीव आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त करके शरीर त्याग करता है तो वह अनायास ही परमात्माके स्वरूपमें लीन हो जाता है—जिस परमात्माको वेदान्ती अपरिच्छिन्न, नित्य निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं। भगवन्नाम एवं भगवद्भक्तिमें ऐसी महान् शक्ति है।

आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ते-बढ़ते, लक्ष्यपर पहुँचनेके पहले ही, यदि शरीर छूट जाय तो भी जीवका अकल्याण नहीं होता, उसका किया हुआ साधन व्यर्थ नहीं जाता। उसका पृथ्वीपर अच्छे घरानेमें—किसी सुखी परिवारमें जन्म होता है और पिछले जन्ममें जहाँ उसकी साधना छूटी थी, वहींसे पुनः अपने-आप उसकी साधना शुरू हो जाती है और इस प्रकार उसे अपनी साधना पूरी करनेका अवसर मिल जाता है (देखिये गीता ६ । ४०—४४)। आध्यात्मिक राज्यका यह नियम है कि आत्मज्ञानके साधनके रूपमें आध्यात्मिक भूमिमें जो बीज एक बार बो दिया गया है, उसका कभी नाश नहीं होता ('नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'); वह अङ्कुरित होता है, बढ़ता है और ठीक समयपर उसमें मधुर फल भी लगते हैं। साधकका कर्तव्य इतना ही होता है कि वह उस छोटे-से बीजको धैर्यके साथ पोसता रहे, उसकी सँभाल करता रहे। भगवान् अपने भक्तोंका कभी परित्याग नहीं करते ('न मे भक्तः प्रणश्यति'); इसीलिये गीतामें अनन्यभावसे उन्हींकी उपासना करनेका आदेश दिया गया है (देखिये गीता १२ । ६—८)। इससे भक्तका कल्याण निश्चित है। भगवान्‌की भक्ति करनेका यही पुरस्कार है।

ऊपर यह बात कही गयी है कि भगवान्‌में चित्तको एकाग्र करनेका अभिलाषी भक्त नामस्मरणके साथ-साथ मूर्तिध्यानका भी अभ्यास करता है। यह मूर्तिपूजाका प्रसङ्ग है और इसपर फिर कभी पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करनेका विचार है।

विज्ञान और अध्यात्मज्ञान

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

ईश्वर अर्थात् जगत्‌के एक सचेतन निर्माता हैं—इस बातके असन्दिग्ध प्रमाणके रूपमें किसी समय जगत्‌की निर्माण-चातुरीको ही पेश किया जाता था। जब हम एक घड़ीको देखते हैं, उसके बहुतेरे कल-पुर्जोंको देखते हैं,—किस प्रकार वे सब सजाये गये हैं, कितने छोटे-छोटे उनके अंग-प्रत्यंग हैं, कितनी जटिल उनकी गति है, फिर भी परस्पर मिल-जुलकर कितने अद्‌भुत सामञ्जस्यके साथ चलते हुए एक उद्देश्यकी सिद्धिमें लगे हुए हैं,—तब हम इससे निश्चितरूपमें यह सिद्धान्त करते हैं कि कोई एक घड़ीका बनानेवाला है, जिसकी बुद्धि-चातुरी उसकी बनायी हुई वस्तुके अंदर प्रतिफलित हो रही है। क्या जगत् भी ठीक उसी प्रकारका एक चमत्कारपूर्ण यन्त्र नहीं है?

ज्योतिष्कमण्डली किस प्रकार अव्यभिचारी नियमसे पारस्परिक सम्बन्धको अटूट रक्खे हुए कोटि-कोटि वर्षोंसे चल रही है; ऋग्वेदीय ऋषिकी भाषामें, वे मिल भी नहीं जाते, खड़े भी नहीं हो जाते—'न मेथते न तस्थतुः।' और जिस नियमसे वे चल रहे हैं, जिसका आविष्कार हमने बुद्धिकी पराकाष्ठा दिखाकर किया है, वह कितना अद्‌भुत गाणितिक नियम है। बृहत्‌को छोड़कर क्षुद्रके अंदर दृष्टि ले चलिये—देखिये प्रकृतिके अंदर दाना (Crystal) बाँधनेकी ज्यामितिको; परमाणुके अंदर चले जाइये, देखिये प्रोटन-इलेक्ट्रोनकी सजावटको; उसके सामने ताजमहलका स्थापत्यकौशल भी नहीं टिक सकता!

एक फूलके अंदर—उसका डंठल, उसकी पँखुड़ियाँ, उसका गर्भकोष, उसका पराग, उसके रंगोंका मेल, रेखाओंका सन्निवेश—कितनी निर्दोष निपुण कारीगरी होती है! उसपर जरा-सा ध्यान देनेपर दंग रह जाना पड़ता है। उसके बाद किस प्रकार फूल फलके रूपमें बदल जाता है, फल धीरे-धीरे किस प्रकार पुष्ट-परिणत-रसपूर्ण होकर एक सुन्दर मूर्त्ति धारण करता है—यह इतिहास भी कम चित्ताकर्षक नहीं होता।

और देखिये; ये जो लाखों, करोड़ों, असंख्य तृण, लता, गुल्म, वृक्ष आदि हैं, उनका जीवन कितना विचित्र, कितना बहुरूपी है—प्रत्येक देशकी मिट्टी, आबहवाके साथ अपरूप सामञ्जस्य बनाये रखकर कितने आकार-प्रकारमें उन्होंने अपनी छटा दिखायी है! मरुभूमिमें रहना होगा तृणको; देखिये कितना कठोर, समर्थ, आभरणहीन, बाहुल्यवर्जित तपस्वीके समान उसका गठन है—कितने थोड़े-से जलसे ही उसकी आवश्यकता पूरी हो जाती है; उसका सिर, उसकी जड़, उसका अंग-प्रत्यंग—सब उसी एक लक्ष्यके अनुसार प्रस्तुत हुआ है। शीतप्रधान देशका, साइबेरियाका 'लिचेन' एक दूसरी ही परिस्थितिके साथ ताल मिलाते हुए चलनेके लिये एकदम पृथक् रूप धारण किये हुए है। उष्ण प्रदेशके गुल्मसे लेकर महान् महीरुहतक एक तीसरी प्रकारकी व्यवस्थाको प्रकट करते हैं। प्राणि-जगत्‌की ओर दृष्टि दौड़ाइये: जलचर, थलचर, उभयचर, खेचर—प्रत्येकका शरीर गठित हुआ है अपने-अपने पारिपार्श्विक प्रयोजनके अनुसार। यह जो आवश्यकतानुसार विषमता है, इसके अंदर कितना परिमिति-शास्त्रज्ञान है—इसका कोई अन्त नहीं। परिमितिका अर्थ है आवश्यकताके अनुसार आयोजन; व्यर्थ जरा भी व्यय नहीं—श्रमका हो, चाहे उपकरणका। मछलीको जलमें रहना होगा, चलना होगा—जलका दबाव सहन करनेकी दृष्टिसे उसके अंग-प्रत्यंग प्रस्तुत हुए हैं, सजाये गये हैं, जलको काटकर तेजीसे चलनेके

लिये उसे एक विशेष आकार भी दिया गया है (जिसकी नकल करके मनुष्यने 'सबमेरीन टारपेडो' तैयार किया है) । पक्षीको आकाशमें उड़ना होगा—जिस वस्तुका अवलम्ब लेकर वह उड़ेगा उसका वजन होना चाहिये थोड़ा, साथ ही उसका गठन होना चाहिये दृढ़ पर नमनीय । पक्षीके पंखकी कलमको देखिये—उसे हलका होना चाहिये; इसी कारण वह भीतरसे पोला, फिर पतला किन्तु दृढ़ होता है, झुक जाता है पर टूटता नहीं । मनुष्यका बनाया हुआ 'एरोप्लेन' ठीक इन्हीं विधानोंके ऊपर प्रतिष्ठित है ।

और सब छोड़कर हम अपनेको ही देखते हैं, मनुष्यकी देहको देखते हैं—कैसी अपरूप अद्भुत एक वस्तु है वह ! वास्तवमें वह एक विपुल जटिल कारखाना ही है । मनुष्य स्वयं जैसा एक यन्त्र है, उसकी तुलना-में मनुष्यके बनाये हुए सभी यन्त्र तुच्छ हैं । अस्थि, पेशी, ग्रन्थि, स्नायुजालका संगठन, रक्तका दौर-दौरा, श्वास-प्रश्वासका कौशल, पाचन-निःसारणकी व्यवस्था, पञ्चेन्द्रियका गठन और क्रियाकलाप—पदार्थतत्त्वके, रसायनतत्त्वके कितने प्रकारके प्रयोगोंका क्षेत्र यह शरीर है ! जब हम इस वस्तुको पुंखानुपुंखरूपसे देखते हैं तब साधारण मनुष्यके लिये यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह वस्तु अपने-आप ही तैयार हो गयी है, इसका कोई भी परम निपुण सचेतन कारीगर नहीं है।

एक समय ऐसा ही माळूम होता था, जगत्-यन्त्रके यन्त्रीके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेके सिवा और कोई उपाय ही न था । चार्वाकपंथियों, नास्तिकों-का दल अवश्य था; परन्तु उनकी अस्वीकृतिका कोई विशेष मूल्य न था । कारण-वे लोग, जिसे कहते हैं जोर-जबर्दस्ती करके, अस्वीकार करते, अस्वीकृतिके लिये यथोचित युक्ति नहीं देते । सृष्टि अपने-आप हुई है, अपने ही चल रही है; प्रकृतिके यन्त्रोंमें, कल-कब्जोंमें कोई रहस्य नहीं; प्रकृतिकी प्रकृति ही ऐसी है—'स्वभावो यदृच्छा'। इस प्रकार कहनेसे वास्तवमें कुछ भी नहीं कहा गया । (अवश्य ही अध्यात्मपंथियोंमें भी कोई-कोई—बौद्धमतवादी, सांख्यमतवादी—ईश्वरको नहीं मानते; किन्तु वे चिन्मय पुरुष या चिन्मयी प्रकृति या चिन्मय पुरुषके संस्पर्शद्वारा सचेतन हुई प्रकृतिको मानते हैं ।)

किन्तु विज्ञानका युग ले आया एक नया रूढ आलोक । मनुष्यकी एक नयी दृष्टि खुली, उसके कारण सृष्टिरहस्यकी सभी बातोंकी उसने सहज स्वाभाविक व्याख्या कर डाली । सृष्टिसे अतीत एक जादूगर (Deus ex machina) की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी । लामार्क-डारविनके क्रमपरिणामवादने सृष्टि-धाराके अंदर एक ऐसा प्रकाश फेंका कि सभी समस्याएँ अपनी-अपनी सरल अव्यर्थ मीमांसाके साथ स्पष्टरूपमें प्रकट हो गयीं । उनके आविष्कारके फल-स्वरूप मोटी बात यह सामने आयी—सृष्टिके अंदर जो हम अद्भुत लक्ष्यानुसरण, उद्देश्यानुसार यथायथ उपायनिर्देश, अवस्थानुरूप व्यवस्थाका समावेश देखते हैं, उसका कारण है वस्तु-विशेषके एक क्रमपरिणामकी धाराके अंदर निर्वाचन और उद्वर्तनका अलङ्घनीय फल मात्र । पारिपार्श्विक अवस्थाके साथ सजीव देहका, देह और अपने सभी अंगोंका परस्पर जो जटिल छन्द-सौषीम्य है, सृष्टिमें सर्वत्र जो इतना कला-कौशल दिखायी देता है, वह सब एक दिनमें ही प्रकट नहीं हो गया, आरम्भमें वह इतना विचित्र, इतना निर्दोष नहीं था । आरम्भमें एक मोटे प्रकारकी, एक किसी प्रकारकी व्यवस्था भर थी; संस्पर्श, सङ्घर्षकी क्रिया-प्रतिक्रियाके, आदान-प्रदानके फलस्वरूप धीरे-धीरे यह सामञ्जस्य, यह लक्ष्यानुसरण—वस्तुका उद्देश्यानुयायी गठन और क्रिया प्रस्फुटित हो उठी है । जीवन-धारणके कठोर प्रयोजनके दबावसे जीव-जगत्में, जड देहमें यह

अपरूप यन्त्र तैयार हो गया है। आज जो बचे हुए हैं—चाहे उद्भिज्ज हो, प्राणी हो या मनुष्य हो—वे बचे हुए हैं ठीक इसीलिये कि वे जीवनयुद्धमें विजयी हुए हैं, उनका आधार—उनकी देहका गठन और कर्म-सामर्थ्य—बहुत दिनोंकी बहुत युगोंकी काट-छाँटके फलस्वरूप तैयार हुआ है। जितने अपटु आधार थे, वे नष्ट और लुप्त हो गये हैं; जहाँपर पटुता प्रकट हुई है, बढ़ सकी है, वहीं उद्वर्तनकी सम्भावना हुई है। उद्भिज्जसे प्राणी, प्राणीसे मनुष्यने भी इसी प्रकार एक सुन्दरसे सुन्दरतर, सरल सामञ्जस्यसे बहुमुखी सामञ्जस्य-की ओर क्रमगतिका परिचय दिया है। अतएव प्रकृति-के अंदर जो हम यन्त्र-कौशल देखते हैं वह क्रिया-प्रतिक्रियाके दबावसे, काट-छाँटके फलस्वरूप अव्यर्थभाव-से प्रकट हुआ है—अन्य प्रकार होनेका कोई अवसर ही यहाँ नहीं था। पहाड़ी नदीकी धारमें घात-प्रतिघात खाकर जिस प्रकार एक पत्थरका टुकड़ा खूब चिकना और गोल हो जाता है, प्रायः एक सुन्दर रूप ग्रहण करता है, यहाँ भी बात ठीक वैसी ही है। प्रकृति अपने भीतरसे ही यन्त्र बन गयी है, बाहरके किसी यन्त्रीके हाथकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

प्रकृतिरूप यन्त्रकी इस प्रकार व्याख्या करके वैज्ञानिकोंने ईश्वरको सृष्टिसे निकाल बाहर किया है—लापलास (Laplace) सृष्टिके अपने मानचित्रमें स्रष्टा या भगवान्‌के लिये कोई स्थान ही न पा सके; भगवान्‌की कोई आवश्यकता ही वह नहीं समझ सके। यदि सृष्टिका कोई स्रष्टा, यन्त्रका कोई यन्त्री कहीं हो तो उसके लिये वैज्ञानिक कहते हैं—'Verily thou art a God that hidest thyself.'—अवश्य ही तू एक ऐसा ईश्वर है जो अपनेको छिपाता है।

विज्ञान सृष्टिसमस्याकी यह मीमांसा पाकर और पकड़कर कुछ दिन बहुत निश्चिन्त था। परन्तु अन्यान्य क्षेत्रोंकी तरह यहाँ भी कुछ कसर दिखायी देने लगी, सन्देहके बादल घने होने लगे। नये-नये तथ्यों, घटनाओं, कार्योंके आविष्कारने पूर्वकालीन मीमांसाको हिलाकर गिरा दिया। पहले यह मीमांसा निश्चित हुई थी, प्रायः स्वतःसिद्ध सिद्धान्त हो गया था कि जीवन धारण करनेमें आधारका जो परिवर्तन काम आता है, वह बच जाता है और धीरे-धीरे पुष्ट होता रहता है और जो कुछ अनुपयोगी होता है, वह घटने लगता है, अन्तमें लुप्त हो जाता है। परन्तु सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि आरम्भमें जो परिवर्तन हठात् दिखायी पड़ता है वह तो बहुत साधारण, तुच्छ होता है; उस समय तो उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। उपयोगिता तो प्रमाणित होती है उस समय जब वह परिवर्तन पूर्ण, यथेष्ट परिणत हो जाता है। लामार्कका तत्त्व अगर हम मानें तो यह कहना होगा कि पीछे काम आयेगा, इस भावी आशासे या पूर्वदृष्टिकी आशासे साधारण-सा परिवर्तन बचा रहता है और बढ़ता रहता है। परन्तु यह तो बिल्कुल ही यान्त्रिकताका धर्म नहीं है—यह तो चैतन्यका धर्म है। इसी कारण इस सङ्कटसे त्राण पानेके लिये आकस्मिक बृहत् परिवर्तनके तत्त्व (Mutation) का आविष्कार किया गया। परन्तु उससे भी क्या सारी मुश्किल आसान हो गयी? वास्तविक वस्तुका और घटनाका पर्यवेक्षण और परीक्षण जितना ही विस्तृत होने लगा उतना ही यह देखा गया कि दूर, सुदूर भविष्यमें जो काममें आयेगा उसकी वर्तमानकालमें कोई भी आवश्यकता नहीं; इस प्रकारकी व्यवस्था जीवदेहमें या जीव और उसकी परिस्थितिके सम्बन्धके अंदर यथेष्ट पायी जाती है। केवल यन्त्रकी तरह क्रिया-प्रतिक्रियाके फलस्वरूप इस प्रकारकी व्यवस्था भी उत्पन्न होती है, यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है। अधिक तो क्या, जब विचार करके देखते हैं कि एक अणुपरिमाण बीजकोषके अंदर समग्र

महीरुह किस प्रकार लीन हुआ रहता है, एक ही मिट्टीमें एक ही आहार्यसे एक बीजकोष अपनेको विराट् अश्वत्थ वृक्षके रूपमें परिणत करता है और एक दूसरा सामान्य लता या गुल्मकी सीमा पार नहीं कर पाता, कुछ जोड़े 'क्रोमो सोम' के अंदर जीव-देहका, जीवचरित्रका यावतीय वैचित्र्य सम्पुटित रहता है, तब यह सिद्धान्त जबर्दस्ती ही मानना पड़ता है कि बीजकोष केवल एक जड यन्त्र है, रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रियाका क्षेत्रमात्र है ।

केवल जडशक्तिके क्षेत्रमें चाहे जो हो—उसकी बात हम पीछे कहेंगे—जीवनी शक्तिके क्षेत्रमें एक प्रकारकी पूर्वानुभूति, उद्देश्यपरायणता, लक्ष्याभिमुखी गति, भावी आवश्यकताके लिये वर्तमानमें आयोजन आदिके उदाहरण यथेष्ट पाये जाते हैं और आजकल उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता । प्राणशक्तिकी क्रियाकी केवल जड शक्तिकी बात कहकर पूर्णरूपसे और सन्तोषजनक व्याख्या देना असम्भव है । मनके जगत्में (विशेषकर मनुष्यके अंदर तथा कुछ सम्भवतः उच्च कोटिके प्राणियोंके अंदर) सचेतन इच्छाशक्ति स्पष्टरूपसे प्रकट है । प्राणके, जीवनी शक्तिके जगत्में इच्छाशक्ति सचेतन नहीं हुई है; परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वहाँ एकदम अभाव है । मानसिक इच्छाशक्तिके बदले वहाँ निम्नतर प्राणीके अंदर तथा उद्भिज्जके अंदर प्राणज इच्छाशक्ति वर्तमान है । मानवेतर उच्चतर प्राणियोंके अंदर प्राणज इच्छाशक्ति ही प्रधान होती है, तब उसके अंदर मानसिक इच्छाशक्तिका थोड़ा-बहुत आवेश होता है, प्राणज इच्छाशक्ति-अभिकृत मानस-इच्छाशक्तिका ही नाम है पशुसुलभ सहजात प्रेरणा (Instinct) । उद्भिज्जके अंदर मनका तनिक भी आवेश नहीं होता, वहाँ विशुद्ध अमिश्र प्राणज इच्छाशक्ति होती है । उद्भिज्जकी जिस वृत्तिको 'आभिमुख्यता' (Tropism) कहते हैं, अर्थात् जिस ओर प्रकाश या आहार या अवलम्बनकी सम्भावना होती है उसी ओर बीचमें बाधा होनेपर भी, घूमकर, झुककर जानेकी प्रवृत्ति—वह उद्भिज्जकी प्राणज इच्छाशक्तिका अपूर्व परिचय देती है ।

तो क्या जड स्तरमें, विशुद्ध जड स्तरमें किसी प्रकारकी इच्छाशक्तिका कोई चिह्न पाया जाता है ? अगर कोई जडज इच्छाशक्ति हो तो वह किस प्रकारकी चीज हो सकती है ? अवश्य ही जडके आकर्षण-विकर्षणको बहुत-से लोग इसी प्रकारकी शक्ति कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक लोग ऐसा नहीं मानते; वे कहते हैं यह केवल कविता है, उपमा है—pathetic fallacy है । इच्छाशक्तिकी क्रियाके अंदर एक प्रकारका निर्वाचन या निर्वाचनकी सम्भावना होनी चाहिये, द्वैधीभावकी अनिश्चयताका अवकाश होना चाहिये—अन्यथा वह वस्तु एकदम यन्त्र, सब प्रकारसे नियमके अधीन, बद्ध हो जायगी । परन्तु वर्तमान युगका विज्ञान हमें जडके एक ऐसे स्तरमें ले गया है, जहाँ जडका आचार-व्यवहार एकदम अप्रत्याशित प्रकारका हो गया है—और वहाँ यह कहना अब नहीं बनता कि वह यन्त्रवत् नियमबद्ध है, उसकी गतिके अंदर द्वैधीभावकी अनिश्चयताका कोई अवकाश नहीं । जडका जो क्षुद्रतम खण्ड है—वैद्युतिक कण—उसकी गतिविधिका निर्णय व्यष्टि-हिसाबसे नहीं किया जा सकता, किसी प्रकार हिसाब-किताब करके भी यह पता नहीं लगाया जा सकता कि प्रत्येक किस पथसे चलेगा या नहीं चलेगा । ऐसा कहनेकी इच्छा होती है कि वे सब खामखयाली मिजाजके होते हैं; उनकी सङ्घबद्ध गतिविधिको ही केवल नियमके अंदर बाँधा जा सकता है । केवल यही नहीं, और भी आश्चर्यजनक बातें हैं । कहते हैं वैद्युतिक कण भी सब प्रकारके यान्त्रिक धर्म और नियमको अस्वीकार कर सामने बाधा होनेपर भी बाधा-

को पार कर दूरस्थ अपने सहधर्मीके साथ मिलनेके लिये चला जाता है* ।

इस प्रकारकी गति या वृत्तिको हमलोग इच्छाशक्तिकी कोटिमें नहीं डालना चाहते, क्योंकि इच्छाशक्तिका मतलब हम प्रधानतः मानसिक इच्छाशक्ति समझते हैं—प्राणज इच्छाशक्तिको कल्पनाके बलपर कुछ-कुछ समझ भी सकते हैं, परन्तु जडज इच्छाशक्ति हमारी कल्पनासे, धारणासे एकदम अतीत है ।

किन्तु प्रकृतिके अंदर क्रमपरिणाम या विवर्तनका होना यदि सत्य हो तो साहस करके उस प्रकारकी वस्तुको अस्वीकार करना भी हमारे लिये समीचीन न होगा । हम विवर्तनके जितने नीचे स्तरमें उतरते हैं, उतना ही चेतनाकी अभिव्यक्ति भी कम होती जाती है । मनुष्यके अंदर जो वृत्ति स्पष्ट, प्रस्फुट, निःसन्देह है, मानवेतर उच्चतर प्राणियोंमें उसके ऊपर पर्दा पड़ना, उसका निमीलन होना आरम्भ हुआ है, निम्नतम प्राणियोंमें वह क्षीण हो गयी है, उद्भिज्जमें वह सन्देहका विषय हो गयी है और जड पदार्थोंमें वह एकदम लीन या आच्छन्न हो गयी है । तब बात यह है कि लीन या आच्छन्न हो जानेके कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु एकदम लय या लोपको प्राप्त हो गयी है, एकदम है ही नहीं । निम्नतम, स्थूलतम जडके अंदर भी चेतना, इच्छाशक्ति विद्यमान है—तब वह सुप्त, अन्तर्लीन, अन्तर्गूढ़ अवस्थामें है—और उस अवस्थामें रहते हुए भी पीछेसे उसका एक निभृत दबाव बाहरके क्रियाकलापपर कुछ प्रभाव डालता ही है, बाहरके रूपको थोड़ा-बहुत नियन्त्रित करता ही है । वृक्षकी छाल, देहस्थ बाल और नख पृथक् करके देखनेपर मृत जड पदार्थमात्र मालूम होते हैं, किन्तु जीवंत वृक्ष और देहकी जीवनी शक्ति जब पीछेसे दबाव डालती है तब ये सजीव होते हैं, इनके व्यवहारमें सजीवताका धर्म दिखायी देता है । ठीक इसी प्रकारकी बात यह भी है।

प्रकाशके पीछे—प्रकाश है जडका सबसे कम मात्रामें जडरूप—जिस प्रकार वैद्युतिक क्षेत्रगत दबावका अस्तित्व विज्ञानने खोज निकाला है, उसी प्रकार और भी आगे अगर हम बढ़ जायँ तो देखेंगे इस जड दबावके पीछे भी वर्तमान है एक प्रकारकी चेतनाका अर्थात् अवचेतनाका दबाव । अवश्य ही वह वैज्ञानिक दृष्टिका विषय नहीं है—उसको वैज्ञानिक दृष्टिका विषय बनानेकी चेष्टा भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वह है और भी सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, चिन्मयदृष्टिका विषय । आजकल 'फोर्स' (Force) अर्थात् बलको छोड़कर 'फील्ड' (Field) अर्थात् क्षेत्रकी बात अधिक कही

* कहीं आपलोग यह न समझें कि मैं मूल विज्ञानकी बात न कहकर उपन्यासकी रचना कर रहा हूँ; इसलिये मैं यहाँ एक वैज्ञानिककी ही भाषा उद्धृत कर रहा हूँ, यद्यपि ये वैज्ञानिक केवल 'प्राण-वैज्ञानिक' हैं, पूरे-पूरे आदि अकृत्रिम 'जड-वैज्ञानिक' नहीं हैं—"One of the most amazing features of quantum mechanical theory is the discovery that electrons and other elementary particles will leak through a potential barrier which they could never cross if the classical physics were true. The electron is imprisoned, for example, in a metal filament and would gain kinetic energy like a stone rolling downhill, if it could cross a gap to a positively charged plate. But to leave the metal it has to traverse a potential barrier at the surface of the filament and does not possess the requisite energy. According to the classical physics, it is like a stone in a small depression on a hillside, which cannot get out so as to roll down the hill. There is no force acting on the electron or the stone which will take them over the barrier. But such an electron does go out, though the stone does not."

—The Marxist Philosophy and Science by J. B. S. Haldane, pp. 145-146.

जाती है। मालूम होता है तेजको छोड़कर विज्ञान वायुका आश्रय करने जा रहा है, किन्तु उसके भी आगे वर्तमान है व्योम—चिदाकाश।

जड प्रकृतिके, अत्यन्त जडके अंदर—चाहे वह महतो महीयान् ज्योतिष्कमण्डल हो या अणोरणीयान् परमाणु हो—सर्वत्र जो एक अपरूप शृङ्खला, नियमानुवर्तिता, छन्दोमय गति, ताल-मान विद्यमान है वह खूब स्पष्ट है। सभी जानते हैं, हमने भी कहा है, वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धमें, उनकी क्रिया-प्रतिक्रियामें, उनके आणविक गठनमें, वजनमें परिमाणकी अर्थात् संख्याकी जो नियमित धारा, मेल या 'पैटर्न' हम पाते हैं वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है। वस्तुओंकी चालके अंदर जड विज्ञानने आविष्कार किया है समताल और पर्यावृत्तिका नियम (law of harmonies and periodicity) वस्तुओंके गठनमें आविष्कार करता है ज्यामितिक आकृति।

ऐसा कहा जाता है कि जड वस्तुका धर्म ही ऐसा है; जड जो जड है—इसका प्रमाण भी यही, यहीं है। क्रियाकी धारामें एक प्रकारका पुनरावर्तन, पर्यावृत्ति, गठनमें एक प्रकारका सममान, समभंग ही है—यन्त्रकी यान्त्रिकताका लक्षण। घड़ीका 'पेंडुलम' यदि एक तालसे झूल रहा है तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ? अवश्य, केवल बाहरी ओरसे देखनेपर प्रकृतिकी चाल-ढालका तालसाम्य, मानसाम्य आदिके विषयमें उनकी सूक्ष्मता, यथायोग्यताकी प्रशंसा करके ही चुप हो जाना पड़ता है। विश्वप्रकृतिकी अपरूप यान्त्रिकताका विश्लेषण करके—सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कल-कब्जे खोल-खोलकर हमने उनकी एक सूची भी सम्भवतः तैयार कर ली है; परन्तु ऐसी यान्त्रिकताकी उत्पत्ति क्यों हुई, किस प्रकार हुई यह हम नहीं जानते, नहीं समझते। क्रमपरिणामवादने अवश्य ही इस समस्यापर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला है, परन्तु एकदम बाह्य दृष्टिसे और सो भी उसका अत्यन्त सामान्य अंश लेकर। अधिक भाग अन्धकारमें ही पड़ा हुआ है, और कुछ भाग तो और भी जटिल हो गया है। विज्ञानका प्रधान अङ्ग है परिमाणनिर्णय—माप-खोज करना। परन्तु उस दृष्टिसे देखनेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि इन्द्रधनुषमें सात रंग क्यों होते हैं, स्वरग्राममें सात पर्दे क्यों होते हैं, परमाणुके अन्तर्गत 'इलेक्ट्रॉन' के (क्रियाशक्तिके हिसाबसे) सात क्रम क्यों होते हैं, और वह 'इलेक्ट्रॉन' चौम्बक क्षेत्रके द्वारा ठीक सात ही प्रकारसे क्यों प्रभावान्वित होता है ? दूसरी ओर सृष्टिके मूलतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाले जिन कर्मों या लोकोंकी बात आध्यात्मिक द्रष्टा कहा करते हैं, उनकी संख्या भी सात ही है—'सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः' (ऋग्वेद), 'सप्त इमे लोकाः' (मुण्डकोपनिषद्)।

फलतः एक आध्यात्मिक दृष्टिद्वारा ही हम इस प्रकारकी समस्याका समाधान पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अवश्य ही इसीलिये हम यहाँ ऐसा नहीं कहना चाहते—जैसा कि मध्ययुगमें यह सिद्धान्त किया गया था कि विश्वके एक निपुण चतुर स्रष्टा हैं, विधाता हैं जिन्होंने अपनी सृष्टिसे ऊपर बैठकर एक प्रकारसे गिन-गिनकर, माप-तौलकर, सजा-सजाकर, जगत्को रचा है। (कोई-कोई कहते हैं कि इस कार्यके करनेमें उन्हें छः दिन लगे थे, सातवें दिन उन्होंने बैठकर अपनी गढ़ी हुई चीजोंको स्वयं देख-देखकर आनन्द-उपभोग किया था—यहाँ भी सातका प्रभाव है!) परन्तु बात ऐसी न होनेपर भी ऐसा होना असम्भव नहीं है, हमने पहले ही यह बात कही है कि एक चेतनाका दबाव पीछेकी ओर वर्तमान रहनेके कारण ही उसकी छाप बाहर इस गिनतीके साँचेमें प्रस्फुटित हो उठी है।

एक घड़ीके अंदर जो कला-कौशल है (जिसका स्वरूप गाणितिक है), उससे घड़ी बनानेवालेके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहे जितना भी आसान क्यों न हो, उससे भी कहीं अधिक रहस्यकी बात यह है कि कला-कौशलके अंदर मनकी या चेतनाकी छाप ही अभिव्यक्त हुई है। चेतनाके संस्पर्शसे जड भी चेतनवत् हो जाता है। यहाँपर हम घड़ीसे भी अधिक सजीव रचनाका उदाहरण ले सकते हैं—एक चित्र या एक कविताको। कविताके अंदर काफी गणित विद्यमान है, चित्रके अंदर भी पर्याप्त मात्रामें ज्यामिति वर्तमान है। परन्तु वह गणित, वह ज्यामिति एक सजीव अनुभव या चेतनाका अव्यर्थ प्रकाश या सुश्री अवयव हैं। रंग, रेखा और ध्वनिके विक्षिप्त परमाणुओं-को संश्लिष्ट, सुघीन, मूर्त्तिमान् कर डाला है शिल्पीकी चेतनाके दबावने। चेतनाका ही धर्म है, नियम है—शृङ्खला, सुसंस्थान, संगठन; अचेतनाका धर्म है—विशृङ्खला, विश्लिष्टता, विपर्यस्तता।

मैं कह चुका हूँ कि चेतनाके संस्पर्शसे जड भी चेतनवत् हो उठता है—परन्तु क्यों, किस प्रकार? यदि वे दोनों एकदम पृथक् चीजें हों, विभिन्न पर्यायकी हों तो उनका संयोग, परस्पर एकका दूसरेके ऊपर प्रभाव कैसे सम्भव हो सकता है? एक बार दार्शनिक मण्डलमें इसीलिये यह समस्या उठी थी कि आखिर 'कर्तृकारकको डंडा कैसे लगाया जाय?' फिर इसी समस्याको हल करनेके लिये किसी-किसीने दोनों-के बीच एक प्रकारकी पूर्वनिर्दिष्ट सामञ्जस्यकी व्यवस्था (pre-established harmony) दी। अथवा किसी-किसीने इस मीमांसाको यह कहकर एकदम सरल कर दिया कि विचार या चेतना नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, है केवल जड ही; विचार, चेतना है जडका एक प्रकारका रसस्राव।

परन्तु हमारा कहना यह है कि जडका चैतन्यके द्वारा प्रभावान्वित होनेका कारण यह है कि जडके अंदर निहित, विलीन हो रही है चेतना, जड चेतना-का ही आत्मविस्मृत घनीभूत आकार है।

इस विषयमें एक विचित्र बातका उल्लेख यहाँपर किया जा सकता है—उस बातने, सम्भव है, बहुत-से लोगोंकी दृष्टि आकर्षित की हो; परन्तु इस बातमें सन्देह है कि कभी किसीने साहसपूर्वक यह विचार किया है कि उसका आखिर अर्थ क्या है। बहुत बार हमें किसी यन्त्रका व्यवहार अद्भुत-सा दिखायी देता है। कोई घड़ी, इञ्जिन, नौका या जहाज कभी-कभी (यदि प्रायः न भी हो) सजीव प्राणीकी तरह गतिविधि दिखाता है—मानो उसका भी एक व्यक्तिगत ख्याल, मिजाज हो, नियति हो। एकदम जड यन्त्रके धर्मके अतिरिक्त भी उसके अंदर बीच-बीचमें आकस्मिकरूपमें जडातिरिक्त किसी वस्तुका, सजीव किसी वस्तुका आभास फूट उठता है। इञ्जिनका चालक, नौकाका केवट, जहाजका सारंग (या कप्तान) इस विषयमें गवाही दे सकते हैं; वे अपने यन्त्रको सजीव वस्तुके रूपमें अनुभव करते हैं और यह अनुभव केवल काल्पनिक आरोप मात्र नहीं होता।

गुह्यज्ञानकी एक विद्या है, जिससे यह जाना जाता है कि अधिकांशमें इस प्रकारके यन्त्र एक-न-एक अशरीरी सत्ताद्वारा अधिकृत होते हैं; अवश्य ही यन्त्री, यन्त्रके मालिक या चालककी चेतना भी उस अशरीरी सत्ताके गठनमें कुछ-न-कुछ उपकरण अवश्य ही प्रदान करती है, फिर भी उसको एक स्वतन्त्र और सजीव सत्ता ही मानना पड़ता है। परन्तु इसी कारण इस प्रकारकी सत्ताको कोई विशेष उच्च स्तरका सचेतन जीव माननेका कोई कारण नहीं। वह यन्त्रके अनुरूप ही यन्त्रके अनुपातसे ही एक जडानुगत, जडाश्रयी अवचेतन शक्ति होती है।

इस प्रकारके आरोप या अधिकारकी बात सम्भवतः साधारण सत्य न भी हो, परन्तु इस दृष्टान्तसे हम एक साधारण सिद्धान्त निश्चित कर सकते हैं कि जहाँ यन्त्रकार है वहाँ यन्त्रके अंदर जो उद्देश्यानुगतता (Purposiveness) है वह यन्त्रकारकी चेतनाका प्रतिरूप है और उसी तरह जहाँ यन्त्रकार नहीं है, जहाँ हम केवल यन्त्रको ही देखते हैं वहाँ भी यन्त्रगत जो उद्देश्यानुगतता है वह एक प्रकारके चैतन्यका ही परिचय देती है—वह चेतना किसी बाहरी यन्त्रकारके यहाँसे न आनेपर भी वह यन्त्रके ही अन्तर्गत एक प्रच्छन्न आत्मविस्मृत चेतना ही होती है। समस्त जड सृष्टिको यदि हम इसी प्रकार एक यन्त्रके रूपमें ग्रहण करें तो वहाँ भी हमें, बाह्य यन्त्री न भी हो, एक अन्तर्यन्त्रीका, एक प्रसुप्त पर साथ ही सक्रिय इच्छा-शक्तिका पता तो मिलता ही है।

आध्यात्मिक दृष्टि और अनुभूति यह बतलाती है कि समस्त सृष्टि ही चैतन्यका (चिन्तनका नहीं—व्यष्टिगत चिन्तनका तो नहीं ही) विकास है। आपाततः प्रतीयमान जडके भीतर भी वर्तमान है चैतन्यका अस्तित्व; तब वहाँपर चैतन्य है अवचेतन अर्थात् सुप्त, आत्मगुप्त, अन्तर्लीन। इस अन्तर्लीन चैतन्यके प्रच्छन्न दबावसे ही जडके अंदर हम देखते हैं—जड-जगत्‌के अपरूप अत्याश्चर्यमय छन्द, ताल और मानकी शृङ्खला और नियम। जीवके अंदर, जीवनके क्रमविकासकी धाराके अंदर यह चैतन्य जितना सजग, परिस्फुट प्रकट हुआ है—पहले उद्भिज्जमें, उसके बाद इतर प्राणियोंमें और अन्तमें मनुष्यमें—उतना ही आधारका यान्त्रिक संगठन भी जैविक धर्मको प्राप्त करता दिखायी देता है। दूसरी ओर, मनुष्यके अंदर जो चिन्मय इच्छाशक्ति पूर्ण जाग्रत् है, इतर प्राणियोंमें वह अर्द्धजाग्रत् है, उद्भिज्जमें वह स्वप्नगत हो गयी है और जडमें तो वह एकदम सुप्त ही है—परन्तु सुप्त होनेके कारण उसका अभाव नहीं है। उच्चतम स्तरमें जो सजग इच्छाकी क्रिया है, उद्देश्यमुखी सचेतन चेष्टा है, वही निम्नतम स्तरमें क्रमशः अनिच्छाकृत, अवश और अन्तमें यान्त्रिक व्यवहारके रूपमें परिणत हो गयी है। ऐसा होनेपर भी सर्वत्र ही विद्यमान है एक ही चैतन्यका दबाव, अवश्य है वह विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न मात्रामें—

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

मालिक ! तू निश्चय दयालु है

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुआ, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

मालिक ! तू निश्चय दयालु है।
पर जब तपा तपाकर सोनेको तू पिघला लेता।
तप तपकर वह अपने अवगुण-कलुष छाट सब देता॥
तभी दयाके शीत-बिन्दुसे दग्ध हृदय निखराकर।
सुख-संतोष और श्रद्धासे उसको चमका देता॥
मालिक ! तू निश्चय दयालु है॥

अवतार-रहस्य

(श्रीकृष्ण)

जो सर्वव्यापक, शुद्ध, चेतन, निर्गुण, निराकार और अव्यक्त ब्रह्म है वही विश्वरूपसे सगुण, साकार और व्यक्त होता है। इस विश्वव्यापक ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं। ब्रह्म ईश्वरकी पराविभूति है। ईश्वर तीन गुणोंके आश्रयसे उत्पत्ति, स्थिति और लयका कार्य करता है। जब वह रजोगुणके आश्रयसे उत्पत्तिका कार्य करता है तब ब्रह्मा कहलाता है, जब सत्त्वगुणके आश्रयसे पालन—रक्षणका कार्य करता है तब विष्णु, और जब तमोगुणके आश्रयसे लयका कार्य करता है तब शङ्कर कहा जाता है। जब जीव किसी आपत्तिमें फँस जाता है तब वह अपनी रक्षाके लिये विष्णुभगवान्की प्रार्थना करता है और वे उसकी मनोकामना पूर्ण करते एवं उसकी सहायता करते हैं। जब-जब अधर्मका बहुत विस्तार होता है, तब-तब अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये वे अवतार भी लेते हैं। अवतारका मुख्य कारण भक्तोंका सङ्कल्प ही है, उनके सङ्कल्पको पूरा करनेके लिये वे परिस्थितिके अनुसार जैसी आवश्यकता होती है उसीके अनुरूप अवतार लेते हैं। भक्त प्रह्लादके लिये, हिरण्यकशिपुको प्राप्त हुए वरदानके अनुसार भगवान्का श्रीनृसिंहरूपसे और ध्रुवके लिये श्रीनारायणरूपसे अवतार हुआ। इन अवतारोंका हेतु कभी तो एक ही भक्तका सङ्कल्प होता है और कभी बहुत-से भक्तोंके सङ्कल्प होते हैं और इन सङ्कल्पोंके अनुसार कभी तो एक-दो कार्य ही करने होते हैं और कभी अनेकों छोटे-बड़े कार्य करने होते हैं। श्रीनारायण-अवतार भक्त ध्रुवके सङ्कल्पके लिये था और उसका मुख्य कार्य उनके सङ्कल्पकी पूर्ति करना ही था। श्रीनृसिंह अवतारके हेतु प्रह्लादके सङ्कल्पके अतिरिक्त और भी बहुत-से भक्तोंके सङ्कल्प थे। हिरण्यकशिपुका अत्याचार बहुत बढ़ गया था, अनेकों लोगोंको अपने धर्मकार्य करनेमें बाधा होती थी; इसीसे बहुत-से भक्तोंकी प्रभुसे प्रार्थना थी। इसी प्रकार कार्यके अनुसार कोई अवतार थोड़े समयके लिये होता है और कोई बहुत समयके लिये। ध्रुवके लिये श्रीनारायणका अवतार और प्रह्लादके लिये श्रीनृसिंह-अवतार थोड़े समयके लिये हुए थे। किन्तु दशरथ, कौसल्या और दूसरे अनेकों भक्तोंके लिये श्रीरामावतार तथा देवकी, वसुदेव और उस समयके अनेकों भक्तोंके लिये श्रीकृष्णावतार बहुत कालके लिये हुए थे। अन्य सब अवतारोंकी अपेक्षा श्रीकृष्णावतार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अवतारमें भगवान्ने धर्मकी रक्षा और असुरोंके संहारके अतिरिक्त जीवोंकी मोक्षप्राप्तिके लिये उपनिषद्-जैसे गहन ग्रन्थोंका मन्थन करके उनका साररूप श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे महत्त्वपूर्ण और सरल ग्रन्थकी अवतारणा की और उसके अनुसार स्वयं आचरण करके दिखाया। उन्होंने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि पूर्णज्ञानयुक्त व्यवहार कैसा होता है। ऐसे व्यवहारमें स्वभावतः ही पूर्ण ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आ जाते हैं। यही इस अवतारकी मुख्य विशेषता है। भगवान्के स्वयं आचरण करके दिखा देनेसे उनका उपदेश बड़ा ही सरल और प्रभावशाली हो गया है।

भगवान् कार्यके अनुसार कभी तो इस तरह स्वतन्त्र देह धारण करके अवतार लेते हैं और कभी जब ऐसी आवश्यकता नहीं होती, कोई साधारण कार्य होता है, तो दूसरोंके शरीरमें आविष्ट होकर अवतीर्ण होते हैं। इसे आवेशावतार कहते हैं। जब दूसरेकी देहमें भगवान् आविष्ट हो जाते हैं, तब उस देहधारी जीवको अपना कोई भान नहीं रहता। भगवान् उस देहद्वारा अपना कार्य सिद्ध करते हैं। ऐसे समयपर उस देहकी कान्ति बदल जाती है। शरीर, नेत्र, वाणी—सब दिव्य हो जाते हैं। कार्य पूरा हो जानेपर भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं। फिर उस जीवको धीरे-धीरे अपना भान होने लगता है। इस समय उसे एक विलक्षण आनन्द और शान्तिका अनुभव होता है, किन्तु भगवान् जो कार्य कर गये हैं, उसका उसे कोई ज्ञान नहीं होता। वह शान्ति कुछ कालतक रहती है। फिर वह प्राणी जैसे पहले था प्रायः वैसा ही बन जाता है, उसमें कोई

खास परिवर्तन नहीं दीखता; क्योंकि इस अवतारके लिये उसका कोई सङ्कल्प नहीं था। भगवान्‌का यह आवेशावतार दूसरेके लिये था, और जिसके सङ्कल्पके लिये था उसका सङ्कल्प पूरा हो गया। इसी तरह प्राणियोंमें देवी-देवताओंका भी आवेश देखा जाता है। देवी अपना कार्य करती है; किन्तु जिसकी देहमें वह प्रवेश करती है, उसको अपना भान नहीं रहता। कभी-कभी वास्तवमें देवी-देवताओंका आवेश न होनेपर भी मनुष्य जो ढोंग करने लगता है, यह दूसरी बात है। इसी तरह हिप्नोटिज़्ममें, निगेटिव हिप्नोटाइज़्ड पुरुषमें जिसपर कि शक्ति डाली जाती है—शक्ति डालनेवाला पॉज़िटिव हिप्नोटाइज़र प्रवेश करता है और अपना उद्दिष्ट कार्य करता है। इस समय निगेटिव प्राणी कुछ भी नहीं करता। यहाँतक कि उसको अपना भान भी नहीं रहता।

इस आवेशावतारके अतिरिक्त भगवान् अर्चामें भी प्रकट होते हैं। इसे अर्चावतार कहते हैं। यदि पूजन करनेवाला शुद्ध हृदयका हो और उसका सङ्कल्प दृढ़ हो तो उसके सङ्कल्पानुसार भगवान् मूर्तिमें प्रकट हो जाते हैं। पंढरीनाथ भगवान् विठ्ठलने एक भक्त बालकका सङ्कल्प पूर्ण करनेके लिये साक्षात् प्रकट होकर उसके रक्खे हुए नैवेद्यमेंसे भोजन पाया था। इसी प्रकार वे प्रत्यक्ष प्रकट होकर नामदेवके साथ खेला करते थे। ऐसे ही और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं।

अर्चाविग्रह दो प्रकारके होते हैं। एक स्वयंसिद्ध और दूसरे स्थापित—प्राणप्रतिष्ठा किये हुए। श्रीबद्रीनारायण, श्रीद्वारकाधीश, श्रीजगन्नाथ, श्रीरणछोड़राय, श्रीपंढरीनाथ-जैसे बहुतसे विग्रह स्वयंसिद्ध हैं। भक्तोंके सङ्कल्पके अनुसार जैसे भगवान् देहधारी होकर अवतरित होते हैं, वैसे ही उनके लाभ और धर्मकी रक्षाके लिये वे इस लोकमें अर्चारूपमें निवास करते हुए भी सब प्रकारसे भक्तोंके सङ्कल्प पूर्ण करते रहते हैं।

अर्चावतारके सम्बन्धमें कितने ही लोगोंको यह शङ्का होती है कि यदि अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं तो इसका क्या कारण है कि जो लोग सदैव भगवान्‌की सन्निधिमें रहते हैं और उनकी सेवा-पूजा करते हैं, उनके चित्त भी अपवित्र रहते हैं और वे दुःखी दिखायी देते हैं। भगवान् उनपर कृपा करके उनका योगक्षेम क्यों नहीं चलाते? वे उनकी सार-सँभाल क्यों नहीं करते?

इस विषयमें प्रथम तो यह बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् भक्तोंके सङ्कल्पानुसार ही सब काम करते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि 'जीवोंका सङ्कल्प ही भगवान्‌का सङ्कल्प है।' यदि यह बात ठीक-ठीक ध्यानमें रहे तो ऊपरकी शङ्काओंका सहजही समाधान हो जाता है। भक्तोंके जो सङ्कल्पसमुदाय और उनसे होनेवाले जो संस्कार होते हैं, उनके अनुसार ही सिद्धि मिलती है। अर्चाविग्रह प्रत्यक्ष भगवान् ही हैं—पुजारियोंका ऐसा दृढ़ भाव नहीं होता। उसमें उनका भगवद्भावके साथ-साथ स्थूल मूर्तिका भाव भी रहता ही है। उनके आचरण इस प्रकारके होते हैं मानो यह अर्चाविग्रह स्थूल जड मूर्ति ही है। प्रत्यक्ष भगवान्‌के सामने खड़े होनेपर जैसा बर्ताव होगा, वैसा अर्चाविग्रहके सामने नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें उनकी दृष्टिमें वह स्थूल मूर्ति ही होती है, वे भगवान्‌की तो उसमें केवल भावना ही करते हैं। इसलिये वे भगवान्‌से जो कार्य होनेकी आशा रख सकते थे, वह मूर्तिसे नहीं रखते। ऐसे भक्तोंके सङ्कल्पमें कुछ भी बल नहीं होता और न विग्रह ही उनके लिये प्रत्यक्ष भगवान् होता है। इसीसे न तो उनकी तुरंत अन्तःकरण-शुद्धि होती है और न योगक्षेमका ही निर्वाह होता है। अर्चाविग्रह-की तो बात ही क्या, वे तो अवतारविग्रहमें भी प्रत्यक्ष भगवान्‌को प्रत्यक्ष नहीं समझते; जैसे यादवकुलमें श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष थे, किन्तु बहुत कम लोग उनको भगवान् समझते थे। इसीसे यादव भी दूसरे लोगोंकी तरह ही रहे, समुद्र तो परिपूर्ण है; किन्तु मनुष्य उसमेंसे अपने पात्रके अनुसार ही तो जल ले सकता है, वह अधिक किस प्रकार लेगा। किन्तु यदि छोटे पात्रमें अधिक जल न आवे तो इससे समुद्रके समुद्रत्वमें कोई बाधा नहीं आती, वह तो पूर्ण ही है। इसी प्रकार यदि भगवान्‌से कोई पूरा लाभ नहीं उठा पाता तो इससे उनकी भगवत्तामें कोई बाधा नहीं आती।

कल्याण

याद रक्खो—मनके मलोंमें सबसे बढ़कर गहरा चिपटा हुआ मल है अहङ्कार। यह सहज ही दूर नहीं होता। इसके नाशके लिये लगातार जीतोड़ जतन करना पड़ता है। परन्तु जबतक अहङ्कार रहता है तबतक साधना सिद्ध नहीं हो सकती। अहङ्कारकी जरा-सी हुङ्कारसे ही किया-कराया चौपट हो जाता है। अहङ्कारका नाश होता है अपने गौरव या बड़प्पनका त्याग करनेसे! बात भी यही है—मनुष्यके पास अपने बड़प्पनकी वस्तु ही कौन-सी है? यदि कहीं कुछ गौरव है तो वह श्रीभगवान्का ही है। जो मनुष्य मोहवश भगवान्के गौरवको छीनकर अपनेमें आरोप करनेकी चेष्टा करता है, वह अहङ्कारके वशमें हो जाता है। और जहाँ अहङ्कारका अङ्कुर पैदा हुआ वहीं सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं—**'अहङ्काराङ्कुरस्याग्रे तदा पुण्यं न तिष्ठति।'**

याद रक्खो—भगवान्को छोड़कर और किसीका भी सहारा ऐसा नहीं है जो तुम्हारी सारी विपत्तियोंका समूल नाश कर दे। यहाँतक कि साधन करनेवाला पुरुष भी यदि यह मानता है कि इस साधनके बलसे मैं सारी बाधा-विपत्तियोंसे छूट जाऊँगा तो वह भी गलती करता है। सर्व विपद्भञ्जन तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं। उनकी अहैतुकी और असीम दयापर विश्वास करके—उन्हींकी दयाका आश्रय करके साधन-भजन करना चाहिये।

याद रक्खो—श्रीभगवान् मङ्गलमय हैं, उन्होंने तुम्हारे लिये जो कुछ भी विधान कर दिया है, वह सर्वथा मङ्गलसे परिपूर्ण है। यदि तुम उनके मङ्गल विधानको प्रसन्नताके साथ स्वीकार न करोगे तो निश्चय समझो कि तुम बड़े ही अभागे हो। तुम अबोध हो, तुम्हें वह बुद्धि ही कहाँ है कि जिससे तुम अपनी सच्ची भलाई-बुराईको समझ सको। इसीसे दयासागर सर्वज्ञ भगवान्ने तुम्हारा सारा भार अपने ऊपर ले रक्खा है। तुम्हारा तो बस यही काम है कि तुम उनके मङ्गलमय श्रीचरणोंमें अपनेको समर्पित कर दो और पूर्णरूपसे निर्भय तथा निश्चिन्त होकर उनके प्रत्येक विधानको सानन्द सिर चढ़ाते रहो!

याद रक्खो—जिसका हृदय सङ्कीर्ण है, जो दूसरेकी श्री, कीर्ति, सम्पत्ति, शान्ति और उन्नतिको देखकर सदा जलता रहता है, जो दूसरोंकी हानिमें आनन्द-लाभ करता है वह न तो परमार्थ-पथपर कभी अग्रसर हो सकता है और न कभी असली सुखका ही मुँह देख सकता है। अतएव हृदयके इन क्षुद्र और नीच विचारोंका त्याग करके हृदयको विशाल बनाओ। दूसरोंकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति, मङ्गलमें ही अपना मङ्गल, और सम्पत्तिमें ही अपनी सम्पत्ति समझकर प्रसन्न होते रहो एवं सदा सच्चे हृदयसे यही चाहो कि संसारमें सभी जीव सच्ची श्री-कीर्ति, सम्पत्ति-उन्नति और सुख-शान्तिको प्राप्त करें।

याद रक्खो—जब कभी तुमपर कोई विपत्ति आती है तो विपद्हारी भगवान् सदा तुम्हारी रक्षाके लिये तुम्हारे पीछे खड़े होते हैं। तुम जो अपने सामने एक घना अन्धकार देखते हो वह तो तुम्हारी अपनी ही छाया है। भगवान्के उस परम प्रकाशमय दिव्यस्वरूपको देखो जो अपनी विशाल भुजा पसारे तुम्हें अपनी छातीसे चिपटाकर सदाके लिये सुखी करनेको तैयार खड़े हैं।

याद रक्खो—विकाररूपा प्रकृतिमें स्थित सभी जीव भूलसे भरे हैं। किसीमें कम तो किसीमें अधिक दोष सभीमें रहते हैं। तुम कितने ही भले क्यों न हो सर्वथा निर्दोष नहीं हो। अतः किसी भी दूसरेका दोष मत देखो, दीख जाय तो उसकी निन्दा मत करो। देखो—तुम्हारे अंदर वैसे ही दोष हैं या नहीं, यदि हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप करो और चेष्टा करो जिसमें वे मिट जायँ। निश्चय समझो—दुनियाँ उसी रंगकी दीखती है जिस रंगका चश्मा होता है। तुम निर्दोष हो जाओगे तो फिर तुम्हें कहीं दोष दीखेगा ही नहीं। ब्रह्मनिष्ठको सर्वत्र ब्रह्म ही दीखा करता है। **'शिव'**

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आप लोगोंको इतने दिन हो गये पर अभीतक तेज साधन नहीं हुआ। पहलेकी अपेक्षा तो कुछ चेष्टा अधिक दीखती है परन्तु जितनी चेष्टा होनी चाहिये उतनी नहीं हुई तथा योग्यताके अनुसार चेष्टा नहीं हुई। खैर, जो कुछ हुआ सो हुआ; अब तो बहुत जोरसे चेष्टा करनी चाहिये। अपने आत्मबलको देखना चाहिये और साधन बहुत तेज हो इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये। मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें, सुख-दुःखमें और मिट्टी-सुवर्णमें समान और राग-द्वेषरहित होकर संसारमें जीवन्मुक्तकी तरह विचरनेके लिये साधन करना चाहिये तथा उत्तम गुण स्वाभाविक ही होने चाहिये। तेज, क्षमा, धृति, शौच, अमानित्व, अदम्भित्व आदि सद्गुणोंकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान-सत्सङ्गका साधन निष्काम प्रेमभावसे करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। एक सत्-चित्-आनन्दघनमें मग्न होनेके लिये ही जो भजन-सत्सङ्गका अभ्यास करना है वही निष्काम प्रेमभावसे तेज साधन करना है। शरीर तथा संसारके भोग सब नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं—ऐसा जानकर उस सच्चे प्रेमीको अपने चित्तसे कभी नहीं भूलना चाहिये। अन्य कार्योंमें भले ही हर्ज हो, शरीरको भी चाहे जितनी तकलीफ़ हो, संसारके आराम चाहे सब चले जायँ किन्तु एक श्रीभगवान् अवश्य मिलने चाहिये—ऐसा भाव हर समय रखना चाहिये।

(२)

उधर सत्सङ्गका प्रचार कैसा हो रहा है ? आप लोगोंको कटिबद्ध होकर भगवद्भक्तिका प्रचार करना चाहिये और निष्कामभावसे लोगोंकी सेवा करनी चाहिये। सब जीवोंकी जो सेवा है वही नारायणदेवकी सेवा है। श्रीभगवान्‌को सच्चे निष्काम प्रेमी समझकर उन मनमोहन श्रीहरि भगवान् आदिनारायणदेवको अपने चित्तसे कभी नहीं भुलाना चाहिये। इस असार संसारसे रवाना होंगे उस दिन यहाँकी कोई भी वस्तु आपके साथ नहीं जायगी। शरीर भी यहीं रह जायगा। श्रीनारायणदेवका चिन्तन किया हुआ होगा तो वह काम आवेगा। उत्तम कर्म भी साथ जा सकते हैं इसलिये उत्तम-उत्तम आचरणोंके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। एक श्रीहरि भगवान्‌के सिवा आपका और कोई भी नहीं है। सारा संसार अपने मतलबका है। आप इसके मोहजालमें फँसकर अपने अमूल्य जीवनको किसलिये मिट्टीमें मिला रहे हैं। यदि ऐसे मौकेपर भी नहीं चेतेंगे तो पीछे पछताना पड़ेगा।

(३)

नित्यबोधस्वरूप आनन्दघनमें निरन्तर विशेष स्थिति रहनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। सामान्य स्थिति तो रहती ही है परन्तु बोध और आनन्दकी बहुलता गाढ़रूपसे निरन्तर रहे—इसीके लिये विशेष चेष्टा करनी है। अब जल्दी ही श्रीपरमात्मादेवको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। बहुत समय हो गया है, अब तो विचारना चाहिये। श्रीपरमात्माका वियोग आप लोग सह सकते हैं तभी वियोग हो रहा है। जिस दिन वियोग सहन नहीं हो सकेगा उस दिन संयोग होनेमें देर नहीं होगी। जो कुछ विलम्ब होता है, उसमें अपने ही साधनकी त्रुटि समझनी चाहिये। श्रीपरमात्मादेवकी ओरसे तो एक पलककी भी ढील नहीं है। भगवान् तो सब जगह प्राप्त ही हैं, केवल विश्वासकी त्रुटि है। इसी कारण प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त-से लग रहे हैं। श्रीपरमात्मादेव सब जगह प्रत्यक्ष हैं। इसमें कुछ भी सन्देहकी बात नहीं है। ये शास्त्रके

ही वचन हैं पर श्रद्धा होनी चाहिये। जो कुछ भी उपाय करना है वह इस श्रद्धाके लिये ही करना है।

(४)

श्रीभगवान्‌का भरोसा रखना चाहिये। किसी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। गीता अध्याय २ श्लोक ११ के* अर्थका मर्म समझ लेनेके बाद किसी बातकी चिन्ता रह नहीं सकती; क्योंकि चिन्ताके योग्य कोई वस्तु है ही नहीं। आपने लिखा कि कृपा करके ऐसा उपाय लिखना चाहिये जिससे मेरा भजनमें प्रेम हो जाय। सो ठीक है, पर यदि लिखनेसे प्रेम होता तो कई बार लिखा हुआ है ही, प्रेम हो जाना चाहिये था। जिनके लिखनेसे, भाषणसे, दर्शनसे और स्पर्शसे भगवान्‌में पूर्ण प्रेम हो जाया करता है, ऐसे पुरुषोंका संयोग लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीपरमात्मादेव यदि मुझको ऊपर लिखे अनुसार गुण-प्रभाववाला बना देते तो फिर आपको इतना लिखना भी नहीं पड़ता किन्तु इस प्रकारका प्रभाव होना बहुत दुर्लभ है। श्रीभगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंमें भी कोई विरला ही ऐसे प्रभाववाला होता है। श्रीपरमात्मादेवको प्राप्त हुए पुरुषोंमें भी ऐसे प्रभाववाला शायद ही कोई होता है। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। इसलिये मेरी बड़ाईका समाचार नहीं लिखना चाहिये। गीता अध्याय २ श्लोक ११ के अर्थका अभ्यास करना चाहिये।

(५)

साधन तेज हो—इसके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। जैसा स्वभाव जीवन्मुक्त पुरुषोंका होता है, वैसा ही ऊँचे दर्जेका स्वभाव आपको बनाना चाहिये। जो भी कुछ हो, सबमें समभाव रखकर एक श्रीपरमात्मादेवके सिवा अन्य कुछ भी न प्रतीत हो—ऐसी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये।

(६)

साधनमें त्रुटि होनेके कारण आपका प्रेम कम है। जिस प्रकार धन, शरीर और संसारमें प्रेम है, उसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होना चाहिये। आपलोग तो समझते हैं कि संसारमें रुपये ही सबसे बढ़कर हैं क्योंकि रुपयेसे सब कुछ मिल सकता है। इसी कारण रुपयेमें विशेष प्रेम हो रहा है किन्तु इस प्रकार समझना बहुत ही भूल है। रुपयेसे श्रीपरमात्मादेव नहीं मिलते। श्रीपरमात्मादेवकी तो बात ही दूर है, भगवान्‌का प्रेमी भक्त भी रुपयेसे नहीं मिलता। प्रेमसे ही प्रेमी भक्त मिल सकते हैं फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है? भगवान्‌के भक्तोंके सङ्गके सामने रुपये कुछ भी नहीं हैं। एक पलके सङ्गके सामने लाख रुपये भी कुछ नहीं हैं परन्तु आप तो दस रुपयोंके लिये भी चार दिनका सत्सङ्ग छोड़ देते हैं। आपने सत्सङ्गका प्रभाव नहीं जाना है; रुपयेको ही बड़ी बात समझ रक्खी है। भगवान्‌का प्रभाव जान लेनेके बाद तो रुपये मिट्टीके समान लगने लग जाते हैं। कारण, रुपया उसके आगे फिर क्या वस्तु है? जब त्रिलोकीका मालिक उसका प्रेमी है तो फिर रुपया क्या चीज है?

(७)

भजन-ध्यान होनेका उपाय है सत्सङ्ग तथा भजन-ध्यानके लिये चेष्टा करना। किन्तु सत्सङ्ग भी प्रेम होनेसे, सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपासे तथा भगवान्‌की कृपा मानकर उनके शरण होकर चेष्टा करनेसे ही हो सकता है। इस काममें पुरुषार्थ ही प्रधान है। भगवान्‌की शरण भी लेनी चाहिये; नहीं

---

* अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

'तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

तो पुरुषार्थका अभिमान हो सकता है। अपने पुरुषार्थसे भगवान् मिलते हैं—इस तरहका अभिमान भी साधनमें बाधा देनेवाला है, इसके नाशके लिये भगवत्कृपाका आश्रय ही एकमात्र साधन है। साधन तेज नहीं होता तो समझना चाहिये कि भगवत्कृपाके आश्रयमें ही भूल है और वह शरणागत भी कहनेमात्रका ही है। हाँ, न होनेसे तो कहनामात्र भी अच्छा है। वस्तुत: शरण हो जानेके बाद तो मनुष्य जो कुछ भी हो उसीमें आनन्द मानता है क्योंकि जो कुछ होता है सब भगवान्की इच्छासे ही होता है। इस तरह मानकर हर समय आनन्दमें मग्न रहना चाहिये।

(८)

लोभसे ही झूठ बोला जाता है। लोभ ही पापका मूल है। इसलिये लोभका त्याग करना चाहिये। लोभके त्यागके लिये निष्कामभावसे भगवान्का भजन-ध्यान करना चाहिये, मृत्युको याद रखना चाहिये एवं शरीर, भोग और संसारके सब पदार्थोंको क्षणभङ्गुर तथा नाशवान् समझना चाहिये। अनित्य संसारके भोगोंके लिये उस नित्य सच्चे प्रेमी भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं, कोई भी पदार्थ साथ नहीं जायगा, एक भगवान् ही साथ जायँगे। इस तरह समझकर भगवान्के भजन-ध्यानको भूलना नहीं चाहिये। भजन-ध्यानसे ही झूठ बोलना छूट सकता है। झूठसे भगवत्प्राप्तिमें बड़ी भारी रुकावट पड़ती है—ऐसा समझ लेनेपर झूठ छूट सकता है।

(९)

आप जिस कामके लिये आये थे, उसे आपको याद करना चाहिये। मनुष्यका शरीर केवल पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। जिस प्रकार भगवान् मिलें, सच्चा कल्याण हो—वैसी चेष्टा करनी चाहिये। इससे बढ़कर आपके लायक और कोई भी काम नहीं है। जबतक भगवान्की प्राप्ति नहीं हुई तबतक कुछ भी नहीं हुआ। भगवान्की प्राप्ति होती है निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्का भजन-ध्यान करनेसे तथा सत्सङ्ग और सेवा करनेसे। इसलिये अपने शरीरको संसारकी सेवा करनेमें तथा भगवान्के भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। इससे बढ़कर और कोई काम नहीं है।

(१०)

सत्सङ्गमें अधिक मनुष्य नहीं आते सो ठीक है। सब प्रकारसे स्वार्थ और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाको त्याग कर मन, वाणी और शरीरसे सबकी सेवा करनेका भाव रखते हुए प्रयत्न करना चाहिये। स्वार्थ-त्यागके व्यवहारसे सत्सङ्गमें लोग कुछ जुट सकते हैं किन्तु चेष्टा करनेकी विशेष आवश्यकता है। बहुत जल्दी सब भगवान्की भक्तिमें लग जायँ, बहुत जल्दी सबका भगवान्में प्रेम हो जाय और बहुत जल्दी सबको लाभ पहुँच जाय—इसके लिये उपाय पूछा सो ठीक है। श्रीपरमात्माके प्रेमी भक्तोंको उधर बुलाना चाहिये और उनका सत्सङ्ग करनेके लिये सब भाइयोंसे आग्रह करना चाहिये तथा भगवद्भक्तिके प्रचारके लिये तन-मन-धनसे सबकी निष्कामभावसे विशेष सेवा करनी चाहिये एवं श्रीपरमात्मादेवकी शरण लेनी चाहिये। उसीको सब कुछ समझना चाहिये। फिर वह जो कुछ भी करे उसीमें आनन्द मानना चाहिये। सबके साथ बहुत ही उत्तम बर्ताव करना चाहिये। माता-पिताकी सेवा करने, प्रतिदिन उनके चरणोंमें सिर नवाने और उनकी आज्ञा पालन करनेका विशेष ध्यान रखना चाहिये। अपने आचरण उत्तम बनाने चाहिये। अपने आचरण उत्तम बनाये बिना दूसरोंपर प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये पहले आचरण सुधारनेकी तरफ तो बहुत ही ध्यान देनेकी आवश्यकता है। बहुत दिनोंतक इस प्रकार चेष्टा करनेपर बहुत आदमी सत्सङ्गमें लग

सकते हैं।·········में बहुत आदमी लगे हैं वे बहुत दिनोंकी चेष्टासे लगे हैं, मनुष्योंकी संख्या बढ़ते-बढ़ते बढ़ी है, वहाँकी जन-संख्या भी अधिक है । चिन्ता-फिक्र तो किसी बातका करना ही नहीं चाहिये। यदि भगवान्‌की मर्जी आदमी कम बढ़ानेकी हो तो इसमें भी आनन्द मानना चाहिये पर अपनी चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये। चेष्टा करना तो अपना कर्तव्य ही है।

सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—सब समय इस प्रकारका अभ्यास करना चाहिये। चाहे सो हो श्रीपरमात्मादेवका भजन-ध्यान एक पल भी नहीं छोड़ना चाहिये। जिस जगह भी मन और नेत्र जायँ उसी जगह एक वासुदेवको देखना चाहिये। अभ्यास बहुत तेज हो जानेपर तो संसारका काम करते हुए भी श्रीपरमात्मामें अटल स्थिति रह सकती है; फिर भगवद्गुणानुवादके द्वारा सब भाइयोंकी भगवान्‌में स्थिति बनी रहनी कौन बड़ी बात है? यदि लोग एक बार भगवद्भक्तिमें अच्छी तरह लग जायँ और भगवद्विषयका उन्हें आनन्द आ जाय तो फिर उनका अपने-आप ही प्रेम हो सकता है। एक बार इस विषयका सच्चा आनन्द आये बिना पूरा लाभ होना कठिन है। परन्तु पहले-पहल तो विश्वास कराके ही लगाना पड़ता है; साधन तेज होने तथा आनन्द आनेपर तो लोग स्वतः ही जोरसे लग सकते हैं और फिर लाभ भी जल्दी हो सकता है।

(११)

एक तो निष्काम भावमें किञ्चित् भी दोष नहीं आना चाहिये। दूसरे, शास्त्रोंका अभ्यास तुम्हारे बहुत कम है सो शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये और श्रीगीताजीके अर्थमें बुद्धि लगानी चाहिये जिससे श्रीपरमात्माका प्रभाव तथा गुप्त रहस्य जाना जाय। बहुत ही श्रद्धा-प्रेमसे भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करके उनसे भगवान्‌का प्रभाव समझना चाहिये। और उन पुरुषोंके वचनोंके अनुसार साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। उत्तम आचरणोंके लिये भी विशेष कोशिश करनी चाहिये। यद्यपि उत्तम आचरणोंके लिये चेष्टा करनेकी भी बहुत आवश्यकता है परन्तु यदि भगवान्‌की भक्ति तथा सत्पुरुषोंके सङ्गके द्वारा श्रीपरमात्माका प्रभाव जान लिया जाय तो फिर उत्तम आचरण तो स्वाभाविक ही आ सकते हैं। श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा अवसर पाकर भी यदि नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे । श्रीनारायणदेवकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। श्रीपरमात्मादेव जिस प्रकार चेष्टा करनेसे शीघ्र प्रसन्न हों उसी प्रकार तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। भले ही प्राण चले जायँ, शरीर मिट्टीमें मिल जाय, कोई चिन्ता नहीं; शरीर फिर है ही किसलिये?

(१२)

तुम्हारा प्रेम आजकल किसमें हो रहा है? × × × × तुम संसारके विषय-भोगोंमें फँसकर अपने अमूल्य समयको बिता रहे हो पर विचारनेकी बात है, क्या यह समय फिर वापस आवेगा? याद रखना, यदि तुच्छ कामोंमें ही समय बिता दोगे और भगवान्‌के दर्शन हुए बिना ही इस असार संसारसे चले जाओगे तो अन्तमें पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा।

तुम अपनी शक्तिको क्यों नहीं सम्हालते हो! तुम किसलिये भूल रहे हो! पहले तुम्हारा साधन बहुत तेज हो रहा था। किन्तु उस तरहका रोजगार अब क्यों नहीं होता है? चाहे जो हो, सांसारिक जालमें मनको एक क्षणके लिये भी नहीं फँसने देना चाहिये। जिस कामके लिये आये हो, उस काममें तुम्हें बहुत तेजीसे लग जाना चाहिये। ऐसा मौका क्या सदा ही रहेगा! समय बीता जा रहा है; गये दिन वापस नहीं आते। कलियुगके इस घोर समयमें थोड़े-से साधनसे भी परमात्मादेवकी प्राप्ति हो सकती है। फिर तुम किसलिये कटिबद्ध होकर चेष्टा नहीं करते!

(१३)

तुमने लिखा कि आपके जचे सो लिखना चाहिये सो भाई ! पहलेकी अपेक्षा तुम्हारा सत्सङ्गमें प्रेम कम दीखता है। पत्र पढ़नेमें भी पहले और भी अधिक प्रेम था, साधनकी ओर भी समय-समयपर बहुत उत्तेजना हुआ करती थी, संसारके काम झंझटकी तरह मालूम दिया करते थे। ये सब बातें देखनेसे साधन कुछ कम मालूम देता है सो क्या बात है ? तुम्हें जो पहले पत्र लिखा गया था उसमें बड़ा उत्साह दिलाया गया था, उसका तुमपर क्या असर पड़ा ? पहले तुम्हारे एकान्तकी तथा सत्सङ्गकी बहुत टान रहा करती थी और बहुत जोशकी बातें भी हुआ करती थीं, पर अब क्या हुआ ? विचारना चाहिये और पहलेकी बातोंको बार-बार याद करना चाहिये। एक बार तुम्हारी झंझट जानकर काम छोड़ देनेकी भी इच्छा हो गयी थी एवं कई बार सब कुछ छोड़ देनेकी भी उत्तेजना हुआ करती थी किन्तु अब संसारके पदार्थोंमें, स्त्री-पुत्रोंमें एवं शरीरके आराम और भोगोंमें प्रेम कुछ अधिक मालूम देता है। इस प्रेमको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर साधन करना चाहिये और श्रीगीताजीके पढ़नेका आसरा लेना चाहिये। श्रीभगवान्‌के वचनोंको अमूल्य समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये। इसमें श्रीपरमात्मादेवके गुणानुवाद ही भरे हुए हैं, इसलिये रात-दिन श्रीगीताजीके रटनेका जो अभ्यास है वह नाम-जपसे भी बढ़कर है। यदि अर्थ और भाव-सहित इसका अभ्यास किया जाय तो उसकी तो बात ही क्या है ? यदि श्रीगीताजीके उपदेशके अनुसार आचरण हो जायँ अर्थात् उपदेश धारण हो जाय तब तो उसमें अनेकों मनुष्योंका उद्धार करनेकी सामर्थ्य हो जाय; फिर अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है ? इसीलिये श्रीगीताजीका अभ्यास करनेके लिये विशेष-रूपसे लिखा जाता है किन्तु तुम तो इतना खयाल करते नहीं। भाई ! हम-तुम मित्र हैं, अतः हमारी बातोंको तुम खयाल न भी करो तो भी कोई हर्ज नहीं परन्तु श्रीगीताजी तो श्रीभगवान्‌के वाक्य हैं, उनकी तरफ़ तो जरूर ध्यान देना चाहिये। ज्यादा क्या लिखें ?

(१४)

श्रीपरमात्माके नामका जप हर समय करना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य रुपयेको नहीं भूलता इसी प्रकार भगवान्‌को कभी नहीं भूलना चाहिये। आपको विचारना चाहिये, यदि रुपयेके समान भी भगवान् न होते तो फिर भगवान्‌को कौन बुद्धिमान् पूछता ? पहले जितने महात्मा, साधु, योगी, ऋषि, मुनि हुए हैं, सब भजन, ध्यान, सत्सङ्गके प्रतापसे ही हुए हैं। अतः भगवान्‌का भजन-ध्यान तेज हो—ऐसी चेष्टा जल्दी करनी चाहिये।

(१५)

संसारमें आकर अपने मालिकको नहीं भूलना चाहिये। जिस कामके लिये संसारमें आना हुआ है, उस कामका भी खयाल रखना चाहिये। यदि अपना काम बनाये बिना ही चले जाना होगा तो बहुत भारी हानि है, इसे विचार लेना चाहिये। संसारमें आकर क्या किया ? संसारकी तो सारी ही वस्तुएँ धोखा देनेवाली हैं। इसलिये निरन्तर भगवान्‌की स्मृति रहे वही काम करना चाहिये।

धन जोबन यों जायँगे जा बिधि उड़त कपूर।
नारायण गोबिन्द भज क्यों चाटे जगधूर॥

ऐसा विचारकर उस नारायणदेवका भजन-ध्यान करना चाहिये और भजन-ध्यान होनेके लिये उनके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करना चाहिये तथा कुछ शास्त्रोंका अभ्यास भी करना चाहिये।

मिलनेकी इच्छा लिखी सो आपके प्रेमकी बात है। संसारके झंझटसे कुछ समय निकालना चाहिये। समय बीता जाता है, उसे अनमोल काममें लाना चाहिये और विचारना चाहिये कि इतने दिनतक हमने क्या किया ? यदि आगे भी इसी तरह समय बिता देंगे तो फिर श्रीभगवान्‌के दर्शन कैसे होंगे ?

महान् सङ्कटसे बचनेके साधन

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब क्या करते हैं किसीको कुछ पता नहीं चलता। परन्तु इतना निश्चय है कि उनकी लीला होती है कल्याणमयी ही, फिर वह देखनेमें चाहे अत्यन्त सुन्दर हो या भयानक भीषण! इस समयका यह विश्वव्यापी महायुद्ध भी भगवान्‌की कल्याणमयी लीलाका ही एक दृश्य है। यह है बड़ा भीषण! चारों ओर जल, स्थल और आकाशमें अग्निवर्षा हो रही है। धन, जन, शताब्दियों-से संग्रह की हुई बहुमूल्य सामग्रियों और जनस्थानोंका बड़ी वर्वरताके साथ विनाश किया जा रहा है। निरीह बच्चे और स्त्रियोंका भी निर्दयरूपसे संहार हो रहा है। करोड़ों टनोंके जहाज समुद्रके गर्भमें जा चुके हैं और प्रतिदिन जा रहे हैं। अभी गैसोंका प्रयोग तो बाकी ही है! यह भगवान्‌की लीलाका एक रोमाञ्चकारी भयानक दृश्य है। मालूम होता है भगवान् कालरूप होकर अपनी अनन्त ज्वालामयी कालजिह्वाओंसे सबको समेटकर भीषण दाढ़ोंसे सबका चूर्ण करके अपने अंदर ले जा रहे हैं। महाभारतके समय भी भगवान्‌ने कहा था—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

(गीता ११। ३२)

'मैं काल हूँ और लोकोंका नाश करनेके लिये बढ़ा हुआ हूँ। इस समय इन लोकोंका संहार करनेमें लगा हूँ।'

परन्तु अन्तर इतना ही है कि उस समय वह धर्मके साथ अधर्मका, न्यायके साथ अन्यायका, दैवीसम्पदा-युक्त पाण्डवोंके साथ आसुरीभावापन्न कौरवोंका युद्ध था; इसीसे स्वयं भगवान् प्रत्यक्ष अवतीर्ण होकर धर्म और न्यायके लिये लड़नेवाले पाण्डवोंकी सहायता कर रहे थे। और इसीसे धर्मपरायण पाण्डव विजयी हुए थे। इस समय यह युद्ध धर्माधर्म, न्यायान्याय या दैवासुरमें नहीं हो रहा है, यह तो भौतिक विज्ञानबलसे गर्वित प्रबलतम आसुरी शक्तियोंका घोर पापयुद्ध है जो अन्तमें उभयशक्तियोंका विनाश करके ही पूर्णतया शान्त होगा! दोनों ही कहते हैं कि हम जगत्‌से अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ और अशान्तिका नाश करके जगत्‌को चिरशान्तिसुखका आस्वादन करानेके उद्देश्यसे न्यायका आश्रय लेकर लड़ रहे हैं परन्तु आश्चर्य तो यह है, युद्धमें परस्पर दोनों ही निःसङ्कोच अन्याय, असत्य और अत्याचारका आश्रय लेते हैं। कोई-सा पक्ष किसी प्रकारकी वर्वरता करनेमें कुछ भी नहीं हिचकता। नाजीवादी हिटलर और फैसिस्ट मुसोलिनीके अनुयायी जर्मन और इटालियन बुरे हैं तो जनतन्त्रवादी रूजवेल्ट और चर्चिलके अनुगामी अमेरिकन और ब्रिटिश भी इस दृष्टिसे अच्छे नहीं कहे जा सकते। नाजी यहूदियों-पर अत्याचार करने और निरीह लोगोंकी स्वतन्त्रता छीननेवाले हैं तो सरल हृदयके हबशियोंके साथ पशुओंके समान बर्ताव करनेवाले अमेरिकन और भारतको चिरकालसे अन्यायमूलक परतन्त्रताकी बेड़ीमें बाँध रखनेवाले अंगरेज क्या नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि भलाई-बुराईमें कुछ न्यूनाधिकता हो और तरीके पृथक् हों। इसीसे भगवान्‌की लीला-शक्ति आज इस रूपमें प्रकट हो रही है। असलमें यह समष्टि-शरीरका महान् ऑपरेशन है, जो समष्टिके कल्याणके लिये परम आवश्यक था और जबतक सड़न पूरी निकल न जायगी, जबतक समष्टिका शरीर नीरोग न हो जायगा तबतक यह चलता ही रहेगा। भगवान् बड़े निपुण सर्जन हैं, उनका यह कालरूप चाकू तबतक बंद नहीं हो सकता जबतक कि सड़न बिल्कुल न निकल जाय। बीचमें यदि कहीं शान्ति-सी दीखेगी तो वह चाकूकी धार सुधारने भरके लिये होगी, जो शेष सड़नको निकालनेके लिये और भी प्रबलताके साथ काम करेगी।

जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली आदि तो लड़ ही रहे थे, अब चालाक-चुस्त जापान और धन-मदगर्वित-अमेरिका भी लड़ाईमें कूद पड़े ! कहा जाता है कि 'प्रेसिडेण्ट रूजवेल्टको उचित था कि वे अमेरिकाको युद्धमें न उतारकर विश्वशान्तिके लिये प्रभावशाली मध्यस्थका काम करते और पृथ्वीभरको खूनकी नदीमें नहानेसे बचाते।' परन्तु यह होता कैसे ? ऐसा होता तो अमेरिकाके धन-जनका नाश क्योंकर हो पाता ? सड़न तो सभी अङ्गोंकी निकलनी चाहिये न ! असलमें सर्वश्री रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टैलिन, हिटलर, मुसोलिनी और टोजो आदि तो निमित्तमात्र हैं उन्हें तो इस संहारनाट्यके परस्परविरोधी नायकोंका पार्ट दिया गया है। होता तो वही है जो मङ्गलमय भगवान् करवा रहे हैं। ये लोग अहङ्कारवश अपनेको पार्ट करनेवाले ऐक्टर न मानकर कर्त्ता मान रहे हैं। यह दूसरी बात है, और इसीसे यह युद्ध पापयुद्ध बना हुआ है ! भगवान्की सृष्टिमें आकस्मिक या अनियमित कुछ नहीं हो रहा है ! वही हो रहा है जो होना चाहिये था—जिसका होना विश्वकल्याणके लिये जरूरी था। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये इन लोगोंको निमित्त बनाया गया है। धर्मयुद्धके समयपर प्रकट हुई गीतामें भगवान्की वाणी है—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
(गीता ११ । ३३)

'इन सबको मैं पहले ही मार चुका हूँ, हे अर्जुन ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्योंको तो अपने कर्म-फलका भोग करनेके लिये बलात्कारसे मौतके मुँहमें जाना पड़ता है परन्तु अनगिनत इमारतें, बड़े-बड़े औद्योगिक कारखाने, विविध कलाओंके सुन्दर संग्रह-भवन, साहित्य-मन्दिर, विज्ञानशाला, धर्म-मन्दिर (गिरजे आदि) और अस्पताल आदिका ध्वंस क्यों होता है, इसमें भगवान्का क्या अभिप्राय है ? असलमें भगवान्का अभिप्राय तो वे ही जानें परन्तु अपनी समझसे तो यह बात प्रत्यक्ष है कि मनुष्यकी बनायी हुई प्रत्येक वस्तुसे उसका और उसके भावोंका गहरा और अटूट सम्बन्ध रहता है। जैसे मनुष्य दैवी या आसुरी सम्पदावाला होता है, वैसे ही उससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी दैवी या आसुरी भावकी होती हैं। न्याय और धर्मके मार्गसे उपार्जित धन बुरा नहीं होता परन्तु जहाँ चोरी, डकैती, छल, जालसाजी करके परस्वापहरण किया जाता है, जो न्यायसे नहीं किन्तु अन्यायसे प्राप्त होता है, वह धन तो दूषित ही होता है और उससे बनी हुई प्रत्येक वस्तु भी दोषयुक्त हो जाती है। शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप स्थितिमें विषमताका होना अनिवार्य है। कर्मवश कोई धनी हो सकता है कोई निर्धन। परन्तु जहाँ निर्धनके प्रति घृणा नहीं है, निर्बलके प्रति बलप्रयोग नहीं है वरं धनके द्वारा बिना किसी अभिमान, अहसानके उनकी सेवा की जाती है वहाँ तो धन होना अच्छा ही है। वह धन किसीका अपना नहीं होता। वह भगवान्का होता है और उससे वैसा ही लोकोपकार होता है जैसा सूर्यकी रश्मियोंद्वारा समुद्रादि नाना स्थानोंसे खींचे हुए जलके यथायोग्य आवश्यकतानुसार पृथ्वीपर खेतों और जलाशयोंमें बरसनेसे होता है। उस धनको बटोरने और बाँटनेवाला उसका स्वयं मालिक नहीं होता, वह तो ईमानदार और दक्ष ट्रस्टी होता है जो लोगोंके जहाँ-तहाँ बिखरे हुए धनको एकत्र करके उसे व्यवस्थापूर्वक उन्हीं लोगोंकी भलाईके लिये यथायोग्य बाँटता रहता है। एक ओर तो गरीबों और निर्बलोंको लूटकर अन्यायसे उपार्जित धनसे प्राप्त किये हुए शानदार ऊँचे-ऊँचे महल, मोटर, विमान, हाथी, घोड़े, अधिकार, हुकूमत आदि भोग-सुखकी अनन्त सामग्री हों और वह हो गरीब पड़ोसियोंको सताने तथा उनका सर्वस्व नाश करके और भी सुखके साधन जुटानेके

लिये, और दूसरी ओर अपने ही जैसे हाथ-पैरवाले नर-नारी वस्त्र और अन्न-जलके लिये तरसते हों और माँगनेपर कुत्तोंकी तरह दुत्कारे जाते हों, वहाँ वह धन बड़ी भारी सड़न पैदा करनेवाला होता है। अन्यायोपार्जित होनेसे वह स्वयं तो विषरूप होता ही है, और अपने संयोगसे विष ही बढ़ाता है। कलासंग्रह, साहित्यमन्दिर, विज्ञानशाला, धर्मालय आदि भी यदि अन्यायोपार्जित होते हैं और होते हैं अपने अभिमान, ऐश्वर्य या गौरवके प्रतीकस्वरूप तथा दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये, तो वे भी सड़नरूप ही हो जाते हैं। इस युगमें मानव आसुरी सम्पदासे भरकर अहङ्कार और मदसे चूर हो रहा है। गीतामें भगवान्‌ने इस असुर-मानवका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। धन, जन, विज्ञान, कला, कौशल आदिसे सम्पन्न अपनेको सफल और समुन्नत माननेवाला मदगर्वित असुर-मनुष्य कहता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
(गीता १६। १३—१५)

'आज यह प्राप्त कर लिया है, अब उस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास इतना धन हो गया है फिर और भी हो जायगा। मैंने उस प्रबल शत्रुको तो मार डाला, जो दूसरे बचे हैं उनको भी ठिकाने लगा दूँगा। मेरा सबपर सभी जगह प्रभुत्व है। सारे ऐश्वर्योंका भोगनेवाला मैं ही हूँ, मनमाना कर डालने और पा लेने-की सिद्धि मुझमें है, मैं बड़ा बलवान् हूँ, मैं ही सुखी हूँ, मेरी अटूट सम्पत्ति है और लोकबलका तो पार ही नहीं है। मेरे समान दूसरा है कौन? बस, एक बार सफलता तो हो जाय, मैं बड़े-बड़े यज्ञ करूँगा और जीवनभर खुशियाँ मनाऊँगा।'

आजके बड़े-बड़े राष्ट्रनायकोंकी घोषणाओं, रेडियोके ब्रॉडकास्टों, डिक्टेटरों, महामन्त्रियों और सेनानायकोंकी वक्तृताओंमें सब ओर यही आसुरी वाणी सुनायी दे रही है। इस प्रकारके आसुरीभावापन्न नरसमाजके द्वारा प्रस्थापित, संवर्धित और सुरक्षित सामग्री भी भगवान्‌के द्वारा किये जानेवाले ऑपरेशनमें सड़नके रूपमें निकाल फेंकने योग्य ही होनी चाहिये। यह सत्य है कि मधुरातिमधुर भगवान् सुन्दर सामग्रियोंका विनाश नहीं चाहते, परन्तु विषपूर्ण मधुर और सुन्दर पकान्नका तो नाश ही इष्ट होता है। हम असली रूप नहीं जानते इसीसे इन वस्तुओंके विनाशमें मर्माहत होते हैं और हमारी दृष्टिमें इनकी बाहरी चमक-दमकका ही भारी मूल्य है, इसीसे हम इनके विनाशको बड़ी हानि समझते हैं परन्तु सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता भगवान्‌की दृष्टिमें इनका कोई महत्त्व या मूल्य नहीं है। न उन्हें इनके नाशमें कोई दुःख ही होता है। यों तो अचिन्त्य लीलामय भगवान् स्वरूपतः सुख-दुःखकी सीमासे परे ही हैं परन्तु जैसे हमारी दृष्टिमें भी वह माता कभी दुखी नहीं होती जो बच्चेके रोते रहनेपर भी उसके विषैले फोड़ेको चिरवा देती है और मवादसे भरा कपड़ा उतार कर उसे नया साफ कपड़ा पहना देती है। वैसे ही भगवान् भी नवीन सुन्दर सृजनके लिये ही—विश्वकल्याण-के लिये ही जीर्ण-शीर्ण जगत्‌में भीषण प्रलयका नाट्य करते हैं, इसमें उन्हें दुःख क्यों होता? इस विनाशमें ही विश्वका मङ्गल निहित है, इसीसे यह हो रहा है!

'यह महायुद्ध कबतक चलेगा' 'इसमें किसकी जीत होगी' 'इसका क्या परिणाम होगा' 'भारतपर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा' 'हमें किस बातका भय है' 'धनवान् अपने धनको कैसे बचावें' 'हम लोगोंको क्या करना चाहिये' 'किस बातमें हमारा मङ्गल है' ऐसे बहुत-से प्रश्न लोगोंने किये हैं। यद्यपि इन प्रश्नोंका हमारी समझसे यही एक उत्तर है कि **भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनकी लीला देखते हुए निरन्तर उनका स्मरण करते**

रहना चाहिये। फिर सब बातोंका समयपर आप ही पता लग जायगा और मङ्गल-ही-मङ्गल होगा। तथापि कई सज्जनोंने बड़े आग्रहसे पूछा है, इसलिये इन प्रश्नोंके उत्तरमें यथामति कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं।

'युद्ध कबतक चलेगा?' इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। जबतक ऑपरेशनका कार्य सफल नहीं होगा, तबतक चलता रहेगा परन्तु दोनों पक्षोंकी स्थितिपर ध्यान देनेसे ऐसा अनुमान होता है कि अभी शायद साल डेढ़ सालतक युद्ध और चले।

'किस पक्षकी जीत होगी?' इसका उत्तर भी ऊपर आ चुका है। असलमें यह संहारकारी युद्ध है। जो जीतेगा वह भी हारकर यानी सब कुछ गँवाकर ही अपनेको जीता हुआ मानेगा, और जो हारेगा, वह तो हारेगा ही। यह युद्ध असलमें हार-जीतके लिये नहीं है यह तो महासंहारके लिये है। जर्मनीने रूसपर आक्रमण किया, तब रूसके गाँवों और नगरोंपर गोले बरसा-बरसाकर उन्हें जलाया। रूसी वहाँसे हटे तब अपनी निश्चित नीतिके अनुसार वहाँके उपयोगी सामानों और साधनोंको ध्वंस करके हटे जिसमें शत्रुके कामकी कोई चीज रह न जाय। इसके बाद रूसने प्रत्याक्रमण-के समय गोले बरसाकर उन्हीं गाँवों और नगरोंको जलाया और उन्हें छोड़कर भागते हुए जर्मनोंने रहा-सहा सारा फिर खाक कर डाला। उस दिन हिटलरने कहा था कि 'रूसियोंका उन स्थानोंमें ध्वंसावशेषके सिवा और कुछ नहीं मिल रहा है।' अब यदि पुनः जर्मनीने आक्रमण किया, जैसी कि आशंका है, तो फिर उसी वर्बरतापूर्ण ध्वंसका बोलबाला होगा। यही अवस्था सुदूर पूर्वकी लड़ाईमें हो रही है। मलाया, सिंगापूर, बर्मा, डच ईस्ट इन्डीज और आस्ट्रेलियाके टापुओंमें अबतक परेच्छा और स्वेच्छासे अग्निदेवको भरपेट भेंट दी गयी है। जावाके लिये बड़े गर्वसे यह कहा गया कि फौजी स्थान, कारखाने, टेलीफोन, रेडियो, तार, मकान, दूकान आदिकी बात तो अलग रही 'जानवर' तकमें आग लगा दी गयी है। रंगूनके बारेमें कहा गया कि वहाँ अपनी ही लगायी हुई आगसे रंगून ऐसा जला कि उसकी आकाशमें बहुत ऊपरतक उठती हुई अग्निकी लपटें चालीस मीलतक दिखलायी दीं! और जैसा कि प्रेसिडेंट श्रीरूजवेल्ट और श्रीचर्चिल कहते हैं—जब पूरे बलके साथ इन्हीं स्थानोंपर मित्रशक्तियाँ प्रत्याक्रमण करेंगी तब फिर इसी प्रकार अग्निके मुँहमें अनन्त आहुतियाँ पड़ेंगी! 'जीतनेवालेको कुछ नहीं मिला' अब भी जब दोनों ओरसे यह कहा जाता है तब कई बार जला देनेके बाद जीतने-वालेको क्या मिलेगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। और यह भी कौन कह सकता है कि आजके मित्र कल शत्रु बनकर अथवा विजयके बाद विजेता-लोग बटवारेके समय आपसमें न लड़ मरेंगे।

निकुम्भ राक्षसके सुन्द और उपसुन्द नामक दो लड़के थे। दोनों भाई बड़े तेजस्वी थे। दोनोंमें पटती भी खूब थी। रूप, गुण और बलमें उनकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। बड़े होनेपर उन्होंने सारे विश्वपर विजय पानेके लिये विन्ध्याचलपर जाकर कठोर तपस्या की। वे हवा खाकर रहने और अपने शरीरके मांसकी आहुति देने लगे। ब्रह्माजीने उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उनको यह वर दिया कि 'तुम लोगोंको जगत्में कोई भी नहीं मार सकेगा, तुम्हीं परस्पर एक दूसरेको मारोगे तो मार सकोगे।' उन्होंने वर पाकर तीनों लोकोंको जीत लिया। देवता भयके मारे जहाँ-तहाँ भाग चले। ऋषि-मुनि बुरी तरह मारे गये। सब ओर हाहाकार मच गया। सारा संसार उन्हींके भोग-सुखका साधन बन गया। देव-दानव सभी उन बलमदमत्त दैत्योंके अत्याचारकी चक्कीमें पिसने लगे। तब सब मिलकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये। ब्रह्माजीके आदेशसे विश्वकर्माने तिलोत्तमा नामकी एक त्रिभुवनमोहिनी कन्या उत्पन्न की। सुन्दरी तिलोत्तमा

एक दिन सुन्द-उपसुन्दके पास गयी। दोनों ही भाई उसपर मुग्ध हो गये और उसे प्राप्त करनेके लिये आपसमें लड़ने लगे। अन्तमें एक-दूसरेके प्रहारसे दोनों मारे गये। बस, यही स्थिति वर्तमान युद्धमें प्रवृत्त दोनों शक्तियोंकी है। व्याख्याकी आवश्यकता नहीं। इनका विनाश जगत्‌में कोई नहीं कर पाता, यदि ये आपसमें न लड़तीं! परन्तु वर्तमानमें रूसकी जीत, अमेरिकाके विशाल उद्योग (कहा जाता है अमेरिकाने इस वर्ष साठ हजार हवाई जहाज, पचीस हजार हवामार तोपें, अस्सी लाख टनके जहाज तथा प्रचुर रणसामग्री बनानेका और असंख्य सैन्यसंग्रहका महान् आयोजन किया है।) और ब्रिटेनका चिर-अभ्यस्त स्वभावसिद्ध नीति-कौशल, परम धैर्य और साहसके आधारपर मित्रपक्षका यह विश्वास है कि पहले चाहे जितनी हार हो अन्तमें विजयका यश उन्हींको प्राप्त होगा! पर असलमें तो—

'करी गोपालकी सब होय························।
जो कछु लिखि राख्यो नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोय॥'

'इसका परिणाम क्या होगा' इसका उत्तर भी ऊपर दिया जा चुका है। परिणाम वही होगा, जो शरीरसे विषैली मवाद निकल जानेपर होता है। कुछ समयके लिये सुन्दर सद्भावनाएँ फैलेंगी और विश्वमें निर्मल शान्ति होगी।

'भारतपर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।' इसका उत्तर यह है कि जितने अंशमें भारतमें सड़न आयी है उतने अंशमें भारतको भी संहारयज्ञमें अपनी आहुति देनी ही पड़ेगी। कौन जानता था कलकत्ता सूना-सा हो जायगा और वहाँके व्यापारकी इतनी दुर्दशा होगी। भारतके सिपाही एशियाके सभी क्षेत्रोंमें लड़ रहे हैं। धन भी काफी लग रहा है। अकाल न होनेपर भी अनाजकी कमीने लोगोंको बुरी तरहसे विपत्तिमें डाल दिया है। मलाया, सिंगापुर, बर्मा आदिमें भारतवासियोंकी बड़ी बुरी हालत हुई है। यह सब आहुति ही तो हैं! परन्तु यह तो आरम्भ है। यदि भारतवासियोंने भगवान्‌को पुकारकर भगवत्कृपाके बलसे इस संहारकारी भयानक तूफानको ऊपर ही ऊपर न उड़ा दिया तो उनपर भी कम नहीं बीतेगी!

'हमें किस बातका भय है' **इसका उत्तर यह है कि असलमें हमें भय अपनी भयभीत वृत्तियोंका ही है। आत्मा मरता नहीं, शरीर मरनेवाला है ही। भगवान्‌का विधान अटल और अमङ्गलशून्य है। संसारके भोगैश्वर्य आने-जानेवाले और नश्वर हैं फिर भय किस बातका? भय यही है कि हम डर रहे हैं। हमें आत्माकी अमरता और भगवान्‌के विधानपर पूरा विश्वास नहीं है। होता तो, जो होना है, वह होगा ही, उसकी चिन्ता छोड़कर हम अपना कर्तव्य सोचते और वर्तमानमें हमारे सामने जो कार्य है, उसे भगवान्‌पर विश्वास रखते हुए ईमान-दारीसे पूरा करनेकी चेष्टा करते।** असली भय तो यही है; यों बाहरी दृष्टिसे भयकी कई सम्भावनाएँ हैं—

(१) भारतके कई प्रमुख बंदरगाहों और नगरों-पर बम गिर सकते हैं।

(२) कहीं-कहीं विपक्षकी सेनाके उतरनेकी भी आशङ्का की जाती है।

(३) कोयलेकी कमी, युद्धकार्यमें आवश्यकता होनेके कारण गाड़ियोंकी कमी, अथवा कभी विपक्षियों-की किसी कार्रवाईसे कहीं-कहीं रेलवे-लाइन बंद हो सकती है जिससे आने-जानेमें असुविधा होनी सम्भव है।

(४) कहीं फसल खराब हो गयी, रेलवे-लाइनोंमें गड़बड़ हुई अथवा अन्य कोई खास कारण हो गया तो कहीं-कहीं अनाजकी भीषण कमी हो सकती है।

(५) चोर, डाकू, लुटेरे कहीं-कहीं अपना काम बनानेकी चेष्टा कर सकते हैं।

(६) हिंदू-मुसलमानोंमें अथवा अन्य किन्हीं भी दो पक्षोंमें, जहाँ परस्पर स्वार्थका विरोध हो, झगड़े हो सकते हैं।

(७) भयभीत लोगोंकी भगदड़में उनका काफी नुकसान हो सकता है ।

(८) विचारशून्य बदमाश फौजी सिपाहियोंद्वारा भी लूट-खसोट और स्त्रियोंपर पाशविक बलप्रयोग होना सम्भव है । और भी कई बातें हो सकती हैं जिनका विचार आज नहीं करना है ।

इनमें पहली तीन बातें तो प्रायः युद्धके समय सभी देशोंमें होती हैं । परन्तु पाँचवीं, छठी और सातवीं बातें दुर्भाग्यवश भारतमें विशेषरूपसे हैं । इंगलैंड आदि देशोंमें बमवर्षा बड़ी भयानक हुई परन्तु वहाँ यह भय प्रायः नहीं हुआ कि युद्धका अवसर देखकर हमारे देश और गाँवके लोग हमें लूट लेंगे या हमारे ही पड़ोसियोंसे लड़-झगड़कर हम मारे जायँगे । हमारे यहाँ यह भय सबके दिलमें समाया है और यह बहुत ही बुरा है । इसी प्रकार अव्यवस्थित रूपसे घबड़ाहटमें होनेवाली भाग-दौड़में भी यहाँ विशेष हानि होती है ।

आठवीं बातका भय भी प्रायः इसी देशमें अधिक है । इसका कारण यह है कि हमलोगोंको प्राणोंका मोह बहुत अधिक हो गया है । वास्तवमें तो बदमाशों-का निर्दयतापूर्ण अत्याचार सहन करनेकी अपेक्षा उनका सक्रिय विरोध करके प्राण दे डालना कहीं अच्छा है । भारतीय देवियोंका सतीत्व और सतीत्वकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी आहुति दे डालना प्रसिद्ध है । अपने सतीत्वके तेजसे वे अत्याचारीको परास्त कर सकती हैं । भारतीय सतियोंसे बड़े-बड़े देवता और यमराजतक डरा करते थे । वे अपने तपोबलसे अत्याचारी-को भस्म कर सकती थीं । आज यदि सतीत्वमें वैसी श्रद्धा न हो तो कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिये कि जिस देवीपर अत्याचार हो वह अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर हर तरहसे अत्याचारीको रोके । उस समय जो कुछ भी पास हो या सूझ पड़े, उसीसे काम ले । यह याद रखना चाहिये कि हिन्दूशास्त्रके अनुसार आततायीका वध भी पाप नहीं है । वशिष्ठस्मृतिमें आततायियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥

(३ । १९)

आग लगाने, विष देने, हाथमें शस्त्र लेकर आक्रमण करने, धन और जमीन छीनने तथा स्त्रीका हरण करने-वाले—ये छहों आततायी हैं । मनुमहाराज इन आत-तायियोंके बारेमें कहते हैं—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

(८ । ३५०-५१)

आततायीको बिना विचार मार डालना चाहिये, आततायीको मारनेसे मारनेवालोंको कुछ भी दोष नहीं होता ।

ऐसे प्रसंगोंपर जो कोई भी स्त्री या पुरुष वहाँ उपस्थित हों उनको भी चाहिये कि वे अपने प्राणोंको सङ्कटमें डालकर भी उस बहिनको बचानेके लिये उस समय जो प्राप्त हो उसी उपायसे काम लें ।

'धनवान् अपने धनको कैसे बचावें ।' इस प्रश्नके साथ लोगोंने कई बातें पूछी हैं, जैसे—रुपयोंको बैंकोंमें रखना चाहिये या नहीं, घरोंमें रखना उचित है या नहीं, रखने चाहिये तो नोट रखने चाहिये या नकद रुपये, सोना-चाँदी खरीदकर रखनेमें क्या आपत्ति है, और कोई चीज खरीदनी चाहिये क्या ? आदि आदि । इन सब बातोंका उत्तर अलग-अलग व्यक्तिगत स्थिति समझ-कर देना उचित होता है परन्तु पूछनेवालोंकी संख्या अधिक है इसलिये संक्षेपसे अपनी समझकी कुछ बातें लिखनेकी चेष्टा की जाती है ।

मेरी समझसे धनकी रक्षाका सर्वोत्तम साधन तो यह है, कि अपनी परिस्थितिके अनुसार जिससे जितना सम्भव हो गरीब भाइयोंकी सेवामें भगवत्प्रीत्यर्थ लगा दे । इसीमें धनका सदुपयोग है और यही उसका यथार्थ संरक्षण है । जो धन सात्त्विक दानमें लग गया असलमें वही बचा । शेष तो किसी-न-किसी रूपमें नाश होगा ही ।

यदि सचमुच कोई परिवर्तन हुआ या कोई असाधारण क्रान्ति हुई तो जैसे बैंकोंके रुपयोंको डर है, वैसे ही घरमें रक्खे हुए रुपयोंको भी हो सकता है। अवश्य ही वैसी हालतमें सब जगह समान स्थिति नहीं रह सकेगी। ब्रिटेनके विजयी होनेपर अथवा भारतमें ब्रिटिश प्रभुत्वके रहते जैसे नोट हैं वैसे ही नकद रुपये हैं। चाँदी-सोनेमें सुरक्षा न होनेपर क्रान्तिकी दशामें लुटनेका डर तो किसी अंशमें रहता ही है। साथ ही शान्ति होनेपर कीमत घटनेकी भी पूरी सम्भावना है। इतना होनेपर भी जो लोग कुछ रखना ही चाहें उनके लिये चाँदी रखना बुरा नहीं है। इसके अतिरिक्त रूई, सरसों आदि सस्ती चीजें रखनेमें भी हानिकी गुंजाइश कम है। घबड़ाना तो किसी भी हालतमें नहीं चाहिये। घबड़ानेसे धन नहीं बच सकता। अपने रहनेके स्थान-की और अपनी परिस्थिति आदिपर भलीभाँति विचार करके अपने समीप रहनेवाले समझदार हितैषी सज्जनों-की सलाहसे यथायोग्य व्यवस्था करनी चाहिये। सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती।

'हमलोगोंको क्या करना चाहिये।' इस प्रश्नपर भलीभाँति विचार करना आवश्यक है। यद्यपि यह सत्य है कि जो कुछ हो रहा है मंगलमय भगवान्के विधान-से ठीक ही हो रहा है परन्तु जैसे घरमें आग लगने या बदमाश-गुंडों अथवा चोर-डाकुओंके द्वारा आक्रमण होनेपर हम उसे सङ्कट मानते हैं और उससे बचनेकी कोशिश करते हैं वैसे ही इस समय इस महायुद्धको भी विश्वपर एक महान् सङ्कट समझना चाहिये। और सभी विचारशील पुरुषोंको अपनी-अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे यह घोर विश्व-सङ्कट शीघ्र-से-शीघ्र दूर हो और लोग शान्तिके साथ सुखकी नींद सो सकें। इस महायुद्धके आज परिणामस्वरूप अव्यवस्था, विविध भौतिके रोगोंका प्रसार, दरिद्रताका विस्तार और धीर, वीर, मननशील पुरुषोंका अभाव भी होगा ही। इसके लिये भी सभीको सचेत और सचेष्ट रहना चाहिये।

इस घोर सङ्कटसे बचनेके लिये नीचे लिखे कार्य करने चाहिये—

१—सच्चे हृदयसे ऐसी शुभ भावना करनी चाहिये कि विश्वके सभी जीव आनन्द और शान्ति प्राप्त करें। सबका मंगल हो, सभी सद्विचारसम्पन्न हों और सभी श्रीभगवान्के भक्त बनें।

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब सुखी हों, सब रोगमुक्त हों, सब कल्याण-ही-कल्याण देखें और किसीको भी जरा भी दुःख न प्राप्त हो।'

२—कलकत्ता, मद्रास, चटगाँव, आसाम आदि स्थानों-से, जहाँ-जहाँ जापानके हमलेका भय सरकार बतलाती है, स्त्रियों और बच्चोंको अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थानोंमें हटा देना चाहिये। सिंगापुर इण्डियन चेम्बर आफ कामर्सके प्रेसिडेंट श्रीजूमा भाईके तथा बरमा आदिसे लौटे हुए भाइयोंके कथनानुसार यह सिद्ध है कि देरसे लौटनेवाले नर-नारियोंको बड़ी ही भयानक कठिनाइयों, उपेक्षाओं और अपने ही लोगोंके द्वारा किये हुए भीषण अत्याचारोंका भोग होना पड़ा है। वैसा ही कहीं यहाँ भी हो तो बड़ी कठिनता हो सकती है। यह भी सम्भव है कि जहाँ इस समय कोई भय नहीं प्रतीत होता, वहीं भय उपस्थित हो जाय।

३—किसी भी हालतमें घबड़ाना नहीं चाहिये। घबड़ानेसे चित्तमें दुर्बलता आती है। अव्यवस्था उत्पन्न होती है और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। लन्दनपर गत वर्ष बड़ी भीषण बमवर्षा हुई परन्तु लन्दनके लोग घबड़ाये नहीं। वे बमोंकी वर्षामें भी धीरताके साथ

अपनी स्थितिके अनुसार यथासाध्य अपना-अपना कार्य करते रहे ।

४–झूठी अफवाहें न फैलानी चाहिये और न उनपर विश्वास ही करना चाहिये । पता नहीं क्यों—वर्तमानमें अपनी प्रत्यक्ष हानि देखते और जानते हुए लोग जर्मन और जापानकी जीतके समाचारोंसे प्रसन्न होते हैं और जर्मन या जापानी बेतार यन्त्रसे कुछ सनसनीखेज सुन लेते हैं तो उसे बढ़ा-बढ़ाकर कहना चाहते हैं । ऐसी प्रवृत्तियोंमें भी उचित संयम होना चाहिये ।

५–विपत्तिका सामना करनेके लिये अपने-अपने शहरों, गाँवों और मुहल्लोंमें यथायोग्य संरक्षक-दल बनाने चाहिये और उन दलोंके लोगोंको समयपर सावधानीसे बचावका कार्य करनेकी ट्रेनिंग दिलानी चाहिये । तथा परस्पर एक दूसरेकी सहायता करनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये । बम गिरनेके समय लोगोंको घरोंके अंदर रहना चाहिये ।

६–जिनके पास धन हो, उन्हें चाहिये कि वे अपने आस-पासके गरीब भाइयोंकी उदारतापूर्वक विनम्रभावसे सेवा-सहायता करें । विपत्तिके समय उनसे बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है । जहाँतक हो, व्यापार आदि कम करने चाहिये, जिसमें काम समेटना हो तो जल्दी समेटा जा सके । लेनदेन भी जितना घटाया जा सके, उतना ही उत्तम है ।

७–आपसके वैर-विरोधका त्याग करके प्रेम बढ़ाना चाहिये और जहाँतक हो हिंदू, मुसल्मान और अन्य सभीको – एक दूसरेको चिढ़ाने या चोट पहुँचानेकी कल्पना तथा हिंसा-प्रतिहिंसाका त्याग कर परस्पर सहानुभूति, सेवा और सहायता करनी चाहिये । आपसके विरोधी भाव दूर हों, और मेल बढ़े, सबको ऐसी कोशिश छल छोड़कर करनी चाहिये ।

८–अपनी-अपनी सामर्थ्य और सुभीतेके अनुसार अनाजका काफी संग्रह रखना चाहिये जिसे समयपर अड़ोसी-पड़ोसियोंकी भी सेवामें लगाया जा सके । ऐसे समय धन कमानेके उद्देश्यसे अनाज इकट्ठा करना तो पाप ही है ।

९–घर-घरमें अन्याय और अधर्मके विनाश, धर्मके अभ्युदय, विश्वकल्याण और सर्वत्र सुख-शान्तिके विस्तारके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये । प्रसिद्ध महात्मा श्रीश्रीकरपात्रीजीकी प्रेरणासे काशीमें 'धर्म-संघ' की स्थापना हुई है और देशमें स्थान-स्थानपर उसकी शाखाएँ भी खुली हैं । उसके सदस्योंको संकल्प करके प्रतिदिन यथाशक्ति अपने श्रद्धा-विश्वासके अनुसार भगवान्‌के किसी भी नाम या मन्त्रका जप करना पड़ता है । जगत्‌के कल्याणके लिये यह कार्य बहुत ही उत्तम है । सञ्चालक 'धर्मसङ्घ' सन्मार्ग-कार्यालय, भदैनी काशीके पतेसे पत्रव्यवहार करके सङ्घके विषयमें पूछ-ताछ की जा सकती है ।

१०–कम खर्च और बिना आडम्बरके श्रद्धालु पुरुषोंके कीर्तनदल बनने चाहिये और स्थान-स्थानमें तथा घर-घरमें भगवान्‌का नाम-कीर्तन होना चाहिये ।

११–श्रीमद्भागवतके सप्ताह-पारायण, श्रीरामचरितमानसके नवाह-पारायण, श्रीविष्णुसहस्रनाम, श्रीशिवसहस्रनाम आदि स्तोत्रोंके पारायण, देवाराधना, यज्ञ और भगवत्पूजन आदि सत्कार्य करने चाहिये और श्रीभगवान्‌में विश्वास करके उनके मङ्गल-विधानमें सदा प्रसन्न रहना और हर समय उनकी कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये । विपत्तिसे बचनेके लिये सब नरनारियोंको हर समय 'हरिःशरणम्' मन्त्रका जाप करते रहना चाहिये । यह मन्त्र अमोघ है और इसीके नित्य उच्चारणके प्रभावसे सनकादि सदा कुमार रहते हैं ।

'किस बातमें हमारा मङ्गल है ?' **इस अन्तिम**

प्रश्नका तो यही उत्तर है कि अनन्य मनसे भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेमें ही हमारा यथार्थ और परम मङ्गल है ।

सच्ची बात तो यह है कि हम भगवान्‌को भूल गये हैं । हमें व्यर्थ चर्चा, भोग-विलास, इन्द्रियसेवन और लड़ाई-झगड़ेके लिये तो समय मिल जाता है परन्तु भगवान्‌के भजनके लिये जरा भी समय नहीं है । हम असलमें भजनकी आवश्यकता ही नहीं समझते । श्रीमद्भागवतमें तो कहा गया है—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(२ । ३ । १८-२४)

'जड वृक्ष क्या जीते नहीं हैं ? लोहारकी धौंकनी क्या श्वास नहीं लेती ? गाँवके जानवर क्या खाते-पीते नहीं या क्या मल-मूत्रका त्याग नहीं करते ? फिर उनमें और मनुष्योंमें अन्तर ही क्या है ? जिसने भगवान्‌के गुणानुवाद कभी नहीं सुने, वह नरपशु कुत्ते, सूअर, ऊँट और गधेसे भी गया-गुजरा है । सूतजी ! जो कान भगवान्‌की कथा नहीं सुनते वे साँप आदिके बिलके समान हैं । जो जीभ भगवान्‌के नामगुणोंका गान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है । उसका तो न रहना ही उत्तम है । जो सिर भगवान् मुकुन्दके चरणोंमें कभी नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी भारमात्र ही है । जो हाथ भगवान्‌की सेवा नहीं करते वे सोनेके कंकणोंसे विभूषित होनेपर भी मुर्देके हाथ हैं । जो आँखें भगवान्‌को याद दिलानेवाली वस्तुओंका निरीक्षण नहीं करतीं वे मोरोंकी पाँखमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान व्यर्थ हैं । जो पैर भगवान्‌के लीलास्थल तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे जड वृक्षोंके समान हैं । जिस मनुष्यने भगवद्भक्त संतोंकी चरणधूलि अपने सिर नहीं चढ़ायी, वह जीता ही मुर्दा है । जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीजीकी सुगन्ध नहीं ली, वह श्वास लेता हुआ भी बिना श्वासवाला शवमात्र है । वह हृदय नहीं है वज्र है जो भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंका श्रवण-कीर्तन करनेपर भी पिघलकर भगवान्‌की ओर बह नहीं जाता । हृदय पिघलनेपर तो नेत्रोंमें प्रेमानन्दके आँसू छलक उठते हैं और शरीरका रोम-रोम खिल उठता है ।'

अतएव जबतक जीवन है, जबतक इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं और कार्यशील हैं, तबतक अपने जीवनको और समस्त इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगा देना चाहिये, इसीमें सच्ची बुद्धिमानी है । उम्र बीती जा रही है, मृत्यु समीप आ रही है, अब तो शीघ्र ही सचेत होकर अपनेको सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

संन्यासीके कर्तव्य

किं तस्य कार्यम् ?—संन्यासीके कर्तव्य क्या हैं ?

सन्धिं समाधौ आत्मनि आचरेत् ।

(श्रुति)

'वह प्रतिदिन नियमितरूपसे समाधिमें जीवात्मा और परब्रह्मके ऐक्यज्ञानरूपी सन्धिका अभ्यास करे ।'

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ।

(श्रुति)

'संन्यास-आश्रममें प्रवेश करके अधिकारी पुरुष सुषुप्तिसे आरम्भ करके सभी अवस्थाओंमें वेदान्तशास्त्रका चिन्तन करते हुए मृत्युपर्यन्त समय व्यतीत करे ।'

संन्यस्य श्रवणं कुर्यात् नान्यत् कुर्याद् यतिः क्वचित् ।

(स्मृति)

'संन्यास लेनेके बाद केवल वेदान्तश्रवण ही यतिका कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त संन्यासीके लिये अन्य कोई कर्तव्य नहीं ।

श्रवणम् किम् ?–श्रवण किसे कहते हैं ?

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥
इत्थं वाक्यैस्तथार्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ॥

(श्रुति)

ब्रह्म माया-शक्तिरूपी उपाधिके सम्बन्धसे ईश्वर कहलाते हैं, तथा अविद्यारूपी उपाधिके योगसे 'जीव' नामसे अभिहित होते हैं, इन दोनों उपाधियोंका बाध होनेपर एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द परम ब्रह्म विराजमान होते हैं। 'तत्त्वमसि'—यह श्रुतिवाक्य 'तत्' पदप्रतिपाद्य सर्वज्ञत्व-परोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट ईश्वरत्वका तथा 'त्वं' पदप्रतिपाद्य अल्पज्ञत्व-प्रत्यक्त्वादिधर्मयुक्त जीवत्वका त्याग कर, दोनोंमें एक रूपसे स्थित अखण्ड सच्चिदानन्द परम ब्रह्मका लक्ष्य कराता हुआ 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदोंके ऐक्यको सम्यक्रूपसे समझाता है। श्रीगुरुदेवके मुखारविन्दसे इसे सुनकर, इसके विषयमें जो अनुसन्धान किया जाता है, उसका नाम श्रवण है। केवल कानसे सुननेको ही 'श्रवण' नहीं कहते। संसारमें जिसे साधारणतः 'श्रवण' समझा जाता है, वैसा 'श्रवण' ज्ञानकी प्राप्तिमें विशेष उपकारक नहीं होता। श्रुत विषयका अर्थानुसन्धानरूप 'श्रवण' ही ज्ञानोत्पत्तिमें उपकारक होता है।

विवरणेऽप्युक्तम्—'श्रवणं नाम तत्त्वमस्यादिवाक्यं यदि ब्रह्मात्मैक्यपरं न स्यात् तदोपक्रमोपसंहारादिकमद्वैतब्रह्मबोधकं न स्यादित्यादि तर्करूपम्। तस्य च प्रमाणीभूतवाक्यतात्पर्यविषयकत्वेन प्राधान्यम्। ब्रह्मात्मैक्यसिद्ध्यनुकूलतर्कादयोऽपि श्रवणेऽन्तर्भवन्ति।'

'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य यदि ब्रह्मात्मैक्य सिद्धान्तमूलक नहीं होते तो उपनिषदोंमें कहे गये—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

(छा० ६।१।४)

(विकार अर्थात् कार्यपदार्थ केवल शब्दात्मक नाममात्र हैं; केवल मृत्तिका ही—घट, शराव आदि द्रव्योंमें—सत्य पदार्थ है।)—इत्यादि शब्दसमूहसे आरम्भ करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'—(छा० ६।८।७) (ये सभी आत्मस्वरूप हैं)—इत्यादि ऐक्यात्मप्रतिपादक समस्त वाक्य 'अद्वैतब्रह्मबोधक' नहीं हो सकते; परन्तु 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंमें जीव-चैतन्य और ईश्वर-चैतन्यके जीवत्व और ईश्वरत्वका त्याग कर अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही प्रतिपादित हुआ है—इस प्रकारके विचारका ही नाम 'श्रवण' है। ब्रह्मात्मैक्यसिद्धान्तके अनुकूल विचार भी 'श्रवण' शब्दके अन्तर्गत आ जाते हैं।

जीव और ब्रह्ममें जो भेद भासित होता है, वह भेद मायाके प्रपञ्चज्ञानके कारण तथा मायाके सम्बन्धके तारतम्यके कारण केवल कल्पित होता है, तथा 'सभी प्रपञ्च मिथ्या हैं'—यह निश्चय कर 'जो जीवात्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें अनुभूत प्रपञ्चका साक्षी है, वही जीवात्मा समस्त जीवोंके जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकालीन समष्टि प्रपञ्चके साक्षी ईश्वरात्मासे अभिन्न है, तथा साक्षी जीवात्मा और साक्षी ईश्वरात्मा दोनोंका ही पर्यवसान अद्वितीय शुद्ध चैतन्य-

रूप परब्रह्ममें होता है'—इस प्रकार प्रतिक्षण स्मरण करते रहना ही सर्वकर्मत्यागी परिव्राजक संन्यासीके लिये परम कर्तव्य है।

यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं
तद्ब्रह्मनिष्कलमहं न च भूतसङ्घः।

—इस प्रकार विचारपूर्वक ध्यान करे।

'मन और वाणीके लिये अगोचर रहकर भी जो मन और वाणीके सञ्चालक और नियामक हैं, जो समस्त उपास्य देवताओंसे भी श्रेष्ठ हैं, जो सब देवताओंके प्रकाशक हैं—'देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'—वही जन्मरहित, अच्युत, असङ्ग, परब्रह्म मैं हूँ।' 'मैं ही वह हूँ'—इस प्रकार अहंग्रह-ध्यान-योगमें आत्मस्वरूपकी उपासना ही सर्वकर्मपरित्यागी यति-संन्यासीके लिये नित्य अवश्यकर्तव्य है।

जो अपने आश्रित मायाकी आवरणशक्तिके प्रभावसे पहले अपनेको अज्ञानसे आवृत करता है, तथा पश्चात् इसी मायाकी विक्षेपशक्तिके प्रभावसे रज्जुमें सर्पदर्शनके समान अपनेमें इस जगत्-प्रपञ्चको देखता है, तथा यह जीव और जगत् जिसमें कल्पित हैं, उस परब्रह्मकी सत्ता ही हमारी सत्ता है, अर्थात् हमारी सत्ता ब्रह्मसत्तासे भिन्न नहीं, अभिन्न है—इस प्रकार निश्चय करते हुए तत्सत्ताधीन आत्मसत्ताका चिन्तनरूप ध्यान ही चतुर्थाश्रमी यतिका नित्यकर्तव्य है।

वेदान्तश्रवणं कुर्यान्मननं चोपपत्तिभिः।
योगेनाभ्यसनं नित्यं ततो दर्शनमात्मनः॥

(सदाचार १८)

'यति-संन्यासीको प्रतिदिन वेदान्तश्रवण करना चाहिये, तथा युक्तिद्वारा सुने हुएका मनन करना चाहिये एवं नित्य योगका अभ्यास करना चाहिये; तभी आत्माका दर्शन होगा।'

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्॥

(साधनपञ्चक ५)

'यति-संन्यासीको एकान्तमें सुखपूर्वक बैठना चाहिये, परब्रह्ममें चित्तको समाहित करना चाहिये, पूर्ण आत्मस्वरूपकी सम्यक्रूपसे समीक्षा करनी चाहिये, तथा यह जगत् आत्म-स्वरूपद्वारा बाधित है—यह देखना चाहिये।'

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्॥

(वाक्यवृत्ति ४९)

'यति-संन्यासीको शमदमादिसे युक्त रहकर 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, इस महावाक्यका विचार करना चाहिये, तथा जबतक इस महावाक्यके लक्ष्यार्थका दृढ बोध न हो तबतक श्रवण, मनन और निदिध्यासनका अभ्यास करते रहना चाहिये।'

अब मनु, वसिष्ठ और दक्ष-संहितासे संन्यासाश्रमके धर्मोंका वर्णन किया जाता है। पूर्व आयुके तीन भागोंतक वानप्रस्थ धर्ममें रहकर संन्यासी बने। इस आश्रममें प्रवेश करनेके लिये पहले सब भूतोंके उद्देश्यसे अभय-दक्षिणा देकर प्रव्रज्या करे। समस्त कर्मोंका संन्यास करे, केवल वेद-का संन्यास न करे।* तब बिल्कुल निःसङ्ग हो जाय। स्त्रीसङ्ग आदि विषयोंका चिन्तन भी न करे। संन्यासीको अकेले रहना चाहिये, आत्मचिन्तनमें रत रहना चाहिये। भिक्षा करना चाहिये तथा पवित्रभावसे रहना चाहिये। सिरको मुँड़ाये रखना चाहिये। किसी वस्तुमें ममता नहीं रखनी चाहिये। सञ्चय न करे, पहले सङ्कल्प न करके सात घरोंमें मधुकरी भिक्षा करे। भिक्षा दोपहरके बाद करे। जमीनपर सोवे। एक वस्त्र या मृगचर्म पहने। एक स्थानमें कई दिन न रहे, किसी दिन गाँवमें वास न करे। गाँवके प्रान्तभागमें, देवालयमें, परित्यक्त गृहमें अथवा वृक्षके नीचे रहे। धनकी प्राप्ति या ख्यातिके लिये कुछ न करे। संन्यासी थोड़ा भोजन करे और निर्जन स्थानमें रहकर विषयासक्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करे। शास्त्र-व्याख्या और शिष्य-संग्रह कुसंन्यासी ही करते हैं। कर्मोंके दोषसे नाना योनियोंमें जन्म, नरक-भोग, प्रिय-वियोग, अनिष्टप्राप्ति तथा जरा-व्याधि आदि दोषोंका चिन्तन संन्यासीको करना चाहिये तथा योगके द्वारा परमात्माके सूक्ष्म स्वरूपका साक्षात्कार करना चाहिये।

उपसंहार

या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

---

* 'स्वाध्यायं च संन्यस्य।' (श्रुति)

'वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्त्तयेत्' (श्रुति)

अर्थात् विधिपूर्वक वेदाध्ययन एवं वेदार्थनिर्णयोपयोगी पद एवं वाक्योंका ज्ञान करानेवाले व्याकरण, तर्कशास्त्र प्रभृति शास्त्रसमूह एवं वेदके परिशिष्टस्वरूप इतिहास-पुराणादिका भी संन्यासी त्याग कर दे। यदि कुछ अध्ययन करना ही हो तो वेदराशिमेंसे केवल 'आरण्यक' भाग—उपनिषत्समूहकी आवृत्ति करे।

पुरुष या आत्मा जबतक प्रकृतिके साथ मिले रहेंगे, जबतक प्रकृति साम्यावस्थाको प्राप्त न होगी, तबतक प्रकृति पुरुषके आश्रय कर्म करेगी ही। प्रकृति जबतक कर्ममें रत रहेगी तबतक सत्त्व, रज और तम—इन गुणत्रयोंका वैषम्य रहेगा ही, गुणवैषम्यके रहते वर्णभेद अवश्य रहेगा। अतएव जबतक सृष्टि है, तबतक वर्णाश्रमधर्म प्राकृतिक है। हे माता! तुम नित्य हो, तुम्हारी यह जातिमूर्ति भी नित्य है। जबतक जीव-जगत् है, सृष्टि है, तबतक जातिभेद रहेगा ही।

वीर्य और रजका प्रभाव बलपूर्वक केवल बातोंसे उड़ा देनेपर भी उड़ाया नहीं जा सकता। नीमको प्रतिदिन गुड़में डालकर धोनेसे उसका कड़ुआपन नहीं जा सकता। मिर्चके पौधेको चीनीके शर्बतसे सींचनेपर भी मिर्चमें तीतापन रहेगा ही। मनुष्य-शरीरमें मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रियकी अस्पृश्यता प्रतिदिन धोनेपर भी दूर नहीं होती। जिस जातिके माता-पितासे जो व्यक्ति जन्म लेता है, मृत्युपर्यन्त वह व्यक्ति उसी जातिका रहता है। जबतक स्थूलशरीर विद्यमान रहता है, तबतक स्थूलशरीरके आरम्भक संस्कारोंसे उत्पन्न परिणाम अन्यथा नहीं होते—यही साधारण प्राकृतिक नियम है। जबतक शरीर भस्मीभूत नहीं हो जाता अथवा पच-गलकर इसके परमाणु जबतक अदृश्य नहीं हो जाते, तबतक इसकी जातिका परिवर्तन नहीं होता। हरिणके मृतदेहको हरिण ही कहा जाता है। उसे भैंसा या अन्य किसी पशुके नामसे नहीं पुकारते। आमकी लकड़ी सूख जानेपर भी आमकी ही लकड़ी कहलाती है।

अपने-अपने कर्मफलके अनुसार जिसका जिस वर्णमें जन्म हुआ है, उन्हीं वर्णोंके विशेष धर्म तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि अपने-अपने आश्रमके कर्म, एवं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह प्रभृति साधारण धर्मोंका* अनुष्ठानरूपी तप करते रहो, निष्कपट हृदयसे शुभ वासनाओंका पोषण करते रहो। देखोगे कि तुम्हारे निष्कामभावसे अनुष्ठित कर्मोंके फल अकस्मात् तुम्हारे अभीष्ट साधनमें अनुकूल हो उठेंगे। श्रुति और स्मृति आदिमें विहित वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करनेसे सभीको परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। वर्णाश्रमधर्मका यदि सुचारुरूपसे अनुष्ठान किया जाय तो मनुष्यको चित्तशुद्धिकी प्राप्ति होती है और उसका मोक्षद्वार खुल जाता है। मोक्षकी इच्छा होते ही समझना चाहिये कि भगवत्कृपाका उदय हो गया—भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो गयी। इस अभीप्सित कृपाकी प्राप्तिका उपाय शास्त्रोंमें इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

कदाचिच्छुद्धभावेन गङ्गातीरे कृतं तपः।
तत्पुण्यपरिपाकेन मुमुक्षा जायते सताम्॥

'किसी समय निष्कामभावसे गङ्गातीरपर (अथवा किसी पुण्य क्षेत्रमें) यम-नियमादि पालन करते हुए, शीतोष्णादि सहते हुए, गायत्री-जप आदि पुण्यकार्यका अनुष्ठान करनेसे उन शुभकर्मोंके फलस्वरूप शुद्ध अन्तःकरणवाले साधकके अंदर मोक्षेच्छा उत्पन्न होती है।'

अथवा—

विदुषां वीतरागाणामन्नपानादिसेवया।
सङ्गत्या प्रणयेनापि मुमुक्षाऽऽकस्मिकी भवेत्॥

'अन्न-पान, वस्त्रादिके द्वारा विषयासक्तिसे हीन ज्ञानियोंकी सेवा करते हुए प्रीतिपूर्वक उनके साथ सत्संग (शास्त्र-चर्चा) करनेसे अकस्मात् मोक्षकी इच्छा उत्पन्न हो सकती है।'

भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने 'अपरोक्षानुभूति'में भी यही बात कही है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरि (गुरु) तोषणात्।
साधनं च भवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

'अपने-अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करनेसे, धर्मके लिये कष्ट सहनेसे और भगवान्‌की [अथवा गुरुकी] भक्ति करनेसे मनुष्यके अंदर वैराग्यादि साधनचतुष्टयका उदय होता है।'

वर्णाश्रमधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेपर वैराग्यके उदयसे जो फल प्राप्त होता है, † उसका उल्लेख करते हुए नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम्।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम्॥ ९॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्॥

(षष्ठोपदेशः)

---

* अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं सर्ववर्णेऽब्रवीन्मनुः॥

ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके लिये अनुष्ठेय इन साधारण धर्मोंसे जो विमुख हैं, वे विशेषधर्मके अधिकारी नहीं हो सकते।

† The changes which evolution presents, cannot end until equilibrium is reached, and that equilibrium must at last be reached.

—'*First Principle*' of H. Spencer. Page 516.

'शरीर, इन्द्रिय, मन आदिसे परे सर्वसाक्षी पारमार्थिक विज्ञान और सुखस्वरूप, स्वप्रकाश, परतत्त्व आत्माका विशेषरूपसे साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य वर्णाश्रमके बन्धनसे ऊपर उठ जाता है, अतिवर्णाश्रमी हो जाता है।'

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥१०॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥११॥

'वर्णाश्रमादि देह-सम्बन्धरूप उपाधिसे युक्त आत्मामें कल्पित होते हैं, बोधस्वरूप आत्माके लिये कभी वर्णाश्रमादि नहीं होते'—जिन्होंने वेदान्तश्रवणादिके द्वारा इस तत्त्वको यथार्थरूपसे जान लिया है, वे वर्णाश्रमके दायरेसे ऊपर उठ जाते हैं।

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥१२॥
योऽतीत्य स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥१३॥

'आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर जिसे यह बोध हो जाता है कि वर्णाश्रमादि चिन्मय आत्मामें कल्पित हैं; ये वस्तुतः आत्माके धर्म नहीं हैं, तथा जिसके वर्णाश्रमके आचार विगलित हो गये हैं, अर्थात् जिसका देहादिमें आत्मत्वाभिमान नष्ट हो गया है, तथा इस प्रकार वर्णाश्रमसे अतीत होकर जो सर्वदा आत्मतत्त्वमें स्थित रहता है, सर्ववेदार्थके ज्ञाता उसे अतिवर्णाश्रमी नामसे पुकारते हैं।'

अब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्तावतार श्रीहनुमान्‌को वर्णाश्रमके सम्बन्धमें जो उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करके हम इस लेखको समाप्त करते हैं।

वर्णाश्रमव्यवस्थेयं पूर्वैः पूर्वतरैः कृता ।
सर्वलोकेश्वरेणापि न दूष्या देहिना स्वयम् ॥
स्वस्ववर्णाश्रमाचारैः प्रीणयन् परमेश्वरम् ।
क्रमेण याति पुरुषो मामकं पदमुत्तमम् ॥
वर्णाश्रमाचारहीनं वेदान्ता न पुनन्ति हि ।
महान्तो गुरवश्चापि शिष्यं गृह्णन्ति नैव तम् ॥
विदुषोऽपि सुखं भूरि वर्णाश्रमनिबन्धने ।
स्वेच्छाचाराप्रहेतुत्वात्प्रभवेन्नात्र संशयः ॥
वर्णाश्रमाचारबद्धो न बद्धो मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।
भयावहोऽन्यधर्माणामाचारो बन्ध उच्यते ॥
यस्य वर्णाश्रमाचारे श्रद्धातीव प्रवर्त्तते ।
स कर्मिप्रवरोऽविद्वानपि विद्वत्त्वमाप्नुयात् ॥

× × ×

भक्तिज्ञानविरक्त्यादिपादपस्याभवन्नमी ।
वर्णाश्रमसमाचारा यन्मूलानि न तांस्त्यजेत् ॥
निर्मूलः पादपोऽम्भोभिः संसिक्तोऽपि यथा फलम् ।
जनयेन्नाश्रमाचारहीनो भक्त्यादिराश्रितैः ॥

'यह वर्णाश्रमव्यवस्था अति प्राचीन ऋषियोंके द्वारा (सनातन वेदके प्रमाणके अनुसार) प्रवर्तित हुई है, अतएव दूसरेकी तो बात ही क्या, देहधारी स्वयं सर्वलोकेश्वरके द्वारा भी यह उलंघनीय नहीं है। अपने-अपने वर्णाश्रमाचारके अनुष्ठानके द्वारा परमेश्वरको प्रसन्न करके पुरुष क्रमशः हमारे (परमात्माके) उत्तम पदको प्राप्त होता है। सारे वेदको पढ़कर भी यदि कोई अपने वर्णाश्रमके सदाचारका पालन नहीं करता तो उसका वेदान्तज्ञान उसकी रक्षा नहीं कर सकता। वर्णाश्रमाचारसे हीन पुरुषको श्रेष्ठ गुरुजन भी शिष्यरूपमें नहीं ग्रहण करते। वर्णाश्रमाचारपालनरूपी नियमके द्वारा नियमित होनेपर विद्वान्‌को भी अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हो सकती है। वर्णाश्रमाचारके पालनमें तत्पर पुरुष स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते, अतएव वे अभ्युदय और निःश्रेयस्‌की प्राप्ति कर सकते हैं—यह निश्चय है। मोक्षकी चाह रखनेवालेके लिये वर्णाश्रमके आचारका बन्धन कोई बन्धन नहीं है, भयावह अन्य धर्मके आचरणको ही बन्धन कहते हैं। जिस व्यक्तिको वर्णाश्रमके आचारमें अत्यन्त श्रद्धा होती है, वही श्रेष्ठ कर्मी अविद्वान् होते हुए भी विद्यावान् हो जाता है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्यादि वृक्षका मूल वर्णाश्रमाचार है, अतएव इसका कभी त्याग करना उचित नहीं है। मूलरहित वृक्षमें जलसिञ्चन करनेसे जैसे वह फल नहीं देता उसी प्रकार आश्रमाचारसे हीन व्यक्तिकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका फल नहीं होता।'

अन्तमें हम निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए पाठकोंसे विदा लेते हैं—

परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोदितोऽसि चिराय च ।
उद्धृतोऽसि विकल्पेभ्यो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

'श्रेष्ठ आत्मचिन्तनके द्वारा तुम ज्ञात होते हो, बहुत दिनोंके बाद मैं तुम्हें प्राप्त हुआ हूँ, बहुत दिनोंके बाद तुम चिरकाल-

---

साम्यावस्थाकी प्राप्ति ही प्राकृतिक परिणामकी अन्तिम अवस्था है; किसी-न-किसी दिन जगत्‌की यह गतिशीलता, प्रवृत्ति, परिवर्तन, परिणाम या चाञ्चल्य स्थिर, निवृत्त वा शान्त होगा ही।

के लिये मेरे सामने परमार्थरूपमें उदित हुए हो और तुमने सङ्कल्प-विकल्पसे मेरा उद्धार किया है। तुम जो हो, वह हो, तुम्हें नमस्कार !'

गतघनपरिपूर्णमिन्दुबिम्बं
गतकलनावरणं स्वमेव रूपम्।
स्ववपुषि मुदिते स्वयं स्वसंस्थं
स्वयमुदितं स्ववशं स्वयं नमामि ॥११५॥
(योगवासिष्ठ उपशम ३४ सर्गः)

चन्द्रकी एक कला दीख रही थी और पंद्रह कलाएँ मेघसे आवृत थीं। मेघका आवरण दूर होनेपर पूर्णबिम्बके साथ चन्द्रमा प्रकाशित हुआ। सङ्कल्पका आवरण हट गया, स्वयं अपना रूप प्रकाशित हुआ। आनन्दैकरस अपना शरीर अपने आत्मामें निराधार स्वयं विश्रान्त हुआ। अहा ! स्वयं उदित, स्वप्रकाश, स्ववश, स्वाधीन आनन्द ! और कुछ नहीं, स्वयं आत्मा ! इस स्वयंको मैं नमस्कार करता हूँ। (समाप्त)

महासती जीरादेई

(लेखक—साकेतवासी महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक*)

जिस समय लिच्छविकुलोत्पन्न प्रबल और सुबल, युगलबन्धु अपने-अपने भाग्यकी परीक्षा करनेके हेतु अपनी माता हीरादेवीकी आशिष और अपनी कटार लेकर महलसे निकले, उस समय अपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ। एक काक अपनी काकलीसे मार्गप्रदर्शक बना। प्रबलने उड़ते हुए काकके साथ अपना घोड़ा दौड़ाया। चलते-चलते वह चम्पारण्यमें प्रवेश कर गया। और सुबल शुभ शकुनकी प्रतीक्षा न करके नैर्ऋत्य-कोणकी ओर चल पड़ा। टेढ़ीका टाँघन थिरकता हुआ चलता था। अस्तु, अपने अश्वको नचाता हुआ वह सारण्यमें विलीन हो गया।

संवत् ७०१ वै०में, मकरान (बलुचिस्तान) के राजा सहसराय एक बौद्धधर्मानुयायी भारतीय शूद्र थे। इनके पुत्र बड़े साहसी थे।† जब छाछ नामक ब्राह्मण-ने इनका राज्य छीन लिया, राजा सहसराय लड़ाईमें मारे गये, तब उपर्युक्त दोनों राजकुमार महलसे निकल पड़े।

प्रबलरायने प्रतिष्ठानपुरके ज्योतिर्विद्के कहनेसे चम्पारण्यमें प्रवेश किया था। वहाँ एक साधु-तपस्वी-से भेंट होनेपर उन्हें अक्नीक नामक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। उन्होंने जङ्गल कटवाकर प्रजा बसायी और गुरौलमें जहाँ उसे रत्न प्राप्त हुआ था और तपस्वी बाबाकी कुटी थी, अपना गढ़ बनवाकर राज्य करने लगा।

सुबलरायने जब सारण्यमें प्रवेश किया तब उनके नेत्रोंके सामने बहुत दूरपर बीहड़ जङ्गलमें एक ज्योति झलकी। उसीको लक्ष्य करके वे घोड़ा बढ़ाते गये। वहाँ जानेपर पता चला कि वह ज्योति एक सुन्दरीके ताटंककी आभा और शोभा थी। वह सुन्दरी एक प्रबल डाकूकी बेटी थी। भू-गर्भालयके बाहर निकलकर टहल-फिर रही थी। अश्वारोहीको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई। वह उसपर मोहित हो गयी। सुबलराय

* महात्माजी श्रीअयोध्या-धामके प्रतिष्ठित संत थे। 'कल्याण' पर आपकी सदा कृपा रहती थी। गत ४ जनवरीको आपका साकेतवास हो गया। महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीने लिखा था—'महात्मा श्रीबालकराम विनायकजी लीला-धामको छोड़-कर सरकारके नित्य-धामको प्राप्त हुए। ४ जनवरीको प्रातःकाल कोई पाँच बजे शौचादिसे निवृत्त होनेके पश्चात् बिना किसी कष्ट आदि और बिना किसी पूर्व कष्टके आपने नश्वर देह इस तरह त्याग दिया—'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग।'

† V. A. Smith P. 355.

भी रसिक राजकुमार था। युवतीकी असाधारण सुन्दरता और सहृदयतापर वह भी मुग्ध हो गया। प्रणयके चिह्न दोनोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे विकसित होने लगे। उस कन्या-ने राजकुमारको एक घने छायादार वृक्षके नीचे ठहराया। घोड़ा लंबे रस्सेसे बाँधकर जङ्गलमें चरनेके लिये छोड़ दिया गया। भोजन और आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर कुमारीने अपने प्रेम एवं शीलका परिचय दिया। दूसरे-तीसरे दिन जब डाकू-सरदार बहुमूल्य सामानके साथ घर लौटा तब बेटीने अवसर पाकर एक राजकुमारके आनेकी बात बतायी और निष्कपटभावसे अपने प्रणयको भी सूचित कर दिया। यह सुनकर पहले तो वह डाकू बहुत बिगड़ा। उसने डाँटकर कहा—'जीरादेई! तुम्हारा यह आचरण मेरे उग्र स्वभाव और प्रतिष्ठाके प्रतिकूल है। मैं नहीं कह सकता कि इसका क्या परिणाम तुम्हें भोगना पड़ेगा। स्मरण रक्खो—मैं पक्का निर्दयी हूँ।' बेचारी जीरादेई काँपने लगी। उसके कोमल कण्ठसे एक शब्द भी न निकल सका। यह दशा देखकर उस निर्दयीको भी दया आ गयी। फ़र्शपर गिरती हुई कन्याको उसने सँभालकर बैठाया। आश्वासनभरे वचन कहकर उसने समझाया। इस प्रकार धीरज देकर वह उस वृक्षके नीचे गया, जहाँ राजकुमार ठहरा हुआ था। सरदारको देखते ही वह राजकुमार खड़ा हो गया और स्वागतपूर्वक आसनपर बैठाया। बातचीत हुई। राजकुमारने अपना पूर्ण परिचय देकर कहा—'मैं तो भाग्यकी परीक्षा करनेके लिये निकला हूँ। अनेक प्रकारके कष्टोंको झेलता हुआ यहाँतक पहुँचा हूँ।' सरदारने सब सुनकर सन्तोष प्रकट किया और कहा—'जिस कन्याने आपको ठहराया है, वह मेरी धर्मपुत्री है। वह भारतीय नरेश राजा रतिबलकी कन्या है। संवत् ७५६ वै० में जब राजा रतिबलने शिशतानके आगे, ईरानियोंको घेरकर हराया था* उसी समय यह कन्या मेरे अधिकारमें आयी। मैं उक्त राजा-की पासबानीमें था। राजा मुझे बहुत मानता था। परन्तु इसी कन्याके लोभमें आकर मैंने राजाके साथ विश्वासघात किया, अपने प्रिय परिवारको छोड़ा, कन्याको लेकर भागा और यहाँ इस जङ्गलमें आश्रय लिया। जब कन्या बड़ी हुई तब स्वभावतः मेरी इच्छा इसके विवाह करनेकी हुई। मैंने हिन्दूकुशसे लेकर अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग सब देशोंको छान डाला, परन्तु इसके योग्य कोई राजकुमार मिला नहीं। मैं ऐसा राजकुमार चाहता था, जो विवाह करके मेरे ही पास रहे और मेरा उत्तराधिकारी बने। ऐसा अबतक कोई मिला न था। भगवान्‌की लीला अपार है। उसने अनायास आपको यहाँ भेजकर मेरी इच्छा पूरी कर दी।'

अनन्तर सरदारने कुमारको साथ लेकर भूगर्भालय-में गुप्त मार्गसे प्रवेश किया। वह पाताल-भवन बड़ी कारीगरीसे बना हुआ था। उसमें सब तरहका सुपास था। इतने जवाहिरात उसमें धरे और भरे थे, जितने किसी प्रतापी राजाने भी न देखे होंगे। इसी तरह और सामान भी थे। यूनान-जैसे विदेशोंके प्रसिद्ध पदार्थ भी वहाँ मौजूद थे। राजकुमार मन-ही-मन भगवान्‌को धन्यवाद देता था, जिसने इस अतुल सम्पत्तिका उसे उत्तराधिकारी बनानेका विधान किया। राजकुमार अब भवनहीमें रहने लगा। प्रतिदिन अपने घोड़ेपर सवार होकर आखेटके लिये निकल जाता था। कुमारीको यह क्षणिक वियोग भी अखर जाता था। जबतक वह लौटकर न आता, तबतक वह बेचैन रहती। सरदारने एक तरफ़से जङ्गल कटाना और आबाद करना आरम्भ किया। थोड़े ही दिनोंमें वह प्रान्त आबाद हो गया। धानकी खेती होने लगी। बाग-बगीचे, कूप-तड़ाग

* During the course of the campaign beyond Sistan an Indian King, named Ratibil, had defeated a Muslim force by alluring it into the defiles of Afghanistan. (History of Persia Vol. II. P. 52)

पर्याप्तरूपसे निर्मित हुए। देश हरा-भरा हो गया।

अब विवाहकी ठनी। सरदार यद्यपि डाकूका काम करता था, परन्तु वह धर्मभीरु भी था। राजा रतिबलके साथ उसने जो विश्वासघात किया था, उसका पछतावा उसे था और अब वह स्वयं महाराज रतिबलको बुलाकर उन्हींके हाथसे कन्यादान कराकर उसका प्रायश्चित्त करना चाहता था। वह राजाके पास गया। उनसे मिला। सब समाचार सुनाया और अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। राजाने उदारतापूर्वक क्षमा प्रदान की। दोनों वहाँसे तैयारीके साथ सारण्यके लिये चल पड़े। भूगर्भालयके पास ही बने हुए किलेमें ठहरे। शुभमुहूर्तपर कन्यादान हुआ। भाँवरें फिरीं। दान-पुण्य हुआ। तत्पश्चात् स्वयं राजा रतिबलने राजकुमार सुबलरायको अभिषिक्त करके अपने देशको प्रस्थान किया। राजा सुबलराय रानी जीरादेईके साथ सुरौलमें राजधानी स्थापित करके राज्य करने लगे और सरदार जङ्गलमें कुटी बनाकर भजन करने लगे।

कुछ दिनोंके पीछे गुरौलाधिपति राजा प्रबलरायने अपने भाई सुरौलाधिपति सबलरायके दरबारमें अपना दूत भेजा। उसका अच्छा स्वागत हुआ। नैसर्गिक सम्बन्ध—पत्र-व्यवहार, आना-जाना, आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। उभय नृपति उच्च कोटिके मनुष्य थे। प्रजापालनमें सदा तत्पर रहते थे। प्रजाके सुख-दुःखका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोड़ेपर चढ़कर स्वयं गाँव-गाँवका चक्कर लगाया करते थे। दरबारमें साधारण-से-साधारण प्रजाकी पहुँच थी। वह आसानीसे राजासे भी मिल सकती थी। इस प्रकार उदार-नीतिके अवलम्बनसे दोनों रियासतें खूब फूलीं-फलीं।

प्रबलरायके दो पुत्र थे। परन्तु सबलराय सन्तान-हीन थे। इसलिये गुरौलाधिपतिके छोटे राजकुमारको महारानी जीरादेईने अपना दत्तक पुत्र बनाया। वह सुरौलहीमें रहने लगा। उसकी अच्छी शिक्षा भी हुई। वह राज-काज भी सँभालने लगा। उसके राजोचित गुणोंसे सन्तुष्ट होकर सुबलराय उसे गद्दीपर बैठाकर राजधानीके बाहर अग्निकोणमें, सुन्दर आराममें, त्रिवटीके नीचे पर्णकुटी बनाकर महारानी जीरादेईसमेत उसमें वास करके तप करने लगे। राजाके तप और त्यागका प्रभाव प्रजावर्गके ऊपर भी पड़ा। प्रजामें भी सात्त्विक गुण भर गये। सब संयमी, सदाचारी नर-नारी अपने-अपने धर्म-कर्ममें निष्ठावान् हो गये। राजाका दर्शन किये बिना कोई अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करता था।

इतनी सात्त्विकता होनेपर भी कलिप्रभावसे एक महान् दोष बन जानेके कारण सामूहिक दण्ड-फलोत्पादक इस गुरुतर अपराधको क्षमामयी पृथ्वी तो क्षमा कर गयी, परन्तु दैवने उसे न सहन कर घोर दुर्भिक्ष देशमें उपस्थित कर दिया। पाँच वर्षतक लगातार एक बूँद भी पानी नहीं बरसा। इस घोर दुष्कालसे प्रजाकी जान बचानेके लिये तपस्वी राजा सुबलराय अपनी रानी जीरादेईके साथ दरिद्र-नारायणकी सेवामें लग गये—तनसे, मनसे और धनसे। राज्यके बखारसे सदाव्रत बँटता। पका भोजन भी दिया जाता। राज्यके बखार सब रिक्त हो गये। तब सुदूर प्रान्तोंसे अन्न मोल मँगाकर बाँटा जाने लगा। जब खजाना भी खाली हो गया; तब राज-दम्पति बड़े सोचमें पड़े। यहाँतक कि शरीर त्याग करनेपर तुल गये। यह दुःखद समाचार तुरंत सर्वत्र फैल गया। राज्यके धनाढ्य लोगोंने आकर राजाको आश्वासन दिया कि हमलोग अपने धनसे प्रजाके प्राण बचानेमें कुछ उठा नहीं रक्खेंगे, आप प्राण विसर्जन न करें। राजाने मान लिया। धनिकोंने स्थिति-को अच्छी तरह सँभाल लिया। कोई भूखों मरने न पाया। सत्यके प्रभावसे वृष्टि हुई। धानके खेत लहराने लगे। खूब उपज हुई। प्रजाका कष्ट दूर हुआ। परन्तु राजा सुबलरायकी अवस्था गिरती ही गयी। सँभल न सकी। प्रजापालनमें उनकी असमर्थताने उनके प्राणोंपर

चोट की। उस चोटको सह न सकनेके कारण उनकी धुकधुकी एकदम बंद हो गयी। बड़ा शोक मनाया गया। महारानी जीरादेई उनके शवको गोदमें लेकर सती हो गयीं। उस समय लाखों नर-नारी एकत्र हुए थे। अपूर्व दृश्य था। महारानीके अञ्चलसे आप-से-आप अग्निकी लपट निकली। जलते-जलते सतीने वरदान दिया कि इस प्रान्तमें जब-तब सतियाँ उत्पन्न होती रहेंगी। सतीशिरोमणि श्रीजनकनन्दिनीकी जन्मस्थलीके प्रान्तमें ऐसा होना ही चाहिये।

रानी 'जीरादेई' जहाँ सती हुई थीं, उस ग्रामका नाम जीरादेई पड़ गया। यही नाम अबतक प्रसिद्ध है। सुरौल भी पासहीमें है, जिसको लोग 'सुरवल' कहते हैं। ग्राम जीरादेई बी० एन्० डब्ल्यू० रेलवेके भाटापोखर स्टेशनसे एक कोस दक्षिण है। इसी ग्रामको देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीकी जन्मभूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त है।

सन्तोष

(सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः)

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मातृभूमिसे इतनी दूर, एकाकी, यहाँ न कोई अपना परिचित है और न स्वदेशका ही। यहाँ भला, पाँच रुपयेसे क्या उद्योग करूँ? शरीर भी तो इतना सबल नहीं कि कहीं मजदूरी ही कर लूँ। कोई उच्च प्रामाणिक परीक्षा भी नहीं दी, नौकरी कौन देगा? कोई कला या व्यवसाय भी नहीं जानता!' बंदरगाहपर खड़े-खड़े गिरिधारीसिंह सोच रहे थे।

दुर्दैवके मारे बेचारे गिरिधारीसिंह घरसे कलकत्ते आये और जब वहाँ कोई काम न मिला तो बैठे-बैठे पासकी छोटी-सी पूँजीको भी पेटकी भेंट करनेकी अपेक्षा उन्होंने रंगून जाकर भाग्य-परीक्षा करनेका निश्चय किया। एक मास कलकत्तेमें काटकर वे कल जहाजसे रंगून उतरे थे।

'समुद्रयात्रा और जलवायुके परिवर्तनसे आज ज्वर भी प्रतीत होता है! यदि बैठकर दवा-दारू करने लगा तो ये पाँच रुपये भी उदरमें जा रहेंगे और तब.........' उनके सम्मुख उपवास या दर-दर भिक्षा माँगनेका दृश्य आ गया। 'यदि दवा न की और ज्वर बढ़ गया?' स्वजन एवं परिचितोंसे हीन इस अपरिचित स्थानमें रुग्ण होनेपर जो दशा होती, उसका दृश्य पहले-से भी अधिक भयानक था। सिरपर हाथ रखकर वहीं बैठ गये।

'ऐश्वर्य चाहते हो तो उद्योग करो! अवश्य मिलेगा!!' भीतरसे किसीने कहा। गिरिधारीसिंहको स्वामी पूर्णानन्दजीके वचनोंपर अटूट श्रद्धा थी। वे उन्हें साक्षात् परमात्मा मानते थे। उन्हींके वचनोंपर विश्वास करके तो वे घरसे कलकत्तेके लिये चले थे। तब क्या स्वामीजीके ये वचन असत्य हैं? ना, ऐसा तो हो नहीं सकता। अब भी तो मेरे पास पाँच रुपये हैं। एक बार नवीन उत्साह लेकर वे फिर उठे।

आस्ट्रेलियासे एक जहाज आया था और उसपर गेहूँ भरा था। जहाजपर आनेवाले लोग नवीन थे। गिरिधारीसिंह तनिक स्थूल शरीर थे और अच्छे कपड़ोंमें रहनेवाले। पासमें कुछ न रहनेपर भी उनके वस्त्र स्वच्छ रहते थे। गिरिधारीसिंहने सोचा 'कारावास ही तो होगा? वहाँ कम-से-कम पेटकी चिन्तासे मुक्त रहेंगे।' सीधे जाकर जहाजके अधिकारियोंसे पूरा जहाज गेहूँ खरीदनेकी बातचीत करने लगे।

जहाजके अधिकारियोंने समझा 'बिना दलालके

आनेवाला यह कोई धनी, पर नवीन व्यापारी है।' गिरिधारीसिंहको अपने घरसे क्या देना था। झटपट मोलभाव हो गया। इन्होंने पाँच रुपये देकर उन लोगोंसे गेहूँ बेचनेकी रसीद लिखा ली।

लोग कहते हैं कि भगवान्‌को देना होता है तो छप्पर फाड़कर देते हैं। रसीद लिखाकर गिरिधारीसिंह हटे ही थे कि जहाजके अधिकारीने उन्हें फिर बुलवाया 'आस्ट्रेलियासे कम्पनीके स्वामीका तार आया है कि गेहूँ *अभी न बेचा जाय!' गिरिधारीसिंह समझ गये* कि गेहूँका बाजार चढ़ गया है। उन्होंने गेहूँ वापस देना अस्वीकार कर दिया। जहाजके स्वामियोंने फिर आस्ट्रेलिया तार खटकाये। गिरिधारीसिंहसे अनुनय-विनय की। अन्ततः खरीदे हुए भावसे आधपाव प्रति रुपये कम करके जहाजवालोंको ही गेहूँ बेच दिया गया। पूरे तेरह हजार सात सौ पचपन रुपयेका चेक लेकर गिरिधारीसिंह नगरमें लौटे।

[२]

भगवती भागीरथीके भव्य कूलपर अश्वत्थमूलमें आज तीन-चार माससे एक मस्त महात्मा पड़े हैं। कमरमें एक कौपीनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। मध्याह्नमें गाँवमें जाकर 'नारायण हरि' करते हैं और जो कुछ मिला, अञ्जलिमें लेकर मुखमें डाल लेते हैं वहीं। दो-चार घरोंसे इसी प्रकार भिक्षा करके लौटते हैं और फिर भर-भर अञ्जलि वह श्रीहरिका चरणोदक पान करते हैं। उसे किसीसे माँगना तो है नहीं।

भावुक भक्त अपनी भावनाके अनुसार स्वामीजीके सम्बन्धमें चर्चा करते हैं। कोई उन्हें सिद्ध बतलाता है, कोई तपस्वी, कोई विरक्त और कोई आत्मदर्शी। स्वामीजी कुछ भेंट तो लेते नहीं, गाँवके भोले लोग यों ही उनके दर्शनोंको सुविधानुसार आया करते हैं। स्वामीजी एक तो वैसे ही कम बोलते हैं और दूसरे उनकी गूढ़ बातें समझनेकी यहाँ योग्यता भी किसमें है। खेत और घरसे ही अवकाश नहीं, यह कौन पता लगाये कि मुक्ति, ज्ञान, जिज्ञासा आदि किन पक्षियोंके पर्याय हैं। महात्माओंके दर्शनसे पुण्य होता है या उनका दर्शन करना चाहिये, इसी सामान्य भावनासे लोग आते हैं। जो हो सकता है, सेवा भी करते हैं। पुण्य होगा, घरमें मङ्गल होगा—*इस लोभसे या महात्मा कहीं अप्रसन्न* होकर कोई शाप न दे दें—इस भयसे भी।

दोपहरीकी भिक्षा करके स्वामीजी लौटे तो एक दिन उन्होंने एक ग्रामीणको अपनी प्रतीक्षा करते पाया। वैसे ये सज्जन प्रायः नित्य प्रातः-सायं आते हैं और *स्थानपर झाड़ू देना आदि छोटी-मोटी सेवाएँ करते ही* रहते हैं। आनेवालोंमें सबसे उज्ज्वल वस्त्रोंवाले होनेपर भी यहाँ निस्संकोच धूलिमें बैठते हैं। आज इस दोपहरीमें सब अपने-अपने काममें लगे होंगे, स्वामीजीके पास एकान्त होगा—यह समझकर वे आये थे। स्वामीजीसे अकेलेमें वे कुछ कहना चाहते थे, और अवसर मिलता ही न था।

'गिरिधारीसिंह! आज दोपहरीमें कैसे?' असमयमें आनेके कारण स्वामीजीने पूछा। उत्तरके स्थानपर आगन्तुक स्वामीजीके चरणोंमें मस्तक रखकर सिसकने लगा। ठीक बच्चोंके समान। स्वामीजीने उसे उठाया और आश्वासन देकर कारण पूछा।

'माता-पिताके प्यारने कष्ट सहनेमें असमर्थ बना दिया है। कभी अपमान सहना नहीं पड़ा और न परिश्रम ही करना पड़ा। पिछले वर्ष पिताके देहान्तसे ही विपत्ति प्रारम्भ हुई। घरमें कोई सम्पत्ति नहीं। कृषिका श्रम सहा नहीं जाता। पर्याप्त पढ़े-लिखे भी नहीं कि कहीं नौकरी करें। अब सरकारी लगान देना है। महाजन ऋण देता नहीं और पुराने ऋणको कड़ाईसे माँगता है। घरमें भोजनके लिये भी नहीं।' यही सब कष्टकथा सिसकते हुए सुनानेके पश्चात् वे फिर स्वामीजीके चरणोंपर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे।

स्वामीजीने उठाया 'भैया, रोओ मत! मैं विरक्त साधु हूँ। मेरे पास द्रव्य तो है नहीं जो तुम्हें दे दूँ। मैं केवल आशीर्वाद दे सकता हूँ। सुख यदि चाहते हो तब तो सन्तोष करो! नहीं, यदि ऐश्वर्य चाहते

हो तो उद्योग करो !! अवश्य मिलेगा, जिसे चाहोगे !'

ऐश्वर्यसे भिन्न सुखकी कल्पना भी उस समय गिरिधारीसिंह नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो 'उद्योग करो और ऐश्वर्य अवश्य मिलेगा !' इसी आशीर्वादको ग्रहण किया। स्वामीजीके आशीर्वादपर उन्हें विश्वास था। वे प्रसन्न हो गये।

[३]

'न ठिकानेसे भोजन, न स्नान; दिनभर हाय-हाय करते-करते जान चली जाती है। रात्रिमें भी विश्राम नहीं !' झुँझलाकर रंगूनके प्रसिद्ध आढ़ती बाबू गिरिधारीसिंहने टेलीफोनकी घंटी बजनेपर फोन लेनेके बदले कनेक्शन पृथक् कर दिया। आज दिनभर उन्हें अत्यधिक व्यस्त रहना पड़ा था। बारह बजे रात्रिमें शयन करने को लेटनेपर इस टेलीफोनका आना उन्हें बहुत अखरा।

'इससे तो मैं घरपर ही शान्तिसे रहता था। न इतनी चिन्ता थी और न इतना परिश्रम ही करना पड़ता था। इससे मिलो, उसे देखो, ये सन्तुष्ट रहें, उन्हें अप्रसन्न करनेसे हानि होगी—मैं इन सब बखेड़ोंमें दिनभर नाचते-नाचते तंग आ गया !' उनके झुँझलाये मस्तिष्कमें एक आँधी चल रही थी। नेत्र बंद करनेपर भी निद्रा पास नहीं फटकती थी। अन्तमें विचारोंकी उद्विग्नतासे त्राण पानेके लिये उन्होंने बिजलीका बटन दबाया और पास पड़ी रामायण उठा ली।

> बिनु संतोष न काम नसाहीं।
> काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

सर्वप्रथम यही पंक्ति सामने आयी और यहीं समाप्त। पुस्तक बंद करके यथास्थान रख दी गयी। 'स्वामीजीने यही तो कहा था कि सुख चाहते हो तो सन्तोष करो ! मैं उस समय सम्पत्तिका इतना भूखा था कि उससे भिन्न सुखको समझ ही न सका। उन महापुरुषका आशीर्वाद अब भी मेरे साथ है। ऐश्वर्य-रोगकी पीड़ा भली प्रकार भोग चुका। अब और नहीं—बस !' उन्होंने प्रकाश बंद कर दिया और सो गये।

दूसरे दिनसे सबने देखा कि गिरिधारीसिंह कुछ दूसरे ही हो गये हैं। 'घाटा हो रहा है—हो जाने दो ! अत्यावश्यक कार्य है—पूजासे निवृत्त होनेपर। कलक्टर अप्रसन्न हो गये तो हानि हो सकती है—क्या मेरा प्रारब्ध ले लेंगे ?' सहकारी हैरान थे। 'घाटे-पर-घाटा होता जा रहा है और यह ऐसा अजीब मनुष्य कि इसे सिर-पैरका ध्यान ही नहीं रहता ! पहले तो यह बड़ा उद्योगी था। अब क्या हो गया ?' किसीने धनका गर्व बताया और किसीने मस्तिष्कका विकार।

संसारमें नीति चलती है और परलोक तथा अन्तःकरणमें धर्म। धर्म नीतिपर विजय पाता अवश्य है; किन्तु पराकाष्ठापर पहुँचकर। अन्यथा नीतिकी उपेक्षाका दण्ड महाराज हरिश्चन्द्रको भी भोगना पड़ा। यहाँ भी यही हुआ। इस उपेक्षाके फलसे दिवाला निकल गया। गिरिधारीसिंहको कुछ छिपाकर तो रखना नहीं था। सब कुछ एक ही दिनमें जिस समाजसे एकत्र हुआ था, उसीमें वितरित हो गया। रंगून छोड़कर जब गिरिधारीसिंह कलकत्ते उतरे, उनके पास केवल पाँच रुपये थे। ठीक उस दिनकी भाँति, जिस दिन वे सर्वप्रथम रंगून पहुँचे थे।

× × × ×

भगवती भागीरथीके भव्य कूलपर एक अश्वत्थके मूलमें एक ईंटोंका छोटा-सा चबूतरा है। वृद्ध भगत ठाकुर उसपर गङ्गामें गोता लगाकर घर लौटते हुए एक लोटा जल और पासके कनैरसे दो पीले पुष्प नित्य चढ़ाते हैं। लोग कहते हैं कि इकलौते पुत्र तथा पत्नीकी मृत्युपर भी भगत ठाकुरने मुसकराकर कह दिया था कि 'चलो ठीक हुआ'; लेकिन इस चबूतरेपर पुष्प चढ़ाते हुए उनके नेत्रोंके कोनोंसे एक साथ कई बूँदें निकल आती हैं। लोग बाबू गिरिधारीसिंहको अब इसी नामसे सम्बोधन करते हैं। उनके नित्य प्रसन्न मुखपर किसीने कभी विषादका चिह्न नहीं देखा। हमने उस दिन प्रत्यक्ष देखा कि यमराज भी उनकी मुसकानको म्लान न कर सके।

कामके पत्र

(१)

राग-द्वेषके प्रभावसे बचना चाहिये

राग-द्वेषकी बात लिखी सो ठीक है। राग-द्वेष सभी जगह मिलेगा यह तो श्रीभगवान्ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष है, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना चाहिये। वास्तवमें राग-द्वेषादिका कारण अपनी ही भूल है। हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे। ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है। राग-द्वेष मायाका कार्य है। माया-की ग्रन्थिसे छूटा हुआ व्यक्ति राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता। वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य राग-द्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये—

तेरे भाएँ जो करो भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये। मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है। आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहके रूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ।

परम प्रेम

(१) अपनेको और भगवान्को यथार्थ-रूपसे जाननेके बाद ही यथार्थ प्रेम होता है, परन्तु यथार्थरूपसे जानना भी प्रेमके बिना सम्भव नहीं। इस ज्ञान और प्रेममें परस्पर साध्य-साधन-सम्बन्ध है। पहले कुछ ज्ञान होनेपर प्रेम होता है, प्रेम होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है। और यथार्थ ज्ञानके अनन्तरका जो परम प्रेम है, वही सर्वोच्च प्रेम है। उसी प्रेमको भक्तोंने रसाद्वैत कहा है। यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है। परस्पर दोनों एक-दूसरेमें बिलीन हो जाते हैं। दो मिलकर एक हो जाते हैं। इसीको परम शान्ति कह सकते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता। निर्गुणके साधकतकको आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुण-की साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी—ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्त होना पड़ता है। यथार्थ ज्ञान अपने-आप नहीं हो जाता।

ज्ञानवान्की अभेदभक्ति

(२) आपका दूसरा प्रश्न है—'भगवान्के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्से हो सकती है या नहीं? यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ है?' इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्से ही हो सकती है—अज्ञानीसे नहीं। पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है। ज्ञानवान् वही होता है, जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका। जिसके अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियाँ सदाके लिये खुल गयीं, जो मायास्वप्नसे सर्वथा जग गया। परन्तु यह भी नहीं कि उस पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो। वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक होता है। ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों शब्द निरर्थक हो जाते हैं। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप होता है, ज्ञानका भोक्ता नहीं—इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है। वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है—'ब्रह्म-भूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु

भूतेषु········ ॥' इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी भक्ति प्राप्त होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम् ।' यह परा भक्ति ही अभेदभक्ति है, जो ब्रह्मभूत हुए बिना नहीं मिलती। इस परा भक्तिसे ही भगवान्‌का, समग्र भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान होता है—'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।' और यह तत्त्वज्ञान ही सर्वतोभावसे एकत्व कराता है। यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्द-का अर्थ है। इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता। इसके अनन्तर ही होता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'विशते तदनन्तरम् ।' यही विशेष लाभ है, जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही ज्ञानकी परानिष्ठा कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें बहुत कुछ भेद प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः है एकही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ ज्ञानवान् है ।'

ज्ञानवान्‌की स्थिति

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्‌की वृत्ति क्या काम करती है ? ज्ञानवान्‌को सङ्कल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं ? यदि है तो क्यों है ? यदि नहीं है तो सङ्कल्पसे न्याय या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं ?' इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहले मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्‌के स्वरूपको समझ लेना चाहिये। यदि ज्ञानवान् शब्दसे हम केवल शास्त्रज्ञानी या परोक्षज्ञानी लेते हैं, तब तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी टूटी नहीं है। वह अहङ्कारवृत्तिके द्वारा सञ्चालित होता है, ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय सङ्कल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है। यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्त-वृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसके शास्त्रज्ञानकी कुछ परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्त्तमें डाल देंगी—विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी। और यदि ज्ञानवान्‌का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्त्ता रहता नहीं। वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या बुद्धिसे भी अति परे है। जहाँ चित्त ही नहीं है वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो स्थिति है। अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई सङ्कल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो। और स्वाभाविक ही होनेवाले न्यायकर्मका भी कोई धर्मी या कर्त्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धककी तो बात ही नहीं उठती क्योंकि बाधा तो पथमें ही होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् वृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षको प्राप्त एकार्थवाची ही शब्द हैं। फिर प्रतिबन्ध कैसा ?

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने, जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा मत सर्वथा अभ्रान्त है। न यह कहता हूँ कि यह मत मेरा है। सब शास्त्रकी बातें हैं। इन्हें अच्छी तरह समझना चाहिये—आग्रह छोड़कर मनन करना चाहिये। एक 'ज्ञानवान्' शब्दका अर्थ जान

लेनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण-यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया। और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं। भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, उसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है।

(२)

सात आध्यात्मिक प्रश्न

आपका कृपापत्र मिला। आपने जो प्रश्न किये हैं बहुत विचारपूर्ण हैं। मै यथामति उनपर अपना विचार लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। यदि इससे आपका कुछ सन्तोष हो सके तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है। आपके प्रश्न अंग्रेजीमें हैं। इसलिये उनका हिन्दी-अनुवाद देते हुए उसके साथ ही अपना उत्तर लिखता हूँ—

प्रश्न १—निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दोंका क्या तात्पर्य है—

(१) अचल सत्य।

(२) चल सत्य।

(३) ईश्वर।

(४) मनुष्यको ईश्वरका ज्ञान होना।

(५) आत्मप्रकाश।

(६) अन्तःप्रज्ञा।

(७) अनुभूति।

उत्तर—(१,२) अचल सत्य और चल सत्यसे सम्भवतः आपका तात्पर्य पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्यसे है। इनके स्वरूपका यदि सूत्ररूपसे उल्लेख किया जाय तो पारमार्थिक सत्य तो सत्यके अपने स्वरूपको कहते हैं और व्यावहारिक सत्य उसे कहते हैं जिस रूपमें उसीको हम अनुभव करते हैं। वास्तवमें परमार्थ सत्य ही अपनी अचिन्त्य मायाशक्तिसे इस विश्वप्रपञ्चके रूपमें भास रहा है। हम भी उसीकी लीलाशक्तिके एक क्षुद्र विलास हैं। हमारे मन और बुद्धि, जो उसका अनुभव करनेके लिये उत्सुक हैं, वे भी इस व्यावहारिक चेतनाके ही तो क्षुद्र अणु हैं। अतः इनके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है वह व्यावहारिक सत्य ही है, भले ही वह ऊँची-से-ऊँची और अत्यन्त अलौकिक वस्तु हो। व्यावहारिक सत्य परमार्थ सत्यमें अध्यस्त है और अध्यस्त वस्तु अपनी सत्ता रखते हुए अपने अधिष्ठानका अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकती। अतः इन मन-बुद्धि आदिसे परमार्थ सत्यके स्वरूपका आकलन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता; वह स्वतःसिद्ध और स्वानुभूतिमात्र है। फिर भी यह जो कुछ है—उसीका प्रकाश है—इस रूपमें भी क्रीड़ा उसीकी हो रही है। अतः तत्त्वज्ञ पुरुष इस व्यावहारिक सत्यमें भी अपनी विवेकवती दृष्टिसे उसीकी झाँकी कर लेते हैं।

(३) यद्यपि परमार्थ सत्य और ईश्वर दो नहीं हैं, परन्तु 'ईश्वर' यह संज्ञा व्यावहारिक है। जो ऐश्वर्यवान् हो उसे 'ईश्वर' कहते हैं। इस प्रकार राजा, लोकपाल, दिक्पाल और प्रजापति आदि भी 'ईश्वर' शब्दसे कहे जा सकते हैं। किन्तु उनका ऐश्वर्य परिमित है, इसलिये उनमें इस पदका औपचारिक प्रयोग होता है। निरपेक्ष ईश्वर वही हो सकता है जिसका ऐश्वर्य पूर्ण हो—समग्र हो; ऐसी कोई वस्तु न हो जो उसके ऐश्वर्यसे बाहर हो। ऐसा ऐश्वर्य तो उस 'परमार्थ सत्य' का ही है जिसमें यह निखिल प्रपञ्च अध्यस्त है। अतः इसका अधिष्ठान होनेसे उसे ही परमार्थ सत्य कहा जाता है और इसका स्वामी होनेसे वही ईश्वर है।

(४) ईश्वरको समग्र ऐश्वर्यवान् जान लेना ही ईश्वरका ज्ञान है। परन्तु यह ज्ञान अपरोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरताका ज्ञान होनेके लिये उसके सारे ऐश्वर्यका भी ज्ञान होना चाहिये। किन्तु अघटनघटना-पटीयसी मायाकी अचिन्त्य शक्ति और अनन्त लीलाका

पूर्ण ज्ञान होना किसी भी जीवको सम्भव नहीं है। किसी बड़े राजाके सम्पूर्ण वैभवका ठीक-ठीक ज्ञान होना भी प्राय: असम्भव-सा है, फिर समग्र ऐश्वर्यवान् श्रीभगवान्‌के वैभवकी तो बात ही क्या है। अत: ईश्वरज्ञानसे अपने शास्त्रोंमें ईश्वरके स्वरूपका ही ज्ञान माना गया है। ईश्वरने अपने स्वरूपको अपनी ही प्रकाशभूता माया और मायाके कार्योंद्वारा ढक-सा रक्खा है; अत: उसका ज्ञान इस मायाके पर्देको हटनेपर ही हो सकता है। इसलिये भगवत्कृपाजनित ज्ञानके प्रकाशसे मायाकी निवृत्ति होनेपर, जिसका अनुभव होता है वही ईश्वरका स्वरूप है। इसीको वेदान्तकी भाषामें 'ब्रह्म' कहते हैं और इसीसे इसे ईश्वरज्ञान न कहकर 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे कहा जाता है।

(५, ६, ७) आत्मप्रकाश, अन्त:प्रज्ञा और अनुभूति, जिन्हें आपने क्रमश: Revelation, Intuition और Realization शब्दोंसे कहा है, वास्तवमें अनुभवके ही तीन प्रकार हैं। परन्तु इनके स्वरूपमें भेद अवश्य है। ये तीनों ही अनुभवकी चरम अवस्थाएँ हैं; किन्तु इनमेंसे प्रत्येक एक विशेष प्रकारके अधिकारीकी अपेक्षा रखता है। आत्मप्रकाश भगवत्कृपासाध्य है। जो साधक सब प्रकारके साधनोंका आश्रय छोड़कर भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर देता है, अथवा किसी अन्य कारणसे जिसपर भगवान् स्वयं कृपा करते हैं उसके प्रति वे अपने स्वरूप या ज्ञानको प्रकट कर देते हैं। यही 'आत्मप्रकाश' जब साधकका अपना कोई संकल्प न होनेपर भी संस्कारवश अकस्मात् होता है तो इसे अन्त:प्रज्ञा या 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं। कई बार यह साधकके जीवनके प्रवाहको बदलनेके लिये भी होता है। ऐसा करके एक प्रकारसे भगवान् स्वयं ही उसका पथ प्रदर्शन कर देते हैं। 'अनुभूति' पुरुषार्थसाध्य है। इसमें भी भगवत्कृपाकी आवश्यकता तो रहती है किन्तु प्रधानता साधकके प्रयत्नकी ही होती है। यहाँ पहुँचकर ही उसके कर्तव्यकी समाप्ति होती है।

प्रश्न २—जब हम कहते हैं कि वेद ईश्वरकृत हैं तो इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या होता है? क्या यही कि वे सर्वथा निर्दोष और चरम ज्ञानरूप हैं? (क्या यह निर्दोषता चारों वेदोंके विषयमें समानरूपसे अभिप्रेत है अर्थात् उनमें जितना ज्ञान और विषय निहित है उस सभीके लिये कही जा सकती है अथवा किसी विशेष अंश या मन्त्रके लिये ही?)।

उत्तर—वेदोंको ईश्वरकृत नहीं बल्कि 'अपौरुषेय' कहा जाता है। योगदर्शनमें ईश्वरको भी पुरुषविशेष कहा है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:।' अत: ईश्वरकृत माननेपर इन्हें अपौरुषेय नहीं कहा जायगा। वास्तवमें बात ऐसी है कि जिस प्रकार इस अनादि प्रपञ्चका अधिष्ठान और कर्ता अनादि है उसी प्रकार इसका ज्ञान भी अनादि है। अनादि ज्ञेयका ज्ञान भी अनादि होना ही चाहिये। परन्तु प्रत्येक अनादि वस्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारसे रहती है। इन्हें ही उसके सृष्टि और प्रलय अथवा आविर्भाव और तिरोभाव कहते हैं। इसी प्रकार वेदोंका भी आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। किन्तु जब-जब उनका आविर्भाव होता है तब-तब उनके वर्णोंकी आनुपूर्वी वही रहती है और उनके द्रष्टा ऋषिगण भी वे ही रहते हैं। जिस प्रकार साधारणतया रात्रि और दिन अथवा ऋतुओंके परिवर्तनका क्रम पुन: एक ही रूपमें होता दिखायी देता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयके क्रममें एक नियत समानता रहती है। अत: वेदोंके आविर्भावका क्रम भी एक-सा ही रहता है। यह नियम केवल मन्त्रसंहिताके लिये ही नहीं बल्कि वैदिक* इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र,

*श्रौत इतिहासादिका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—इतिहास=उर्वशी पुरूरवासंवादादि कथाभाग, पुराण='असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि पूर्ववृत्त, विद्या=देवजनविद्या (नृत्यगीतादि शास्त्र), उपनिषद्='प्रियमित्येवोपासीत'

अनुव्याख्यान और व्याख्यानोंके लिये भी है; जैसा कि यह श्रुति कहती है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' (बृह० २ । ४ । १०) इस श्रुतिमें वेद, उपनिषद् और इतिहास आदि सभीको इस परम-पुरुषका श्वास बताया गया है । जिस प्रकार श्वास बिना पौरुष-प्रयत्नके चलता रहता है उसी प्रकार ये सब भी बिना पौरुष-प्रयत्नके ही अभिव्यक्त होते हैं। इसीसे इन्हें अपौरुषेय कहा गया है । मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने भी कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर ही इनका साक्षात्कार किया है; ये उनकी बुद्धिसे प्रसूत नहीं हैं, इसलिये इनकी अपौरुषेय संज्ञा उचित ही है ।

प्रश्न ३—यदि वेद ईश्वरकृत हैं तो ईश्वरद्वारा इनके ज्ञानके आविर्भाव और प्रसारका तथा मनुष्यद्वारा उसके ग्रहणका क्या क्रम है ?

प्रश्न ४—क्या यह ज्ञानका प्रसार केवल एक ही बार होता है, या इसकी पुनरावृत्ति भी होती रहती है ?

प्रश्न ५—यदि इसकी पुनरावृत्ति होती है तो क्या इनके द्वारा व्यक्त होनेवाला ज्ञान अपने विस्तार या स्वरूपकी दृष्टिसे समान ही रहता है ?

उत्तर—इन सब प्रश्नोंका उत्तर प्रसंगवश पहले आ चुका है, इसलिये उसकी पुनरावृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती । वेदोंका आविर्भाव सृष्टिके आरम्भके समय प्रत्येक कल्पमें होता रहता है और उसके तो ज्ञान ही नहीं वर्णोंके क्रममें भी समानता ही रहती है । यही शास्त्रोंका सिद्धान्त है ।

प्रश्न ६—यदि समान ज्ञानकी ही पुनरावृत्ति हो सकती है तो चार वेदोंको ही विशेष महत्त्व और प्रधानता क्यों दी जाती है ?

उत्तर—वेदोक्त ज्ञानका भी किसी अधिकारीविशेषको स्वयं अनुभव हो तो सकता है, किन्तु उसे जो अनुभव हुआ है वह वेदोक्त है या नहीं—इसका निश्चय कैसे होगा । साधनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें साधकके जन्मान्तरके संस्कार, जीवमें स्वाभाविक रूपसे रहनेवाला संकोच और पक्षपात आदि दोषोंके कारण प्रायः अपूर्णता ही रहती है । किन्तु अपनी अपूर्ण प्रज्ञासे वह उसीको पूर्ण मान बैठता है । इसलिये उसके ज्ञानको श्रुतिकी कसौटीपर परखना होता है । वह अपौरुषेय और नित्य ज्ञान होनेके कारण इन दोषोंसे रहित है । इसलिये जो ज्ञान उसके अनुकूल होता है वही प्रामाणिक माना जाता है ।

प्रश्न ७—क्या मनुष्यके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी अनुभूतिका अर्थ वही है जो कि ईश्वरके द्वारा उसके प्रति सत्यके आविर्भाव करनेका है ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर प्रथम प्रश्न खण्ड ५, ६, ७ के उत्तरमें आ गया है । वहाँ जो बात कही गयी है उसके अनुसार इन दोनों प्रकारके अनुभवोंके साधक और क्रममें तो भेद है किन्तु स्वयं अनुभवमें भेद नहीं होता । साधककी प्रकृतिके भेदसे अनुभवके भी स्वरूप या आस्वादनमें भेद हो सकता है किन्तु वस्तुतः तत्त्व एक ही है । अतः दोनों ही प्रकारके अनुभवोंसे उन्हें पूर्ण कृतकृत्यता और शान्तिका बोध हो सकता है ।

प्रश्न ८—क्या यह सच नहीं है कि जहाँतक मनुष्यकी गति है उसके लिये चरम और सर्वथा निर्दोष सत्यको प्रस्तुत करना असम्भव है, क्योंकि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है और विकास किसी भी अवस्थामें चरमकोटिका या सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता ।

उत्तर—मनुष्य किसी भी अवस्थामें चरम और सर्वथा निर्दोष सत्यको प्रस्तुत नहीं कर सकता—यह बात तो बिल्कुल ठीक है, क्योंकि जिसमें स्वयं अपूर्णता है

इत्यादि उपासना, श्लोक='तदेते श्लोकाः' इत्यादि ब्राह्मण-भागके मन्त्र, सूत्र='आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि वस्तुके संग्राहक वाक्य, अनुव्याख्यान=मन्त्रोंके विवरण और व्याख्यान=अर्थ-वाद । इस प्रकार यह आठ प्रकारका ब्राह्मणभाग ही है । इस प्रकार चारों मन्त्रसंहिता और सम्पूर्ण ब्राह्मण अपौरुषेय ही हैं ।

वह पूर्ण सत्यका प्रतिपादन कैसे कर सकता है; परन्तु मेरे विचारसे यदि मानव-मस्तिष्कको 'विकासशील' न कहकर 'परिवर्तनशील' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके मस्तिष्कमें उसकी आयुके साथ कुछ विचारोंका विकास होता है तो किन्हीं-किन्हीं गुणोंका ह्रास भी हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियोंका तो ऐसा मन्दभाग्य होता है कि उनका मस्तिष्क दिनों-दिनों और भी विकृत और कुण्ठित होता जाता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है। जो बात व्यक्तियोंमें देखी जाती है वही जातियों और देशोंके विषयमें भी लागू है। मस्तिष्क ही नहीं प्रकृतिके सारे ही विकार परिवर्तनशील ही कहे जा सकते हैं, विकासशील नहीं। एक मोटी बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ अपने जन्मके बाद जैसे बढ़ना आरम्भ करता है वैसे ही वह अधिकाधिक अपने नाशके समीप भी जाने लगता है। ह्रासकी चरम अवस्था ही विनाश है। अतः यदि उसकी वृद्धिमें केवल विकास ही निहित होता तो उसका अन्तिम परिणाम नाश नहीं होना चाहिये था। इसलिये प्रकृतिके सारे ही कार्य विकासशील नहीं परिवर्तनशील ही हैं। हाँ, अन्तमें नष्ट होनेवाले होनेसे उन्हें विनाशशील तो कहा जा सकता है।

मानसिक शान्ति

(लेखिका—बहिन गायत्रीदेवी बाजोरिया)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाली एक ऐसी चञ्चल शक्ति है, जो प्राणियोंको अपनी शृङ्खलामें बाँधकर उन्हें मनमाने मार्गपर ले जाती है। इस शक्तिका दमन करना सरल काम नहीं। बड़े-बड़े तपस्वी, महात्मा इस शक्तिको दमन करनेके लिये अनेकों प्रकारके उपाय करनेपर भी इसे वशमें न ला सके। वास्तवमें यदि मनुष्य इस शक्तिपर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये यह जीवन-मार्ग अत्यन्त सरल तथा सुखकर हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णसे अर्जुनने जब यह पूछा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् 'हे भगवन्! यह मन अत्यन्त चञ्चल एवं हृदयमें उद्वेग उत्पन्न करनेवाला तथा दृढ और बलवान् है, इसका दमन करना वायुके वेगको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन होनेके कारण मैं इसे किस प्रकार वशमें करूँ?' उस समय भगवान्ने अर्जुनको इस मनोनिग्रहके लिये अभ्यास एवं वैराग्य ही प्रधान उपाय बताये थे। परन्तु, इन उपायोंका अवलम्बन करनेके पहले मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये, तभी मनुष्य अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मनको वशमें कर सकता है। उपनिषद्में मनको वशमें करनेका उपाय एक बड़े अच्छे रूपकके द्वारा सरल भावसे समझाया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

'शरीर रथ है। आत्मा रथी है। बुद्धि सारथि है। मन रश्मि (लगाम) है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। यह रथ संसार-मार्गपर—विषयोंके मार्गपर चला जा रहा है। जिस प्रकार रथके घोड़े वशमें न

होनेपर रथको ऊबड़-खाबड़ मार्गमें ले जाकर पटक देते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें न किया जायगा तो ये न जाने इस आत्माको अपने इच्छानुसार किस पतनके गर्तमें डाल दें।' अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य मनरूपी लगामके साथ इन्द्रियरूपी अश्वोंको विवेकके द्वारा वशमें करे, और उन्हें ठीक मार्गपर चलने योग्य बनाये।

मनुष्यका मन इतना चञ्चल है कि वह प्रत्येक क्षण, यहाँतक कि सुषुप्ति-अवस्थामें भी, कार्य करता ही रहता है। यदि इस मनके आगे हमारे कल्पनारूपी पदार्थ अच्छे रूपमें उपस्थित होंगे तो यह अच्छी चेष्टाएँ करेगा; कल्पनाएँ ही दूषित होंगी तो मनकी चेष्टाएँ भी दूषित होंगी। इसलिये मनके सामने अच्छे-अच्छे कल्पनारूपी खाद्य उपस्थित करना मनुष्यका कर्तव्य है। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य कुछ विवेकसे काम ले और सद्ग्रन्थों एवं सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग करे।

जो मनुष्य मनको वशमें करनेका अभ्यास करता है, उसकी चेष्टाएँ बड़ी विचित्र हो जाती हैं। मान लीजिये चक्षुरिन्द्रियके वशीभूत होकर उसके मनने कभी यह चाहा कि अपने नगरमें आये हुए सिनेमाको देखने चलो, मनकी प्रेरणासे वह सिनेमाहाउस चला भी गया, फर्स्ट क्लासका टिकट भी खरीद लिया; किन्तु यदि वह मनको रोकनेके अभ्यासमें लगा हुआ है तो सिनेमा देखनेके लिये सिनेमाद्वारमें प्रवेश करते समय उसका विवेक जाग्रत् होकर उसे सचेत कर देगा और उसे कहेगा—'अरे आज तू इस चक्षुरिन्द्रिय और मनके वशमें होकर कहाँ चला जा रहा है? आज यह मन सिनेमा देखना चाहता है, कल न जाने क्या दुर्लभ वस्तु माँग बैठे? कहाँतक इस मनकी इच्छाओंको पूर्ण कर सकेगा?' यह विचार आते ही वह सिनेमाहाउससे उसी समय वापस लौट आयेगा। इस प्रकार अपनी मानसिक वृत्तियोंको रोकनेवाला मनुष्य ही अभ्यास परिपक्व हो जानेपर 'वशी' कहलाता है।

अतः यह सिद्ध हो गया कि मन महाराजको वशमें करनेके लिये सबसे पूर्व इन्द्रियदमन करना होगा। उसके पश्चात् हमें मनको स्थिर एवं शान्त करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यकी आवश्यकता होगी। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये इन्द्रियदमन, अभ्यास और वैराग्य—यही उपाय बताये हैं। किन्तु इन्द्रियदमनके लिये मनुष्यको विवेकका आश्रय लेना होगा, बिना विवेकके वह इन्द्रियोंको दमन करनेमें समर्थ न हो सकेगा।

यदि मनुष्यने मनको वशमें कर लिया तो मानो उसने अपने जीवनकी सबसे कठिन समस्या हल कर ली, सबसे बड़ी गुत्थी सुलझा ली, क्योंकि मनके वशीभूत हो जानेपर मनुष्य उसे किसी भी साधनमें लगा सकता है। भक्ति, ज्ञान, योग सभी साधनोंमें मनोनिग्रहकी आवश्यकता होती है। मनको निगृहीत करनेका अर्थ है—उसे विवेकद्वारा बाँध लेना। मनको हम जहाँ ले जाना चाहें वहीं जाय और जहाँसे हटाना चाहें तुरंत हट जाय—यही उसके निगृहीत होनेकी पहचान है। मनके निगृहीत हो जानेपर मनुष्यके द्वारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता, जिससे उसके हृदयमें किसी प्रकारका उद्वेग पैदा हो। तभी मनुष्य इस अशान्तिपूर्ण संसारमें रहते हुए भी शान्तिका अनुभव कर सकता है। और यदि मनुष्यके हृदयमें शान्ति है तो वह एक प्रकारसे मुक्तिके द्वारपर खड़ा है। अतः यह सिद्ध हो गया कि संसार-बन्धनमें पड़ने एवं उससे छुटकारा पानेमें यह मन ही सबसे प्रधान कारण है और मनको वशमें करना ही संसार-बन्धनसे छुटकारा पानेका प्रधान साधन है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१५)

(परिशिष्ट)

(१) अधिमासव्रत

(१) अधिमास (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)—जिस महीनेमें सूर्यसंक्रान्ति न हो, वह महीना अधिमास होता है और जिसमें दो संक्रान्ति हों, वह क्षयमास होता है। इसको 'मलिम्लुच' भी कहते हैं।[1] ……अधिमास ३२ महीने, १६ दिन और ४ घड़ीके अन्तरसे आया करता है[2] और क्षयमास १४१ वर्ष पीछे और उसके बाद १९ वर्ष पीछे आता है। क्षयमास कार्तिकादि तीन महीनोंमेंसे होता है।……लोक-व्यवहारमें अधिमासके 'अधिक मास', 'मलमास', 'मलिम्लुच मास' और 'पुरुषोत्तममास' नाम विख्यात हैं।……चैत्रादि १२ महीनोंमें वरुण[3], सूर्य, भानु, तपन, चण्ड, रवि, गभस्ति, अर्यमा, हिरण्यरेता, दिवाकर, मित्र और विष्णु—ये १२ सूर्य होते हैं। और अधिमास इनसे पृथक् रह जाता है। इस कारण यह मलिम्लुच मास कहलाता है।……अधिमासमें, फलप्राप्तिकी कामनासे किये जाने-वाले प्रायः सभी काम वर्जित हैं[4] और फलकी आशासे रहित होकर करनेके आवश्यक सब काम किये जा सकते हैं। यथा—कूएँ, बावली, तालाब और बाग आदिका आरम्भ और प्रतिष्ठा; किसी भी प्रकार और किसी भी प्रयोजनके व्रतोंका आरम्भ और उत्सर्ग (उद्यापन); नवविवाहिता वधूका प्रवेश; पृथ्वी, हिरण्य और तुला आदिके महादान; सोमयज्ञ और अष्टकाश्राद्ध (जिसके करनेसे पितृगण प्रसन्न हों); गौका यथोचित दान; आग्रयण (यज्ञविशेष नवीन अन्नसे किये जानेवाला यज्ञ; यह वर्षा ऋतुमें 'सावाँ' (साँवक्या) से, शरद्‌में चावलोंसे और वसन्तमें जौसे किया जाता है); पौसरेका प्रथमारम्भ; उपाकर्म (श्रावणी पूर्णिमाका ऋषिपूजन); वेदव्रत (वेदाध्ययनका आरम्भ); नीलवृषका विवाह; अतिपन्न (बालकोंके नियतकालमें न किये हुए संस्कार); देवताओंका स्थापन (देवप्रतिष्ठा); दीक्षा (मन्त्रदीक्षा, गुरुसेवा); मौञ्जी-उपवीत (यज्ञोपवीत-संस्कार); विवाह; मुण्डन (जडूला); पहले कभी न देखे हुए देव और तीर्थोंका निरीक्षण; संन्यास; अग्नि-परिग्रह (अग्निका स्थायी स्थापन); राजाके दर्शन; अभिषेक; प्रथम यात्रा; चातुर्मास्यीय व्रतोंका प्रथमारम्भ; कर्ण-वेध और परीक्षा—ये सब काम अधिमासमें और गुरु-शुक्रके अस्त तथा उनके शिशुत्व और बालत्वके तीन-तीन दिनोंमें और न्यून मासमें भी सर्वथा वर्जित हैं।[5] ……इनके अतिरिक्त तीव्र ज्वरादि प्राणघातक रोगादिकी निवृत्तिके रुद्रजपादि अनुष्ठान; कपिलषष्ठी-जैसे अलभ्य योगोंके प्रयोग; अनावृष्टिके अवसरमें वर्षा करानेके पुरश्चरण; वषट्कारवर्जित आहुतियोंका हवन; ग्रहणसम्बन्धी श्राद्ध, दान और जपादि; पुत्रजन्मके कृत्य और पितृमरणके श्राद्धादि तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्त-जैसे संस्कार और नियत अवधिमें समाप्त करनेके पूर्वागत प्रयोगादि किये जा सकते हैं।

(२) अधिमासव्रत (भविष्योत्तर)—चैत्रादि

---

१. असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटः स्याद् द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्। (ज्योतिःशास्त्र)

२. द्वात्रिंशद्भिर्गतैर्मासैर्दिनैः षोडशभिस्तथा।
घटिकानां चतुष्केण पतति ह्यधिमासकः॥
(वसिष्ठसिद्धान्त)

३. वरुणः सूर्यो भानुस्तपनश्चण्डो रविर्गभस्तिश्च।
अर्यमहिरण्यरेतोदिवाकरा मित्रविष्णू च॥
(ज्योतिःशास्त्र)

४. न कुर्यादधिके मासि काम्यं कर्म कदाचन।
(स्मृत्यन्तर)

५. वाप्यारामतडागकूपभवनारम्भप्रतिष्ठे व्रता-
रम्भोत्सर्गवधूप्रवेशनमहादानानि सोमाष्टके।
गोदानाग्रयणप्रपाप्रथमकोपाकर्मवेदव्रतं
नीलोद्वाहमथातिपन्नशिशुसंस्कारान् सुरस्थापनम्॥
दीक्षामौञ्जिविवाहमुण्डनमपूर्वं देवतीर्थेक्षणं
संन्यासाग्निपरिग्रहौ नृपतिसंदर्शाभिषेकौ गमम्।
चातुर्मास्यसमावृती श्रवणयोर्वेधं परीक्षां त्यजेद्
वृद्धत्वास्तशिशुत्व इज्यसितयोर्न्यूनाधिमासे तथा॥
(मुहूर्तचिन्तामणि)

महीनोंमें जो महीना अधिमास हो, उसके सम्पूर्ण साठ दिनों-मेंसे प्रथमकी शुक्ल प्रतिपदासे प्रारम्भ करके द्वितीयकी कृष्ण अमावास्यातक तीस दिनोंमें अधिमासके निमित्तका उपवास या नक्त अथवा एकभुक्त व्रत करके यथासामर्थ्य दान-पुण्यादि करे। और यदि मासपर्यन्तकी सामर्थ्य न हो या उतना अवसर ही न मिले तो पुण्यप्रद किसी भी दिनमें दोनों स्त्री-पुरुष प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके भगवान् वासुदेवको हृदयमें रखकर व्रत या उपवास करें और अव्रण कलशपर लक्ष्मी और नारायणकी मूर्ति स्थापन करके उनका सप्रेम पूजन करें। पूजनके समय 'देवदेव महाभाग प्रलयोत्पत्तिकारक। कृष्ण सर्वेश भूतेश जगदानन्दकारक। गृहाणार्घ्यमिमं देव दयां कृत्वा ममोपरि ॥' से अर्घ्य दे और 'स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ब्रह्मणेऽमिततेजसे। नमोऽस्तु ते श्रितानन्द दयां कृत्वा ममोपरि ॥' से प्रार्थना करे। नैवेद्यमें घी, गेहूँ और गुड़के बने हुए पदार्थ; दाख, केले, नारियल, कूष्माण्ड (कुम्हड़ा) और दाडिमादि फल और बैगन, ककड़ी, मूली और अदरख आदि शाक अर्पण करके अन्न, वस्त्र, आभूषण और अन्य प्रकारके पृथक्-पृथक् पदार्थोंका दान दे।

(३) **अधिकमासव्रत २** (हेमाद्रि)—यह व्रत मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंका हरण करनेवाला है। इसमें एक-भुक्त, नक्त या उपवास और भगवान् भास्करका पूजन तथा कांस्यपात्रमें भरे हुए अन्न-वस्त्रादिका दान किया जाता है। प्राचीन कालमें नहुष राजाने इन्द्रत्वप्राप्तिके मदसे अपने नरयान (पालकी) को वहन करनेमें महर्षि अगस्त्यको नियुक्त करके 'सर्प-सर्प' (चलो-चलो) कह दिया था। उस धृष्टताके कारण वह स्वयं सर्प हो गया। अन्तमें व्यासजीके आदेशानुसार अधिकमासका व्रत करनेसे वह सर्प-योनिसे मुक्त हुआ।······व्रतका विधान यह है कि अधिकमास आरम्भ होनेपर प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके विष्णुस्वरूप 'सहस्रांशु' (हजार किरणवाले) सूर्यनारायणका पूजन करे। विविध प्रकारके घी, गुड़ और अन्नका नित्य दान करे। और घी, गेहूँ और गुड़के बनाये हुए तैंतीस अपूप (पूऒ) को कांस्यपात्रमें रखकर 'विष्णुरूपी सहस्रांशुः सर्वपापप्रणाशनः। अपूपान्नप्रदानेन मम पापं व्यपोहतु ॥' से प्रतिदिन दान करे और 'यस्य हस्ते गदाचक्रे गरुडो यस्य वाहनम्। शङ्खः करतले यस्य स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥' से प्रार्थना करे तो कुरुक्षेत्रादिके स्नान, गो-भू-हिरण्यादिके दान और अगणित ब्राह्मणोंको भोजन करानेके समान फल होता है और सब प्रकारके धन, धान्य, पुत्र और परिवार बढ़ते हैं।

(४) **पुरुषोत्तममासव्रत** (भविष्योत्तरपुराण)—इस व्रतके विषयमें श्रीकृष्णने कहा था कि इसका फलदाता, भोक्ता और अधिष्ठाता—सब कुछ मैं हूँ। (इसी कारणसे इसका नाम पुरुषोत्तम है।) इस महीनेमें केवल ईश्वरके उद्देश्यसे जो व्रत, उपवास, स्नान, दान या पूजनादि किये जाते हैं, उनका अक्षय फल होता है और व्रतीके सम्पूर्ण अनिष्ट नष्ट हो जाते हैं।

(५) **मलमासव्रत** (देवीभागवत)—इस महीनेमें दान, पुण्य या शरीर-शोषण—जो भी किया जाय उसका अक्षय फल होता है। यदि सामर्थ्य न हो तो ब्राह्मण और साधुओंकी सेवा सर्वोत्तम है। इससे तीर्थस्नानादिके समान फल होता है। पुण्यके कामोंमें व्यय करनेसे धन क्षीण नहीं होता, बल्कि बढ़ता है। जिस प्रकार अणुमात्र बीजके दान करनेसे वट-जैसा दीर्घजीवी महान् वृक्ष होता है, वैसे ही मलमासमें दिया हुआ दान अधिक फल देता है।

(६) **अधिमासीयार्चनव्रत** (पूजापङ्कजभास्कर)—अधिमासके व्रतोंमें भगवान्‌की पूजन-विधिमें यह विशेषता है कि गन्धयुक्त पुष्प और श्रीसूक्तके मन्त्र—इनके साथमें भगवान्‌के नामोंका एक-एक करके उच्चारण करता हुआ उनके पुष्प अर्पण करे। नाम ये हैं—१–कूर्माय, २–सहस्र-शीर्ष्णे, ३ देवाय, ४ सहस्राक्षपादाय, ५ हरये, ६ लक्ष्मी-कान्ताय, ७ सुरेश्वराय, ८ स्वयम्भुवे, ९ अमिततेजसे, १० ब्रह्मप्रियाय, ११ देवाय, १२ ब्रह्मगोत्राय······पुनः १ लक्ष्म्यै नमः, कमलायै नमः, श्रियै नमः, पद्मवासायै नमः, हरिवल्लभायै नमः, क्षीराब्धितनयायै नमः, इन्दिरायै नमः—इन नामोंसे पुष्प अर्पण करके 'पुराणपुरुषेशान सर्वशोक-निकृन्तन। अधिमासव्रते प्रीत्या गृहाणार्घ्यं श्रिया सह ॥' 'पुराणपुरुषेशान जगद्धातः सनातन। सपत्नीको ददाम्यर्घ्यं सृष्टिस्थित्यन्तकारिणे ॥ देवदेव महाभाग प्रलयोत्पत्तिकारक। कृपया सर्वभूतस्य जगदानन्दकारक। गृहाणार्घ्यमिमं देव दयां कृत्वा ममोपरि ॥'—इन मन्त्रोंसे तीन बार अर्घ्य दे तो महा-फल होता है।

(२) संक्रान्तिव्रत

(१) **संक्रान्ति** (बहुसम्मत)—सूर्य जिस राशिपर[१]

१. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते। (नागरखण्ड)

स्थित हो, उसे छोड़कर जब दूसरी राशिमें प्रवेश करे, उस समयका नाम संक्रान्ति है। ऐसी बारह संक्रान्तियोंमें मकरादि छः और कर्कादि छः राशियोंके भोगकालमें क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन—ये दो अयन होते हैं। इनके अतिरिक्त मेष और तुलाकी संक्रान्तिकी 'विषुवत्'; वृष, सिंह, वृश्चिक और कर्ककी 'विष्णुपदी' और मिथुन, कन्या, धनु एवं मीनकी 'षडशीत्यानन' संज्ञा होती है। अयन या संक्रान्तिके समय व्रत-दान या जपादि करनेके विषयमें 'हेमाद्रि' के मतसे संक्रमण होनेके समयसे पहले और पीछेकी १५-१५ घड़ियाँ, 'बृहस्पति' के मतसे अयनोंके पहले और पीछेकी २०-२० घड़ियाँ और 'देवल' के मतसे पहले और पीछेकी ३०-३० घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। इनमें 'वसिष्ठ' के मतसे 'विषुव' के मध्यकी, विष्णुपदी और दक्षिणायनके पहलेकी तथा षडशीतिमुख और उत्तरायणके पीछेकी उपर्युक्त घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। वैसे सामान्य मतसे सभी संक्रान्तियोंकी १६-१६ घड़ियाँ अधिक फलदायक हैं।……यह विशेषता है कि दिनमें संक्रान्ति हो तो पूरा दिन, अर्धरात्रिसे पहले हो तो उस दिनका उत्तरार्ध, अर्धरात्रिसे पीछे हो तो आनेवाले दिनका पूर्वार्ध, ठीक अर्धरात्रिमें हो तो पहले और पीछेके तीन-तीन प्रहर और उस समय अयनका भी परिवर्तन हो तो तीन-तीन दिन पुण्यकालके होते हैं। उस समय दान देनेमें भी यह विशेषता है कि अयन अथवा संक्रमण-समयका दान उनके आदिमें और दोनों ग्रहण तथा षडशीतिमुखके निमित्तका दान अन्तमें देना चाहिये।

(२) संक्रान्तिव्रत (वज्रऋषिसम्मत)—मेषादि किसी भी संक्रान्तिका जिस दिन संक्रमण हो उस दिन प्रातः-स्नानादिसे निवृत्त होकर 'मम ज्ञाताज्ञातसमस्तपातकोपपातक-दुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्तपुण्यफलप्राप्तये श्रीसूर्य-नारायणप्रीतये च अमुकसंक्रमणकालीनमयनकालीनं वा स्नान-दानजपहोमादिकर्माहं करिष्ये।'—यह संकल्प करके वेदी या चौकीपर लाल कपड़ा बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल लिखे और उसमें सुवर्णमय सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापन करके उनका पञ्चोपचार (स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप और नैवेद्य) से पूजन और निराहार, साहार, अयाचित, नक्त या एकभुक्त व्रत करे तो सब प्रकारके पापोंका क्षय, सब प्रकारकी आधि-व्याधियोंका निवारण और सब प्रकारकी हीनता अथवा संकोचका निपात होता है और प्रत्येक प्रकारकी सुख-सम्पत्ति, सन्तान और सहानुभूतिकी वृद्धि होती है।

(३) संक्रमणव्रत (गर्ग-गालव-गोतमादि)—मेषादि किसी भी अधिकृत राशिको छोड़कर सूर्य दूसरी राशिमें प्रवेश करे (अथवा सौम्य या याम्यायनकी प्रवृत्ति हो) उस समय दिन-रात्रि, पूर्वाह्न-पराह्न, पूर्वापरनिश्चयार्द्ध या अर्धरात्रिका कुछ भी विचार न करके तत्काल स्नान करे और सफेद वस्त्र

---

१. मकरकर्कटसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरायणं दक्षिणायनं स्यात्। (मुक्तकसंग्रह)

२. अयने द्वे विषुवती चतस्रः षडशीतयः।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रान्त्यो द्वादश स्मृताः॥ (वसिष्ठ)

३. अधः पञ्चदश ऊर्ध्वं च पञ्चदशेति। (हेमाद्रि)

४. अयने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः परा। (बृहस्पति)

५. संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः।
तद्योगाच्चाप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः॥ (देवल)

६. मध्ये तु विषुवे पुण्यं प्राग्विष्णौ दक्षिणायने।
षडशीतिमुखेऽतीते अतीते चोत्तरायणे॥ (वसिष्ठ)

७. अर्वाक् षोडश विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च षोडश।
कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेः……………॥ (शातातप)

८. अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः॥
अर्धरात्रादधस्तस्मिन्मध्याह्नस्योपरि क्रिया।
ऊर्ध्वं संक्रमणे चोर्ध्वमुदयात्प्रहरद्वयम्॥ (वसिष्ठ)

१. पूर्णे चैवार्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः।
तदा दिनत्रयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्कटौ॥ (ज्योतिर्वसिष्ठ)

२. अयनादौ सदा देयं द्रव्यमिष्टं गृहेषु यत्।
षडशीतिमुखे चैवं विमोक्षे चन्द्रसूर्ययोः॥ (संक्रान्तिकृत्य)

३. उपोष्यैवं तु संक्रान्तौ स्नातो योऽभ्यर्चयेद्धरिम्।
प्रातः पञ्चोपचारेण स काम्यं फलमश्नुते॥ (वसिष्ठ)

४. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।
स्नानदानजपश्राद्धहोमादिषु महाफला॥ (नागरखण्ड)

धारण करके अक्षतादिके अष्टदलपर स्थापित किये हुए सुवर्णमय सूर्यका उपर्युक्त प्रकारसे पूजन करे। साथ ही 'ॐ आकृष्णेन०' या 'ॐ नमो भगवते सूर्याय' अथवा 'ॐ सूर्याय नमः' का जप और आदित्यहृदयादिका पाठ करके घी, शक्कर और मेवा मिले हुए तिलोंका हवन करे और अन्न-वस्त्रादि देय वस्तुओंका दान दे तो इनमेंसे एक-एक भी पावन करनेवाला होता है। स्मृत्यन्तरोंमें रात्रिको स्नान और दान वर्जित किये हैं। इसका 'विष्णु'ने यह समाधान किया है कि विवाह, व्रत, संक्रान्ति, प्रतिष्ठा, ऋतुस्नान, पुत्रजन्म, चन्द्रादित्यके ग्रहण और व्यतीपात—इनके निमित्तका 'रात्रिस्नान' और ग्रहण, उद्वाह (विवाह), संक्रान्ति, यात्रा, प्रसवपीडा और इतिहासोंका श्रवण—इनके निमित्तका 'रात्रिदान' वर्जित नहीं है। यही नहीं, यदि कोई ग्रहणादि उक्त अवसरोंमें रात्रिके विचारसे स्नान (और दान) न करे तो वह चिरकाल (कई वर्षों) तक रोगी और दरिद्री रहता है। व्रतसंख्यामें यह विशेषता है कि वृद्धवसिष्ठके मतानुसार अयन (मकर-कर्क-संक्रमण) और विषुव (मेष-तुला-संक्रमण)—इनमें तीन रात्रिका और आपस्तम्बके मतानुसार अयन, विषुव और दोनों ग्रहण—इनमें अहोरात्र (सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त) का उपवास करनेसे सब पाप छूट जाते हैं। परन्तु पुत्रवान् गृहस्थीके लिये रविवार, संक्रान्ति, चन्द्रादित्यके ग्रहण और कृष्णपक्षकी एकादशीका व्रत करनेकी आज्ञा नहीं है। अतः उनको चाहिये कि वह व्रतकी अपेक्षा स्नान और दान अवश्य करें। इनके करनेसे दाता और भोक्ता दोनोंका कल्याण होता है।······षडशीति (कन्या, मिथुन, मीन और धन) तथा विषुवती (तुला और मेष) संक्रान्तिमें दिये हुए दानका अनन्तगुना, अयनमें दिये हुएका करोड़गुना, विष्णुपदीमें दिये हुएका लाखगुना, षडशीतिमें हजारगुना, इन्दुक्षय (चन्द्रग्रहण) में सौगुना, दिनक्षय (सूर्यग्रहण) में हजारगुना और व्यतीपातमें दिये हुए दानादिका अनन्तगुना फल होता है। देयके विषयमें भी यह विशेषता है कि—१ 'मेष' संक्रान्तिमें मेढा, २ 'वृष'में गौ, ३ 'मिथुन'में अन्न-वस्त्र और दूध-दही, ४ 'कर्क'में धेनु, ५ 'सिंह'में सुवर्णसहित छत्र (छाता), ६ 'कन्या'में वस्त्र और गायें, ७ 'तुला'में अनेक प्रकारके धान्य-बीज (जौ, गेहूँ और चने आदि), ८ 'वृश्चिक'में घर-मकान या झोंपड़े (पर्णकुटी), ९ 'धनु'में बहुवस्त्र और सवारियाँ, १० 'मकर'में काष्ठ और अग्नि, ११ 'कुम्भ' में गायोंके लिये जल और घास तथा १२ 'मीन'में उत्तम प्रकारके माल्य (तेल-फुलेल-पुष्पादि) और स्थानका दान करनेसे सब प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध होती हैं और संक्रान्ति आदिके अवसरोंमें हव्य-कव्यादि जो कुछ दिया जाता है सूर्यनारायण उसे जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त प्रदान करते रहते हैं।

(४) महाजया संक्रान्तिव्रत (ब्रह्मपुराण)—किसी

---

१. अत्र स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम्॥
(संवर्त)

२. विवाहव्रतसंक्रान्तिप्रतिष्ठाऋतुजन्मसु।
तथोपरागपातादौ स्नाने दाने निशा शुभा॥
(विष्णु)

३. ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रार्तिप्रसवेषु च।
श्रवणे चेतिहासस्य रात्रौ दानं प्रशस्यते॥
(सुमन्तु)

४. रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद् यस्तु मानवः।
चिरकालिकरोगी स्यान्निर्धनश्चैव जायते॥
(शातातप)

५. अयने विषुवे चैव त्रिरात्रोपोषितो नरः।
(वृद्धवसिष्ठ)

६. अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
अहोरात्रोषितः स्नातः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(आपस्तम्ब)

१. आदित्येऽहनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
उपवासो न कर्तव्यो गृहिणा पुत्रिणा तथा॥
'कृष्णैकादशीति' विशेषः। (नारद)

२. षडशीत्यां तु यद् दत्तं यद् दानं विषुवद्वये।
दृश्यते सागरस्यान्तस्तस्यान्तो नैव दृश्यते॥ (भारद्वाज)
अयने कोटिपुण्यं च लक्षं विष्णुपदीफलम्।
षडशीतिसहस्रं च षडशीत्यां स्मृतं बुधैः॥
शतमिन्दुक्षये दानं सहस्रं तु दिनक्षये॥ (वसिष्ठ)
विषुवे शतसाहस्रं व्यतीपाते त्वनन्तकम्॥

३. मेषसंक्रमणे भानोर्मेषदानं महाफलम्।
(विश्वामित्र)

४. संक्रान्तौ यानि दत्तानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
तानि नित्यं ददात्यर्कः पुनर्जन्मनि जन्मनि॥
(शातातप)

महीनेकी कोई भी संक्रान्ति यदि शुक्ल पक्षकी सप्तमी और रविवारको हो तो वह 'महाजया' होती है। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय सूर्य-मूर्तिको अथवा पूर्वप्रतिष्ठित सूर्यप्रतिमाको स्थापित करके गौके घी और दूधसे पूर्ण स्नान कराये और पञ्चोपचार पूजन करके सोपवास जप, तप, हवन, देवपूजा, पितृतर्पण और दान करे तथा ब्राह्मण-भोजन कराये तो अश्वमेधादिके समान फल होता है और व्रत करनेवालेको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(५) **धनसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय मनुष्य अछिद्र (बिना छेदके) कलशमें जल, फल, सर्वौषधि और दक्षिणा रखकर उसको अष्टदलपर स्थापित करके उसके मध्यमें सुवर्णमय सूर्यका गन्धादिसे पूजन करे, एकभुक्त व्रत करे और इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो धनसे संयुक्त रहता है।

(६) **धान्यसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—मेषार्कके समय स्नान करके सूर्यका ध्यान करे और 'करिष्यामि व्रतं देव त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः। तदा विघ्नं न मे यातु तव देव प्रसादतः॥' से संकल्प करके व्रत करे। तत्पश्चात् अष्टदलपर पूर्वमें भास्कर, अग्निकोणमें रवि, दक्षिणमें विवस्वान्, नैर्ऋत्यमें पूषा, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें दिवाकर, उत्तरमें मार्तण्ड, ईशानमें भानु और मध्यमें विश्वात्माका नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके व्रत करे और इस प्रकार बारह महीने करनेके बाद पूजनसामग्री और १६ सेर अन्न सत्पात्रको दे तो धान्यकी वृद्धि होती है।

(७) **भोगसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय सपत्नीक ब्राह्मणको बुलाकर उसको उत्तम पदार्थोंका भोजन करावे। कुङ्कुम, कज्जल, कौसुम्भ, सिन्दूर, पान, पुष्प, फल और तण्डुल देकर दोनोंको दो-दो वस्त्र और दो-दो दक्षिणा दे तो यथारुचि भोग मिलते हैं।

(८) **रूपसंक्रान्तिव्रत** (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके समय तैलमर्दनके अनन्तर शुद्ध स्नान करके सोने, चाँदी, ताँबे या पलाशके पात्रमें घी और सोना रखकर उसमें अपने शरीरका छायावलोकन करे और ब्राह्मणको देकर व्रत करे तो रूप बढ़ता है।

(९) **तेजःसंक्रान्तिव्रत** (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके पुण्यकालमें सुपूजित कलशको चावलोंसे भरकर उसपर घीका दीपक रक्खे और उसके समीपमें मोदक रखकर, 'ममाखिल-दोषप्रशमनपूर्वकतेजःप्राप्तिकामनयेदं पूर्णपात्रं गन्धपुष्पाद्यर्चितं यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे।' से जल छोड़कर सम्पूर्ण सामग्री ब्राह्मणको दे तो इससे तेज बढ़ता है।

(१०) **आयुःसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय काँसीके पात्रमें यथासामर्थ्य घी, दूध और सुवर्ण रखकर गन्धादिसे पूजन करके 'क्षीरं च सुरभीजातं पीयूषममलं घृतम्। आयुरारोग्यमैश्वर्यमतो देहि द्विजार्पितम्॥' से उसका दान करे तो तेज, आयु और आरोग्यता आदिकी वृद्धि होती है।

(११) **मेषादिगत सूर्यव्रत** (लक्ष्मीनारायणसंग्रह)—व्रतीको चाहिये कि मेषसंक्रान्तिमें सूर्य रहे तबतक प्रत्येक रविवारको तीन बूँद 'गोबरजल' पीकर व्रत करे। इसी प्रकार वृषमें केवल तीन अञ्जलि जल। मिथुनमें तीन काली मिर्च। कर्कमें तीन मुट्ठी गोधूमसत्तू। सिंहमें तीन बूँद गो-शृंगका धोया हुआ जल। कन्यामें तीन पल खन। तुलामें केवल प्राणायामकी वायुका भक्षण। वृश्चिकमें तीन तुलसी-दल। धनमें तीन पल गोघृत। मकरमें तीन मुट्ठी तिल। कुम्भमें तीन पल गौका दही और मीनमें तीन पल गोदुग्ध पीकर उपवास करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट या व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और शरीरकी सुन्दरता तथा शक्ति बढ़ जाती है।

(३) अयनव्रत

(१) **अयनव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—उत्तरायणकी प्रवृत्तिके समय गौके दो सेर घृतसे विष्णुको स्नान कराये तो सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुसायुज्यको प्राप्त होता है।

(२) **अयनव्रत** २ (भविष्योत्तर)—उत्तरायणके समय ब्राह्मणको दो सेर घी और सुपूजित घोड़ी दे तो सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(४) पक्षव्रत

(१) **पक्ष**—(धर्मसार)—जिसका देव और पितृकार्योंके अर्थ पृथक्-पृथक् परिग्रहण किया जाय उस (कालविशेष) को

---

१. शुक्लपक्षे तु सप्तम्यां यदा संक्रमते रविः।
महाजया तदा सा वै सप्तमी भास्करप्रिया॥
(ब्रह्मपुराण)

पक्ष कहते हैं । अथवा जिसमें चन्द्रमाकी कलाएँ पूर्ण अथवा क्षीण हों उसे पक्ष कहते हैं । ऐसे दो पक्ष 'शुक्ल' और 'कृष्ण' अथवा पूर्व और पर नामसे प्रसिद्ध हैं । ये दोनों पक्ष धर्मशास्त्रके अनुसार 'देव' निमित्तके जप, ध्यान, उपासना, होम, यज्ञ, प्रतिष्ठा अथवा सौभाग्य-वृद्धिके सदनुष्ठान आदिमें और 'पितृ' निमित्तके श्राद्ध, तर्पण, हन्तकार या महालयादि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं । और ज्योतिःशास्त्रके अनुसार सब प्रकारके शुभकार्य—यथा आभ्युदयिक श्राद्ध या माङ्गलिक महोत्सव और 'अशुभ' कार्य—यथा मृत मनुष्यकी अज्ञात मृत्युके अन्त्येष्टिकर्मादि या तन्निमित्तक तीर्थश्राद्ध अथवा गयायात्रा आदि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं ।

(२) **पक्षव्रत**–(मुक्तकसंग्रह)–यह व्रत शुक्ल पक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके पूर्णिमापर्यन्त प्रतिदिन किया जाता है । उसमें प्रातःस्नानादिके अनन्तर सुवर्णमय सूर्यका पञ्चोपचार पूजन करके दोनों हाथोंकी अञ्जलिमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर 'एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते । अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥' से तीन बार अर्घ्य दे और मध्याह्नमें हविष्यान्नका एक बार भोजन करे ।······और कृष्ण पक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके अमावस्यापर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् चाँदीके बने हुए चन्द्रमाका पञ्चोपचार पूजन करे और अञ्जलिमें यथापूर्व जल लेकर 'सोमप्रकाशकाय सूर्याय एषोऽर्घः ।' से अर्घ्य देकर–'आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने । जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥' से नमस्कार करे तो आयु, आरोग्य और सौभाग्यकी वृद्धि होती है और ऋण हो तो वह उतर जाता है ।

(५) वारव्रत

(१) **वारव्रत**–(श्रुति, स्मृति, पुराणादि)–सप्ताहमें सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, भृगु और शनि–ये सात वार यथाक्रम हैं और आजके सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतक रहते हैं । तिथ्यादिकी क्षय-वृद्धि अथवा उनके मानका न्यूनाधिक्य होता है, किन्तु वारोंमें ऐसा नहीं होता । जिनके नामसे वार प्रसिद्ध हैं उनके अधिष्ठाता सूर्यादि सात ग्रह आकाशमें प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं । उनमेंसे सूर्य निरञ्जन निराकार ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं और चन्द्रादि छः ग्रहों तथा अन्य सभी तारागणोंको प्रकाशित करते हैं । इसी कारण शास्त्रकारोंने ग्रह-नक्षत्रादि सभीमें परमेश्वरका अंश होना प्रकट किया है और इस कारण उनके निमित्तसे जप, दान, प्रतिष्ठा, पूजा और व्रत आदिके विधान नियत किये हैं । अन्य देवी-देवताओंके व्रतोंकी भाँति सुख-सौभाग्यादिकी उपलब्धिके हेतुसे तो वारोंके व्रत करते ही हैं, साथ ही जन्मलग्न, वर्षलग्न, मासलग्न, उनकी दशा-विदशा, अन्तर-प्रत्यन्तर और गोचराष्टक वर्गादिमें कोई ग्रह अनिष्टकारी हो तो उसकी शान्तिके लिये भी व्रत किये जाते हैं ! इसी विचारसे यहाँ वारोंके व्रत लिखे गये हैं ।·········धर्मशास्त्रोंने जिस प्रकार ग्रहोंमें ईश्वरका अंश निर्धारित किया है उसी प्रकार सुवर्णमें भी ईश्वरका अंश सूचित किया है । इस कारण व्रतादिकी देवपूजामें सुवर्णकी मूर्ति स्थापित की जाती है । रस-शास्त्रमें चाँदीको सुवर्णके रूपमें परिणत करनेके विधान हैं और ताँबा सुवर्णका सहयोगी है इस कारण सोनेके अभावमें चाँदी और चाँदीके अभावमें ताँबा काममें आता है । जो कुछ हो, सबमें ईश्वरका अंश तो विद्यमान है ।

(२) **रविवारव्रत** (व्रतरत्नाकर)– वारोंके व्रतका आरम्भ विशेषकर वैशाख, मार्गशीर्ष और माघमें होता है । अतः मार्ग शुक्लके पहले रविवारको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर 'मम जन्म-वर्ष-मास-दिन-होरा-अष्टकवर्ग-दशा-विदशा-सूक्ष्मदशादिषु येऽनिष्टफलकारकास्तज्जनितजनिष्यमाणाखिलारिष्टायनिष्टक्षटितिप्रशमनपूर्वकदीर्घायुर्बलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं श्रीसूर्यनारायणप्रीतिकामनयाद्यारभ्य यावद्वर्षपर्यन्तं रविवारे रविवारव्रतं करिष्ये ।'—यह संकल्प करके सुवर्णनिर्मित सूर्यमूर्तिका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें अलवण पदार्थोंका एकभुक्त भोजन करे । इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो दाद, कोढ़, नेत्रपीड़ा और दीर्घरोग दूर होते हैं और आरोग्यता बढ़ती है ।

(३) **रविवारव्रत** २ (भविष्यपुराण)—चैत्र या मार्गशीर्षके शुक्ल पक्षमें पहले रविवारको गोबरसे चौका लगाकर उसपर चन्दनसे द्वादशदल पद्म लिखे । उसके मध्यमें सूर्यकी मूर्ति स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे । विशेषता यह है कि चैत्रके व्रतमें 'भानु' नामकी पूजा, घी और पूरीका नैवेद्य, दाड़िमका अर्घ्य, मिठाईका दान और तीन पल (तीन छटाक) दूधका प्राशन (भोजन) । वैशाखमें तपनका पूजन, उड़द और घीका नैवेद्य, दाखका अर्घ्य, उड़दका दान और गोबरका प्राशन । ज्येष्ठमें 'इन्द्र' (सूर्य) का पूजन, दही और सत्तूका नैवेद्य, आम्रफलका अर्घ्य, चावलोंका दान और दध्योदनका भोजन । आषाढ़में 'सूर्य' का पूजन, जायफलका नैवेद्य, चिउड़ाका अर्घ्य, भोजनका दान और तीन काली मिरचोंका प्राशन । श्रावणमें 'गभस्ति' का

पूजन, सत्तू और पूरीका नैवेद्य, चिउड़ेका अर्घ्य, फलोंका दान और तीन मुट्ठी सत्तूका भोजन । भाद्रपदमें 'यम' (सूर्य) का पूजन, घी-भातका नैवेद्य, कूष्माण्डका अर्घ्य, उसीका दान और गोमूत्रका प्राशन । आश्विनमें 'हिरण्यरेता' का पूजन, शर्कराका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, चावल और चीनीका दान और तीन पल चीनीका भोजन । कार्तिकमें 'दिवाकर' का पूजन, खीरका नैवेद्य, केलेका अर्घ्य, खीरका दान और उसीका भोजन । मार्गशीर्षमें 'मित्र' का पूजन, चावलोंका नैवेद्य, घी, गुड़ और श्रीफलका अर्घ्य, गुड़-घीका दान और तीन तुलसीदलोंका भक्षण । पौषमें 'विष्णु' का पूजन, चावल, मूँग और तिलोंकी खिचड़ीका नैवेद्य, बिजौरेका अर्घ्य, अन्नका दान और पावभर घीका भोजन । माघमें 'वरुण' (सूर्य) का पूजन, केलेका नैवेद्य, तिलोंका अर्घ्य, गुड़का दान और तिल-गुड़का भोजन । और फाल्गुनमें 'भानु' का पूजन, दही और घीका नैवेद्य, जँभीरीका अर्घ्य, दही और चावलोंका दान और तीन पल दहीका प्राशन करे । इस विधिमें यम-इन्द्रादिके नाम आये हैं, वे सूर्यके ही नाम हैं । यह व्रत वर्षपर्यन्त करनेके बाद उद्यापन करे तो सब प्रकारके रोग-दोष दूर होते हैं ।

(४) **कुष्ठहर आशादित्य रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—आश्विन शुक्लके रविवारको प्रातःस्नानादि करके 'मम शुभाशासिद्धये आशादित्यव्रतं करिष्ये'से संकल्प करके शुद्ध भूमिमें गोबरसे गोल मण्डल बनाकर केशर और सिन्दूरसे बारह दलका पद्म बनाये । उसके मध्यमें सूर्यकी मूर्ति स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे । इसमें पुष्पार्पण करनेके बाद सूर्याय नमः 'पादौ', वरुणाय 'जङ्घे', माधवाय 'जानुनी', धात्रे 'ऊरू', हरये, 'कटिं', भगाय 'गुह्यं', सुवर्णरेतसे'नाभिं', अर्यम्णे 'जठरं', दिवाकराय 'हृदयं', तपनाय 'कण्ठं' भानवे 'स्कन्धौ', हंसाय 'हस्तौ', मित्राय 'मुखं',रवये 'नासिके',खगाय 'नेत्रे', पूष्णे 'कर्णौ' हिरण्यगर्भाय 'ललाटं', आदित्याय 'शिरः' और भास्कराय नमः 'सर्वांगं पूजयामि' से अंगपूजा करके धूप-दीपादि करे । इसमें 'नमः' और 'पूजयामि' सब नामोंके साथ लगावे । तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे । इस प्रकार एक वर्षतक करके उद्यापन करे । इस व्रतसे कोढ़-जैसी पापजन्य और पीढ़ियोंतक रहनेवाली बीमारियाँ निर्मूल हो जाती हैं । पूजनमें 'यथाशा विमलाः सर्वास्तव भास्कर भानुभिः । तथाशाः सफला नित्यं कुरु मह्यं यमार्चिता ॥' से अर्घ्य दे और 'नमो नमः पापविनाशनाय विश्वात्मने सप्ततुरंगमाय । सामर्ग्यजुर्धामनिधे विधातर्भवाब्धिपोताय नमः सवित्रे ॥' से प्रार्थना करे ।

(५) **सौरधर्मोक्त रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्षसे वर्षपर्यन्त किया जाता है । व्रतीको चाहिये कि व्रतके दिन नदी आदिपर प्रातःस्नान करके देव और पितरोंका तर्पण करे । फिर शुद्ध भूमिमें बारह दलका पद्म लिखकर उसपर हर महीने सूर्यका पूजन करे । प्रकार यह है कि मार्गशीर्षमें 'मित्र' का पूजन, श्रीफलका अर्घ्य, चावलोंका नैवेद्य, गुड़-घीका दान और तीन तुलसीपत्रका प्राशन । पौषमें 'विष्णु' का पूजन, चावल, मूँग और तिलोंकी खिचड़ीका नैवेद्य, बिजौरेका अर्घ्य, घीका दान और तीन पल घीका प्राशन । माघमें 'वरुण' का पूजन, तिल-गुड़का नैवेद्य, ऋतुफलका अर्घ्य, उसीका दान और तीन मुट्ठी तिलोंका प्राशन । फाल्गुनमें 'सूर्य' का पूजन, जँभीरीका अर्घ्य, दही और घीका नैवेद्य, दही और चावलोंका दान और इन्हींका भोजन । चैत्रमें 'भानु' का पूजन, पूरी और घीका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, मिठाईका दान और तीन पल दूधका भोजन । वैशाखमें 'तपन' का पूजन, उड़दके बने हुए घृतयुक्त पदार्थोंका नैवेद्य, दाखका अर्घ्य, घीसहित उड़दोंका दान और गोबरका प्राशन । ज्येष्ठमें 'इन्द्र'का पूजन, करम्भ (दही-सत्तू) का नैवेद्य, उसीका अर्घ्य, (दही-भात)-का दान और तीन अञ्जलि जलका पान । आषाढमें 'सूर्य' का पूजन, चिउड़ेका अर्घ्य, अन्नका दान और तीन काली मिर्चोंका प्राशन । श्रावणमें 'गभस्ति'का पूजन, चिउड़ेका नैवेद्य, फलोंका अर्घ्य, भोजनका दान और तीन मुट्ठी सत्तूका प्राशन । भाद्रपदमें 'यम'का पूजन, घी और चावलका नैवेद्य, कूष्माण्डका अर्घ्य, भोजनका दान और गोमूत्रका प्राशन । आश्विनमें 'हिरण्यरेता'का पूजन, शक्करका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, चावल और शक्करका दान और तीन पल खाँडका प्राशन और कार्तिकमें 'दिवाकर'का पूजन, खीरका नैवेद्य, रम्भाफल (केले) का अर्घ्य, खीरका दान और खीरका भोजन । इस प्रकार बारह महीने करके दूसरे मार्गशीर्षमें उद्यापन और ब्राह्मण-भोजनादि कराकर व्रतका विसर्जन करे तो ब्राह्मणको विद्या, क्षत्रियको राज्य, वैश्यको सम्पत्ति, शूद्रको सुख, अपुत्रको पुत्र, कुमारीको पति, रोगीको आरोग्यता, कैदीको निर्मुक्ति और आशार्थीको आशासाफल्यकी प्राप्ति होती है ।

(६) **दानफल रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह

व्रत आश्विनके शुक्ल रविवारसे माघकी शुक्ल सप्तमीतक किया जाता है। विधि यह है कि प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः।' से सूर्यका ध्यान करके सुवर्णकी सूर्यमूर्तिको पद्मासनपर विराजमानकर 'जगन्नाथाय आवाहनम्, पद्मासनाय आसनम्, ग्रहपतये पाद्यम्, त्रैलोक्यतमोहर्त्रे अर्घ्यम्, मित्राय आचमनीयम्, विश्वतेजसे पञ्चामृतम्, सवित्रे स्नानम्, जगत्पतये वस्त्रम्, त्रिमूर्तये यज्ञोपवीतम्, हरये गन्धम्, सूर्याय अक्षतानि, भास्कराय पुष्पाणि, अहर्पतये धूपम्, अज्ञाननाशिने दीपम्, लोकेशाय नैवेद्यम्, रवये ताम्बूलम्, भानवे दक्षिणाम्, पूष्णे फलम्, खगाय नीराजनम्, भास्कराय पुष्पाञ्जलिम् और सर्वात्मने नमः प्रदक्षिणां समर्पयामि। ('नमः' और 'समर्पयामि' का सब नामोंके साथ उच्चारण करना चाहिये।) इस प्रकार पूजन करके 'दिवाकर नमस्तुभ्यं पापं नाशय भास्कर। त्रयीमयाय विश्वात्मन् गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥' से अर्घ्य दे। फिर प्रथम वर्षमें ५ प्रस्थ (१० सेर) चावल, दूसरेमें ५ प्रस्थ गेहूँ, तीसरेमें ५ प्रस्थ चने, चौथेमें ५ प्रस्थ तिल और पाँचवेंमें ५ प्रस्थ उड़दोंका दान करे और १२ ब्राह्मणोंको भोजन करावे तो इस व्रतके प्रभावसे समृद्धि-वृद्धि और स्त्री-पुत्रादिका सुख मिलता है।

(७) **वैदिक रविवारव्रत** (हंसकल्प)—रविवारके दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'तिथिर्विष्णुस्तथा वारं नक्षत्रं विष्णुरेव च। योगश्च करणं विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥' से पञ्चाङ्गरूप विष्णुका स्मरण करके सूर्यके सम्मुख नतमस्तक हो और अञ्जलि बाँधकर नीचे लिखे मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ साष्टाङ्ग (सम्पूर्ण शरीरको पृथ्वीपर फैलाकर) नमस्कार करे। यथा ॐ ह्रां हंसः, शुचिषन्मित्राय नमः। ॐ ह्रीं वसुरन्तरिक्षसत् रवये नमः। ॐ ह्रूं होतावेदिसत् सूर्याय नमः। ॐ ह्रैं अतिथिर्दुरोणसत् भानवे नमः। ॐ ह्रौं नृषत् खगाय नमः। ॐ ह्रः वरसत् पूष्णे नमः। ॐ ह्रां ऋतसत् हिरण्यगर्भाय नमः। ॐ ह्रीं व्योमसत् मरीचये नमः। ॐ ह्रूं अब्जागोजा आदित्याय नमः। ॐ ह्रैं ऋतजाद्रिजाः सवित्रे नमः। ॐ ह्रौं ऋतमोम् अर्काय नमः। और ॐ ह्रः बृहदोम् भास्कराय नमः। इस प्रकार जितनी आवृत्ति की जा सकें करे और फिर १ घृणिः सूर्य आदित्योम्, २ महाश्वेताय ह्रीं ह्रीं सः। ३ खखोल्काय नमः और ४ ह्रीं ह्रीं सः सूर्यायेति। इन चार मन्त्रोंमेंसे किसी एकका यथासामर्थ्य जप करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इस प्रकार एक वर्ष करके समाप्तिके दिन सूर्योपासक वेदपाठी ब्राह्मणोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रतका विसर्जन करे।

(८) **हृदयरविवारव्रत** (भविष्योत्तर)—यदि सूर्यसंक्रान्तिके दिन रविवार हो तो वह 'हृदय' योग होता है। ऐसे योगमें सूर्यभगवान्का भक्तिपूर्वक पूजन और व्रत करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होकर आदित्यहृदयके १०८ पाठ करे तो सम्पूर्ण काम सिद्ध होते हैं।

(९) **सोमवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत चैत्र, वैशाख, श्रावण, कार्तिक और मार्गमासमें किया जाता है। विशेषकर श्रावणके व्रतका अधिक प्रचार है। व्रतीको चाहिये कि सोमवारके दिन प्रातःस्नान करके 'मम क्षेमस्थैर्यविजयारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं सोमव्रतं करिष्ये।' यह—संकल्प करके 'ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्। पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥' से ध्यान करे। फिर 'ॐ नमः शिवाय'से शिवजीका और 'ॐ नमः शिवायै' से पार्वतीजीका षोडशोपचार पूजन करके समीपके किसी पुष्पोद्यानमें जाकर एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार १४ वर्षतक व्रत करके फिर उद्यापन करे तो इससे पुरुषोंको स्त्री-पुत्रादिका और स्त्रियोंको पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख मिलता है।……प्राचीन कालमें विचित्रवर्माकी पुत्री सीमन्तिनीका पति (नलपुत्र) चित्रांगद नावके उलट जानेसे जलमें डूबकर नागलोकमें चला गया था। वह इसी व्रतके प्रभावसे वापस आकर विचित्रवर्माका उत्तराधिकारी हुआ और बहुत वर्षोंतक राज्य करके स्वर्गमें गया।

(१०) **अर्थप्रद सोमवारव्रत**-(स्कन्दपुराण)—जिस दिन व्रत करनेकी श्रद्धा हो, उस दिन सब सामग्री जुटाकर, स्नान करके, सफेद वस्त्र धारण कर काम-क्रोधादिका त्याग करे। और सुगन्धियुक्त श्वेत पुष्प लाकर मलयनाथका पूजन करे। नैवेद्यमें अभीष्ट अन्नके बने हुए पदार्थ अर्पण करे। फिर 'ॐ नमो दशभुजाय त्रिनेत्राय पञ्चवदनाय शूलिने। श्वेतवृषभारूढाय सर्वाभरणभूषिताय। उमादेहार्धसंस्थाय नमस्ते सर्वमूर्तये।'—इन मन्त्रोंसे पूजा करे और इन्हींसे हवन करे। इसके करनेसे सम्पूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं। ग्रहणादिमें जप-ध्यान, उपासना और दान करने आदि

सत्कार्योंसे जो फल मिलता है वही इस सोमवारके व्रतसे मिलता है। इसके विषयमें मार्गशीर्षके व्रतका फल ऊपर लिखे अनुसार जानना चाहिये। आगे पौषमें अग्निष्टोम यज्ञके समान, माघमें गोदुग्ध और इक्षुरससे स्नान करके ब्रह्महत्यादिसे निवृत्त होनेके समान, फाल्गुनमें सूर्यादिके ग्रहणोंमें गोदान करनेके समान, चैत्रमें गङ्गाजलसे सोमनाथको स्नान करानेके समान, वैशाखमें अपूपादिसे पूजन कर कन्यादान करनेके समान, ज्येष्ठमें पुष्करस्नान करके गोदान करनेके समान, आषाढमें बृहत् यज्ञोंके समान, श्रावणमें अश्वमेधके समान, भाद्रपदमें सवत्स गोदान करनेके समान, आश्विनमें सूर्योपरागके समय कुरुक्षेत्रमें रसधेनु और गुड़धेनु देनेके समान और कार्तिकमें चारों वेदोंके पढ़े हुए चार पण्डितोंको चार-चार घोड़े जुते हुए रथ देनेके समान फल होता है। भाव यह है कि किसी भी महीनेमें सोमवारका व्रत किया जाय तो वह निष्फल नहीं होता।

(११) **श्रावणमासीय सोमवारव्रत** (शिवरहस्य)—श्रावण मासके सोमवारोंमें केदारनाथ जाकर उनका अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादि उपचारोंसे पूजन करे और शक्ति हो तो निराहार उपवास करे। शक्ति न हो तो नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इससे शिवजी प्रसन्न होते हैं और शिवसायुज्य प्रदान करते हैं।

(१२) **भौमवारव्रत** (वीरमित्रोदय)—भौमवारके दिन स्वातिनक्षत्र हो तो उस दिन प्रातःस्नानादि करके भौमकी मूर्तिका लाल पुष्पोंसे पूजन करे; लाल वस्त्रसे आच्छादित करे; गुड़, घी और गोधूमका नैवेद्य भोग लगावे। नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे और भूशयन करे। इस प्रकार छः सोमवार करके सातवेंको भौमकी सुवर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। दो लाल वस्त्रोंसे आच्छादित करे। लालगन्धका लेपन करे। धूप, पुष्प, अक्षत और दीपक रखे। और सफेद कसारका भोग लगाये। घी, चीनी और तिलोंका 'ॐ कुजाय नमः स्वाहा' से हवन करे। और पूजनके पश्चात् ब्राह्मणको भोजन कराकर मूर्ति आदि उसको दे तो भौमजनित सब दोष शान्त होते हैं और अनेक प्रकारके सुखोंकी उपलब्धि होती है।

(१३) **भौमव्रत** (भविष्यपुराण)—मंगलवारके दिन सुवर्णमय भौमका ताम्रपात्रमें स्थापन करके पूजन करे। ताँबेके पात्रको गुड़से भरकर प्रत्येक मंगलवारको दान करता रहे और वर्षकी समाप्तिमें यथाविधि गोदान करे तो परम सुखकी प्राप्ति होती है।

(१४) **भौमव्रत २** (पद्मपुराण)—मङ्गलवारके दिन प्रातःस्नानादि करके ताँबेके त्रिकोण पत्रमें केशर, चन्दन या लालचन्दनसे मध्यमें भौमाकृतिका प्रतिबिम्ब बनाकर तीनों कोणोंमें आर, वक्र और भूमिज—ये तीनों नाम लिखे। फिर उनका लाल वर्णके गन्ध, पुष्प और लाल कमल आदिसे पूजन करे। रक्तधान्य (गेहूँ आदि) के बने हुए पदार्थोंका नैवेद्य अर्पण करे और 'प्रसीद देवदेवेश विघ्नहर्तर्धनप्रद। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मम शान्तिं प्रयच्छ हे॥' से अर्घ्य देकर व्रत करे। और 'मङ्गलो[1] भूमिपुत्रश्च[2] ऋणहर्ता[3] धनप्रदः[4]। स्थिरासनो[5] महाकायः[6] सर्वकामार्थसाधकः[7]॥ लोहितो[8] लोहिताक्षश्च[9] सामगानां[10] कृपाकरः। धरात्मजः[11] कुजो[12] भौमो[13] भूमिजो[14] भूमिनन्दनः[15]॥ अङ्गारको[16] यमश्चैव[17] सर्वरोगापहारकः[18]। वृष्टिकर्ता[19]पहर्ता[20] च सर्वकामफलप्रदः[21]॥'—इन २१ नामोंका पाठ करे तो सब प्रकारके ऋणसे उऋण होकर धनवान् होता है।

(१५) **भौमव्रत ३** (पद्मपुराण)—मङ्गलवारके दिन लाल अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय भौमकी मूर्ति स्थापित करके लाल रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और 'भूमिपुत्रो महातेजाः कुमारो रक्तवस्त्रकः। गृहाणार्घ्यं मया दत्तमृणशान्तिं प्रयच्छ हे॥' से अर्घ्य दे। और पूजनके स्थानमें चार बत्तियोंका दीपक जलावे। ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनको यथाशक्ति सुवर्णका दान करे। और स्वयं किसी एक पदार्थका भोजन करके एकभुक्त व्रत करे। और वायनमें लाल बैलका दान करे। इस प्रकार इक्कीस व्रत करके उद्यापन करनेसे सब प्रकारकी आपदाएँ नष्ट होकर सुख मिलता है और जीवनपर्यन्त पुत्र-पौत्र और धनादिसे युक्त रहकर अन्तमें सूर्यादिके लोकमें चला जाता है। (अधिकांश मनुष्य मङ्गलवारके दिन किसी भी समय और किसी भी पदार्थका भोजन करके इस व्रतको सम्पन्न करते हैं।)

(१६) **बुधव्रत** (भविष्योत्तर)—आरम्भके व्रतमें विशाखायुक्त बुधवारको प्रातःस्नानादि करके बुधकी सुवर्णमयी मूर्तिको कांस्यपात्रमें स्थापन करके सुगन्धयुक्त गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दो सफेद वस्त्र धारण करावे। गुड़, दही और भातका नैवेद्य अर्पण करके उसी पदार्थका ब्राह्मणोंको भोजन करावे और 'बुध त्वं बुद्धिजनको बोधदः

सर्वदा नृणाम् । तत्त्वावबोधं कुरुषे सोमपुत्र नमो नमः ॥' से बुधकी प्रार्थना करे । इस प्रकार सात व्रत करनेसे बुध-जनित सम्पूर्ण दोष दूर होकर सुख-शान्ति मिलती है और बुद्धि बढ़ती है ।

(१७) गुरुव्रत (भविष्यपुराण)—किसी महीनेके शुक्ल पक्षमें जिस दिन अनुराधा और गुरुवार हो उस दिन बृहस्पतिकी सुवर्णनिर्मित मूर्तिको सोनेके पात्रमें स्थापित करके पीतवर्णके गन्ध-पुष्प, पीताम्बर और अक्षतादिसे पूजन करे । छत्र, उपानह्, पादुका और कमण्डलु अर्पण करे । और पीतरंगके फल-पुष्प और यज्ञोपवीत ग्रहण करके 'धर्मशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ ज्ञानविज्ञानपारग । विविधार्तिहराचिन्त्य देवाचार्य नमोऽस्तु ते ॥' से प्रार्थना करके ब्राह्मणोंको पीली गौके घीमें बनाये हुए पीतधान्य (चने) के पदार्थोंका भोजन करावे, सुवर्णकी दक्षिणा दे और फिर स्वयं भोजन करे । इस प्रकार सात व्रत करनेसे गुरुग्रहसे उत्पन्न होनेवाला अनिष्ट नष्ट होकर स्थायी सुख मिलता है ।

(१८) शुक्रवारव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—शुक्र-वार और ज्येष्ठा नक्षत्रके योगमें सुवर्णनिर्मित शुक्रमूर्तिको चाँदी या काँसीके पात्रमें स्थापित करके सुश्वेत गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । दो सफेद वस्त्र धारण करावे और 'भार्गवो भृगुशिष्यो वा श्रुतिस्मृतिविशारदः । हत्वा ग्रहकृतान् दोषा-नायुरारोग्यदो भव ॥' से प्रार्थना करके नक्तव्रत (रात्रि-भोजन) करे । इस प्रकार सात शुक्रवारोंका व्रत करके शुक्रके नाममन्त्रसे हवन करे । ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराकर मूर्तिसहित पूजन-सामग्रीका दान करे और नक्तव्रत करके उसे समाप्त करे तो शुक्रजनित सम्पूर्ण व्याधियाँ शान्त होकर सब प्रकारका सुख मिलता है ।

(१९) अनिष्टहर शनिव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—शनिवारको लोहमयी शनिमूर्तिका कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके व्रत करे तो चतुर्थाष्टमद्वादशस्थशनिजनित सकलारिष्टोंकी निवृत्ति और सुख-सम्पत्ति आदिकी प्रवृत्ति होती है ।

(२०) सराहुकेतुशनिवारव्रत (मत्स्यपुराण, भविष्य-पुराण)—इस व्रतके लिये लोह और शीशेकी शनि, राहु और केतुकी तीन मूर्तियाँ बनवावे । उनमें कृष्ण वर्ण, कृष्ण वस्त्र, दो भुजाओंमें दण्ड और अक्षमाला, कृष्ण वर्णके आठ घोड़ोंवाले शीशेके रथमें बैठे हुए शनि, करालवदन, खड्ग, चर्म और शूलसे युक्त, नीले सिंहासनमें विराजमान, वरप्रद राहु और धूम्रवर्ण, भुजदण्डोंमें गदादि आयुध, गृध्रासनपर विराजे हुए विकटानन और वरप्रद 'केतु' की मूर्ति हो । ऐसी न हो तो गोलाकार बनवावे । फिर उनको कृष्ण वर्णके अक्षतोंसे बनाये हुए चौबीस दलके कमलपर मध्यमें शनि, दक्षिण भागमें राहु और वाम भागमें केतुको स्थापित करे और कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे । रक्त चन्दनमें केशर मिलाकर 'कृष्ण गन्ध', अक्षतोंमें कज्जल मिलाकर 'कृष्ण अक्षत', काकमाची (कागलहर) के 'कृष्ण पुष्प', कस्तूरी आदिका 'कृष्णरंग धूप' और तिलविशिष्ट पदार्थोंका 'कृष्ण नैवेद्य' सम्पन्न करके अर्पण करे और 'शनैश्चर नमस्तुभ्यं नमस्ते त्वथ राहवे ।' तथा—'केतवेऽथ नमस्तुभ्यं सर्वशान्तिप्रदो भव ॥' से प्रार्थना करके व्रत करे । इस प्रकार सात शनिवारोंका व्रत करके शनिके निमित्त 'शन्नोदेवी०' मन्त्रसे शमीकी समिधाओंमें राहुके निमित्त 'कयानश्चित्र०' मन्त्रसे दूर्वाकी समिधाओंमें और केतुके निमित्त 'केतुकृण्वन्न०' मन्त्रसे कुशाकी समिधाओंमें कृष्ण गौके घी और काले तिलोंकी प्रत्येककी १०८ आहुति देकर हवन करे । और यथा-शक्ति ब्राह्मणभोजन कराकर व्रतका विसर्जन करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट या आधि-व्याधियोंका सर्वथा नाश होता है और अनेक प्रकारके सुखसाधन एवं पुत्र-पौत्रादिका सुख प्राप्त होता है ।

---

१. शनैश्चरं राहुकेतू लोहपात्रे व्यवस्थितान् ।
कृष्णागुरुः स्मृतो धूपो दक्षिणा चात्मशक्तितः ॥
(भविष्योत्तर)
'कृष्णायसेन घटितां ग्रहराजमूर्तिम् ।'

२. कृष्णवासास्तथा कृष्णः शनिः कार्यः शिरालतः ।
दण्डाक्षमालासंयुक्तः करद्वितयभूषणः ।
कार्ष्णायसे रथे कार्यस्तथैवाष्टतुरंगमे ॥ (भविष्योत्तर)

३. करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः ।
नीलसिंहासनयुतो राहुरत्र प्रशस्यते ॥
(मत्स्यपुराण)

४. धूम्राद्विबाहवः सर्वे गदिनो विकटाननाः ।
गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः ॥
(मत्स्यपुराण)

(२१) शान्तिप्रद शनिव्रत (मदनरत्न)—श्रावणके महीनेमें श्रेष्ठ शनिवारके दिन लोहनिर्मित शनिको पञ्चामृतसे स्नान कराके अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, अष्टाङ्ग धूप, फल और उत्तम प्रकारके नैवेद्य आदि उपचारोंसे पूजन करे। और 'कोणस्थः पिङ्गलो०' आदि दस नामोंका उच्चारण करके पहले शनिवारको उड़दोंका भात और दही, दूसरेको केवल खीर, तीसरेको खजला और चौथेको घृतपक्व पूरियोंका नैवेद्य अर्पण करे और तिल, यव (जौ), उड़द, गुड़, लोह और नीले वस्त्रोंका दान करके व्रतका विसर्जन करे तो शनि, राहु और केतुकृत दोष दूर होते हैं।

(६) तिथि-वारादि पञ्चाङ्गव्रत

(२२) तिथि-वार-नक्षत्रव्रत (कालोत्तरागम)—किसी भी महीनेमें १—चतुर्दशी, रविवार और रेवती हो या अष्टमी और मघा हो तो 'रविव्रत' करके अनेक प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे शिवजीका पूजन कर तिलोंका प्राशन करे तो पुत्रादिसहित आरोग्य रहे। २—अष्टमी, सोमवार और रोहिणी हो तो शिवपूजन करके घी-खीरका भोजन कर 'सोम' व्रत करे तो सम्पूर्ण कार्मोंमें सफलता मिले। ३—चतुर्दशी, मङ्गलवार और अश्विनी हो या मङ्गलवार और भरणी हो तो शिवजीका पञ्चोपचार पूजन करके रक्तोत्पल (लाल कमल) का प्राशन कर 'भौम' व्रत करे तो साम्राज्य मिले। ४—चतुर्दशी, बुधवार और रोहिणी हो या बुधाष्टमी हो तो महाभिषेकसे शिवपूजन करके घी-खीरका भोजन कर 'बुध'व्रत करे तो धन, पुत्र, दारा (स्त्री) और पशुओंकी वृद्धि हो। ५—चतुर्दशी, गुरुवार और रेवती हो या अष्टमी और पुष्य हो तो शिवका पूजन करके गोघृतके योगसे ब्राह्मी रसका प्राशन करे तो वागीशत्वकी प्राप्ति हो। ६—चतुर्दशी, भृगुवार और श्रवण हो या अष्टमी और पुनर्वसु हो तो शिवपूजन करके 'शुक्रव्रत' के निमित्त शहदका प्राशन करे तो महाफल मिले। और ७—चतुर्दशी, शनिवारको भरणी या अष्टमी और आर्द्रा हो तो पूर्वोक्त प्रकारसे शिवपूजन करके 'शनिव्रत' के निमित्त सस्य (अन्न) का भोजन करे तो सर्वोत्तम फलकी प्राप्ति हो। सूर्यादिमें जो अनिष्टकारी हों या जिनका व्रत अभीष्ट हो उपर्युक्त प्रकारके योगमें उनका व्रत करे और सोना, चाँदी, मूँगा, मोती, शङ्ख और लोह—इनको यथोचित प्रकारसे यथा-योग्य धारण करे।

१. कोणस्थः पिङ्गलो बभ्रुः कृष्णो रौद्रोऽन्तको यमः।
सौरिः शनैश्चरो मन्दः प्रीयतां मे ग्रहोत्तमः॥

(२३) नक्षत्रव्रत (भविष्यपुराण)—लोकहित अथवा आत्मोद्धारके निमित्तसे अश्विनी आदि नक्षत्रोंका या तदधिष्ठातृ अश्विनीकुमारादि देवोंका व्रत करना हो तो १—अश्विनीमें अश्विनीकुमारोंका, २—भरणीमें यमका, ३—कृत्तिकामें अग्निका, ४—रोहिणीमें ब्रह्माका, ५—मृगशिरामें चन्द्रमाका, ६—आर्द्रामें शिवका, ७—पुनर्वसुमें अदिति (देवताओंकी माता) का, ८—पुष्यमें बृहस्पतिका, ९—श्लेषामें सर्पका, १०—मघामें पितरोंका, ११—पूर्वाफाल्गुनीमें भगका, १२—उत्तराफाल्गुनीमें अर्यमाका, १३—हस्तमें सूर्यका, १४—चित्रामें त्वष्टा (इन्द्र) का, १५—स्वातीमें वायुका, १६—विशाखामें इन्द्र और अग्निका, १७—अनुराधामें मित्रका, १८—ज्येष्ठामें इन्द्रका, १९—मूलमें राक्षसोंका, २०—पूर्वाषाढामें जलका, २१—उत्तराषाढामें विश्वेदेवोंका, २२—अभिजित्‌में ब्रह्माका, २३—श्रवणमें विष्णुका, २४—धनिष्ठामें वसुका, २५—शतभिषामें वरुणका, २६—पूर्वाभाद्रपदीमें अजैकपादका, २७—उत्तराभाद्रपदीमें अहिर्बुध्न्यका और २८—रेवतीमें पूषाका उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, फल, फूल, भक्ष्य, भोज्य और दूध, दही आदिसे पूजन करे और एकभुक्त या नक्तव्रत करे तो धन, दारा, सुत, सम्मान, आरोग्यता और आयुवृद्धि आदि सुख प्राप्त होते हैं।

(२४) योगव्रत (हेमाद्रि)—तिथि, वार और नक्षत्रोंके साथ विष्कुम्भादिका सहयोग होनेसे विशेष प्रकारके शुभाशुभ प्राप्त होते हैं। उनकी शान्ति और उपलब्धिके लिये योगोंके व्रत और दान आवश्यक होते हैं। व्रतीको चाहिये कि अभीष्ट योगके दिन साक्षात् सूर्यका अथवा सुवर्णनिर्मित सूर्यमूर्तिका पञ्चोपचारसे पूजन करके व्रत करे और अभीष्ट योगके पदार्थोंका दान करे। पदार्थ ये हैं—विष्कुम्भमें घी, प्रीतिमें तैल, आयुष्मान्‌में फल, सौभाग्यमें गन्ने, शोभनमें जौ, अतिगण्डमें गेहूँ, सुकर्मामें चने, धृतिमें निष्पाव (हलुआ), शूलमें शालि (चावल), गण्डमें लवण, वृद्धिमें दही, ध्रुवमें दूध, व्याघातमें वस्त्र, हर्षणमें सुवर्ण, वज्रमें कम्बल, सिद्धिमें गौ, व्यतीपातमें वृष, वरीयान्‌में क्षेत्र, परिघमें दो उपानह् (जूते), शिवमें कपूर, सिद्धिमें कुंकुम, साध्यमें चन्दन, शुभमें पुष्प, शुक्लमें लोह, ब्रह्ममें ताँबा, ऐन्द्रमें काँसी और वैधृत्यमें चाँदी दे तो यथोचित फल होता है।

(२५) व्यतीपातव्रत (वाराहपुराण)—ऊपरके परिलेखमें इस योगका नाम आया है। ज्यौतिषशास्त्रके अनुसार सूर्य और चन्द्रमाके गणितसे व्यतीपातका आरम्भ और समाप्ति

सूचित होते हैं। पुराणोंमें इसकी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमाके क्रोधपातसे प्रकट की गयी है।······लिखा है कि एक बार सूर्यनारायणने चन्द्रमाको गुरुपत्नी (तारा) के त्यागकी आज्ञा दी, उसको शशिने स्वीकार नहीं किया, इस कारण दोनोंके परस्पर क्रोध बढ़ गया और उसके सन्तप्त अश्रु पृथ्वीपर गिर गये। उनसे व्यतीपात उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि क्रोधपातसे उत्पन्न होनेके कारण विवाहादि शुभकार्मोंमें इसका त्याग किया गया है और लोकोपकार एवं आत्मोद्धारके दान-पुण्य और व्रतादिमें इसका ग्रहण किया गया है।······ व्रतीको चाहिये कि किसी शुभ दिनके व्यतीपातको प्रातः-स्नानादिसे निवृत्त होकर 'मम करिष्यमाणोपवासजनितानन्त-फलप्राप्तिकामनया सवितृप्रीतये व्यतीपातव्रतं करिष्ये।'— यह संकल्प करके सुवर्णके सूर्य और चन्द्रमाको शक्करसे भरे हुए कलशके शीर्षस्थानीय पूर्ण पात्रमें स्थापित करे और आवाहनादि उपचारोंसे पूजन करके उपवास करे। दूसरे दिन पारण करके प्रथमावृत्ति समाप्त करे। इस प्रकार बारह महीनेतक प्रत्येक व्यतीपातका व्रत करके तेरहवीं आवृत्तिके दिन उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्र-मण्डलपर सुवर्णमय विष्णुका पूजन, तिलादिका हवन; गौ, शय्या, सुवर्ण, अन्न, धन, आभूषण और यथोचित वस्त्र आदिका दान करके खीर आदि पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर और यथासामर्थ्य दक्षिणा देकर व्रतको समाप्त करे और बन्धुवर्गादिको साथ लेकर भोजन करे तो गङ्गादि तीर्थों, कुरुक्षेत्रादि सुक्षेत्रों और अयोध्या आदि पुरियोंमें ग्रहण, संक्रान्ति, मलमास और पञ्चाङ्गजनित सुयोगोंके समय दान, जप और व्रतादि करनेसे जो फल होता है उससे अनेक गुना अधिक फल व्यतीपातके व्रतादिसे होता है।······इसकी कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें हर्यश्व राजाने बहुत दिनोंतक उक्त व्रत किया था। एक बार उसने शिकारके प्रयोजनसे गहन वनमें जाकर जले हुए अंगवाले एक शूकरसे पूछा कि 'तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?' तब उसने कहा कि पूर्व जन्ममें मैं पुराणादि धर्मशास्त्रोंको सुननेवाला महाधनी वैश्य था। परन्तु किसीको कुछ देता न था। ऐसी अवस्थामें एक आशार्थी ब्राह्मणने मुझसे याचना की तो मैंने उसे कुछ भी नहीं दिया, तब उसने कहा कि तुमने मेरी आशाओंको जलाया है, इस कारण आगे तुम्हारे भी ये अंग जल जायँगे। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। अब यदि आप अपने किये हुए व्यतीपातके व्रतोंका फल मुझे दे दें तो मैं अपनी पूर्व अवस्थाको प्राप्त हो सकता हूँ। तब राजाने वैसा ही किया और शूकर यथापूर्व होकर सुख भोगने लगा।

(२६) **करणव्रत** (हेमाद्रि)—माघ शुक्लमें बव करण हो, उस दिन उपवास करके ताँबेके पात्रमें तण्डुल भरकर उनपर कलश स्थापन करे और उसके पूर्णपात्रमें सुवर्णकी बनी हुई अच्युत भगवान्‌की मूर्ति रखकर उसका गन्धादि उपचारोंसे पूजन करके अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय) मन्त्रका जप करे। इस प्रकार छः बार करके सातवेंमें उद्यापन करे। उसमें सात ब्राह्मणोंको भोजन कराके दक्षिणा दे। और इसी प्रकार बालव आदि शेष करणोंके व्रत भी करे तो यज्ञ-सम फल होता है।

(२७) **भद्राव्रत** (भविष्योत्तर)—बवादि करणोंमें ग्यारहवाँ करण भद्रा है। इसमें प्रायः सभी प्रकारके मङ्गल और महोत्सवादि न तो आरम्भ होते हैं और न समाप्त। यदि प्रमादवश किये जायँ तो उनमें बड़े विघ्न होते हैं और वे दुःखदायी बन जाते हैं। पुराणोंमें भद्राको मार्तण्ड (सूर्य) की पुत्री और शनिकी बहिन नियत की है और सब प्रकारके माङ्गलिक या अभ्युदयकारी कामोंमें इसकी उपस्थिति निषिद्ध बतलायी है। विशेषता यह है कि इसके निमित्तसे जो कुछ व्रत-दान या जपादि किये जायँ उनका उत्तम फल होता है।······व्रतीको चाहिये कि जिस दिन उदयकी भद्रा हो उस दिन नदी, तालाब या गृहमध्यमें सर्वौषधिके जलसे स्नान करके देवताओंका पूजन और पितरोंका श्राद्ध (मातृका-पूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध) करे। तत्पश्चात् भीगी हुई कुशा (डाभ) की त्रिकोण (या तीन ग्रन्थि) युक्त भद्रा बनाकर उसको अक्षतोंके अष्टदलपर विराजमान कर ऋतु-कालके गन्ध, पुष्प, फल, धूप, दीप और तिलप्रयुक्त खीरके नैवेद्य आदिसे पूजन करके 'छायासूर्यसुते देवि विष्टे इष्टार्थ-नाशिनि। पूजितासि मया शक्त्या भद्रे भद्रप्रदा भव॥' से प्रार्थना करे। फिर घी, तिल और शर्करासे 'ॐ भद्रं कर्णेभिः' या 'ॐ भद्राय नमः'—इन मन्त्रोंकी १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको तिल और खीरका भोजन कराकर दक्षिणा दे और स्वयं तेल और खिचड़ीका एकभक्त भोजन करे। इस प्रकार सात या दस बार क्रमशः करके उद्यापन करे तो व्रतीको भूत-प्रेत-पिशाचादिसे कोई भय नहीं हो और न अन्य प्रकारकी रोग-पीड़ा या भय-चिन्ता आदिकी बाधा हो।

(२८) **विष्टिव्रत** (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर 'भद्रे भद्राय भद्रं हि

करिष्ये व्रतमेव ते। निर्विघ्नं कुरु मे देवि कार्यसिद्धिं च भावय ॥'—यह संकल्प करके विद्वान् ब्राह्मणका पूजन करे। साथ ही लोह, पाषाण या काष्ठकी भद्रा बनवाकर उसे अष्टदलके आसनपर प्रतिष्ठित करे और पूर्वोक्त प्रकारसे पूजन, हवन, ब्राह्मणभोजन और दान आदि करके व्रत करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेके पश्चात् उद्यापन करके विसर्जन करे। उस अवसरमें 'अज्ञानादथ वा दर्पात्त्वामुल्लङ्घ्य कृतं हि यत्। तत्क्षमस्वाशुभं मातर्दीनस्य शरणार्थिनः ॥' से प्रार्थना करके ब्राह्मणके किये हुए अभिषेकसे अभिषिक्त हो तो सब प्रकारकी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और उत्तम प्रकारके सुख और उनके साधन उपस्थित रहते हैं। इस व्रतको वृत्रासुरके मारनेके लिये इन्द्रने, त्रिपुरासुरको मारनेके लिये शिवने, विमानके लिये वरुणने और पाञ्चजन्य (शंख) के लिये विष्णुने किया था। इससे उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हुए थे।

(७) प्रकीर्णव्रत

(२९) **मौनव्रत** (शिवधर्म)-इसके निमित्त चन्दनकी शिवमूर्ति (अण्डाकार शिवलिङ्ग) बनवावे। उसका गोमय, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत और गोलोचन नामकी औषधके जलसे प्रोक्षण करे। फिर शिवमन्दिरके शान्तिकारी एकान्तस्थानमें शुभासनपर बैठकर सुगन्धयुक्त गन्ध, पुष्प, गोरोचन, धूप, दीप, नैवेद्य और नीराजनादिसे पूजन करके हाथ, पैर और मस्तकको भूमिमें लगाकर प्रणाम करे। यदि सामर्थ्य हो तो मन्दिरके मध्य भागमें शिवजीके आगे सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसी और लोह—इनमेंसे किसी भी धातुका या सबके यथोचित योगका विजयघंट बनवाकर लगावे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको घी, सब्जी और मण्डक (रोटीविशेष) का भोजन करवाकर दक्षिणा दे और चन्दनकी उक्त मूर्तिको ताम्रपात्रमें स्थापित कर मस्तकपर धारण करके घर आवे और वहाँ उसको मध्यस्थ देवके दक्षिण भागमें प्रतिष्ठित करके गन्ध-पुष्पादिसे पुनः पूजन करे। इसके बाद काम-क्रोधादिका त्याग करके स्थिरासनसे उपविष्ट होकर (भलीभाँति बैठकर) 'मौनव्रत' धारण करे। उस अवस्थामें किसी प्रकारके शब्द-संकेत या बातचीतको सुनकर 'हाँ-हाँ, हूँ-हूँ'-जैसे (स्वीकृति और निषेधके) अक्षरोंका उच्चारण भी न होने दे। ऐसा हो जाय मानो नेत्रोंसे कोई भी दृश्य दीखता नहीं (या देखना नहीं) और कानोंसे कोई शब्द सुनता नहीं (या सुनना नहीं)। ···इस प्रकार बारह, छः, तीन या एक महीने अथवा इससे भी कम पंद्रह, बारह, छः, तीन या एक दिन—जैसी सामर्थ्य और अवकाश हो, वैसा ही व्रत करे तो सब प्रकारके अभिलषित अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं और शरीरकी बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों परिस्थितियाँ महत्त्वसम्पन्न बन जाती हैं। ऋषि-मुनियोंने इसी मौनव्रतके प्रभावसे शास्त्ररचनाके द्वारा संसारका महान् उपकार किया था और अमिट तपोधनका अमित सञ्चय करके स्वर्गमें गये थे।

(३०) **शत्रुनाशकव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—जिस दिन भरणी या कृत्तिका हो, उस दिन श्वेत रंगके गन्धयुक्त गन्ध-पुष्पादिसे वासुदेवका पूजन करके सर्षपका हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन, वस्त्र और आयुध देकर व्रत करे तो मनुष्य विजयी होता है।

(३१) **लक्षपूजाव्रत** (ब्रह्माण्डपुराण)— किसी महीनेकी कृष्ण चतुर्दशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् रात्रिके आरम्भमें पुनः स्नान करके यथोचित[1] गुणोंसे युक्त और वर्जित[2] दोषोंसे विमुक्त विद्वान्का वरण कर स्त्री और पुत्रसहित पूजाका आरम्भ करे। उसके लिये मालती, केतकी, चमेली, टेसू (पलास-कुसुम), पाढल (गुलाब) और कदम्ब आदिके जितने पुष्प मिल सकें लाकर सुविधाके स्थानमें रख दे। और विविध प्रकारके अन्न और अखण्डित अक्षत (चावल) लेकर साम्ब शिवका विधिवत् पूजन करे और 'ॐ नमः शिवाय' के उच्चारणके साथ एक-एक पुष्प उनके अर्पण करे। उनमें दस-दस हजारकी दस आवृत्तियाँ करके प्रत्येक आवृत्तिके पश्चात् स्वर्णपुष्प अर्पण करे। इस प्रकार एक ही दिनमें या दो दिनमें अथवा तीन दिनमें या जिस प्रकार पुष्प प्राप्त हों, उतने दिनमें लक्ष पुष्प अर्पण करके समाप्तिमें सुवर्णका १ बिल्वपत्र······ शिवके और सोनेका एक पुष्प शिवाके अर्पण करे। इसके पीछे 'विरूपाक्ष महेशान विश्वरूप महेश्वर। मया कृतां लक्षपूजां गृहीत्वा वरदो भव ॥' से प्रार्थना करके 'मृत्युञ्जयाय यज्ञाय देवदेवाय शम्भवे। आश्विनेशाय शर्वाय महादेवाय ते नमः ॥'

---

१. धर्मज्ञं दोषरहितं सन्तुष्टं परिपूज्य च।
आचार्यं वरयेत्प्राज्ञः सुस्नातो भूषितो व्रती ॥ (ईश्वर)

२. ह्रस्वं च वृषलं दीनमतिदीर्घजटं तथा।
देवतानभिसक्तं च बधिरं ············ ॥
वेदहीनं दुराचारं मलिनं बहुभाषिणम्।
निन्दकं पिशुनं दुष्टमन्धकं च विवर्जयेत् ॥ (ईश्वर)

से नमस्कार करे । इसके करनेसे गोहत्या, ब्रह्महत्या, गुरु-स्त्रीगमन, मद्यपान और परधनका अपहरण आदि पापोंका नाश होता है और मनुष्य सब प्रकारसे सुखी रहता है। इसके उद्यापनमें यह विशेषता है कि हवनमें विष्णुसहस्रनामसे आहुति दे और दशांश हवन करके पूजनको समाप्त करे ।

(३२) **लक्षतुलसीदलार्पणव्रत** (भविष्यपुराण)—कार्तिक या माघमें भगवान्‌के तुलसीदल अर्पण करे और माघ या वैशाखमें (अथवा कार्तिकका माघमें और माघका वैशाखमें) उद्यापन करे । पत्रार्पणकी क्रिया यह है कि वृन्दा (तुलसी) के वनमें जाकर तुलसीके उत्तम और समान आकारके एक हजार पत्र लाये । उनमें गन्धसे विष्णुका नाम लिखे । पीछे शालग्रामजीका तथा नामाङ्कित तुलसीपत्रोंका गन्धाक्षतसे पूजन करे । उस समय स्नान कराकर गन्ध और अक्षत अर्पण करे और पुष्पार्पणके पहले विष्णुसहस्रनामके एक-एक नामसे एक-एक तुलसीपत्र भगवान्‌के अर्पण करे । इस प्रकार सौ दिनमें लक्षदल अर्पण करके यथाविधि हवन आदि करे तो इससे सम्पूर्ण प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं ।

(३३) **लक्षप्रणामव्रत** (वसिष्ठाम्बरीषसंवाद)—आषाढ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का विधिवत् पूजन करे और विनयावनत होकर भगवान्‌के नामस्मरणसहित एक-एक करके जितने बन सकें प्रणाम करे और एकभुक्त व्रत करके अतिथि आदिका सत्कार करे । इस प्रकार चार महीनेमें एक लाख नमस्कार पूर्ण करके कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको उद्यापन करे तो अभक्ष्यभक्षण, अगम्यागमन, अदृश्य-दर्शन, अपेयपान और अनृतभाषण आदिसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्यका उदय होता है ।

(३४) **लक्षप्रदक्षिणाव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—आषाढ शुक्ल एकादशीसे कार्तिक शुक्ल एकादशीपर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् वेदमन्त्रों (पुरुषसूक्तके मन्त्रों) से पूजन करके 'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने' या 'केशवाय नमः' आदि किसी नामके उच्चारणसे भगवान्‌की प्रदक्षिणा करे । इस प्रकार यथाक्रम एक लक्ष पूर्ण होनेके पश्चात् उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन और विसर्जन करे तो पूर्व-जन्म, वर्तमान-जन्म और पुनर्जन्म (इन तीन जन्मों) के पाप दूर हो जाते हैं और सुख-शान्तिके साथ सानन्द जीवन व्यतीत होता है ।

(३५) **लक्षवर्तिप्रदानव्रत** (भविष्यपुराण)—जिस समय श्रद्धा, सुविधा और अवकाश हो उस समय कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर तैलपूर्ण दीपकोंमें (एक-एक) रक्खे। और उनका पंक्तिरूपमें प्रज्वालन करके शिव, केशव या हनूमान् आदि किसी भी अभीष्ट देवके मन्दिरमें सुचारुरूपसे स्थापित करके नक्तव्रत करे । इस प्रकार एक, तीन या पाँच आवृत्तियोंमें लक्ष दीपदान पूर्ण करके उद्यापन करे तो इससे देवलोककी प्राप्ति होती है ।

(३६) **लक्षवर्तिदानव्रत** (वायुपुराण)—किसी भी शुभ दिनमें कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर उनको घृत-प्लावित करे (भलीभाँति भिगोये) और उनमेंसे शत, सहस्र या अयुत (जैसी सुविधा और अनुकूलता हो) मन्दिरमें देकर एक लाख पूर्ण करे तो बड़ा पुण्य होता है, सब प्रकारके उपद्रव शान्त हो जाते हैं और देवलोककी प्राप्ति होती है ।

(३७) **गोपद्मव्रत** (भविष्यपुराण)—आषाढ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् गौके निवासस्थानको गोबरसे लीपकर उसमें ३३ पद्म (कमल) स्थापन करके उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और ३३ अपूप (पूए) भोग लगाकर उतने ही अर्घ्य, प्रदक्षिणा और प्रणाम अर्पण कर व्रत करे । इस प्रकार कार्तिक शुक्ल एकादशी-पर्यन्त प्रतिदिन करनेके पश्चात् द्वादशीको पहले वर्षमें पूए, दूसरेमें खीर और पूए, तीसरेमें मँडके, चौथेमें गुड़ और मँडके और पाँचवेंमें घृतपाचित (घीमें पकाये हुए) मण्डकोंसे पारण करके उद्यापन करे तो जीवनपर्यन्त सुख-सम्पत्तिसे युक्त रहता है और परलोकमें स्वर्गीय सुख प्राप्त होते हैं ।

(३८) **धारणपारणव्रत** (भविष्योत्तर)—देव-शयनीसे देवप्रबोधिनीपर्यन्त (चातुर्मास्यके चार महीनोंमें) प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का स्तवन, पूजन या स्मरण करके 'ॐनमो नारायणाय' अथवा 'ॐनमो भगवते वासुदेवाय'का मानसिक जप करे । और धारणके दिन (जित-क्रोधादि होकर) उपवास करे और पारणके दिन एकभुक्त भोजन करे । इस प्रकार कार्तिकी पूर्णिमापर्यन्त करके उद्यापन करे तो ब्रह्महत्या-जैसे महापाप भी उतर जाते हैं ।

(३९) **अश्वत्थोपनयनव्रत** (शौनक)—वृक्षारोपणके शुभ दिवसमें पुरुष जातिके पीपलका रोपण करे । उसको आठ वर्षपर्यन्त जल आदि पोषणोंसे दीर्घजीवी बनावे ।

और ज्योतिःशास्त्रोक्त उत्तम मुहूर्तमें अश्वत्थका उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) करे। उसके लिये वेदपाठी ब्राह्मणोंका वरण करके गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके गायन, वादन, नर्तनकी तथा स्त्रीसमाज और बन्धु-बान्धवोंसहित अभीष्ट पीपलके ईशान कोणमें बैठकर पुण्याहवाचन करे। पीपलको पञ्चामृत (दूध, दही, घी, खाँड और शहद) से स्नान कराये। धोती और अँगोछा धारण कराये। उसके पीछे मूँजकी मेखलाको अश्वत्थको तीन बार लपेटे और 'यज्ञोपवीतं०'से यज्ञोपवीत धारण कराकर दण्ड और कृष्णाजिन उसके समीप रक्खे। फिर उससे पश्चिममें उपस्थित होकर गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करे और उससे पूर्वमें अपनी पद्धतिके विधानसे हवन करे। इसमें 'इन्द्राय', 'अग्नये', 'सोमाय', 'प्रजापतये' आदिके अनन्तर 'अश्वत्थेवो०', 'ॐ या ओषधी०' और 'वनस्पतये०'—इन मन्त्रोंसे तीन-तीन आहुतियाँ और दे फिर अश्वत्थसे पश्चिममें पूर्वाभिमुख बैठकर दहिने हाथसे अश्वत्थको स्पर्श करके उसको तीन बार गायत्री-मन्त्र श्रवण करावे। पीछे हवनको समाप्त कर सवत्सा गौ, अन्न और पूजन-सामग्री आदिका दान करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो लक्ष्मीकी प्राप्ति और कुलका उद्धार होता है।

(४०) अश्वत्थप्रदक्षिणाव्रत (अद्भुतसागर)–किसी शुभ दिनमें प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकमायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं विष्णुस्वरूपमश्वत्थतरुममुकसंख्याकाभिः प्रदक्षिणाभिः सेविष्ये।'—यह संकल्प करके अश्वत्थके समीप विष्णुकी मूर्ति स्थापित करके दोनोंका षोडशोपचार पूजन करे। दो वस्त्र (धोती और दुपट्टा) उढ़ावे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सरता, बहुभोजन और मन्दोत्साह न होने दे। दान, मान और उपस्करसहित ब्राह्मणोंको भोजन करावे। और 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राजा ब्राह्मणवर्णकः। अश्वत्थः पूजितो येन सर्वं संपूजितं भवेत् ॥' से प्रार्थना करके 'यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च। तानि सर्वाणि नश्यन्ति प्रदक्षिणपदे पदे ॥' से चार प्रदक्षिणा करके मौन धारण करे। फिर यथाक्रम लक्षपरिक्रमा आरम्भ करे। उनमें यह ध्यान अवश्य रक्खे कि पहले दिन जितनी बन सकें उतनी ही प्रतिदिन करे और आगे यथाक्रम एक-दो-तीन-चार-पाँच लाख या अधिक गौरवका कार्य हो तो बारह लाख परिक्रमा करके तदंगीभूत ब्राह्मणभोजनादि करे तो इस व्रतसे श्वास, कास, उदरशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, कोढ, अग्निमान्द्य और राजयक्ष्मा या सर्वज्वर-जैसे घातक रोग, प्रत्येक प्रकारके महापाप और राजभयादि-जैसे अरिष्ट, कष्ट या संकट आदिका निवारण होकर सब प्रकारके सुख और उनके साधन प्राप्त होते हैं।

(४१) द्वादशमासव्रत (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)–यह व्रत प्रत्येक महीनेमें यथाविधि स्नान, दान, देवार्चन और ब्राह्मण-भोजनादि करनेसे सम्पन्न होता है। विधि यह है कि १–चैत्रमें[1] एक ही प्रमाणका एकभुक्त व्रत करे तो सुवर्ण और मुक्ताफल आदिसे युक्त कुलमें जन्म होता है। २–वैशाखमें[2] गन्ध-पुष्पका दान करे तो आरोग्यता बढ़ती है। ३–ज्येष्ठमें[3] जल-पूर्ण कुम्भ, सवत्सा गौ, पंखा और चन्दन दे तो सौभाग्य-शाली होता है। ४–आषाढमें[4] एकभुक्त भोजन, ब्रह्मचर्यका पालन और भगवान्‌का स्मरण रक्खे तो धन-धान्य और पुत्रादिका सुख मिलता है। ५–श्रावणमें[5] घी-दूधसे भरे घड़े, पूरी और फल दे तो श्रीधरकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। ६–भाद्रपदमें[6] मधु और घी मिली हुई खीर और नमक तथा गुड़ोदनका दान करे तो हृषीकेशभगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त होता है। ७–आश्विनमें[7] अश्विनीकुमारोंकी प्रसन्नताके अर्थ

---

१. चैत्रं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
सुवर्णमणिमुक्ताढये कुले महति जायते॥
(भारत)

२. गन्धमाल्यानि च तथा वैशाखे सुरभीणि च।
देयानि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ॥
(वामन)

३. उदकुम्भाम्बु धेनुश्च तालवृन्तं च चन्दनम्।
त्रिविक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं ज्येष्ठमासि च॥
(वामन)

४. आषाढमेकभक्तेन स्थित्वा मासमतन्द्रितः।
बहुधान्यो बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते॥

५. घृतं च क्षीरकुम्भांश्च घृतपक्कफलानि च।
श्रावणे श्रीधरप्रीत्यै दातव्यानि दिने दिने॥
(वामनपुराण)

६. मासि भाद्रपदे दद्यात्पायसं मधुसर्पिषा।
हृषीकेशप्रीणनार्थं लवणं सगुडोदनम्॥
(वामन)

७. घृतमाश्वयुजे मासि नित्यं दद्याद् द्विजातये।
प्रीणयित्वाश्विनौ देवौ रूपभागभिजायते॥ (यम)

घीका दान देनेसे रूप और सौभाग्य बढ़ता है। ८—कार्तिकमें[1] चाँदी, सोना, दीप, मणि, मोती और वस्त्रादिका दान करे तो दामोदर भगवान्‌की प्रसन्नता होती है। ९—मार्गशीर्षमें[2] एक महीनेतक एकभुक्त व्रत करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो व्याधि, पीड़ा और पाप दूर होते हैं। १०—पौषमें[3] ब्राह्मणोंको घृतविशिष्ट भोजन कराये, घीका दान दे और मास समाप्त होनेपर घी, सोना और पात्र सत्पात्रको देकर तीन दिनका उपवास करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है। ११—माघमें[4] तिल-धेनुका दान करे और गरीबोंकी शीतबाधा मिटानेके लिये ईंधन और धनका दान करे तो धनी होता है। और १२—फाल्गुनमें[5] गौ, वस्त्र, चावल और कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) दान करके व्रत करे तो गोविन्द-भगवान् प्रसन्न होते हैं।

बुद्धधर्मका उदय और अभ्युदय

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

[गताङ्कसे आगे]

बौद्धधर्मके विभिन्न वाद

वि० पू० ४२६में भगवान् गौतमबुद्धके निर्वाणके अवसर-पर उनके प्रधान शिष्योंकी सहायतासे राजगृहमें प्रथम संगीति निष्पन्न हुई, जिसमें सुत्त तथा विनयपिटकोंका रूप निर्धारणकर लिपिबद्ध किया गया; पर सौ वर्षके भीतर ही विनयके कठोर नियमोंको लेकर एक प्रबल विरोधी मतवाद खड़ा हो गया। इस विरोधका झंडा ऊँचा करनेवाले थे वज्जीदेशीय भिक्षु, जिन्हें वज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिम तथा वत्सीपुत्रीयके नामसे पुकारते हैं। इन्हींके विरोधकी शान्तिके लिये वैशालिकी द्वितीय संगीति ३२६ वि० पू० में की गयी। पर प्राचीन विनयोंके पक्षपाती भिक्षुओंके सामने अपनी चलती न देखकर भिक्षुओंने कौशाम्बी (प्रयाग जिलेके वर्तमान 'कोसम' नगर) में दस हजार भिक्षुओंके महासंघके साथ अपनी संगीति अलग की। उसी दिनसे बुद्धधर्ममें दो प्रधान भेद खड़े हो गये—प्राचीन विनयनियमोंको माननेवाले स्थविरवादी कहलाये तथा विनयोंमें नवीन संशोधनोंको स्वीकार करनेवाले भिक्षु महासंघके कारण महासंघिक कहलाये। इस संगीतिके १०० वर्षके अनन्तर ही १८ भिन्न-भिन्न मत उठ खड़े हुए। लोकप्रियताका यही मूल्य है। बुद्धधर्ममें अनेक भिन्न प्रकृतिके लोग सम्मिलित होने लगे, जिन्हें बुद्धके मूल नियमोंका अक्षरशः पालन कष्टकारक प्रतीत होने लगा और जो अनेक सिद्धान्तोंके परिवर्तनके पक्षपाती थे, इन्हीं मतवादोंका निर्णय करनेके लिये सम्राट् अशोकके समय तृतीय संगीतिकी स्थापना महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्सकी अध्यक्षतामें हुई।

इन अष्टादश निकायोंके नाम तथा पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें बौद्धग्रन्थोंमें खूब वैमत्य दीख पड़ता है। आचार्य वसुमित्रने 'अष्टादशनिकायशास्त्र' नामक नवीन ग्रन्थकी इन्हीं निकायोंके सिद्धान्तके विषयमें रचना कर इस विषयके स्पष्टीकरणके लिये खूब प्रयत्न किया; पर आचार्य वसुमित्र[1] तथा आचार्य भव्यके द्वारा उल्लिखित तथा दीपवंसमें[2] और कथावत्थुकी अट्ठकथामें निर्दिष्ट इन निकायोंके नाम तथा सम्बन्धकी विषमता आज भी बनी हुई है। अट्ठकथाके अनुसार इन अष्टादश निकायोंकी स्थिति इस प्रकार थी—

१. रजतं काञ्चनं दीपान् मणिमुक्ताफलादिकम्। दामोदरस्य प्रीत्यर्थं प्रदद्यात् कार्तिके नरः॥ (वामन)
२. मार्गशीर्षे तु यो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्। भोजयेत्तु द्विजान् भक्त्या मुच्यते व्याधिकिल्बिषैः॥ (महाभारत)
३. घृतं द्विजेभ्यो दद्याच्च घृतमेव निवेदयेत्। पौषे ... ...॥ (वामन)
४. माघे मासि तिलाः शस्ताः कामधेनुश्च दानतः। इध्मं धनादयश्चान्ये माधवप्रीणनाय तु॥
५. फाल्गुने व्रीहयो गावो वस्त्रं कृष्णाजिनान्वितम्। गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः॥ (वामनपुराण)

१. वसुमित्र तथा भव्यकी सूचीके लिये देखिये—कथावत्थुके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिका पृ० ३६, ३७।
२. दीपवंसकी सूचीके लिये देखिये अभिधर्मकोश भूमिका पृ० ४।
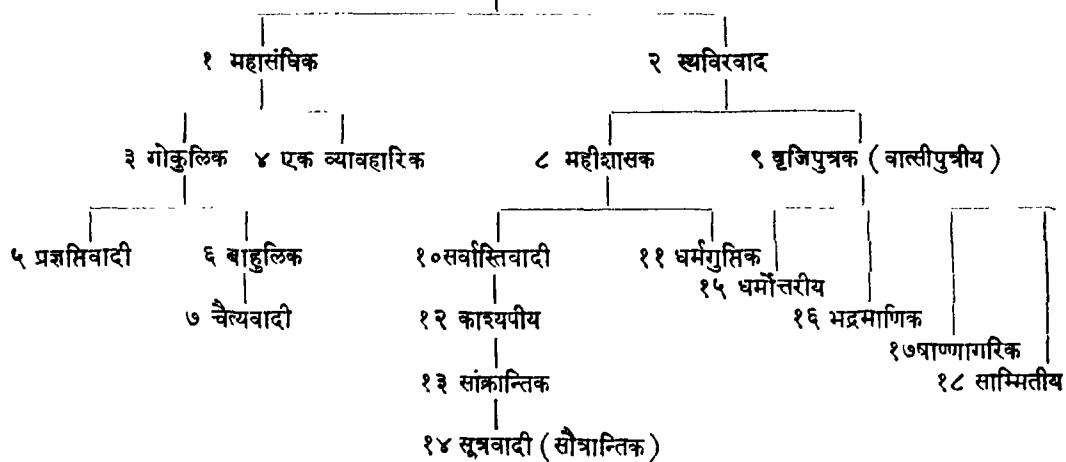
इन अष्टादश निकायोंकी उत्पत्ति अशोकसे पहले ही हो चुकी थी; पर उनके बाद भी इस मतवादका प्रवाह रुका नहीं प्रत्युत बुद्धधर्मके विपुल प्रसारके साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तोंके कारण नवीन सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति तथा पुष्टि होती ही रही। कथावत्थुमें इन अवान्तर तथा अपेक्षाकृत नवीन सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका भी वर्णन उपलब्ध होता है। चैत्यवादी सम्प्रदायसे आन्ध्रभृत्य राजाओंके राज्यमें विस्तार पानेवाले 'अन्धक' सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। आन्ध्रभृत्योंकी राजधानी धान्यकटक (जिला गुंटूरका धरनीकोट नगर) इस सम्प्रदायका केन्द्रस्थल था। इसी 'अन्धक' सम्प्रदायसे कालान्तरमें ई० पू० प्रथम शताब्दीमें चार अन्य सम्प्रदायोंका जन्म हुआ—पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही 'महाचैत्य' था[1], जिसके कारण वहाँका सम्प्रदाय चैत्यवादी कहलाया। 'राजगिरिक' तथा 'सिद्धार्थक' नामकरणके कारणका पता नहीं चलता; पर पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदाय, भोटियाग्रन्थोंके आधारपर, धान्यकटकके पूर्व तथा पश्चिममें होनेवाले पर्वतोंके ऊपर स्थित विहारोंके कारण तत्तत् नामसे अभिहित हुए हैं। अन्धकोंकी एक और शाखा थी जिसे वैपुल्यवादी या वेतुल्लवादीके नामसे पुकारते थे। इन अन्धक सम्प्रदायों तथा वैपुल्यवादके सिद्धान्तोंका सम्मिश्रण हो जानेसे महायान सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

संक्षिप्त मत

इन विभिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका परिचय पानेके लिये सर्वोपयोगी पालीग्रन्थ 'कथावत्थु' है। पर स्थानाभावके कारण इन सब सिद्धान्तोंका वर्णन यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटग्रन्थोंमें इन अष्टादश निकायोंमेंसे चार सम्प्रदायोंको विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है—(१) आर्य-सर्वास्तिवाद, (२) महासंघिक, (३) आर्य-साम्मितीय तथा (४) आर्य-स्थविर। अधिक-कालव्यापी होनेके कारण ये चार ही प्रधान सम्प्रदाय हैं, जिनके भीतर उपरिनिर्दिष्ट अष्टादश निकायोंका अन्तर्भाव किया जा सकता है। ब्राह्मण दार्शनिकों (शङ्कराचार्य, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि) के ग्रन्थोंमें इनके सिद्धान्तोंका उल्लेख भी इनकी प्रधानता तथा महत्ता प्रदर्शित करनेके लिये पर्याप्त माना जा सकता है। आर्य-स्थविरवाद बुद्धके मूल उपदेशोंको माननेवाला सम्प्रदाय है, जिससे अनेक विनयगत नियमोंमें शिथिलता स्वीकार कर

महासङ्घिक

महासङ्घिक सम्प्रदाय सबसे प्रथम पृथक् हुआ। पालीत्रिपिटकोंमें उल्लिखित सिद्धान्त स्थविरवादके ही माने जाते हैं। महासङ्घिकोंके स्वतन्त्र सिद्धान्तोंका वर्णन भी उनके विशिष्ट ग्रन्थोंमें मिलता है। इनके मन्तव्यानुसार बुद्ध लोकोत्तर (अलौकिक) थे; सांसारिक (साश्रव) धर्मका स्पर्श उनसे तनिक भी न था; इतिहासप्रसिद्ध शाक्यमुनि

---

१. श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
—मञ्जुश्रीमूलकल्प (दशम पटल)

लोकानुवर्तनके निमित्त उस लोकोत्तर बुद्धका अवतार धारण करनेवाले व्यक्तिविशेष थे। बुद्ध सर्वशक्तिमान् हैं और वे सदा सत्यभाषण किया करते हैं। बुद्ध अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं; उनमें आकाशके किसी भी भागमें व्यापक होनेकी शक्ति है। वे इद्धि (विशेष शक्ति) के द्वारा नैसर्गिक नियमोंको रोक सकते हैं। मनुष्यको योगक्रियाकी सहायतासे दीर्घजीवन प्राप्त करनेकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। पर सबसे विशेषता थी बोधिसत्त्वकी कल्पना। स्थविरवादके अनुसार अर्हत्का पद ही सर्वश्रेष्ठ था, पर महासंघिकोंके अनुसार अर्हत्पद प्राप्त करनेपर भी एक प्रकारका अज्ञान अवशिष्ट रहता ही है, जिसे वे दूर नहीं कर सकते।

सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवादियोंके अपने खास ग्रन्थ थे, जिनमें अनेक आजकल उपलब्ध हो गये हैं। उनके ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं। कश्मीर इनका केन्द्रस्थल था, जहाँसे ये अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया करते थे। उनके सिद्धान्तानुसार इस जगत्की प्रत्येक वस्तु—भूतात्मक तथा चित्तात्मक—विद्यमान है, भूतकालमें थी तथा भविष्यकालमें भी विद्यमान रहेगी। इनके अनेक सिद्धान्तोंमें स्थविरवादसे साम्य होनेपर भी ये लोग स्कन्धोंकी सत्ता माननेमें उनसे पृथक् थे। बुद्धको ये लोग दैवी शक्तियोंसे समन्वित मानवमात्र ही मानते थे। महासंघिकोंके समान ये लोग बुद्धका इस जगत्में विद्यमान रहना काल्पनिक तथा कायिक नहीं मानते थे।

साम्मितीय

साम्मितीयोंकी सृष्टि अशोकवर्धनके पहले ही हो चुकी थी, पर उत्तरी भारतमें इसका विपुल प्रचार गुप्तकालमें ही हुआ। हर्षवर्धनके समय यह सम्प्रदाय अपनी उन्नतिके शिखरपर था। हुएनच्वांग इस सम्प्रदायके १५ ग्रन्थोंको अपने साथ चीन ले गये थे। इसके ग्रन्थोंका पता नहीं चलता, पर उनकी भाषा अपभ्रंश बतलायी जाती है। इनके २० सिद्धान्तोंकी सूचना कथावत्थुकी आलोचनासे मिलती है, पर इनका सबसे सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गलके विषयमें है। ये लोग पञ्चस्कन्धके अतिरिक्त एक अन्य पदार्थकी भी सत्ता मानते हैं—जो पञ्चस्कन्धोंको धारण किये रहता है, पर जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्कन्धपञ्चकके उत्पत्ति तथा विनाशके साथ ही इस पुद्गल पदार्थके उत्पत्ति-लय हुआ करते हैं। यह पुद्गल हिंदू दार्शनिकोंके जीवके समान होता है, पर एक अंशमें भिन्न होता है। स्कन्धपञ्चकके नाश होनेपर इस पुद्गलका नाश साम्मितीयोंको अभिमत था। ये लोग अन्तराभव (जीवकी मृत्यु तथा पुनर्जन्मके बीचमें होनेवाले) देहको मानते थे और इस कार्यके लिये पुद्गलकी कल्पना की गयी थी। अन्तराभव देहकी कल्पना पूर्वशैलीय सम्प्रदायकी भी थी। अर्हत्पदकी प्राप्ति शाश्वतिक नहीं है, प्राचीन कर्मोंके फलानुसार अर्हत्-पदसे पतन भी हो सकता है[1]।

वैपुल्यवाद

अन्धक-सम्प्रदायोंमें वैपुल्यवादी अपना खास महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कथावत्थुकी अट्ठकथामें इन्हें महाशून्यतावादी कहा गया है। इनके मत संघ, बुद्ध तथा मैथुनके विषयमें अन्य सम्प्रदायोंसे विभिन्न थे[2]। इनका कहना था कि (१) सङ्घकी कल्पना अलौकिक है; अतः संघ न दान ग्रहण करता है न उसे परिशुद्ध या उपभोग करता है। इसलिये संघको दान देनेमें महाफलकी प्राप्ति नहीं होती। (२) बुद्ध इस लोकमें न आकर ठहरे और न धर्मोपदेश किया। अतः बुद्धको दान देनेमें महाफलकी प्राप्ति नहीं होती। (३) मैथुनके विषयमें इनका सिद्धान्त था कि किसी खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) यदि पति-पत्नीमें स्वाभाविक अनुरक्ति हो या भविष्य लोकोंमें एक साथ निवास करनेकी इच्छा हो—मैथुनका आचरण किया जा सकता है। यह नियम बौद्ध भिक्षुओंके लिये भी जायज़ था। कहना न होगा कि ये सिद्धान्त बौद्धधर्ममें भयङ्कर विप्लव मचानेवाले थे। वैपुल्यवादियोंके प्रथम-द्वितीय सिद्धान्तोंमें महायानके विकासकी सूचना है, तथा अन्तिम सिद्धान्तमें तान्त्रिक या वज्रयान सम्प्रदायके स्फुट बीज। बुद्धकी ऐतिहासिकताको स्वीकार न करना तथा किन्हीं अवस्थाओंमें मैथुनकी अनुज्ञा देना एकदम घोर परिवर्तनके सूचक सिद्धान्त थे। पहला सिद्धान्त महायानको मान्य है। वैपुल्यवादियोंमें सबसे बड़े प्रचारक नागार्जुन माने जाते हैं। इन सब बातोंकी आलोचनाके निष्कर्षरूपमें यह कहना अनुचित न होगा कि महासंघिकोंका ही अन्धक-सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवादके रूपमें विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है।

---

१. महासंघिक आदि सम्प्रदायोंके मतवादके लिये देखिये 'कथावत्थु'का अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८–२७।

१. देखिये 'कथावत्थु' के अंग्रेजी अनुवादकी भूमिका पृ. १८-१९।

२. देखिये 'कथावत्थु' के भाग १८, २३।

महायान-सम्प्रदाय

आजकल समस्त बौद्ध जगत् प्रधानतया दो सम्प्रदायोंका अनुयायी है। सिंघल, बरमा, स्याम आदि दक्षिणी देशोंमें हीनयानका प्रचार है; पर तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया तथा जापान आदि उत्तरी प्रदेशोंमें महायानका बोलबाला है। महायान-सम्प्रदायकी अश्वघोषके समय प्रथम शताब्दीमें उत्पत्ति मानी जाती है; इस सम्प्रदायवालोंने अपनी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिये निर्वाणकी प्राप्तिमें प्रधान साधनभूत होनेके कारण अपनेको महायान तथा स्थविरवादियोंको हीनयानके नामसे अभिहित किया है। इन दोनों सम्प्रदायोंका भेद मौलिक है।* वैमत्यका सबसे प्रधान विषय है इस मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्य तथा तत्सम्बद्ध निर्वाणकी विभिन्न कल्पना। बौद्धग्रन्थोंमें जीवन्मुक्ति या 'बोधि' त्रिविध यानोंमें तीन प्रकारकी मानी गयी है—श्रावकबोधि, प्रत्येक बुद्धबोधि तथा सम्यक्सम्बोधि। बुद्धके पास धर्म सीखनेवालेको 'श्रावक' कहते हैं। श्रावकबोधि हीनयानका चरम लक्ष्य है। बुद्धका कहना है कि मनुष्य अपने भाग्यका विधाता आप स्वयं है; अतः इस भव-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये उसे परमुखापेक्षी होनेकी जरूरत नहीं, वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्गका अनुसरण कर राग-द्वेषकी विषम वागुरासे छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधकके लिये चार अवस्थाओंका वर्णन महालिसुत्तने किया है। पहली अवस्था 'स्रोत आपन्न' कही जाती है, जब मनुष्यका चित्त प्रपञ्चमार्गसे नितरां हटकर निर्वाण-मार्गकी ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। दूसरी भूमि 'सकृदागामी' कही जाती है, जिसमें इस जन्ममें नहीं बल्कि अगले जन्ममें साधक निर्वाणका अधिकारी बन जाता है। और इसके लिये उसे एक बार पुनः संसारमें आनेकी आवश्यकता बनी रहती है। 'अनागामी' भूमिकामें फिर इस क्लेशबहुल संसारमें आनेकी आवश्यकता नहीं रहती और चतुर्थी भूमिका 'अर्हत्' कहलाती है—जिसमें साधक अपने व्यक्तिगत कल्याणकी साधना कर जीवन्मुक्ति लाभ कर लेता है, पर उसे अन्य जीवोंको मुक्त करनेकी योग्यता अभी नहीं प्राप्त होती। अर्हत्के लिये निर्वाण अखिल राग-द्वेषका अत्यन्ताभावरूप है। यही अर्हत्पदकी प्राप्ति हीनयानका लक्ष्य है।

'प्रत्येक बुद्ध'की कल्पना अर्हत् तथा बोधिसत्त्वके बीचकी साधनाकी सूचक है। गुरुके पास उपदेश ग्रहण किये बिना ही जिसे स्वस्फूर्तिसे बुद्धत्वका लाभ हो जाता है, उसे 'प्रत्येक बुद्ध' कहते हैं; पर उसमें दूसरे लोगोंको तारनेकी शक्ति नहीं रहती वह तो केवल जङ्गल आदि एकान्त स्थानमें निवास कर विमुक्तिसुखका अनुभव करता है। तीसरी बोधि 'सम्यक् संबोधि' कही जाती है और उसके प्राप्त करनेवालेको 'बुद्ध' कहते हैं। बुद्धत्वके अधिकारी साधकको 'बोधिसत्त्व' कहते हैं।

बोधिसत्त्वकी कल्पना

बोधिसत्त्वकी कल्पना महायान-सम्प्रदायकी सबसे बड़ी विशेषता है। यह कल्पना इतनी उदात्त तथा इतनी मनोरम है कि केवल इसी कल्पनाके आधारपर यह धर्म संसारके सर्वश्रेष्ठ धर्मोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान पानेका अधिकारी है। 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि—ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति (बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः[1])। अर्हत् तथा प्रत्येक बुद्धका लक्ष्य नितान्त सीमित रहता है। अपना अभ्युदय तथा व्यक्तिगत कल्याण-साधन करना ही इन दोनोंके अनुष्ठानका अन्तिम उद्देश्य रहता है, पर बोधिसत्त्व संसारके समस्त प्राणियोंके समग्र दुःखोंका नाशकर उन्हें निर्वाण-प्राप्ति करा देना अपना जीवन-उद्देश्य मानता है। संसारका एक भी प्राणी जबतक मुक्त नहीं हो जाता तबतक वह स्वयं निर्वाणसुखको भोगनेके लिये कथमपि उद्यत नहीं होता। उसके जीवनका ध्येय स्वार्थसिद्धि न होकर परोपकार-व्रत रहता है। वह जगत्के प्रत्येक व्यक्तिको अपना ही स्वरूप समझता है। अतः बोधिसत्त्वका 'स्व' इतना विस्तृत रहता है कि उसकी परिधिमें जगत्के समस्त जीव समा जाते हैं। बोधिसत्त्व यही चाहता है[2] कि बुद्धप्रदर्शित मार्गके अनुष्ठान

---

* महायान मुख्यतया निम्नलिखित सिद्धान्तोंको माननेवाला है—

(१) बोधिसत्त्वकी कल्पना, (२) षट् पारमिताओंका अनुष्ठान, (३) बोधिचित्तका विकास, (४) आध्यात्मिक उन्नतिकी दस भूमियाँ, (५) बुद्धत्वका चरम लक्ष्य, (६) धर्मकाय, संयोग-काय तथा निर्वाणकाय—इन त्रिविध कायोंकी कल्पना तथा (७) धर्मशून्यता या धर्मसमता या तथताकी कल्पना।

१. बोधिचर्यावतारपंजिका पृष्ठ ४२१।

२. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥
(बोधिचर्यावतार)

से जिस पुण्यसंभारका उसने अर्जन किया है, उसके द्वारा समस्त प्राणियोंके दुःखकी शान्ति हो। समग्र जीवोंके मुक्तिलाभ करनेपर जो आनन्दसमुद्र हिलोरें मारने लगता है, वही उसके जीवनको आनन्दमय—सार्थक बनानेके लिये पर्याप्त है; रसहीन—सूखे मोक्षको लेकर क्या करना है? बोधिसत्त्वमें प्रधान गुण होता है—महाकरुणा। पिपीलिकासे लेकर हस्ती पर्यन्त निखिल जीवोंके क्लेशमय जीवनको देखकर उसके हृदयमें उनके प्रति नैसर्गिक रूपसे करुणाका आविर्भाव होता है तथा उनके दुःखोंका सर्वथा नाश कर उन्हें आनन्द प्रदान करनेका पवित्र आदर्श ही उसके जीवनका महान् व्रत बन जाता है। बोधिसत्त्वका अवसान है—बुद्धत्वकी प्राप्ति अर्थात् सम्यक् संबोधिकी उपलब्धि। इसे पाये बिना दूसरोंको मुक्त करनेकी तथा उपदेश देनेकी योग्यता आ ही नहीं सकती। महायान महाकरुणाको सम्यक् संबोधिका प्रधान साधन मानता है।

महायान ग्रन्थोंमें बोधिसत्त्वके उच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये अनेक शिक्षाओं तथा अनुष्ठानोंका विधान किया गया है, जिन्हें 'बोधिचर्या' के नामसे पुकारते हैं। बोधिसत्त्वको सबसे पहले बोधिचित्तका परिग्रह करना चाहिये। सब जीवोंके समुद्धरणके लिये बुद्धत्वकी प्राप्तिके अभिप्रायसे सम्यक् संबोधिमें चित्तका प्रतिष्ठित करना बोधिचित्तका ग्रहण करना है। भवसागरसे पार जानेके लिये सभी प्राणियोंको बोधिचित्तका ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। बोधिचित्तके उत्पादके लिये सप्तविध अनुत्तर पूजाका विधान बौद्धग्रन्थोंमें किया गया है। इन पूजाविधानोंके नाम हैं—वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना। इन अनुष्ठानोंके साथ-साथ षट् पारमिताओंका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्वको। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट् पारमिताओंका उपार्जन बुद्धत्व प्राप्तिका प्रधान साधन है। स्वार्थबुद्धि बन्धनमें हेतु है। अतः आत्मभावका त्याग निर्वाणका हेतु माना जाता है। इस निःस्वार्थबुद्धिकी पराकाष्ठा दानपारमिताकी सूचिका मानी जाती है। प्राणातिपात आदि गर्हित कार्योंसे चित्तकी विरति 'शील' शब्दवाच्य है। दूसरेके द्वारा अपकारके होते हुए भी चित्तकी अकोपनता 'क्षान्ति' है। सतत दुःखोंके उत्पन्न होनेपर भी उनके द्वारा अधिवासित न होना दुःखाधिवासना-क्षान्ति कहलाता है, तथा दूसरोंके अपकारोंका सहन करना परापकारमर्षण-क्षान्ति कहलाता है। क्षान्तिके साथ कुशल कर्म करनेके सामर्थ्यका होना भी नितान्त उपयुक्त है। इसीको 'वीर्य' कहते हैं। वीर्यका फल ध्यान-चित्तैकाग्रता है। समाहितचित्त पुरुष प्रज्ञाका उपार्जन कर सकता है; चित्तके ध्यान-सम्पादनसे निष्कलुष होनेपर ही प्रज्ञाका उदय हो सकता है। दानादि पञ्च पारमिताओंका सुफल प्रज्ञापारमिताका आविर्भाव माना जाता है; प्रज्ञाके बिना उदय हुए बुद्धत्वकी प्राप्ति असम्भव ही है।

शून्यतामें प्रतिष्ठित होनेवाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान, सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावोंकी उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है और न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिताका उदय होता है। उस समय किसी प्रकारका व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्यकी प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तुजात मायाके सदृश है, तथा स्वप्नकी तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता (सांवृतिक सत्य) ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। व्यवहारदशामें ही प्रतीत्यसमुत्पादकी सत्यता है, परमार्थदशामें सर्वभाव धर्मशून्य हैं। वास्तवमें सब भावोंकी शून्यता ही पारमार्थिक ज्ञान है। उस समय समुत्पन्न बोधिचित्त (संबोधिनिष्ठित चित्त) निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है[1]। वह काठिन्य तथा मार्दव, उष्णता तथा शीतलता, संस्पर्श तथा ग्राह्यता आदि धर्मोंसे शून्य होता है। प्रज्ञापारमिताको प्राप्त करनेवाले पुरुषके लिये इस जगत्का समग्र व्यवहार स्वप्नसे अधिक सत्ता नहीं रखता। संवृति—संसार समस्त दोषोंका आकर है; पर निर्वृति=निर्वाण—समस्त गुणोंका

१. बोधिचित्तके स्वरूपके लिये देखिये 'नैरात्म्यपरिपृच्छा-सूत्र' ११–२६ (विश्वभारती सीरीज नं० ४)

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥१२॥

भण्डार है। इस प्रज्ञापारमिताकी कल्पना पूजनीया देवीके रूपमें पारमितासूत्रोंमें की गयी है[1]। प्रज्ञाकी उपासना महायानकी प्रधान विशेषता मानी जाती है।

महायानने त्रिकाय (निर्माण या रूपकाय, संभोगकाय तथा धर्मकाय) की कल्पना कर बुद्धत्वके आदर्शको बड़ा ही ऊँचा दिखलाया है। शाक्यमुनिके सब कार्य तात्त्विक बुद्धिके आचरण नहीं हैं, प्रत्युत मानव-समाजके सामने 'बुद्धत्वकी प्राप्ति नितान्त काल्पनिक न होकर वास्तविक है' इस शिक्षाको देनेके लिये लोकानुवर्तनके निमित्त बुद्धके निर्माणकायके द्वारा किये गये हैं। धर्मकाय अनन्त तथा अपरिच्छेद्य है। सम्पूर्ण स्थानमें यह व्यापक है। सम्भोग तथा निर्माणकायका यह मूल आधार है। यह नित्य, सत्य तथा परिच्छेदातीत गुणोंका निकेतन है। धर्मकाय एक—अभिन्न रूपमें स्थित रहता है। इस धर्मकायकी कल्पना बुद्धको ईश्वररूपमें माननेके लिये की गयी है। परमसत्यस्वरूप बुद्ध मानव-समाजके कल्याणसाधनके निमित्त अनेक रूपोंको धारण किया करते हैं। ऐतिहासिक बुद्ध भी उन्हींके एक अवतारमात्र माने जाते हैं। इनकी भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य अपने लक्ष्यतक पहुँच सकता है। सद्धर्मपुण्डरीकका कहना है कि सच्चे प्रेमसे भगवान् बुद्धकी एक पुष्पके अर्पणद्वारा पूजा करनेसे साधकको अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार महायान-धर्मने निरीश्वरवादी शुष्कनिवृत्तिप्रधान हीनयानकी काया पलटकर उसे सेश्वरवादी तथा प्रवृत्तिप्रधानके मनोरम रूपमें उपस्थित किया है। भक्तियोगने मानवसमाजकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंके नैसर्गिक विकासके लिये बुद्धधर्मको एक नवीन मार्गपर आरूढ़ किया। इस कारण तथागतधर्मकी लोकप्रियता बढ़ी तथा विपुल जीवोंने कल्याणसाधनके सुगम मार्गको सीखकर बुद्ध, धर्म तथा संघकी शरणागति ग्रहण की। महायानकी कल्पनाके मूलमें गीताका भक्तिसमन्वित कर्मयोग कारण माना जाता है। भोटदेशीय सुप्रसिद्ध विद्वान् तारानाथने गीताधर्मके प्रभावको महायानके रूपपरिवर्तनमें प्रधान कारण माना है[2]।

इस महायानके रूपका विकास चलता ही गया। वैपुल्यवादियोंने मन्त्र-तन्त्रकी ओर विशेष रुचि दिखलायी। इस मतके आचार्य नागार्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक तथा सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इनकी गुह्य शिक्षाओंने महायानका स्वरूप बदलनेमें विशेष सहायता दी। वैपुल्यवादी 'मञ्जुश्रीमूलकल्प'में हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान पाते हैं, पर उस रूपका यहाँ अभाव है, जो वज्रयानमें दीख पड़ता है। पहले मन्त्रयानकी उन्नति हुई, भोटग्रन्थोंके आधारपर धान्यकटक तथा श्रीपर्वतके आसपास इसकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। धारणियोंकी रचना हुई; मन्त्र-यन्त्रोंकी विपुलताने प्राचीन बुद्धत्वके आदर्शको ढक दिया। आगे चलकर मन्त्रयानसे वज्रयानकी उत्पत्ति हुई—जिसमें मद्य, मन्त्र, हठयोग तथा मैथुनकी शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान है तान्त्रिक बुद्धधर्मका विकसित रूप। दार्शनिक दृष्टि शून्यवादकी है[3] पर आचारमें तान्त्रिक क्रियाकलापकी बहुलता है। यही वज्रयान सहजयानके रूपमें परिवर्तित होकर तिब्बत, चीन आदि भारतेतर देशोंके तथा स्वयं पूर्वी भारतके धार्मिक विकासका कारण माना जाता है।

(समाप्त)

---

१. देखिये—प्रज्ञापारमितासूत्र—

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्। याधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥ ६ ॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता। मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥१७॥

२. तिलक-गीतारहस्य (पृष्ठ ५७०—८५)।

३. अविनाशी तथा सारभूत होनेके कारण शून्यता ही 'वज्र' शब्दका वाच्यार्थ है—

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

—वज्रशेखर (अद्वयवज्रसंग्रह पृष्ठ २३)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(*लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०*)

फ़ोटोका दैवी केमेरा

केशव—पिताजी ! मामाजी बंबईसे फ़ोटो खींचनेका एक बहुत बढ़िया केमेरा लाये हैं। आज उन्होंने उसीसे मेरा चित्र खींचा है।

पिता—परन्तु क्या तुम्हें माल्रम नहीं कि उससे भी बढ़िया दो-दो केमेरे स्वयं तुम्हारे पास मौजूद हैं? ये केमेरे तो ऐसे बढ़िया हैं कि बंबई क्या, दुनियाके किसी भी देशमें किसी दामपर नहीं मिल सकते।

केशव—मेरे पास? मेरे पास ऐसे कौन-से केमेरे हैं?

पिता—तुम्हारे ये दोनों नेत्र। ये फ़ोटोके केमेरे ही तो हैं। बल्कि यों कहो कि फ़ोटोके केमेरे इन्हींकी नक़लपर बनाये गये हैं। असल केमेरा तो नेत्र ही है, जो ईश्वरका बनाया हुआ है और जिसे हम अपना दैवी केमेरा कह सकते हैं।

केशव—क्या नेत्रोंकी बनावट फ़ोटोके केमेरेकी तरह होती है?

पिता—हाँ, बिल्कुल उसी तरहकी। केवल बाज़ारू केमेरा साधारण तौरपर चौकोर होता है और हमारी आँखें अण्डाकार हैं। किन्तु यह अन्तर भी केवल बाहरी रूपमें है। भीतरके यन्त्र और पुर्ज़े तो दोनोंमें एकहीसे हुआ करते हैं।

केशव—कैसे?

पिता—देखो, केमेरेके सामनेवाले भागमें तुमने देखा होगा कि एक काँच लगा रहता है, जिसे 'लेन्स' (Lense) या 'ताल' कहते हैं। बाहरी चीज़ोंकी छाया इसी काँचसे होकर केमेरेके अंदर एक स्थानपर गिरती है और वहाँ ही उसका चित्र खिंच जाता है। प्रकाशके कम या ज़्यादा होनेसे यह चित्र स्पष्ट या अस्पष्ट हो सकता है। इसीलिये प्रकाशको केवल आवश्यकतानुसार उचित मात्रामें ही भीतर पहुँचने देनेके लिये केमेरेके सामने एक छेद भी बना रहता है, जो इच्छानुसार छोटा या बड़ा किया जा सकता है। अस्तु, इसी छेदसे होकर बाहरी चीज़ोंकी जो छाया केमेरेके भीतर पहुँचती है, वह काँचके एक मसाला लगे हुए प्लेट या फ़िल्मपर गिरती है और बस वहीं वह उपट आती है। केमेरेका कुल भीतरी भाग काले रंगसे रँगा रहता है। यही सब बातें हमारी आँखोंमें भी पायी जाती हैं। इनमें भी सामनेकी ओर एक लेन्स या 'ताल' लगा रहता है, जो भीतरकी ओर एक काले पर्देसे ढँका रहता है। इसे हम आँखकी पुतली कहते हैं। यूरोप-निवासियोंकी आँखोंमें यह पर्दा काला न होकर नीला या फ़िरोज़ी रंगका हुआ करता है। इसी पर्देके बीचोबीच एक नन्हा-सा गोल-गोल बिन्दु भी दीखता है, जिसे हम आँखका 'तिल' या 'तारा' कहते हैं और जो वास्तवमें एक छेद है। यह छेद काले रंगका दिखायी देता है क्योंकि आँखका अन्तर्पटल बिल्कुल काला है। जिस प्रकार एक घरके भीतरका गहरा अन्धकार एक छोटेसे छेदद्वारा काले रंगका दीखता है, उसी प्रकार हमारी आँखका यह काला तिल भी भीतरके काले रंगको प्रकट करता है। तेज़ प्रकाशमें यह तिल अर्थात् छेद पुतलीके पर्देसहित सिकुड़कर छोटा-सा हो जाता है, परन्तु अन्धकारमें यह फैल जाता है। इसी छेदके द्वारा लेन्सको पार करके बाहरी चीज़ोंका जो प्रतिबिम्ब अर्थात् चित्र आँखके अंदर पहुँचता है वह वहाँके पिछले भागमें एक दूसरे पर्दे (Retina) पर गिरता है, जिसे हम फ़ोटोका प्लेट या फ़िल्म कह सकते हैं। इस पर्देका सम्बन्ध स्नायुओंद्वारा मस्तिष्कसे रहा करता है, जिससे पर्देपर चित्र गिरते ही तुरंत उसकी सूचना मस्तिष्कको मिल जाती है और वह जान सकता है कि आँखोंके सामने क्या वस्तु है। फ़ोटोका केमेरा जिस प्रकार लकड़ी, चमड़े और कपड़ेसे मढ़े हुए ढाँचेमें सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी हड्डियोंसे बने हुए गड्ढोंमें सुरक्षित हैं और ऊपरसे पलकें भी उनकी रक्षा किया करती हैं। कुछ केमेरोंमें तुमने

देखा होगा कि उनके मुँहको चित्र लेते समय ठीक सीधान पर रखनेके लिये कुछ ऊपर-नीचे हटानेका भी प्रबन्ध रहता है। उसी प्रकार हमारे नेत्रोंकी पुतलियाँ भी इच्छानुसार ऊपर-नीचे और इधर-उधर फिरायी जा सकती हैं, जिससे हम बिना सिर घुमाये इधर-उधरकी चीजोंको देख सकते हैं। प्रत्येक नेत्रमें इसके लिये छः-छः मांसपेशियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार तुम देखते हो कि हमारे नेत्र फ़ोटोके केमेरेसे हर एक बातमें मिलते-जुलते हैं। अपूर्वता केवल इतनी ही है कि आदमीके बनाये हुए बाजारू केमेरेमें एक प्लेटपर केवल एक ही चित्र खिंच सकता है; और दूसरा चित्र लेनेके लिये उसमें दूसरा प्लेट भरनेकी जरूरत होती है। किन्तु हमारे नेत्ररूपी इस दैवी केमेरेमें एक प्लेट जीवन-पर्यन्त सब प्रकारकी तस्वीरें खींचनेके लिये काफ़ी है। ईश्वर और मनुष्यके काममें यही अन्तर है।

केशव—अच्छा, ये आँखें दो क्यों दी गयी हैं? क्या एक ही आँखसे काम नहीं चल सकता था?

पिता—चल सकता था, परन्तु उतना अच्छा नहीं जितना दो आँखोंसे। हमारे ज्ञानका अधिकतर भाग केवल देखने और सुननेकी शक्तियोंपर निर्भर रहता है। इसीलिये हमें आँख और कान दो-दो दिये गये हैं। ये आँखें सिरके सामनेवाले भागमें रखी गयी हैं, क्योंकि इससे हमें देखनेमें सुविधा मिलती है। यदि ये शरीरके किसी अन्य स्थानमें होतीं तो हमें उतनी सुविधा न होती।

केशव—नेत्रोंके ऊपर-नीचे पलकोंपर बरौनीके बाल क्यों पैदा किये गये हैं? क्या इनसे भी कुछ प्रयोजन है?

पिता—हाँ, इनसे भी आँखोंकी रक्षा होती है, और बाहरसे धूल, गर्द इत्यादि आँखोंके अंदर नहीं जाने पाती। साथ ही नेत्रोंको साफ और निर्मल रखनेके लिये ऊपरकी पलकोंके अंदर पानी निकालनेका एक-एक यन्त्र भी रहता है, जिसे 'अश्रुग्रन्थि' (Tear-gland) कहते हैं। इससे थोड़ा-थोड़ा जल निकलकर नेत्रोंको सरस और साफ़ रखता है। इस यन्त्रसे मिली हुई एक छोटी-सी नली नाकके अंदर लगी है। धुआँ लगनेसे अथवा रोते समय जब अश्रुग्रन्थिसे आँसू बहुत अधिक मात्रामें बन-बनकर बहने लगता है, तब उसका कुछ पानी इस नलीद्वारा नाकमें भी आकर टपकने लगता है।

केशव—मेरे दरजेके कई लड़के आँखोंपर चश्मा लगाते हैं और कहते हैं कि बिना चश्मा उन्हें दूरकी चीजें साफ़ तौरसे दिखायी नहीं देतीं। इसका क्या कारण है?

पिता—यह दृष्टिदोष नेत्रोंके सामनेवाले पारदर्शक भाग (Cornea) में कुछ विरूपता उत्पन्न हो जानेके कारण आ जाया करता है। जिन लोगोंको नज़दीककी चीजोंपर नित्य बहुत समयतक दृष्टि गड़ाये रखना पड़ता है, उनके नेत्रका यह पारदर्शक भाग बीचमें कुछ मोटा और किनारेकी ओर कुछ पतला पड़ जाता है, जिससे दूरकी वस्तुओंसे आनेवाली प्रकाशकी किरणें यहाँ आकर बिखर जाती हैं और अंदरके चित्रपट (Retina) पर ठीक ढंगसे अङ्कित (focussed) नहीं हो सकतीं। निदान उन वस्तुओंका चित्र भी नेत्रोंके भीतर स्पष्ट रूपसे नहीं खिंच सकता और वे धुँधली दिखायी देती हैं। किन्तु जब चश्मेका एक ऐसा कृत्रिम ताल उनके सामने लगा दिया जाता है जिसके बीचका भाग तो पतला और किनारेका भाग मोटा हो, तब यह सारा दोष मिट जाता है और उन वस्तुओंका चित्र नेत्रोंके भीतर फिरसे अपने स्वाभाविक ढंगपर प्रकट होने लगता है। आँखोंमें इस प्रकारका दोष अधिकतर पढ़े-लिखे लोगोंमें ही दिखायी देता है, क्योंकि उन्हें नित्य घंटोंतक अपनी दृष्टि पुस्तकके बारीक अक्षरोंमें गड़ाये रखना पड़ता है। परन्तु कभी-कभी यह दोष पैदायशी भी हुआ करता है और छोटे-छोटे बालकों-तकमें देखा जाता है। इसके विपरीत एक दूसरे प्रकारका दृष्टिदोष भी होता है, जिसमें आदमीको दूरकी चीजें तो स्पष्ट दिखायी देती हैं, किन्तु पासकी चीजें धुँधली जान पड़ती हैं। ऐसे लोग दूरपर लगे हुए साइनबोर्डके अक्षरोंको तो आसानीसे पढ़ लेते हैं, किन्तु हाथमें ली हुई पुस्तकके अक्षरोंको बिना चश्माके नहीं बाँच सकते।

केशव—यह दोष कैसे हो जाता है ?

पिता—यह दोष भी नेत्रोंके सामनेवाले पारदर्शक भाग (Cornea) की विरूपतासे ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु इसमें विरूपता दूसरे प्रकारकी होती है अर्थात् इसमें पारदर्शक भागका बीचवाला अंश मोटा न होकर पतला पड़ जाता है और मोटाई किनारेके भागोंपर चढ़ जाती है। अतएव इसके लिये एक ऐसे ऐनककी ज़रूरत होती है, जिसके ताल बीचमें तो मोटे हों और किनारेकी ओर पतले। जिन्हें पढ़ने-लिखने या सीने-पिरोनेके लिये ऐनक लगाना पड़ता है, उनका ऐनक बस इसी प्रकारका होता है। किन्तु दूरका दृष्टि-दोष हो या नज़दीकका—सबका मूल कारण प्रायः स्वास्थ्यके नियमोंकी अवहेलना और नेत्रोंका अनुचित उपयोग ही हुआ करता है। यदि आरम्भसे ही स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करते हुए नेत्रोंकी रक्षाका पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाय तो चश्मा लगानेका अवसर बहुत ही कम आने पावे।

केशव—अच्छा तो नेत्रोंकी रक्षाके लिये करना क्या चाहिये ?

पिता—देखो, विद्यार्थियोंमें जो आँखोंकी कमज़ोरी अधिकतर देखी जाती है, वह उनके पढ़ने-लिखनेके अनुचित ढंगसे ही उत्पन्न हो जाया करती है। अतएव सबसे पहले उन्हें अपने पढ़ने-लिखनेका ढंग ही सुधारना चाहिये।

केशव—कैसे ?

पिता—देखो, बहुत-से लड़कोंकी आदत होती है कि पुस्तकको आँखोंके बिल्कुल पास ले जाकर पढ़ते हैं। यह आदत अच्छी नहीं। इससे आँखें बहुत जल्द खराब हो जाती हैं। पढ़नेमें किताबको न तो बहुत पास रखना चाहिये और न बहुत दूर। क़रीब एक हाथकी दूरीपर रखकर पढ़ना चाहिये। किताबको धूपमें भी रखकर पढ़ना ठीक नहीं है। इससे आँखें कमजोर हो जाती हैं। सदैव छायामें ही बैठकर पढ़ना चाहिये और पढ़ते समय बैठना इस तरह चाहिये कि प्रकाश सामनेकी तरफ़से न आवे, बल्कि बाईं तरफ़से आता रहे। सन्ध्या समय या धीमी रोशनीमें भी कभी न पढ़ना चाहिये, क्योंकि इससे भी आँखोंपर बड़ा जोर पड़ता है। कुछ लड़के सदैव हिल-हिलकर पढ़ा करते हैं और कुछको पेटके बल लेटकर पढ़नेकी आदत होती है। ये दोनों आदतें भी बहुत बुरी हैं। इनसे न केवल आँखें ही खराब होती हैं, बल्कि फेफड़े और पेट भी दबकर कमजोर पड़ जाते हैं। पढ़ने-लिखनेका काम जहाँतक हो सके किसी मेज या डेस्कपर रखकर करना उत्तम है। डेस्ककी ऊँचाई इतनी हो कि पढ़ते समय शरीरको झुकाना न पड़े। डेस्क नीचा होनेसे लड़कोंको झुककर बैठनेकी आदत पड़ जाती है, जिससे रीढ़ टेढ़ी पड़ जाती है। यदि मेज या डेस्क न मिले तो किताब रखनेके लिये किसी संदूकचीको ही काममें लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब कभी बहुत देरतक लगातार लिखने-पढ़नेका काम करना पड़े तो थोड़ी-थोड़ी देरमें नेत्रोंको किताब या कागजपरसे हटाकर एक या दो मिनटतक किसी दूरकी चीजको देखने लग जाय। इससे आँखोंमें जल्दी दृष्टिदोष नहीं पैदा होने पाता और न वे उतनी जल्दी थकती ही हैं। यह सावधानी तो पढ़ने-लिखनेके सम्बन्धमें हुई। अब कुछ दो-एक बातें और हैं, जिन्हें सीने-पिरोनेवाली लड़कियों एवं सिनेमा-थियेटर देखनेवाले शौकीनोंको ध्यानमें रखना चाहिये।

केशव—वे क्या हैं ?

पिता—बहुधा लड़कियाँ सीने-पिरोनेके समय नेत्रोंपर बहुत अनुचित जोर डाला करती हैं, जिससे उनकी आँखें और सिर दर्द करने लगते हैं और धीरे-धीरे नेत्रोंकी शक्ति भी घट जाती है। सीते समय इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि गर्दन और छाती बहुत झुकी हुई न हो और दृष्टि सदा एक ही स्थानपर न गड़ी रहे, बल्कि सुईके साथ-साथ ऊपर और नीचेको बराबर फिरती रहे। इससे नेत्रोंपर जोर बहुत कम पड़ेगा और आँखें जल्दी खराब न होने पावेंगी।

केशव—सिनेमा देखनेमें किस बातका ध्यान रखना चाहिये ?

पिता—सिनेमासे भी बहुत-सी आँखें खराब हो जाया करती हैं, किन्तु इसका मुख्य कारण सिनेमा देखना नहीं, बल्कि सिनेमा देखनेका अनुचित ढंग है। साधारण लोग प्रायः सिनेमाको आँख फैलाये हुए घंटोंतक एकटक देखा करते हैं और बस, इसीसे उनकी आँखें खराब हो जाती हैं। ठीक ढंग सिनेमा या नाटक देखनेका यह है—कुर्सीपर आरामसे किन्तु सीधे होकर बैठो, सिर पीछेको झुका हो, ठोढ़ी ऊपरको उठी रहे और आँखोंकी पलकें कुछ-कुछ नीचेको गिरी हुई हों तथा अपनी स्वाभाविक रीतिपर बराबर भँजती भी रहें। बहुत-से लोग पलक भाँजनेका ठीक-ठीक ढंग नहीं जानते। उनकी पलकें कभी झटकेके साथ और कभी अनियमित रूपसे उठती तथा गिरती रहती हैं। वास्तवमें पलक भाँजनेका मुख्य उद्देश्य नेत्रोंकी थकावट मिटाना और उन्हें क्षणिक आराम देना ही हुआ करता है। अतएव इसकी स्वाभाविक विधि यह है कि ऊपरकी पलक धीरेसे केवल इतनी मुँदे कि उससे आँखकी पुतलीमात्र ढँक जाय और तत्काल ही वह फिर खुल जाय। इस प्रकार प्रति मिनट दस बारके हिसाबसे पलकोंको सदैव खुलते और मुँदते रहना चाहिये। चाहे हम पढ़ते-लिखते हों या किसी चीजको देखते हों, हमारी पलकोंका यह काम हर समय और हर हालतमें जारी ही रहना चाहिये। इसे रोकना किसी समय भी उचित नहीं। बहुधा देखा जाता है कि सिनेमा या थियेटर देखते समय बहुत-से भावुकलोग अपनी पलकोंका भाँजना एकबारगी बंद कर दिया करते हैं। इससे आँखोंपर बड़ा जोर पड़ता है और उनकी देखनेकी शक्ति घट जाती है। अतएव इस विषयमें विशेषरूपसे सावधान रहनेकी जरूरत है। साथ ही सिनेमा या नाटक देखते समय पलकोंको बहुत ऊपर उठाना भी अच्छा नहीं है। केवल ठोढ़ीको ही ऊपर उठाये रहना चाहिये। इससे आँखोंपर बहुत कम जोर पड़ेगा और वे जल्दी खराब नहीं होने पायेंगी। आँखके एक अनुभवी डाक्टरने सब प्रकारके दृष्टिदोषोंको दूर करनेके लिये कुछ विशेष प्रकारके अभ्यास बतलाये हैं, जिन्हें यद्यपि मैं तो नहीं आजमा सका, किन्तु एक अनुभवी विशेषज्ञकी कही हुई बात होनेके कारण वह हर एक मनुष्यके लिये आजमानेयोग्य समझा जा सकता है।

केशव—किस प्रकारके अभ्यास हैं वे ?

पिता—पहला है सूर्यताप-सेवन। डाक्टरका कहना है कि सूर्य हमारी आँखोंकी तमाम खराबियोंको ठीक करनेकी अद्भुत क्षमता रखता है। अतएव सूर्यके सामने मुँह करके आरामसे पलथी मारकर बैठ जाओ और आँखोंको मूँदकर अपने शरीरको दायें और बायें धीरे-धीरे बराबर हिलाते रहो। इस प्रकारकी क्रिया नित्य सन्ध्या और सबेरे दस मिनटसे लेकर तीस मिनट-तक की जा सकती है।

केशव—और दूसरी क्रिया कौन-सी है ?

पिता—दूसरी क्रिया एक नेत्रपरीक्षक चार्ट (Snellen eye testing chart) को नियमपूर्वक पढ़ना है। इस चार्टमें छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े अक्षर क्रमपूर्वक छपे रहते हैं। लड़कोंको चाहिये कि यह चार्ट दीवारपर टाँग लें और फिर आठ या दस फ़ीटकी दूरीपर बैठकर उसके छोटे-से-छोटे अक्षरोंको, जो आसानीसे पढ़े जा सकते हों, नित्य पढ़नेकी चेष्टा करें। इस प्रकारकी चेष्टासे डाक्टरका कहना है कि, कितने ही विद्यार्थियोंकी आँखें स्थायीरूपसे सुधारी जा चुकी हैं। अतएव यह विधि भी आजमानेयोग्य है। हमारे वैद्यक ग्रन्थोंमें नेत्रोंकी ज्योति बढ़ानेके लिये त्रिफलाका सेवन, त्रिफलाके पानीसे आँखें धोना, शहद, गौका घी तथा मक्खन आदिकी बड़ी प्रशंसा गायी गयी है। लेकिन याद रहे कि जबतक स्वास्थ्यरक्षक नियमोंका पूर्णरूपसे पालन न किया जायगा और हमारी ऊपर बतलायी हुई नेत्ररक्षासम्बन्धी तमाम बातोंपर पूरा-पूरा ध्यान न रक्खा जायगा, तबतक कोई भी चिकित्साविधि कदापि कारगर नहीं हो सकती। हमारे

नेत्र इस जीवनके अमूल्य रत्न हैं। अतएव इनके विषयमें किसी प्रकारकी भी उपेक्षा या लापरवाही करना भयङ्कर भूल है। जिस समय किसीको अपने नेत्रोंमें किसी प्रकारकी भी शिकायत जान पड़े, तो उसे तुरंत किसी अच्छे चिकित्सकको दिखाकर उसकी राय लेनी चाहिये और उसीकी सलाहसे काम करना चाहिये। आँखोंमें बहुत-से संक्रामक रोग भी हुआ करते हैं। अतएव उनकी छूतसे आँखोंको सदा बचाये रखना चाहिये। बहुधा देखा जाता है कि घरमें यदि एक बच्चेकी आँख उठी हो तो दूसरे बच्चोंकी भी आँखें उठ आया करती हैं। अतएव इस प्रकारकी छूतसे बचना बहुत जरूरी है। जिस बर्तनसे और जिस तौलिया या रुमालसे ऐसे बच्चोंका आँख-मुँह धोया और पोंछा जाता है, उसे दूसरोंके व्यवहारमें हर्गिज़ नहीं लाना चाहिये, नहीं तो उसकी छूत दूसरोंको भी लग जायगी। सब बातोंको विस्तारपूर्वक समझानेके लिये यहाँ समय और स्थान नहीं है। संक्षेपमें केवल इतना ही समझ लो कि सब प्रकारकी शुद्धता और नेत्रोंका उचित उपयोग ही नेत्ररक्षाका सर्वश्रेष्ठ साधन है, और इन्हींकी उपेक्षा भाँति-भाँतिके नेत्ररोगोंका आह्वान है।

केशव—मैं समझ गया हूँ और आपकी बतायी हुई बातोंपर सदा ध्यान रखूँगा।

बलात्कारके समय क्या करें ?

(लेखक—महात्मा गांधी)

एक बहनने अपने पत्रमें मुझसे नीचे लिखे सवाल पूछे हैं—

१. कोई दैत्य-जैसा मनुष्य राह चलती किसी बहनपर हमला करके उसपर बलात्कार करनेमें सफल हो जाय, तो क्या उस बहनका सतीत्व भङ्ग हुआ माना जायगा ?

२. क्या वह बहन तिरस्कारकी पात्र है ? उसका बहिष्कार किया जा सकता है ?

३. ऐसे सङ्कटमें फँसी हुई स्त्री क्या करे ? जनता क्या करे ?

तिरस्कार नहीं, दयाकी पात्र

मैं मानता हूँ कि दर असल तो इसे सतीत्व-भङ्ग ही कहना होगा। लेकिन जिसपर सफल बलात्कार किया जाय, वह स्त्री किसी भी तरह तिरस्कार या बहिष्कारकी पात्र नहीं, वह तो दयाकी पात्र है। उसकी गिनती घायलोंमें होनी चाहिये; और इसलिये घायलोंकी सेवाकी तरह उसकी भी सेवा करनी चाहिये।

सच्चा सतीत्व-भङ्ग तो उस स्त्रीका होता है, जो उसमें सम्मत हो जाती है; लेकिन जो विरोध करते हुए भी घायल हो जाती है, उसके सम्बन्धमें सतीत्व-भङ्गकी अपेक्षा यह अधिक उचित है कि उसपर बलात्कार हुआ। 'सतीत्व-भङ्ग' या व्यभिचार शब्द बदनामीका सूचक है, इसलिये वह बलात्कारका पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। जिसका सतीत्व बलात्कारपूर्वक नष्ट किया गया है, उसको किसी भी तरह निन्दनीय न माना जाय, तो ऐसी घटनाओंको छिपानेका जो रिवाज पड़ गया है, वह मिट जाय। यदि मिट जाय, तो खुले दिलसे ऐसी घटनाओंके विरुद्ध ऊहापोह कर सकेंगे।

अगर अखबारोंमें इन घटनाओंके खिलाफ ठीक-ठीक आवाज उठायी जाय तो सैनिकोंकी छेड़खानी बहुत कुछ रुक सकती है और तब उनके सरदार भी उन्हें बहुत हदतक रोक सकेंगे।

आज शहरोंमें रहनेवाली प्रत्येक स्त्रीके सामने यह खतरा तो है ही, और इसीलिये पुरुषोंको इसके सम्बन्धमें चिन्तित रहना पड़ता है। इसलिये मेरी सलाह तो यह है कि डरकर नहीं, बल्कि सावधानीके विचारसे स्त्रियोंको गाँवोंमें जाकर बस जाना चाहिये और वहाँ गाँवोंकी कई तरहसे सेवा करनी चाहिये। गाँवोंमें खतरेकी कम-से-कम सम्भावना है। यह याद रखना होगा कि गाँवोंमें धनवान् बहनोंको सादगी और गरीबीसे रहना पड़ेगा। अगर वे वहाँ कीमती गहने और कपड़े पहनकर अपने धनका प्रदर्शन करेंगी तो एक सङ्कटसे बचकर दूसरेमें जा पड़ेंगी। और हो सकता है कि देहातमें उन्हें एकके बदले दो-दो सङ्कटोंका सामना करना पड़े।

स्त्रियाँ निर्भय बनें

लेकिन असल चीज तो यह है कि स्त्रियाँ निर्भय बनना सीख जायँ । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो स्त्री निडर है और जो दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसके सतीत्वकी सर्वोत्तम ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है । ऐसी स्त्रीके तेजमात्रसे पशुपुरुष चौंधिया जायगा और लाजसे गड़ जायगा ।

इस लेखको पढ़नेवाली बहनोंसे मेरी सिफारिश है कि वे अपने अंदर हिम्मत पैदा करें । परिणाम इसका यह होगा कि वे भयसे छुटकारा पा जायँगी और निर्भय रह सकेंगी । वे स्त्रियोंमें पायी जानेवाली थरथराहट या कम्पनका त्याग कर देंगी । यह कोई नियम नहीं कि हर एक सोल्जर (सैनिक) पशु बन ही जाता है । बेशरमीकी इस हदतक जानेवाले सोल्जर कम ही होते हैं । सौमें बीस ही साँप जहरीले होते हैं और बीसमें भी डँसनेवाले तो इने-गिने ही होते हैं । जबतक कोई छेड़े या सताये नहीं, साँप हमला नहीं करता । लेकिन डरपोकको इस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं होता । वह तो साँपको देखते ही थर-थर काँपने लगता है । अतएव जरूरत तो यह है कि हर एक स्त्री निर्भय बननेकी शिक्षा प्राप्त करे । माता-पिताओं और पतियोंका काम है कि वे उन्हें यह शिक्षा दें । इस शिक्षाको प्राप्त करनेका सबसे सरल उपाय तो ईश्वरमें आस्था रखना है । अदृश्य होते हुए भी वह हर एककी रक्षा करनेवाला अचूक साथी है । जिसमें यह भावना उत्पन्न हो चुकी है, वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त है ।

निडरता या आस्थाकी यह शिक्षा एक दिनमें नहीं मिल सकती । अतएव यह भी समझ लेना चाहिये कि इस दरम्यान क्या किया जा सकता है । जिस स्त्रीपर इस तरहका हमला हो, वह हमलेके समय हिंसा-अहिंसाका विचार न करे । उस समय अपनी रक्षा ही उसका परम धर्म है । उस वक्त जो साधन उसे सूझें, उनका उपयोग करके वह अपनी पवित्रताकी और अपने शरीरकी रक्षा करे । ईश्वरने उसे नाखून दिये हैं, दाँत दिये हैं और ताकत दी है । वह इनका उपयोग करे और करते-करते मर जाय । मौतके भयसे मुक्त हर एक पुरुष या स्त्री स्वयं मरके अपनी और अपनोंकी रक्षा करे । सच तो यह है कि मरना हमें पसंद नहीं होता । इसलिये आखिर हम घुटने टेक देते हैं । कोई मरनेके बदले सलाम करना पसंद करता है, कोई धन देकर जान छुड़ाता है, कोई मुँहमें तिनका लेता है और कोई चींटीकी तरह रेंगना पसंद करता है । इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर, जूझना छोड़, पुरुषकी पशुताके वश हो जाती है ।

ये बातें मैंने तिरस्कारवश नहीं लिखीं; केवल वस्तु-स्थितिका ही जिक्र किया है । सलामीसे लेकर सतीत्व-भङ्ग-तककी सभी क्रियाएँ एक ही चीजकी सूचक हैं । जीवनका लोभ मनुष्यसे क्या-क्या नहीं कराता ? अतएव जो जीवनका लोभ छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है । 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस मन्त्रके अर्थको हर एक पाठक समझ लें और कण्ठाग्र कर लें ।

दर्शक पुरुष क्या करे ?

यह तो स्त्रीका धर्म हुआ । लेकिन दर्शक पुरुष क्या करे ? सच पूछो तो इसका जवाब मैं ऊपर दे चुका हूँ, वह दर्शक न रहकर रक्षक बनेगा । वह खड़ा-खड़ा देखेगा नहीं । वह पुलिसको ढूँढ़ने नहीं जायगा । वह रेलकी जंजीर खींचकर अपने-आपको कृतार्थ नहीं मानेगा । अगर वह अहिंसाको जानता होगा तो उसका उपयोग करते-करते मर मिटेगा और सङ्कटमें फँसी हुई बहनको उबारेगा । अहिंसासे नहीं तो हिंसाद्वारा बहनकी रक्षा करेगा । अहिंसा हो या हिंसा, आखिरी चीज तो मौत है । मेरे समान बुढ़ापेके कारण अशक्त और बिना दाँतोंवाला बूढ़ा अगर ऐसे समय यह कहकर छूटना चाहे कि 'मैं तो कमजोर हूँ, यहाँ मैं क्या कर सकता हूँ ? मुझे तो अहिंसक ही रहना है ।' तो उसी क्षण उसका महात्मापन नष्ट हो जायगा और वह निन्दनीय बन जायगा क्योंकि अगर ऐसे समय वह मर-मिटनेका निश्चय कर ले और दोनोंके बीच जा खड़ा हो तो बहनकी रक्षा तो हो ही जायगी, वह उसके सतीत्व-भङ्गका साक्षी भी न रहेगा ।

इन दर्शकोंके सम्बन्धमें भी अगर वातावरण ऐसा बन जाय कि हिन्दुस्तानका कोई भी आदमी किसी भी स्त्रीकी लाज लुटते देख नहीं सकता तो पशु सिपाही भी हिन्दुस्तानी स्त्रीको हाथ लगाना भूल जायगा । किन्तु शर्मके साथ यह कबूल करना पड़ता है कि आज हमारे वातावरणमें यह तेज नहीं है । अगर हमारी इस शर्मको मिटानेवाले लोग देश-में पैदा हो जायँ तो बड़ा काम हो ।

—'हरिजनसेवक'

श्रीहरिः

सत्सङ्गकी महिमा

वर्णाश्रमाचाररता भगवद्भक्तमानसाः । कामादिदोषनिर्मुक्तास्ते सन्तो लोकशिक्षकाः ॥
सत्सङ्गः परमो ब्रह्मन् न लभ्येताकृतात्मना । यदि लभ्येत विज्ञेयं पुण्यं जन्मान्तरार्जितम् ॥
पूर्वार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै । सत्सङ्गतिर्भवेत्तस्य नान्यथा घटते हि सा ॥
रविर्हि रश्मिजालेन दिवा हन्ति बहिस्तमः । सन्तः सूक्तिमरीच्योघैरन्तर्ध्वान्तं हि सर्वदा ॥
दुर्लभाः पुरुषा लोके भगवद्भक्तिमानसाः । तेषां सङ्गो भवेद् यस्य तस्य शान्तिर्हि शाश्वती ॥

जो लोग वर्ण एवं आश्रमोचित सदाचारका पालन करते हैं, जिनका अन्तःकरण काम आदि दोषोंसे रहित है और जो स्वयं अपने हृदयमें भगवत्प्रेमी संतोंका चिन्तन करते रहते हैं, वे ही संत साधकोंको शिक्षा देनेके अधिकारी हैं । वैसे संतोंका सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ लाभ है । जिनके अन्तःकरण और इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं हैं, उनके लिये तो वह दुर्लभ ही है । यदि किसी प्रकार सत्सङ्ग मिल जाय तो पूर्व जन्मके पुण्योंका उदय समझना चाहिये । जब जन्म-जन्मान्तरके पाप नष्ट हो जाते हैं तभी सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं । सूर्य तो केवल दिनके समय अपनी किरणोंसे बाहरका अँधेरा नष्ट करते हैं, परन्तु संत अपने सदुपदेशरूपी किरणोंके द्वारा निरन्तर ही भीतरका अन्धकार मिटाते रहते हैं । अवश्य ही जगत्‌में ऐसे संत पुरुष दुर्लभ हैं, जिनके हृदयमें भगवत्प्रेमका समुद्र लहराता रहता है । परन्तु यदि कदाचित् वैसे पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय तो सर्वदाके लिये अनन्त शान्ति मिल जाती है ।

(बृहन्नारदीयपुराण ४ । १४—१८)
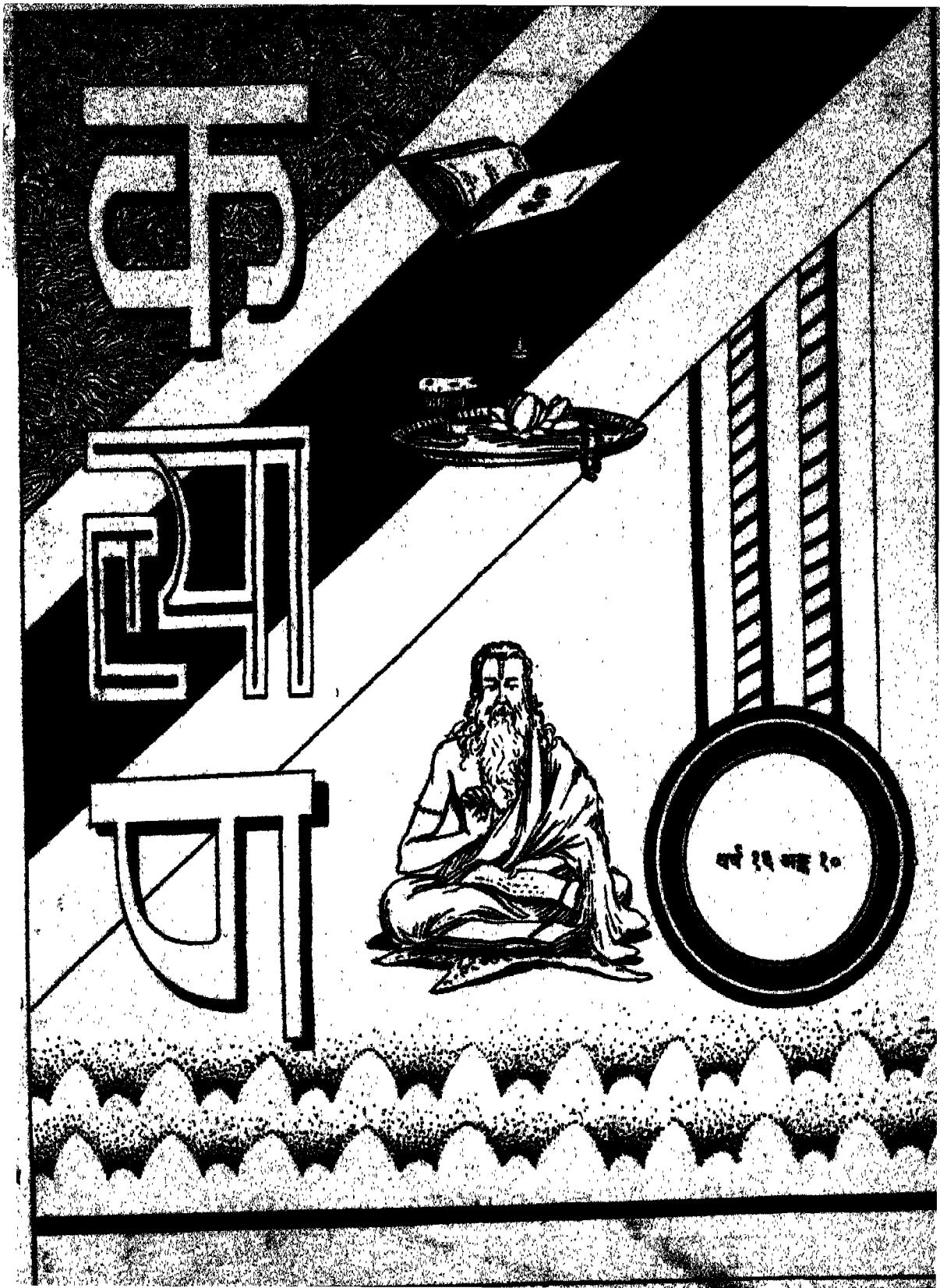
वर्ष १६ अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ६२५००]

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५=)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११३)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।=)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U. P. (India)

कल्याण मई सन् १९४२ की

विषय-सूची

अमुर-मानव

राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, मई १९४२ सौर वैशाख १९९९ { संख्या १०
पूर्ण संख्या १९०

नाम-कामतरु

कलि नाम काम तरु रामको ।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घनघामको ॥
नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बामको ।
कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे नामको ॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललामको ।
तुलसी जग जानियत नामते सोच न कूच मुकामको ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥
(अथर्व० १ । ३४ । ३)

मेरा निकट गमन मधुमय हो, मेरा मधुमय दूर गमन ।
वाणीसे मैं मधुमय बोलूँ, बन जाऊँ माधुर्य-सदन ॥

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥
(अथर्व० १० । ८ । २६)

उठ, जाग, जीव! टुक देख यहाँ; माँ तुझे जगाने आयी है ;
अजरा-अमरा माँ कल्याणी पय तुझे पिलाने आयी है ।
यह मर्त्य अनित्य विनश्वर घर—जर्जर, भर्भर गिरनेवाला ;
चल निकल यहाँसे, माँ तुझको अमरत्व दिलाने आयी है ॥
उठ, लाल! पड़ा क्यों सोता है! जननीकी सूनी गोद भरे ;
यह सुधा-सिन्धु हिल्लोल उठे, तू चिदानन्द बन मोद करे ।
यह बैठी तेरे लिये यहाँ, क्या जाने कबसे जाग रही ;
माताकी ममताने अपनी बाँकी झाँकी दिखलायी है ॥

अव यत्त्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥
(ऋ० ८ । ७९ । ९)

मेरे राजा सोम, हृदयसे द्वेष भावना दूर भगा दो ;
रहे न हिंसा वृत्ति, अमृत-सिञ्चन कर ऐसे रंग रँगा दो ।
बन जातीं विपरीत इन्हींके कारण दिव्य वृत्तियाँ मेरी ;
हो जाता है हृदय कुमतिका केन्द्र, कलुषकी बजती भेरी ।
हृदय, जहाँ तुम शोभित होते मेरे साथ परमपद शोभी,—
फिर कैसे टिक सकें वहाँपर दुर्मतियाँ दुखदायिनि लोभी ।
दूर भगा दो, दूर भगा दो—द्वेष लेश भर भी न रहे प्रभु !
हृदय सधस्थ रहे नित निर्मल, धवल धर्मकी धार बहे प्रभु ।

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥
(अथर्व० ७ । १०९ । ७)

नाथ! विकट सङ्कटकी बेला!
रिपु दल चारों ओर खड़ा है देख मुझे असहाय, अकेला ।
देवोंका आह्वान करूँ मैं, पर वे भी मुख मोड़ चले क्यों?
ब्रह्मचर्य व्रत, तप संयम सब मुझ विपन्नको छोड़ चले क्यों ?
इन्द्रिय-दमन, शमन-मन-तनका मैंने खेल व्यर्थ ही खेला!
मेरी इस दयनीय दशापर दया-दृष्टि करुणाकर डालो ;
मेरी बिगड़ी बात बनाकर कष्ट-कूपसे नाथ निकालो ।
पलटें पुण्य कर्म फिर मेरे, लगे विजय श्रीसुखका मेला ।

प्रार्थना

दयामय ! यह सच है कि तुम्हारी दया सभी जीवोंपर समान है और वह है असीम । परन्तु मैं इतना अभागा हूँ कि तुम्हारे उस करुणामृतकी वर्षामें सदा नहा नहीं पाता । जब अपने अनुकूल कोई बात देखता हूँ तब तो कभी-कभी तुम्हारी दया मान भी लेता हूँ परन्तु प्रतिकूलमें तो कभी मानता ही नहीं ! यह भी जानता हूँ कि तुम्हारी दया दोनों ही रूपोंमें आती है और आती है मेरा कल्याण करनेके लिये ही, परन्तु प्रतिकूलताके रूपमें मन उसे स्वीकार नहीं करता । प्रभो ! वह दिन कब होगा जब मैं अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंको ही तुम्हारी कृपा-सुधा समझकर बड़े आनन्दसे पी जाऊँगा । कब मैं अपमान-मान, तिरस्कार-पुरस्कार, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-हानि, सुख-दुःख और जीवन-मरण सभीमें तुम्हारी दयाके दर्शन कर परम शान्ति और सन्तोषका अनुभव करूँगा ?

मेरे प्रभो ! इस समय इस बातसे मनमें बड़ी ही पीड़ा हो रही है कि मैं तुम्हारा कहलाकर भी वस्तुतः अपनेको तुम्हारा बना नहीं पाया । देखता हूँ—स्पष्ट देख पाता हूँ कि मुझपर अब भी विषयोंका अधिकार है । कभी-कभी तो बड़ी ही बुरी तरहसे विषय-वासना अपना प्रभुत्व प्रकट करती है और बाध्य करना चाहती है अपनी गुलामी करानेके लिये ! उस समय बड़ी व्यथा होती है—बस, तुम्हारी कृपा ही उस समय बचाती है । देखता हूँ—तुम्हारी कृपाके द्वारा क्षणमें ही उस वासनाका विनाश हो जाता है । इतना होनेपर भी मैं सर्वथा तुम्हारा ही नहीं बन पाता हूँ !

मेरे सर्वशक्तिमान् स्वामी ! मालूम होता है मेरे प्रयत्नसे कुछ नहीं होगा । अब तो तुम्हीं अपनी शक्तिसे इस अधमको उठाकर हृदयसे चिपका लो । यह तुम जानते ही हो कि कभी-कभी तो मेरे प्राण तुम्हारे लिये छटपटाते ही हैं । बुद्धिका निर्णय भी यही होता है कि तुम्हारा ही बन जानेमें मेरा कल्याण है । परन्तु दुष्ट मन नहीं मानता । मेरे प्राणोंकी छटपटाहटपर विचार कर मेरे प्रभो ! तुम्हीं अपनी कृपासे मुझे बचाओ । ऐसा न करो तो यही कर दो कि मुझे न तो कभी कोई चाह हो और न मैं बार-बार प्रार्थना करके उसके लिये तुम्हें सताऊँ ही । तुम जो करो, जैसे करो, जब करो, मुझे किसी भी हालतमें कैसे भी रक्खो—मैं उसीमें सन्तुष्ट रहूँ और इस बातका अनुभव करता रहूँ कि यह सब तुम्हारी ही कृपा है । तुम्हारे अजानमें कुछ नहीं हो रहा है । तुम सोच-समझकर ही मुझे इस स्थितिमें रक्खे हुए हो—और सचमुच इसीमें कल्याण है ।

—तुम्हारा ही कोई ।

कल्याण

याद रक्खो—भगवान्‌की भक्तिमें आडम्बरकी आवश्यकता नहीं है। बाहरी दिखावा तो वहाँ होता है जहाँ भीतरकी अपेक्षा बाहरका—करनेकी अपेक्षा दिखानेका महत्त्व अधिक समझा जाता है। भक्ति तो भीतरकी वस्तु है—करनेकी चीज़ है इसमें दिखावा कैसा? बस, चुपचाप मनको चले जाने दो उनके चरणोंमें और मस्त हो रहो! जब तुम्हारे पास मन ही अपना न होगा तो दूसरी बात सोचोगे ही कैसे? दिन-रात आलिङ्गन करते रहो अपने प्रियतमका भीतरके बंद कमरेमें, और बाहरको भूल जाओ। वस्तुतः ऐसी अवस्थामें—इस मस्तीकी मौजमें बाहरकी याद आती ही किसे है?

याद रक्खो—किसी दूसरे कामके लिये भगवान्‌से प्रेम करना सच्चा प्रेम नहीं है। वह तो असलमें प्रेमका तिरस्कार है। प्रेममें चाह नहीं होती 'फिर प्रेम क्यों करते हो?' 'इसीलिये कि किये बिना रहा नहीं जाता।' 'मनको न जाने दो उधर!' 'जाने देनेकी कौन-सी बात; मन इधर तो आता ही नहीं। एक क्षणके लिये भी तो वहाँसे हटना नहीं चाहता। उसे न कोई चाह है न परवाह! वह तो मतवाला हो गया है।' यह है भगवत्प्रेम। इसीकी साधना करो।

याद रक्खो—जब सच्चे प्रेमका स्रोत हृदयमें बह निकलेगा तब क्षणमें ही अनन्त कालकी सारी कालिमा धुल जायगी। फिर स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान और तन्मयता अपने-आप ही होने लगेंगे। रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंका उदय और अभ्युदय स्वाभाविक ही होता रहेगा। ऐसा ही भक्त भुवनको पावन करनेवाला होता है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।'

याद रक्खो—सच्चा सौन्दर्य वही है, जहाँ भगवान्‌का प्रेम छलक रहा है। भगवत्प्रेमको छोड़कर जो कुछ भी है वह तो सदा ही भयानक और बीभत्स है। मन जब विषयासक्तिसे रहित होकर सारी असद्भावनाओंसे मुक्त हो जाता है तब उसमें भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रेमसे जिस स्वरूपका प्रकाश होता है, वस्तुतः वही यथार्थ सुन्दर है।

याद रक्खो—इस प्रेमकी साधनाके लिये आवश्यकता है निष्कपट प्रेम-कामनाकी। बस, उनका प्रेम ही चाहो, प्रेमसे ही चाहो, प्रेममें ही चाहो। दिल खोलकर सरलतासे उन्हें पुकारो। भगवत्प्रेम निष्कपट प्रेम-कामनासे ही मिलता है। मनको टटोल-टटोलकर देखते रहो उसमें कोई दूसरी कामना छिपी तो नहीं है।

याद रक्खो—तुम जिसको चाहते हो, जिसको अपना बनाना चाहते हो उसके अनुकूल तो तुम्हें होना ही पड़ेगा। तुम भगवान्‌को और उनके प्रेमको चाहोगे तो तुम्हारा पहला कर्तव्य होगा, तन-मनसे उनके अनुकूल चलना! साथ ही तुम्हें अपने बाहर-भीतरके आचरणोंसे यह भी सिद्ध कर देना होगा कि तुम उनके सामने भोग-मोक्ष सभीको तुच्छ समझते हो। इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है, नहीं तो विशुद्ध प्रेम-कामना ही उदय नहीं होगी।

'शिव'

श्रीश्रीहाथीबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—बाबा, श्रीकृष्णदर्शनका उपाय क्या है ?

उत्तर—श्रीकृष्णके दर्शनोंकी लालसा ही श्रीकृष्णदर्शनका मुख्य उपाय है। जबतक मन इस संसारसे नहीं फिरता, तबतक आनन्द नहीं आता। देखो, गोसाईंजी भी कहते हैं—

जगते रहु छत्तीस ह्वै, रामचरन छः तीन।
तुलसी देखि बिचारिऐ, हैं यह मतौ प्रवीन॥

संसारमें हमारा जितना राग है, उससे हजारों गुनी अधिक लालसा कृष्णदर्शनकी बनी रहनी चाहिये। जबतक मन संसारमें भटकेगा, तबतक कृष्णदर्शन नहीं हो सकता। अरे, जब तुम जगत्को देखोगे तो जगत् दिखायी देगा और जब श्रीकृष्णको देखना चाहोगे तब श्रीकृष्ण दिखायी देंगे।

प्र०—कीर्तन कैसे करना चाहिये ?

उ०—कीर्तन हर समय और अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिये। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—'सततं कीर्तयन्तो माम्।' उसके साथ हार्दिक प्रेम भी होना चाहिये। प्रेम वह वस्तु है, जिससे प्रभु मिल जाते हैं। किन्तु वह होना चाहिये सर्वथा शुद्ध, उसमें कपटका लेश भी नहीं होना चाहिये। देखो, भगवान् ही कह रहे हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

प्र०—बाबा, हम लोग गृहस्थ हैं; हमारा उद्धार कैसे होगा ?

उ०—गृहस्थ क्या नरकमें जानेके लिये ही आया है ? और साधु क्या बिना भजन किये ही तर जायगा ? अरे! चौबीस घंटोंमें कुछ समय तो भजनमें लगाओ। गृहस्थ हो या साधु—कल्याण तो सबका भजनसे ही होगा, बिना भजन तो कुछ होना नहीं है।

× × × × ×

१. जिनकी सब आशाएँ शान्त हो गयी हैं, वे ही सुखी हैं और वे ही धनी हैं। जिसे तरह-तरहकी आशाएँ घेरे रहती हैं, वह पैसेवाला होनेपर भी काहेका धनी है।

२. सब महापुरुषोंका मत यही है कि सत्यको ग्रहण करे और भगवान्का भजन करे। भजन ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है।

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥

भजन ही ऐसा स्वार्थ है, जिससे जीवका कल्याण हो सकता है। और सब स्वार्थ तो आत्मकल्याणसे दूर ही ले जानेवाले हैं।

३. सारे संसारको प्रभुमय देखना ही सम्यक् ज्ञान है। ऐसी दृष्टि बनानेकी कोशिश करनी चाहिये। सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है। जिसकी दृष्टिमें सारा जगत् प्रभुमय है, वह किससे विरोध करेगा ? उसके लिये तो किसीसे विरोध करना प्रभुसे ही विरोध करना है। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

४. सत्संगकी बड़ी महिमा है; वह सुगमतासे मिलता भी नहीं। जब भगवान्की कृपा होती है, तभी सच्चे साधुओंका संग मिलता है; उस साधुसमागमके बिना जीवके विवेकरूप नेत्र नहीं खुलते। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

५. आजकल बहुत-से साधु आश्रम और कुटिया बनानेमें लग जाते हैं। यह ठीक नहीं। साधुको ऐसी प्रवृत्तिमें नहीं फँसना चाहिये। यदि इसमें कोई दोष न होता तो शास्त्र मने क्यों करता? साधुको चाहिये कि फूसकी कुटीमें पड़ा रहे। इस प्रकार रहेगा तो जब मौज होगी छोड़कर चल देगा। घर बनाकर रहनेपर तो उसे छोड़ना कठिन ही होगा।

६. याद रक्खो, जन्म और मृत्यु—ये दोनों महान् रोग हैं, जो सभीको लगे हुए हैं। जब इन दोनों रोगोंसे छुटकारा मिले, तभी समझना चाहिये कि काम बना। ये बड़े दारुण दुःख हैं। इनसे छुट्टी पानेकी एकमात्र महौषधि भगवद्-भजन ही है; बिना भगवान्‌का भजन किये जन्म-मरणसे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीसे श्रीगोसाईंजी भी कहते हैं—

'भज मन राम चरन दिन राती॥'

एक एकान्तवासी महात्माके उपदेश

स्थिर हो जाओ और अनुभव करो कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' हाँ, मनकी स्थिरताका अभ्यास करते रहो, और सब-कुछ ठीक हो जायगा। सारे विषयसम्बन्धी विचारोंको दूर करके, अन्तःकरणमें चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करो; मान लो वहाँ (तुम्हारे हृदयमें) एक सुन्दर कमल है, जहाँ नित्य चैतन्यका निवास है। यह केवल एकाग्रताका एक ढंग है, और कुछ नहीं। वस्तुतः चितिशक्तिका न कोई नाम है न रूप। जब मनको तुम निर्विषय कर देते हो उस समय केवल चितिशक्ति रह जाती है, जो प्रेममय, शान्तिमय और आनन्दमय है। तब मन निश्चयपूर्वक उस चितिशक्ति अर्थात् नित्य-चैतन्यमें विलीन हो जाता है। इस साधनाको प्रतिदिन कुछ समयतक नियमितरूपसे करो, और उस समय किसी भी प्रकारके चिन्तन या विचारको मनमें न आने दो। दूसरे समय विक्षेप डालनेवाले वैषयिक विचारोंसे बिल्कुल दूर रहनेकी यथाशक्ति चेष्टा करो। सदा मनको शान्त और स्थिर रक्खो; केवल प्रेम, शान्ति और आनन्दके विचारोंको स्थान दो। वासनाओंको दूर करके शुद्धता प्राप्त करो, तुम्हें नित्य शान्तिकी प्राप्ति होगी, जो जीवनका लक्ष्य है। याद रक्खो—'सदा प्रेममें विचरण करना और सबके प्रति प्रेमभाव रखना ही सच्चा जीवन है, वास्तविक जीवन है।'

शान्ति और आनन्दकी प्राप्तिके लिये तुम्हें जैसे हो सके अपने विचारोंको शुद्ध करना पड़ेगा। ध्यान रक्खो, स्वार्थपरताकी भावना कभी तुम्हारे मनको दूषित न करे। सांसारिक जीवोंको यहाँ केवल एक ही महान् और दैवी शिक्षा लेनी है, और वह है पूर्ण निष्काम भावना। सभी युगोंमें जिन्होंने इस शिक्षाकी प्राप्तिमें अपनेको लगा दिया, इस शिक्षाको प्राप्त कर तदनुकूल आचरण किया, वे ही संत, महात्मा और उद्धारक कहलाये। संसारके समस्त धर्मग्रन्थ इसीका पाठ पढ़ानेके लिये रचे गये हैं। समस्त बड़े-बड़े आचार्य इसीको दुहराते हैं। संसार····जो इसकी अवहेलना करके स्वार्थपरताके जटिल पथपर लड़खड़ा रहा है उसके लिये यह सरल शिक्षा है। हृदयको पवित्र करना ही सब धर्मोंका लक्ष्य है और यहींसे आध्यात्मिकताका प्रारम्भ होता है।

सामाजिक आराम, क्षणिक सुख अथवा सांसारिक

जीतसे जो शान्ति मिलती है वह अनित्य है, और जीवन-की अग्निपरीक्षाके तापमें दग्ध हो जाती है। केवल आध्यात्मिक शान्ति सब प्रकारकी परीक्षाओंके बीच एकरस बनी रहती है, और केवल निष्काम हृदयके द्वारा ही उस शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

पवित्रता ही अमर शान्ति है। आत्मसंयमसे इसकी प्राप्ति होती है, और इस पथपर यात्रा करनेवालेके लिये निरन्तर बढ़ता हुआ विवेकका प्रकाश मार्गप्रदर्शकका काम करता है। धर्मके पथपर आरूढ़ होते ही विवेक-का प्रकाश कुछ सामने आ जाता है, परन्तु इसका पूर्ण अनुभव तो तब होता है जब निर्दोष जीवनकी ज्वालामें अहंकार विलीन हो जाता है।

यदि तुम अनन्त सुख और अक्षय शान्तिकी प्राप्ति करना चाहते हो, यदि तुम अपने पापोंसे, दुःखोंसे, चिन्ताओंसे, अपनी कठिनाइयोंसे सदाके लिये छुट्टी पा जाना चाहते हो, यदि तुम्हें मुक्तिकी आकांक्षा है, इस प्रकारके परम दिव्यजीवनकी अभिलाषा है, तो अपने-आपपर विजय प्राप्त करो। अपने हृदयमें स्थित दैवी शक्तिकी आज्ञाके अनुसार प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना तथा प्रत्येक कामनाको सञ्चालित करो। इसके सिवा शान्तिका और कोई मार्ग नहीं है। यदि तुम इस मार्गपर चलनेके लिये तैयार नहीं हो तो कर्मविधिका चाहे कितना ही दृढ़तापूर्वक पालन करो, सब निष्फल और व्यर्थ हो जायगा, और कोई देवी-देवता तुम्हारी सहायता न करेंगे। जो अपने-आपपर विजय प्राप्त कर लेता है उसीको वह नवजीवनका श्वेत पत्थर, जिसपर नये अक्षरोंमें कभी न मिटनेवाला नाम लिखा होता है प्रदान किया जाता है। तुम्हारी सत्य और शाश्वत आत्मा ही तुम्हारे भीतर रहनेवाला तीर्थस्थान है। तुम्हारे भीतर वही ईश्वरीय तत्त्व है।

कुछ समयके लिये विषयोंसे, इन्द्रियोंके भोगोंसे, बुद्धिके ऊहापोहसे, सांसारिक झंझटोंसे अलग होकर अपने हृदयकी गुफाके अन्तरालमें प्रवेश करो; वहाँ सारी स्वार्थयुक्त कामनाओंके दूषित आक्रमणोंसे मुक्त होकर तुम्हें एक पवित्र शान्ति, आनन्दमय धामकी प्राप्ति होगी; और तुम्हारे निर्दोष नेत्र वस्तुओंको वास्तविक रूपमें देखेंगे।

बाह्य जगत्में निरन्तर सङ्घर्ष, परिवर्तन और अशान्ति चलती रहती है परन्तु प्रत्येक वस्तुके भीतर अक्षय शान्ति निवास करती है। उस गम्भीर निस्तब्धतामें चेतनका निवास है।

छोटे बच्चोंके समान निर्दोष बनो। अपनी दान-शीलताको इतना बढ़ाओ, उसका इतना प्रसार करो कि अहङ्कार दयाके प्रवाहमें बह जाय।

ईर्ष्या न करो। क्रोध और द्वेषसे अलग रहो। सबके प्रति समान और एकरस दया तथा स्नेहका भाव रक्खो और वैसा ही बर्ताव करो। कठिन-से-कठिन परीक्षामें भी कभी कटुता न आने दो, अथवा कटु शब्दोंका प्रयोग न करो। बल्कि क्रोधको शान्तिसे, उपहासको धैर्यसे और द्वेषको प्रेमसे जीत लो। कभी दलबंदीमें न पड़ो, बल्कि शान्तिस्थापक बनो। कभी लोगोंके भेद-भावको न बढ़ाओ, अथवा दूसरे पक्षके विरुद्ध एक पक्षकी सहायता करके झगड़ा न बढ़ाओ, बल्कि सबको समान रूपसे न्याय, प्रेम और सद्भावका दान करो। दूसरे आचार्यों, धर्मों तथा सम्प्रदायोंको हेयदृष्टिसे न देखो। गरीब और अमीर, मालिक और नौकर, शासक और शासितमें भेद-भाव उपस्थित न करो; बल्कि अपने-अपने कर्तव्योंमें रत इन सबोंके प्रति समान बुद्धि रक्खो। निरन्तर मनः-संयम करनेसे, कटुता और द्वेषको दूर करने और आदर्श दयाकी प्राप्तिकी चेष्टा करनेसे अन्तमें साधुताका उदय होगा।

फलकी चिन्ता छोड़कर पूरी ईमानदारीसे अपने कर्तव्योंका पालन करो। सुख या स्वार्थकी कोई कामना तुम्हें कर्तव्य-पथसे च्युत न करे। दूसरोंके कर्तव्यमें हस्तक्षेप मत करो। सदा न्यायशील बने रहो। कठिन-से-कठिन परीक्षामें, तुम्हारा जीवन और सुख खतरेमें पड़ जाय तो भी, सत्यसे विचलित न होओ। दृढ़ सङ्कल्पवाला पुरुष अजेय होता है। वह धोखा नहीं खा सकता, और वह संशय तथा भ्रमके दु:खमय जालसे बचा रहता है। यदि कोई तुम्हें गाली दे, तुम्हारी निन्दा या उपहास करे, तो तुम शान्त और धीर बने रहो; और यह स्मरण रखनेकी चेष्टा करो कि तुम्हारी बुराई करनेवाला तबतक तुम्हें हानि नहीं पहुँचा सकता जबतक तुम बदला लेनेके लिये तैयार नहीं होते, और स्वयं तदनुकूल मानसिक अवस्थाको नहीं प्राप्त होते। बल्कि उस बुरा करनेवालेके प्रति दयाका भाव रक्खो, यह समझकर कि वह स्वयं अपनी ही हानि कर रहा है।

पवित्र विचारवाला पुरुष कभी नहीं सोचता कि दूसरेसे उसकी हानि होती है। वह तो अपने अहङ्कार-के सिवा किसीको शत्रु ही नहीं मानता।

केवल उन्हीं बातोंको कहो जो सत्य और यथार्थ हों। शब्द, संकेत या भावके द्वारा किसीको धोखा न दो। मिथ्यापवादसे उसी प्रकार बचो, जिस प्रकार तुम घातक सर्पसे बचते हो; नहीं तो तुम उसके जालमें फँस जाओगे। वह मनुष्य जो दूसरोंकी निन्दा करता है कभी शान्तिके मार्गपर नहीं पहुँच सकता। व्यर्थके बकवादसे दूर रहो। दूसरोंकी निजी बातोंपर विचार न करो, समाजके रंग-ढंगपर बहस न करो और किसी प्रसिद्ध पुरुषकी आलोचना न करो। किसी-को, जो तुम्हें दोषी बताता है, दोषी या अपराधी न ठहराओ, बल्कि अपने शुद्ध आचरणके द्वारा अपने ऊपर आरोपित दोषका निराकरण करो। जो सन्मार्गपर नहीं चल रहे हैं, उनकी निन्दा मत करो, बल्कि स्वयं सन्मार्गपर चलते हुए दयाभावसे उनकी रक्षा करो। सत्यके शुद्ध जलसे क्रोधकी अग्निको शान्त कर दो। विनीत होकर बातें करो; और नीरस, व्यर्थ तथा निष्प्रयोजन परिहासमें भाग न लो। गम्भीरता और सबके प्रति पूज्य भाव ही शुद्धता और ज्ञानके चिह्न हैं।

सत्यके विषयमें विवाद न करो, बल्कि सत्यमय जीवन बनाओ। सारे भ्रम और संशयको दूर करके *अपरिमित श्रद्धापूर्वक ज्ञानके पाठका अभ्यास करो।* किसी प्रलोभनमें पड़कर सत्यपथसे विचलित न होओ। आवेशमें न आओ। वासनाओंके जाग्रत् होनेपर उन्हें रोको और निर्मूल करो। जब मन चञ्चल हो उठे तो उसे लौटाकर ऊँची वस्तुओंमें लगाओ। यह मत सोचो कि तुम्हें गुरुसे या पुस्तकोंसे सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। तुम्हें सत्यकी प्राप्ति केवल साधनासे ही हो सकती है। गुरु और ग्रन्थ तुम्हें शिक्षाके अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रदान कर सकते, और उसे तुम्हें स्वयं आचरणमें लाना होगा। केवल वे ही पुरुष, जो प्राप्त हुए नियमों-का तथा शिक्षाओंका श्रद्धापूर्वक अभ्यास करते हैं, और पूर्णतया अपने प्रयत्नका ही भरोसा करते हैं, ज्ञानकी उपलब्धि कर सकते हैं। सत्यका अर्जन करना ही होगा। शकुनोंके फेरमें न पड़ो। आत्माओं अथवा मृत पुरुषोंसे वार्तालाप करनेका उद्योग न करो; बल्कि सत्यकी साधनाके द्वारा दिव्यज्ञान, विवेक और धर्मकी प्राप्ति करो। गुरुमें विश्वास रक्खो, धर्ममें विश्वास रक्खो, और धर्मके मार्गपर विश्वास रक्खो।

दृढसङ्कल्प बनो। एक उद्देश्य रक्खो। अपने सङ्कल्पको प्रतिदिन दृढ करते जाओ।

सारी अवस्थाओं और परिस्थितियोंमें धर्म, आनन्द,

शान्ति, तपस्या, दया, साधुता, श्रद्धा, विनय, धैर्य और इन्द्रिय-निग्रह आदि दैवी गुणोंका ही प्रकाश करो। क्रोध, भय, सन्देह, ईर्ष्या, मात्सर्य, राग, द्वेष और शोकसे पूर्णतः मुक्त हो जाओ। भागवतधर्ममें जीवन व्यतीत करते हुए सांसारिक गुणोंके विपरीत गुणोंको ही अभिव्यक्त करो जिनको लोक मूढ़ताके नामसे पुकारते हैं। अधिकारकी इच्छा न करो, अपने पक्षका समर्थन न करो। बदला लेनेका विचार छोड़ दो। जो तुम्हें हानि पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं; उनका भी भला करो। अपना विरोध करनेवालों तथा आक्षेप करनेवालोंके प्रति भी उसी प्रकारकी सज्जनताका व्यवहार करो, जैसा कि तुम उन लोगोंके प्रति करते हो जो तुम्हारे-जैसे ही विचार रखते हैं। दूसरोंके विषयमें अपना निर्णय मत दो। किसी भी आदमी या मतका विरोध मत करो, और सबके साथ शान्तिसे रहो।

याद रक्खो—स्वर्ग कोई ऐसी काल्पनिक वस्तु नहीं है जो मरनेके बाद प्राप्त होती है, वह एक यथार्थ वस्तु है और सदा ही हृदयमें उपस्थित रहती है। जहाँ प्रेम है वहीं ही स्वर्ग है, और वहाँ सदा ही शान्तिका निवास है।

सदा प्रेम और शान्तिका चिन्तन करो। ये ही दो मुख्य वस्तुएँ हैं। इनके अनुसार ही पूर्णतः अपने चरित्रका गठन करो और तुम्हारा जीवन अत्यन्त ही आनन्दमय हो जायगा।

भव-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये धर्म एवं सदाचारके प्रसिद्ध नियमोंको ही यहाँ बारंबार दुहराया गया है, केवल इसी दृष्टिसे कि वे तुम्हें बराबर स्मरण रहें और तुम दृढ़तापूर्वक उनका अभ्यास करते रहो। मेरे विचारसे जीवनको शान्तिमय और आनन्दमय बनानेके लिये और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। अतएव खूब दृढ़तापूर्वक इनकी साधनामें लगे रहो। अद्भुत सफलतापूर्वक तुम्हें उद्देश्यकी प्राप्ति हो जायगी।

कामना

नर-देह पाऊँ, जन्म धारूँ पयस्विनीके तीर,
कामद की नित्य ही परिक्रमा लगाऊँ मैं।
वृक्ष जो बनूँ तो मन्दाकिनी किनारे वहीं,
मीन जो बनूँ तो कुण्ड-जानकी नहाऊँ मैं॥
खग-देह पाऊँ तो प्रमोद-वन बीच बसूँ,
'कमलेश' नाथके अनन्त गुण गाऊँ मैं।
रज बन जाऊँ, पाऊँ फटिकशिलाको पन्थ,
पाहनको टूक चित्रकूटको कहाऊँ मैं॥

—लक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश'

मुख्यलीला-रहस्य

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ।

श्रीभागवतम् ।

श्रीकृष्णभगवान्‌की मुख्य लीलाएँ रासलीला आदि हैं। श्रीकृष्ण यदि रासलीला आदि चरित्र न करते तो श्रीकृष्णका वास्तविक भगवत्त्व प्रकाशित न होता। रासलीलासे ही भगवान् श्रीकृष्णका पूर्ण परब्रह्मत्व सिद्ध हुआ है। इसलिये ये मुख्य लीलाएँ हैं।

राजसूय-यज्ञके सम्पूर्ण होनेपर राजा युधिष्ठिरने देवर्षि श्रीनारदसे वर्णाश्रमधर्मोंका रहस्य पूछा। श्रीनारदजीने संक्षेपमें उनका वर्णन किया। वर्णनके समाप्तिमें श्रीनारदने कहा—

'यूयं नृलोके बत भूरिभागाः।'

'राजन्! इस मनुष्यलोकमें तो तुम सबसे अधिक भाग्यवान् हो।' 'क्यों भगवन्?'

'लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।'

'क्योंकि तुम्हारे घरपर आ-आकर, लोकको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े मुनिलोग निवास कर रहे हैं।'

राजाने कहा—भगवन्! यह तो इनका अनुग्रह है। किन्तु यज्ञ तो समाप्त हो चुका, उनका पूजन भी हो चुका; फिर ये क्यों निवास कर रहे हैं? तो नारद उत्तर देते हैं—

'येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।'

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७५)

'तुम्हारे घरमें मनुष्यके चिह्नोंको धारण करके छिपे हुए परब्रह्म निवास करते हैं; इसलिये जबतक यह परब्रह्म यहाँ निवास करते रहेंगे; मुनिलोग भी तुम्हारे घरसे नहीं जायँगे।' नारदजीकी बात राजा युधिष्ठिरकी समझमें न आयी। कौन परब्रह्म? क्या गूढ़? क्या मनुष्यलिङ्ग? तो सबको निःसन्देह करनेके लिये श्रीनारद ऋषि पासमें ही विराजित श्रीकृष्णका श्रीहस्त पकड़कर बोले—'राजन्!

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्माऽर्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७६)

ये श्रीकृष्ण ही वह परब्रह्म हैं, यह आप निश्चित जानिये। ऐसे बड़े-बड़े मुनिलोग जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं और जो केवल, सबके अन्तमें बाकी रहनेवाले, अप्रमेय, आनन्दके अनुभवमात्र कहे जाते हैं, वे ही अप्रमेय आनन्दानुभव आजकल आपके अति प्यारे, जातिके, मामाके पुत्र, आत्मा (अपनपा), पूजनीय, नौकर भी और गुरु भी बनकर आपके घरमें विराजमान हैं।'

'इन श्रीकृष्णके अव्यक्त मूलस्वरूपको तुमने नहीं समझा, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। इनकी माया ही ऐसी है—

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ७७)

तुम ही क्या इनके वास्तविक रूपको अपनी बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझकर, श्रीमहादेव और ब्रह्मादि देवगण भी वर्णन नहीं कर पाये। केवल चुपचाप और हृदयको निर्विकार—विशुद्ध बनाकर प्रेमसे इनकी पूजा-सेवा करते रहे और अब भी करते हैं।'

इस प्रकार एक श्रीनारद ऋषिने ही नहीं, ब्रह्मा, श्रीमहादेव, सनकादि और कपिलादि महर्षियोंने भी खूब अनुभव करके श्रीकृष्णके स्वरूपको अप्रमेयानन्द कहा है। साधारण जनता जिसे न समझ सके, ऐसा इनका स्वरूप ही है; इसमें किसीका दोष नहीं है। कहीं वस्तुका स्वरूप ही ऐसा होता है, जहाँ प्रत्यक्ष घबड़ा जाता है, युक्ति काम नहीं करती, पर जिसे बलात् मानना पड़ता है। ऐसोंके लिये ही वेद है।

गोपालतापिनी, नारायणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद् आदि वेद ऐसे हैं जो अनुभूत प्रकट परब्रह्मका निरूपण करते हैं, और कितने ही छान्दोग्यादि वेद ऐसे हैं, जो स्वसामर्थ्यसे अशक्यानुभव अप्रकट परब्रह्मका निरूपण करते हैं। पर दोनों एक ही वस्तुका निरूपण करते हैं, यह निश्चय है। परब्रह्म कहें चाहे रस कहें वस्तु एक ही है। एक कहता है—

वह पर है, किसीकी दृष्टिमें, समझमें पूरा-पूरा नहीं आया है; किन्तु सर्वत्र वही-वह फैल रहा है। दूसरे कहते हैं—रस्यते आस्वाद्यते असौ रसः। हमने उसका रस लिया है, अनुभव किया है—'रसो वै सः'। 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

माकी आज्ञा मानकर पिताको जान लेनेवाले कहते हैं कि हम दोनों तरहकी श्रुतियोंसे प्रतिपादित परब्रह्म आनन्दमय श्रीकृष्णको स्वीकार करते हैं। वह परब्रह्म भी है, रसरूप श्रीकृष्ण भी है। गीता और भागवत आस्तिकोंकी माता है। उन्होंने श्रीकृष्णको ऐसा ही कहा है।

रसका अगाध होना असम्भव नहीं। और ब्रह्मका निरतिशय होना असम्भव नहीं। 'आनन्दं ब्रह्म' (तैत्ति०)। जब कह दिया तो वह अतलस्पर्शी और निरतिशय हो चुका। वह इतना चतुरस्र महामहत् है कि कभी किसीने उसका पार न पाया। इसीलिये इस रसब्रह्मसे बढ़कर कोई भी अन्य पदार्थ नहीं है। 'निर्गतः अतिशयो यस्मात्।' यही हमारी श्रुतियाँ 'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'तम आसीत्' आदि कह रही हैं। अतएव वह अतलस्पर्शी भी है। वाणी और मन उसको न कह सकते हैं और न समझ ही सकते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ नहीं है, अन्धकार था। ऐसी अवस्थामें यदि नयी रोशनीवालोंको श्रीकृष्णके स्वरूपमें या उनके चरित्रोंमें कुछ आशंकाएँ या असम्भावनाएँ हों तो इसमें नयी बात कौन-सी है। उनका स्वरूप ही ऐसा है कि साधारण जनताकी समझमें नहीं आ सकता। केवल मौन, उपशम और भक्तिसे ही समझमें आ सकता है, सो भी उनका अनुग्रह हो तो।

हमारी समझसे तो जो लोग 'नेति नेति', 'यतो वाचो' आदि श्रुतियोंका अर्थ 'ब्रह्म सर्वथा मन-वाणीसे अगम्य है' यह मान रहे हैं वे भूल करते हैं। 'नेति' श्रुति तो ब्रह्मके लौकिक प्रकारका निषेध कर रही है। क्योंकि 'इति' शब्द प्रकारवाची है। और 'यतो वाचः' श्रुति जीव-वाणी, जीव-मनका निषेध करती है क्योंकि प्रतीतका ही निषेध हो सकता है। सो ठीक ही है। लौकिक बुद्धि एवं मन अशुद्ध, भ्रान्त रहते हैं, अतः ऐसे मन-वाणी वहाँ नहीं पहुँचते। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' आदि श्रुतियाँ कहती हैं कि वह ब्रह्म मिलता भी है। यह कैसे? मिलता भी है और नहीं भी? लौकिक मन-वाणी उसे पाते नहीं, और अनुभवकर्ता लोग अपने बाहर-भीतर सर्वत्र उसका अनुभव करके आनन्दमग्न होते हैं। ये विरुद्ध बातें कैसी? किन्तु किया क्या जाय। जो वस्तु जैसी होती है, उसे वैसा ही कहा जाता है। चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, लोह-चुम्बक आदि अनेक पदार्थ ऐसे अद्भुत हैं कि जिन्हें उनके स्वरूपमें रखकर ही समझना पड़ता है। जो सहज ही समझमें नहीं आते, उनको समझनेके लिये कुछ-न-कुछ उपाय निकालना होता है। कभी-कभी अनुमानसे भी पता लगाया जाता है। 'मान लो', 'समझो' इत्यादि सम्भावनारूप उपायसे भी समझ लेते हैं। वेदने भी कई बार इस सम्भावना (मान लो) उपायसे ब्रह्मको समझाया है।

पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

'इदम्'—यह दीखने और सुननेमें आनेवाला पदार्थ—जगत् पूर्ण है। और जो परोक्ष है, समझमें नहीं आता, वह ब्रह्म भी पूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्मसे ही पूर्ण (भरा-पूरा) जगत् निकलता है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब पूर्णमेंसे पूर्ण निकल आया, तब वह पूर्ण कहाँसे रहा। तब आगे श्रुति कहती है कि यही उसकी विशेषता है, पूर्णता है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ब्रह्म पदार्थ ही ऐसा है कि पूर्णमेंसे पूर्ण निकाल लेनेके बाद भी वह पूर्णका पूर्ण ही बच रहता है। वह अनन्त है और पूर्णता पारिभाषिक है। इसलिये पूर्ण ही रहा आता है। ऐसे अनन्तानन्द भगवान्को लोकमें समझाना है। तब श्रुतिने दृष्टान्तके द्वारा इस सम्भावना उपायसे अनन्तानन्दको समझाया—

युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।
(तै० अ० वही)

अर्थात् मान लो कि दुनियामें कोई युवा हो। यहाँ 'स्यात्' क्रियामें सम्भावनार्थक लिङ्लकार है। यह सम्भावनार्थक 'स्यात्' सर्वत्र दिया गया है। और वह युवा साधु, भला अर्थात् सदाचार सम्पन्न हो। जवानमें जो आनन्द है उससे बढ़कर सदाचारसम्पन्न युवामें आनन्द है। यदि इतना होनेपर भी उसकी आशाओंकी पूर्ति न होती हो तो आनन्द कम रहता है। इसलिये कहते हैं कि नहीं 'आशिष्ठः' उस साधु युवाके सब मनोरथ पूर्ण होते हों। तब और भी अधिक

आनन्द रहता है। और फिर वह द्रढिष्ठ और बलिष्ठ भी हो, अर्थात् पूर्ण मनोबल और शारीरबलवाला हो। इससे सुखकी सीमा और बढ़ी। इसपर भी यदि सब तरहके द्रव्योंसे भरी हुई यह पृथ्वी उसीकी हो। यह एक पूर्ण मानुष-आनन्द है। यद्यपि विचित्र कर्मवश मनुष्यके पास ये सब सुखसाधन होने दुर्लभ हैं, तथापि 'स्यात्' यह देकर सम्भावना की है। कदाचित् एकके पास ही ये सब सुख हों, तब वह सब एक 'मानुषसुख' कहा जाता है। यह मानुष आनन्द सबको प्रत्यक्ष है। अब इस आनन्दको दृष्टान्त बनाकर यदि इससे भी सौगुने, हजारगुने या अनन्त आनन्दका भी अंदाजा लगाया जाय तो बात कुछ समझमें आ सकती है। यों समझकर ही श्रुतिने मनुष्य और गन्धर्वोंके आनन्दोंसे प्रारम्भ कर अक्षरब्रह्मपर्यन्त एक-एकसे सौगुने आनन्दोंका अंदाजा लगाया है। और वहाँ सर्वत्र 'स्यात्' पदकी अनुवृत्ति की गयी है।

'ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः (स्युः) स एको ब्रह्मण आनन्दः।'

अर्थात् प्रजापतिके आनन्दका जो सौगुना आनन्द है, वह अक्षर ब्रह्मका एक आनन्द है। अब इसके आगे जो परब्रह्म है, उसके आनन्दके अनुमानके लिये श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

परब्रह्मके आनन्दको समझानेके लिये तो वाणी और मन दोनों असमर्थ हैं। इतना होनेपर भी पूर्वोक्त सम्भावनात्मक दृष्टान्तोंसे आस्तिकोंके हृदयमें किसी तरह उस अमेय अनन्त पूर्ण आनन्दरूप भगवान्‌की धारणा जम जाती है। किन्तु क्या यह धारणा, यह समझ, प्रत्यक्ष आनन्दकी समझके बराबर है? कभी नहीं। भले मानुषानन्द प्रत्यक्ष हो; किन्तु उसके दृष्टान्तसे सहस्रों श्रुतियाँ भी यदि उस अनन्तानन्दकी समझको हृदयमें जमाना चाहें तो भी प्रत्यक्षकी तरह वह समझ पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। कुछ-न-कुछ समझकी न्यूनता बनी ही रहती है। और न्यूनता वेदके हृदयमें भी खटकती है। श्रुतियाँ भी समझती हैं कि उस आनन्दका प्रत्यक्ष हुए बिना हम उसे न समझ सकती हैं और न समझा ही सकती हैं।

हमारी समझ (ज्ञान) हम हैं, हमारी इन्द्रियाँ भी हम हैं, और हमारा शब्द भी हम हैं। इसी तरह वेदरूप शब्दराशि भी भगवान्‌का ही एक रूपान्तर है, यह ठीक है। तथापि वह अपने (भगवान्‌के) ही स्वरूपको प्रत्यक्षमें लाये बिना लोकके हृदयमें वैसे परब्रह्मको उतार नहीं सकता। और जबतक वह हृदयमें जमता नहीं, तबतक लोक भगवन्मय—तन्मय नहीं हो सकता। और वेद तो लोकको भगवन्मय बनाना चाहता है।

इसलिये एक बार श्रुतियोंने उस अगाध अमेय अनन्तानन्दसे ही अपने आनन्दका मानुष प्रत्यक्षानुभव करानेकी प्रार्थना की। 'हे भगवन्! जिस प्रकार नित्यसिद्धा गोपिकाएँ आपके आनन्दका अनुभव करती हैं, उसी तरह हम भी आपके रसका अनुभव कर सकें—ऐसा अनुग्रह कीजिये। हम अपने साधनोंसे अनुभव करनेमें अशक्त हैं, अब तो अनुग्रह-मार्गके सिवा अन्य गति नहीं है। इतना अनुग्रह कीजिये।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

नित्यसिद्धा गोपियोंकी तरह पूर्णानन्दका अनुभव हो, इसके लिये मनुष्य-जन्म और स्त्री-जन्म आवश्यक है। मनुष्य-जन्ममें ज्ञानके साधन ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण पूर्ण हैं। अतएव रसका अनुभव इस जन्ममें जितना पूर्ण होता है, उतना अन्य जन्ममें नहीं। अतएव परब्रह्म पुरुषोत्तमने यही मनमें विचारकर सचेतना श्रुतियोंको सारस्वतकल्पमें व्रजमें गोपी और गोप-स्त्रीरूपसे प्रकट किया। श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं—अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा। गौरी, गणपति, इन्द्र, पृथ्वी, जल आदि उसीके चेतनाचेतन अवयवोंद्वारा उस परब्रह्मका ही निरूपण करनेवाली श्रुतियाँ अन्यपूर्वा हैं। क्योंकि पूर्वमें अङ्गका और फिर उसके द्वारा अङ्गी भगवान्‌के स्वरूपका अनुभव करती हैं, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दं ब्रह्म', 'रसो वै सः', 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुतियाँ साक्षात् परब्रह्मका ही निरूपण करती हैं—इसलिये अनन्यपूर्वा कही जाती हैं। जब ये व्रजगोपी रूपमें मानुष होकर प्रकट हुईं, तब भी अन्यपूर्वा-अनन्यपूर्वा रूपमें ही प्रकट हुईं।

इधर पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भी वरदानकी पूर्तिके लिये उसी समय पुरुषरूपसे श्रीनन्दरायके गृहमें श्रीयशोदासे प्रकट हुए। यह बात हम 'स वा अयं ब्रह्म' इस श्लोकके द्वारा कह चुके हैं। पूर्णानन्द भगवान्‌में स्वरसतः प्रीति होना और उसके आनन्दका पूर्ण अनुभव करना—यह मानुष स्त्री-पुरुष जन्ममें ही सम्भव है। इसका लोकदृष्टान्त अन्यत्र है ही नहीं। अतएव शास्त्रोंमें कहा है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
(श्रीप्रह्लाद)

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।
(श्रीवृत्र)

अतएव भगवान्को अपने अवयव नित्यसिद्धा, श्रुति और अपने-आपको लौकिक पुरुषरूपमें प्रकट करना पड़ा । यद्यपि यह लौकिकता भी अलौकिक ही थी । इस अवतारमें इन गोपियोंके चार यूथ हैं । नित्यसिद्धा जिन्हें 'सिद्धि' भी कहते हैं, इनका अवतार भी गोपीरूपमें हुआ । दूसरा श्रुति-रूपाओंका यूथ । तीसरी ऋषिरूपा और चौथा वाणी आदि प्रकीर्णाओंका यूथ । इनमें नित्यसिद्धाओंमें कामांश नहीं है, क्योंकि वे नित्यसिद्धा हैं । भगवान्का ही एक रूपान्तर 'सिद्धि' है । अतएव उसमें कामका अंश होना सम्भव नहीं । अभावमें काम (इच्छा) होता है । किन्तु नित्यसिद्धा तो सर्वथा ब्रह्मानुभव करनेवाली हैं और अवतारोंमें भी स्वामिनी, रमा, सीता आदि होकर साथ ही रहती हैं; इसलिये उनमें कामांश नहीं है । अन्य तीन यूथवाली गोपियोंमें अधिकारानुसार थोड़े-बहुत रूपमें काम (सुखभोगेच्छा) था । भगवद्विषयक कामकी पूर्ति भगवान्से ही हो सकती थी, इसलिये उन्हें स्त्रीरूप दिया गया और आप पुरुषरूप हुए । कामकी पूर्तिको ही निष्कामता कहा गया है । पूर्णकाम भगवान्के द्वारा जिन-जिनकी कामपूर्ति हुई, वे-वे गोपियाँ निष्काम, निर्गुण, अतएव मुक्त हो गयीं । भगवान् तो पूर्णकाम (पूर्णानन्द) थे ही, अतएव उनमें तो कामकी शंका ही नहीं थी ।

प्राकृत पुरुषोंकी तरह भक्तहृदयमें भी किसी तरहका अन्यथा ज्ञान न होने पावे, इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि गोपीजन और श्रीभगवान्में देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और उनके धर्म प्राकृत नहीं हैं, आनन्दरूप ही हैं; भगवद्रूप ही हैं किन्तु लोकको तन्मय करनेके लिये रसविशेषकी स्फूर्ति करानेके लिये अप्राकृतमें भी प्राकृतका आभास तो दिखाना पड़ा । भगवान् सर्वधर्मविशिष्ट हैं, अतएव आभासधर्म भी उनमें सर्वदा विद्यमान रहता है । ब्रह्मका स्वरूप ही ऐसा है । कुछ-का-कुछ दिखा देना—यह भी ब्रह्मधर्म ही है । यही भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

उस परब्रह्ममें सब इन्द्रिय और उनके गुणों (धर्म) का आभास है, पर वास्तवमें वह लौकिक देहेन्द्रिय एवं तद्धर्मोंसे रहित है ।

खाँड़के खिलौने बच्चोंको खेल-ही-खेलमें तन्मय बना देते हैं । इन खिलौनेके सभी अवयव हाड़-चाम-मांसके नहीं हैं, उनमें केवल खाँड़-ही-खाँड़ है । पर अवयवोंके आभास तो हैं ही, और वे झूठे भी नहीं हैं । बच्चे उन्हें उन आभासोंके द्वारा ही हाथी, घोड़ा आदि मानते हैं । उन्हें इनमें बड़ा रस आता है । खेलते-खेलते तन्मय हो जाते हैं । इसी तरह रसमय भगवान्के सभी देह-इन्द्रिय आदि अवयव और उनकी क्रियाएँ मानुष नहीं हैं, प्राकृत नहीं हैं, अपितु केवल आनन्दमय हैं । गोपी, गोप, गाय प्रभृति दर्शक लोकको तन्मय, निजरसमय बनानेके लिये उस स्वरूपानन्दमें ही उस रसमय पुरुषोत्तमने देहेन्द्रियान्तःकरण क्रियाओंका आभास दिखाया है, और दिखाना असत्य भी नहीं है । स्वसामर्थ्यसे ब्रह्म ही तत्तत् रूपोंको धारण करता है । बस, यही इसकी सिद्धि और शक्ति है ।

श्रुतिरूपा गोपियाँ भी शब्दब्रह्म होनेसे अप्राकृत हैं । उनको रसरूप अपने स्वरूपका अनुभव करानेके लिये गोपीरूपमें प्रकट किया, यह पुराणोंमें प्रसिद्ध है । नित्य-सिद्धा गोपियाँ रसकी ही लहरें हैं । समुद्र जब शान्त रहता है, तब उसकी लहरें उसीमें समायी रहती हैं किन्तु जब वह उद्वेल होता है, उमड़ता है, तब उसकी वे लहरें प्रकाशित होती हैं । उस अप्रमेय रसरूप भगवान्की लहरें ये नित्य-सिद्धा गोपियाँ हैं । इन्हें 'सिद्धि' भी कहते हैं ।

सबमें प्रथम और श्रेष्ठ सिद्धि राधस् या राधा है । राधस्, राधा, राधिका, मुख्यस्वामिनी एक ही पदार्थ हैं ।

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।
(श्रीमद्भागवत द्वि० स्कं०)

यह 'राधस्' सिद्धि असम और अनतिशय है । अर्थात् भगवद्रूप ही है । 'सिद्धि' शब्दका अर्थ ही तद्रूपतापत्ति अर्थात् अपने-आपको तद्रूपमें सिद्ध कर लेना है । रस ही लहरोंका रूप ले लेता है । रसस्वरूप परमपुरुषको जब बाहरसे अपने रसका आस्वाद लेना होता है तब वह अपने-आपको उन-उन सिद्धियोंके रूपमें प्रकाशित करता है । कभी-कभी हमें अपने

धोती-उपरनेका साधारण वेष नहीं सुहाता । अतएव रसिक स्वभाववाले अपने स्वरूपको सजाते हैं । इसको दूसरे प्रकारसे कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी माताके गर्भमें जब वीर्यरूपसे या गर्भरूपसे रहता है, तब प्रशान्त रहता है, किन्तु जब वह गर्भसे बाहर निकलता है तब वह स्वभावसे ही अशान्त, अस्थिर रहता है । और वह भी अति वृद्ध-अवस्था पर्यन्त । इसी तरह 'रसो वै सः'—उस अनन्त अगाध रसमय परब्रह्मका भी साधारण स्वरूप सच्चिदानन्द है । यह स्वरूप शान्त है । 'शश्वत् प्रशान्तमभयम्' (द्वि० स्कं०) में कहा है कि सार्वदिक भगवान्‌का स्वरूप प्रशान्त है, एकदम लहरी रहित है । किन्तु जब उसे अपने उस स्वरूपमें शश्वत् होनेसे वैसा मज़ा नहीं आता, तब वह अपने स्वरूपको उद्वेल—लहरीयुक्त, अतएव 'लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमान' करता है । तब उसीमें अनेक लहरीरूप सिद्धियाँ तैयार हो जाती हैं । ये सिद्धियाँ श्रीराधिका प्रभृति गोपियाँ हैं । अतएव यह अशान्त ब्रह्म है । अक्षरब्रह्म प्रशान्त ब्रह्म है और श्रीपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अशान्त ब्रह्म हैं । शान्त ब्रह्म नियतशक्ति है, अतएव असमर्थ है और श्रीपुरुषोत्तम अनियतशक्ति हैं, अतएव अति समर्थ हैं । शान्त ब्रह्म साधनसाध्य है, और श्रीपुरुषोत्तम स्वसाध्य हैं, स्वतन्त्र हैं । अतएव प्रशान्त ब्रह्म (अक्षर) चाहता है कि मेरे-जैसा पवित्र होकर आवे तो मैं अपनाऊँ । किन्तु स्वतन्त्र, स्वसाध्य ब्रह्म श्रीकृष्ण कहते हैं 'कि कोई कैसा भी हो, मैं वैसा ही होकर उसे अपना लूँगा ।' अतएव प्रतिज्ञा करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(गीता)

प्रशान्त ब्रह्म क्लिष्टकर्मा है और ये अशान्त ब्रह्म पुरुषोत्तम अक्लिष्टकर्मा हैं । अपना अक्लिष्टकर्मत्व, स्वतन्त्रत्व और स्वसाध्यत्व प्रकाशित करनेके लिये ही श्रीकृष्णने रासलीला प्रभृति अटपटे चरित्र किये । अशान्तब्रह्म श्रीकृष्णका मुख्यकर्म सर्वोद्धार है । और प्रशान्तब्रह्मका कर्म दैवोद्धार किं वा निर्गुणोद्धार है । किन्तु सभी तो निर्गुण नहीं हो सकते । त्रिगुणात्मक जगत्‌में अनन्त प्रकारके जीवजात हैं, उन सबको निर्गुण बनानेमें और बननेमें ब्रह्मको और भक्तको कष्ट करना ही पड़ता है । किन्तु श्रीकृष्णावतारमें इस अशान्त उद्वेल ब्रह्मको किसी तरहका कष्ट नहीं करना पड़ा । अपनी साधारण लीलाओंके द्वारा राजस-तामस आदि जीवोंका उद्धार भी कर दिया था । अतएव इस ब्रह्मको श्रीशुकने 'भिन्नसेतुः' विशेषण दिया है । और यही गीता चतुर्थाध्यायके ११ वें श्लोकमें '*यथा*' '*तथा*' पदोंका तात्पर्य है । अक्लिष्टकार्यकारी होनेसे जैसा भक्त, जिस प्रकारको स्वीकार कर शरण आता है वैसे भक्तके उसी प्रकारको वर्तमान रखकर किसी आडम्बरको न करते हुए अपनी साधारण लीलाओंसे ही उसका उद्धार कर देते हैं । यही इस अशान्तब्रह्मका विशेषत्व है । इसको भजन कहा है । अर्थात् भगवान् अपने भक्तोंका भी भजन करते हैं । 'तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

व्रज (गोकुल आदि) तामस था । मथुरा, द्वारका राजस थे । और वहाँके निवासी भी तामस, राजस थे । उनकी अवस्थाका दिग्दर्शन श्रीशुकने संक्षेपसे करा दिया है—

'अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्वम् ।'
'दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥'

(भाग०)

अशान्त रसमय श्रीकृष्ण ब्रह्मकी निरोध नामक अष्टम लीला है । 'नितरां रोधः निरोधः' एकदम रुक जाना, फँस जाना । ब्रह्मांश अतएव रसमय यह जीव संसारावस्थामें इस आधिभौतिक प्रपञ्चमें एकदम रुक रहा है । इस प्रपञ्चमेंसे हटकर जब यह श्रीकृष्ण अपने अंशी उस आनन्दमय परब्रह्ममें एकदम रुक जाय, फँस जाय—तब यह निरोध भगवल्लीला या भागवत कहा जाता है । निरोध तीन प्रकारका है । यह तीनों तरहका निरोध श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित है इसलिये दशम स्कन्ध निरोधस्कन्ध है । 'प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ।' राजस-तामसादि जगत्‌में प्रकट होकर लीलाओंको करना यह कारण-निरोध है । और नितरां आसक्ति, व्यापार-निरोध है । और भक्तप्रपञ्चका एकदम प्रलय, यह कार्य-निरोध किंवा फलनिरोध है । ये तीनों तरहके निरोध दशम स्कन्धमें हैं, इसलिये दशमको निरोधस्कन्ध कहा है । दशम स्कन्धीय लीलाओंमें तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण जनता निरोध्य हैं । अतएव इस स्कन्धके जन्म, तामस, राजस, सात्त्विक और गुण—ये पाँच प्रकरण हैं । पहला प्रकरण ४ अध्यायका जन्मप्रकरण है । दूसरा ५वें अध्यायसे अट्ठाईस अध्यायका अर्थात् ३२ वें अध्यायपर्यन्त तामसप्रकरण है ।

इस तामस महाप्रकरणके चार अवान्तर प्रकरण हैं, प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल । चारों प्रकरण ७, ७, अध्यायोंके हैं । ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और

सप्तम गुणी भगवान्। प्रेम और ज्ञान दोनों भगवान्‌के अंश हैं। प्रेम (आनन्द) सम्बन्धी बातें तो मूलमें ही स्पष्ट प्रतीत होती हैं। किन्तु विज्ञान (चित्) सम्बन्धी बातें भी पृथक्-पृथक् कहनी होती हैं। विस्तारके भयसे यहाँ सप्त अध्यायोक्त लीलाओंमें सप्त भगवत्स्वरूपका निरूपण नहीं किया है।

सात अध्यायका प्रमाणप्रकरण है। ५ वें अध्यायसे ११ वें अध्यायपर्यन्त। ५ वें अध्यायसे ११ वें अध्याय पर्यन्त सात अध्यायोंमें उस अशान्त रसमय श्रीकृष्ण ब्रह्मकी बाललीलाएँ हैं। यह अशान्त ब्रह्म अपनी साधारण बाल-लीलाओंके द्वारा निरोध्य भक्तोंको प्रेमका दान करते हैं। बाललीलाएँ तामसोंके लिये प्रमाण हैं। तामसोंके लिये वेद-शास्त्र नहीं किन्तु प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। हमारा श्रीकृष्ण, नारायण है किंवा नारायणके समान है, यह समस्त श्रीव्रजजनोंकी श्रीकृष्णकी बाललीलाओंसे ही हुई। इसलिये यह प्रमाणप्रकरण है। इससे अर्थात् इन बाललीलाओंसे भगवान्‌के माहात्म्यका बोध हुआ।

तदनन्तर सात अध्यायोंका प्रमेयप्रकरण है। जिसमें अधिक प्यार हो वही तामसोंका प्रमेय है। बाललीलाओंके द्वारा श्रीव्रजजनोंकी श्रीकृष्णमें प्रीति हुई थी अतएव श्रीकृष्ण ही व्रजजनोंका प्रमेय (परब्रह्म) था। इस प्रकरणमें भी ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त गुणी पौगण्डवयोयुक्त श्रीकृष्ण भगवान्‌में आसक्ति हुई। आनन्दकी ही लोकमें तीन लहरी हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। हृदयके हर्षयुक्त आकर्षणको 'प्रेम' कहते हैं। जब यही प्रीति बढ़कर इस तरहकी हो जाय कि गृहमें अरुचि हो जाय और गृहस्थलोग उस प्रेमके बाधक मालूम देने लगें तब वही प्रेम 'आसक्ति' कहा जाता है 'आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः' श्रीगोपीजनोंको भगवान्‌ने अपनी पौगण्डलीलाओंके द्वारा आसक्तिरूप निरोधका दान किया। यह आंशिक तन्मयता भी है।

> एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
> वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥

भगवत्स्वरूपानन्द, गोपियोंके हृदयमें पहुँचकर 'प्रेम' 'आसक्ति' और 'व्यसन' रूपको प्राप्त हुआ और उन्हें अपने रूपमें मिलाकर आनन्दमय श्रीकृष्णमय बना दिया।

इसके अनन्तर 'व्यसन' है। प्रेम ही आसक्तिसे बढ़ता-बढ़ता व्यसन हो जाता है। 'विशेषेण असनं विषयाणां येन तत् व्यसनम्।' जिस व्यसनके हो जानेपर लौकिक और वैदिक सभी विषय एकदम दूर हो जाते हैं। प्रेमीके सिवा खाना-पीना कुछ ही अच्छा नहीं लगता। अतएव कहा है कि—

> संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं
> प्राप्ताः........................। (१० स्कन्ध)

'अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्' 'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित्'।
(१० स्कन्ध)

किसी महात्मा कविने उनकी व्यसन दशाकी अन्तिम-अवस्थाका वर्णन किया है—

> दोहः प्रायो न भवति गवां दोहनं चेन्न पाकः
> क्षीराणां स्यात् स भवति तदा दुर्लभं तद्दधित्वम्।
> दध्नः सिद्धौ क्व खलु मथनं मन्थनं चेन्न पाक-
> स्तक्रादीनामिति गतिरभूदत्र गोधुग्गृहेषु॥
> वीतासङ्गाः शयनवसनस्नानदानाशनादौ
> गायन्त्यस्त्वच्चरितगुणिताः सन्ततं गीतगाथाः।
> औदासीन्यं किमपि सकला बन्धुवृन्दे वहन्त्यो
> गोप्यो लीलाक्षितिषु भवतो योगिनीवद् भ्रमन्ति॥
> (श्रीस्वामिन्यः)

यह व्यसन यहाँसे लेकर कुरुक्षेत्र-मिलनपर्यन्त रहा।

आसक्तिके अनन्तर व्यसनप्राप्तिके लिये दशमका साधन-प्रकरण है। प्रेम ही अति विशेष हो जानेपर प्रेमीके सिवा सबका त्याग केवल उसीका परिग्रह रूप हो जाता है, यही साधन है। फल है श्रीकृष्णप्राप्ति। उसका साधन केवल भगवान्, अन्यत् कुछ नहीं।

> दैहिकान् सकलान् भावान् निजां क्रीडां च दैहिकीम्।
> परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि।
> वैदिकं लौकिकं चापि तत्कर्त्ता व्यसनी मतः॥

साधनरूपसे श्रीकृष्णका ही स्वीकार है अतएव जो कुछ भगवान् कहें वह करना भी साधनके अन्तर्भूत है। योग्य-अयोग्य जिस किसी साधनसे भगवान् मिलते हों वह भी करना, यह भी साधनके अन्तर्भूत है। इसीको व्यसनी कहा जाता है। श्रीकृष्णके विना रहा न जाय, इसका नाम ही व्यसन है। अन्यका निराकरण और साधनरूपसे भगवान्‌का ही स्वीकार, बस, इस निरूपणमें ही साधन-प्रकरणके सात अध्याय हैं।

कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि ।
वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्तयेत् ॥
इच्छां विज्ञाय दातव्यं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।
यागादयोऽपि त्यक्तव्यास्तदिच्छा चेद् व्रतानि च ॥

शास्त्रने जिन नियमोंको तैयार किया है, उन बनावटी कृति किंवा कर्तव्योंको यदि छोड़ दिया जाय और अपने प्राकृत बहावकी ओर दृष्टि दी जाय तो कहना होगा कि ऐसी अवस्थामें कोई भी नियत साधन नहीं है । जिसके द्वारा फल-प्राप्ति हो जाय वही साधन है 'यदेव स्यात्तदेव हि' । जो कुछ भी हो वही साधन । गोवत्स-गोप-गोपी कोई भी निरोध्य, वैदिक बनावटी साधनोंके अधिकारी नहीं थे । गोवत्सादि पशु-पक्षी, जिनको श्रीकृष्णने निरोध (अति आसक्ति) का दान किया था वे तो तिर्यक् होनेसे बनावटी धर्मोंके अधिकारी हो ही नहीं सकते । रहे गोप-गोपी शूद्र जातिके, सो वे भी तामसप्रधान होनेसे उन नियमोंके अधिकारी नहीं थे । पशु आदिको भी निरोध प्राप्त हुआ था ।

'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एताः'
'गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।'
'प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्'
'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्'
(श्रीमद्भा० वेणुगीतम्)

वत्सालोकस्मरणसुलभप्रस्रवप्लावनीयं
धूलीजालं नयनसलिलैरध्वसु प्लावयन्त्यः ।
त्वामन्विष्य व्रजपुरसरित्तीरभूषु भ्रमन्त्यः
सद्यो जातानपि सुरभयो नार्भकान् पाययन्ति ॥ १ ॥
निष्प्रेमाणो ललितयवसे श्याम सीमन्यरण्ये
न्यस्य न्यस्य त्वदनुसृतये चक्षुषी दिक्षु दिक्षु ।
आजिघ्रन्ति व्यथितमनसः किञ्च सिञ्चन्ति बाष्पैः
क्रीडानीपं तव यदुपते वत्सला वत्सतर्यः ॥ २ ॥
(श्रीस्वामिन्यः)

यह बहाव कुछ और ही है । सहस्र-सहस्र वैदिक यज्ञ-यागादिसे भी अप्राप्य है । इसी प्रेमनदीके बहावरूप साधनके लिये समाधिभाषाने और हमारे गीताके ठाकुरने कहा है कि—

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ।
(श्रीभागवत)

मयि ते तेषु चाप्यहम् । (गीता)

ये सब साधन भगवद्वासनासे प्राप्त होते हैं, जीववासनासे नहीं । सप्तम स्कन्ध वासना (कृति) स्कन्ध है । वहाँ इसका विस्तार है । अतएव हमारे लिये अनुग्रहमार्ग वैदिक मार्गसे कहीं उच्चतम है । और इसीलिये निरोध (दशम) स्कन्धमें सबसे पहले तामस-प्रकरण है ।

हम वेदजड पण्डितोंको यह 'तामस' शब्द बड़ा खटकता होगा । इसलिये यहाँ इसके विषयमें भी कुछ कह देना उचित है । वेदके कोई भी नियम ईश्वरेश्वर, अक्लिष्टकर्मा, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वशक्ति इस अशान्त परब्रह्म श्रीकृष्णके व्यवहारोंके बाधक या साधक नहीं हो सकते, यह स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है। व्रज, गोवत्स, गोप-गोपी, प्रभृति सब कुछ परिकर उस परब्रह्मका व्यवहार है । अतएव जैसा वह चाहे (वासना करे) वैसा ही सब व्यवहार रहता है । प्रभुने अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता और अक्लिष्टकारिता दिखानेके लिये ही व्रज और व्रजवर्ती जीवोंको उस समय तामस बनाया और यथा तथा साधनोंसे ही उनका उद्धार किया, उनको तन्मयता दी एवं स्वरूपफल भी दिया । अतएव कारिकामें कहा कि—

दैहिकान् सकलान् भावान् निजां क्रीडां च दैहिकीम् ।
परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि ॥

दैहिक भाव (व्यवहार) सब ही छूट गये और स्त्रीका भूषण किंवा अवश्य रक्षणीय लज्जा धर्म भी जब छोड़ दिया तो फिर भगवत्प्राप्तिके लिये कौन-से साधन बन सकते हैं । ऐसी अवस्थामें तो जो कुछ बन जाय वही साधन है ।

यहाँ तामस शब्द पारिभाषिक है । आ, ऐ, औ, वृद्धि-शब्दका अर्थ नहीं है तथापि वैयाकरणोंने ऐसी परिभाषा बाँध रक्खी है । किसी एकदैशिक अर्थ बढ़नेरूप गुणको लेकर वे उन तीनों अक्षरोंको वृद्धि कहते हैं । यह पारिभाषिक शब्द और अर्थ कहा जाता है । इसी तरह यहाँ समझ रखना चाहिये तामस शब्द भी ऐसा ही है । तामस शब्द मानुषदृष्टि-बोध्य ही है । वास्तवमें तो भगवान्‌के उपयोगमें आनेवाले और भगवान्‌में इस प्रकारकी सर्वोत्तम आसक्ति-प्रेम रखनेवाले तामस हो ही नहीं सकते । सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होनेसे भगवान्‌ने ही उत्तम अधिकारियोंको ही अपनी क्रीडाके लिये अपनी असंकुचित ईश्वरता, अक्लिष्टकारिता और कृपापरवशताको प्रकट करनेके लिये तामस बनाया । अतएव तामसोंपर ही प्रभुका पूर्ण अनुग्रह रहता है, सात्त्विक-राजसोंपर थोड़ा । सात्त्विक अपने

साधनोंसे अपना उद्धार करना चाहते हैं और इच्छानुकूल कभी-कभी उससे उनका उद्धार हो भी जाता है। राजस तो देहात्मादिके लौकिक सुख ही चाहते हैं अतएव पूर्ण अनुग्रहकी अपेक्षा ही नहीं रहती। पूर्ण अनुग्रह तो आत्मदान देनेपर ही समझा जाता है। माता जब अपने गृहकार्यमें व्यग्र रहती है और बच्चा रोता है तब पहले खेलनेको खिलौने दे देती है, नहीं चुप होता तो कुछ मिठाई खानेको दे देती है, और जब किसीसे भी रोना बंद नहीं होता तब वह जान लेती है कि अब बिना मेरे रोना बंद नहीं होगा तब उसको गोदमें ले लेती हैं। और तब बच्चा भी सुखी होता है। यही रहस्य यहाँ भी है।

भगवान् सात्त्विक, राजसोंको आत्मदानके सिवा मुक्ति-पर्यन्तके अन्य सब फल दे-देकर सुखी करते रहते हैं किन्तु ये अनुगृहीत तामस भक्त तो उन फलोंको चाहते ही नहीं। उनकी तो केवल भगवान्‌के स्वरूपमें ही आसक्ति होती है अतएव भगवान् भी अपने अनुग्रहके परवश होकर उन्हें अपना दान—आत्मप्रदान करते हैं। भगवान्‌को पाकर ही ये लोग प्रसन्न होते हैं। इससे मालूम होता है ऐसोंपर ही प्रभुका अनुग्रह है। यह बात वृत्रासुरने भी कही है—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

हमारा पति भक्तका त्रैवर्गिक श्रम मिटा देता है, यही प्रभुका पूर्ण अनुग्रह है। अतएव कहना पड़ता है कि यह तामस शब्द प्राकृत तामस नहीं है। ये अलौकिक तामस हैं। अनुग्रहको गुप्त रखनेके लिये और पूर्वोक्त अन्य प्रयोजनोंके लिये ही इन्हें भगवान्‌ने अपनी वासनासे तामस बनाया है। एक हठधर्मको लेकर ही ये तामस हैं। जीव-वासना दूसरी और भगवद्वासना दूसरी। जीववासना कर्मकृत होती और भगवद्वासना स्वेच्छाकृत किंवा क्रीडाकृत होती है। हाँ, एक हठधर्म दोनोंका समान-सा दीखता रहता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो ज्ञान एकहीमें सब कुछ समझाता है, और कार्यकी ही बुद्धि रखता है कारणकी नहीं और कार्यमें ही निर्हेतुक आसक्ति कराता है, जिसमें कोई भी तात्त्विक फल नहीं होता और जो अल्प होता है वह तामस ज्ञान (समझ) होता है।

यह तामस ज्ञानका लक्षण तामस व्रजमें भी आपाततः पाया जाता है। सारा व्रज एक श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व समझता था। और श्रीकृष्णमें उनकी देखनेमें मनुष्य-बुद्धि ही थी, सर्वकारण ईश्वर-बुद्धि नहीं थी। अपनी जाति किंवा अन्य पुरुषोंकी तरह ही श्रीकृष्णको भी प्रिय मानकर उनमें दृढ़ आसक्ति थी, और वह भी निर्हेतुक। वास्तविक भगवत्-तत्त्व क्या है, इस प्रीतिका परिणाम क्या होगा। हम कौन हैं, हमारा क्या कर्तव्य है। उनके हृदयमें यह तत्त्व-विचार नहीं हुआ।

इस आपाततः प्रतीत तामस लक्षणोंसे ही वह व्रज तामस था, और अब भी कहा गया है। वास्तवमें कोई देवरूप थे, कोई देवस्त्री थीं, कोई वाणी थी, कोई श्रुतियाँ थीं, कोई ऋषि-कुमार थे, कोई नित्यसिद्धा भगवद्विभूतियाँ थीं। किन्तु जिस समय गोप-गोपी, गाय-वत्स पशु प्रभृति हुए उस समय वे देखनेमें तामस ही थे, न राजस, न सात्त्विक। अतएव कहा है कि 'सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।' 'सर्वे वै देवताप्रायाः।' इत्यादि।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्त्व, रजस्, तमस् गुण और सात्त्विक, राजस, तामस आदि पदार्थ, और उत्तम, मध्यम, अधम आदि अधिकार—ये सब मानुषदृष्टि हैं। प्राकृत दृष्टि है। गुणातीत दृष्टिमें या भगवान्‌की दृष्टिमें तो सब समान हैं। ब्रह्मा भी जीव हैं, चाण्डाल भी जीव है। पत्थर भी पार्थिव है, हीरा पत्थर ही है। मत्स्य-जन्म अधम नहीं तो देवावतार उत्तम नहीं। कहा है कि—

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। (भाग० ११)

भगवान्‌की दृष्टि प्रेम है। जिसका प्रेम दृढ़ और सर्वतः अधिक है वही उत्तम है, वही प्रिय है 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'। उत्तम-अधम, साधन-असाधन सभी प्रेमके सहयोगसे ही उत्तम और भगवत्प्रिय होते हैं। 'येऽपि स्युः पापयोनयः'। अनुग्रहका स्वीकार कर लेनेपर जैसा ब्राह्मण्यादि अधिकार वैसा ही ब्रह्महादि अधिकार। जैसा अश्वमेध, सोमयाग, सहस्रसमा तप और वैसा ही एक बार 'श्रीकृष्ण' नाम-ग्रहण, दोनों समान हैं। छप्पन भोग भी सम है, एक तुलसीदल भी सम है। अधिकार-अनधिकार, साधन-असाधनपर असमर्थ स्वामियोंकी दृष्टि रहती है। अतएव कहा है कि—

'हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि।'

भगवान् श्रीकृष्ण अक्लिष्टकर्मा भी हैं। न भक्तको और न अपने ही कष्ट करना चाहते हैं। उस-उस अधिकारको उन-उन अधिकारियोंको उसी अवस्थामें रखकर फलदान देते हैं। अतः यह फलदान है फल-प्राप्ति नहीं। अतएव निर्दोष है, निःशङ्क है।

वैदिक मर्यादामें गुणातीत निर्गुण अधिकारीको मुक्ति होती है अतएव राजस-प्रकरणमें मुचुकुन्दको मुक्ति न मिली। उसे जन्मान्तरमें भगवत्प्राप्ति हुई। यह वहाँ स्पष्ट है।

क्षात्रधर्मे स्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥

तामसकी तामसताको दूर करे, राजस बनावे, फिर राजसताको दूर करे, फिर सात्त्विक बनावे और फिर सात्त्विकताको भी दूर कर निर्गुण करे तब निर्गुण भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो। किन्तु यह सब असमर्थ और क्लिष्टकर्मा स्वामीसे हो सकता है, अक्लिष्टकारी सर्वसमर्थ करुणाकर प्रभुसे कभी भी बन नहीं सकता। यह तो अति तामसादिके भी उन्हीं स्वरूपों और साधनोंको कायम रखकर उन्हीं साधनोंसे उनका उद्धार करते हैं। अनुग्रहमार्गमें यही सर्वतोभद्र विशेष है। पूतनाको तुलसी-चन्दन चढ़ानेसे नहीं किन्तु जहर पिलानेके साधनद्वारा ही मुक्ति दी।

अनुग्रहमार्गमें केवल भगवत्स्वरूपसे सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा है अन्य साधनोंकी नहीं। स्वरूप-सम्बन्धसे ही आश्चर्यकारक उत्तमोत्तम फल मिल जाता है। पूतनाके समय उसके किसी भी साधनकी ओर या उसके अधिकारपर दृष्टि नहीं थी। केवल अपने स्वरूपका[१] उसने सम्बन्ध किया, इतने मात्रसे ही उसे मुक्ति दे दी।

कं वा दयालुं शरणं व्रजेम । (भाग० स्कन्ध ३)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (गीता)

अनुग्रह होनेपर राग, द्वेष, भय, सांसारिक सम्बन्ध, जारभाव, वैदिक मर्यादा, ज्ञान-भक्ति सभी साधन हो सकते हैं, इनमें परस्पर कोई न्यूनता या विशेषता नहीं है।

उत्तम अधिकारियोंको उत्तम साधनोंद्वारा मुक्ति देना या उनका उद्धार कर देनेमें ईश्वरेश्वरका ईश्वरत्व प्रकाशित नहीं होता। अधिकार और साधनका भी महत्त्व रहता है। किन्तु जब अधम अधिकारीके अधम साधनोंद्वारा उत्तमोत्तम गति दी जाय तभी ईश्वरका ईश्वरत्व प्रसिद्ध होता है। पर अधम अधिकार और उत्तम साधनोंका परस्पर विरोध रहता है। यह मर्यादा है। अधम अधिकारी उत्तम साधन नहीं करता और उत्तम अधिकारी अधम साधन नहीं कर सकता। गोप-गोपी, गाय, वत्स, तिर्यक् आदि वैदिक मर्यादासे अधम अधिकारी हैं। इनको भगवत्सेवा, भगवन्नाम और भगवत्प्रेमका निरन्तर सम्बन्ध होना मर्यादासे असम्भव है। तथापि इनका भगवान् और भगवत्प्रेमादिसे नित्य सम्बन्ध हो जानेसे स्पष्ट होता है कि ये सब अधम अधिकारी नहीं, परम उत्तम अधिकारी ही थे।

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अक्लिष्टकारिता, ईश्वरेश्वरता और असीम दयालुता लोकमें प्रकाशित करनेके लिये ही उत्तमाधिकारियोंको ही गो-गोप-गोपी बनाकर उनके साधारण जारभावादि अधम साधनोंद्वारा ही उनका उद्धार किया। इससे भगवान्का आश्चर्यकारक माहात्म्य फैल गया। यह श्रीकृष्णकथा जितनी प्रसिद्ध हुई उतना शिव-ब्रह्मादिके शतशतवर्षीय तपका माहात्म्य और उनके फलदानकी महिमा भी साधारण लोकमें न फैली।

श्रीगोपीजन श्रीकृष्ण परब्रह्ममें कैद हो चुकी थीं, निरुद्ध हो चुकी थीं। लोक और वेद भी उनकी भगवदेकतानतामें या प्रेममयी वृत्तिमें बाधा न दे सके। फलप्रकरणमें श्रीगोपीजनोंने स्पष्ट कह दिया कि—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

मूलमें उत्तमाधिकार होनेसे इन्हें आर्षज्ञान है, और साम्प्रतमें केवल संसारी होनेसे सुदृढ़ सर्वतोधिक, माधुर्य प्रेम है। दोनोंकी यहाँ युक्तिसे सहोक्ति है। हृदयके प्रेमका प्रवाह लोक, वेद किसीकी रोक नहीं मानता, यह सर्वसिद्ध बात है। रोकना चाहिये या नहीं। रोकनेसे लाभ होता है या हानि, यह दूसरी बात है किन्तु अतिशय प्रीतिपात्रमें जब मन रुक जाता है, बँध जाता है, तब प्रेमका प्रवाह लोककी लज्जा, अर्गला और वेदकी मर्यादाकी ओर देखता भी नहीं। ऐसा प्रेमी लोकके अपने सभी प्रीतिपात्र पितृ-भ्रातृ-सुहृत्-सम्बन्धी गुरु, लघु, धन-गृह आदिके कुल प्रेमप्रवाहको इकठ्ठा करके अपने एक नियत प्रेमीमें ही लगा देता है। छोटे-छोटे जलप्रवाह कदाचित् अर्गला और बंधोंसे रुक जाते हैं किन्तु जब वे ही छोटे-छोटे प्रवाह सम्मिलित होकर प्रलयकालिक महाप्रवाह बन जाते हैं तब उनको रोकनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। 'आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि वेदवचनोंके द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि सर्वप्रियता आत्मा परब्रह्ममें ही है। और वही प्रियता श्रीकृष्णमें श्रीगोपियोंकी थी। (क्रमशः)

---

१. अनेन भगवत्स्वरूपं यथाकथञ्चिदपि संबद्धं साधनान्तरनिरपेक्षं फलं साधयतीत्युक्तम् । भगवांश्च गुणानेव गृह्णाति न दोषान् । अन्यस्तु दयालुर्न्यमपेक्षते नम्रतां दोषाभावं वा । अयं तु किमपि नापेक्षते शरणपदेन च सेवाभक्त्यादिकमपि निवारितम् ।

(सुबोधिनी स्कन्ध ३)

मान-बड़ाईका त्याग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो उच्च कोटिके पुरुष हैं, जिन्होंने परमात्माका तत्त्व भलीभाँति जान लिया है वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिको समान समझते हुए भी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठासे बहुत दूर रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें वे इन्हें विषके समान हेय तथा आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक समझकर इनसे बचते आये हैं और दृढ अभ्यास-के कारण यही आचरण उनके अंदर सिद्धावस्थामें भी देखा जाता है। सिद्ध पुरुष वास्तवमें तो कुछ करते नहीं; किन्तु उनके द्वारा लोकमें वैसा ही आचरण होते देखा जाता है, जैसा आचरण वे सिद्धावस्थाके ठीक पहले करते रहे हैं। सिद्धावस्थाके समीप पहुँचा हुआ उच्च कोटिका साधक कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो संसारके लिये अनुकरणीय न हो। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> **यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
> **स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**
> (३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी उस-उस प्रकारका ही आचरण करते हैं। वह पुरुष जिसको प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तने लगते हैं।'

ऐसे पुरुष अपने जीवनकालमें तथा मरनेके बाद भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको नहीं चाहते। जो लोग उनके इस रहस्यको जानकर स्वयं भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं वे ही उनके सच्चे अनुयायी कहलानेयोग्य हैं। इसके विपरीत जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके गुलाम हैं किन्तु कहते हैं अपनेको महात्माओंका अनुयायी, वे तो वास्तवमें महात्माओंके संगको लजानेवाले हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मालोग लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही लोगों-को अपनी पूजा करनेसे रोकते हैं वे तो ऐसा करनेवाले महात्माओंको एक प्रकारसे दम्भी सजाते हैं। जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग इसलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोकमर्यादाकी रक्षा होती है, किन्तु हृदयसे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे वास्तवमें महात्मा नहीं हैं। मरनेके बाद पूजा चाहनेका स्वरूप यह है कि लोग मरनेके बाद उनकी कीर्तिको स्थायी रखनेके लिये, उनकी स्मृति बनाये रखनेके लिये किसी स्मारकका आयोजन करें और वे लोगोंके इस विचारका समर्थन करें। यही नहीं, जो लोग अपने किसी पूज्य पुरुषके लिये इस प्रकारके स्मारकका आयोजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा अनुचित नहीं कही जा सकती कि वे स्वयं भी अपने लिये यही चाहते हैं कि मेरे मरनेके बाद लोग मेरे लिये भी इसी प्रकारका स्मारक बनायें।

जो कोई भी ऐसा चाहता है कि मरनेके बाद लोग मेरा चित्र रखकर उसकी पूजा करें और मेरी कीर्ति अखण्ड रहे, उसके सम्बन्धमें यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि वह परमात्माके रहस्यको नहीं जानता, वह निरा अज्ञानी है। ज्ञान एवं भक्ति दोनोंके ही सिद्धान्त-से हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब कौन किसकी पूजा करे और कौन किससे पूजा कराये। एक ही परमात्मा सर्वत्र स्थित है, वह अनन्त और सम है; ऐसी स्थितिमें अपने एक-देशीय स्वरूपकी पूजा करानेवाला महात्मा कैसे समझा जाय। यदि कोई यह समझे कि पूजा ग्रहण करनेसे मेरा तो कोई लाभ नहीं परन्तु पूजा करनेवालेको लाभ

पहुँचेगा, वहाँ यह स्पष्ट है कि ऐसा समझनेवाला अपनेको ज्ञानी और पूजा करनेवालोंको अज्ञानी समझता है। किन्तु जो अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह स्वयं अज्ञानी ही है। ज्ञानीके अंदर यह भावना कदापि सम्भव नहीं है कि मेरी पूजासे दूसरोंको लाभ पहुँचेगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसा माननेवाला ज्ञानी तो नहीं हो सकता किन्तु जिज्ञासु तो ऐसा मान सकता है, तो यह भी ठीक नहीं। अपनी पूजासे दूसरोंका लाभ समझनेवाला जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। इस प्रकारकी धारणा जिज्ञासुके अंदर भी नहीं हो सकती। निरा अज्ञानी ही ऐसा सोच सकता है।

यदि यह मानें कि महात्मा स्वयं तो पूजा नहीं चाहते परन्तु लोगोंकी दृष्टिसे, उन्हें महात्माओंकी पूजामें प्रवृत्त करनेके लिये वे ऐसा करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंको महात्माओंकी पूजामें लगाना तो ठीक है, परन्तु ऐसा करना चाहिये अपने व्यक्तित्वको बचाकर ही। महात्माओंकी पूजाका आदर्श स्थापित करनेके लिये भी अपनेको पुजवाना ठीक नहीं। यदि महात्माओंकी पूजाका प्रचार ही करना है तो पहले भी तो अनेकों एक-से-एक बढ़कर महात्मा हो गये हैं और उनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान्‌के अवतार हो चुके हैं। उन सबको छोड़कर अपनी पूजा करवानेकी क्या आवश्यकता है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा एक हैं, अतः अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं। इस सिद्धान्तको माननेवालेकी दृष्टिमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी अपने ही स्वरूप हैं, अतः उनकी पूजा भी अपनी ही पूजा है। फिर उनकी पूजासे हटाकर कोई ज्ञानी महात्मा कैसे चाहेगा कि लोग मेरी पूजा करें। जो ऐसा चाहता है वह देहाभिमानी है, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी पुरुषको तो चाहिये कि यदि कोई दूसरा भी ऐसा करता हो तो उसे रोके, उसका विरोध करे, जिससे उसका अज्ञान दूर हो। ऐसा न करके यदि वह स्वयं अपनेको पुजवाता है तो यही मानना पड़ेगा कि या तो वह अज्ञानी है, मूर्ख है, या ढोंगी है, दम्भके द्वारा अपना उल्लू सीधा करता है, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका किङ्कर है। इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है। फिर श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके स्वरूप तो नित्य एवं दिव्य हैं, हमारी तरह पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं। और महात्माओंका शरीर तो ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी मायाका कार्य होनेके कारण नाशवान्, क्षणभंगुर ही है। ऐसी दशामें किसी भी मनुष्यका शरीर, चाहे वह बड़े-से-बड़ा महात्मा ही क्यों न हो, भगवान् राम-कृष्णादिके अलौकिक सौन्दर्य एवं माधुर्यसे पूर्ण विग्रहोंकी समता कैसे कर सकता है। अतः भगवान् राम-कृष्णादिके विग्रहोंकी पूजासे हटाकर जो अपने नाशवान् शरीरको पुजवाता है, वह वास्तवमें भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानता। इसी प्रकार भगवान्‌के दिव्य एवं मधुर नामोंसे हटाकर जो अपने नामकी पूजा, अपने नामका प्रचार करवाता है वह भी ज्ञानी नहीं, अज्ञानी ही है।

यह तो हुई ज्ञानकी बात। भक्तिके द्वारा जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुका है, वह भी भगवान्‌के स्थानपर अपनेको कैसे बैठाना चाहेगा। जो ऐसा करता है, वह तो अपनेको घोर अन्धकारमें डालता है। यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं तो पूजा नहीं चाहता परन्तु कोमलस्वभाव होनेके कारण वह दूसरोंको पूजा करनेसे रोक नहीं सकता, तो इसका उत्तर यह है कि जो भक्त दूसरोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेसे रोक नहीं सकता, उन्हें समझा नहीं सकता, उसकी पूजा और प्रतिष्ठासे हमें क्या लाभ हो सकता है, भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तोंमें तो अलौकिक शक्ति होनी चाहिये। फिर यदि कोई मनुष्य भक्त होकर भी दूसरोंके द्वारा अपने प्रति किये जानेवाले पूजा-प्रतिष्ठादिको रोक नहीं सकता तो वह दूसरोंका

कल्याण कैसे कर सकता है। किसी महात्माके नामपर, चाहे वह भक्ति, ज्ञान, योग–किसी भी मार्गसे पहुँचा हुआ हो, कोई अनुचित व्यवहार करे और वह उसे रोक न सके–यह असम्भव है। यदि कोई श्रीहनुमान्‌जी-को भगवान् श्रीरामके स्थानपर बिठाकर पूजना चाहे तो भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जी उसकी इस पूजाको कैसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि किसी सेठकी गद्दीपर कोई उसके गुमाश्ते या मुनीमको ही सेठके रूपमें सजाकर उसकी इज्जत करनी चाहे और वह गुमाश्ता या मुनीम स्वामिभक्त है तो वह उस इज्जतको कब स्वीकार करेगा। और यदि करता है और सेठको इस बातका पता चल जाय तो वह अपने गुमाश्ते या मुनीमके इस व्यवहारको कैसे सहन करेगा। नमकहराम नौकर ही ऐसा कर सकता है। सच्चा भक्त ऐसी बात कभी सोच भी नहीं सकता। यहाँ तो गुमाश्ता या मुनीम सेठ बनकर ऐसा कर भी सकता है और सेठको पता ही न चले; परन्तु भगवान् तो सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ठहरे, उनसे छिपाकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान् सजकर पूजा ग्रहण करना कोई भगवत्प्राप्त पुरुष तो कर ही नहीं सकता, भक्तिमार्गपर चलनेवाला साधक भी ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवसर अनायास कभी प्राप्त भी हो जाय तो भक्त साधक ऐसी अवस्थामें रोने लग जायगा, वह समझेगा कि यह तो मेरे लिये कलङ्क-की बात होगी। बात भी सच है, ऐसा करने-करानेवाला अपने और अपने भगवान् दोनोंपर कलङ्क लगाता है। जो भगवान्‌के नामपर अपनेको पुजवाता है, वह भक्ति-का प्रचार करना तो दूर रहा उल्टा संसारमें भ्रम फैलाता है और भगवान् भी उसकी इस करतूतपर मन-ही-मन हँसते हैं।

जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनेको बिठाकर पूजा ग्रहण करता है, उसके प्रति स्वाभाविक ही हमारी अश्रद्धा हो जाती है। इसी प्रकार हमें भी सोचना चाहिये कि यदि हम भी ऐसा करेंगे तो लोग हमें भी घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जायँगे। तथा इस प्रकार हम लोग भी महात्माओंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके बदले अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही सहायक बनेंगे। क्योंकि वास्तवमें इस प्रकारका व्यवहार निन्दनीय ही है। सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही ऐसा आचरण होगा जो साधकोंके लिये लाभ-दायक हो। संसारमें ऐसे पुरुष ही आदर्श माने जाते हैं जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे दूसरोंका कल्याण हो। अच्छे पुरुषोंके आचरण ही दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि महात्माओंमें अविद्याका लेश भी नहीं होता; फिर अविद्याका कार्य–मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा—तो हो ही कैसे सकती है। स्वयं महापुरुष, जो इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, इसका प्रचार एवं प्रकाश करके लोगोंके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं। वास्तवमें जो मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा एवं सत्कार आदि चाहते हैं अथवा सम्मति देकर लोगोंसे अपनी पूजा आदि करवाते हैं वे तो महामूढ हैं ही। किन्तु जो न तो दूसरोंको अपनी पूजा करनेके लिये कहता है और न पूछनेपर सम्मति देता है परन्तु पूजा आदि मिलनेपर उसे प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है, उसका विरोध नहीं करता, वह भी मूढ ही है। जो पूजा मिलनेसे प्रसन्न तो नहीं होता, चाहता भी नहीं कि लोग मुझे पूजें, किन्तु हृदयसे पूजा-सत्कारका विरोध नहीं करता, वह भी ज्ञान और भक्तिसे अभी बहुत दूर है।

वर्तमान समयमें असली श्रद्धा और प्रेम बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलता है, अधिकांश लोगोंमें श्रद्धा और प्रेमकी नकल ही देखनेको मिलती है। असली श्रद्धाका रूप बाहरी पूजा, नमस्कार, सत्कार आदि

नहीं हैं; ये तो श्रद्धाके बाहरी रूप हैं, शिष्टाचारके अन्तर्गत हैं। ये दिखावटी भी हो सकते हैं। असली श्रद्धा तो श्रद्धेय पुरुषका हृदयसे अनुयायी बन जाना, उनकी इच्छाके—उनके मनके सर्वथा अनुकूल बन जाना है। सूत्रधार कठपुतलीको जिस प्रकार नचाता है, उसी प्रकार वह नाचने लगती है, वह सब प्रकारसे नचानेवालेपर ही निर्भर करती है। इसी प्रकार जो श्रद्धेय पुरुषके सर्वथा अनुगत हो जाता है, उसीके इशारेपर चलना है, अपने मनसे कुछ भी नहीं करना, वही सच्चा श्रद्धालु है। श्रद्धेयकी आज्ञाओंका अक्षरशः पालन करना भी ऊँची श्रद्धाका द्योतक है। परन्तु श्रद्धेयको मुँहसे कुछ भी न कहना पड़े, उसके इङ्गितपर ही सब काम होने लगे, उसकी रुचिके अनुकूल सारी क्रिया होने लगे—यह और भी ऊँची श्रद्धा है। सच्चे अनुगत पुरुषको छायाके समान व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार हमारी प्रत्येक चेष्टा अपने-आप हमारी छायामें, हमारे प्रतिबिम्बमें हूबहू उतर आती है, उसी प्रकार श्रद्धेयका प्रत्येक आचरण, उसका प्रत्येक गुण श्रद्धालुके जीवनमें हूबहू उतर आना चाहिये। इस प्रकार जो छायाकी भाँति श्रद्धेयका अनुसरण करता है वही सच्चा शरणागत है, उसीकी श्रद्धा परम श्रद्धा है, उच्चतम कोटिकी श्रद्धा है। सच्चा श्रद्धालु श्रद्धेयके प्रतिकूल आचरण करना तो दूर रहा, अनुकूलतामें रंचकमात्र कमीको भी सहन नहीं कर सकता, संतोंकी बाहरी पूजाका—शिष्टाचारका इतना महत्त्व नहीं है जितना भीतरसे उनके अनुकूल बन जानेका। संतोंके अनुकूल बन जाना ही उनकी असली पूजा है।

इसी प्रकार जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे अपने प्रेमास्पदका एक क्षणके लिये भी वियोग नहीं सह सकते। वे जान-बूझकर तो अपने प्रेमास्पदका त्याग कर ही नहीं सकते, यदि प्रेमास्पद उन्हें बरबस अलग कर देता है तो विरहके कारण उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। किसी-किसी प्रेमीकी तो प्रेमास्पदके विरहमें मृत्युतक हो जाती है, अथवा मृत्युकी-सी दशा हो जाती है, जलके अभावमें मछलीकी तरह उसके प्राण छटपटाने लगते हैं। वह यदि जीता है तो प्रेमीकी इच्छा मानकर—उसके मिलनकी आशासे ही जीता है, मनसे तो उसका प्रेमास्पदसे कभी वियोग होता ही नहीं, मन उसका निरन्तर अपने प्रियतममें ही बसा रहता है। प्राचीन इतिहासके पन्नोंको उलटनेपर श्रद्धा और प्रेमका सर्वोच्च नमूना हमें भरतजीके जीवनमें मिलता है। ननिहालसे लौटनेपर भरतजीने जब सुना कि श्रीराम वनको चले गये और उनके वनगमनका कारण मैं ही हूँ, तब वे सब कुछ छोड़कर तुरंत रामके पास वनमें गये और अयोध्या लौट चलनेके लिये उनसे प्रार्थना की। वाल्मीकीय रामायणमें तो उन्होंने श्रीरामजीको यहाँतक कह दिया कि यदि आप अयोध्या न चलेंगे तो मैं अनशन-व्रत लेकर प्राणत्याग कर दूँगा। परन्तु फिर श्रीरामकी आज्ञा मानकर, उनकी रुख देखकर वे चुप हो रहे और उनकी चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर अयोध्या लौट आये। किन्तु अयोध्या लौटकर भी वे भोगोंमें लिप्त न हुए, अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें रहकर उन्होंने मुनियोंका-सा जीवन व्यतीत किया और बड़ी उत्कण्ठासे श्रीरामके लौटनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भरतजीका श्रीरामके चरणोंमें अतिशय प्रेम था तो उनसे श्रीरामका वियोग कैसे सहा गया, श्रीरामके विरहमें उन्होंने प्राण क्यों नहीं त्याग दिये। इसका उत्तर यह है कि भरतजी श्रीरामके निरे प्रेमी ही न थे, वे उच्च कोटिके श्रद्धालु भी थे। उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना, प्राणोंकी बाजी लगाकर भी उनकी आज्ञाका पालन करना उनके जीवनका व्रत था। उनकी इस श्रद्धाने ही उनके प्राणोंकी रक्षा की और उन्हें चौदह वर्षतक जीवित रक्खा। उन्हें विश्वास था कि चौदह वर्ष बीतनेपर श्रीरामसे अवश्य भेंट होगी और फिर आजीवन मैं उनके साथ रहूँगा, फिर कभी वे मुझे अलग रहनेको नहीं कहेंगे। इसी आशापर वे जीवित रहे। फिर भी उन्हें श्रीराम-

के वियोगका दुःख कम न था। एक-एक दिन गिनकर उन्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और विरह-व्यथामें सूखकर काँटा हो गये। यही नहीं, चौदह वर्ष बीतनेके बाद यदि श्रीराम वनसे लौटनेमें क्षणभरका भी विलम्ब करते तो उनका प्राण बचना कठिन था। इस प्रकार प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था उनके अंदर व्यक्त थी। साथ ही उनमें श्रद्धा भी कम न थी। इसीलिये उन्होंने सोचा कि जब श्रीराम अपनी इच्छासे वनमें जा रहे हैं तो उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें लौटानेके लिये मुझे आग्रह क्यों करना चाहिये। इस प्रकार अतिशय प्रेमके साथ-साथ उनमें श्रद्धा भी उच्चतम कोटिकी थी। किन्तु उच्च श्रेणीके प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी और सब बातें मानते हुए भी कभी-कभी उनके सङ्गके लिये अड़ जाते हैं। सङ्ग के लिये उनका इस प्रकार आग्रह करना भी दोषयुक्त नहीं माना जाता। इससे उनकी श्रद्धामें कमी नहीं मानी जाती। सारांश यह है कि प्रेमी किसी भी हेतुसे प्रेमास्पदका त्याग नहीं करता। प्रेमास्पदका सङ्ग बना रहे, इसके लिये वह कभी-कभी अपने प्रेमास्पदकी रुचिकी भी उपेक्षा कर देता है। इसके विपरीत श्रद्धालु अपने श्रद्धेयकी रुचि रखनेके लिये उनके सङ्गका भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है, परन्तु उनकी रुचिके प्रतिकूल कोई चेष्टा नहीं करता। प्रेमीको प्रेमास्पदका सङ्ग छोड़नेमें मृत्युके समान कष्ट होता है और श्रद्धालु-को श्रद्धेयकी रुचिके प्रतिकूल आचरण मरणके समान प्रतीत होता है। प्रेमास्पद प्रेम बढ़ानेके लिये यदि प्रेमीको कभी अलग कर देता है तो प्रेमीको उसका वियोग असह्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धालुसे श्रद्धेयकी रुचिका पालन करनेमें तनिक भी कोर-कसर सहन नहीं होती। सच्चे प्रेम और श्रद्धाका यही स्वरूप है। इसपर कोई यह कह सकते हैं कि सच्चे भगवद्भक्त मान आदि तो बिल्कुल नहीं चाहते, न यह चाहते हैं कि लोग उनके चित्रकी पूजा करें, उनके नामका प्रचार हो अथवा उनकी जीवनी लिखी जाय। परन्तु सभी भक्त और ज्ञानी यदि इन सब बातोंका कड़ाईके साथ विरोध करने लग जायँ तो फिर अच्छे पुरुषोंकी जीवनियाँ अथवा स्मारक संसारमें मिलने ही कठिन हो जायँगे, जिससे आगेकी पीढ़ियाँ उनसे मिलनेवाले लाभ-से सदाके लिये वञ्चित हो जायँगी। इसका उत्तर यह है कि अच्छे पुरुष इन सब बातोंका तनिक भी विचार नहीं करते। अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवाला क्या कभी यह सोचता है कि मेरी देखा-देखी यदि दूसरे लोग भी स्त्री-सुखका त्याग कर देंगे तो फिर संसारका व्यवहार कैसे चलेगा, सृष्टिका कार्य ही बंद हो जायगा। ऐसा सोचनेवाला कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अच्छे पुरुष यह कभी नहीं सोचते कि यदि हम पूजा ग्रहण करना छोड़ देंगे तो संसारसे महापुरुषोंकी पूजाकी पद्धति ही उठ जायगी। संसारका व्यवहार तो सदा इसी प्रकार चलता आया है और चलता रहेगा। यदि कोई कहे कि अबतकके महात्माओंकी इच्छा एवं प्रेरणासे ही उनकी जीवनियाँ लिखी गयी हैं अथवा उनके स्मारकोंका निर्माण हुआ है, तो ऐसा कहना अथवा सोचना उन महात्माओंपर झूठा कलङ्क लगाना, उनपर व्यर्थका दोषारोपण करना है। महात्माओंकी बात तो अलग रही, ऊँचे साधकके मनसे भी यह वासना हट जाती है; यदि उठती है तो यह मानना चाहिये कि वह उच्च कोटिका साधक नहीं है। इस सम्बन्धमें यह निश्चित सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि अच्छे पुरुषोंके मनमें यह वासना कभी उठती ही नहीं कि मेरे जीवन-कालमें अथवा मरनेके बाद लोग मेरे शरीर या मूर्तिकी पूजा करें, मेरे नामका प्रचार हो अथवा मेरी जीवनी लिखी जाय। इस प्रकारकी इच्छाका अच्छे पुरुषोंमें अत्यन्ताभाव हो जाता है। और महात्माओंका सच्चा अनुयायी एवं सच्चा श्रद्धालु वही है जो उनके भावके, उनकी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनको बना लेता है। वही सच्चा शरणापन्न और वही सच्चा भक्त है।

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान

(लेखक—डॉ० डी० जी० लोंढे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

तत्त्वज्ञानके अध्यवसायियोंसे प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है—'तत्त्वज्ञान क्या है ?' यह प्रश्न दीखता बड़ा सरल है, परन्तु समझनेवालेको बड़े झमेलेमें डाल देता है। इसका उत्तर उसे ज्ञात रहता है और वह थोड़े शब्दोंमें भी दिया जा सकता है। लेकिन उसके सामने समस्या यह रहती है कि इस छोटे-से उत्तरसे प्रश्नकर्त्ताका समाधान होगा या नहीं। 'तत्त्वसम्बन्धी ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्' यह उत्तर अपने साथ ही 'तत्त्व क्या है ?' इस प्रश्नको घसीट लाता है; और 'तत्त्व यानी सत्य, अन्तिम सत्य'। तत्त्वज्ञानका उद्देश्य है सत्यका ज्ञान प्राप्त करना। इतनी रामायण पढ़नेके बाद भी प्रश्नकर्त्ताकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होती। उसे अभी भी यह ज्ञात नहीं हुआ कि तत्त्व-ज्ञान किन-किन विशेष प्रश्नोंकी चर्चा करता है ! इसलिये तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें 'तत्त्वज्ञान क्या है ?' की समस्या सुलझाते समय विज्ञान और तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेकी परिपाटी उचित ही है।

साधारणतः 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक ज्ञान-शाखाके अर्थमें होती है। प्रत्येक ज्ञानशाखाका एक विवक्षित विषय होता है। इसकी एक पद्धति और परिभाषा रहती है। किसी भी विषयका सुव्यवस्थित तथा परिभाषाबद्ध ज्ञान ही उस विषयका 'विज्ञान' है। इस अर्थके अनुसार वैद्यक, ज्योतिष तथा संगीत विज्ञान हैं। इसी तरह वेदान्तशास्त्र, सांख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी प्रयोगसम्मत होनेसे विज्ञान है। इस लेखमें 'विज्ञान' शब्दकी योजना किसी एक 'ज्ञान-शाखा' के सामान्य अर्थमें नहीं हुई है। क्योंकि इस अर्थके अनुसार तो तत्त्वज्ञान भी एक विज्ञान है। 'विज्ञान' शब्द यहाँ भौतिक शास्त्र, प्रयोगप्रधान शास्त्र सायन्स (Science) के विशिष्ट अर्थमें आया है। तत्त्वज्ञान दर्शनशास्त्र(Philosophy) या मेटेफिजिक्सके अर्थमें रक्खा गया है।

स्थूलरूपमें सम्पूर्ण मानवीय ज्ञानके दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं—एक शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक तथा दूसरा तात्त्विक। क्या ये भेद क्षेत्रभेद अथवा प्रान्तभेदके कारण हुए हैं ? क्या विज्ञानका और तत्त्वज्ञानका विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है ? पहले-पहले ऐसा भास होता है कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्र सम्पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान दृश्य-सृष्टिपर विचार करता है और तत्त्वज्ञान दृश्य-सृष्टिके परे जो अदृश्य सृष्टि-तत्त्व हैं उसपर। दृश्य-सृष्टिसे तत्त्वज्ञानका कोई सरोकार नहीं। उसी तरह विज्ञानका अदृश्य सृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। अंग्रेजीके Physics फिज़िक्स और मेटेफिज़िक्स Meta-Physics शब्द भौतिकज्ञान-विषयको अतिभौतिकज्ञान-विषयसे अलग दिग्दर्शित करते हैं। ॲरिस्टॉटल् (Aristotle अरस्तू) ने दृश्य-दृष्टिसम्बन्धी 'फिजिक्स' ग्रन्थ पहले लिखा। और फिर दृश्यातीत वस्तुओंके बारेमें 'मेटेफिजिक्स' नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इसलिये कुछ व्यक्ति ऐसा सोचने लगे हैं कि जहाँ विज्ञानका क्षेत्र समाप्त होता है वहींसे तत्त्वज्ञानका क्षेत्र प्रारम्भ होता है। लेकिन आगे विचार करनेसे ज्ञात होगा कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी सीमाएँ विषय-क्षेत्रपरसे अलग नहीं की जा सकतीं। मनुष्यकी बुद्धिका विषय एक ही है दृश्य अथवा अनुमान्य जगत्। हमारी बुद्धिसे जो प्रश्न किये जायँगे वे सब इस संसारके बारेमें ही होंगे। दोनोंका विषय-क्षेत्र एक है, लेकिन दोनों अलग-अलग तरहसे विचार करते हैं। संसारके विषयमें विज्ञान एक प्रश्न पूछता है तो तत्त्वज्ञान दूसरी तरहका। संसारकी वस्तुओंके घटक कौन-कौनसे हैं ? पदार्थोंकी स्थिति कैसे बदलती है ? उनमें होनेवाली विक्रियाओंके बारेमें कुछ नियम बनाये जा सकते हैं या नहीं ? विज्ञानके लिये ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। विविध पदार्थसम्बन्धी अन्तिम सत्यके प्रश्नको तत्त्वज्ञान अधिक महत्त्व देता है। नित्य क्या है और अनित्य क्या है ? सत्य किसे कहें और असत्य किसे कहें ? बाह्य जगत्के अनुभवोंका स्वरूप क्या है ? उसकी मर्यादा और शर्तें कौन-कौन-सी हैं ? तत्त्वज्ञान इन प्रश्नोंपर विचार करता है। हम देख चुके हैं कि विज्ञान और तत्त्वज्ञानके क्षेत्रों अथवा प्रदेशोंमें कोई भेद नहीं है। उनके ध्येय तथा पद्धतियोंमें क्या भेद है—क्रमशः इसका विचार करें।

दृश्य भावोंका वर्गीकरण तथा उनमें चलनेवाली क्रियाएँ जिन नियमोंके अनुसार होती हैं उनका निश्चय करना वैज्ञानिक अन्वेषणका ध्येय है। विज्ञानके ध्येयका एक व्यावहारिक पहलू भी है। नैसर्गिक नियमोंके ज्ञानसे मनुष्य प्रकृतिपर शासन कर सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान विशिष्टरूपमें

इस बातको प्रमाणित करता है कि ज्ञान ही सामर्थ्य है। पदार्थ-विज्ञान और रसायनशास्त्रके अन्वेषणोंके बलपर मनुष्यने निसर्गपर कितनी सत्ता स्थापित की है। लेकिन अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये विज्ञानको सृष्टिके भावोंका वर्गीकरण करना पड़ता है। वह सृष्टिको विभाजित कर एक-एक भाग विभिन्न शाखाओंको सौंप देता है। विज्ञानमें इस तरह विशेषीकरणका श्रीगणेश होता है। ज्योतिषशास्त्र खगोलोंपर तथा उनकी स्थिति और गतियोंपर विचार करता है। पदार्थ-विज्ञान वस्तुओंके द्रव्य और उनकी क्रियाओंका अध्ययन करता है। इसी तरह वनस्पति-शास्त्र आदि अनेक विज्ञान सृष्टिके एक-एक कोनेमें अपना कार्य कर रहे हैं। वैज्ञानिक ज्ञानकी प्रगतिके लिये यह विशेषीकरण अत्यन्त आवश्यक है। तथापि इस (विशेषीकरण) के कारण विज्ञानके कार्यमें छिन्नता रहती है। सम्पूर्ण विज्ञानोंके सब सिद्धान्तोंके एकत्रीकरणसे प्राप्त होनेवाला सृष्टिज्ञान बिथरा-सा और कुछ अंशोंमें विसङ्गत होगा। इन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी गुदड़ी हमें सृष्टिका सत्य स्वरूप नहीं समझा सकती। सृष्टिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमें तत्त्वज्ञानकी ओर जाना चाहिये। सृष्टिका वास्तविक ज्ञान-प्रदान तत्त्वज्ञानका ध्येय है। इसके लिये विज्ञानसे तत्त्व-ज्ञान अधिक अधिकारी है। कारण स्पष्ट है। सृष्टिका विचार तत्त्वज्ञानसाकल्यको लेकर करता है और विज्ञान वैकल्य (एकदेशित्व) को लेकर। वैज्ञानिक दृष्टि पृथक्करण करती है और तात्त्विक दृष्टि एकीकरण। वैज्ञानिक दृष्टि भेदक है, तात्त्विक दृष्टि संग्राहक है। वैज्ञानिक दृष्टि नानात्व देखती है तो तात्त्विक दृष्टि एकत्व। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह नानात्व निरासात्मक एकत्वदर्शन तत्त्वदृष्टिके लिये ही शक्य है। विज्ञान सृष्टिकी ओर एकांगी दृष्टिसे देखता है, अतः उसे उसका सम्पूर्ण सत्य ज्ञात नहीं होता। तात्त्विक दृष्टि साकल्यसे विचार करती है अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य, अत्र-तत्र, आदि काल-देश-भेदको एक ओर रख सम्पूर्ण अस्तित्वका समष्टिरूपसे दर्शन करती है। और इसीलिये यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने तत्त्वज्ञानको सर्वसंग्राहक दर्शन Philosophy is synopsis कहा है। लेकिन भारतीय तत्त्वज्ञ उसे 'सर्वसंग्राहक दर्शन' की अपेक्षा 'सम्यग् दर्शन' कहना ठीक समझते हैं। हाँ! सर्वसंग्राहक दर्शन ही सम्यग् दर्शन हो सकता है। एकदेशीय दर्शन कभी सम्यक् अर्थात् वस्तुस्थितिनिदर्शक नहीं हो सकता। वैज्ञानिक तथा तात्त्विक दृष्टिभेदका विवेचन यहाँ इतने विस्तारसे किया गया है ताकि दोनोंके ध्येयोंका अन्तर अधिक स्पष्ट हो जाय। तात्पर्य, सृष्टिज्ञान विज्ञानका ध्येय है और सत्यज्ञान तत्त्वज्ञानका। सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनकी विक्रिया-सम्बन्धी नियमोंको निश्चय करते समय विज्ञानको उनके (पदार्थोंके) अन्तिम सत्यके बारेमें कोई शंका नहीं रहती। वह पदार्थोंका सत्यत्व मानकर आगे बढ़ता है। विज्ञानकी यह दृढ़ धारणा है कि वस्तुओंका अस्तित्व स्वतन्त्र और स्वयंसिद्ध है। तथा ज्ञान उनके अस्तित्वमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। विज्ञानके प्रामाण्यको एक तरहसे इस बातकी आवश्यकता रहती है। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति और वस्तुमें विज्ञान जो सम्पूर्ण विभिन्नता उपस्थित करता है वह समर्थनीय है या नहीं। विज्ञान व्यक्तिके ज्ञानका विचार न कर केवल वस्तुका एक संसार खड़ा कर देता है। लेकिन वास्तवमें वस्तुका स्वरूप व्यक्तिके ज्ञानके साथ अविच्छेद्यरीतिसे सम्बद्ध रहता है। वस्तुका दृश्यमानस्वरूप ज्ञानोत्पादक नियमोंसे निश्चित किया गया है। किंबहुना यों भी कहा जा सकता है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय, अनुभव और अनुभाव्य विषयोंकी अटूट एकरूपता है। तत्त्वज्ञान दृष्टिके अनुसार अनुभवद्वारा वस्तुओंकी ओर देखता है। और विज्ञान ज्ञानके गूदेसे वस्तुके छिलकोंको अलग कर उन्हींपर विचार करता रहता है। जब हम अनुभवज्ञात वस्तु और ज्ञानकी एकरूपतापर ध्यान देते हैं तब यह सारा वैज्ञानिक विवेचन कृत्रिम विषयोंपर विचारविनिमय-सा ज्ञात होता है। विज्ञानके विषय वस्तुस्थितिके एक अंग रहते हैं इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है। विज्ञानका विश्व अन्तिम पूर्ण सत्य नहीं है। विषयोंके सत्यासत्यका प्रश्न विज्ञानके सम्मुख उपस्थित नहीं होता। यह उसका कार्य नहीं है लेकिन तत्त्वज्ञानके लिये सत्यासत्यका विवेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रिय है। उसे अनुभवद्वारा सत्यासत्यका निश्चय करना पड़ता है। कहा जाता है कि भाषाकी शुद्धता अथवा अशुद्धताका ज्ञान व्याकरणसे होता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके अध्ययनसे सत्यासत्यका ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान अनुभवका व्याकरण है।

विज्ञान विषयोंको अनुभवसे विलिप्त करता है, वैज्ञानिक अपूर्णताका यह एक कारण है। इसके अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। विज्ञानकी खोज उपपत्तिरूप रहती है। अमुक एक कार्य क्यों हुआ? उसके कारण क्या हैं? विज्ञान इन्हें समझनेका प्रयत्न करता है। थोड़ा विचार करनेसे ज्ञात होगा

कि कारणोंके अन्वेषणकी मर्यादा सङ्कुचित है। विज्ञान कार्यके कारणोंको बतलाता है लेकिन वे कारण दूरतक नहीं जा सकते। वे हमारी जिज्ञासा सम्पूर्णतया तृप्त नहीं करते। पानी क्यों बरसता है? इसका उत्तर विज्ञान देता है—'नदियों, तालाबों, समुद्रों तथा जलाशयोंका जल सूर्यकी उष्णतासे वाष्पमें परिणत होता है। भाप ऊपर उठती है, बादल बनते हैं, और जब एक निश्चित अंशतक वातावरण शीतल एवं सघन होता है तब बादलकी भाप नीचे जलरूपमें बरसने लगती है।' इस उत्तरसे वर्षाके बारेमें कुछ जान जाते हैं। यह उत्तर हमें चुप कर सकता है लेकिन इससे हमारी जिज्ञासा शान्त नहीं होती। इसी प्रश्नका उत्तर आदिमानव आधिदैविक मीमांसानुसार देता था—'वरुण (या कोई अन्य देवता) जल बरसाता है।' वैज्ञानिक उपपत्तिके अनुसार आज हम कह सकते हैं-जलकी भापसे वर्षा होती है। विज्ञान हमें बतलाता है कि जलकी भाप और भापका फिर जल हो जाता है अर्थात् स्थितिके भेदसे जलका ही चक्राकार परिवर्तन चल रहा है। इस वैज्ञानिक उत्तरकी अपेक्षा हमें वरुणवाले आधिदैविक उत्तरसे अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ क्या? वरुण नैसर्गिक पद्धतिका दैवीकरण है। विज्ञान उस दैवीकरणका नैसर्गीकरण करता है। वैज्ञानिक उत्तरमें शब्दाडम्बर और गुरुता ही अधिक है। अकाल क्यों पड़ता है? अबतक विज्ञान उसका समाधानकारक उत्तर नहीं दे सका है। 'वरुणका क्रोध' इस आधिदैविक उत्तरमें जितनी यदृच्छा है, उतनी ही यदृच्छा 'वाष्पकी कमी' या 'विषमविभाजन' के वैज्ञानिक उत्तरोंमें है। वैज्ञानिक उपपत्ति केवल घटनाका क्रम बतलाती है, लेकिन कारणसे कार्य कैसे होता है इस विषयमें विज्ञान कुछ नहीं कहता। विज्ञान कहता है उदजन और ओषजन वायु एकत्र होनेपर जल बनता है, लेकिन इन दो वायुओंके एकत्रीकरणसे जल कैसे बनता है यह वह नहीं बतला सकता। तात्पर्य, विज्ञान 'कैसे' के उत्तरमें कुछ नहीं कह सकता और 'कहाँ' के सम्बन्धमें भी उसकी गति मर्यादित है।

विज्ञान और तत्त्वज्ञानके ध्येयमें क्या अन्तर है यह हम देख चुके। वैज्ञानिक और तात्त्विक दृष्टियोंका अन्तर पहले ही स्पष्ट हो चुका है। दोनोंकी पद्धतिमें क्या अन्तर है यह देखें। ध्येयके स्वरूपभेदके कारण पद्धतिमें भी भेद हो जाता है। पद्धति ध्येयप्राप्तिका साधन है; अतः वह ध्येयके अनुरूप ही होनी चाहिये। सृष्टिका ज्ञान विज्ञानका ध्येय है। सृष्टिके व्यापार नियमबद्ध और सूक्ष्म रहते हैं। जितनी सूक्ष्म और अचूक विधिसे इन व्यापारोंका निरीक्षण किया जायगा उनका ज्ञान उतना ही अधिक विश्वसनीय और उपयुक्त होगा। वैज्ञानिक निरीक्षण नेत्र आदिका उपयोग करता है। लेकिन केवल निसर्गदत्त इन्द्रियोंपर ही अवलम्बित रहनेके कारण उसके इस निरीक्षणका क्षेत्र बहुत सङ्कुचित रहता है। नेत्रोंकी रचना अत्यन्त आश्चर्यजनक है। लेकिन उनकी शक्ति अत्यन्त परिमित है। इस शक्तिको बढ़ाकर निरीक्षणका क्षेत्र विस्तृत करनेके लिये सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और दूरदर्शक यन्त्र-जैसे कृत्रिम साधनोंका उपयोग करना पड़ता है। चूँकि निसर्गक्रमके अनुसार होनेवाली प्रक्रियाओंपर निरीक्षण अवलम्बित रहता है, इसलिये प्रकृति उस समय जो एक विवक्षित कारण-समुच्चय एकत्रित करती है हमें उन्हींके कारणोंका निरीक्षण करना पड़ता है। कुछ अंशोंमें यह विवशता अपरिहार्य होती है, लेकिन कई स्थानोंमें इसका परिहार किया जाता है। परिणाम देखनेके लिये किये जानेवाले निरीक्षणमें प्रकृतिपर अवलम्बित रहना अत्यन्त असुविधाजनक है। प्रयोगशालामें उनका परिणाम सुविधापूर्वक देखा जा सकता है। वहाँ घटकोंका इच्छानुसार पृथक्करण अथवा एकीकरण और प्रत्येक कार्योंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। निरीक्षणमें ऐसा नहीं हो सकता। नैसर्गिक परिस्थितियोंमें जो अवलोकन किया जाता है वह है 'निरीक्षण'। उत्पन्न की हुई परिस्थितियोंमें जो निरीक्षण किया जाता है वह है 'प्रयोग'।

निरीक्षण और प्रयोगका उपयोग विज्ञान अपने विषयोंके वर्गीकरणके समय करता है; लेकिन, विषयोंके वर्गीकरणके बाद जब वह सिद्धान्त निश्चित करता है तथा उपसिद्धान्तोंका शोध करता है तब उसे तार्किक पद्धतिका सहारा लेना पड़ता है। निरीक्षित बातोंसे अनुमान निकालनेके लिये तर्कशास्त्रने जो नियम बना दिये हैं वे सभी शास्त्रों एवं विज्ञानोंपर लागू हैं। इतना ही नहीं, विचारोंके क्षेत्रमें तर्कका साम्राज्य अबाधित है, क्योंकि व्यवस्थित तथा ध्येयकी प्राप्ति करानेवाले विचार तर्कशुद्ध होने ही चाहिये। इस दृष्टिसे तत्त्वज्ञानके लिये भी तार्किक पद्धति आवश्यक है।

विज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनोंके लिये तार्किक पद्धति समानरूपसे आवश्यक है। तर्कके साथ ही विज्ञान निरीक्षणात्मक तथा प्रयोगप्रधान पद्धतिकी योजना करता है। तत्त्वज्ञानकी पद्धति (बाह्य) निरीक्षणात्मक नहीं है, अन्तर्निरीक्षणात्मक है। विज्ञानके विषय बाह्य हैं अतः वहाँ बाह्य निरीक्षण सम्भव है। किन्तु तत्त्वज्ञानके विषय 'अनुभव' हैं अतः

उनके लिये अन्तर्निरीक्षण ही आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। विज्ञानका सम्बन्ध जड पदार्थोंसे है, इसलिये उनका भोज-भाव तथा उनकी क्रिया-प्रक्रियाओंका निरीक्षण विज्ञानके लिये आवश्यक है। लेकिन तत्त्वज्ञान किसका भोज-भाव करे ? जहाँ स्थल, काल, क्रिया-प्रक्रियासे रहित कूटस्थ नित्य एवं स्वयंप्रकाश सत्यकी शक्यता और उसके स्वरूपका विचार करना हो वहाँ बाह्य प्रयोगोंसे क्या हो सकता है ? हमारे अनुभवका स्वरूप क्या है ? उसे किन शर्तोंने निश्चित किया है ? अनुभवमें जो एकसूत्रता है उसकी सम्भवताके लिये अखण्ड स्वयंसिद्ध चित्-तत्त्वको अधिष्ठान मानना चाहिये या नहीं ? इन तथा अन्य प्रश्नोंको सुलझानेके लिये अन्तर्निरीक्षण ही योग्य पद्धति है। यहाँ निरीक्षण और प्रयोगका कोई उपयोग नहीं हो सकता। अनुभवका अन्तर्निरीक्षण करनेवाली पद्धतिको जर्मन तत्त्वज्ञ 'काण्ट' (Kant) एक विशेष दृष्टिसे चिकित्सक पद्धति कहता है। उसका समर्थन करते हुए वह कहता है कि पहले तत्त्वज्ञानके स्वरूपके सम्बन्धमें अन्धश्रद्धायुक्त (Dogmatic) था। 'ज्ञानका स्वरूप क्या है ?' इसका विचार न करते हुए तत्त्वज्ञ सृष्टिसे तत्त्व ढूँढ़ने लग जाते हैं। इससे उनके सिद्धान्त ऐकान्तिक तथा परस्पर अत्यन्त विरोधी रहते हैं और इसलिये इस पद्धतिके दोष दिखलाकर, ज्ञानके स्वरूपपर विचार करनेके लिये उसने चिकित्सक (Critical) पद्धतिका सहारा लिया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है विज्ञानके समान तत्त्वज्ञान भी तार्किक पद्धतिका उपयोग करता है। इस बातमें तत्त्वज्ञान और विज्ञान समान हैं। तत्त्वज्ञान तथा तर्कके सम्बन्धमें पाश्चात्यों तथा हमारी वृत्तिमें जो भेद है वह इस स्थानपर स्पष्ट होना चाहिये। पाश्चात्योंके मतानुसार तत्त्वज्ञान केवल तर्कनिष्ठ है। आरम्भसे लेकर अन्ततक वह तर्कसे नाता नहीं तोड़ सकता। भारतीय मतके अनुसार वह केवल तर्कमय नहीं है। वह तर्कप्रधान किन्तु अनुभवमें पर्यवसित होनेवाला है। तर्ककी दौड़ एक सीमातक है। आगे तर्क रुक जाता है, बुद्धि थक जाती है और प्रत्यक्ष अनुभवमें उसका पर्यवसान हो जाता है। केवल तर्क अप्रतिष्ठित है। अकेले उसे कहीं भी स्थान न मिलेगा। केवल तर्कपर प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञान बालूकी भीत (Wall on Sand) के समान है। तर्कसे मतमतान्तरोंकी खिचड़ी बन जायगी, सत्यकी प्राप्ति नहीं होगी, इसलिये यह सदैव ध्यानमें रखना चाहिये कि तर्क अनुभवशरण है। इसीलिये तो हमारे अध्यात्मशास्त्रोंमें श्रुतिका महत्त्व है। उसमें मूर्तिमान् अनुभव ही शब्दरूपमें प्रकट हुआ है। प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंके शब्दोंमें व्यक्त हुआ अनुभव ही श्रुति है। बुद्धिके चमत्कार दिखलाकर स्वमत मण्डन तथा परमत खण्डन ही तत्त्वज्ञानका ध्येय नहीं है। तत्त्वको जानकर तद्रूप होना, सत्यज्ञान-प्राप्तिके बाद उससे समरस होना—यही हमारे यहाँ तत्त्वज्ञानका उदात्त और अन्तिम ध्येय माना गया है। श्रुतिकी प्रतिज्ञा है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

पाश्चात्य मतके अनुसार तत्त्वज्ञान 'विज्ञानोंका विज्ञान' है। वैज्ञानिक ज्ञानमें जो कमियाँ हैं, उनको पूरी करना तत्त्वज्ञानका काम है। विभिन्न विज्ञानोंके गृहीत तत्त्वोंकी चिकित्सा तत्त्वज्ञानको करनी पड़ती है। वैज्ञानिक सिद्धान्त जब परस्पर विसङ्गत होते हैं तब उनकी एकवाक्यताका कार्य भी तत्त्वज्ञानके पल्ले पड़ता है। सारांश, अलग-अलग विज्ञानोंके पूर्व तथा उत्तर संस्कार कर वैज्ञानिक ज्ञानकी पूर्ति करना—यह तत्त्वज्ञानका महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस पाश्चात्य मतके अनुसार तत्त्वज्ञान विज्ञानोंको सुव्यवस्थित करता है। इसलिये उसकी व्याप्ति विज्ञानसे अधिक है। यद्यपि यह सब ठीक है; तथापि इस तरह तत्त्वज्ञान एक प्रकारका विज्ञान ही बन जाता है। तत्त्वज्ञानका क्षेत्र सारे विज्ञानोंके क्षेत्रसे विस्तृत है। लेकिन तत्त्वज्ञान और विज्ञानकी जाति एक है। किन्तु भारतीय मतके अनुसार दोनोंकी जाति अलग-अलग है और दोनोंके स्वरूपमें भी भेद है। केवल व्याप्तिमें भेद नहीं है।

विज्ञान तथा तत्त्वज्ञानका भेद स्पष्ट करनेके लिये दोनोंके ध्येय तथा उनकी पद्धतिका अन्तर बतलानेवाली दो विधियोंके सिवा एक और भी विधि है। और वह है—'विज्ञान जिज्ञासामूलक है और तत्त्वज्ञान मुमुक्षामूलक।' यह क्या है ? इस प्रश्नमें जो आश्चर्यभाव छिपा है वह जिज्ञासा है। आकाश बिना आधारके कैसे खड़ा है ? पर्वत अपने स्थानसे हिले नहीं, समुद्र अपनी मर्यादाका अतिक्रमण न करे, पृथ्वी भूतोंका वहन करे, जल नीचेकी ओर बहे, पवन निश्चल न रहे, इस तरहकी नियमितता कहाँसे आयी ? सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? संसारका मूल द्रव्य क्या होगा ? आप्, वायु या तेज ? ये या ऐसे ही अनेकों प्रश्न जिज्ञासासे निकला करते हैं। जिज्ञासा विचारकी प्रवर्त्तक है। यद्यपि यह सत्य है कि जिज्ञासामें बुद्धिहीन तथा पाशविक समाधानसे ऊपर उठाकर बौद्धिक व्यापार-क्षेत्रमें ला छोड़नेका सामर्थ्य है तथापि गणितशास्त्र,

भूगर्भशास्त्र या प्राणिशास्त्रके सिद्धान्त खोजनेमें जितने अंशोंमें यह वृत्ति उपयोगी होगी उतने ही अंशोंमें वह सृष्टि-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त ढूँढ़ते समय साधनस्वरूपा होगी। तत्त्वज्ञान अर्थात् 'सृष्टिका सामान्य विचार' इस पाश्चात्त्य व्याख्याके अनुसार जिज्ञासा तत्त्वज्ञानके लिये भी आधारभूत है। लेकिन जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस तरह तत्त्वज्ञान केवल एक विज्ञान हो जाता है। जिज्ञासामें एक प्रकारकी वैकल्पिक वृत्ति रहती है। यह होगा या शायद न भी हो। वस्तुके संशोधनमें यह लापरवाही चल सकती है कि अन्तिम सिद्धान्त यों रहा तो क्या और त्यों रहा तो क्या ? किन्तु सत्य-संशोधनमें जहाँ कि आत्माका शोधन है वहाँ ऐसी वृत्तिको कोई स्थान नहीं है।

जिज्ञासामें सर्वदा तटस्थताका अंश रहता है। नटका खेल होते देखकर 'देखें तो जरा क्या हो रहा है ?' ऐसा कहते समय हमारी जो वृत्ति रहती है कुछ वैसी ही वृत्ति विज्ञानका ज्ञान प्राप्त करते समय नहीं रहती है क्या ? दोनोंमें जो थोड़ा अन्तर है वह जातिनिष्ठ नहीं है अंशात्मक है ? वैज्ञानिक संशोधनके लिये एकनिष्ठता तथा तीव्रताकी आवश्यकता है; परन्तु संशोधनको इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसके संशोधन-से यह सिद्धान्त निकले या वह अथवा इनमेंसे कोई-सा भी न निकले। वैज्ञानिकके जीवनसे संशोधनका निकट सम्बन्ध नहीं रहता। जिज्ञासामें विकल्प है आवश्यकता नहीं। जिज्ञासित ज्ञान केवल पसंदगीका विषय है। ऐसे विषयके व्यासंगमें अपरिहार्यता नहीं है; क्योंकि पसंद व्यक्तिनिष्ठ है, किसीको उत्साह रहता है, किसीको नहीं। अन्तर्भावना रहती है इसलिये ज्ञान प्राप्त करना है, यदि यह ज्ञान प्राप्त हुआ तो अच्छा ही है और न मिला तो कुछ नुकसान नहीं। जिज्ञासा केवल 'शौक' का स्वरूप प्राप्त कर लेती है। किसी-को प्राणियोंके ढाँचे एकत्रित करनेका शौक रहता है तो किसीको अनेक प्रकारके पत्थर संग्रह करनेका। 'तत्त्वज्ञान केवल जिज्ञासामूलक है' इस कथनका अर्थ है कि तत्त्वज्ञान भी एक शौक है। सारांश, जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्तिके जीवन तथा भविष्यके साथ अपरिहार्यरूपसे निगडित नहीं है। वह व्यक्तित्वके पृष्ठभागपर तैरती है। वह अन्तःकरणमें भिनती नहीं। जिज्ञासामूलक विज्ञानद्वारा ज्ञात सृष्टितत्त्व हमसे सदा परोक्ष, अपरिचित और दूर रहते हैं किन्तु मुमुक्षासे जो तत्त्व ज्ञात होते हैं उनका व्यक्तिके जीवनसे निकट सम्बन्ध रहता है। 'वे ज्ञात हों चाहे न हों' का विकल्प उनके सम्बन्धमें नहीं उठ सकता। मुमुक्षाद्वारा साध्य होनेवाले तत्त्व यदि ज्ञात न हुए तो मनुष्य सर्वदा सन्ताप और पश्चात्तापकी आगमें जलता रहता है, 'जीवन सफल नहीं हुआ, दुःख मिटा नहीं, मृत्युसे मुक्ति नहीं हुई'—यह भावना उसे व्याकुल करती रहती है। 'जीवनमें जो करना था वह न कर सका' यह कष्टप्रद भावना तबतक शान्त नहीं हो सकती जबतक अन्तिम और वास्तविक तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्ति न हो।

'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्योंने जिस ज्ञानकी ओर संकेत किया है वह मुमुक्षावृत्तिसे ही साध्य है। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार प्राप्त करनेके लिये जिस पूर्व तैयारीका वर्णन किया है उसमें नित्यानित्य-वस्तुविवेक, शम, दम तथा वैराग्यके साथ ही मुमुक्षाका भी खास स्थान है। तटस्थ बौद्धिक कुतूहल जिज्ञासा है, और अन्तःकरण तथा बौद्धिक कुतूहलसे उत्पन्न भावना मुमुक्षा है। यह अन्तर भलीभाँति समझ लेनेपर तत्त्वज्ञान जिज्ञासामूलक न होकर मुमुक्षामूलक क्यों है तथा तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें हमारी तथा पाश्चात्त्यवृत्तिमें क्या भेद है—यह स्पष्ट हो जायगा। हमारे मतानुसार तत्त्वज्ञान केवल 'विज्ञानोंका विज्ञान' नहीं है। यह 'अध्यात्मज्ञान' है।

छान्दोग्योपनिषद्के सप्तम अध्यायमें एक सुन्दर संवाद है जो विज्ञान और तत्त्वज्ञानके भेदके सम्बन्धकी भारतीय कल्पनाको भलीभाँति स्पष्ट कर देता है। एक बार नारदजी सनत्कुमारके पास गये और प्रार्थना करने लगे कि 'मुझे ज्ञान प्राप्त करा दीजिये।' सनत्कुमारजीने पूछा कि 'आपने अबतक किस-किस विद्याका अध्ययन किया है।' नारदजीने उत्तर दिया, 'मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और इतिहास-पुराणादिसहित पाँच वेद, पित्र्य, राशिविद्या (गणित), तर्क-शास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प-विद्या तथा देवजन विद्या (गान्धर्वशास्त्र) का अध्ययन किया है। किन्तु भगवन् ! मैं केवल मन्त्रविद् हूँ, आत्मविद् नहीं। मैंने ज्ञानियोंसे सुना है कि आत्मविद् शोकसे छुटकारा पा जाता है। मुझे दुःख होता है। मुझे दुःखोंसे मुक्त कीजिये।' तब श्रीसनत्कुमारने बतलाया कि 'ये सब शास्त्र नाममात्र हैं। नामके आगे इनकी गति नहीं है। नामके पहले वाणी है। वाणीके पहले मन, मनके पहले उत्तरोत्तर संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आप्, तेज, आकाश, स्मरण, आशा और प्राण हैं। प्राणज्ञ अतिवादी है। परन्तु वस्तुतः सत्यज्ञ

ही अतिवादी है। सत्य 'भूमन्' है। जो भूमन् है वही सुख-स्वरूप होता है। अल्पमें कभी सुख नहीं होता। इस सर्व-व्यापी सत्यका आत्मासे आदेश किया जाता है। आत्मा ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, सर्वत्र व्याप्त है। 'यह सब आत्मा है' यह जाननेवाला आत्मामें रममाण है। वह आत्मामें क्रीड़ा करता है। आत्मामें उसका आनन्द रहता है। वही वस्तुतः समस्त विश्वमें सञ्चार करता है।' यह आत्मज्ञान प्राप्त कर नारद शोकसे मुक्त हो गये और उनके हृदयकपाट खुल गये।

यह संवाद स्पष्टरूपेण एक बात निदर्शित करता है कि वैज्ञानिक ज्ञान-सम्पादनके बाद भी मनुष्यके मनमें एक प्रकार-की अतृप्ति बनी रहती है। सर्वशास्त्रोंमें पारङ्गत होनेके बाद भी नारदजी मनःशान्ति प्राप्त न कर सके। क्या इससे यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है? मराठी संत ज्ञानेश्वरने सर्वशास्त्रपारङ्गत कलाप्रवीण, परन्तु आत्मज्ञानविहीन अज्ञानीका, जो केवल ज्ञानका बोझा ही ढो रहा है, बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—'वह कर्मकाण्ड जानता है, पुराण उसे कण्ठस्थ है, ज्योतिषशास्त्रमें वह इतना प्रवीण है कि जो कुछ कहेगा वही होगा, शिल्पशास्त्रका वह अधिकारी है, विधि, वशीकरण तथा अथर्वण—ये सभी उसे खूब अभ्यस्त हैं। कोकशास्त्रका वह पूरा पण्डित है। किसी भी बातपर वह महाभारत रच देता है, आगम तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। नीतिशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा तर्कशास्त्रमें उसने अच्छी गति प्राप्त कर ली है। निघण्टु उसका सेवक है। अन्य सब शास्त्रोंमें भी वह पूर्ण निष्णात है। किन्तु आत्मज्ञानमें कोरा है।' सम्पूर्ण विज्ञानोंका आधारस्तम्भ होनेपर भी यदि वह अध्यात्मसे एकदम कोरा है तो उसके उस ज्ञानका क्या उपयोग? संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि जिस ज्ञानसे आत्मा नहीं जानी जा सकती वह जल जाय, नष्ट हो जाय—

'ते एक वांचुंनी आघवां शास्त्रीं। सिद्धान्तनिर्माण धात्रीं। परिजळों ते मूळ नक्षत्रीं। न पाहेगा।'

मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए पुत्रके समान सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त वह ज्ञान अलक्षणी—अपशकुनरूप है। ज्ञान-प्राप्तिमें विज्ञान-का उतना ही उपयोग है जितना कि देखनेके लिये मोरपंखके नेत्रोंका।

तत्त्वज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञानके सम्बन्धमें भारतीय मत क्या है इसे समझानेके लिये ही यह विवेचन किया गया है।

सारांशमें विज्ञान तथा तत्त्वज्ञानके भेद तीन तरहसे बतलाये जा सकते हैं—

(१) वैज्ञानिक संशोधनका ध्येय 'सृष्टि-ज्ञान' है तो तात्त्विक संशोधनका ध्येय 'सत्य ज्ञान' है।

(२) वैज्ञानिक पद्धति निरीक्षणात्मक, प्रयोगप्रधान तथा केवल तार्किक रहती है। तत्त्वज्ञानकी पद्धति आन्तर-निरीक्षणात्मक, तार्किक, परन्तु अनुभव-शरण रहती है।

(३) विज्ञान जिज्ञासामूलक है और तत्त्वज्ञान मुमुक्षा-मूलक है।

आराधना

(रचयिता—'तिवारी सुमन')

सभी सिद्धियाँ सत्यसे साधना। करो ईशकी नित्य आराधना॥

सदा सर्वदा सत्य बोला करो।
कभी झूठ का घूँट कोई न लो॥
कहो जो करो, या करो जो कहो।
बुरा ताकि कोई तुम्हारा न हो॥ सभी०॥

बुरा है किसीका बुरा सोचना।
भला है सभीका भला सोचना॥
करो सामना शत्रु-सन्तापका।
रखो ध्यान आस्तीनके साँपका॥ सभी०॥

भले काम सारे करो सर्वदा!
बढ़े नाम गौरव मिले सम्पदा॥
कहो बात सारी पतेकी सदा!
मिटें क्लेश सारे मिटे आपदा॥

नहीं सोहता सज्जनोंको कभी।
कि हो जाय वे भी बड़ी दुन्दुभी॥
सुहाते भले बोल बोलो सभी।
बने प्यारका हार संहार भी॥

कामके पत्र

(१)

भाग्यवान् और अभागे कौन हैं ?

भैया ! तुम्हारा पत्र मिला। यहाँ कुछ भी अपना नहीं है। आज जिसको अपना मानकर छातीसे लगाया जाता है, वही कल हाथसे निकलकर पराया हो जाता है। यहाँ कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं जो सदा हमारे साथ रहे। या तो वह चली जाती है, या उसे छोड़कर हम चले जाते हैं। तुम्हारे पास आज धन है और कभी-कभी—मैं देखता हूँ—तुम्हें उस धनका अभिमान भी होता है। लोग तुम्हें 'भाग्यवान्' कहते हैं तो तुम्हें बड़ा सुख मिलता है, परन्तु भैया ! सच पूछो तो धनसे कोई भी 'भाग्यवान्' नहीं होता। संसारके धन, मान, प्रतिष्ठा, अधिकार सभी कुछ हों और हों भी प्रचुर परिमाणमें, परन्तु मन यदि भगवान्के श्रीचरणोंमें न लगा हो तो वस्तुतः वह 'अभागा' ही है। 'ते नर नरकरूप जीवत जग, भवभंजन-पद बिमुख अभागी।' भाग्यवान् तो वस्तुतः भगवच्चरणानुरागी ही है। 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥' तुम्हें जो धनका अभिमान होता है यह भी तुम्हारी बड़ी गलती है। फिर तुम्हारे पास तो धन है ही कितना ? तुमसे बहुत बड़े-बड़े धनी अब भी दुनियामें बहुत-से हैं। अबसे पहले ऐसे कितने हो गये हैं जिनकी धनराशि-का कोई पार नहीं था। पर आज उनका वह अनन्त ऐश्वर्य कहाँ है ? शिवि, मान्धाता, ययाति, रन्तिदेव आदिके धनसम्पत्तिका पार नहीं था; पर आज उसका कहीं पता नहीं है। न तो धनके होनेका अभिमान करना चाहिये और न यही अभिमान करना चाहिये कि यह मैंने कमाया है। यह भगवान्की चीज है, तुम्हें तो मिली है—भलीभाँति रक्षा करते हुए इसे भगवान्की सेवामें लगानेके लिये तुम इसके व्यवस्थापक हो, स्वामी नहीं। खबरदार, कहीं मालिक न बन बैठना। नहीं तो, चोरीके अपराधमें बड़े घरकी हवा खानी पड़ेगी। तुम्हारा तो बस, यही काम है कि तुम व्यवस्थापूर्वक इसे स्वामीकी सेवामें लगाते रहो। इसीमें धनकी सार्थकता है और असलमें इसीलिये धनीलोग भाग्यवान् हैं कि उन्हें धनके द्वारा भगवत्सेवाका सौभाग्य मिला है। दीन-दुखी गरीब भाई, पति-पुत्रहीन दुखी बहिनें, अभावग्रस्त गृहस्थ, अनाथ बालक आदि सभी इस धनके द्वारा सेव्य हैं। यह समझकर नहीं कि वे दयाके पात्र हैं बल्कि यह समझकर कि भगवान् ही उनके रूपमें अपने अधिकारसे उस धनको तुमसे चाहते हैं। तुम निःसंकोच और मुक्तहस्त होकर नम्रता और विनयके साथ उनका सम्मान करते हुए उनकी निःस्वार्थ सेवा करो। उनसे न कुछ बदलेमें चाहो और न उनपर अहसान करो ! ऐसा करोगे तो जरूर 'भाग्यवान्' कहलाओगे।

(२)

विरह-सुख

× × × श्रीश्रीगौराङ्गदेवने कहा था—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

'गोविन्दके विरहमें मेरा एक निमेष भी युगोंके समान लम्बा हो रहा है। ये दोनों आँखें सावनकी जल-धाराके समान सर्वदा बरस रही हैं और सारा जगत् मेरे लिये सूना हो रहा है।'

इस दुःखपूर्ण विरहमें कितना असीम सुख है, इस बातका प्रेमशून्य हृदयसे कैसे अनुमान लगाया जाय ? विरही जलता है पर इस जलनमें ही महान् शान्तिका अनुभव करता है। वह कभी इस जलनको मिटाना नहीं चाहता। वह मिलनमें उतना सुख नहीं मानता जितना

विरहकी अग्निमें जलते रहनेमें मानता है। 'हा प्राणनाथ! हा प्रियतम, हा श्रीकृष्ण! इस तरह रोते-कराहते जन्म-जन्मान्तर बीत जायँ। मैं मिलना नहीं चाहता, चाहता हूँ तुम्हारे विरहमें जी भरकर रोना और तुम्हारे वियोगकी आगमें जलते रहना। मुझे इसमें क्या सुख है इसको मैं ही जानता हूँ।'

बना रहे हमेशा यह विरह-दुख दिवाना,
मैं जानता हूँ इसमें कितना मज़ा मुझे है।

× × ×

ख़ुदा करे कि मज़ा इंतज़ारका न मिटे;
मेरे सवालका वह दे जवाब बरसोंमें।

भगवत्प्रेमका पागल वह विरही अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सिवा और किसीको जानता ही नहीं, वह तो अपनेको सदाके लिये उनकी चरणदासी बनाकर उन्हीं-की इच्छापर अपनेको छोड़ देता है और वियोगकी ज्वालामें जलता हुआ ही उन्हें सुखी देखकर परम सुख-का अनुभव करता है। महाप्रभु कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथातथा वा विदधातु लम्पटः
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वह लम्पट मुझ चरणदासीको प्रिय समझकर चाहे आलिङ्गन करे, चाहे अपने पैरोंसे कुचले और चाहे दर्शन न देकर विरहकी आगसे मेरे प्राणोंको जलाता रहे—जो चाहे सो करे, परन्तु मेरा तो प्राणवल्लभ वही है, दूसरा कोई नहीं।'

आपको यदि भगवान्के विरहमें कुछ मज़ा आता है तो यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। रोनेमें आनन्द आता है यह भी बहुत उत्तम है। बस, रोते रहिये और प्रेमके आँसुओंसे सींच-सींचकर विरहकी बेलको सारे तन-मनमें फैलाते रहिये। उसकी जड़को पातालमें पहुँचा दीजिये, और फिर उसीकी सघन छायामें उसीसे उलझे बैठे रहिये। देखिये, आपका मज़ा कितना बढ़ता है—

श्रीसूरदासजीने रोते-रोते गाया था—

मेरे नैना बिरहकी बेल बई।
सींचत नीर नैनको सजनी! मूल पताल गई॥
बिगसत लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसें निरुवारौं सजनी! सब तन पसर गई॥

यह सच है कि ऐसा विरही मिलनसे वञ्चित नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि वह नित्यमिलनमें ही इस विरह-सुखका अनुभव करता है। भगवान् उससे कभी अलग होते ही नहीं!

(३)

विषयोंमें सुख नहीं है।

× × × मौतके मुँहमें पड़े हुए मनुष्यका भोगोंकी तृष्णा रखना वैसा ही है जैसा कालसर्पके मुँहमें पड़े हुए मेंढकका मच्छरोंकी ओर झपटना! पता नहीं कब मौत आ जाय। इसलिये भोगोंसे मन हटाकर दिन-रात भगवान्में मन लगाना चाहिये। जबतक स्वास्थ्य अच्छा है तभीतक भजनमें आसानीसे मन लगाया जा सकता है। अस्वस्थ होनेपर बिना अभ्यासके भगवान्का स्मरण होना भी कठिन हो जायगा। इसीसे भक्त प्रार्थना करता है—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

'श्रीकृष्ण! मेरा यह मनरूपी राजहंस तुम्हारे चरण-कमलरूप पिंजरेमें आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकलते समय जब कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुक जायगा, इन्द्रियाँ अशक्त हो जायँगी तब स्मरण तो दूर रहा तुम्हारा नामोच्चारण भी नहीं हो सकेगा।' अतएव अभीसे मनको भगवान्में लगाना और जीभसे उनके नामका जप आरम्भ कर देना चाहिये।

धन-ऐश्वर्य, कुटुम्ब-परिवार सभी क्षणभङ्गुर हैं। इनकी प्राप्तिमें सुख तो है ही नहीं वरं दुःख ही बढ़ता है। संसारमें ऐसा कोई भी विचारशील पुरुष नहीं है जो विवेक-बुद्धिसे यह कह सकता हो कि इनमेंसे किसीसे भी उसे कोई सुख मिला है। यहाँकी प्रत्येक स्थितिमें विरोधी स्थिति वर्तमान है—सुख चाहते हैं मिलता है दुःख, स्वास्थ्य चाहते हैं, आती है बीमारी, प्रकाशके पीछे अन्धकार लगा है, जवानीके साथ बुढ़ापा सटा है, जीवनका विरोधी मरण सिरपर सवार है। यहाँ कौन-सा सुख है जिसमें आसक्त होकर मनुष्यको अपना जीवन बरबाद करना चाहिये। यह तो मूर्खता है जो हम विषयोंमें सुख मानकर दुर्लभ मानव-जीवनको खो रहे हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा गहइ परस मनि खोई॥

परन्तु विचार कर देखिये, मनुष्य सचमुच इसी तरह अपने अमृतसे मानव-जीवनको विषय-विष बटोरने और चाटनेमें ही खो रहा है। इसीसे उसे एकके बाद दूसरे—लगातार दुःखोंकी परम्परामें ही रहना पड़ता है। याद रखना चाहिये, यहाँकी कोई भी चीज, कोई भी सम्बन्धी उसको दुःखोंसे नहीं छुड़ा सकता। भगवान्का भजन ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्यको दुःखके सारे बन्धनोंसे छुड़ा सकता है। अतएव मन लगाकर खूब भजन कीजिये। बस रटते रहिये—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे।
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

(४)

'अर्थ' और 'अनर्थ'

आपका कृपापत्र मिला। आपने 'अर्थ' और 'अनर्थ' का भाव एवं अनर्थकी निवृत्तिका उपाय पूछा सो आपकी कृपा है। 'अर्थ' शब्दका अर्थ है 'प्रयोजन'। मनुष्यका प्रयोजन—उसकी चाह एक ही है, वह है असीम अपार अनन्त नित्य और पूर्ण आनन्द। इस आनन्दके बिना उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। इसीलिये वह हर अवस्थामें अभावका अनुभव करता है। ऐसा पूर्ण आनन्द है एकमात्र भगवान्में। भगवान् ही विशुद्ध आनन्दमय हैं। अतएव भगवत्प्राप्ति ही वस्तुतः 'अर्थ' है। यही परमार्थ है। एक संतने कहा है कि गीताका अर्थार्थी भक्त वस्तुतः इसी 'अर्थ' की कामना करता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है सो सभी 'अनर्थ' है चाहे वह संसारकी दृष्टिमें अच्छा हो या बुरा। भगवान्को भूलकर जो कुछ भी पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, प्राप्ति-विनाश और जीवन-मरण है—सभी अनर्थरूप है। भगवान्की प्राप्ति होती है भगवत्तत्त्वका यथार्थ रहस्य जानकर उनकी भक्ति करनेसे—'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'भक्त्या मामभिजानाति' आदि भगवद्वाक्य प्रसिद्ध हैं। भक्ति जब पूर्णत्वको प्राप्त हो जाती है तब इसीका नाम पराभक्ति या भगवत्-प्रेम हो जाता है। इस प्रेममें भगवान्के साथ कभी विछोह नहीं होता। यह प्रेम ही पूर्ण परम अर्थ है। इससे विपरीत ले जानेवाले या इस ओर आनेमें बाधा पहुँचानेवाले जितने भी काम या पदार्थ हैं वे सभी अनर्थ हैं। 'माधुर्यकादम्बरी' में चार प्रकारके अनर्थ बतलाये गये हैं—

(१) दुष्कृतोत्थ–(पापोंके परिणामस्वरूप पापमूलक विषयासक्ति बढ़ जाती है। उससे मनुष्य सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति तथा उनके भोगमें इतना उन्मत्त हो जाता है कि वह नित्य नये-नये पाप करनेमें गौरवका अनुभव करता है।)

(२) सुकृतोत्थ–(पुण्योंके फलस्वरूप मनुष्यको धन, जन, सम्मान, आराम आदि अनित्य भोगोंकी प्राप्ति

होती है। तब उनमें उसकी ममता और आसक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह उन्हींमें रमा रहता है तथा केवल उन्हींके भरण-पोषणकी चिन्ता करता है। भगवान्की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता।)

(३) अपराधोत्थ-(भगवान्के नाम और स्वरूप आदिका अपराध होनेपर साधनमें विघ्न और प्रत्यवाय (विपरीत फल) उत्पन्न हो जाते हैं।)

(४) भक्त्युत्थ-(भक्तिमें लगनेपर मनुष्यकी कुछ प्रतिष्ठा बढ़ती है, लोगोंमें उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इधर उसकी भोगवासना अभी मिटी नहीं, ऐसी हालतमें वह धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदिको स्वीकार करके उन्हींमें रत हो जाता है।)

इन चारों ही प्रकारके 'अनर्थों' की निवृत्ति सत्सङ्ग, सत्कर्म, नाम-जप और विनय तथा श्रद्धापूर्ण भगवत्सेवनसे होती है। अनर्थनिवृत्ति पाँच प्रकारकी मानी गयी है। 'एकदेशवर्तिनी,' 'बहुदेशवर्तिनी', 'प्रायिकी', 'पूर्णा' और 'आत्यन्तिकी'। स्वल्प सत्सङ्ग आदिके प्रभावसे कुछ अंशमें जो अनर्थ छूटते हैं, यह 'एकदेशवर्तिनी' निवृत्ति है। अधिक अंशमें छूटनेपर उसे 'बहुदेशवर्तिनी' कहते हैं। बहुत ही थोड़े-से अनर्थ शेष रह जायँ इसे 'प्रायिकी' कहते हैं और अनर्थोंकी पूर्ण निवृत्ति हो जानेपर उसे 'पूर्णा' कहते हैं। पूर्णा निवृत्ति हो जानेपर भी जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक अनर्थका बीज नष्ट नहीं होता, इसलिये अभिमानजनित भक्तापराध आदि दुष्कर्मोंसे पुनः 'अनर्थ' की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति होनेपर अनर्थबीजका नाश हो जाता है। वह आत्यन्तिकी निवृत्ति है—प्रेमस्वरूप भगवान्की प्राप्ति। यह पञ्चम तथा परम-पुरुषार्थ है और यही यथार्थ परमार्थ है।

अनुनय

(गीत)

अनुनय मेरी मान, सनेही।
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान सनेही॥
आ इस आसनपर तू जम जा,
सजन, संगिनीके हित थम जा,
जीवनकी सूनी कुटीरमें
मैं तुझमें, तू मुझमें रम जा।
चिर वियोगके बाद पूर्ण हो, जीका यह अरमान सनेही।
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान सनेही॥
अब फिर भेद-विभेद न कर तू,
'बन्धन' का विच्छेद न कर तू,
गिरा-अर्थ-सी एक रूप हो,
सम्बल दूँगी; खेद न कर तू।
मैं ही चिरसंगिनी प्रकृति हूँ, तू है 'पुरुष पुराण', सनेही
हे मेरे भगवान्, सनेही !!
युगसे साध लिये बैठी हूँ, अब दे दर्शन-दान, सनेही॥

—द्विजेन्द्र, एम्० ए०, साहित्यभूषण

तप

(कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः)

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

चारों ओर सुनसान जंगल देखकर शिष्यने कहा, 'गुरुदेव, हम सब मार्ग भूल गये हैं !'

'नहीं वत्स, यहाँ आनेका कुछ उद्देश्य है। गोरख कभी मार्ग नहीं भूलता। देखो, उस पीपलकी सीधमें वह ग्राम दिखायी दे रहा है। वहाँ पर्याप्त भीड़ है। आज एक भक्तने साधुओंको भोजन करानेका निश्चय किया है। कोलाहल स्पष्ट सुनायी पड़ता है और घीकी सुगन्धि भी आती है।' महात्मा गोरखनाथजीने एक ओर संकेत किया 'यह सीधा मार्ग है। दूसरे मार्गसे आनेपर सन्ध्यातक भी वहाँ न पहुँचते।'

चलते-चलते दिन ढलने लगा और तब जाकर कहीं ग्राममें पहुँचे। शिष्य सोच रहा था 'अवश्य गुरुदेवने वह बातें अनुमानसे कही होंगी। अन्यथा उतनी दूरसे ग्राम देख लेना, शब्द सुन लेना या सुगन्धि प्राप्त कर लेना कैसे सम्भव है। जो भी हो, गुरुदेवका अनुमान अत्यन्त सच्चा होता है।'

पङ्क्ति बैठी और साधु भोजन करने लगे। महात्मा गोरखनाथजीने एक लड्डूको काटते हुए कहा, 'इधर लड्डुओंमें नीमके पत्ते डालनेकी भी प्रथा है क्या ?' गृहस्थ उस नवीन शिष्यकी भाँति महात्माजीसे अपरिचित नहीं था। वह उन योगिराजकी अलौकिक शक्तियोंसे परिचित था। उसने घरमें पूछताछ की और यह स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की कि 'घृत खौलाते समय दो-तीन नीमके पत्ते हवासे उड़कर कड़ाहेमें जा गिरे थे।'

भोजनोपरान्त सबको आसन देकर बैठाया गया। श्रीगोरखनाथजीने अपना आसन छोड़ते हुए कहा, 'मैं अस्थिपर तो बैठनेसे रहा !' वहीं एक दूसरे सिद्ध भी थे। उन्होंने उस आसनपर चरण रक्खा 'पृथ्वीमें कहाँ अस्थि नहीं है ? सो यहाँ तो पूरे एक हाथ नीचे एक पशुका पैर मात्र है।' वे वहीं बैठने लगे। उत्सुकतावश लोगोंने उन्हें दूसरे आसनपर बैठाकर उस स्थानको खोदा। निकला क्या ? एक कुत्तेका पैर !

शिष्यको अब गुरुकी शक्तिका बोध हुआ। एकान्त प्राप्त कर उसने वहाँसे आश्रममें आनेपर एक दिन अपने महान् गुरुके पदप्रान्तमें मस्तक रखकर इन सिद्धियोंका रहस्य जाननेकी इच्छा प्रकट की।

'ये कोई सिद्धियाँ नहीं हैं, यह तो स्वाभाविक शक्ति है प्रत्येक मानवकी।' योगिराजने गम्भीरतापूर्वक समझाया। 'आदिशक्तिने किसीसे पक्षपात नहीं किया है। सबको समान शक्ति प्रदान की है। गिद्धकी दृष्टि, पिपीलिकाकी घ्राणशक्ति, हंसकी रसना, श्वानका श्रवण, अन्धोंकी स्पर्शशक्ति और मकड़ीका कालज्ञान प्रत्येक प्राणीको प्राप्त है। उपयोग न करनेसे इन सबकी स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है और उनपर मल एकत्र हो जाता है। तपस्याके द्वारा अशुद्धि नष्ट होनेपर वे शक्तियाँ पुनः जाग्रत् हो जाती हैं।'

समर्थ गुरुने भाँप लिया कि शिष्यमें इनके प्रति अनावश्यक उत्सुकता है, 'ये कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नहीं हैं। गिद्धादि पक्षी बननेकी अपेक्षा तुम्हें मानवतासे भी ऊपर उठना है और वह दिव्य बोध प्राप्त करना है जो इस शरीरका लक्ष्य है। तुम्हारी शक्तिका उपयोग उसीके लिये होना चाहिये। इन बाजीगरीके कौतुकोंके लिये नहीं।'

उस समय तो शिष्यने गुरुदेवके वचनोंको स्वीकार कर लिया, पर उसके हृदयसे वह उत्सुकता गयी नहीं। आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर उसे तपस्या करनेका आदेश हुआ। नैपालकी तराईके एक उपयुक्त वनके लिये उसने प्रस्थान किया।

[२]

'तुम बड़े बलसे गर्वित दीखते हो, तनिक वह मेरा कमण्डलु तो दे दो!' एक हट्टे-कट्टे पहलवानको सिद्धनाथ-जीका आदेश हुआ। उस बेचारेने बड़ा बल लगाया, उसके माथेपर पसीना आ गया; लेकिन वह तुम्बी उससे उठी नहीं। 'बस, इसीपर इतने घमंडी बने हो?' उसने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

कुछ अधिक सम्पन्नलोग आ गये थे दर्शनार्थ। इतनी सिद्धि दिखानेसे सन्तोष हुआ नहीं। 'बच्चे! मुझे तनिक उठाकर वहाँ तो बैठा दो!' भला वह आठ वर्षका बालक उन्हें कैसे उठाता? लोगोंके पुचकारनेपर वह उठा। यह क्या? उसने फूलके समान स्वामीजीको उठाकर दूसरी चौकीपर बैठा दिया। लोगोंको तब और भी आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि महाराजका शरीर उस चौकीपर पहुँचनेके पश्चात् ही घटने लगा और घटते-घटते नवजात शिशुके समान हो गया। उसी अवस्थामें रहकर वह उपदेश और प्रवचन करते रहे।

दिन थे गर्मीके, आम पकने लगे थे। महात्माजीने पासके वृक्षके शिखरपर चमकता बड़ा पीला आम लानेका आदेश दिया। चढ़नेको एक व्यक्ति चढ़ गया, पर वह फल बहुत दूर सीधी डालपर था वहाँ चढ़ना बहुत कठिन था। डाल हिलानेपर कच्चे फल कई गिरे, पर वह नहीं गिरा। 'व्यर्थमें कच्चे फल मत गिराओ।' महाराजने आदेश किया। विवश होकर लंबे बाँसकी खोज होने लगी।

सच्ची बात तो यह थी कि महाराजको चमत्कार दिखाना था। 'मैं स्वयं तोड़ लूँगा।' कहकर वे उठे और उनका शरीर लंबा होने लगा। इतने लंबे हुए कि हाथसे ही फलको तोड़ा। फल एक भक्तको जो सबमें सम्पन्न जान पड़ता था, प्रसादरूपमें दिया गया। शरीर अपनी माध्यम स्थितिमें आ गया।

भीड़ जुटने लगी सिद्धनाथजीके समीप। जनता तिलका ताड़ तो चुटकी बजाते करती है। चर्चा होने लगी कि वे पत्थरको मनुष्य, बाघको बछड़ा आदि बना देते हैं। सबके मनकी बात बतला देते हैं। रोगी रोगसे त्राण पाने, दरिद्र धनके लिये, संतानहीन पुत्रके लिये, इस प्रकार लोग अपनी-अपनी कामनाके लिये आने लगे।

महाराजको खाँसी भी आ जाय तो भक्त उसका कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य लगा लेते। प्रसिद्धिके साथ माया भी एकत्र होने लगी। भव्य मठ तो बन ही गया था, सरोवरके घाट बँध रहे थे। बगीचा लग गया था। आगन्तुकोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाकी नींव भी पड़ गयी। भण्डारा तो नित्य होता है।

[३]

पूरे चौदह वर्ष पश्चात् शिष्यको सुयोग मिला कि वह अपने परम पूज्य गुरुदेवके श्रीचरणोंमें उपस्थित हो सके। बाबा गोरखनाथजी आये थे और उन्होंने घाघरा-के दूसरे तटपर एक वटवृक्षके नीचे आसन लगा दिया था। पता नहीं क्या समझकर वे इस पार श्रीसिद्धनाथजीके मठपर नहीं पधारे।

'गुरुदेव नहीं पधारे तो मुझे तो उनके चरणोंमें उपस्थित होना ही चाहिये।' सिद्धनाथजीके साथ उनका सेवकमण्डल भी चला। सिद्ध और साधारण मानवमें प्रभेद ही क्या हो, यदि वह भी सर्वसाधारणके सदृश ही सब काम करे? लोग तो बैठे नौकाओंपर; किन्तु सिद्धनाथजी तो सिद्ध ठहरे, वे खड़ाऊँ पहने ही नदीके

वक्षस्पर चलने लगे! उनके खड़ाऊँ जलके ऊपर वैसे ही पड़ते थे, जैसे पृथ्वीपर। चरणकी अंगुलियोंको भी जलने स्पर्श नहीं किया। वे घाघरा पार हो गये।

वटकी सघन छायामें मूलके समीप बाबा गोरखनाथजी एक शिलापर व्याघ्राम्बर डाले शान्त बैठे थे। धूनी जल रही थी और लंबा चिमटा गड़ा हुआ था। दोनों कानोंमें विशाल मुद्रा झूल रही थी। पास ही बहुत-से भक्त मस्तक झुकाये पृथ्वीपर बैठे थे।

सीधे पहुँचकर सिद्धनाथजी सम्मुख दण्डकी भाँति गिर पड़े। भक्तोंने उनके लिये मार्ग छोड़ दिया था। गुरुने मस्तक उठाया। पता नहीं क्यों महापुरुषका मुख तमक उठा। नेत्र लाल हो गये। चिमटा उखाड़-कर उन्होंने अंधाधुंध बौछारें प्रारम्भ कर दीं सिद्ध-नाथकी पीठपर!

किसीमें इतना साहस नहीं था कि उन योगिराजको उस समय रोके। प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धनाथ भी इस प्रकार भीत हुए पिट रहे थे, जैसे अध्यापकके हाथों कोई बालक ताड़ना पा रहा हो। गुरुदेवकी उग्र मुखाकृतिको एक बार देखनेके पश्चात् फिर नेत्र नहीं उठ सके। चिमटेकी मार पीठ, सिर, हाथ, पैर जहाँ भी जो अङ्ग सामने पड़ता, वहीं बेभावकी पड़ रही थी।

'क्यों रे, नदी पार होनेमें कितने पैसे लगते हैं?' भली प्रकार पीठ-पूजा करनेके उपरान्त गुरुदेवने पूछा।

'केवल एक पैसा और साधुसे कुछ नहीं।' डरते-डरते शिष्यने उत्तर दिया।

'इतने दिनों शरीरको तपस्याकी अग्निमें भस्म करके तूने यह एक पैसेकी मजदूरीका व्यापार सीखा है! मूर्ख, ताड़ तुझसे अधिक लंबा है और हिमालयसे भारी तू बन नहीं सकता। कोई तेरा कमण्डलु उठा सके या न उठा सके, तुझे क्या लाभ? तूने पशु और जड बननेके लिये ही घर-द्वार छोड़कर इतना कष्ट उठाया था?'

चिमटेकी मार उतनी गहरी नहीं थी, जितनी इन शब्दोंकी। गुरु क्या जो शिष्यके बाह्याभ्यन्तरका प्रतिपलका ज्ञान न रक्खे? चिमटेकी मारमें मूक रहनेवाले सिद्धनाथ बच्चोंकी भाँति सर्वज्ञ गुरुदेवके समर्थ श्रीचरणोंमें फूट-फूटकर रोने लगे।

'बस—इसीलिये आया था। अब फिर मिलूँगा चौदह वर्ष बाद।' गोरखनाथजीने चिमटा और व्याघ्राम्बर उठाया और एक ओर सघन वनमें लीन हो गये। वे पुनः चौदह वर्ष पश्चात् सिद्धनाथजीको मिले या नहीं, यह तो पता नहीं पर इतिहास साक्षी है कि सिद्धनाथ अपने गुरुदेवसे तनिक भी न्यून नहीं थे। वे एक उच्च कोटिके महापुरुष हो गये हैं।

आनन्द

आनन्द चाहोगे और लगे रहोगे दुःखमय विषयोंकी उपासनामें तो आनन्दकी प्राप्ति कभी होगी ही नहीं। क्योंकि जैसे बालूमें तेल नहीं है और जलमें घी नहीं है वैसे ही विषयोंमें आनन्द नहीं है!

आनन्दमय बनना चाहते हो तो आनन्दमय भगवान्‌के समीप रहो—भगवान्‌की उपासना करो। जैसे अग्निके समीप अवस्थान करनेसे शरीर गरम और बरफके पास बैठनेसे ठंढा हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की सन्निधिसे सब कुछ आनन्दमय हो जाता है।

स्त्रियाँ और नौकरी

आजकल अपने यहाँकी शिक्षित स्त्रियोंको भी नौकरीका बड़ा चस्का लग रहा है। इस सम्बन्धमें पाश्चात्त्योंका क्या अनुभव है, इसे भी जरा देखना चाहिये। गत महायुद्धके पहले पाश्चात्त्य देशोंमें भी बड़े घरोंकी स्त्रियोंके लिये रुपया कमाना अपमान समझा जाता था, केवल गरीब स्त्रियाँ घरों तथा कारखानोंमें काम करके अपना गुजर करती थीं। परन्तु युद्धके दिनोंमें पुरुषोंके लड़ाईपर चले जानेके कारण प्रायः सभी कामों-पर स्त्रियोंका लगाना आवश्यक हो गया। इस तरह उनको आर्थिक स्वतन्त्रताका मजा आ गया। परन्तु जब युद्ध समाप्त हुआ, तब एक विकट प्रश्न उपस्थित हो गया। स्त्री-पुरुष दोनोंको काम देना मुश्किल हो गया और बेकारोंकी संख्या बढ़ने लगी।

'आवर फ्रीडम ऐण्ड इट्स रेजल्ट्स' (हमारी स्वतन्त्रता और उसके परिणाम) नामक पुस्तकमें ब्रिटेनके 'नारी-आन्दोलन'की एक प्रधान नेत्री श्रीमती रे स्ट्रैची लिखती हैं कि 'ब्रिटेनमें जितनी स्त्रियाँ हैं, उनमें सैकड़े पीछे केवल ३७ को अभीतक काम मिल सका है, स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताके मार्गमें कितनी ही रुकावटें हैं। इनमें कुछ तो प्राकृतिक हैं, जिनमें परिवर्तनकी सम्भावना नहीं और कुछ परम्परागत सामाजिक वहमोंके कारण हैं, जिनके दूर होनेमें काफी समय लगेगा। गर्भधारण करके बच्चे जनना स्त्रियोंका प्रकृतिसिद्ध कार्य है, जो कभी पुरुषोंके मत्थे नहीं पड़ सकता। यद्यपि इसमें अधिक समय नष्ट नहीं होता, तब भी इसकी सम्भावनाके कारण स्त्रियोंको काम मिलनेमें बाधा अवश्य पड़ती है। इस भावमें कुछ परिवर्तन हुआ है। होटलोंमें भोजन करनेकी प्रथासे, मेहनत बचानेवाली मशीनों और बने-बनाये सामान बिकनेके कारण स्त्रियोंका अधिक समय अब गृहस्थीमें नष्ट नहीं होता। फिर भी पुरुषोंने इन कार्योंको अपनाया नहीं है। लड़कोंको सीना-पिरोना, खाना पकाना भले ही सिखलाया जाय, परन्तु इन कामोंके लिये वे घरोंमें नहीं बैठते। इसका फल यह होता है कि बाहर काम करनेवाली स्त्रियोंपर दोहरा बोझ पड़ जाता है, जिसमें वे अपना स्वास्थ्य गँवा बैठती हैं। स्त्रियोंकी शारीरिक शक्ति पुरुषोंसे कम होती है यह मानना ही पड़ेगा। गत महायुद्धके समय यह देखा गया था कि जो काम दो पुरुष करते थे, वही तीन स्त्रियाँ कर पाती थीं। एक बात यह भी है कि ४० वर्षकी आयु हो जानेपर स्त्रियोंमें शक्तिका ह्रास आरम्भ हो जाता है। इतनी आयु होनेपर ही जिसको हटानेकी आवश्यकता हो, ऐसे व्यक्तिको काम देनेमें लोगोंको आगा-पीछा होता ही है। यह देखा गया है कि १८ से २० वर्ष तककी स्त्रियोंको ही अधिक काम मिलता है। ३५ वर्षकी आयु हो जानेके बाद काम मिलना बड़ा कठिन हो जाता है। उनका वेतन पुरुषों-से कम होता है, जिसमेंसे वे कुछ बचा भी नहीं पातीं। सम्भवतः दूसरी जगह काम न मिले, इस डरसे वे नौकरी छोड़ती भी नहीं हैं और उसीमें पिसकर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर देती हैं। स्त्रियोंमें एक दोष यह भी है कि वे जिस कामको लेती हैं, उसके पीछे पड़ जाती हैं। मनोनुकूल काम मिलनेपर तो यह गुण है, पर जब ऐसा नहीं होता, तब इसका स्वास्थ्यपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंमें ममता भी अधिक होती है। घर-बार, बाल-बच्चों, वृद्ध तथा रोगी आश्रित जनोंको छोड़कर जहाँ चाहे चले जाना इनके लिये सहज नहीं होता।' अन्तमें श्रीमती स्ट्रैचीका कहना है कि 'इनमें कितने भाव स्वाभाविक और कितने सामाजिक रूढ़ियों तथा अभ्यासोंके फल हैं, यह कहना बड़ा कठिन है। स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताका प्रश्न बड़ा जटिल है। अभी तो इसके प्रयोगका प्रारम्भ ही हुआ है, उनके तथा समाजके जीवनपर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा, यह समय ही बतलायेगा।'

'दि फ्यूचर आफ मारल्स' (सदाचारका भविष्य) नामक पुस्तकमें इंगलैण्डके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीजोड लिखते हैं कि जिस लहरमें पड़कर स्त्रियाँ नौकरियों और व्यवसायोंके लिये दौड़ रही थीं, वह अब निश्चित रूपसे पीछे हट रही हैं, युद्धके वे दिन, जब आवश्यकतावश सभी व्यवसायोंके द्वार स्त्रियोंके लिये खुले हुए थे, बीत चुके। अब तो समाज उन्हें कम वेतनपर जी उबानेवाले काम ही देनेके लिये तैयार हैं। बड़ी-बड़ी नौकरियोंके लिये उन्हें कोई पूछतातक नहीं। उनके अधीन काम करनेमें पुरुष अपना अपमान समझते हैं। विश्वविद्यालयोंसे प्रतिवर्ष सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें उच्चशिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ निकल रही हैं, जिनके लिये कहीं उपयुक्त काम नहीं मिल रहा है। केवल लन्दन नगरमें मध्यम श्रेणीकी ५२,००० स्त्रियाँ कामकी तलाशमें भटक रही हैं। उसके फलस्वरूप उन्हें घरोंकी याद फिर आ रही है और वे सोचती हैं कि कितने ही मालिकोंकी घुड़की-धमकी सहनेसे तो यही अच्छा कि विवाह करके घरके मालिकपर ही शासन करें। इस भावकी पुनर्जागृतिके आज कितने ही लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं। स्त्रियोंको अपने बनाव-सिंगारकी फिर सूझ रही है। प्रत्येक स्त्रीकी शृङ्गारसामग्री झोलेमें हमेशा साथ रहती है, जरा-सा अवकाश मिलते ही, वह अपना मुख सँवारने लगती है। इन छोटी-छोटी बातोंसे ही पता लग रहा है कि हवा किस ओर बह रही है।'

यह वर्तमान महायुद्धके पहलेकी बात है। अब उसमें पुरुषोंके फँस जानेके कारण स्त्रियोंकी फिर बड़ी माँग हो रही है। ब्रिटेनमें स्त्रियोंसे भिन्न-भिन्न विभागोंमें भरती होनेके लिये अपील की जा रही है। परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर इस बार भी क्या यह लहर फिर न पलटेगी ? स्त्रियोंकी आर्थिक स्वतन्त्रताका क्या परिणाम हो रहा है इसका दिग्दर्शन श्रीमती आइरिन सोल्ट्रने अपनी 'दि फ्री वोमन' (स्वतन्त्र स्त्री) नामक पुस्तकमें कराया है। वे लिखती हैं कि 'शिक्षाके साथ लड़कियोंको नौकरीकी चिन्ता होने लगती है। जिनको काम मिल जाता है, उनका मन फिर गृहस्थीके झंझटोंमें नहीं लगता। चार पैसा कमा सकने योग्य हो जानेपर फिर उन्हें हर बातमें—वैवाहिक बन्धनोंमें, बच्चे पैदा करनेमें, उनके पालने-पोसनेमें, अपने शरीरका मनमाना उपयोग करनेमें—स्वतन्त्रता सूझने लगती है। इस तरह उनमें एक विद्रोहका भाव जाग्रत् हो उठता है, जो किसी प्रकारकी रुकावटको सहन नहीं कर सकता। गृहस्थीकी प्रवृत्तियाँ उनमें नष्ट हो जाती हैं। एक 'बेबी' (बच्चे) की अपेक्षा उन्हें 'बेबी आस्टिन' (छोटी मोटर) की आवश्यकता अधिक प्रतीत होने लगती है।' पति-पत्नी दोनोंको जब धन कमानेकी धुन सवार होती है, तब घर तो चौपट हो ही जाता है, इसमें सन्देह नहीं। यदि पतिको एक जगह नौकरी मिलती है तो पत्नीको किसी दूसरी जगह, ठीक समयसे नौकरी बजाना है, घरका काम देखनेके लिये अवकाश नहीं है, बच्चोंकी देखरेख नौकरोंके मत्थे है। इस जीवनमें भी क्या कोई सुख है ? फिर यह स्वतन्त्रता है या पूरी परतन्त्रता ? घरका काम सँभालना पराधीनता हुई और दफ्तरमें घंटों नीरस काममें पिसना स्वतन्त्रता ? अपने बच्चोंको पालना-पोसना, उन्हें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देना तो हुआ 'समयका नष्ट करना' और दूसरोंके बच्चोंकी धाय बनकर रहना या स्कूलोंमें जाकर उनको पढ़ाना हुआ समयका 'सदुपयोग' ! पति जो प्रेमका पात्र है, उसकी एक कटु बात भी सहन नहीं हो सकती, पर अफसरोंकी घुड़कियों-धमकियोंपर मुँहसे एक शब्द भी निकालनेका साहस नहीं होता। यह भी क्या कोई स्वतन्त्रता है, जिसके लिये इतना ऊधम मचाया जा रहा है ?

स्त्रियोंके नौकरियोंके पीछे पड़नेसे घर बिगड़ जाता है, इसका अनुभव पाश्चात्त्य देशोंमें भी हो रहा है। इंगलैण्डमें विवाहिता स्त्रियाँ शिक्षा तथा अन्य कई विभागोंमें काम नहीं कर सकतीं। कई नगरोंकी म्यूनिसिपल्टियोंमें यह नियम है कि विवाह हो जानेके पश्चात् स्त्रियाँ

कामपरसे हटा दी जाती हैं। सुधारकोंकी दृष्टिमें यह समाजकी सङ्कीर्णता तथा केवल रूढ़िप्रेम है। सोवियट रूसमें स्त्रियोंको इस सम्बन्धमें पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गयी है। लेनिनकी राय थी कि स्त्रियोंको गृहस्थीके कार्य तथा बच्चोंकी परवरिशसे मुक्त कर देना चाहिये, जिसमें वे देशकी सेवा कर सकें। इसलिये बच्चोंके पालन-पोषण और उनकी शिक्षाका भार राष्ट्रने लिया। बच्चोंको जननेके लिये सरकारी 'सूतिकागृह' खोले गये, 'शिशुशालाओं'में उनका पालन-पोषण होने लगा और बड़े होनेपर स्कूलोंमें उनकी शिक्षाका प्रबन्ध किया गया, इस तरह माता-पिता तथा घरके प्रभावसे बच्चे अलग कर दिये गये। इन संस्थाओंमें सब तरहकी सुविधाएँ दी गयीं, इनका सञ्चालन विशेषज्ञोंके हाथमें सौंपा गया। एक तो सब गाँवोंमें और शहरोंमें ऐसी संस्था खोलना मुश्किल है, दूसरे यह देखा गया कि सब प्रकारका आदर्श-प्रबन्ध होनेपर भी इनमें पले हुए बच्चोंमें वह बात नहीं आती, जो घरके पले हुए बच्चोंमें होती है। इसका अनुभव स्वयं लेनिनकी पत्नी श्रीमती क्रुसकायाने किया। बहुत दिनोंतक 'शिशुपालनविभाग' का निरीक्षण उन्हींके हाथमें था। उनको यह मानना पड़ा कि 'मनुष्योंमें सन्तानप्रवृत्ति स्वाभाविक है, वह दबायी नहीं जा सकती। जो श्रमजीवी अपने बच्चोंको सरकारी संस्थाओंमें भेजनेसे इनकार करते हैं, उनके भावोंको मैं ठीक समझती हूँ। मेरी रायमें साम्यवादी समाजमें बच्चोंकी शिक्षाका ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि जिसमें शिक्षकके साथ-साथ उनके माता-पिता भी भाग ले सकें।' अब वहाँ जगह-जगह यह लिखा हुआ टँगा रहता है कि 'माताके दूध और उसके प्रेमका स्थान कोई दूसरी वस्तु नहीं ले सकती', 'जिस तरह बछड़ोंको दूध पिलानेके लिये स्त्रियाँ नहीं हैं, उसी तरह बच्चोंको दूध देनेके लिये गायें नहीं हैं।' अब वहाँ तलाककी सुविधाएँ कम की जा रही हैं, गर्भपात अपराध बना दिया गया है और अधिक बच्चे जननेके लिये इनाम तथा अन्य प्रोत्साहन दिये जा रहे हैं। क्या इन सबका इशारा स्त्रियोंको घरमें रहकर अपने बच्चोंकी देख-रेख करनेकी ओर नहीं है?

कहा जा सकता है कि यह स्वतन्त्रता या समानता-का शौक नहीं है, जिसके कारण स्त्रियाँ नौकरियोंके पीछे दौड़ती हैं, वास्तवमें यह उनकी आर्थिक विवशता है। सन् १९३७ में राष्ट्रसंघने भिन्न-भिन्न देशोंमें स्त्रियोंकी परिस्थितिका पता लगानेके लिये एक प्रश्नावली निकाली थी। उसके उत्तरमें स्त्रियोंकी 'समानाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय संस्था' ने एक वक्तव्य भेजा था, इस सम्बन्धमें उसपर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। यूरोपकी यह एक प्रसिद्ध संस्था थी, जिसकी शाखाएँ वहाँके बीस प्रधान देशोंमें स्थापित थीं। इसके वक्तव्यमें यह बतलाया गया है कि 'स्त्रियोंको सामान खरीदना, खाना बनाना, घरकी सफाई रखना, कपड़े सीना और उनकी मरम्मत करना, कपड़े धोना, घरके रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा करना, बच्चोंको पालना-पोसना, उनकी पाँच सालकी अवस्थातक उन्हें शिक्षा देना, घरका हिसाब रखना तथा घरके अन्य कितने ही काम करने पड़ते हैं। देहातोंमें खेती-बारी तथा पुरुषोंके अन्य कामोंमें भी हाथ बटाना पड़ता है। इन सबके बदलेमें कानूनकी दृष्टिसे प्रायः सभी देशोंमें स्त्रीको केवल घरमें रहने और खाने-पहननेका अधिकार प्राप्त है? बाकी सब उसके पतिकी इच्छापर निर्भर है, वह चाहे उसे पैसा दे या न दे, कानूनन वह और कुछ नहीं पा सकती, वास्तवमें उसकी दशा एक मजदूरसे गयी बीती है। मजदूरको कुछ निश्चित समयतक ही काम करना पड़ता है, रातमें वह आराम कर सकता है, महीनेमें उसे कई दिनकी छुट्टी भी मिलती है। पर स्त्रीको तो दिन-रात और प्रतिदिन घरके कामोंमें पिसना पड़ता है। ऐसी दशामें स्त्रियोंका एक निश्चित वेतन होना चाहिये, जिसको अपने पतिसे अदालतद्वारा पा सकनेका उन्हें अधिकार हो।' एक लंबे वक्तव्यका यह सारांश

है। इससे पाश्चात्य स्त्रियोंकी मनोवृत्तिपर कितना प्रकाश पड़ता है? यदि इन सब कार्योंके लिये पतिसे एक निश्चित वेतनकी आवश्यकता है तो अपने शरीरके उपभोगके लिये वेश्याओंकी तरह पतिसे एक निश्चित फीस क्यों न चार्ज की जाय? घरके वातावरणमें इस व्यवसायबुद्धि-का भी कोई ठिकाना है? परन्तु यहाँ हमें केवल नौकरियोंके सम्बन्धमें ही इस वक्तव्यपर विचार करना है। इससे पता लगता है कि स्त्रीकी मेहनतका कितना मूल्य है। घर यदि पति-पत्नीकी साझेदारी है तो उसमें पति बाहर मेहनत करके पैसा लाता है और पत्नी घरमें मेहनत करके अपना हिस्सा पूरा करती है, इनमें अन्याय कहाँ है? यदि पत्नी भी बाहर कमाने चली जाय तो यही काम मजदूरी देकर दूसरोंसे कराना होगा। तब भी क्या सब काम अपने मनके अनुसार होगा और स्त्री अपनी कमाईसे सबको मजदूरी देकर अपने लिये कुछ बचा लेगी?

बिना गृहस्थीके काममें मँजे हुए भी क्या स्त्रियाँ देशकी सच्ची सेवा कर सकती हैं? ब्रिटेनके युद्धोद्योग-में स्त्रियोंके लिये भाग लेना अनिवार्य बनाया जा रहा है, और ३० वर्षसे कमकी आयुवाली स्त्रियोंकी सूची बनायी जा रही है। स्त्रियोंसे अपील करते हुए हालहीमें वहाँके युद्धमन्त्रीने कहा कि 'साधारण काम करनेमें स्त्रियाँ समझती हैं कि उनका समय नष्ट हो रहा है। पर यह बात नहीं है। किसी-न-किसीको तो राष्ट्रके लिये आलू बनाना और थालियाँ साफ करना ही पड़ेगा। बिना छोटे-छोटे काम सीखे बड़े-बड़े काम करनेकी योग्यता नहीं आती।' बचपन पढ़ने-लिखनेमें गया और जवानी दफ्तरोंकी नौकरी बजानेमें, तो फिर घरमें इन सबको सीखनेका समय कहाँ मिलेगा? भारतकी स्त्रियोंमें नौकरी-का शौक बढ़नेसे विकट समस्याएँ उपस्थित होने लगी हैं। स्कूलोंकी इंस्पेक्टरानियाँ बड़े चक्करमें हैं, दौरेपर बच्चोंको हर समय अपने साथ कहाँतक रक्खें और घर-पर नौकरोंके मत्थे छोड़ें तो उनकी दुर्दशा! पंजाब-सरकार इसपर गौरसे विचार कर रही है और विवाहिता स्त्रियोंको यह पद न देनेके लिये नियम बनानेवाली है। अभी उसी दिन त्रावणकोर राज्यकी कौंसिलमें यह बहस छिड़ी थी कि नर्सों (धाय) को विवाहिता होना चाहिये या नहीं। उस विभागके अध्यक्षने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि 'या तो पत्नी बनकर रहना पड़ेगा या धाय, दोनोंके काम एक साथ नहीं हो सकते।' हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि गृहस्थीको सुचारुरूपसे चलाते हुए तथा अपने मानमर्यादाकी रक्षा करते हुए किसी उद्योग-धंधेद्वारा चार पैसे कमाये जा सकें तो अच्छा ही है। इस तरह यदि और कोई सहायता करनेवाला न हो तो निर्वाहके लिये घरेलू उद्योगधंधे करनेमें कोई हानि नहीं है। इसको मनुने भी माना है, वे लिखते हैं कि यदि पति जीवननिर्वाहका प्रबन्ध बिना किये विदेश चला जाय तो स्त्री (सीना-पिरोना आदि) अनिन्दित शिल्पोंसे अपना निर्वाह करे—

प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥ (९। ७५)

कहा जा सकता है कि जब गरीब घरोंकी या 'नीची' कही जानेवाली जातियोंकी स्त्रियाँ घरके बाहर मेहनत-मजदूरी कर सकती हैं, तो फिर अमीर या बड़े घरोंकी स्त्रियोंके मार्गमें ही क्यों रुकावटें डाली जायँ? यहाँपर दो बातोंका ध्यान रखना पड़ेगा। इनमेंसे एक तो है सम्मिलित कुटुम्बकी प्रथा। इसमें कई दोष हैं, प्रायः कोई एक योग्य व्यक्ति कमाते-कमाते पिसता और कई निठल्ले सदस्य बैठे-बैठे खाते तथा मौज उड़ाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ चार बर्तन एक साथ होते हैं वहाँ कुछ खुटपुट चलती ही रहती है। परन्तु इन सबके होते हुए भी इसमें एक लाभ मानना ही पड़ेगा और वह यह है कि कोई सदस्य सर्वथा निस्सहाय नहीं रहता। किसी-न-किसी तरह सभीका निर्वाह हो जाता है। सबके लिये कुछ-न-कुछ काम करना एक तरह अनिवार्य है। बच्चोंकी देख-रेखका भार प्रायः घरकी बड़ी-बूढ़ियोंपर रहता है। उनको अपने बच्चे सौंपकर

काम करने योग्य स्त्रियाँ निश्चिन्तताके साथ बाहर मेहनत-मजदूरी करती हैं। दूसरी बात यह है कि प्रायः स्त्रियाँ अपने घरके पुरुषोंके काममें ही उनका हाथ बटाती हैं। किसानके घरकी स्त्रियाँ खेती-बारीमें अपने यहाँके पुरुषोंके साथ पूरी मेहनत करती हैं। पेशेवरों और व्यवसायियोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। उनकी स्त्रियाँ अपने पतिके काममें बराबर सहायता करती रहती हैं। 'साहजी' की दूकान बहुत कुछ 'साहुनि' की सहायतासे चलती है। बढ़ई, दर्जी, लोहार, मनिहार आदिकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके काममें कितनी दक्ष हो जाती हैं, आवश्यकता पड़नेपर बिना पुरुषोंकी सहायताके वे अपना काम चला लेती हैं। इसमें एक और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि बच्चोंको छुटपनसे ही अपने माता-पिताके कामकी शिक्षा मिलने लग जाती है। प्रत्येक घर 'बेसिक ट्रेनिंग सेंटर' हो जाता है। बच्चोंको जीविकोपार्जनके योग्य बनानेमें एक पैसा खर्च नहीं होता। क्या यह बात बनावटी वातावरणवाली संस्थाओंमें आ सकती है, जिनपर आजकल इतना रुपया फूँका जा रहा है?

केवल पति-पत्नीका कुटुम्ब और दोनोंके विभिन्न व्यवसाय यह सर्वथा आधुनिक भाव है। किसी कुटुम्बी-जनको घरमें रखनेसे स्वतन्त्रतामें बाधा पड़ती है। ऐसी दशामें यदि पति-पत्नीका कार्यक्षेत्र अलग हुआ तो फिर न बच्चोंकी देख-रेख हो सकती है और न घरकी ही। इन व्यावहारिक अड़चनोंके अतिरिक्त इस प्रकारकी आर्थिक स्वतन्त्रतामें केवल घरके ही नहीं, समाजके विघटनके बीज अन्तर्हित हैं। अपने यहाँका यह प्राचीन आदर्श है कि स्त्री, अपनी देह और सन्तान ये तीनों मिलकर पुरुष होता है। जो भर्ता है, वही भार्या है, इन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है—

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥

(मनु० ९। ४५)

इसलिये जीवनपर्यन्त स्त्री-पुरुष धर्म, अर्थ, काम आदिमें पृथक् न हों, आपसमें यही उनका धर्म बतलाया गया है—

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥

(९। १०१)

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटोने कहा है कि 'वह बड़ा ही सौभाग्यशाली तथा सुखी राष्ट्र है, जहाँ 'मेरा' और 'तेरा' ये शब्द बहुत कम सुनायी देते हैं, क्योंकि वहाँके नागरिकोंका सभी प्रधान बातोंमें सम्मिलित स्वार्थ होता है—इसी तरह विवाहित स्त्री-पुरुषकी पूँजी एक ही होनी चाहिये—जिसमें कि उनमें भी 'मेरे' और 'तेरे' का भाव न हो।' अपने यहाँ अब भी पुरानी चालके घरोंकी यही रीति है कि पति जो कुछ कमाकर लाया, अपनी पत्नीके हाथमें रख दिया, वह चाहे जैसे खर्च करे, वह घरकी रानी है। बैंकोंमें दोनोंके अलग-अलग खाते, अलग हिसाब-किताब, अलग-अलग खर्च ये सब नये भाव हैं, जिनका परिणाम यह हो रहा है कि 'संघटन' 'संघटन' चिल्लाते हुए भी सर्वत्र विघटन-ही-विघटन देख पड़ रहा है। विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये जिन विद्वानोंका दिमाग किसी 'नवव्यवस्था' की खोजमें है, उनमें बहुतोंकी यही राय है कि इसकी कुंजी देश या व्यक्तिकी आर्थिक 'आत्मनिर्भरता' में नहीं बल्कि 'परस्पर निर्भरता' में है। आर्थिक ही क्यों, यदि देखा जाय तो जीवनके सभी विभागोंमें परस्पर निर्भरतासे ही सहयोगकी प्रवृत्ति आ सकती है। पर जब उसका घरमें ही अन्त कर दिया जायगा तो क्या वह फिर राष्ट्र या विश्वके सम्बन्धमें आ सकती है?

('सिद्धान्त')

तृष्णा !

(श्रीजगदीशशरण सिंहजी एम्० ए० (प्रथम))

(१)

धनाशासे मैंने बहु बार—
हृदय वसुधाका किया विदीर्ण।
गलाई अतुलित गिरिकी धातु,
किए गंभीर-सिंधु निस्तीर्ण।
नृपति-सेवा, आराधन-मंत्र—
किया शव-भू में निशिको जाग।
न पाई लघु वराटिका किन्तु,
अरी तृष्णे, अब मुझको त्याग॥

(२)

किया दुर्गम देशोंमें वास,
कुपथमें घूमा मैं अज्ञान।
किया अंगीकृत सेवा-धर्म,
त्याग कर जाति-वंश अभिमान।
मान-वर्जित-परगृह-आहार—
काकवत् करता रहा सदोष।
पाप रत दुर्मति तृष्णे! किन्तु,
न तुझको फिर भी है सन्तोष॥

(३)

खलोंका सहकर भी उपहास,
किया आराधन उनका हाय!
शून्य मनसे मैं हुआ प्रसन्न,
रोककर शोक अश्रु-समुदाय।
चित्त भी करके वृत्ति-निरोध,
किया करबद्ध विनयका कृत्य।
अरी आशा संगिनि तू और,
नचाएगी अब कितना नृत्य?॥

(४)

हुई भोगोंकी तृष्णा शान्त,
रूपगत हुआ, हुए श्लथ अंग।
गये समवय साथी सुरधाम,
त्याग करके जीवनका संग।
यष्टि-बलसे उठते हैं पैर,
हुए तमसावृत नैन पुनीत।
अहो धिक्, फिर भी काया नित्य,
मरणके भयसे है भयभीत॥

(५)

उठाते हैं हम क्या आनन्द,
आह! उठ जाते हैं हम आप।
तापसे मिलती है क्या सिद्धि,
और बढ़ जाता है सन्ताप।
समय होता है कहाँ व्यतीत,
हमारा ही होता है अंत।
बलवती तृष्णा हुई न जीर्ण,
हुए हम स्वयं जीर्ण, हा हंत॥

(राजर्षि भर्तृहरिके श्लोकोंका भावानुवाद)

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—श्रीइलाचन्द्रजी जोशी एम्० ए०)

मनुष्य अपने प्रतिदिनके जीवनमें जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है, यदि निरपेक्ष दृष्टिसे उसका विवेचन किया जाय, तो पता चलेगा कि उनमें परस्पर-विरोधिता और असामञ्जस्य कल्पनातीत रूपसे वर्तमान है। हमलोग प्रतिपल ऐसे-ऐसे कार्य करते रहते हैं, ऐसी-ऐसी बातें सोचते रहते हैं जिनका न कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य हमारे सामने रहता है, न कोई स्पष्ट कारण। प्रत्येक व्यक्तिको समय-समयपर इस बातपर आश्चर्य होता है कि वह करना चाहता है कुछ, पर कर बैठता है कुछ और; बोलना कुछ दूसरी ही बात चाहता है, पर बोल बैठता है कुछ और ही। इच्छा न रहनेपर भी, बरबस, अज्ञातरूपसे हमारे प्रतिदिनके जो कर्म और विचार पग-पगपर हमें विस्मयविमूढ़ करते रहते हैं, उनका रहस्य वास्तवमें अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

कवियों और दार्शनिकोंने इस रहस्यका उल्लेख बार-बार किया है और उसपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा भी की है। हमारे यहाँ कालिदासने इस परम गहन मनोवैज्ञानिक तत्त्वके सम्बन्धमें अपनी जिस जानकारीका परिचय दिया है वह संसारके आधुनिक मनोविज्ञानाचार्योंको भी चक्करमें डाल देनेवाला है। दुष्यन्त जब एक बार शकुन्तलाको अपनी जाग्रत् चेतनासे एकदम बिसारकर अपने महलमें शान्तचित्तसे बैठे हुए थे, तो अकस्मात् रानी हंसपदिकाका गाना सुनकर उनका चित्त चञ्चल हो उठा, और एक अज्ञात, अस्फुट वेदना उनके मनमें आलोडित हो उठी। अपनी इस मानसिक स्थितिसे परिचित होकर उन्होंने अपने-आपसे प्रश्न किया—'**किन्तु खलु प्रियजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि ?**'—'किसी प्रियजनके विरहमें पीड़ित न होनेपर भी मेरे मनमें बरबस (विरहकी) उत्कण्ठा क्यों जाग पड़ी है ?' इस प्रश्नका उत्तर भी उनका मन उन्हें अपनी समझके अनुसार अपने-आप दे देता है। उत्तर इस प्रकार है—

> **रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्**
> **पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।**
> **तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं**
> **भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥**

अर्थात् 'सुन्दर वस्तुके दर्शन और मधुर शब्दोंके श्रवणसे सुखी जीवके मनमें भी जो एक उत्सुकता और उत्कण्ठाका भाव जाग्रत् हो उठता है, उसका कारण यह है कि ये दो बातें उसके जन्मान्तरके किसी अज्ञात और भावमग्न प्रेमकी स्मृतिको उसकी (जाग्रत्) चेतनाके सम्मुख ला देती हैं।'

इस एक श्लोकमें कालिदासने आधुनिक मनोविज्ञान-विश्लेषकोंकी अज्ञात चेतना (Unconscious) सम्बन्धी सिद्धान्तका जो निरूपण किया है वह वास्तवमें अद्भुत और अपूर्व है। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे। पर यहाँपर जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि दुष्यन्त अपनी 'अकारण'–उत्थित विरह-वेदनाका जो कारण खोज निकालता है वह केवल मूल और वास्तविक कारणको भुलानेकी एक छलनामात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि इस छलनाका प्रयोग वह अपने-आपको ठगनेके लिये करता है, और इससे भी अधिक मनोरञ्जक तथा आश्चर्यजनक बात यह है कि वह जान-बूझकर ऐसा नहीं करता, बल्कि किसी अज्ञात रहस्यमय कारणसे प्रेरित होकर करता है।

दुष्यन्तके शान्त और सुखी मनमें बेचैनी उठनेका मूल कारण रानी हंसपदिकाके संगीतकी मधुर स्वरलहरी नहीं, बल्कि उसके पदोंका अर्थ था। हंसपदिका जो गीत गाती है, उसका संक्षिप्त शब्दार्थ यह है कि 'हे मधुलोभी भौंरे ! तू अब मालती-कुसुमका प्रेम भुलाकर आम्र-मञ्जरीके मोहमें क्यों लिप्त हो गया ?' इस अर्थकी ध्वनिने परस्पर सम्बन्धित विचारोंकी संसर्गज प्रेरणा (Association of ideas) के रहस्यमय नियमसे दुष्यन्तकी अज्ञात चेतनामें दबी हुई शकुन्तलाके प्रति प्रेम-भावनाको उभाड़ना प्रारम्भ कर दिया, पर चूँकि उसका सचेत मन (जाग्रत् चेतना) उस विचित्र सुख-दुःखमयी असामाजिक प्रेमानुभूतिको भुलाना चाहता था, इसलिये उसने उस बरबस उत्थित विरह-वेदनाका एक विश्वजनीन दार्शनिक कारण खोज निकाला, और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत समस्याको दबाकर अपने-आपको ठगा। यह सारा क्रियाचक्र ज्ञातरूपसे नहीं, किन्तु अज्ञातरूपसे चला।

एक और उदाहरण देकर हम इस बातको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे। पाश्चात्य देशोंमें सम्मोहन-तन्त्र (Hypnotism)

ने एक विशिष्ट वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया है। सम्मोहन-विशेषज्ञ अपने पात्र (Subject) को एक प्रकारकी योग-निद्रामें मग्न कर देता है, और उस जाग्रत्-निद्रावस्थामें वह जैसा कुछ करनेको कहता है, उसका पात्र कठपुतलीकी तरह ठीक वैसा ही करता है; उससे जैसा कुछ सोचनेको कहा जाता है, ठीक वैसा ही वह सोचता है। एक बार एक सम्मोहन-विशेषज्ञने अपने एक पात्रको उसकी मोहनिद्राकी अवस्थामें यह आदेश दिया कि निद्रासे जगनेपर उसे एक कुर्सीको फर्शपरसे उठाकर ऊपर मेज़पर रख देना होगा। जगते ही उस सम्मोहित पात्रने फ़र्शपरसे एक कुर्सीको उठाकर मेज़पर रख दिया। जब उससे यह पूछा गया कि उसने क्यों ऐसा अनोखा कार्य किया, तो उसने उत्तर दिया कि कुर्सी बीचमें पड़ी होनेसे आने-जानेमें बाधा पहुँचा रही थी, इसलिये उसने उसे हटाकर अलग रख देना उचित समझा। इस उत्तरसे स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्तिके मनमें यह चेतना नहीं रह गयी थी कि जब वह मोहनिद्रा (Hypnotic sleep) में मग्न था, तो उस समय सम्मोहकने उसे जगनेपर कुर्सीको हटानेका आदेश दिया था और वह अनजानमें उसी आज्ञाका पालन कर रहा है। असलमें बात यह थी कि उसकी अज्ञात चेतना सम्मोहककी आज्ञाको नहीं भूली थी, और जाग्रत् चेतना उसे भूल गयी थी। जगनेपर उसे उसकी अज्ञात चेतनाने उस आदेशकी पूर्तिके लिये प्रेरित किया, और वह (अज्ञात चेतना) उसके कारणसे भी परिचित थी; पर जाग्रत् चेतना कुर्सीको हटानेके उस रहस्यमय कारणसे यद्यपि परिचित नहीं थी, तथापि उसे एक स्वकल्पित कारणको पेश करनेमें न क्षणभरकी देर लगी, न कोई द्विविधा हुई।

इस उदाहरणसे सम्मोहित व्यक्तिके व्यवहार और स्वभावकी जो एक विशेषता हमारे सामने आती है, उसकी तुलना दुष्यन्तके पूर्ववर्णित व्यवहारसे की जा सकती है। यह बात केवल दुष्यन्त या किसी सम्मोहित व्यक्तिके सम्बन्धमें ही लागू नहीं होती, बल्कि प्रत्येक व्यक्तिके प्रतिदिनके जीवनमें इस तरहके बीसियों उदाहरण पाये जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति बहुधा ऐसी बात कह बैठता है, ऐसा काम कर बैठता है, जिसका वास्तविक कारण (जो कि उसकी अज्ञात चेतनाकी अतल गहराईमें छिपा रहता है) उसके सचेत मनको ज्ञात नहीं रहता, पर जिसकी सफाईके लिये एक स्वकल्पित कारण खोज निकालनेमें उसे तनिक भी देर नहीं लगती।

अज्ञातरूपसे हम अपने छोटे-से-छोटे कार्यका वास्तविक कारण जानते हैं, पर चूँकि उस मूल कारणकी अनुभूति हमारे मनको सुखकर नहीं होती, अथवा नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे वह निन्दनीय होती है, इसलिये हमारी जाग्रत् चेतना उसे भुलाकर अपने-आपको (और स्वभावतः दूसरोंको) ठगनेके लिये बिना विलम्ब कोई कल्पित कारण उपस्थित कर देनेकी तत्परतामें कमाल कर दिखाती है।

वास्तवमें यह बात मनुष्यके लिये अत्यन्त अपमानकर है कि उसे स्वयं अपने कृत्यों और भावनाओंके मूल उद्देश्यों और वास्तविक कारणोंका पता नहीं लगने पाता। हममेंसे कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने प्रतिदिनके व्यावहारिक जीवनमें अपनी प्रत्येक बात या कामसे सन्तुष्ट रहते हों? प्रत्येक व्यक्तिके मनमें बहुधा यह असन्तोष बना रहता है कि उसका कार्यचक्र उसके विचारोंके एकदम विपरीत होता जाता है। रवीन्द्रनाथने अपना यह असन्तोष अपनी एक कवितामें बड़े सुन्दर रूपसे व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

ए कि कौतुक नित्य नूतन
ओगो कौतुकमयी !
आमि जाहा किछु चाइ बोलिबार
बोलिते दितेछो कई ?
अन्तर माझे बसि, अहरह
मुख हते तुमि भाषा केड़े लहो,
मोर कथा लये तुमि कथा कहो
मिशाये आपन सुरे !
जा बलिते चाइ सब भूले जाइ
तुमि जा बोलाओ आमि बोलि ताइ,—
इत्यादि

'हे कौतुकमयी! तुम्हारा यह नित्य नूतन कौतुक क्या है! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे तुम कहाँ कहने देती हो! नित्यप्रति मेरे भीतर बैठकर तुम मेरे मुँहसे मेरी भाषा छीन लेती हो, और मेरी बातको लेकर तुम उसे अपने सुरके साथ मिलाकर एक नयी बात गढ़ देती हो। मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, सब भूल जाता हूँ; और तुम जो कुछ मुझसे कहलाती हो केवल उसीको दुहराता हूँ।'

अन्तस्तलके गहन स्तरोंके नीचे हमारी अज्ञात चेतनामें हमारे प्रतिदिनके बात-व्यवहार, मनन-चिन्तन, कथन और

लिखनेके जो मूल कारण निहित रहते हैं उनसे अपरिचित रहनेकी वेदना उक्त कवितामें अत्यन्त मार्मिक रूपमें फूट पड़ी है।

बहुधा यह देखा जाता है कि जब दो मित्र तर्ककी रगड़से गरम हो उठते हैं, तो एक दूसरेको लक्ष्य करके ऐसे-ऐसे मार्मिक व्यंगपूर्ण व्यक्तिगत आक्षेप और कटाक्ष कर बैठते हैं, जिनके लिये उन्हें बादमें शान्त होनेपर पछताना पड़ता है। उनसे जब कारण पूछा जाता है, तो वे कहते हैं—'मैं ऐसी बात कहना नहीं चाहता था, पर वाद-विवादके कारण क्षणिक उत्तेजनाके आवेशमें आकर मेरे मुँहसे इस तरहकी बात निकल गयी।' पर मनोविज्ञान-विश्लेषक इस दलीलकी सचाईको सन्देहकी दृष्टिसे देखता है। वह जानता है कि साधारण परिस्थितिमें भले ही उस व्यक्तिकी जाग्रत् चेतनामें अपने मित्रके प्रति विद्वेषके वे भाव न रहे हों, जिन्हें असाधारण परिस्थितिमें वह अपने मुँहसे बाहर निकाल बैठा है, पर उसकी अज्ञात चेतनामें वे भाव बराबर, सब समय वर्तमान रहे हैं।

किसी भयङ्कर सङ्कटके समय हम आत्मरक्षाके भावसे प्रेरित होकर कभी-कभी ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति और अपूर्व विवेचनाका परिचय दे बैठते हैं जिसकी कल्पना भी हम साधारण अवसरोंपर नहीं कर सकते। हमारी जाग्रत् चेतना उस आकस्मिक और अद्भुत शक्ति-स्फूर्तिका कोई कारण नहीं खोज सकती, क्योंकि उसका मर्म हमारी अज्ञात चेतनाके भीतर निहित है। हमें ऐसे अवसरोंपर कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि वह असाधारण शक्ति हमारी अपनी नहीं है, बल्कि किसी अज्ञात अलौकिक प्रेरणासे हमें प्राप्त हुई है। इसी अनुभूतिसे प्रणोदित होकर प्राचीन कालके एक मनीषीके मुखसे यह उद्गार निकला था—

केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

—'मेरे हृदयके भीतर किसी अज्ञात देवताका वास है, वह मुझसे जैसा करवाता है, मैं वैसा ही करता हूँ।'

वास्तवमें यह अज्ञात देवता कौन है? रवीन्द्रनाथने जिसे 'कौतुकमयी' कहकर सम्बोधित किया है, उसका रहस्य क्या है? यह है मनुष्यकी अज्ञात चेतना, जिसे पिछले युगोंके पण्डित अन्तश्चेतना (Sub-conscious) कहा करते थे। जो सचमुच अपार रहस्यमयी और अनन्त लीलामयी है। अगले लेखमें उसकी गहनतापर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

भक्तवर बालि

(लेखक—श्रीराजेन्द्रनाथ मिश्र अनुरागी)

जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥

—का बाना धरनेवाले संसारको 'दारु जोषित की नाईं' नचानेवाले राम मूर्तिमान् भक्तिस्वरूपा शबरीको कृतार्थ करने पहुँचे। उसे भक्तिका परम सुन्दर उपदेश दिया।

ऐसी भक्तिके उपदेशक श्रीरामजी जनकसुताकी सुधि उस 'भामिनी' से पूछते हैं। वह भी स्वामी 'जानत हूँ' पूछते हैं अतएव आज्ञापालनपूर्वक निवेदन करती है—

पंपा सरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥

भगवान्‌का एक परम सिद्धान्त है कि वे भक्तके वैरीकी पहले खबर लेते हैं, भक्तकी पीछे। इससे भक्तकी परीक्षा भी हो जाती है, साथ ही उसका कार्य-साधन भी। राम ताड़का-वध पहले करते हैं, विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा पीछे। पंपापुरी-समीपवर्ती पंपासर पहले पहुँचते हैं, सुग्रीवकी भेंट पीछे। लंकाके तटतक जब पहुँच जाते हैं तब विभीषणको दर्शन होता है। ऐसा न होता तो सुग्रीवको यह भ्रम कदापि न होता 'पठए बालि होहिं मन मैला।'

अस्तु, भगवान् पंपासर पहुँचे किन्तु आश्रमकी शान्ति और चराचर जगत्‌को सुखी देख न्यायपरायण रामने बालिपर रोषका लोक-प्रत्यक्ष कोई कारण नहीं पाया। अतएव उन्हें भक्तकी पुकार सुननी पड़ी।

वे ऋष्यमूक पर्वतकी ओर बढ़े। वहाँ सुग्रीवसे भेंट हुई। विरह-कातर रामसे सुग्रीव तो सीता-वर्णन करता

है परन्तु भक्तकष्ट-कातर भगवान् उससे 'कारन कवन बसहु बन' पूछने लगते हैं। भाव है शीघ्र बतलाओ मुझे बालिको दर्शन देने हैं।

सुग्रीव बालिकी सब कथा संक्षेपमें सुनाकर कहता है—

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी

अतएव लोकदृष्टिसे मित्रके दुःखसे दुखी भगवान्‌की विशाल भुजाएँ सुग्रीवका कष्ट मिटानेके लिये फड़कने लगती हैं मानो वे अपने परम वैरभावसे भजनेवाले भक्तका शीघ्र आलिङ्गन करना चाहती हैं।

'बिपति काल कर सतगुन नेहा' करनेवाले रामजी सुग्रीवको 'निज बल सोच त्यागने' का भरोसा देते हैं परन्तु उसे 'बालि महाबल अति रनधीरा' का विचार आ जानेसे प्रबोध नहीं होता। अतएव भगवान्‌को अस्थि और ताल ढहानेका काम करना पड़ता है। सब काम इतनी फुर्तीसे होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मर्कटोंकी तरह सबको नचानेवाले रामके हृदयमें उत्सुकता हो रही है। यहाँ बालिको मुक्त करनेके अतिरिक्त और उत्सुकता हो ही क्या सकती है?

अब तो सुग्रीवकी इच्छा नहीं है कि बालि-वध हो, शत्रु बालि उसे अब 'परम हित' जान पड़ता है परन्तु राम बिहँसकर कहते हैं—'सखा बचन मम मृषा न होई।' मैं बालिको अवश्य मुक्त करूँगा। क्योंकि वह भी तुम्हारी ही भाँति 'सुख सम्पति-परिवार बड़ाई'का इच्छुक नहीं है। वह इस लौकिक कलेवरका परित्याग कर 'राम चरन दृढ़ प्रीति' ही चाहता है?

अहा हा!! कैसे परस्पर-विरोधी स्वभाववाले दो भक्त उपस्थित हैं। एकके पास राज्यसम्पत्ति है वह उनका त्यागकर सनाथ होना चाहता है, दूसरेके पास कुछ नहीं है वह सब कुछ चाहता है। भक्तवत्सल दोनोंकी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं। वे सचमुच भक्तोंके योगक्षेमको स्वयं ढोकर भक्तके घर पहुँचाते हैं और गीतोक्त वचनका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं।

अस्तु! चापसायकहाथ राम सुग्रीवको बालिके द्वार पहुँचाते हैं। 'हिमायत' की गधी ऐरावतके लात मारने पहुँचती है। बालि क्रोधातुर हो दौड़ता है। रावणमें एक दोष था—'अहंकार' और बालिमें एक दोष है—'क्रोध'। 'काम' की रावण, बालि, सुग्रीव और विभीषण सभीमें समानता है। इन्हीं दो गुणोंके कारण वे शीघ्र ही परम पद प्राप्त करते हैं परन्तु शेष दोनों कालान्तरमें।

बालिकी पत्नी तारा पतिके चरण पकड़कर समझाती है—

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

पतिदेव! मोह छोड़कर उनके शरण हो जाओ, शक्ति अपने शक्तिमान्‌को उपदेश देती है परन्तु आत्माभिमानी क्रोधी बालि कहता है—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

अर्थात् हे भीरु! वे प्यारे रघुनाथजी (रघुवंशके स्वामी जिन्होंने दिग्विजयमें इस देशको जीतकर स्ववश कर लिया था) मेरे स्वामी हैं, वे समदर्शी हैं, उनका कोई शत्रु-मित्र नहीं है अथवा सम-विषम, अन्तर-बाहर सब ओरकी समान रूपसे देखनेवाले हैं। वे क्या मेरे हृदयगत प्रेमको नहीं जानते? क्या तू जानती है कि वे बिना सब कुछ जाने ही यहाँ आये हैं। तू भीरु है अतएव तू नहीं समझ सकती कि वे मेरा वही मनोरथ पूर्ण करने आये हैं जिसे मैंने हृदयके गुह्यतम स्थलमें छिपा रक्खा है। वे मेरे प्रिय—प्यारे हैं। बालि ताराको लोकदृष्टिसे समझाता हुआ कहता है—क्या तू मेरे बलको नहीं जानती? मैं सम्मुख पड़नेपर दूसरेका आधा बल खींच लेता हूँ अतएव यह सम्भव ही नहीं कि कोई मुझे मार सके परन्तु यदि उन्होंने मुझे मार भी दिया तो मैं समझूँगा कि आज सेरको सवासेर मिला। सचमुच मैं सनाथ हो जाऊँगा (मुझ उद्धत पशुके भी नाथ पड़ जायगी) किन्तु अपने गम्भीर प्रेमकी व्यञ्जना करते हुए कहता है कि कदाचित् उस समदर्शीको यही रुचे

कि मेरी मृत्युमें ही मेरा कल्याण है तो भी कोई हानि नहीं, मेरा तो उसमें भी सब कुछ बनता है, मैं अपने नायका सायुज्य बन जाऊँगा।

अस कहि चला महा अभिमानी।························॥
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा॥

अन्तर्मुखी भक्तिके सम्मुख बहिर्मुखी संशयशीला भक्ति भाग खड़ी हुई। परीक्षामें सुग्रीव प्रेमी खरा नहीं उतरा। अतएव रामने बालिको नहीं मारा। लोकदृष्टिमें अभी बालिका अन्याय अधिक नहीं हुआ था। सुग्रीवने बालिकी स्त्री ली थी, राज्य लिया था अतएव बालिने भी वैसा ही किया। दोनों समान थे।

बालिद्वारा सुग्रीवको अभी विशेष कष्ट नहीं पहुँचा था अतएव बालिको नहीं मारा अथवा प्रेमी सुग्रीवने आत्मसमर्पण नहीं किया था।

इसी बातको वे प्रच्छन्नरूपसे कहते हैं—

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ।························॥

अतएव उन्होंने 'मेली कंठ सुमन कै माला' इत्यादि करके सुग्रीवको फिर भेजा। गलेमें फूलोंकी माला डालते ही उसका मन शुद्ध हो गया, तब उसे भेजा अर्थात् उसे 'मन्मना' करके भेज दिया परन्तु सदियोंका संस्कार क्षणभरमें नहीं निकलता। अतएव 'पुनि नाना बिधि भई लराई' परन्तु वे रघुराई 'बिटपकी ओट' खड़े सब देखते रहे।

यहाँ लोग रामपर अन्यायका आरोप करते हैं परन्तु वे भक्तिकी महिमा नहीं जानते। भगवान् तो 'जीते जीत भगत अपनेकी हारे हारि बिचारीं।' की प्रतिज्ञा किये बैठे हैं। उनकी अघटनघटनापटीयसी भक्ति भी भक्त-प्रतिज्ञाके सम्मुख कुण्ठित हो जाती है। अतएव बालिकी मर्यादा रखना उन्हें अभीष्ट था, वे कैसे उसे सम्मुख होकर मारते।

जब सुग्रीव 'बहु छल बलकर भय मानि हिय हारकर'—रामकी शरणको प्राप्त हो गया तो भक्त-भय-भंजन रामने तानकर बालिके हियमें बाण मार दिया मानो क्रोधके स्थान हृदयको नष्ट कर दिया, अथवा अपना प्रताप-शील-स्वरूप उसके हृदयदेशमें स्थापित कर दिया, या उसके अन्तर्निहित प्रेमके प्रकट होनेके लिये आत्माभिमानरूपी कपाट हटाकर हृदयके द्वारको उद्घाटित कर दिया।

अब वह रणधीर बालि क्षणमात्रके लिये विकल हो महिपर गिरा परन्तु तुरंत ही फिर उठ बैठा। सम्भव था कि सुग्रीवको आगे पाकर उस समय वह भुनगा-सा पीस देता परन्तु अब सुग्रीव कहाँ थे। अब तो उसके हृदयस्थ राम ही सामने उपस्थित थे। वे उस समय थे—'स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ॥' मानो बालिका सम्पूर्ण कलङ्क-कलुष उसे छोड़ रामके रूपमें पुञ्जीभूत हो रहा था, अथवा राज्यश्री-विमुख बालिका वैराग्य हृदयस्थल छोड़कर सामने आ गया था अथवा विद्धहृदयनिस्सृत रक्तधारारूपसे उसका क्रोध निकलकर राम-नेत्रोंकी अरुणिमामें समा गया था या बालिको सनाथ बनानेवाला संसार-शासक स्वरूप शर-चाप चढ़ाये सम्मुख उपस्थित था। फिर क्या था—

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥

बालि! तू सुग्रीवकी अपेक्षा भी परम धन्य है। तू अपने स्वामीको पहचान गया, तूने उनके चरणोंमें अपना चित्त लगा दिया। हम परम पापिष्ठोंकी भाँति 'मुँह मँह राम बगलमें छुरी' की कहावत चरितार्थ न करके तूने अपने गुप्त प्रेमका माहात्म्य बनाये रक्खा और

'हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा'

हो गया। तू कहता है—

'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥'

और

'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥'

इससे तू मानो स्पष्ट कह रहा है कि नाथ! मैं जानता हूँ तुमने सर्वथा उचित किया है' परन्तु संसारके लोग तुमपर कलङ्क लगायेंगे कि तुमने

निरपराध बालिका वध किया । अतएव इस समय स्पष्ट कह डालो, जिससे तुम, मेरे स्वामी संसारकी दृष्टिके सामने निष्कलङ्क हो सको, साफ-साफ बतला दो—मैं वैरी क्यों, सुग्रीव प्यारा क्यों ?

भगवान् उत्तर देते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥

अर्थात् संसारका वह मनुष्य वध्य है जो ऐसे नीच कर्म करता है । यदि भगवान् इस समय यह कहते कि तूने ऐसे कर्म किये अतएव तुझे मैंने मारा तो समझा जाता कि बालिका पूर्वोक्त प्रश्न वैयक्तिक था परन्तु उत्तर उक्त शङ्काका सहज ही निराकरण करता है ।

अब भगवान् 'मैं बैरी' का उत्तर देते हैं कि तुझे मैं अपना वैरी कब समझता हूँ । मैंने तो लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये अपने भक्तकी रक्षा की है । संसार जान गया कि सुग्रीव रामका मित्र है । तू उसे मारना चाहता था । वह निर्बल निरभिमान प्रसिद्ध है, तू उसके विपरीत है अतएव मैंने तुझे मारा । मानो उन्होंने वाणीरूप दूसरे बाणसे उसके हृदयके अभिमानरूप दूसरे कपाटको भी खोल दिया । अब बालि वह बालि है जिसके सामने बड़े-बड़े भक्त निछावर हैं, वह कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥

मेरे रामजी ! सुनो । मैंने चतुराई की । अबतक अपने प्रेमशुकको हृदय-पिंजरमें छिपा रक्खा था परन्तु अब न चल सकी । वह अकस्मात् छूट निकला । हे प्रभो ! क्या अब भी मैं पापी हूँ । (अपनी दृष्टिमें तो मैं कभी पापी न था परन्तु लोकदृष्टिमें) जब कि अन्त-कालमें मेरे सामने आप स्वयं उपस्थित हैं । क्या किसी पापीके भी अन्तकालमें आप उपस्थित होते हैं ? क्या अब आपको मेरे चलनकी चातुरीने वशमें नहीं कर लिया ? क्या मेरे हृदयके नालोंमें आपको खुद चले आनेके लिये मजबूर नहीं कर दिया ?

रामकी कृपा देखिये । राम बालिके सिरपर हाथ रखते हैं, सुग्रीवके केवल अङ्गपर, परन्तु बालिके उत्तमाङ्गपर रामके करकमलका स्पर्श होता है । वे उससे कहते हैं कि 'तुम्हारे शरीरको मैं अचल कर दूँगा, तुम अपने प्राण रक्खो 'अचल करौं तनु राखहु प्राना ।' परन्तु कोप-वाणीके द्वारा अभिमानसे बंद गुप्त प्रेमका खुला हुआ द्वार पुनः कृपाविगलित वचनोंका आश्रय पाकर बंद हो जाता है मानो उसका आत्माभिमान पुनः जाग्रत् हो गया । मोहसे नहीं, प्रेमसे ।

अब रामकी भी कृपा चाहनेवाला बालि कहता है—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥
जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा । बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा
सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं ।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं ॥
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही ।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही ॥
अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ ॥

अर्थात् हे नाथ ! तुम्हारे नाम-बलसे काशीपति शङ्कर पापी पुण्यात्मा सभी काशीवासियोंको समगति देते हैं, वे तुम मेरे (पापी अथवा भक्त जो कुछ जानिये—उसके) सम्मुख हो, जिसके लिये जन्म-जन्मान्तर यम-नियमरत मुनि यत्न करते हैं परन्तु अन्त समयमें उसका नाम मुखसे नहीं निकलता, वही मेरे प्रत्यक्षानुभवका विषय हो रहा है । वेद जिसे 'नेति' कहते हैं, मुनि पञ्चप्राण इन्द्रिय मन आदिको तद्विषयक रसानुभवसे रहित करके ध्यानमें कभी ही स्थिर कर पाते हैं—वही मेरी आँखोंके सामने है ।

स्वामिन् ! आपने मुझे अभिमानवश समझ (यह विचार करके कि अभिमानी पुरुषको शरीरपर मोह विशेष होता है) शरीरके रखनेकी अनुकम्पा दिखायी है परन्तु क्या कोई ऐसा भी शठ होगा जो (आपके परमधामरूपी) कल्पवृक्षको काटकर (विषयकण्टकाकीर्ण नश्वर शरीररूपी कष्टप्रद) बबूरको सींचनेकी चाह करता है ?

भगवन् ! इस विषयमें तो कृपा कीजिये । मुझे इस शरीरकी चाह नहीं है परन्तु ऐसी कृपा कीजिये और मुझे अभीष्ट वरदान दीजिये (मैं आपसे मुक्ति नहीं चाहता क्योंकि ऐसी याचना करनेपर शायद आपका श्रुति-मार्ग भग्न हो जायगा) । मैंने जैसे भी कर्म किये हों (आप समदर्शी हैं सब जानते हैं) उन कर्मोंके अनुसार मुझे जिस योनिमें जन्म लेना पड़े उसी योनिमें आपहीके चरणोंमें मेरा प्रेम लगा रहे ।

परन्तु मैं प्रभुकी शरीरसम्बन्धी कृपाका भी अनादर नहीं करता । यह पुत्र मेरे समान विनय और बलमें है (मानो मैं बलका उपमान हूँ, विनयमें भी मेरी उपमा दी जा सकती है अथवा आपको इस समय बलशाली और विनीत सेवकोंकी आवश्यकता है इसीलिये अपना-सा एक सेवक सौंपता हूँ अथवा मेरे शरीरकी रक्षाके स्थान मेरे 'आत्मा वै जायते' पुत्ररूप इस अंगदकी रक्षा करना क्योंकि इसको भी सुग्रीवसे शंका रहेगी जैसे आगे चलकर अंगदने कहा है—'राखा राम निहोर न ओही' आदि) हे देव ! नरपति ! आप इसे अपना दास बनाइये ।'

बस ! रामके 'उत्तर' अथवा 'तथास्तु' की आवश्यकता नहीं । स्थिर विश्वासी भक्तकी भाँति मानो उसे ज्ञात था कि उसकी प्रार्थना भगवान्ने स्वीकार कर ली अथवा भक्तके लिये भगवान्का कोई रहस्य अप्रकट नहीं है अतएव उसे 'तथास्तु' सुननेकी आवश्यकता ही नहीं थी ।

बालिने राम-चरणमें दृढ़ प्रीति करके—अन्तिम समयमें भी अपने बल, त्याग, सहनशक्ति और निर्मोहका उदाहरण देकर इस प्रकार सहज ही शरीर छोड़ दिया जैसे हाथीके गलेमें पड़ी हुई माला गिरनेपर वह जान भी नहीं पाता ।

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ॥

बोलो भक्त और भगवान्की जय !

उत्कण्ठा

(गीत)

(रचयिता—पं० श्रीगार्गीदत्तजी मिश्र)

मैं तो कृष्णसे मिलने जाऊँगी ।

उर अन्तरकी विरह व्यथाकी ,
किसको कथा सुनाऊँगी ? ॥
चलूँ चलूँ अब चैन न पड़ती ,
नयन नेहकी नदी उमड़ती ।
प्राण पंछियोंपर चढ़ करके ,
मोहन-वन उड़ जाऊँगी ॥
यमके डरसे नहीं डरूँगी ,
वज्रपातसे भय न करूँगी ।
भानु-भेद चल भव्य भवनमें ,
प्रियतम कंठ लगाऊँगी ॥
रोक सकेगा कौन जाल अब ,
काट चुकी हूँ कर्म-काल सब ।
'गार्गीदत्त' सदाको खग बन ,
स्याम-चरण लिपटाऊँगी ॥

मुरली-माधुरी

(लेखक—श्रीवैद्यनाथप्रसादसिंहजी)

ललित कलाओंमें काव्यके बाद संगीतका ही स्थान है। संगीतका क्षेत्र काव्यसे कुछ कम विस्तृत है, यही उसकी न्यूनता है। कलाएँ हमारी सुप्त चेतनाओंको जाग्रत् करतीं और उनमें स्फूर्ति प्रदान करती हैं। यदि उनका अस्तित्व न होता तो हमारी विशालता कबकी नष्ट हो गयी होती, हम पशुओंकी एक नयी श्रेणी कायम करनेका श्रेयभर प्राप्त करते। हमारा संसार यह संसार नहीं रह जाता। उसमें विद्याकी जगह जडता, प्रेमकी जगह द्वेष और विश्वासकी जगह मिथ्यात्वका ही अखण्ड साम्राज्य स्थापित होता। तब मानव नामको न रह जाता।

अंग्रेजीका महाकवि शेक्सपियर संगीतके व्यापक प्रभावके सम्बन्धमें अपने प्रसिद्ध नाटक 'अष्टम हेनरी' (Henry VIII) में लिखता है—

The mountain tops that freeze
Bowed themselves, when he did sing:
To his music plants and flowers
Ever sprung; as sun and showers
There had made a lasting spring.
Everything that heard him play,
Even the billows of the sea,
Hung their heads, and then lay by.
In sweet music is such art,
Killing care and grief of heart
Fall asleep, or hearing die.

अर्थात् गायकने जब अपनी तान छेड़ी तो पर्वतकी बर्फीली चोटियाँ भी झुक गयीं, फूल-पौधे आनन्दमग्न हो उछलने लगे और सर्वत्र वासन्ती छटा छा गयी। सूर्य अधिक प्रखरताके साथ चमकने लगे और बादल भी जल बरसाने लगा। यहाँतक कि समुद्रकी उत्ताल तरंगें भी मौन हो गयीं। मधुर संगीतमें यह गुण है कि वह सारी उद्विग्नताओं तथा सन्तापोंको एक क्षणमें मिटा डालता है।

वाद्य संगीत-सुन्दरीका आभरण है। यों तो सौन्दर्य किसीका एहसान नहीं मानता, फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उसको भी अपनी उत्कृष्टताके अन्तिम शिखरपर आरूढ़ होनेके लिये किसी-न-किसी आश्रयकी आवश्यकता पड़ती है। सूर्य स्वयं दीप्तिमान् है, पर उसकी सुन्दरता उस समय अत्यधिक हो जाती है जब वह नित्य प्रातःकाल उषा-सुन्दरीका मुख चुम्बन करता है। चन्द्रमाका अपना सौन्दर्य है, पर शरत्काल-का सहवास पाकर उसकी किरणमाला कहीं अधिक पीयूष-वर्षिणी हो जाती है। सरितामें नाद है, पर पवनका हल्का-हल्का थपेड़ा पाकर वह कैसी कलकल निनादित होती है। उसमें गति है, चपलता है; पर जब वह किसी पर्वतस्थलीसे होकर बहती है तो उसका इठलाना कितना आकर्षक हो जाता है। पुष्प सदा हँसता है पर चाँदनी रातका सहयोग पाकर उसकी मुसकुराहट कितनी मोदक बन जाती है। पवन भी वनका सौरभ चुराकर शीतल, मन्द और गन्धयुक्त बनता है। रमणीकी रमणीयता भी उसके वस्त्राभूषणसे ही खिलती है।

संगीतकी उन्नतिके साथ-ही-साथ वाद्यकलाओंका भी काफी प्रसार और परिष्कार हुआ है। भारतमें भी विदेशियोंके संसर्गसे तरह-तरहके वाद्योंका चलन हो गया है। पर, इससे यहाँके प्राचीन वाद्योंका महत्त्व कुछ घटा नहीं है। वे इस समय भी उसी प्रकार आनन्दवर्द्धन करते हैं। प्राचीन वाद्योंमें बाँसुरी औरोंसे कहीं अधिक ख्यातिबद्ध है। भारतीय क्या, विदेशियोंके भी मस्तिष्कको झंकृत करनेमें विश्वके शायद किसी भी वादक-यन्त्रोंसे यह अधिक समर्थ हुई है। यह वशीकरणयन्त्रिका कही जाती है। मनुष्य क्या, पशु-पक्षीतक इसकी तानपर बेसुध पाये गये हैं। यहाँतक कि जड प्रकृति भी उसके प्रभावसे अछूती नहीं गयी है।

इस कलामें भारतके भगवान् श्रीकृष्ण ही सबसे अधिक निपुण समझे जाते हैं। कहते हैं, उन्होंने ही इस वादक-यन्त्रका पहले-पहल आविष्कार किया और गोपिकाओंके सम्मुख उसका प्रदर्शन किया। उनके नामके साथ ही इसका भी नाम लिया जाता है और वंशीधर, मुरलीवाले आदि तो उनके उपनाम हैं भी। वास्तवमें उनको पाकर ही मुरली अधिक प्रशंसित हुई है। उनके वंशी-नादका कैसा व्यापक प्रभाव था, इसका विशद वर्णन हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ भक्त महाकवि सूरदासने अपनी अनूठी पुस्तक 'सूरसागर' में किया है। वास्तवमें श्रीकृष्ण सौन्दर्यके मूर्तिमान् अवतार थे। उनमें रसिकता कूट-कूटकर भरी थी। वे रसराज थे, रसरूप ही थे। उनके सौन्दर्य और रसिकताको लेकर भाषा-भंडार काफी समृद्ध हुआ है। उनके इन गुणोंके प्रशंसास्वरूप अबतक लाखों छन्द रचे जा चुके हैं, जो अपनी ललिततामें दुनियाकी किसी भी भाषाके पदके समकक्ष बैठ सकते हैं। जब मुरली उनके अधरसे स्पर्श करती थी तो उनकी रमणीयता चरम सीमाको पहुँच जाती थी। उस समय उनकी आकृति और भावभंगी देखने ही लायक हो जाती थी। देखिये सूरदासके शब्दोंमें—

जब जब मुरलीके मुख लागत।
तब तब स्याम कमलदललोचन नख-सिख ते रस पागत॥
बात न कहत रहत टेढ़े होइ बाँह अलिंगन मानत।
भृकुटि अधर-बिंब नासापुट सूधो चितवन त्यागत॥

❀ ❀ ❀

लटकत मुकुट भौंह छबि मटकत नैनसैन अति राजत।
ग्रीव नवाइ अटकि वंशीपर कोटि मदन छबि लाजत॥
लोल कपोल झलक कुंडलकी यह उपमा कछु लागत।
मानहु मकर सुधा-रस क्रीड़त आप-आप अनुरागत॥

❀ ❀ ❀

चपल नयन भृकुटी नासापुट सुनि सुंदर मुख बैन।
मानहु नृत्यत भाव दिखावत रति लिए नायक मैन॥
चमकत मोर चंद्रिका माथे कुंचित अलक सुभाल।
मानहु कमल-कोश रस चाखत उड़ि आए अलिमाल॥
कुंडल लोल कपोलन झलकत ऐसी शोभा देत।
मानहु सुधा-सिंधुमें क्रीड़त मकर पानके हेत॥

यमुना-तटपर या वृन्दावनकी सघन छायामें अथवा गली-कूचेमें कहीं भी मनमोहन श्यामकी वंशी बजती है और व्रजवनिताएँ एक साथ ही उद्विग्न हो उठती हैं—

मुरली सुनत भई सब बौरी।

❀ ❀ ❀

कोउ धरणी कोउ गगन निहारे। कोऊ करतें बासन डारे॥
गृह गुरुजन तिनहूँ सुधि नाहीं। कोउ कतहूँ कोउ कतहूँ जाहीं॥
कोउ मन-ही-मन बुद्धि बिचारे। कोउ बालक नहिं गोद सँभारे॥

वंशीकी सुरीली आवाज उनके कर्ण-कुहरोंमें पड़ी नहीं कि उनकी स्थिरता सदाके लिये कहीं कूच कर गयी—

तब लगि सबै समान रही।
जब लगि श्रवण-रंध्र मग मिलिकै नाहीं इहै कही॥
तब लगि तरुनि तरल चंचलता बुधिबल सकुचि रही।
सूरदास जबलगि वह ध्वनि सुनि नाहिन बनत कही॥

उन युवतियोंको क्या गम—लाज भी कैसी! उनपर तो उस गोपाल-बाल श्रीकृष्णकी जादूभरी मुरलीने बेतरह असर कर डाला है, वे करतीं तो क्या। उनके मन क्या उनके वशमें थे?

मुरली अधर बजाई श्याम।
मन हरि लियो, भवन नहिं भावै, व्याकुल ब्रजकी बाम॥
भोजन-भूषनकी सुधि नाहीं, तनुकी नाहिं सँभार।
गृह गुरु लाज सूत ज्यों तोरी डरी नहीं व्यवहार॥

❀ ❀ ❀

मनो चित्रकी-सी लिखि काढ़ी सुधि नाहीं मन घरको।
लोकलाज कुलकानि भुलानी लुब्धी स्याम सुंदरको॥
कोउ रिसाय कोउ कहै जाय कछु, डरी न काहू डरको।

श्रीकृष्णने वंशी बजायी। दिशाओंको चीरती हुई उसकी आवाज सर्वत्र गूँज उठी। एक सखी दूसरीसे कहती है कि चलो, देर न करो; सब सखियाँ कबकी चली गयीं, अकेली हम ही बच रही हैं। नाद-माधुरीने सृष्टि-व्यापारकी गतिमें विचित्र तरहकी मंदता और तल्लीनता भर दी है—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता मिलि धाई॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रह्यो मुरझाई।
खग मृग मीन अधीन भए सब अपनी गति बिसराई॥
द्रुमबल्ली अनुराग पुलक तनु शशि थक्यो निशि न घटाई।
सूरस्याम वृन्दावन विहरत चलहु सखी सुधि पाई॥

श्रीकृष्णकी वंशी भी क्या बला है! उसने गजबका राग फूँका है। सारा व्रजमण्डल उससे प्रभावित है। गोकुलकी ललनाओंमें उससे ईर्ष्या पैदा हो गयी है। इसे ईर्ष्या कहें या प्रेमानुकरण? देखिये, वृषभानुनन्दिनीजी कहती हैं—

बिहारीलाल मुरली नेक बजाऊँ।
जो जिय होत प्रीत कहिबे की सो धरि अधर सुनाऊँ॥
जैसी तान तुम्हारे मुखकी तैसिय मधुर उपाऊँ।
जैसे फिरत रंध्रमग अंगुरि तैसे मैंहु फिराऊँ॥
जैसे आपु अधर धरि फूँकत मैं अधरनि पसराऊँ।
हाहा करति पाय हौं लागति बाँस बँसुरिया पाऊँ॥

मुझे वंशी दे दीजिये बनवारी! मैं आपसे कम शिफतसे न बजाऊँगी।

तहँ लगि गान सुनाऊँ मोहन जहँ लगि तान सुरन मैं पाऊँ।
सुरन बिमान थकित करि राखौं कालिंदी थिर नीर बहाऊँ॥

ज़रा तो मानो! कुछ मुझे भी नाम कमाने दो—

बेणी शीश फूल पहिरो हरि मैं सिर मुकुट बनाऊँ।
तुम वृषभानु सुता है बैठो मैं नंदलाल कहाऊँ॥

देखो तो तुमने क्या-क्या रंग ढहाया है। बड़े-बड़े दिग्गज, शूरवीर, मुनि-महात्मा, गुणी-गन्धर्व—सभी एक साथ ही भूल पड़े हैं तुम्हारी मुरली-माधुरीपर। मुझे भी यदि वह सौभाग्य प्राप्त होता!

धरणि जीव जल थलके मोहे नभ मंडल सुर थाके।
तृण द्रुम सलिल पवन गति भूले श्रवण शब्द पर्‍यो जाके॥
बच्यो नहीं पाताल रसातल कितकि उदै लौं भान।
नारद शारद शिव यह मारुत कछु तन रह्यो न ध्यान॥
यह अपार रस रास उपाए सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायण ध्वनि सुनि ललचाने श्याम अधर सुनि बैन॥

इतनी अदना-सी चीज और यह करामात!

मुरली तो यह आदि बाँसकी।
बाजत स्वास परत नहिं जानति भई रहति पिय पासकी।
चेतनको चित हरति अचेतनि भूखी डोलत आसकी।
सूरदास सब ब्रजबासिन कों लिए रहति हौ गासकी॥

तुम्हारी वंशीने तो यह घोर संग्राम जीता है। सारे ब्रह्माण्डमें अब उसके लिये बच ही क्या रहा! उसका विजय-केतु आज सर्वत्र फहरा रहा है—

जीती-जीती है रन बंसी।
मधुकर सूत बदत बंदी पिक मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यो मान बलदर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने।
ध्वनिको खंड ब्रह्मांड भेद करि सुर सम्मुख सर ताने॥
खग मृग मीन हुमार किए सब जड़-जंगम जित बेष।
छाजत छत मद मोह कवच कटि तजत न नैन निमेष॥

अन्तमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि—

यह निर्मोल, मोल नहिं याको, भली न याते कोई॥
सूरदास याको पटतरको तो दीजै जो होई॥

एक भक्तके उद्गार

(अनुवादक–श्रीयुत मुरलीधरजी श्रीवास्तव्य)

(१)

प्राचीन महात्मा

१—उन प्राचीनकालीन महात्माओंके दिव्य जीवनपर विचार करो, जिनमें सच्ची पूर्णता और धार्मिकता चमकती थी।

हाय ! उनके जीवनकी तुलनामें हमारा जीवन कैसा क्षुद्र है !

२—वे इस भोगमय सांसारिक जीवनसे घृणा करते थे ताकि अनन्त जीवन प्राप्त कर सकें।

अहा ! वे महात्मागण जङ्गलमें कितना कठोर और त्यागपूर्ण जीवन बिताते थे ! कैसे बड़े और दुःखद प्रलोभन उन्हें सहने पड़े। कितनी ही बार वे शत्रुओंद्वारा पीड़ित हुए। वे निरन्तर प्रभुकी प्रार्थनाएँ करते रहे। कैसे-कैसे कठोर त्याग उन्होंने किये। आत्मोन्नतिकी सिद्धिमें वे कैसा उत्साह और सावधानी रखते थे। वासनापर विजय पानेके लिये उन्हें कैसे भयङ्कर युद्ध करने पड़े ! प्रभुके प्रति उनकी भावनाएँ कितनी सच्ची और पवित्र थीं !

वे दिनमें परिश्रम और रातमें उपासना करते। परिश्रमके समय मानसी पूजा करते रहते थे !

३—वे सारा समय लाभके साथ बिताते थे। प्रभु-सेवाके लिये हरेक घड़ी अल्प जान पड़ती थी।

ध्यानमें प्राप्त महान् माधुर्यके कारण वे शारीरिक सुखोंकी आवश्यकताको भूल गये थे।

उन्होंने धन, मर्यादा, गौरव, मित्र, सम्बन्धी सबका परित्याग कर दिया। वे संसारकी किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करते थे। जीवन-निर्वाहके लिये जरूरी चीजोंका व्यवहार भी बहुत कम करते थे। जरूरत पड़नेपर भी शरीर-सेवामें उन्हें कष्ट माळूम होता था।

बाहर वे आवश्यक वस्तुओंसे रहित थे, परन्तु भीतर ईश्वरानुग्रह और दिव्य सन्तोषसे प्रफुल्लित रहते थे।

४—वे दुनियाके लिये अजनबी, पर प्रभुके समीपी अन्तरङ्ग मित्र थे।

वे निज दृष्टिमें नगण्य और प्रस्तुत संसारके आगे निन्दनीय थे, किन्तु प्रभुकी दृष्टिमें प्रिय एवं बहुमूल्य थे।

सच्ची नम्रता उनका आधार थी; सरल आज्ञापालन जीवन था तथा वे प्रेम और धैर्यके बीच चलते थे। अतः वे प्रतिदिन आत्मोन्नति करते और प्रभुकी दृष्टिमें महान् कल्याण प्राप्त करते थे।

वे सब धार्मिकोंके लिये आदर्श थे। आत्म-कल्याणकी ओर बढ़नेमें वे हमें विशेष प्रेरणा दें और हम तुच्छ मानवोंद्वारा कुमार्गमें प्रवृत्त न हो सकें।

५—अहा ! प्राचीन कालमें उन धार्मिकोंका कैसा उत्साह था !

प्रार्थनामें कैसी लगन थी ! एक-दूसरेसे धर्ममें बढ़नेकी कैसी महत्त्वाकाङ्क्षा थी। उस समय कैसा कठोर संयम प्रचलित था। अपनेसे बड़े महात्माओंके शासनमें रहकर वे कितनी श्रद्धासे आज्ञापालन करते थे।

अब वही बड़ा समझा जाता है जो पाप नहीं करता, और हाथमें लिये कामको धीरजके साथ निबाह सकता है।

आह ! इस समयकी तुच्छता और उदासीनता—हम धर्मोत्साहसे इतना शीघ्र गिर जाते हैं।

भगवान् करें तुम्हारे हृदयकी धर्मवृत्ति पूर्णतः सुप्त न हो जाय, जिसने अनेक महात्माओं और भक्तोंके उदाहरण देखे हैं।

(२)

सदाचारी और संतोंकी साधना

१—सत्पुरुषका जीवन सद्गुणमण्डित होना चाहिये, ताकि जैसा वह बाहरसे प्रतीत होता है वैसा ही भीतरसे भी बन सके।

जितना बाहरसे दीखता है, उससे अधिक अन्तरमें होना चाहिये । हम कहीं भी रहें, ईश्वर हमें देखता रहता है । उसीकी उपासना करना और देवदूतोंके समान पवित्र जीवन बिताना उचित है।

नित्य हमें अपना ध्येय यों पुष्ट करना चाहिये, धर्मरुचिसे संलग्न होना चाहिये, मानो सात्त्विक जीवनमें प्रवेशका पहला दिन हो । तथा हमें यों प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रभो ! इस पवित्र ध्येय और अपनी सेवामें बढ़नेमें मेरी मदद करो । मेरा दिन आजसे पूर्णताके साथ आरम्भ हो । आजतक जो कुछ मैंने किया, वह नगण्य है।

२—हमारे ध्येयके अनुसार ही आत्म-कल्याणमें हमारी सफलता होगी । जो ज्यादा लाभ चाहता है, उसे ज्यादा परिश्रम करना होगा।

जब दृढ़ संकल्प भी प्रायः असफल होता है, तब उसकी क्या दशा होगी जो शायद ही कोई काम दृढ़ निश्चयके साथ करता हो ?

अनेक मार्गोंसे हम अपने ध्येयसे विचलित हो सकते हैं । साधनामें जरा छूट होते ही आत्म-कल्याणमें कुछ-न-कुछ हानि हो ही जाती है।

संतोंका ध्येय उनकी बुद्धिपर नहीं, प्रभुके प्रसादपर निर्भर है, जिसपर वे हाथमें लिये हुए सभी कामोंके लिये विश्वास रखते हैं।

मानव योजनाएँ बनाता और ईश्वर उन्हें पूरा करता है । मानवको अपने बनाये मार्गपर भी अधिकार नहीं।

३—यदि कोई आध्यात्मिक साधना किसी भाईके लाभ या धर्मकृत्यके पीछे छूट जाय तो वह फिर आसानीसे जारी की जा सकती है।

पर यदि आलसी स्वभाव या असावधानीसे हम उसे तुच्छ समझकर छोड़ दें तो यह प्रभुके प्रति बड़ा अपराध होगा और हमारी हानि करेगा । यथाशक्ति हम चाहे जितना अच्छा करनेकी चेष्टा करें पर अनेक विषयोंमें असफल हो जायँगे।

फिर भी हमें एक निश्चित पथपर चलना चाहिये और विशेषतः उन दोषोंके विरुद्ध चलना चाहिये, जिनसे हम विशेष पीड़ित होते हैं।

४—यदि तुम निरन्तर आत्मचिन्तन नहीं कर सकते तो कभी-कभी किया करो या कम-से-कम दिनमें एक बार प्रातःकाल या रात्रिमें कर लिया करो।

प्रभातमें अपना सदुद्देश्य निश्चित करो । रातमें आत्म-परीक्षा करो कि मैंने मनसा, वाचा, कर्मणा कैसा आचरण किया । चूँकि इन्हीं कामोंसे अकसर तुमने ईश्वर और अपने पड़ोसीको खिन्न किया है।

मोहके नीच हमलोंके विरुद्ध मर्दकी तरह कमर कस कर डट जाओ । उच्छृङ्खल स्वादेन्द्रियपर लगाम कसे रहो, इस प्रकार शरीरकी अदम्य वासनाओंपर विशेष नियन्त्रण रख सकोगे।

कभी भी पूर्णतः आलसी मत बनो, वरं लोक-कल्याणके लिये अध्ययन, लेखन, प्रार्थना, चिन्तन या अभ्यास ही करते रहो।

५—असाधारण साधनाको सर्वसाधारणके बीच नहीं करना चाहिये । विशेष प्रकारकी साधनाएँ घरपर सुरक्षित रूपसे एकान्तमें होनी चाहिये।

यह होते हुए भी ध्यान रक्खो कि व्यक्तिगत कार्योंमें

विशेष तत्पर होनेके कारण साधारण अभ्यासोंकी उपेक्षा न करो। पर जिन कर्मोंको करनेका तुम्हें आदेश है या जिन्हें करनेके लिये तुम बाध्य हो उन्हें पूर्णतः सचाईसे पूरा करनेपर अगर तुम्हें फालतू समय मिले तो अपनी भक्तिके अनुकूल कार्यमें लगो।

सब लोग एक ही प्रकारकी साधना नहीं कर सकते। किसीको एक विशेष लाभप्रद हो सकती है, तो दूसरेको दूसरी।

समयकी स्थितिके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकारकी साधनाएँ उपयोगी हो सकती हैं। कुछ कामके दिनोंके लिये ज्यादा उपयुक्त हैं तो कुछ छुट्टीके दिनोंके लिये।

कुछकी जरूरत प्रलोभनके समय होती है और कुछकी शान्तिके समय।

कुछपर हम हृदयकी क्षुब्ध अवस्थामें और कुछ प्रभुकी आनन्द-सिद्धिके समय ध्यान देते हैं।

६—मुख्य पर्वोंपर साधनाओंको फिर आरम्भ करना चाहिये तथा भक्तोंकी प्रार्थनाओंको अधिक श्रद्धासहित स्मरण करना चाहिये।

एक पर्वसे दूसरे पर्वतक हमें अपना सदुद्देश्य निश्चित कर लेना चाहिये, मानो हमें दुनियासे कूच कर स्वर्गके शाश्वत पर्वमें सम्मिलित होना हो।

अतः पुण्यपर्वमें हमें सावधानीसे अपनेको तैयार रखना चाहिये, भक्तिपूर्ण जीवन बिताना और सब वस्तुओंको ध्यानसे निरीक्षण करना चाहिये, मानो हमें शीघ्र ही भगवान्‌के हाथों अपने परिश्रमका पुरस्कार पाना हो।

'प्रभुका वह सेवक धन्य है, जिसे प्रभु ऐसा आचरण करते हुए पायेंगे। मैं यथार्थ कहता हूँ कि प्रभु अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्योंका शासक उसे बना देंगे।'

(३)

झूठा अहङ्कार

१—सभी स्वभावतः ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, पर बिना धर्मभीरु बने ज्ञानप्राप्तिसे क्या लाभ?

एक मामूली किसान जो प्रभुका दास है, उस अहङ्कारी दार्शनिकसे बेहतर है जो आकाशका रहस्य समझनेका परिश्रम करता है।

अपनेको भलीभाँति जाननेवाला अपनेको तुच्छ समझता और दूसरोंकी प्रशंसामें आनन्द नहीं मानता।

यदि हम दुनियाकी सब चीजोंका ज्ञान प्राप्त कर लें पर उदार न हों तो प्रभुके आगे हमें क्या मदद मिलेगी, जो हमारे कार्योंपर विचार कर निर्णय करता है।

२—अधिक ज्ञानप्राप्तिकी कामनासे अपनेको बचाओ, चूँकि उसमें धोखा और भ्रान्ति है।

ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिनके ज्ञानसे आत्माका तनिक कल्याण नहीं होता।

वह बड़ा मूढ़ है, जो मुक्तिकी साधक वस्तुओंके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओंकी कामना करता है।

अधिक शब्द आत्माको सन्तोष नहीं देते। पर सात्त्विक जीवनसे मनको शान्ति और प्रभुके सम्मुख शुद्ध अन्तःकरणके कारण बड़ा अवलम्ब मिलता है।

३—जितना ज्यादा तुम जानते हो और जितना ज्यादा तुम्हारा ज्ञान है, यदि तुम्हारा जीवन भी उतना ही पवित्र नहीं है तो तुम्हारा निर्णय उतनी ही कठोरतासे होगा।

किसी कला या विज्ञानका ज्ञान प्राप्त कर अपनेको गौरववान् न मानो, वरं अपनेको अधिक सावधान और विनयी बनाओ।

यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारा ज्ञान या बुद्धि अधिक है तो यह भी जान लो कि ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते।

अपनेको अधिक बुद्धिमान् मत जनाओ, वरं अपना अज्ञान स्वीकार कर लो।

अपनेको दूसरोंसे बढ़कर क्यों मानते हो, अनेकों तुमसे अधिक विद्वान् और पण्डित हैं।

यदि तुम कोई उपयोगी चीज जानते हो या सीखना चाहते हो तो अज्ञात रहकर मानवद्वारा कम आदर पानेकी इच्छा करो ।

आत्मचिन्तन और आत्मज्ञान ही सर्वोच्च और सर्वाधिक लाभपूर्ण अध्ययन है ।

अपनेको कुछ नहीं समझना और दूसरोंके प्रति अच्छी और ऊँची धारणा रखना, यह बहुत बड़ी बुद्धिमानी और पूर्णता है ।

किसीको खुले रूपसे पाप करते या कोई घृणित अपराध करते देखकर अपनेको अच्छा नहीं समझना चाहिये, चूँकि तुम नहीं जानते कि कबतक तुम इस स्थितिमें रह सकोगे ।

हम सब दुर्बल हैं, पर तुम्हें अपनेसे दुर्बल किसी दूसरेको नहीं समझना चाहिये ।

प्रज्ञाकी सिद्धिमें वृत्तिकी प्रयोजनशीलता

(लेखक-साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

तत्त्वम्पदस्य शुद्धस्य लक्ष्यभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ॥

'तत्त्वं' (अर्थात् 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका 'तत् त्वं' अंश) इस शुद्ध पदके लक्ष्यार्थको ग्रहण करनेवाली जो विकल्परहित चिन्मात्रवृत्ति है, उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं । यहाँ यह प्रश्न होता है कि वृत्तिकी कल्पना क्यों की जाती है; क्योंकि इस कल्पनासे ज्ञानके एकत्वमें बाधा पड़ती है, और दो प्रकारके ज्ञानको स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि कहो कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे यह बात सिद्ध होती है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभवकी विषयता तो तुम्हारे स्वीकार किये हुए चैतन्यकी भी है, अत: इससे भी ज्ञानकी द्विविधता प्राप्त होगी ही । वृत्तिका काम तो इन्द्रियसन्निकर्षसे भी हो सकता है, क्योंकि जडत्व तो वृत्ति और इन्द्रिय दोनोंमें समान ही है ।

परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपरोक्ष घटादिका यदि किसी कालमें ज्ञान नहीं हुआ, तो तद्विषयिणी अविद्याकी निवृत्ति कभी नहीं हो सकती । यदि कहो कि वृत्तिके समान इन्द्रियसम्बन्ध ही ज्ञानके लिये चैतन्यका सहकारी माना जा सकता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्माकी अविद्यानिवृत्तिमें इन्द्रियसम्बन्धका अभाव है । तथा उसमें शब्द भी सहकारी नहीं है, कारण कि वहाँ ज्ञानके साथ शब्दकी उपलब्धि नहीं होती ।

यह भी नहीं कह सकते कि प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के करणके रूपमें वृत्तिके लिये शब्दप्रमाणकी आवश्यकता होती है । इसीसे प्रमाणरूपसे ज्ञानमें शब्दका अनुगम होता है, क्योंकि ज्ञानकी प्राप्तिमें साधारणत: शब्दप्रमाणके समान ही अनुमानादि प्रमाण भी हेतु हैं । अतएव लाघवकी दृष्टिसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अपरोक्ष वृत्ति ही ज्ञान-प्राप्तिका कारण है ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका अनुभव भी स्वरूप (आत्म) ज्ञानको विषय करता है, क्योंकि अदृश्य चैतन्यको चैतन्यकी विषयता नहीं हो सकती तथा कोई सम्बन्ध न होनेके कारण आप ही अपना विषय होना भी सम्भव नहीं है । अतएव 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका अनुभव वृत्तिको ही विषय करता है, इस प्रकार इससे वृत्तिकी सिद्धि होती है । इन्द्रियसम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली वह वृत्ति विषयदेशमें ही उत्पन्न होती है, विपक्षीके मतानुसार अन्त:करणमें ही नहीं रहती, और न अन्त:करणमें ही उत्पन्न होकर विलीन होती है ।

वृत्तिके द्वारा ही जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे सम्बन्धित होता है। वृत्तिके द्वारा ही पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है और संसारसे मुक्ति मिलती है। इन्द्रियोंके द्वारा जो विषयज्ञान होता है, उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञानके बिना जाग्रत्-अवस्थाका व्यवहार हो ही नहीं सकता। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी अन्त:करणकी वृत्तिरूप ही है। आवरणके अभिभवके लिये भी वृत्तिको स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार खद्योतके प्रकाशसे अन्धकारका एक अंश ही नष्ट होता है, उसी प्रकार अज्ञानके अंशके नाशको ही अभिभव कहा जाता है।

जीव-चैतन्यके साथ विषयका सम्बन्ध होनेके लिये भी वृत्तिकी आवश्यकता होती है। एकजीववादके अनुसार समष्टि अज्ञानमें चेतनका प्रतिबिम्ब ही जीव है। उसके साथ घट आदिका नित्य सम्बन्ध होते हुए भी इनका प्रकाश नित्य नहीं होता, क्योंकि इसके लिये उनसे विलक्षण किसी सम्बन्धकी आवश्यकता होती है। जीव-चैतन्यके साथ विषयका नित्य सम्बन्ध होते हुए भी विषयका नित्य प्रकाश नहीं होता, बल्कि वृत्तिविशिष्ट जीव-सम्बन्धके द्वारा ही विषय प्रकाशित होता है; क्योंकि प्रकाशका हेतुरूप सम्बन्ध वृत्तिके ही अधीन रहता है और वह सम्बन्ध अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य (प्रकाशक और प्रकाश्य)-रूप ही होता है। यहाँ विषय अभिव्यञ्जक और जीव-चैतन्य अभिव्यङ्ग्य है। जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अभिव्यञ्जक होता है और जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह अभिव्यङ्ग्य कहलाता है। जिस प्रकार दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेपर दर्पण अभिव्यञ्जक और मुख अभिव्यङ्ग्य होता है, उसी प्रकार घटादिमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाली व्यञ्जकता घटादिमें ही है और चैतन्यमें भी प्रतिबिम्बको समर्पण करनेवाली व्यङ्ग्यता है ही। घटादिमें प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य स्वाभाविक नहीं है, बल्कि अपने आकारमें परिणत हुई वृत्तिके सम्बन्धसे ही होती है। जिस प्रकार दर्पणके सम्बन्धके बिना दीवालमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखलायी नहीं देता, बल्कि दर्पणके सम्बन्धसे ही होता है। सूर्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी योग्यता दीवाल आदिमें दर्पणके सम्बन्धसे ही आती है। उसी प्रकार जीव-चैतन्यका विषयसे नित्य सम्बन्ध होते हुए भी वृत्तिके सम्बन्धके बिना विषय प्रकाशित नहीं होता। यदि अन्त:करणविशिष्ट चैतन्यको ही जीव मानें, तो भी वृत्तिके बिना जीव-चैतन्यके साथ विषयोंका सम्बन्ध न होनेके कारण उनका प्रकाश नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके द्वारा अन्त:करणकी वृत्ति विषय-देशमें जाकर उसके आवरणको हटा देती है। इससे जीव-चैतन्यके साथ विषयगत चैतन्यका एकीभाव होनेसे विषयका प्रकाश होता है। वृत्तिके गये बिना आन्तर जीवके साथ बाह्य घटादिकोंका सम्बन्ध न होनेसे उनका प्रकाश भी नहीं होता। इसलिये भी वृत्तिकी आवश्यकता होती है। सिद्धान्तत: तो 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति स्वीकार की जाती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह वृत्ति क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? और उसका कारण क्या है? वृत्तिका प्रयोजन कहीं अविद्याकी निवृत्ति और कहीं व्यवहारकी प्राप्ति पहले ही बतला चुके हैं। अब यह बताते हैं कि अज्ञानसे होनेवाला अन्त:करणका परिणाम ही वृत्ति है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि वृत्ति निरवयव अन्त:करणका परिणाम कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि अन्त:करण निरवयव नहीं है, बल्कि सादि द्रव्य होनेके कारण सावयव है। इसके सादित्वमें श्रुति प्रमाण है—यथा 'तन्मनोऽसृजत' अर्थात् उसने मनकी सृष्टि की। वृत्तिरूप ज्ञान मनका ही धर्म है। श्रुति भी कहती है—'कामसङ्कल्पो विचिकित्साश्रद्धा-

श्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरिति एतत्सर्वं मन एव'। अर्थात् काम, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मनके ही रूप हैं। 'धी' शब्द वृत्तिरूप ज्ञानका वाचक होनेके कारण कामादि मनके धर्म हैं, ऐसा समझना चाहिये। अब यह प्रश्न होता है कि यदि कामादि अन्तःकरणके धर्म हैं तो 'मैं चाहता हूँ' इस अनुभवमें आत्मधर्मत्वकी अनुभूति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार लौह-पिण्डके न जलनेपर भी दाहक अग्निके साथ उसके तादात्म्यका अध्यास होनेसे 'लौहपिण्ड जलता है' इस प्रकारका व्यवहार होता है, उसी प्रकार सुखादि-आकारोंमें परिणत होनेवाले अन्तःकरणके साथ ऐक्यका अध्यास होनेसे आत्माका भी 'मैं सुखी हूँ, मै दुःखी हूँ'—इस प्रकारका व्यवहार होता है। यद्यपि काम-क्रोध-सुखादि भी अन्तःकरणके परिणाम हैं, तथापि इनके द्वारा पदार्थ प्रकाशित नहीं होते। इसलिये इन्हें 'वृत्ति' नामसे नहीं पुकारा जाता।

अतएव अन्तःकरणके ज्ञानरूप परिणामका नाम ही वृत्ति है। और वह दो प्रकारकी है—प्रमारूप और अप्रमारूप। प्रमाणजन्य ज्ञानको प्रमा कहते हैं और इससे अतिरिक्त ज्ञानको अप्रमा। इनमें प्रमा ज्ञान यथार्थ होता है और अप्रमा ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेदसे दो प्रकारका। दोषजन्य ज्ञान अयथार्थ कहलाता है और वह भ्रमरूप होता है, तथा प्रमाणजन्य ज्ञानको यथार्थ कहते हैं। शुक्तिमें रजतज्ञान और चन्द्रमें प्रादेश-परिमाण—ये दोषजन्य अयथार्थ ज्ञानके उदाहरण हैं। दोषके बिना अयथार्थ ज्ञान नहीं होता। जहाँ कुछ भी दोष नहीं होता, वहाँ अविद्यारूप दोष तो रहता ही है। अतः सुख-दुःखादिका प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृतिज्ञान और ईश्वरज्ञान—ये दोषजन्य न होनेके कारण अयथार्थ नहीं हैं तथा प्रमाणजन्य न होनेके कारण प्रमा भी नहीं हैं। अतएव दोनोंसे विलक्षण यथार्थ ज्ञान हैं। क्योंकि व्यवहारदशामें इनका बाध नहीं होता।

संस्कारजन्य पूर्वानुभूत ज्ञान स्मृतिका कारण होता है तथा यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न स्मृति यथार्थ होती है, और भ्रमरूप अनुभवसे उत्पन्न स्मृति अयथार्थ होती है। अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सुख-दुःखके आकारका अन्तःकरणका परिणाम सुख और दुःखका हेतु होता है। अदृष्टके कारण ही अन्तःकरणकी वृत्ति सुख-दुःखका आकार ग्रहण करती है। वृत्तिमें ही आरूढ़ होकर साक्षी सुख-दुःखको प्रकाशित करता है। वह वृत्ति प्रमाणजन्य न होनेके कारण प्रमा नहीं है। ईश्वरज्ञान भी मायिक वृत्तिरूप है। वह जीवके अदृष्टवश उत्पन्न होता है, इसलिये प्रमाजन्य नहीं है, और दोषजन्य न होनेके कारण भ्रमरूप भी नहीं है। परन्तु निष्फल प्रवृत्तिका उत्पादक न होनेके कारण यथार्थरूप ही है।

प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं। अनधिगत (अप्राप्त) और अबाधित विषयके ज्ञानको प्रमा कहते हैं। किन्तु वह स्मृतिरूप नहीं होना चाहिये। अबाधित विषयज्ञानत्व तो स्मृतिमें भी समान रूपसे है। ये प्रमाण छः प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और उपलब्धि। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाके साधनरूप प्रमाणको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है। श्रुति भी कहती है।

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म।'

अपरोक्ष होनेके कारण जो साक्षात् ब्रह्म है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि चैतन्य तो अनादि है, वह किस प्रकार चक्षु आदिका उनके कारणरूपसे प्रमाण हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि चैतन्य अनादि है तथापि उसकी अभिव्यञ्जक अन्तः-करणवृत्ति इन्द्रियसन्निकर्षसे ही उत्पन्न होती है; अतः वृत्तिविशिष्ट चैतन्य आदिमान् कहलाता है। ज्ञानका परिच्छेद करनेके कारण वृत्तिमें ज्ञानत्वका उपचार होता है।

यदि पूछते हो कि प्रत्यक्षका प्रयोजक क्या है ? तो इसका उत्तर यह है कि तुम ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक पूछते हो या विषयगत प्रत्यक्षत्वका ? यदि ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक पूछते हो तो मैं कहूँगा कि चैतन्यका विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ अमेद ही ज्ञानका प्रयोजक है । चैतन्य तीन प्रकारका होता है—प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य । अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य कहलाता है तथा अन्तःकरणकी वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य और घटादि विषयोंसे अवच्छिन्न चैतन्य विषय-चैतन्य कहलाता है । जिस प्रकार तड़ागका जल छिद्रके द्वारा निकलकर छोटी नालीका रूप धारण कर क्यारियों-में प्रविष्ट होकर उसी प्रकारके आकारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस अन्तःकरण चक्षु आदिके द्वारा निकलकर विषयप्रदेशमें जाकर उसीके आकारमें परिणत हो जाता है । इस परिणामको ही वृत्ति कहते हैं ।

किन्तु अनुमिति आदिके समय अन्तःकरण वह्नि आदि बाह्य विषयप्रदेशमें नहीं जाता, क्योंकि उस समय वह्नि आदिसे चक्षुका सन्निकर्ष नहीं होता । प्रत्यक्षादिके समय तो—जैसे यह घट है—इसमें घट और तदाकार-वृत्तिके एक बाह्य देशमें स्थित होनेसे इन दोनोंके द्वारा अवच्छिन्न चैतन्यकी एकता हो जाती है । घटाकारवृत्ति घटसे संयोग रखनेवाली है, अतः घट-प्रत्यक्षके समय घटावच्छिन्न चैतन्यका घटाकारवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यके साथ अमेद होनेकेकारण घटांशमें ही घट-ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है । सुखादिसे अवच्छिन्न चैतन्य और सुखाकार-वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य नियमसे एक देशमें स्थित दो उपाधियोंसे अवच्छिन्न हैं, इसीसे नियमसे 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारके ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है ।

किन्तु इस प्रकार तो सुखादिके स्मरणकी प्रत्यक्षता भी सुखादिके अंशमें ही होगी । परन्तु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि स्मर्यमाण सुख अतीतकालीन होता है और स्मृतिरूप अन्तःकरणकी वृत्ति वर्तमानकालिक होती है, अतः इन दोनों प्रकारकी उपाधियोंका सम्बन्ध भिन्न कालोंसे होनेके कारण इनके द्वारा अवच्छिन्न चैतन्योंमें भेद रहता है, क्योंकि उपाधियोंकी एकदेशीयता होनेपर ही एककालीनता उनके अमेदकी प्रयोजक होती है ।

ऐसा होनेपर भी यह नहीं कहना चाहिये कि वर्तमान कालमें भी 'तुम सुखी हो' इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें प्रत्यक्षताकी आपत्ति होगी; क्योंकि सुखकी प्रत्यक्षता इष्ट ही है । दस पुरुषोंकी गणना करते समय जब अज्ञानवश मनुष्य केवल नौको ही गिनता है, अपनेको भूल जाता है तो उस समय 'दसवाँ तू है' ऐसा कहनेसे सन्निकृष्ट विषयमें वाक्यके द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होती है । 'पर्वत अग्निवाला है' इस स्थलमें, पर्वत-अंश और वह्नि-अंशमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें भेद स्वीकार करनेके कारण इन वृत्तियोंके अवच्छेदकोंके भेदसे एक ही चैतन्यवृत्तिमें प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व दोनोंके रहनेमें कोई विरोध नहीं होता । [इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके योग्य वर्तमान विषयोंसे अवच्छिन्न जो चैतन्यकी अभिन्नता है, वही तदाकार वृत्तियोंसे अवच्छिन्न उन विषयोंमें प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । घटादि विषयोंका प्रत्यक्षत्व तो उनका प्रमातासे अमेद होना ही है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि घटादि विषयोंका अन्तः-करणसे अवच्छिन्न चैतन्यसे अमेद कैसे हो सकता है, क्योंकि उसका विरोध तो 'मैं इसे देख रहा हूँ' इस भेद-सम्बन्धी अनुभवसे ही सिद्ध होता है ? परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि प्रमातासे अभिन्न होनेका अर्थ उनकी एकता नहीं है, बल्कि प्रमाताकी सत्तासे अति-रिक्त सत्तावाला न होना ही है । इस प्रकार घटादिका अपनेसे अवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यास होनेके कारण विषय-चैतन्यकी सत्ता ही घटादिकी सत्ता है, क्योंकि

आरोपित पदार्थकी सत्ता अधिष्ठानकी सत्तासे अतिरिक्त स्वीकार नहीं की जा सकती और उपर्युक्त रीतिसे विषयचैतन्य प्रमातृ-चैतन्य ही है । घटादिकी अधिष्ठानता प्रमातृ-चैतन्यकी ही होनेके कारण प्रमातृ-सत्ता ही घटादिसत्ता है, अन्य नहीं; इससे घटादिका अपरोक्षत्व सिद्ध होता है । योग्यताके अभावसे घटके धर्मादिकोंका प्रत्यक्ष इसे नहीं कह सकते ।

यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकारका होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक । घट-पटादिविशिष्ट ज्ञानको सविकल्पक कहते हैं । संसर्गसे असम्बद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं । जैसे, 'यह वही देवदत्त है,' 'वह तू है' (तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है । यदि शङ्का करो कि यह ज्ञान तो शब्दजनित है, इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि यह इन्द्रियजन्य नहीं है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि दोषयुक्त होनेके कारण प्रत्यक्षत्वमें इन्द्रियजन्यत्वका कोई सिद्धान्त नहीं है । बल्कि योग्य वर्तमान विषयकता रहते हुए प्रमाणचैतन्यकी विषयचैतन्यके साथ अभिन्नता ही प्रत्यक्षता कहलाती है । इस प्रकार 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सन्निकृष्ट-वस्तुविषयक होनेसे तथा अन्त:करणकी बहिर्गामिनी वृत्ति स्वीकार करनेके कारण उसके द्वारा देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यका अभेद होनेसे 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यसे होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही माना गया है । क्योंकि यहाँ प्रमाता ही विषय है, अत: विषयावच्छिन्न और प्रमात्रवच्छिन्न—इन दोनों चेतनोंका अभेद है ही । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वाक्यजन्य ज्ञान तो पदार्थके साथ संसर्ग सूचित करता है, वह निर्विकल्पक कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वाक्यज्ञानकी विषयता रहनेपर भी पदार्थके साथ संसर्ग रहनेका कोई नियम नहीं है; क्योंकि जिसका संसर्ग अभिमत नहीं है ऐसी वस्तु भी वाक्यजन्य ज्ञानकी विषय हो सकती है, किन्तु वहाँ उसकी विषयता तात्पर्य (लक्ष्यार्थ) मात्रमें होगी । प्रकृतिस्थलमें तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' यहाँसे प्रारम्भ कर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यहाँतक विशुद्ध ब्रह्ममें ही वेदान्त-वाक्योंके तात्पर्यका पर्यवसान होता है; अत: जो इनके तात्पर्यका विषय नहीं है, उस संसर्गका इनसे किस प्रकार बोध हो सकता है । यही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंकी अखण्डार्थता है कि वे संसर्गसे असम्बद्ध यथार्थज्ञानके उत्पादक हैं । यही अखण्डता प्रातिपदिकार्थता और प्रज्ञा नामसे कही जाती है । महावाक्यसे उत्पन्न हुई यह वृत्ति ही पद और वाक्यों-के अर्थमें कुशल संस्कृतचित्तवाले पुरुषोंकी अविद्याका तत्काल ही निवारण करके उन्हें परमानन्द प्रदान करती है । किन्तु असंस्कृत अन्त:करणवाले पुरुषोंको यह कालान्तरमें प्रतिबन्धोंका नाश होनेपर ज्ञानरूप फल प्रदान करती है । इसमें साधनचतुष्टयसे सम्पन्न विरक्तका ही अधिकार है—श्रुति भी कहती है—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।'

अर्थात् वैराग्यहीन, दुश्चरित्र, अशान्त और असमाहित चित्तवाला इसे प्राप्त नहीं कर सकता ।

पथिकसे

(लेखक—ब्रह्मचारी आनन्द)

अ ह……ह……ह……!

पथिक ! भवसागर तरना चाहते हो ?

इस शून्य जीवनकी बोझभरी गठरी लेकर ?

अरे ! इस सागरके अथाह जलकी लोल-लहरोंमें अपनी जीवन-नौका हँसते-हँसते पार ले जाना चाहते हो !

जिसमें दु:खका अपार जल विकराल कालके आनन्दाश्रु बनकर भयङ्कर झंझाके झोंकोंसे मिश्रित सन्ताप-भँवरको साथ लिये हुए प्रबल वेगसे बह रहा है, उस सागरके वक्ष:स्थलपर अपना यह नश्वर जीवन-पोत दौड़ाना चाहते हो ?

कठिन है पथिक !…………असम्भव है….?

पथिक ! इस मनकी प्रेम-भेंट लेकर स्नेहाकाङ्क्षामें….और स्मृतिकी छायामें….आगे बढ़ना चाहते हो !

अज्ञ पथिक ! ठहरो….लौट आओ …!

उन्मत्त ! यह क्या….ममत्वकी झलक और उत्सर्गका निश्चय लिये हुए आगे बढ़ना….तुम्हारा प्रेम….शून्य है !

पागल ! वहाँ जाना चाहते हो ‥ ….उसके पास….वह तो योगी है….निर्लिप्त है….संसारसे….भिन्न है….तुम उसके पास नहीं जा सकते ?

तुम उसके पास पहुँच सकते हो कामना….वासना….और….अभिलाषा लेकर ?….नहीं….इन्हें छोड़कर !

क्या तुम्हें विश्वास है कि….इस सागरकी कोई भी कठिनता….भयङ्कर झंझाके झोंके….विकराल काल भँवर….उन्मत्त अन्धकार-जीवन-नैराश्य और….सन्ताप-सन्तप्त सागरकी उत्ताल तरङ्गें तुम्हें विचलित न करेंगे !

सरल ! तुम दृढ़तापूर्वक कह सकते हो….तुम्हारे पास अपना कुछ भी नहीं….? बोलो पथिक ! है….क्या ? ममत्व….सम्पत्ति….प्रेम, पर झूठा, इसे लेकर वहाँ जाओगे ?….जा सकते हो….पर इन्हें छोड़कर !

पथिक ! उस पार जाओगे….परन्तु उस पार मिलन नहीं है। तो ? वहाँ है आत्मविसर्जन !…………………………………………चलोगे ?

महाराष्ट्रके वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम-साधना

(लेखक—श्रीभालचन्द्र पं० बहिरट बी० ए०)

महाराष्ट्रके इस श्रेष्ठ प्रेमोपासक सम्प्रदायके आद्य-प्रवर्तक श्रीपुण्डरीक महामुनि हुए । इस सम्प्रदायका प्रासाद निर्माण करनेके लिये श्रीज्ञानेश्वर महाराज इसकी नींव बने । श्रीनामदेवरायकी नामभक्ति इसका विस्तृत प्राङ्गण बनी । उसपर श्रीएकनाथ महाराजने श्रीमद्भागवत-के खंमे खड़ेकर पूरा मन्दिर खड़ा किया । श्रीतुकाराम महाराज इस मन्दिरके शिखर बने । इस प्रकार संतों-द्वारा निर्मित इस विशाल सम्प्रदाय-मन्दिरका कुछ ऐसा ही वर्णन स्वयं श्रीतुकाराम महाराज कर गये हैं । इस मन्दिरकी ओर जानेका रास्ता कौन-सा है, कौन भगवान् इसमें विराजते हैं, उनके दर्शन करनेकी विधि क्या है और क्या उसका फल है, इन्हीं बातोंको संत-वचनोंके आधारपर यथामति यहाँ लिखते हैं ।

वारकरी सम्प्रदाय सरूप-सम्प्रदाय नहीं प्रत्युत स्वरूप-सम्प्रदाय है । सरूप-सम्प्रदाय मूर्तिके ध्यानके द्वारा परमात्मलाभका साधन करता है और स्वरूप-सम्प्रदाय यह है कि स्वयं सर्वव्यापक चैतन्य ही भक्ति-प्रेमके कारण सगुण रूपमें अवतीर्ण है—उस प्रियरूप-का सेवन ही जीवनकी चरितार्थता है । सरूप-सम्प्रदाय-में जीवात्मा और परमात्मा भिन्न माने जाते हैं और मूर्तिको साधन बनाकर अभेद लाभ करनेका प्रयत्न किया जाता है । परन्तु स्वरूप-सम्प्रदायमें जीवात्मा और परमात्माका अभेद स्वतःसिद्ध है, उसमें कोई भेद हुआ ही नहीं है, स्वरूप स्वतःसिद्ध और स्वयम्भू है, उसके सगुण प्रियरूपका आस्वादन मानव-जीवनका परम साध्य है । यही स्वरूप-सम्प्रदायकी मान्यता है ।

वारकरी सम्प्रदायके अधिष्ठाता पंढरपुरनिवासी श्रीविट्ठल भगवान् हैं । भगवान्के अन्य अवतार किसी-न-किसी विशिष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये हुए । जब-जब संतोंपर सङ्कट आये, तब-तब पृथ्वीसे दुष्टोंका भार न सहा गया और वह धेनुरूप धारणकर भगवान्के समीप गयी और तब दुष्टोंके संहारके लिये भगवान्ने अवतार लिया, यही सब अन्य अवतारोंके होनेका क्रम देख पड़ता है और फिर यह भी देखा जाता है कि जिस कार्यके लिये इस प्रकार भगवान् आये उस कार्यके हो चुकनेपर वे यहाँसे चले भी गये । पर भगवान् जो श्रीविट्ठलरूपमें अवतीर्ण हुए सो केवल भक्ति-प्रेमसे मुग्ध होकर ही हुए और इसमें अन्य कोई कार्य-कारण-भाव नहीं है । श्रीपुण्डरीकके हृत्प्रेमसे ही श्रीभगवान् यहाँ पधारे हैं । केवल प्रेमके लिये ही ये प्रेमस्वरूप यहाँ विराज रहे हैं । श्रीनिलोबाराय कहते हैं कि 'स्वयं श्रीसच्चिदानन्द भगवान् पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर श्री-विट्ठलरूपमें इस ईंटपर अड़े खड़े हैं और भक्तोंको देख-देखकर सुप्रसन्न हो रहे हैं ।'

वारकरी सम्प्रदाय इन्हीं प्रेमस्वरूप भगवान्का उपासक है । वारकरी शब्दका अर्थ ही है, प्रति वर्ष नियत समयपर पंढरीके इन प्रेममय भगवान्से मिलनेके लिये आना । इस 'वारी'—इस मिलन-यात्राका मर्म क्या है ? किस प्रकारकी यह भक्ति है ? भक्त और भगवान् जब एक ही हैं तब भक्ति कोई किसीकी किसलिये करता है ? वारकरी सम्प्रदाय अद्वैत सिद्धान्तको माननेवाला है पर इस अद्वैतमें, वह यह दिखाता है कि, भक्ति हो सकती है, अद्वैत और भक्तिका कोई परस्पर-विरोध नहीं, बल्कि भक्ति अद्वैतानुभूतिकी सबसे ऊँची चोटी है ।

'अमृतानुभव ग्रन्थ' में श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जब देव, देवल और परिवार एक ही पर्वतके अंदर उकोरे जा सकते हैं तो एक ही अद्वैतमें भगवान्, भक्त और भक्तिपरिवार क्यों नहीं बन सकते ? जैसे फूल ही

भ्रमर हों, युवती ही युवक बने, आम्रमञ्जरी ही कोकिल बने और सब रस ही रसना हो जायँ, वैसे ही भगवान् ही भक्त बनकर अपने ही प्रेमको अनुभव करते हैं। (अमृतानुभव ९ । ५) प्रेम ही प्रेमसे मिलनेके लिये विरही बना फिरता है।

यह केवल तत्त्वज्ञानकी बात हुई। तत्त्वका ज्ञान जीवनमें उतर आना चाहिये, तभी उसका आनन्द मिलता है। इस आनन्दका भोग ही भक्ति है। भक्ति केवल कोई बाह्य क्रिया नहीं है। भक्ति की नहीं जाती, हुआ करती है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं और यह प्रेम ही जगत् और मानव-जीवनका आधार है। प्रेमका स्वभाव है अनन्य होना। इसीलिये यथार्थमें भगवान् ही जीवके लिये अनन्य हैं। माँ अपने बच्चेके लिये अनन्य होती है और अपने बच्चेपर प्रीतिकी वर्षा बराबर करती ही रहती है। उसी प्रकार भगवान् जीवपर सतत स्नेहकी वर्षा कर रहे हैं, इसीसे जीव-जगत् जी रहा है। बच्चा माँकी क्या सेवा कर सकता है? माँने ही तो उसे नौ मास गर्भमें रखकर 'रजसे गज' बनाया है। माताकी इस सतत स्नेह-वर्षाको जानकर बच्चा कभी पात्रमें जल भरकर माताको हाथमें ला दे सकता है। इससे माताको बहुत बड़ा सन्तोष भी होगा। बच्चा माताके प्रेमको जाने, यही भक्ति है। जहाँ प्रेमकी यह पहचान है वहाँ भक्तिकी श्रवणादि क्रियाएँ अनायास ही हो सकती हैं। पर इन सबका मूल है प्रेमकी पहचान। इस प्रेमके सेवनकी जो पद्धति है वही वारकरी सम्प्रदाय है।

इस प्रेम-सेवनके लिये संतोंने पंढरी-धाम निर्माण किया और प्रेममूर्ति विट्ठल भगवान् वहाँ आकर खड़े हो गये। संतोंने सबसे कहा—आओ, चाहे तुम किसी जातिके, किसी वर्णके, किसी गुणके हो, जैसे हो, जो हो, यहाँ आकर इस प्रेमका सेवन करो। आषाढकी शुक्ल एकादशी और कार्तिककी शुक्ल एकादशी पंढरीकी 'वारी' है। प्रतिवर्ष इन दो वारियोंको कोई कर ले तो उतनेसे भी भगवान् प्रसन्न होते हैं। तुकाराम महाराज कहते हैं, ये ही दो हाट हैं—इनमें जो कमाना हो कमा लो, और व्यापार फैलानेकी फिर कोई जरूरत नहीं। वारीके दिनोंमें पंढरीमें प्रेमानन्दकी वर्षा होती रहती है।

वारकरी सम्प्रदायमें आराध्य श्रीविट्ठल भगवान्, क्षेत्र पंढरपुर, नियम पंढरीकी वारी और मन्त्र 'राम कृष्ण हरि' है। गलेमें तुलसीकी माला, हाथमें पताका, भालमें गोपीचन्दन और बुका, ये ही वारकरियोंके मङ्गलचिह्न हैं। रुचिके साथ भगवन्नाम-स्मरण ही इनका कर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं, तुकाराम महाराज कहते हैं 'नाम-संकीर्तन सुलभ साधन है, इससे जन्मान्तरोंके पाप जल जाते हैं। नाम लेनेसे मन शान्त होता और जिह्वासे अमृत स्रवता है और लाभके शकुन ही होते रहते हैं।' श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं 'तत्त्वमसि आदि महावाक्योपदेश नामका अर्द्धांश भी नहीं है।'

रुचिसे नाम-स्मरण, रुचिसे भजन और रुचिसे ही कीर्तन वारकरी सम्प्रदायकी प्रेमपद्धतिके अङ्ग हैं। भजनमें पहले 'जय जय राम-कृष्ण-हरि'का घोष किया जाता है। जबतक भगवान्का रूप प्रियत्वके साथ हृदयमें प्रतिष्ठित न हो ले तबतक यह घोष किया जाता है। पीछे हृदयमें ध्यान स्थिर होनेपर 'सुन्दर तें ध्यान उभे विटेवरी।' यह अभंग कहकर 'विठोबा-रखुमाई' इस नामका भजन किया जाता है। इसके बाद उस प्रिय दर्शनका आस्वादन करते हुए जिन अभंगोंको गानेकी इच्छा हो वे गाये जाते हैं। इसके बाद फिर 'विठोबा-रखुमाई' का नामघोष किया जाता है। इसके अनन्तर अपने मनकी उस समय जैसी स्थिति हो उसके अनुसार करुणापरक, नामपरक अथवा विनयपरक अभंग गाये जाते हैं। गानेमें कलाकी

अपेक्षा सहृदयताका ही होना अधिक आवश्यक है, इससे संतहृदयके साथ अपना हृदय मिल जाता और अनायास प्रेमप्रसाद प्राप्त होता है। यह स्मरण रहे कि भजन भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रेमसेवन ही है। अस्तु, इसके पश्चात् 'जय विट्ठल' कहकर भजन किया जाता है और फिर अभंग कहकर 'ज्ञानेश्वर माउली ज्ञानराज माउली तुकाराम' यह धुन गायी जाती है। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी आरती करके 'ज्ञानबा तुकाराम' की धुन गाकर 'पुण्डलीकवरद हरि-विट्ठल' के जयघोषमें भजन समाप्त किया जाता है।

कीर्तन (अर्थात् नारदजीकी पद्धतिसे नामगुणगानके साथ भगवत्कथा कहने) की रीति—कीर्त्तन भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। संतोंने इस हरिकथाके विषयमें कहा है कि, 'हरिकथा माता है, वह श्रोताओंको जो दूध पिलाती है उससे कभी पेट नहीं भरता, वैष्णवजन इसे पीते हुए कभी अघाते नहीं। इसको देखकर अमृत भी झेंपकर सामने नहीं आता।' कीर्त्तनमें श्रीहरिके सगुण चरित्रोंका वर्णन होता है। यह काम जितने अधिक प्रेमसे होता है उसमें उतना ही अधिक आनन्द है। कीर्त्तनकार स्वयं कीर्त्तनमें रँग जाय और श्रोताओंको रँग दे। दशमी और एकादशीको कीर्त्तन और हरिजागरण तथा द्वादशीको 'क्षीरापत'-प्रसाद बाँटनेकी प्रथा है।

दिनचर्या—वारकरी सम्प्रदाय प्रपञ्चको छोड़ देनेकी शिक्षा नहीं देता। श्रीएकनाथ, तुकारामादि संत प्रपञ्चमें रहते हुए हरिभक्ति कैसे की जाती है यही तो अपने उदाहरणोंसे दिखा गये हैं। अस्तु, वारकरियोंकी दिनचर्या इस प्रकार है—प्रातःकाल उठनेके साथ ही पहले श्रीविट्ठलका स्मरण और वन्दन करना, इसके बाद प्रातःकृत्य स्नानादि करके तुलसीको जल देना और श्रीज्ञानेश्वरीकी पूजा करके उसकी कुछ ओवियोंका पाठ कर लेना। इसके बाद श्रीविट्ठल, श्रीज्ञानदेव और श्रीतुकारामकी मानस-पूजा करके भोग लगाना और उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करना। भोजन करते हुए प्रत्येक कौरके साथ भगवान्‌का नाम लेना और नाम लेते हुए नामकी रुचिके साथ भोजन करना। इसके बाद संसारमें अपने जिम्मे जो काम-धंधा हो उसे सचाई और तत्परताके साथ करना। भगवान्‌का ही यह सारा विश्वसंसार है। इसमें जिसके जिम्मे जो काम भगवान्‌ने कर दिया है उसे प्रेमसे करना भगवान्‌का ही कर्म-रूपसे भजन है। कामसे लौटनेपर सायंकाल शुचि होकर 'हरिपाठ' का नियमपूर्वक पाठ करना। रातको भोजनके पश्चात् बिस्तरपर बैठे-बैठे वीणा, करताल हाथमें लिये ऊपर कहे अनुसार श्रीविट्ठल भगवान्‌का भजन करना और उसी भजनके आनन्दमें प्रभुचरणोंमें मस्तक रखकर सो जाना।

इस प्रकार वारकरी सम्प्रदायकी प्रेम-साधना भगवत्प्रेमका ही सेवन है। प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य। बन्ध-मोक्षादिकी कोई कल्पना इसमें नहीं है। हठयोगादिमें प्रमाद होनेसे जो भय है वह इसमें नहीं है, इसके विपरीत बालक यदि कहीं ठोकर लगकर गिर पड़े तो जैसे माँ ही दौड़ी चली आती और बच्चेको उठा लेती है वैसे ही भगवान् इस मार्गमें अपने भक्तको सदा सर्वत्र सम्हाले रहते हैं!
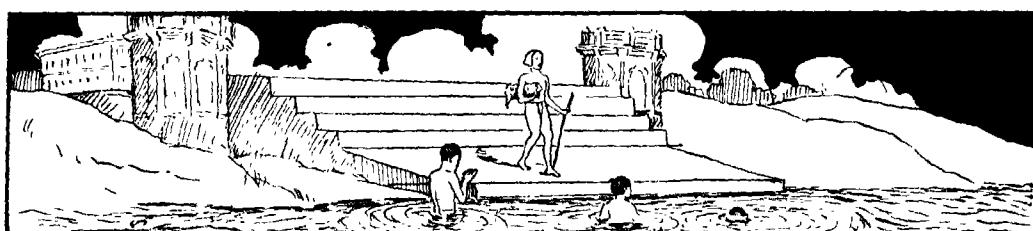
'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना

(लेखक-श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

'कल्याण'के पिछले अङ्क (अप्रैल १९४२) में कल्याण-सम्पादकका एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने 'महान् सङ्कटसे बचनेके साधन' बतलाये हैं । मैं 'कल्याण'के समस्त पाठकोंका ध्यान उन साधनोंकी ओर खींचता हूँ, और चाहता हूँ कि प्रत्येक भारतीय उन साधनोंको यथोचित रूपसे काममें लावें। यह विश्वपर महान् विपत्तिका समय है । सारा संसार त्रस्त है। सभी राष्ट्र भयानक शस्त्रास्त्रोंकी तैयारीमें लगे हैं। असंख्य धन-जन विश्वके विनाशके काममें लग रहा है । आज विराट् पुरुष मानो आप ही अपने अंगोंको चीरनेके काममें व्यस्त है । मनुष्य अपने राक्षसी कृत्यों-द्वारा भयानक राक्षस बनता जा रहा है । यह चाहे हमारे पापोंका फल हो या विधाताका विधान, है बड़ा भयङ्कर, और इससे हमारी मानवता लुटी जा रही है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो नयी-पुरानी कोई-सी सभ्यता भी न रह जायगी और अपना-पराया भूलकर आदमी ही आदमीको खा डालनेके लिये तैयार हो जायगा । लगातार विपत्ति-पर-विपत्ति पड़नेपर प्रायः मनुष्य कालवश होकर अत्यन्त क्रूर हो जाता है। कुम्भकर्णने अपने छोटे भाई विभीषणसे कहा है—

बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर ।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर ॥

दोहेके अर्धांशमें कितना सुन्दर भगवद्भजनका उपदेश है, परन्तु दूसरे ही क्षण कितने भयानक उद्गार हैं । यही हाल आज हमारे राष्ट्रोंका है । विज्ञानने बड़ी उन्नति की परन्तु विज्ञानका उपयोग किया गया भोग और आरामके साधन जुटानेमें । धन और भोग ही सबका उद्देश्य हो गया । धर्म और भगवान्‌की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी । ईश्वरको तो लोग 'भ्रम' मात्र सिद्ध करने लगे । उसीका यह भीषण परिणाम है ! ऐसी भयानक परिस्थितियोंमें हमारे ऋषि-मुनि सम्मिलित या व्यक्तिगत प्रार्थना और कीर्तन, जप, पाठ, यज्ञ आदि अमङ्गलनाशक अनुष्ठान किया करते थे । आज भी भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दारने महान् सङ्कटसे बचनेके लिये हमें वही पवित्र और अचूक साधन बतलाये हैं । मैं कल्याणके पचास-साठ हजार ग्राहकोंसे यह निवेदन करना चाहता हूँ, वे अपने-अपने ग्रामों या शहरोंमें उद्योग करके ऐसे ७२० मनुष्योंको उत्साहित करें जो महीनेमें एक घंटा किसी एक नियत स्थानमें इकट्ठे होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें । ऐसा करनेसे महीने-भरके ७२० घंटेके समयमें निरन्तर कीर्तन चल सकता है। इसीके साथ लोग अपने-अपने घरोंमें नियमित कीर्तन करें ।

इसी प्रकार 'मानसपारायण'का भी प्रचार हो। संस्कृतके ग्रन्थोंको सब लोग नहीं पढ़ सकते परन्तु श्रीरामचरितमानसको तो हिन्दी जाननेवाले हरेक नर-नारी पढ़ सकते हैं । प्रत्येक स्थानपर एक सौ पचीस (१२५) व्यक्ति तैयार हों और वे किसी भी मासकी शुक्ला प्रतिपदासे नवमी तक नौ दिनोंमें पूरा पारायण कर लें । एक व्यक्ति आगे बोले, शेष सब एक ही साथ उसके पीछे-पीछे बोलें । भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजी महाराजका यथाप्राप्त सामग्रियोंसे पूजन करके पाठ आरम्भ किया जाय । इस प्रकार पारायण करनेसे अपूर्व आनन्द आता है और विघ्न तो टलते ही हैं । यह पारायण गाँव-गाँवमें आरम्भ हो जाय तो वातावरणको बदलते देर नहीं लगेगी । 'कल्याण'के इतने पाठकोंमें हजार-दो-हजार ग्राहक भी कमर कसकर उद्योग करें तो यह कोई असम्भव बात नहीं है । [भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी सलाह बहुत ही उपादेय और अवश्य करने योग्य है । पाठक ध्यान देकर करें तो इससे उनका और जगत्‌का बहुत कुछ मङ्गल हो सकता है । जहाँ ऐसा आयोजन हो, वहाँकी सूचना 'कल्याण' सम्पादकके नाम भेज दी जा सके तो उत्तम है । हनुमानप्रसाद पोद्दार 'सम्पादक']

किन्हीं एक प्रेमीका पत्र और उसका उत्तर

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

मधुमास कृष्णैकादशीकी सन्ध्या

परम-पूज्य प्रिय सखा, स्वामि, गुरु, हितू हमारे।
श्रीहनुमानप्रसाद (जी) भाव के भोरे-भारे ॥
बंदौं चरन-सरोज शीस धरि सदा, तुम्हारे।
देहु इहै आसीस, बसैं हिय जुगुल हमारे ॥
छायो अब कलिकाल घोर, नहिं धर्म-लेश कहुँ।
अनाचार, पाषण्ड, पाप बाढ़यो देखत चहुँ ॥
कपटी, कायर, कुटिल, काम-वश, अतिसै क्रोधी।
बाढ़े चोर, जुवार, विप्र-गुरु-संत-विरोधी ॥
तिन के मधि बसि रहब, कठिन जिमि दसनन जीहा।
साँच कहे है मरब, मिलन-पिय कठिन अलीहा ॥
ताहू पै त्रै-ताप-घोर सों तपत सदा तनु।
ऐसे भीषण विपति-काल, नहिं कोउ अवलंबनु ॥
होते जौ संसारी तौ यह सब सहिं लेते।
काहू को उपकार-भार नहिं सिर पै लेते ॥
कहा कहैं ? कहि जात नहीं अब जिय की घातें।
बड़ी मरम की पीर, बीर ! रसिकन की बातें ॥
मातु-पितादिक, स्वजन, निरस अति ज्ञान सिखावैं।
कोउ निहकाम सकाम कर्मके मर्म सुझावैं ॥

एकौ लागत नाहिं, किए उन अमित उपाई।
कहा करौं, ह्वै गई संग-बस कृष्न-मिताई ॥
सो अब छूटत नाहिं, जतन मैं हूँ बहु हेरी।
बरबस ही करि लई श्याम बिनु-मोलन-चेरी ॥
ना जानौं प्रारब्ध कौन, सो बिमुख पर्‌यो है।
जो बैरी इहि भाँति मोहिं ते रहत अर्‌यो है ॥
अनइच्छित जे कर्म तिनहिं बरबस करवावत।
पेरत है दिन रैन मूढ़ तउ नास न पावत ॥
नित दु:संगति पर्‌यो, नाहिं सत्संग बसत तनु।
नहिं भागवत-पुरान कथा को श्रवन-कीरतनु ॥
अपनेहिं कर करि रह्यो हाय ! अपनी ही हाँती।
यहि सोचत हौं जबहिं, तबहि भरि आवत छाती ॥
बिनु पंखनु के बिहँग सरिस उछरत औ गिरत हौं।
भव-दवाग्नि में बिबस हाय ! अब चह्यो मरत हौं ॥
काढ़ि लीजियो मित्र ! मोहिं हिय करुना करि कै।
या दीजो मत उचित, करौं सोइ हिय हरि धरि कै ॥
कठिन कुअवसर माँहि ह्वै रही मति-गति, थोरी।
ओ 'कल्यान' सुदानी ! भरियो 'नेह' की झोरी ॥

इति शम्।

१३—३—४२ ई०

—'नेहलता'

[उपर्युक्त पत्र किनका है यह पता नहीं। मालूम होता है पत्र-लेखक महानुभाव मुझसे कुछ परिचित हैं। उन्होंने अपना नाम-पता कुछ भी नहीं लिखा; इसीसे 'कल्याण' के द्वारा उनके पद्यात्मक पत्रका उत्तर दिया जा रहा है। उनसे प्रार्थना है कि वे उत्तरमें लिखी तुकबंदीकी कवितासम्बन्धी भूलोंपर ध्यान न देकर भावोंपर ध्यान दें। मैं कवित्वज्ञानसे शून्य हूँ। एक प्रार्थना और है–उन्होंने पत्रमें जो मुझको प्रणाम किया है और मुझसे 'आसीस' माँगी है, इससे मुझे बड़ा सङ्कोच हुआ है। क्योंकि मैं न तो प्रणामका अधिकारी हूँ और न मुझमें आशिष देनेकी योग्यता है। पत्र-लेखक महोदय कृपापूर्वक भविष्यमें ऐसा न करें। हनुमानप्रसाद पोद्दार]

श्रीहरिः

नेहभरी श्रीनेहलता ! तुम धन्य सदाई।
जुगुल-कृपा तें लही जो दुर्लभ कृष्न-मिताई ॥
परम पूज्य, प्रिय सखा, स्वामि, गुरु हितू तिहारे।
रसिकसिरोमनि एक स्याम गोपीजन-प्यारे ॥
अनुकम्पा उनकी अपार को तुम्हैं सहारो।
का करि सकै बिगार घोर कलिकाल तिहारो ॥
सकल ताप-संताप सुदारुन बिपति-बुराई।
अहैं तिहारे पीतम ही की सबै पठाई ॥
बड़ी मरम की पीर, बीर ! सहियो सब सुख सौं।
पिय को प्रिय संदेश, न कछु कहियो निज मुख सौं ॥
संसारी हू बड़ो होय जो हरि अनुरागी।
अष्टजाम अनुगत सेवारत अति बड़भागी ॥
ज्ञान-कर्म को मर्म सुनत-समुझत क्यों डरिए ?
सब ही सों अपने मोहन की सेवा करिए ॥
नंदसुअन-सेवा ही सब कौ परम चरम फल।
बिना दाम घनस्याम-हाथ बिकिबौ अति मंगल ॥
दारुन-ग्रह दुर्दैव स्याम-चेरिहिं न सतावै।
स्याम-प्रेम सब काम सदा बरबस करवावै ॥
चेरी को चित सदा एक स्यामैं पहिचानैं।
भलो-बुरो परिनाम स्याम-पीतम ही जानैं ॥
ह्वै निश्चिन्त, अचिन्त्य स्याम-पद सेवन कीजै।
दिवस-रैन मन-चैन स्याम-सुमिरन चित दीजै ॥
बिनु पंखनु के बाल-विहग जोहैं जननी-मग।
जिमि पत्नी पिय-दरस हेतु आकुल चित डगमग ॥
तिमि प्यारे पीतम के अति पावन बिरहानल,
जरि जरि लहिऐ अमल अलौकिक आनँद प्रतिपल ॥
स्याम-चरन कौ एक भरोसो कबहुँ न तजियो।
जग-जग की चिंता बिसारि गोपालैं भजियो ॥
मो पर हू करि कृपा इहै श्रीहरि सौं कहियो।
अपनी ओर निहार छोह नित करते रहियो ॥
बाढ़ी जगमें ख्याति लोकरंजन मन छायो।
रस की बातें बिसरि ब्यर्थ ही काल गँवायो ॥
ह्वैहैं वे दिन कबैं जबैं श्रीराधारानी।
गनि आपनो गुलाम नेह सौं धरि सिर पानी ॥
अपनी रुचि अनुकूल सकल आचरन बनावैं।
स्याम सहित निज चरननकी सेवा करवावैं ॥
लौकिक परिचय कछुक दीजियो जौ मन मानैं।
तुम को हम को स्याम सदा निज-जन करि जानैं ॥

वै० कृ० १-१९९९ } रतनगढ़ (बीकानेर) }

हनुमानप्रसादपोद्दार

श्रीआनन्दमयी माकी वाणी

बाहरके कर्मोंसे अभावकी निवृत्ति नहीं होती। ये सब तो हैं ही अभावके कर्म। अभावके कर्मोंका स्वभाव ही है सदा-सर्वदा अभावको जगाये रखना। इसीलिये स्वभावके कर्म करने चाहिये। ऐसा बन्धन करना चाहिये जिससे सारे बन्धन टूट जायँ। बाहरकी दृष्टि, बाहरके भाव कम करके अन्तर्मुखी हो जाना चाहिये। × ×

तुमको खाना-पहनना, लड़के-बच्चोंका प्यार करना अच्छा लगता है। सदा याद रखना 'इस अच्छे लगनेमें तुम्हारी शक्तिका क्षय होता है।' भोग ही शक्तिक्षय है। × ×

भोगमें रहनेसे भगवान्‌में पृथक् बुद्धि होना स्वाभाविक है। विचार करो—ये सब पहननेपर फट जाते हैं, खानेपर फिर खानेकी इच्छा होती है, तब इनसे क्या काम है ? × ×

बहिर्मुखी भावका ही फल है—समस्त दुःख, अशान्ति आदि। इस बातको याद रक्खो और अन्तर्मुखी सहायक कर्मोंके लिये चेष्टा करो। × × ×

सङ्कीर्तन और वर्तमान सङ्कट

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी, बी० ए०)

इस सङ्कट-समयमें सभी भारतवासियोंके चित्त बहुत चिन्तातुर हो रहे हैं। लोगोंको रक्षाके उपाय नहीं दीख रहे हैं। ऊँचे लोकोंमें यही उपदेश मिलता है कि जिनको इस सङ्कटसे बचना हो उन्हें प्रतिदिन अपने घर या मुहल्लेमें नियमित रूपसे श्रद्धापूर्वक नाम-सङ्कीर्तन करना चाहिये। यह भी आदेश मिलता है कि इस बातका अच्छीतरह प्रचार करना चाहिये।

सङ्कीर्तनमें भगवान्‌का साक्षात्कार होना सम्भव है। इसके सिवा और भी बहुत-सी क्रियाएँ हो सकती हैं या होती देखी गयी हैं—जैसे नाडीशुद्धि, अन्तःशुद्धि, बुरे प्रारब्धका क्षीण होना इत्यादि। जो श्रद्धा-विश्वासके साथ नित्य कीर्तन करते हैं उनकी खास प्रकारसे देवतागण रक्षा करते हैं। हमारी भक्तिसे और लोगोंका भी कल्याण होता है। जब अच्छी तरह जमकर गाढ़ भक्तियुक्त कीर्तन होता है तब देव और महर्षिगण उस भक्तिको जगत्कल्याणके लिये बाहर भेजते हुए भी देखे जाते हैं। कलिसन्तरणोपनिषद्‌में 'हरे राम हरे राम०' १६ नामवाले महामन्त्रको कलिपापनाशके लिये सर्वोत्तम उपाय कहा है। संन्यास-उपनिषद्‌में कहा है—

सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते।
तारं द्वादशसाहस्रं समभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥१०३॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥१०४॥

जब पापोंका उदय हो तब १२००० प्रणवका जप करनेसे वह पापसंघात कट जायगा। जो बारह हजार प्रणव प्रतिदिन जपता है उसके लिये १२ मासमें परब्रह्म प्रकट होता है। प्रणवसे भगवान्‌का नाम ही समझना चाहिये। योगसूत्रमें भी प्रणव अर्थात् ईश्वरनाम-के जपसे ईश्वरकी चेतना आनेके सिवा सब प्रकारकी व्याधियोंका नाश होना बतलाया है। जब कीर्तनका इतना माहात्म्य है तो जो लोग और लोगोंको कीर्तन करनेमें लगावेंगे, उनको भी बहुत भारी पुण्य होगा। कीर्तनको नियत समयपर करना ही अच्छा होता है क्योंकि नियत समय रहनेसे देवगणोंको आनेमें भी सुविधा होती है। कीर्तनमें परमप्रेमका आविर्भाव होना चाहिये। कीर्तन मुस्लिम भाई भी अपनी विधिसे कर सकते हैं। उसमें भी ईश्वर-नाम आता है और कल्याण-कारी क्रियाएँ होती हैं। वे सङ्कीर्तनको 'ज़िक्र' कहते हैं।

भयहारी भगवान्‌का नाम

यत्र गोविन्दनामानि भयहारीणि सर्वदा।
कलिं दोषनिधिं चापि पूजयन्ति सतां गणाः।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोपलभ्यते॥
अश्वमेधादितुल्यन्तु नाम यत्र हरेर्मतम्।
सर्वप्रायश्चित्तरूपं परमं कर्णरोचनम्॥ (बृहद्धर्मपुराण)

कलियुगमें भगवान्‌का नाम सदा-सर्वदा भयका नाश करता है। इसीलिये दोषोंका भण्डार होनेपर भी सत्पुरुष इस कलियुगका सम्मान करते हैं। कलियुगमें एकमात्र हरिसङ्कीर्तनसे ही—सारे मनोरथोंकी प्राप्ति हो जाती है। कलियुगमें हरिनाम अश्वमेधादि यज्ञोंके समान है, सारे पापोंका प्रायश्चित्तरूप है और कानोंको बड़ा ही सुख देनेवाला है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

पाचन और परिपुष्टि

केशव—पिताजी ! मुन्नी बहनके पेटमें दर्द है और बार-बार दस्त लगते हैं । माताजी कहती हैं कि उसे अपच हो गया है ।

पिता—खाने-पीनेमें लापरवाही की होगी, इसीसे हो गया होगा । आज कुछ न खायेगी तो ठीक हो जायगा।

केशव—किन्तु यह अपच है क्या चीज ?

पिता—बात यह है कि जब कभी हम केवल स्वादके लोभमें पड़कर कुछ ऐसी चीजें खा लिया करते हैं, जिनकी उस समय हमें कोई आवश्यकता नहीं रहती या जो जल्दी पच नहीं सकतीं, अथवा जब कभी हम आवश्यकतासे अधिक भोजन कर लेते हैं या भोजनको बिना अच्छी तरह चबाये ही जल्दी-जल्दी निगल जाया करते हैं, तो हमारे अंदर भोजन पचानेकी जो मशीनें हैं वह उस भोजनको पचानेमें असमर्थ हो जाया करती हैं। निदान वह भोजन हमारे शरीरके काममें न आकर सड़ने लग जाता है, जिससे हमारे अंदर भाँति-भाँतिके उपद्रव पैदा हो जाते हैं—जैसे पेट फूलना, पेटमें दर्द, छातीमें जलन, खट्टी डकार, बारंबार दस्त इत्यादि । इन्हीं सब उपद्रवोंको हम अपचके नामसे पुकारते हैं ।

केशव—अच्छा तो भोजन हमारे शरीरमें पचता कैसे है ?

पिता—यह उस सर्वशक्तिमान् परमात्माकी अलौकिक कारीगरीका एक अद्भुत उदाहरण है । हमारी खायी हुई रोटी, पूरी, फल, मेवे, पकान्न और मिठाइयाँ किस प्रकार अंदर जाकर निर्जीव होती हुई भी सजीव रक्त, मांस और हड्डियोंके रूपमें बदल जाती हैं—यह एक बड़ी मनोरञ्जक कहानी है । बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने इसे जाननेके लिये बड़ी-बड़ी खोजें की हैं और अपना सारा-का-सारा जीवन उसीमें खपा दिया है । बड़े होनेपर तुम उनकी लिखी हुई किताबें स्वयं पढ़ सकते हो । यहाँ अभी हम उनके आधारपर केवल कुछ मुख्य-मुख्य बातें ही तुम्हें बतला देंगे ।

केशव—बतलाइये, मैं ध्यानसे सुन रहा हूँ ।

पिता—अच्छा, तुम यह तो जानते ही होगे कि हमारे मकानकी यह दीवार किस-किस चीजसे मिलकर बनी है ।

केशव—जी हाँ, ईंटोंको चूनेसे जोड़-जोड़कर बनायी गयी है ।

पिता—हाँ, ठीक है । उसी प्रकार हमारा शरीर भी अत्यन्त नन्ही-नन्ही ईंटोंको जोड़कर बनाया गया है । हमारे शरीरकी ईंटें इतनी सूक्ष्म हैं कि बिना अणुवीक्षण-यन्त्रके देखी नहीं जा सकतीं । ये ईंटें कई आकारकी होती हैं—कोई छोटी, कोई लंबी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई चिपटी और कोई उभरी हुई । दीवारकी ईंटोंसे हमारे शरीरकी ईंटोंमें एक बहुत बड़ा अन्तर यह भी है कि दीवारकी ईंटें निर्जीव होती हैं और हमारे शरीरकी ईंटें सजीव होती हैं तथा इनमें अपना-अपना काम करनेकी समझ भी होती है । विद्वानोंने इन ईंटोंका नाम 'सेल' (Cell) या 'कोषाणु' रक्खा है । इन्हीं कोषाणुओंके बढ़ने और पुष्ट होनेसे हमारा शरीर बढ़ता और पुष्ट होता है । और इन्हींके क्षीण होनेसे हमारा शरीर क्षीण तथा दुर्बल हो जाता है । अस्तु, जिन-जिन तत्त्वोंसे ये कोषाणु बने हैं और जिनसे ये कायम रह सकते हैं उन्हींको समय-समयपर आवश्यकतानुसार शरीरमें

पहुँचाते रहना हमारे भोजनका एकमात्र उद्देश्य है।

केशव–किन-किन तत्त्वोंसे ये कोषाणु बने हैं ?

पिता–ये कोषाणु प्रायः सोलह प्रकारके मूलतत्त्वोंसे बने पाये जाते हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) कार्बन, (२) नत्रजन, (३) हाइड्रोजन, (४) आक्सीजन, (५) गंधक, (६) फास्फोरस, (७) सोडियम, (८) पोटाशियम, (९) कैल्शियम, (१०) मैग्नीशियम, (११) लीथियम, (१२) फ्लोरीन, (१३) क्लोरीन, (१४) आयोडीन, (१५) सिलाकन तथा (१६) लोहा। इनमेंसे प्रथम चार तत्त्व हमारे मांसके कोषाणुओं-को बनाने और बढ़ानेका काम करते हैं। उन चारोंके रासायनिक मेलसे एक यौगिक पदार्थ बन जाता है, जिसे अंग्रेजीमें 'प्रोटीन' कहते हैं। हम उसे 'मांस-पोषक पदार्थ' कह सकते हैं, क्योंकि उसके द्वारा हमारे मांसकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है। शेष बारह तत्त्व हमारे अंदर रक्त, हड्डी तथा शरीरके अन्य भागोंको बनानेमें काम आते हैं। इनके भी अलग-अलग मेलोंसे अलग-अलग यौगिक रूप बना करते हैं, जिन्हें विद्वानोंने चार श्रेणियों-में बाँटकर रक्खा है। उनके नाम हैं—(१) चिकनाईवाले या वसाजातीय पदार्थ (Fat); (२) कर्बोज या माड़ीकी जातिवाले पदार्थ (Carbo-hydrates); (३) खनिज पदार्थ जिनमें कई प्रकारके क्षार या नमक शामिल हैं और (४) जल।

केशव–तो क्या यही सब चीजें हमारे भोजनमें भी पायी जाती हैं।

पिता–हाँ, अलग-अलग खानेकी चीजोंमें ये पदार्थ अलग-अलग मात्रामें मौजूद रहते हैं—जैसे दूधका छेना, दही, खोआ, मटर, सेमके बीज, मूँग, उड़द, अरहर तथा सोयाबीन आदिमें प्रोटीनकी मात्रा अधिक होती है; घी, तेल और मक्खन आदिमें वसाजातीय पदार्थ अधिक होता है; आलू, चावल, चीनी, साबूदाना और अरारोट आदिमें कर्बोज अर्थात् माड़ीवाले पदार्थकी अधिकता रहती है; इसी प्रकार शाक और हरी तरकारियोंमें खनिज पदार्थ अधिक होते हैं और जल तो स्वयं अपने असली ही रूपमें पिया जाता है तथा ताजे फल, शाक एवं दूधसे भी वह पर्याप्त मात्रामें मिल सकता है। इनके अतिरिक्त एक प्रकारकी चीज और है, जिसका हमारे भोजनमें होना बहुत जरूरी है और जिसके बिना हमारे शरीरका काम नहीं चल सकता।

केशव–वह क्या है ?

पिता–उसे अंग्रेजीमें 'विटामिन' (Vitamin) कहते हैं। हिंदीमें हम उसे 'प्राण-पोषक तत्त्व' के नामसे पुकार सकते हैं। जिस प्रकार ईंट, गारा, लोहा, लकड़ी सब मौजूद रहते हुए भी बिना मिस्त्री, मजदूर और राजगीरोंके कोई मकान नहीं खड़ा किया जा सकता, उसी प्रकार शरीरमें भोजनद्वारा सम्पूर्ण आवश्यक तत्त्वोंके पहुँच जानेपर भी बिना इन विटामिनोंके उनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। आगे चलकर किसी दिन जब हम तुम्हें उचित खान-पान और उसकी व्यवस्थाके विषयमें अलग समझायेंगे, तब इन विटामिनोंका भी हाल अधिक विस्तारसे बतला देंगे। अभी यहाँ तुम इतना ही समझ लो कि ये विटामिन भिन्न-भिन्न खाद्य-वस्तुओंमें अबतक कुल छः प्रकारके पाये गये हैं और इनके अभावमें शरीरकी बाढ़ बिल्कुल रुक जाती है तथा उसमें कई प्रकारके रोग भी पैदा हो जाते हैं। इनकी उपस्थिति वस्तुओंकी ताजी और स्वाभाविक अवस्थामें ही सबसे ज्यादा पायी जाती है; किन्तु आगमें गरम करने, सुखाने या मसाला लगानेसे ये या तो बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं या अधिकतर कमजोर पड़ जाते हैं। अस्तु, अब तुम्हें मालूम हो

गया कि शरीरके सम्पूर्ण तत्त्व भोजन-सामग्रीमें मौजूद रहते हैं और भोजनसे ही हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

केशव—जी हाँ, परन्तु शरीर उन्हें किस प्रकार भोजनसे अलग करके प्राप्त करता है और किस प्रकार उन्हें अपनेमें मिला लेता है—यह अभी नहीं समझा।

पिता—हाँ, वही तो अब तुम्हें बतलाने जा रहा हूँ। जिस ढंगसे शरीर भोजनमेंसे आवश्यक तत्त्वोंको लेकर अपनेमें मिला लेता है, उसे 'पाचन-क्रिया' कहते हैं। यह पाचन-क्रिया हमारे शरीरमें कुछ विशेष प्रकारकी मशीनोंद्वारा की जाती है, जो हमारे भोजनको अच्छी तरह कुचलकर, दल-मलकर तथा उसमें अपने पाससे कई प्रकारके रसोंको मिलाकर ऐसा कर देती हैं कि भोजनका उपयोगी भाग तो अलग होकर अंदरकी दीवारोंमें सोख जाता है तथा खूनमें मिल जाता है तथा उसका अनुपयोगी और बेकार भाग मलके रास्ते बाहर निकल जाता है। जो भाग खूनमें पहुँचता है, उसका एक बार फिरसे पाचन होता है और तब वह शरीरमें बँटकर जहाँ जिस तत्त्वकी जरूरत होती है वहाँ जाकर मिल जाता है और शरीरको बनाने, कायम रखने या बढ़ानेका काम किया करता है।

केशव—अच्छा, तो ये भोजन पचानेवाली मशीनें कैसी हैं और किस प्रकार इनका काम होता है—जरा इसे भी बतला दीजिये।

पिता—सबसे पहली मशीन तो हमारा मुख ही है, जो हमारे भोजनके लिये भीतर जानेका बाहरी फाटक है। यहाँ दाँतोंकी दो पंक्तियाँ ऊपर और नीचेके जबड़ोंमें हीरेके टुकड़ोंके समान जड़ी हुई हैं। इनकी संख्या एक पूरी आयुवाले मनुष्यके मुँहमें बत्तीस होती है—सोलह ऊपर और सोलह नीचे। किन्तु आरम्भमें ये केवल बीस ही निकलते हैं, जो 'दूधके दाँत' कहलाते हैं। जिस समय बच्चा छः महीनेका होता है, उसी समयसे ये दूधके दाँत उगने लगते हैं। और छः वर्षकी अवस्थातक पूरे बीस दाँत निकल आते हैं। बादमें ये गिरने लगते हैं और इनकी जगहपर नये और स्थायी दाँत निकलते हैं, जिनकी संख्या बत्तीस होती है। ये सब दाँत अठारह वर्षकी अवस्थातक पूरी तौरसे निकल आते हैं और उसी समयसे मनुष्य वयस्क या बालिग समझा जाने लगता है। हमारे स्वास्थ्यके लिये मुँहमें मजबूत और स्वस्थ दाँतोंका होना बहुत जरूरी है। इनसे न केवल हमारे मुँहकी शोभा ही रहती है, बल्कि भोजनको कुचलने और पचने योग्य बनानेमें भी ये बड़े जरूरी औजार हैं। ज्यों ही भोजनका कौर हमारे मुँहमें पहुँचता है, त्यों ही वह दाँतोंकी चक्कीमें पिसने लगता है। और जीभ भी उसे बराबर उलटती-पलटती रहती है तथा उसमें मुखका रस मिला-मिलाकर दाँतोंके नीचे ढकेलती रहती है, जिससे प्रत्येक ग्रास अच्छी तरह पिसकर चूर्ण हो जाता है और मुखके रसमें सन जाता है।

केशव—मुखमें रस कहाँसे आ जाता है?

पिता—यह रस वही है, जिसे हम 'थूक' या 'लार' कहते हैं। हमारे मुँहके भीतर दीवारोंमें ढकी हुई छः नन्ही-नन्ही ग्रन्थियाँ रहा करती हैं—तीन दाहिनी ओर और तीन बायीं ओर। यह रस उन्हींमेंसे बन-बनकर निकला करता है। तुम जानते हो कि तुम्हारा मुँह भीतरसे हर समय गीला ही रहता है, क्योंकि थोड़ा-थोड़ा रस इन ग्रन्थियोंसे हर समय ही निकला करता है। किन्तु भोजनके समय यह रस-प्रवाह और तेज हो जाता है, जिससे भोजन उसमें अच्छी तरह सन सके। अच्छी तरह

चबाकर खानेमें एक समयके भोजनमें क़रीब पावभर या डेढ़ पाव रस इन ग्रन्थियोंसे निकलता है।

केशव—इससे लाभ क्या है ?

पिता—यह एक प्रकारका पाचक रस है, जिससे मिलकर भोजनका कर्बोज (Carbo-hydrates) अर्थात् माड़ीवाला अंश शर्कराके रूपमें बदल जाता है और उसके साथ घुलकर मुँहमें ही पचने योग्य बन जाता है। बिना इस रसके मिले भोजनका यह अंश हमारे शरीरमें किसी प्रकार नहीं पच सकता और अपच रोगका कारण बनता है। यही कारण है कि जो लोग भोजनको बिना अच्छी तरह चबाये जल्दी-जल्दी निगल जाया करते हैं, वे बहुधा अपच और वायुकी शिकायतोंसे दुखी रहा करते हैं; और यदि अपच न हो तो भी ऐसे लोगोंका शरीर अपने भोजनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकता। प्रायः देखा जाता है कि ऐसे लोग भोजन तो दूसरोंकी अपेक्षा बहुत अधिक किया करते हैं, किन्तु भीतरसे उन्हें न तो तृप्ति होती है और न शरीरमें कोई स्फूर्ति या शक्ति ही दिखायी देती है। बात यह है कि अच्छी तरह कुचल-कुचलकर न खानेसे मुँहका रस भलीभाँति भोजनमें नहीं मिल सकता, जिससे उसका बहुत-सा अंश अनपचा ही रह जाता है और अनपचा ही वह मलके रास्ते बाहर निकल जाया करता है। शरीरकी आवश्यकता पूरी नहीं होती। अतएव जी भी नहीं भरता और सुस्ती तथा आलस्य घेरे रहते हैं। अस्तु, भोजनके भलीभाँति पचने और उससे पूरी-पूरी शक्ति प्राप्त करनेके लिये हर एक ग्रासको अच्छी तरह चबाना और उसमें मुँहकी लारको मिलने देना उपयोगी ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी है। कदाचित् इस बड़ी आवश्यकताको समझकर ही प्रकृतिने कुछ ऐसा प्रबन्ध किया है कि भूख लगनेपर आहारको देखते ही, बल्कि स्वादिष्ठ पदार्थोंका ध्यान करते ही, मुँहमें पानी भर आता है। लारके मिलनेसे दूसरा लाभ यह भी है कि ग्रासको चबाने और गलेके नीचे उतारनेमें आसानी पड़ती है।

केशव—अच्छा फिर क्या होता है ?

पिता—जब ग्रास दाँतोंके द्वारा अच्छी तरह पिस जाता है और मुखके रसमें सन जाता है, तब वह गलेके अंदर एक नलीमें निगल लिया जाता है, जो उसे तुरंत पेटमें उतार देती है। यह नली 'भोजनकी नली' कहलाती है। इसके अतिरिक्त इसीसे सटी हुई सामनेकी तरफ़ एक दूसरी नली भी होती है, जो 'वायु-नली' कहलाती है और जिसके द्वारा श्वासकी हवा नाकसे होकर फेफड़ोंके अंदर जाया-आया करती है। इन दोनों नलियोंका मुँह आकर गलेके अंदर खुलता है; किन्तु फिर भी यह ईश्वरकी कारीगरीका एक अद्भुत चमत्कार है कि जो भोजन या पानी हम गलेके अंदर निगलते हैं, वह सदैव भोजनकी नलीमें ही जाता है, वायुकी नलीमें नहीं जाता। यदि कहीं वह 'वायुकी नली' में चला जाय तो उसी क्षण हमारा दम घुट जाय और हम मर जायँ।

केशव—अच्छा तो इसमें तर्कीब क्या की गयी है ?

पिता—तर्कीब बहुत बढ़िया है। वायु-नलीके मुँहपर एक ऐसा ढक्कन लगा रहता है, जो हर समय तो खुला रहता है, किन्तु ज्यों ही हम कोई ग्रास गलेके अंदर घुटकने लगते हैं, त्यों ही वह दबकर बंद हो जाता है और भोजनका ग्रास ढक्कनपरसे होता हुआ पीछेकी ओर भोजनकी नलीमें गिर पड़ता है। इसके पश्चात् वह ढकन फिर उछलकर पहलेकी तरह ऊपरको उठ जाता है, जिससे वायु-नलीका मुँह खुल जाता है और

श्वासकी हवा फेफड़ोंमें फिर पूर्ववत् आने-जाने लगती है। कभी-कभी खानेके समय बोलते-बोलते या हँसते-हँसते ग्रासका कोई टुकड़ा वायु-नलीमें भी चला जाया करता है। उस समय हमको तत्काल धाँस चढ़ जाती है और ज़ोर-ज़ोरसे खाँसी आने लगती है, जिससे वह टुकड़ा वायु-नलीसे निकलकर फिर ऊपरको आ जाय। जबतक वह ऊपरको नहीं आता, तबतक हमारी खाँसी भी नहीं बंद होती और हमारा दम घुटता हुआ-सा जान पड़ता है।

केशव–सचमुच तर्कीब तो बहुत ही बढ़िया है। ईश्वरकी कारीगरी हर जगह अनोखी ही दिखायी देती है। अच्छा तो निगलनेके बाद भोजनका ग्रास पेटमें चला जाता है?

पिता–हाँ, दाँतोंके नीचे कुचलकर और मुँहके रससे पतला बनकर भोजनका ग्रास जब निगल लिया जाता है, तब वह भोजनकी नलीसे होता हुआ नीचे पेटमें उतर जाता है। भोजनकी नली लगभग दस इंच लंबी होती है और नीचे पेटकी थैलीके मुँहसे जुड़ी रहती है। पेटकी यह थैली, जो उदर, आमाशय या पाकस्थलीके नामसे भी प्रसिद्ध है, आकारमें बहुत कुछ मशकसे मिलती हुई जान पड़ती है और पेडूके ऊपर कुछ बायीं ओरको लेटी हुई-सी पड़ी रहती है। यह थैली रबड़के गुब्बारेकी तरह बिल्कुल लचीली हुआ करती है, जिससे ज्यों-ज्यों भोजन इसमें पहुँचता जाता है त्यों-त्यों उसका आकार भी बढ़ता जाता है, और खाली होनेपर वह पिचककर छोटा हो जाता है। तुम्हें सुनकर अचंभा होगा कि एक बार डाक्टरोंने एक आदमीके पेटमें भोजन पचते हुए स्वयं अपनी आँखोंसे देखा था।

केशव–यह कैसे?

पिता–बात यह है कि करीब डेढ़ सौ वर्ष हुए कनाडामें एक आदमी (Alexis St. Martin नामक) की बायीं कोखमें अकस्मात् एक गोली लग गयी थी। कुछ दिनोंके इलाजसे वह अच्छा तो हो गया, परन्तु गोलीका छेद ज्यों-का-त्यों खुला ही रहा, बंद नहीं हुआ। अतएव भीतरकी चीज़ें देखनेके लिये वह छेद एक खिड़कीका काम देने लगा। डाक्टरोंने उसके भीतर झाँक-झाँककर बहुत दिनोंतक पाकस्थलीकी जाँच की और उसके अंदर भोजन पचनेका काम अपनी आँखोंसे देखा।

केशव–अच्छा तो उन्हें क्या दिखायी दिया?

पिता–उन्होंने देखा कि पाकस्थलीमें भोजन पहुँचते ही उसकी भीतरी दीवारोंमें एक प्रकारकी गति आरम्भ हो जाती है, जिससे तमाम खाया हुआ भोजन उसके अंदर घूम-घूमकर मथने लग जाता है। साथ ही पाकस्थलीकी दीवारसे एक प्रकारका बहुत-सा खट्टा रस (Gastric juice) भी छूटने लगता है, जो भोजनके साथ-साथ अच्छी तरह सनता जाता है। यह रस हज़ारों नन्ही-नन्ही ग्रन्थियोंसे निकलता है, जो पाकस्थलीकी दीवारमें चारों ओर झिल्लीके नीचे ढँकी रहती हैं। इधर यह होता है और उधर भोजनमें जो माड़ीजाति-वाला भाग मुँहकी लारमें मिलकर चीनी (Glucose) के रूपमें बदल जाता है, वह यहाँ आकर अन्तिम रूपमें पचता रहता है। जब पाकस्थलीका खट्टा रस काफ़ी मात्रामें निकल चुकता है, तब भोजनका प्रोटीनवाला अंश भी पचने लग जाता है। इस रसमें मुख्यतः तीन प्रकारकी चीजें पायी जाती हैं—(१) जामन (Renin), (२) पचाइन (Pepsin) और (३) नमकका तेज़ाब (Hydrochloric acid)। नमकके तेज़ाबके कारण ही यह रस खट्टा होता है और अपच रोगमें जो खट्टी-खट्टी डकारें आया करती हैं, वह भी

इसीके कारण खट्टी हुआ करती हैं। यह रस प्रोटीनको एक घुलने योग्य रूप (Peptone) में बदल देता है, जिससे वह पतली पड़ जाती है और फिर उसका कुछ अंश पेटकी दीवारोंमें सोखकर खूनके साथ मिल जाता है। बाकी बचा हुआ अंश भोजनके अन्य भागोंके साथ खूब मथ जानेके बाद मुलायम और पतला होकर पाकस्थलीके दूसरे द्वारसे अँतड़ियोंमें चला जाता है। डाक्टरोंने यह भी देखा कि जब कभी वह आदमी कोई ऐसी चीजें खा लेता था, जो आसानीसे न पच सकती थीं अथवा हानिकारक होती थीं, तो उसके पेटकी भीतरी दीवारें अत्यन्त प्रदाहित हो उठती थीं और सुर्ख पड़ जाती थीं। पाकस्थलीका जो दूसरा द्वार अँतड़ियोंकी तरफ़ है, वह भी ईश्वरकी कारीगरीका एक अद्भुत नमूना है।

केशव—सो कैसे ?

पिता—यह दरवाजा ऐसा है कि जबतक पाकस्थलीकी क्रिया भोजनपर पूरी तौरसे समाप्त न हो जाय, तबतक वह भोजनको अँतड़ियोंमें नहीं घुसने देता, बल्कि उन्हें पाकस्थलीमें ही वापस फेंक देता है। किन्तु जब पाकस्थलीका काम पूरा हो चुकता है और भोजनका जितना भाग वहाँ पचना चाहिये पच चुकता है तब यह दरवाजा स्वयं खुल जाता है, और उस अधपचे मुलायम भोजनको अँतड़ियोंके अंदर जाने देता है। अब तुम्हीं सोचो कि यदि कोई मिस्त्री हमारे मकानमें ऐसे दरवाजे बना दे, जो केवल उन्हीं लोगोंको अंदर जाने दे जिन्हें जाना उचित है, और बाकी सब लोगोंको बाहर ही रक्खे, तो तुम उस मिस्त्रीको कैसा कारीगर समझोगे ?

केशव—दुनियामें उसे बेजोड़ कारीगर समझूँगा। निस्सन्देह ईश्वरकी कारीगरी हर बातमें बेजोड़ ही दिखायी देती है यह मैं समझ रहा हूँ। अच्छा, पिताजी, ये अँतड़ियाँ क्या चीज हैं और इनके अंदर भोजनका क्या होता है ?

पिता—ये अँतड़ियाँ एक बहुत लंबी गली हैं, जिनके भीतरसे होकर हमारा भोजन अपनी अन्तिम यात्रा समाप्त करता है। लगभग नौ गज लंबे ट्यूब या नलके रूपमें ये हमारी पाकस्थलीके नीचे पड़ी रहती हैं। इनके दो भाग होते हैं—एक 'क्षुद्रान्त्र' या छोटी आँत और दूसरा 'बृहदन्त्र या बड़ी आँत। क्षुद्रान्त्रकी लंबाई करीब सात गज अर्थात् २१ या २२ फुट होती है और बृहदन्त्रकी लंबाई लगभग ५ फुट होती है। किन्तु बृहदन्त्रकी नली क्षुद्रान्त्रकी नलीसे चौड़ाईमें ज्यादा होती है, इसीसे वह बड़ी आँत और क्षुद्रान्त्र छोटी आँत कहलाती है। पाकस्थलीका अधपचा भोजन क्षुद्रान्त्र अर्थात् छोटी आँतमें ही जाता है। यह आँत सात गज लंबी होती हुई भी इस प्रकार गुड़री मारे लपेटी पड़ी रहती है कि बहुत थोड़ी जगहमें आ जाती है। भोजनका वह सम्पूर्ण भाग जो पाकस्थलीमें नहीं पच सकता या अधपचा रह जाता है, यहीं आकर पचता है।

केशव—यहाँ वह कैसे पचता है ?

पिता—पाकस्थलीसे निकलकर भोजनको क्षुद्रान्त्रमें क़रीब २२ फ़ीट लंबी यात्रा करनी पड़ती है। इस बीचमें उसके साथ तीन प्रकारके रसोंका मेल होता है और साथ ही वह फिरसे अच्छी तरह मथा भी जाता है, जिससे उसका रहा-सहा सम्पूर्ण उपयोगी अंश भी घुलकर पच जाता है।

केशव—उसमें ये तीन प्रकारके रस कौन-कौन-से मिलते हैं ?

पिता—पहला रस तो क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारोंसे ही निकला करता है। जिस प्रकार मुख और पाकस्थलीकी दीवारोंमें छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ रहती हैं, उसी प्रकार क्षुद्रान्त्रमें भी होती हैं और उन्हींमेंसे यह रस छूटता रहता है। इसे हम 'आन्त्रिक' रस कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त दो प्रकारके और रस यहाँ बाहरसे भी आकर मिलते हैं, जिनके नाम हैं—(१) पित्तरस और (२) क्लोमरस।

केशव—ये रस कहाँसे आते हैं ?

पिता—इनमेंसे पित्तरस तो हमारे यकृत (अर्थात् जिगर) नामक ग्रन्थिसे बनकर आता है और क्लोमरस क्लोम ग्रन्थिसे बनकर आता है। ये दोनों ही ग्रन्थियाँ हमारी अँतड़ियोंसे बाहर रहती हैं और अपना-अपना रस स्वतन्त्ररूपसे तैयार किया करती हैं। यकृतका स्थान तो हमारी दाहिनी अन्तिम पसुलियोंके नीचे है और यह हमारे शरीरकी सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसका आकार लगभग ९ या १० इंचतक लंबाईमें होता है और इसीके साथ एक अमरूदकी आकृतिवाली थैली भी लगी रहती है जिसे 'पित्ताशय' (Gall-bladder) कहते हैं। जो कुछ पित्तरस यकृतमें तैयार होता है, वह सब आकर इसी थैलीमें भर जाता है और फिर यहींसे एक नलीद्वारा आवश्यकता पड़नेपर क्षुद्रान्त्रमें जाता है। पित्तका रस कुछ पीलापन लिये हुए हरे रंगका होता है। इसमें कई प्रकारके नमक और दो प्रकारके रंग घुले रहते हैं। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय और स्वाद कड़ुआ हुआ करता है। क्लोम-ग्रन्थि हमारी पाकस्थली (अर्थात् पेट) के पीछेकी तरफ नीचेकी ओर रहती है। इसकी लंबाई ५ या ६ इंच और तौल एक या डेढ़ छटाँकतक होती है। इसमेंसे जो रस बनकर निकलता है वह स्वच्छ वर्णवाला, पतला और क्षारीय होता है। क्षुद्रान्त्रमें भोजन एक फुट भी आगे बढ़ने नहीं पाता, कि उसमें पित्त और क्लोम दोनों ही प्रकारके रस आकर मिल जाते हैं।

केशव—फिर क्या होता है ?

पिता—बस, फिर इन दोनों रसोंमें सना हुआ भोजन क्षुद्रान्त्रमें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है वैसे-ही-वैसे वह आँतकी दीवारोंकी गतिसे खूब मथता जाता है। यह गति केचुआ या जोंककी चालसे बहुत कुछ मिलती जुलती है, अर्थात् पीछेसे फूलकर लहरकी तरह आगेकी ओरको ढकेलती आती है, जिससे भोजन मथनेके साथ-साथ आगेको सरकता जाता है। पेटके रसकी जो खटास उसमें मौजूद रहती है, वह इन दोनों रसोंके खारेपनके कारण दूर हो जाती है और साथ ही उसमें क्षुद्रान्त्रकी भीतरी ग्रन्थियोंका रस भी मिलता जाता है। इस प्रकार ये तीनों रस हमारे भोजनके सम्पूर्ण शरीरोपयोगी अंश—अर्थात् प्रोटीन, लवण, वसा और कर्बोज—को अच्छी तरह घुलाकर हमारे शरीरमें प्रवेश करने योग्य बना देते हैं। वसा अर्थात् चिकनाईवाले पदार्थको पचानेके लिये पित्तरस मुख्यरूपसे काम आता है और इसीलिये घी, मक्खन, तेल आदिका पाचन क्षुद्रान्त्रमें ही आकर होता है। पित्तके संयोगसे ये चीजें एक दूधिया रंगके घोल (या साबुनके घोल) में बदल जाती हैं और तब वे शरीरके ग्रहण करने योग्य होती हैं। जिन लोगोंका यकृत ठीक-ठीक नहीं काम करता और पित्तका रस यथोचित मात्रामें नहीं बनता, उनके शरीरमें चिकनाई-वाले पदार्थोंका पाचन भी नहीं होता—जिससे वे शरीरके बाहर (मलके साथ) अनपचे ही रूपमें निकल जाया करते हैं और शरीर दुर्बल बना रहता है। लवणजातीय भाग और जलको पचानेमें किसी सहायता-की जरूरत नहीं पड़ती। वे ज्यों-के-त्यों शरीरमें ग्रहण कर लिये जाते हैं। प्रोटीनका कुछ अंश पेटमें पचता है और बाकी क्षुद्रान्त्रमें। कर्बोज या माड़ीवाले भागका पाचन भी, जो मुखके रससे नहीं हो पाता, वह क्षुद्रान्त्रमें आकर और क्लोमरसके साथ मिलकर हो जाता है। इस प्रकार भोजनका सम्पूर्ण उपयोगी भाग क्षुद्रान्त्रमें पचकर शरीरमें ग्रहण कर लिया जाता है और बाकी अनपचा तथा अनुपयोगी भाग, जो खुज्जीके रूपमें बच रहता है, बड़ी आँतमें

चला जाता है और वहींसे मलके रास्ते बाहर निकल जाता है। छोटी आँत और बड़ी आँतके बीचमें एक दरवाजा होता है, जो चूहेदानीके द्वारके समान केवल एक ही ओरको अर्थात् बड़ी आँतकी ही तरफ खुल सकता है। अतएव इस द्वारसे छोटी आँतकी चीजें बड़ी आँतमें तो चली जाती हैं किन्तु बड़ी आँतकी कोई वस्तु छोटी आँतमें वापस नहीं आ सकती। बड़ी आँत दाहिनी ओरकी कोखके पाससे आरम्भ होकर पहले ऊपरकी ओर जाती है और फिर बायीं ओरको घूमकर छोटी आँतको घेरेमें डालती हुई नीचे आकर मलद्वारमें खुलती है। बड़ी आँतको हम 'मल-भाण्ड' भी कह सकते हैं, क्योंकि यही स्थान मल या विष्ठाके एकत्रित होनेकी जगह है। जबतक मलद्वारसे मल बाहर नहीं निकल जाता, तबतक वह यहीं जमा होता रहता है। इस प्रकार मुखसे लेकर बड़ी आँततक पहुँचनेमें हमारे भोजनको क़रीब १५ से लेकर १८ घंटेतकका समय लग जाता है, अर्थात् ५ या ६ घंटे तो उसे पेटमें रहना पड़ता है और दस या बारह घंटे क्षुद्रान्त्रकी २२ फीट लंबी यात्रामें लग जाते हैं।

केशव—अच्छा तो छोटी आँतसे भोजनके तमाम उपयोगी पदार्थोंको शरीर ग्रहण कैसे करता है?

पिता—भोजन जब ऊपर कहे हुए तीनों प्रकारके रसोंमें सनकर पतला पड़ जाता है और मथा जानेके कारण बिल्कुल चूर भी हो जाता है, तब क्षुद्रान्त्रकी दीवारोंमें उसके तमाम उपयोगी भाग सोख लिये जाते हैं। क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारें बिल्कुल चिकनी नहीं होतीं, बल्कि मखमलीरूपकी हुआ करती हैं। जिस प्रकार मखमलमें खूब घने और बारीक रोयें हुआ करते हैं, उसी प्रकार क्षुद्रान्त्रकी भीतरी दीवारोंमें भी हुआ करते हैं। ये रोयें अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और उनकी लंबाई $\frac{1}{30}$ इंचसे अधिक नहीं होती। दीवारोंमें ये इतने घने उगे रहते हैं कि नयी चालके (निकलवाले) एक अधन्नेके नीचे कम-से-कम पाँच सौ ऐसे रोयें आ सकते हैं। ये रोयें 'केशिका' (Villi) कहलाते हैं। क्योंकि ये केशों (अर्थात् बालों) की तरह बारीक होते हैं; किन्तु वास्तवमें ये रगें हैं, जो करोड़ोंकी संख्यामें दीवारसे जीभकी तरह निकली रहती हैं और भोजनके रसोंको चाटा या चूसा करती हैं। इनमेंसे कुछ केशिकाएँ (लिंफ केशिकाएँ) वसाजातीय रसोंको चूसती हैं और कुछ (रक्त-केशिकाएँ) प्रोटीन और शर्कराजातीय रसोंको। जल और लवणके रस तो दोनों ही प्रकारकी केशिकाओंमें पहुँचते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उपयोगी भाग न्हीं नन्ही-नन्ही जीभोंद्वारा चाट या चूस लिया जाता और फिर वह हमारे रक्तमें पहुँच जाता है।

केशव—रक्तमें पहुँचकर उसका क्या होता है?

पिता—रक्तमें उसका दोबारा पाचन होता है, जिसे हम 'आत्मीकरण'के नामसे पुकार सकते हैं। यह क्रिया आक्सीजन गैसकी सहायतासे होती है। उस दिन 'स्वच्छ वायु-सेवन' के विषयपर समझाते हुए मैंने तुम्हें बतलाया था कि हमारे शरीरके तत्त्व (अर्थात् कोषाणु) किस प्रकार प्रतिक्षण फूटते-टूटते और जल-जलकर भस्म होते रहते हैं और हमारे श्वासद्वारा ली हुई हवाका आक्सीजन ही उन्हें जला-जलाकर रक्तको साफ किया करता है। वास्तवमें आक्सीजन एक बड़ी तेज गैस होती है और उसमें कितने ही प्रकारकी चीजोंके साथ मिल जानेका गुण भी वर्तमान है। उदाहरणके तौरपर लोहेके साथ जब वह मिलती है तब लोहेको मुर्चेके रूपमें बदल देती है। इसी प्रकार कार्बनसे मिलकर उसे कार्बोनिक एसिड गैस बना देती है। इस कार्बनके साथ

आक्सीजनके मिलनेकी क्रियाको ही हम 'जलना' कहते हैं। वैज्ञानिक लोग उसीको 'औषदीकरण' के नामसे पुकारते हैं। कोयला भी मुख्यत: कार्बन होता है और इसके साथ जब (हवाके) आक्सीजन-का मेल होता है तभी वह जलने लगता है। किन्तु लोहेकी अपेक्षा कार्बनमें (आक्सीजनके मेलसे) तेजी ज़्यादा पैदा होती है। इसलिये उसमेंसे गरमी भी निकलने लगती है। और जो कार्बोनिक एसिड गैस पैदा होती है, वह धुएँके साथ निकल जाती है तथा राख बच रहती है। इसी प्रकार हमारे रक्तमें भी जो कुछ हिस्सा कार्बनका होता है, वह आक्सीजनके मेलसे जल जाता है और उससे जो कार्बोनिक एसिड गैस तथा राख बनती है, वह श्वासद्वारा बाहर निकल जाती है तथा जो गरमी पैदा होती है, वह हमारे शरीरमें बनी रहती है और हमें स्फूर्ति देती है। अस्तु, यहाँतक तो आक्सीजनकी जलानेवाली क्रिया हुई। अब देखो कि जो भोजनका उपयोगी अंश खिंच-खिंचकर क्षुद्रान्त्रसे हमारी शिराओंमें पहुँचता है, वह हमारे रक्तके साथ बहता हुआ हृदयके दाहिने भागमें जाता है। उसके साथ ही खूनमें शरीरके बहुत-से टूटे-फूटे कोषाणु भी रहा करते हैं। अतएव इन दोनों प्रकारकी चीज़ोंसे लदा हुआ खून जब हमारे हृदयमें पहुँचता है तो वह उसे फेफड़ोंमें फेंक देता है। फेफड़ोंमें श्वाससे आयी हुई हवाके आक्सीजनसे उसका मेल होता है, जिससे टूटे-फूटे कोषाणु भस्म हो जाते हैं। साथ ही हमारे भोजनके जो वसा और कर्बोज-जातिवाले भाग खूनमें मौजूद रहते हैं, वे भी मुख्यत: कार्बनसे बने हुए होनेके कारण आक्सीजनके मेलसे जल जाते हैं और इन सबके जलनेसे जो गरमी छूटती है, वह हमारे शरीरको गरम रखने तथा शक्ति देनेका काम करती है। प्रोटीन और लवणका अंश ज़्यादा जलता नहीं, बल्कि रक्तके साथ-ही-साथ शुद्ध हो जाता है और फिर उसीके साथ हृदयमें लौटकर शरीरभरमें चक्कर लगाता है तथा शरीरके टूटे-फूटे कोषाणुओंकी जगह पूरी करने और वहाँकी मरम्मत करनेके काम आता है। इस प्रकार तुम देखते हो कि तुम्हारे भोजनको पचाने और उससे तुमको परिपुष्ट रखनेके लिये तुम्हारे शरीरमें कितने प्रकारके कल-कारखाने चला करते हैं और उन सबोंकी रचना तथा प्रबन्धमें कैसी-कैसी अद्भुत कारीगरी की गयी है—

केशव—निस्सन्देह मैं समझ रहा हूँ। पहले दिन ईश्वरकी कारीगरीके सम्बन्धमें आपने मुझे जो प्रार्थना सिखायी थी, उसकी इन पंक्तियोंका अर्थ वास्तविक रूपसे मेरी समझमें अब आ रहा है—

'जो-जो हम पदार्थ हैं खाते ,
स्वाद जीभपर वे दिखलाते ॥
फिर वे आँतोंमें हैं जाते ,
लोहू बनते ताक़त लाते ॥
अद्भुत है मशीन, बलिहारी ।
कैसी कारीगरी तुम्हारी ॥'

पिता—अच्छा तो अब इस बातका सदैव ध्यान रखना कि खाने-पीनेमें स्वादके लालचमें पड़कर कभी ऐसी भूल न कर बैठना, जिससे हमारी इन मशीनोंके काममें गड़बड़ी पैदा हो। क्योंकि इनकी गड़बड़ीसे ही अधिकतर तमाम रोगोंका जन्म हुआ करता है। उदाहरणार्थ पेट या आँतोंका पाचन बिगड़नेसे मन्दाग्नि, कब्ज़, शूल, अतिसार, अफरा आदि रोग हो जाते हैं और खूनमें होनेवाला (दूसरे प्रकारका) पाचन बिगड़नेसे बाई, गठिया, मधुमेह आदि उपद्रव खड़े हो जाते हैं। लेकिन अब समय बहुत हो गया है। आगे किसी दिन तुम्हें समझायेंगे कि हमें कब, कैसे और किस-किस प्रकारका भोजन करना चाहिये और किन बातोंसे बचना चाहिये।

केशव—बहुत अच्छा।

सिनेमाकी बुराई

(लेखक—श्रीकिशोरलाल मशरूवाला)

×××× सिनेमा मनोरञ्जनके साथ लोक-शिक्षणका एक क़ीमती साधन बन तो सकता है लेकिन आज जिस तरह सिनेमा फूला-फला और फैला है, वह तो शराबसे भी ज़्यादा बुराई फैला रहा है, इसके बारेमें मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं है। कुछ साल पहले जब मैंने 'हरिजनबन्धु'में इस आशयकी टीका की थी, तो मेरे एक मित्रको उसमें अतिशयोक्ति मालूम हुई थी, और उन्होंने मुझे लिखा था कि क्या मैं 'तुकाराम'-जैसे धार्मिक चित्रपटका भी अपवाद नहीं कर सकता? उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे कहा कि मैं उसे अवश्य देखूँ और निश्चय कर लूँ। इसके कुछ महीनों बाद मुझे बम्बई जानेका मौक़ा मिला। उन दिनों वहाँ सिनेमा-संसारमें 'तुकाराम'की धूम मची हुई थी। घरके बच्चे तो सिनेमापर मुग्ध थे ही। वे इस आशासे आग्रह करने लगे कि अगर मैं एकाध चित्रपटको भी देखूँ और उसे पास कर दूँ, तो उनका सिनेमाशौक़ बिलकुल अक्षम्य न माना जायगा। वर्षोंसे मैंने सिनेमा देखा नहीं था, और बोलता सिनेमा तो एक भी नहीं देखा था। बोलती फिल्ममें ध्वनि उत्पन्न करनेके पीछे पदार्थ-विज्ञानशास्त्रकी कौन-सी करामात है, सो जाननेका कुछ कुतूहल तो था ही, तिसपर उक्त मित्रने और बालकोंने 'तुकाराम'को जो प्रमाण-पत्र दे रक्खा था, उसकी सचाईका पता लगानेकी भी इच्छा हुई। इसलिये मैं उसे देखने गया। मेरी दृष्टिमें 'तुकाराम'-जैसी फिल्म भी निर्विष नहीं; यह विष धर्मके अनुपानके साथ मिलाकर दिया जाता है, इसलिये एक तरह, खुल्लमखुल्ला अनीतिका प्रचार करनेवाले चित्रोंसे भी ज़्यादा हानिकारक होता है।

पहली बात तो यह है कि ऐसे 'धार्मिक' या 'ऐतिहासिक' माने जानेवाले चित्र झूठे जीवनचरित्र और झूठा इतिहास उपस्थित करते हैं। उदाहरणके लिये इस चित्रमें तुकारामके प्रतिपक्षीके रूपमें सालोमालका जैसा चित्रण किया गया है, और जिस तरह तुकारामके जीवनकी प्रत्येक घटनाके साथ उसका मेल मिलाया गया है, वह बिलकुल बनावटी है। तुकारामके प्रामाणिक जीवन-चरित्रको न जाननेवाले भोले-भाले प्रेक्षक उसीको उसके जीवनका सच्चा वर्णन समझनेकी भूल करते हैं और वास्तविक तुकारामके बदले अपने दिमाग़में एक काल्पनिक तुकारामको स्थान देते हैं।

इतिहासको इस प्रकार तोड़ने-मरोड़नेका एकमात्र हेतु धन कमाना है। सिनेमाकी अधिकतर कमाई हलके मनोरञ्जनसे रीझनेवाले लोगोंके ज़रिये ही होती है। बिना उन्हें रिझाये सिनेमावालोंका काम चलता ही नहीं। अतएव उनको सन्तुष्ट करनेवाले दृश्य उन्हें देने ही पड़ते हैं। तुकारामके चरित्रकी अकेली सात्त्विक और भक्तिपूर्ण बातोंमें उन्हें क्या मज़ा आ सकता है? इसके लिये रंगभूमिपर सालोमालका बीभत्स वेश्या-जीवन खड़ा किया गया है; और तुकारामके अमृतके साथ उसमें वेश्या-जीवनका उतना ही विष भी घोला गया है।

कहा जा सकता है कि कामोद्दीपन, चोरी और हत्याकी कला—ये सिनेमाके स्थायी अंग हैं। शराबी शराबका नशा उतरनेपर भलामानस बन सकता है लेकिन सिनेमाके पर्देपर दिखाये जानेवाले बीभत्स दृश्य बालकों और तरुणोंके मनपर जो संस्कार डालते हैं, उनका प्रभाव उनके समूचे जीवनको बरबाद करनेकी शक्ति रखता है।

लेकिन अगर पढ़ी-लिखी जनता भी ऐसे ही दृश्योंकी भूखी हो, तो इसका उपाय क्या? युवकों और युवतियोंको नाच अच्छे लगते हैं, शृङ्गारप्रधान चित्रों, कहानियों और काव्योंमें वे आनन्दानुभव करते हैं, इसलिये वे तो देखने जायँगे ही। अगर देखने नहीं गये, तो रेडियोके सामने बैठकर उनके गीत सुनेंगे। विद्यालयोंमें भी सिनेमाका-सा नृत्य ही शिक्षाका महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। ऐसी दशामें जो लोग ख़ुद यह सब देखने जाते या सिखाते हैं, वे अपने बच्चोंको किस मुँह कह सकते हैं कि वह उनके देखने लायक नहीं है? इसलिये वे अपने बच्चोंको भी इसका चस्का लगाते हैं। चित्रपटोंके चतुर उत्पादक ताड़ जाते हैं कि वे जनताको यह चीज़ जितनी ही ज़्यादा देंगे, उतनी ही उनकी कमाई बढ़ेगी। इसलिये वे उसी चीज़को नया-नया रूप देकर बार-बार दर्शकोंके सामने पेश करते हैं।

जिस तरह क़ानून या धर्मका बन्धन हो या न हो, अपनी सुरक्षा चाहनेवालेके लिये शराबका त्याग करना ही उचित है, उसी तरह सिनेमाका त्याग भी आवश्यक है।

('हरिजन-सेवक')

विपत्तिमें कल्याण

युद्धको चाहे हम किसी भी दृष्टिसे देखें, वह भयानक ही दीख पड़ेगा । इससे न कभी लाभ हुआ है और न हो सकता है । परन्तु जबतक जगत्के नर-नारी जीवन-क्रीड़ाको ठीक-ठीक नियमोंके अनुसार खेलना स्वीकार न करेंगे, तबतक ऐसे नाना प्रकारके प्रसङ्ग आते ही रहेंगे ।

ईसाई-साहित्यमें एक जगह लिखा है, 'मैं प्रभु हूँ…………मैं प्रकाशका निर्माण करता हूँ और अन्धकारकी सृष्टि करता हूँ । मैं शान्तिका निर्माता हूँ और अनाचारकी सृष्टि करता हूँ । मैं प्रभु हूँ और यह सब मेरी रचना है ।' कर्म और उसका फल अथवा जैसी करनी, वैसी भरनी—इस सिद्धान्तका प्रत्यक्ष प्रमाण है मानवी क्रिया-कलापोंमें शान्ति और युद्धका प्रदर्शन ।

डा० फ्रैंक बुचमैनने कैसी चुभती भाषामें कहा है कि, 'अब लाखों-लाखों स्त्री-पुरुषोंको गैसके नक़ाब लगाने ही पड़ेंगे, क्योंकि वे बरसोंसे मुँहपर नक़ाब लगाकर जीवन-यापन करते आ रहे हैं (टट्टीके आड़में शिकार करते आ रहे हैं) । आज लाखों स्त्री-पुरुषोंको नगरोंके अन्धकारमें अपना रास्ता टटोलना पड़ेगा, क्योंकि अबतक उन्होंने आध्यात्मिक अन्धकारमें जीवन बिताया है । लाखों स्त्री-पुरुषोंको हवाई आक्रमणकी चेतावनी सुननी पड़ेगी, क्योंकि पिछले बहुत वर्षोंसे उन्होंने भगवान्की आवाज सुननी बंद कर दी है ।' विचारवान् पुरुष इन बातोंको स्वीकार कर रहे हैं । और बहुतोंने तो अपने जीवनको नया और अधिक सुन्दर बनाना प्रारम्भ कर दिया है ।

गत पचास वर्षोंमें जीवन इतना आगे बढ़ गया है कि मनुष्यको शान्त और धार्मिक चिन्तनके लिये न तो समय ही मिलता है और न प्रवृत्ति ही होती है । कलके चमत्कार आजके लिये साधारण बात बन गये हैं । कल जिसे हम विलासिता समझते थे, वह आज आवश्यकता-का रूप धारण कर रही है । नये आविष्कार एक दूसरेके बाद इतनी शीघ्रतासे आगे आते गये हैं; तिसपर भी हम ब्रिटिशलोगोंने एक दूसरेको नहीं पहचाना है, हमने कभी अपनेको स्पष्टरूपमें व्यक्त नहीं किया है । हमने अपनी गम्भीर-से-गम्भीर भावनाओंको सदा छिपाये रक्खा है । युद्धने इन सबको बदल दिया है । अभिमान और पक्षपातका पर्दा उठ गया है । अब हम एक दूसरेको स्पष्टरूपसे देख सकते हैं और जान पड़ता है कि अत्यन्त निरपेक्षता ग्रहण करके, ईश्वरमें दृढ़ विश्वास लेकर, पारस्परिक सहानुभूति और अपने अधिकारकी रक्षाके लिये अदम्य उत्साहसे कार्य-क्षेत्रमें उतरनेके लिये समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

एक सुन्दर विचार

एक सामयिक मासिक पत्रमें एक वाक्यमें ऐसा सुन्दर विचार निहित है कि हम उसे अपने पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं । वह वाक्य है—'समस्त संसारके अन्धकारमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक मोमबत्तीके प्रकाशको भी बुझा सके ।' और मोमबत्तीके प्रकाशके बारेमें जो बात कही गयी है, वही बात विश्वके प्रकाशके बारेमें भी कही जा सकती है । संसारके समस्त अनाचारमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि किसी भी देशके सत्यके प्रकाशको पूर्णतः बुझा सके ।

इस प्रकार हमारे बीचमें जान-बूझकर उत्पन्न किये हुए समस्त अनाचारोंकी भयङ्करताके होते हुए, अपने अत्यन्त दुर्दिनमें भी बढ़ते हुए विश्वासके साथ हम भगवान्‌के सम्मुख होकर कहते हैं—'प्रभो ! तुम्हारा ही है शक्ति और ऐश्वर्यका साम्राज्य । तुम्हारी इच्छा पूरी हो ।' हमें जो आध्यात्मिक जागृति प्राप्त हो रही है, हमारे हृदयमें जो नये सङ्कल्प उठ रहे हैं, भगवान्‌में हमारा विश्वास जो अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है, हमारी मैत्री जो बढ़ रही है, एक दूसरेको जो हम और भी अच्छी तरह समझ रहे हैं, तथा अपना सर्वस्व अर्पण करके भी अपने अधिकारकी रक्षाके लिये जो दृढ़तर साहस हमें मिल रहा है—इन सबके लिये 'हम भगवान्‌के कृतज्ञ हैं ।'

सेनाके लिये प्रार्थना

सच्ची प्रार्थना है (भगवान्‌के अस्तित्व और उनकी लीलाका) गान करना, न कि (अपनी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये) आवेदन करना । ईश्वर सर्वव्यापी है—इसका अभिप्राय यह है कि 'जो कुछ यहाँ है, सब ईश्वर ही है ।' यहाँतक कि युद्धक्षेत्रमें, हवाई आक्रमणमें, समुद्रके अतलप्रदेशके एक पनडुब्बे जहाजमें या वहाँ, जहाँ कि टैंक और छोटी-बड़ी भयानक बंदूकें सर्वनाशकी क्रीड़ा कर रही हैं—सर्वत्र ईश्वर ही है ।

प्रार्थना जो सदा स्वीकार की जाती है, वह है (भगवान्‌के प्रति) कृतज्ञ होना तथा (उनकी सत्ता और महिमाका) गान करना । ऐसी प्रार्थनामें भगवान्‌से किसी वस्तुविशेषकी माँग नहीं की जाती । ऐसी प्रार्थनाएँ हानि और विपत्तिकी भावनाओंसे सदा परे होती हैं, ये भयको दूर करती हैं । इनमें दयाकी भीख नहीं माँगी जाती । सच्ची प्रार्थना है भगवदर्थ कर्ममें विश्वास और वह विश्वास एक ऐसा ज्ञान है, जो जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तुके प्रति हमारे स्वाभाविक विचारको अतिक्रमण कर जाता है । वे लोग जो युद्धमें लड़नेवाले अपने मित्रोंको रक्षा करनेवाली भगवद्भावनासे रक्षित करना चाहते हैं, कृतज्ञताके इन शब्दोंका प्रयोग करें, जैसे—'अनन्त प्रेम तुम्हारे चारों ओर व्याप्त हो रहा है और तुम्हारी रक्षा करता है ।' अथवा 'भगवान् तुम्हारी देख-भाल कर रहे हैं' अथवा 'जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कुशल है ।' साधारण शब्द ही सदा श्रेष्ठ होते हैं ।

तब भी याद रखना चाहिये कि हम सदा-सर्वदा इस प्रकारसे चिन्तन करते रहें और प्रार्थना करते रहें । पहले हमें चाहिये कि अपने विचारों और शब्दोंका सावधानीके साथ निरीक्षण करें, फिर क्रमशः भगवान्‌के अस्तित्वकी सत्यताका ऐसा अनुभव होगा कि हमारे मन और हृदय निरन्तर शान्तिसे पूर्ण होते रहेंगे । क्योंकि उन ज्ञानी पुरुषोंने ऐसा ही कहा है—

'हे भगवन् ! जिसका मन तुझमें लग गया, उसको तुमने पूर्ण शान्ति प्रदान की; क्योंकि उसका तुझमें विश्वास है ।'

—(एक अंग्रेजी मासिक पत्रसे)

श्रीहरिः

शान्त कौन है ?

यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति । जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥
अमृतस्पन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति । दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥
योऽन्तश्शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति । व्यवहारी न सम्मूढः स शान्त इति कथ्यते ॥
अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि । तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥
आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः । कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥

जिसने साधनाके द्वारा अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो समस्त प्राणियों और वस्तुओंके प्रति समदृष्टि रखता है, भविष्यके लिये प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखको न चाहता है और न छोड़ता है; उसे शान्त कहते हैं। जिसकी दृष्टि समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमपूर्ण और अमृतधाराके समान सुखद होती है, उसको शान्त कहते हैं। जिसका अन्तस्तल सर्वदाके लिये शीतल हो चुका है, जो भावनाओंमें डूबने नहीं लगता, व्यवहार करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो जाता, उसे शान्त कहते हैं। चिरकालतक रहनेवाली आपत्तियोंमें और महाप्रलय उपस्थित होनेपर भी जिसके मनमें घबड़ाहट नहीं होती, त्रिविध शरीरके प्रति अहंता-ममता नहीं होती, उसे शान्त कहते हैं। जिसकी मनोवृत्तियाँ व्यवहार करते समय भी राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित नहीं होतीं, आकाशके समान निर्लेप और स्थिर रहती हैं, उसे शान्त कहते हैं।
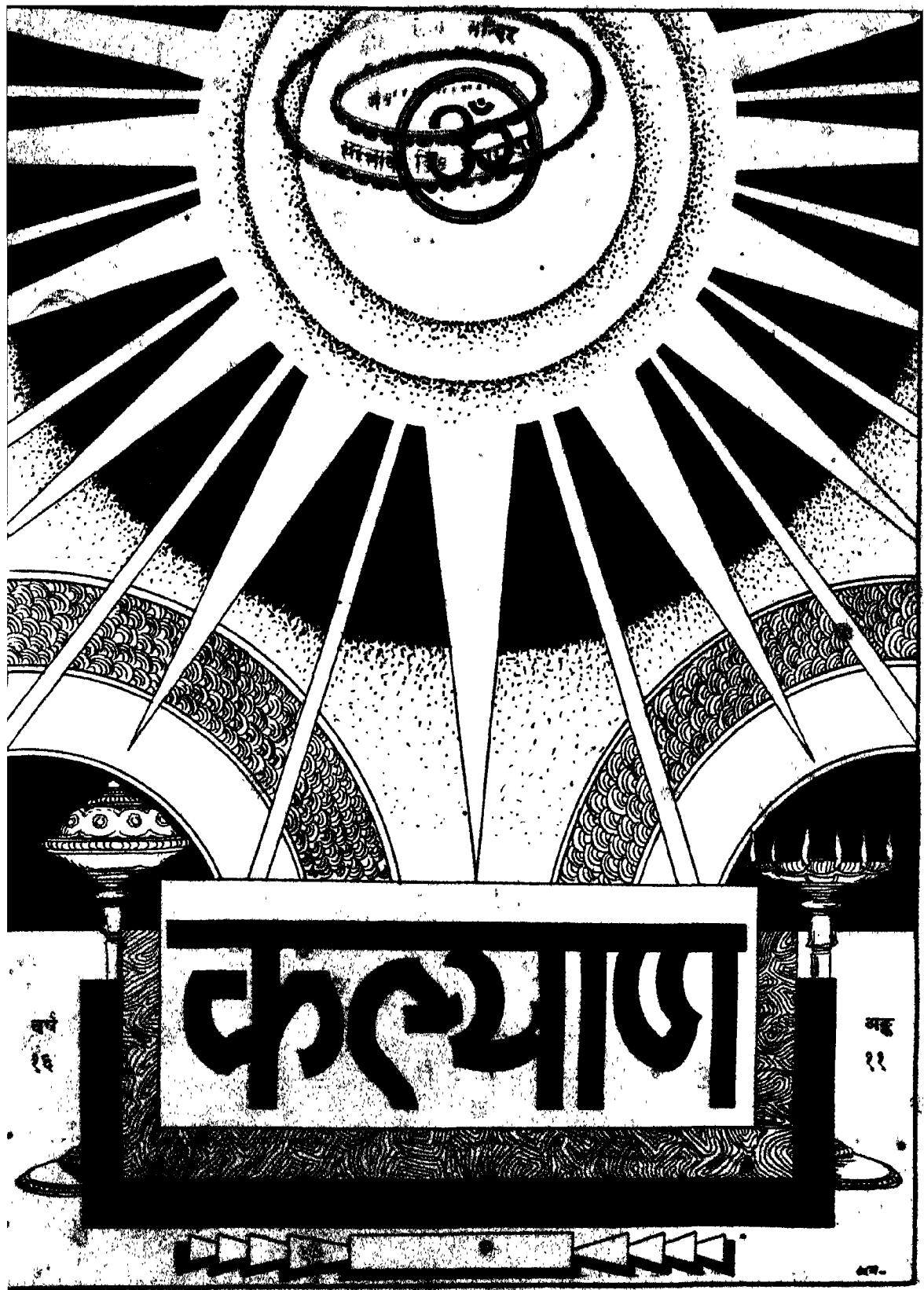
—योगवासिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण अध्याय १३

कल्याण
वर्ष
१६
अङ्क
११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ६२५००]

कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ।
राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम् ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≈)
विदेशमें ७||=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U. P. (India).

श्रीहरिः

आपका ग्राहक-नंबर

'कल्याण'के रैपरपर आपके नामके साथ लिखे हुए ग्राहक-नंबरको उपर्युक्त स्थानपर नोट कर लें। कल्याण-कार्यालयसे किसी प्रकारका भी पत्र-व्यवहार करते समय और खास करके आगामी वर्ष-का चन्दा भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें या मनाही करते समय पत्रमें भी अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें। इससे आपकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेमें हमें सुविधा होगी।

—व्यवस्थापक, **'कल्याण' गोरखपुर**

कल्याण जून सन् १९४२ की

विषय-सूची

नयी पुस्तक ! श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासकृत *प्रकाशित हो गयी !!*

श्रीरामचरितमानस

[मूल—मझली साइज]

आकार २०×३०=१६ पेजी, पृष्ठ ६०८, श्रीरामजीकी झाँकीका तिरंगा चित्र, प्रत्येक काण्डके आदिमें लाइन चित्र, सुन्दर गेटप, अच्छी जिल्द, प्रथम संस्करण १०,२५०; मूल्य १) मात्र ।

सन् १९३८ में श्रीरामचरितमानसका एक सटीक, सचित्र संस्करण 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें 'मानसाङ्क'के नामसे निकाला गया था । कुछ वर्षोंके अंदर ही उसकी ७१,१०० प्रतियाँ छप गयीं । उसके बाद नवरात्रमें मानस-पारायण करनेके लिये एक पाठोपयोगी गुटका छापा गया जिसका जनताने इतना अधिक आदर किया कि दो ही वर्षमें उसकी १,३०,००० प्रतियाँ छप गयीं । इसके बाद एक पाठ-भेदसहित मूल मोटे टाइपका संस्करण भी छपकर तैयार हो गया । परन्तु उसमें मानस-व्याकरण, भूमिका और प्राचीन प्रतियोंके अनेक पाठ-भेद रहने तथा बहुत मोटे टाइप होनेके कारण उसका मूल्य ३॥) रखना पड़ा । सर्वसाधारण लोगोंको उसे खरीदनेमें कठिनाई पड़ती है; इधर गुटकाके टाइप बहुत छोटे होनेसे बहुत-से लोगोंको उसे पढ़नेमें असुविधा रहती है । अतः अनेक सज्जनोंने यह आग्रह किया कि एक ऐसा संस्करण निकाला जाय जिसमें टाइप भी कुछ बड़े हों और दाम भी ठीक-ठीक हों ।

यद्यपि वर्तमान महायुद्धकी विकट परिस्थितिके कारण कागज, स्याही आदिके दाम अत्यधिक बढ़ जानेसे इस समय यह संस्करण निकालना बहुत कठिन था, फिर भी लोगोंके लगातार आग्रहके कारण किसी प्रकार यह छापकर तैयार किया गया है, जो मानस-प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है ।

विशेष सूचना—कमीशन १२॥) प्रति सैकड़ा काटनेपर मूल्य ।॥=) होता है । एक प्रतिका वजन लगभग दस छटाँक है; अतः डाकसे मँगानेवालोंको ।-)। डाकखर्च, ≡) रजिस्ट्रीखर्च और)॥। पैकिंगखर्च जोड़कर कुल १।≥) भेजना चाहिये ।

हमसे मँगवानेसे पहले अपने गाँवके पुस्तक-विक्रेतासे अवश्य पूछ लेना चाहिये । इससे आप भारी डाक-खर्च और रेलपार्सलखर्चसे बच सकते हैं । क्योंकि थोक मँगानेवाले बुकसेलर हमारी पुस्तकें प्रायः पुस्तकपर छपे हुए दामोंमें बेचा करते हैं ।

बुकसेलरोंको सूचना—कम-से-कम २५० प्रति एक साथ लेनेवालोंका नाम-पता जिल्दपर बिना किसी खर्चके छाप दिया जायगा । इससे उनको बेचनेमें मदद मिलेगी ।

पता—**गीता प्रेस, गोरखपुर**

'कल्याण'का

संक्षिप्त महाभारताङ्क (प्रथम खण्ड)

सब लोग जानते हैं कि वर्त्तमान महायुद्धके कारण कागज आदि छपाईका सामान बहुत बढ़े हुए दामोंपर भी मिल नहीं रहा है। इसके सिवा और भी अनेकों प्रकारकी नयी-नयी अड़चनें खड़ी हो गयी हैं। जिनके कारण कार्य-सञ्चालनमें बड़ी कठिनता हो रही है। इतनेपर भी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंकी बहुत दिनोंकी इच्छा पूरी करनेके लिये अबकी बार नये वर्षके प्रथमाङ्कके रूपमें (संक्षिप्त) 'महाभारताङ्क', प्रथम खण्ड प्रकाशित करना निश्चय किया गया है। इसमें—

(१) 'श्रीभागवताङ्क' की तरह केवल भाषा रहेगी। सोचा गया है कि आदिपर्वसे लेकर द्रोणपर्वतककी कथाओंका सार सरल हिन्दीमें दे दिया जाय। परन्तु यदि द्रोणपर्वतक न दिया जा सका तो जितना हो सकेगा, उतना ही दिया जायगा। परिस्थिति ठीक रही तो शेष पर्वोंका सार दूसरे खण्डके रूपमें अगले वर्ष प्रकाशित करनेका विचार है।

(२) कथाओंका भाव खोलनेवाले लगभग ४०० सुन्दर सादे चित्र रहेंगे।

(३) आर्ट-पेपरका अकाल होनेपर भी लगभग ३० से ३५ तक सुन्दर बहुरंगे चित्र रहेंगे।

(४) महाभारतसम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण लेखोंके प्रकाशनका भी प्रयत्न किया जा रहा है।

इस प्रथम खण्डका मूल्य ५≡) होगा। परिस्थितिने कोई बाधा नहीं दी तो इसके बाद सदाकी भाँति ग्यारह अङ्क और दिये ही जायँगे और उनके लिये ग्राहकों-से अधिक मूल्य कुछ भी नहीं लिया जायगा। परन्तु यदि परिस्थिति बिगड़ गयी और अगले अङ्क छपने या भेजे जानेमें रुकावट पड़ गयी तो जिन महानुभावोंके पास जितने अङ्क पहुँच सकेंगे, उनको उतनेमें ही सन्तोष करना पड़ेगा। यह तो जानी हुई बात है कि भीषण महँगाईके कारण इस वर्ष घाटा गतवर्षकी अपेक्षा बहुत ही अधिक होगा।

ग्राहकोंको मूल्यके ५≡) बहुत शीघ्र मनीआर्डरसे भेज देने चाहिये। मनीआर्डर-फार्म साथ भेजा जा रहा है। यह (संक्षिप्त) महाभारताङ्क सुन्दर तो होगा ही, कागजोंकी कमीके कारण बहुत थोड़ी संख्यामें छापा जा रहा है, और यदि कागज फिर न मिल सके तो अधिक छापे जानेकी सम्भावना भी नहीं है। ऐसी दशामें वी० पी० की बाट बिल्कुल न देखकर रुपये तुरंत मनीआर्डरसे भेज देनेसे ही अंक मिल सकेगा। वर्त्तमान परिस्थिति देखते वी० पी० भेजनेकी सम्भावना प्रायः नहीं है।

इस महाभारताङ्कमें लेख बहुत कम रहेंगे। अतएव निम्नलिखित विषयोंके सिवा अन्य विषयों-पर लेख भेजनेका कष्ट महानुभावगण न करें।

१ महाभारतकालका भौगोलिक वृत्तान्त मानचित्रसहित।

२ महाभारतका काल और रचयिता।

३ महाभारत ग्रन्थका महत्त्व और उद्देश्य।

४ महाभारतके समयका भारतवर्ष।

५ महाभारतमें श्रीकृष्ण-महिमा।

६ महाभारतकी टीकाएँ और पाठ-भेद।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर।

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंको सूचना

१–यह सोलहवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है । अगले जुलाईके बारहवें अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा । सतरहवें वर्षका पहला अङ्क (संक्षिप्त) महाभारताङ्क, प्रथम खण्ड होगा ।

२–(संक्षिप्त) महाभारताङ्क, प्रथम खण्डका मूल्य ५≡) होगा; यही वार्षिक मूल्य भी होगा । परन्तु युद्धके कारण परिस्थितिवश यदि अगले अङ्क ग्राहकोंको नहीं पहुँचाये जा सकेंगे तो जितने अङ्क पहुँचेंगे उतनेमें ही कीमत पूरी समझ लेनी पड़ेगी ।

३–कागजकी कमीसे ६५००० की जगह अभी केवल ४०००० प्रतियाँ छापी जा रही हैं । इसलिये वी. पी. भेजे जानेकी सम्भावना न समझकर ग्राहकोंको ५≡) (पाँच रुपये तीन आने) मनीआर्डरद्वारा तुरंत भेज देने चाहिये ।

४–श्रीमहाभारत हिंदुओंका पाँचवाँ वेद माना जाता है । इसमें सब कुछ आ गया है, और जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है । हिंदूजातिका सारा गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास इसमें भरा है । अध्यात्म, परमार्थ, धर्म, राजनीति आदि विविध विषयोंसे विभूषित यह महाग्रन्थ है । इसके इस सार-संग्रहमें विदुरनीति, सनत्सुजातीय तथा श्रीमद्भगवद्गीता आदिका तो पूरा अनुवाद दिया गया है । अतएव जिन ग्राहकोंको यह ग्रन्थरत्न प्राप्त करना हो उन्हें बहुत जल्दी रुपये मनीआर्डरसे भेज देने चाहिये ।

५–ग्राहक बनानेवाले महानुभावोंके हम सदा ही कृतज्ञ हैं । वे अपने नये-पुराने ग्राहकोंको समझावें कि इस वर्ष वी० पी०की प्रतीक्षा न करके रुपये पहले ही भेज दें ।

६–ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखनेकी कृपा करें । नये ग्राहक हों तो 'नया' लिख दें । नाम-पता लिखना न भूलें और स्पष्ट अक्षरोंमें साफ-साफ तथा पूरा लिखें ।

७–'कल्याण'का नया वर्ष अंगरेजी अगस्त महीनेसे शुरू होता है और शुरूके महीनेसे ही ग्राहक बनाये जाते हैं ।

८–जिन सज्जनोंको ग्राहक न रहना हो वे कृपा करके तीन पैसेका कार्ड लिखकर पहलेसे ही सूचना दे दें ।

मैनेजर—

'कल्याण'—गोरखपुर (यू०पी०) ।

भगवानकी अध्यक्षतामें प्रकृतिका जगत-सृजन

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम । (गीता ९ । १०)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, जून १९४२ सौर ज्येष्ठ १९९९ { संख्या ११
पूर्ण संख्या १९१

दर्शनकी लालसा

चलौ री, चलौ लालहिं देखैं ।
कोटि-काम अभिराम स्याम-तनु निरखि नैन-फल लेखैं ॥
मद-गयंद-गति आवत ह्वैहै बंसी अधर धरैं ।
नित नवरंगी ललित त्रिभंगी नटबर भेष करैं ॥
हम तन हेरि फेरि नीकें सुनि नई-नई तान सुनैहै ।
बृंदाबन प्रभु नेहको नातो नैनकी सैन जनैहैं ॥

—श्रीवृन्दावनदेवजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

(अ० १ । १ । २)

पुनः आओ वाचस्पति देव, दिव्य द्योतित मानसके साथ ;
वसुपते ! रमण कराओ यहाँ, रहे मेरा श्रुत मेरे हाथ ।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।

(ऋ० १ । ११३ । १६)

आज नवल प्रभात !
अरे उठो, जग पड़ो जगतमें, कैसे नींद सुहात ?
चमक रही जब ज्योति चतुर्दिक्, रही न रौरव रात ;
नव जीवन, नव प्राण उदय हो करते पावन गात ;
एक नवीन स्फूर्ति छायी है, चेतनता अवदात ।
परम सूर्यतक जानेका भी खुला हुआ है पाथ !
पहुँच गये हम वहाँ, जहाँ है आयु-वृद्धि निज हाथ ।

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया ऽधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ।

(ऋ० ७ । २९ । ३)

देव, मैं कबसे रहा पुकार !
पिता, आज तो सुन लो सुतकी दर्द भरी चीत्कार !
तव दर्शन हित सहे न जाने कितने कारागार !
कब आत्मार्पणकी अभिलाषा होगी प्रभु, स्वीकार ?
मेरी मति-गति, मन-प्रवृत्ति अति आकुल ले निज भार ,
केवल तुझे याद करती है, छोड़ प्रपञ्च-प्रसार ।
सुन्दर वचन, कथन क्या तेरा कर सकते शृङ्गार ।
आज सभी कुछ देने अपना बैठा तेरे द्वार ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

(ऋ० १० । १२१ । ४; यजु० २५ । १२)

ये हिम-धवल उच्च गिरि जिसकी अतुल अचल महिमाको गाते—— ,
सरिताओंके साथ सरितपति जिसकी उज्ज्वल कीर्ति सुनाते ;
जिसके बाहु समान बनी हैं रक्षक सुन्दर सकल दिशाएँ ;
उस सुखरुप प्रजापति प्रभुके क्यों न आज हम गुण-गण गायें ।

प्रार्थना

प्रभो दीनबन्धो ! इस मनके मनोरथोंको पूर्ण करनेके लिये मैंने क्या नहीं किया । जगह-जगह भटका, दर-दरकी धूल फाँकी, भाँति-भाँतिके नये-नये उद्योग किये, जिसने जो बताया उसीमें लग गया, प्रारब्धके संयोग और तुम्हारी कृपासे समय-समयपर धन-पुत्र और मान-यश भी मिलते ही रहे; परन्तु सब व्यर्थ, इस मनकी मुराद तो आजतक पूरी नहीं हुई, यह वैसा ही व्यस्त, वैसा ही अशान्त और भटकू बना है । बल्कि देखता हूँ—इसकी भूख और भी बढ़ गयी है । मालूम होता है यह किसी ऐसी चीजकी खोजमें है, जो अभावोंसे सर्वथा रहित हो, जिसके मिल जानेपर फिर किसी चीजकी चाह रहे ही नहीं । संतलोग कहते हैं कि वैसी चीज तो बस, एक तुम ही हो । और तुम्हारी प्राप्ति होती है तुम्हारे ही शरण होकर श्रद्धा-प्रेमके साथ तुम्हारा भजन करनेपर ! परन्तु तुम्हारा भजन मुझसे बनता नहीं । सोचता हूँ—सदा तुम्हारे भजनमें ही लगा रहूँ, सदा-सर्वदा तुम्हारा नाम-गुण-कीर्त्तन और मधुर ध्यान ही करता रहूँ । परन्तु क्या बताऊँ, जब करने बैठता हूँ तब निराश हो जाता हूँ । उस समय न मालूम कहाँ-कहाँके विचार, कैसी-कैसी भूत, भविष्यकी चित्र-विचित्र भावनाएँ मनमें आ खड़ी होती हैं कि जिनसे क्षणभरके लिये भी मन शान्त और एकाग्र नहीं हो पाता । उन्हींके साथ-साथ उसी समय बाहरी कामोंका भी समूह आ डटता है । 'यह काम इसी समय न करनेसे अधर्म होगा,' 'आदर्श नष्ट होगा,' 'कर्तव्यकी अवहेलना होगी,' 'निन्दा होगी,' 'आर्थिक और सामाजिक हानि होगी' तथा 'करनेसे अमुक-अमुक लाभ होंगे'—इस प्रकारके भय और प्रलोभन भी उसी समय आकर उन कर्मोंमें बरबस लगा देते हैं । इस प्रकार मन और ज्ञानेन्द्रियोंके साथ-ही-साथ कर्मेन्द्रियोंमें भी हलचल मच जाती है ।

प्रभो ! मैं क्या करूँ, कैसे तुम्हारा भजन करूँ, कुछ समझमें नहीं आता । स्वामिन् ! मैं दुर्बल हूँ । जानता हूँ मन-इन्द्रियाँ आत्मासे बलवान् नहीं हैं, तथापि मैं तो आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण उनसे दबा ही रहता हूँ । अब तो बस, एकमात्र तुम्हारी कृपाशक्तिका ही सहारा है । मेरे नाथ ! ऐसी शक्ति दो जिससे तुम्हारे बलसे—तुम्हारी अमित महिमा, तुम्हारे अचिन्त्य सौहार्द, तुम्हारे प्रबल प्रभाव और तुम्हारी सहज दयाके बलसे मैं इन मन-इन्द्रियोंको जीतकर इन सबको, सब ओरसे, सब प्रकारसे केवल तुम्हारे भजनमें ही लगा दूँ और—जैसे गङ्गाकी धारा सारे बाधा-विघ्नोंको चूर-चूर करती हुई समुद्रकी ओर बिना रुके बढ़ती रहती है, उसी प्रकार मेरे इस मनकी सारी वृत्तियाँ एकमुखी होकर बिना रुकावटके केवल तुम्हारी ही ओर बहती रहें । मैं तुम्हारा हो जाऊँ और तुम्हें अपना बनाकर धन्य हो जाऊँ ।

—तुम्हारा ही एक कहलानेभरका दास ।

कल्याण

देखो, तुम्हारी क्या दशा है—शरीर रोगग्रस्त है, मन चञ्चल और अपवित्र है, बुद्धि व्यभिचारमें प्रवृत्त है, जीवन दुःखोंका घर बना है और यों ही रोते-चिल्लाते तुम सतत मृत्युकी ओर बहे चले जा रहे हो !

संसार-समुद्रकी भीषण तरङ्गें उछल-उछलकर तुमपर चोट कर रही हैं। तुम कुछ भी विचार नहीं कर पाते कि इनसे कैसे छुटकारा होगा। कभी कुछ विचार स्थिर करने लगते हो तो उसी समय एक नयी तरङ्ग आकर तुम्हें झकझोर डालती है और तुम्हारे विचारको बहाकर न मालूम कहाँ ले जाती है।

इस प्रकार पता नहीं कितने दीर्घकालसे तुम इस दुःखसागरमें डुबकियाँ लगा रहे हो—कहीं भी न तो तुम्हें कोई बचनेका साधन दीखता है और न कहीं इसका ओर-छोर ही नजर आता है।

तुम्हारी इस दुर्दशाका अन्त एक ही उपायसे हो सकता है। वह उपाय है—'भगवान्‌के शरण होकर उन्हें पुकारना।' भगवान्‌ने कहा है—'जो मुझमें चित्त लगाते हैं, उनको संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं तार देता हूँ।' भवसागरकी भयानक तरङ्गोंसे बचना चाहते हो तो उनको पुकारो, उनसे कहो—'नाथ ! मैं जहाँ गया, वहींसे गिरा; क्योंकि मुझे अभीतक कोई अच्युत मिला ही नहीं। तुम अच्युत हो, आज मैं दुखी-दीन होकर तुम्हारी शरण आया हूँ। मुझे इस भयानक भयसे बचा लो।'

निश्चय समझो—तुम्हारी पुकार सच्ची होगी तो वे अवश्य-अवश्य तुमको बचा लेंगे। वे यह नहीं देखेंगे—तुम कौन हो, किस श्रेणीके हो, किस प्रकारके आचार-विचार रखते हो, पुण्यात्मा हो या पापी हो, वे देखेंगे केवल यही कि तुम्हारा उनपर—उनकी कृपापर विश्वास है या नहीं; और तुम्हारी पुकारमें कितनी सचाई है।

याद रक्खो—भगवान् अशरण-शरण हैं, दीनबन्धु हैं, पतितपावन हैं; तुम अपनेको यथार्थ ही अशरण, दीन और पतित मानकर उनकी ओर निहारोगे और अपनानेके लिये उन्हें पुकारोगे तो निश्चय ही वे तुम्हें वैसे ही अपनाकर, पवित्र बनाकर अपने गोदमें ले लेंगे जैसे स्नेहमयी जननी मैलेसे भरे प्यारे पुत्रको गोदमें उठाकर स्वयं अपने ही हाथों उसका मल धोकर उसे हृदयसे लगा लेती है।

निश्चय करो—भगवान्‌के समान तुम्हारे प्यारे, निकट-से-निकट आत्मीय, प्राणोंके प्राण, जीवनके जीवन और आत्माके आत्मा केवल भगवान् ही हैं। तुम उनको बहुत ही प्यारे हो। प्यारे ! प्यारसे उन्हें एक बार पुकारो तो सही। देखोगे, तुम्हें बदलेमें कितनी जल्दी और कितना अनोखा उनका प्यारा प्यार मिलता है। **'शिव'**

मुख्यलीला-रहस्य

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

(गतांकसे आगे)

यह परब्रह्म ही जब जगत्‌के पदार्थोंके रूपमें प्रकट हुआ है तब उसीकी प्रियता पति, स्त्री, धन, गृहादिमें सर्वत्र बँट रही है। अब यदि किसीका साक्षात् परब्रह्म ही प्रीतिपात्र हो जाय—साधनपर शास्त्रार्थ नहीं है—श्रवण, दर्शन आदि किसी भी साधनके द्वारा जब उस परब्रह्ममें गाढ़ प्रीति हो चुकी तो प्राप्त है कि पति, पुत्र, धन, गृह आदिके क्षुद्र-क्षुद्र प्रीति-प्रवाह इकट्ठे होकर केवल एक उसीमें सम्मिलित हो जायँ। यही प्रेमका प्रलयकालिक स्वरूप है। सभी प्रेम उसीमें लय-प्रकर्षको प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु अब यदि उस प्रेममहाप्रवाहको रोकनेके लिये पहाड़ भी आयेगा तो चूर-चूर हो जायगा। ये प्रेम-महाप्रवाह कई पहाड़ोंको बहाकर ले गये हैं और ले जाते हैं।

यही स्वाभाविक प्रवाह श्रीगोपीजनोंके प्रेमका था। उनका प्रेम, आसक्ति और आसक्ति व्यसन हो चुकी थी। वे क्षणभर भी श्रीकृष्ण-दर्शनके बिना नहीं रह सकती थीं।

'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्।'
'निन्युर्दुःखेन वासरान्।' 'गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्।'

(श्रीमद्भा० स्कं० १०)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० स्कं० ३)

उनका यह प्रेम-महाप्रवाह लोक और वेदकी अर्गलाको कुछ भी नहीं समझता था। वेद तो मानी हुई अर्गला है। किन्तु लोकासक्ति और लज्जा आदि स्वाभाविक सत्य अर्गला (रोक) हैं। लोकमें ये सबसे जबरदस्त हैं। किन्तु श्रीगोपीजनोंके श्रीकृष्ण-प्रेम-महाप्रवाहने उसको भी चूर-चूर कर दिया। अतएव उन्होंने कहा—

यत्पति-अपत्य-सुहृदां अनुवृत्तिः हे अङ्ग ! स्त्रीणां स्वधर्म इति त्वया धर्मविदा उक्तं तत् सर्वं त्वयि अस्तु। सर्वशास्त्राणि त्वामेव उपदेशस्थानं कथयन्ति। सर्वभावैर्भगवानेव भजनीय इति यावत्। तद्वयं सर्वभावेन त्वां भजामः। यतः भवान् अतिशयेन प्रीतिपात्रमस्माकं बन्धुश्चात्मा च। सर्वेषां वा सर्वम्।

किंच—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
संमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् पृथिव्याम्।

ऐसी कौन स्त्री है, जिसको आपकी मुरलीने वेदमार्गसे चलायमान न किया हो। श्रीकृष्ण-ब्रह्मका लोकमें आविर्भाव वेदके बाह्य साधनोंका विषय बननेके लिये या उनकी पूर्ति करनेके लिये ही नहीं हुआ है किन्तु वास्तवमें जगत्-प्रवाहके इन्द्रिय और मनोवृत्तियोंको केवल अपनेमें रोक लेनेके लिये, निरुद्ध कर लेनेके लिये और अलौकिकानन्दमय अपने प्रेम-समुद्रमें लीन करनेके लिये हुआ है। योगका विषय बना लो, पूजा-पाठका विषय बना लो, स्तुति-स्तोत्रका विषय बना लो; सब बनावटी है, कृत्रिम है, क्लेशकारिता है। इनके लिये तो अप्रकट परब्रह्म विश्वव्यापी विष्णु थे ही। केवल इनके लिये वह प्रकट नहीं हुआ। वह तो किसीका बेटा, किसीका मित्र, किसीका वैरी, किसीका पिता, किसीका दास, किसीका स्वामी, किसीका यार और किसीका भय-पात्र बननेके लिये प्रकट हुआ था। और यह-यह बनकर उन-उन संसारियोंके इन्द्रिय और मनोवृत्तियोंको अपने आपमें खींचनेके लिये, मिलानेके लिये मनुष्य-लिङ्गमें प्रकट हुआ था। इसीलिये 'श्रीकृष्ण' यह नाम पाया है—'कर्षतीति कृष्णः'।

'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।'

स्वाभाविक इन्द्रिय और मनोवृत्तियोंका अपने आपमें निरोध (नितरां रोध) करनेकी कृष्णकी लीलाएँ जन्मसे ही प्रारम्भ हो चली थीं—प्रत्युत गर्भावस्थासे ही। कंसने सगर्भा देवकीको देखकर कहा—

तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी॥

(श्रीमद्भा० १०।२।२०)

इस मूलवस्तुने कंसके हृदयको खींचा है। यही मनोवृत्तिका महाप्रवाह है—यही स्वाभाविक इन्द्रियोंका और मनोवृत्तिका

खिंचाव है। कृष्णः। जैसे-जैसे अधिकारी, उनकी मनोवृत्तिका उसी-उसी प्रकारसे खिंचाव हुआ। इसीको प्रेम कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेममय या प्रेम ही हैं। और श्रीकृष्ण-प्रिया श्रीगोपीजन भी स्त्रीरूपमें प्रकट होनेसे प्रेममयी हैं। अतएव इनका रतिरूपसे प्रभुकी ओर खिंचाव हुआ। मनोवृत्तिका बहाव किसी तरहका भी हो, किन्तु वह नित्य-निरन्तर होना चाहिये। अपने-अपने मनोवृत्तिके बहावमें सब कोई रहना चाहते हैं, और उसीमें सुख मानते हैं। इस प्राकृत बहावसे हटाकर अप्राकृत या अस्वाभाविक बहावमें ले जानेसे उन-उन अधिकारियोंको बड़ा कष्ट होता है। बीमार चाहे बीमार रहा आये; किन्तु जिस पदार्थमें उसका मनः-प्रवाह जा रहा है, वह उसीको चाहता रहेगा और उसीमें सुख भी मानेगा। अब यदि वैद्य उसे दूसरे प्रवाहमें ले जाता है तो चाहे फल अच्छा ही क्यों न हो, पर उसे उस समय तो बड़ा कष्ट होता है।

श्रीकृष्णका प्राकट्य इसलिये नहीं हुआ था कि वे किसीको कष्ट पहुँचायें। सबकी मनोवृत्तियोंके बहावको यथास्थित रखकर उनको आनन्दमय बनाना, उनका उद्धार कर देना—बस, इसीलिये श्रीकृष्ण मनुष्यनाट्य लेकर प्रकट हुए थे। नाटकका नट अपने लिये—अपने सुखके लिये नाचता, कूदता, गाता नहीं है, किन्तु तुम्हारे लिये, तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी तामस, सात्त्विक, राजस और निर्गुण आदि अधिकारियोंके उद्धारके लिये या उनको तन्मय, स्वमय, आनन्दमय बनानेके लिये उनके स्वभावके अनुसार ही विभिन्न लीलाएँ करते हैं। इन लीलाओंमें कोई मुख्य और कोई गौण, कोई उत्तम, कोई अधम या कोई सफल और कोई निष्फल नहीं हैं। सभी मुख्य, सभी उत्तम और सभी सफल ही हैं। यही कहा भी है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(भागवत)

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहृद (जातीयता) आदि सब मनके बहाव हैं। इन स्वाभाविक बहावोंको जो लोग निरन्तर श्रीकृष्ण परब्रह्मकी ओर लगा देते हैं, वे सब श्रीकृष्णमय, परब्रह्ममय किंवा आनन्दमय (मुक्त) हो जाते हैं। अपने स्वीकृतों (अनुगृहीत) पर कृपा करनेके लिये यह परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्ण मानुष-देहका ईषत् सहारा लेता है, और फिर उन अनुगृहीतोंके स्वभावानुसार ही अनन्त लीलाएँ करता है—जिनको सुनकर, स्मरण कर और देखकर वे-वे अधिकारी श्रीकृष्णमय, ब्रह्ममय, आनन्दमय (मुक्त) हो जाते हैं।

इसी सिद्धान्तका सार अपने मुखसे भी कह दिया है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता)

अनन्त प्रकारके जो-जो अधिकारी अपने-अपने स्वभावोंके अनुसार जिन-जिन प्रकारके मनके बहावोंको लेकर मेरे समीप निरन्तर आते हैं, मैं भी उनके उसी प्रकारको स्वीकार करके उनका भजन करता हूँ, फलदान करता हूँ। वास्तवमें तो मैं भी उन विभिन्नाधिकारियोंके स्वभावानुसार तामस, राजस, सात्त्विक आदि लीलाएँ करता हूँ—जिससे वे मन्मय, आनन्दमय हो जाते हैं। अतएव भगवान्की सभी विभिन्न लीलाएँ भी समान हैं। अतएव कहा है—

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥

(जलभेद)

अवतार, अनवतारमें सात्त्विकादि सभी भगवच्चरित्र और गुण आदिका जो समान रीतिसे वर्णन करते हैं वे भक्तलोग अमृत-समुद्र हैं उनकी वाणीका स्वाद मिलना अति दुर्लभ है।

किन्तु किया क्या जाय, ऊपरसे जिसका जैसा स्वरूप हो वैसा कहा ही जाता है। राजाकी चोरीको चोरी न कहकर साहूकारी कैसे कही जाय। आजतक बड़े ज्ञानी, ध्यानी भी श्रीकृष्णकी लीलाको माखन-चोरी ही कहते आये हैं। युद्धादि करना, मन्त्रीपन करना राजस लीला ही हो सकती है और उन-उन लीलाओंके प्रकरण भी तामसादि ही कहे जाते हैं। यह भगवल्लीलाकी परिभाषा है। 'मानुषं देहं आ-श्रितः', 'गूढः' 'कपटमानुषः' 'योगमाया' आदि सब परिभाषाएँ हैं। इनको सम्यक् समझ लेना उचित है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वरेश्वर सर्वशक्ति आदि महामहिम रहते हुए भी अपने परब्रह्मत्वको, ईश्वरत्वको और शक्तियोंको छिपाते

ही रहे और मनुष्यका आभास ही केवल जिसमें दीखा करे, यह इन शब्दोंकी परिभाषाका रहस्य है। किन्तु इस ईश्वरेश्वर सर्वशक्ति परब्रह्म श्रीकृष्णसे भूलकी लीला भी होती है। क्योंकि माया (भूल) को साथ ही लेकर यह प्रकट होता है।

'संभवाम्यात्ममायया'—सहार्थे तृतीया। 'मायया सह संभवामि।'

विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे संभविष्यति॥

'प्रभुके अनेक कार्योंमें काम आनेके लिये भगवान्‌के साथ ही उनकी माया भी प्रकट होती है। जो बिगाड़नेवालीसे सुधारनेका काम लेते हैं।' यह भी भगवान्‌की एक ईश्वरेश्वरता है।

भगवान्‌की भूलसे अनेक कार्य सुधरते हैं। हमारी भूलसे हमारे काम बिगड़ जाते हैं। शायद यह भी हमारी भूल ही है कि जो हम इसको अपनी समझे हुए हैं। हमारी होती तो हमारा काम सुधारती रहती, किन्तु यह तो बिगाड़ती रहती है। हमारी समझमें तो यह हमारी माया (भूल) भी उस परात्पर परमेश्वरकी ही है। अतएव उसके कार्योंको उसके आज्ञानुसार बनाती रहती है। इस अपनी मायासे वह श्रीकृष्ण मनुष्य प्रतीत होता है। इसके देहेन्द्रिय भी मनुष्यवत् दीखते हैं। अतएव उन्होंने कहा है—

आ ईषत् श्रितम्। आकारसादृश्येनैव **मनुष्य इति भासितमित्यर्थः।**

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
'मायया मोहितज्ञाना' इत्यादि।

सबसे बड़ी भूल तो श्रीकृष्णकी यह होती थी कि कभी-कभी उनकी ईश्वरेश्वरता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट भी हो ही जाती थी। पूतनामारण आदि, इन्द्रदमन आदि। खैर ये भूलें तो बचपनकी कह सकते हैं, किन्तु बुढ़ापेतक भी भूलें होती ही रहीं। गुरुपुत्रानयन, अर्जुन-रक्षा, ब्राह्मण-बालकानयन आदि सब भूलें बुढ़ापेकी हैं। इन भूलोंके समय उनकी ईश्वरेश्वरता आदि छिपानेसे क्या होता है प्रकट हो जाती थीं।

मेरी समझसे तो भगवान्‌की ये भूलें भी भूलसे ही बनी हैं। भगवान्‌ने कितनी ही प्रतिज्ञारूपी भूलें ऐसी-ऐसी कर ली हैं कि उनके पालन करनेके लिये ये भूलें करनी ही पड़ती हैं।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां (प्रेम्णा) भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'
'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'
'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।' (गीता)
'गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः' (भागवत)
—इत्यादि।

इन सब परिभाषाओंका तात्पर्य यह होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म रहते हुए भी अपनी ही मायासे साधारण जनसमाजकी समझमें नहीं आते। यह एक ही माया अनेक तरहकी है—वैष्णवी, आसुरी प्रभृति। एक तसवीर ऐसी होती है जो दायीं तरफसे हाथी मालूम दे और उसीको बायीं तरफसे देखो तो घोड़ा दीखे। तसवीर एक ही, पर दीखे दो। इसी तरह भगवान्‌की यह माया-शक्ति है एक ही पर अधिकारानुसार अनेक प्रकारकी हो जाती है। इससे भगवान्‌के अनेक कार्य होते हैं। और यह भगवान्‌की प्रकृति ही है। इसका प्रश्न ही नहीं हो सकता। चाहे प्रकट हो, चाहे अप्रकट, परब्रह्मकी दोनों अवस्थामें यह भूल तो साथ रहती ही है। यह एक तरहकी माया है।

को कहि सकै बड़ेनकी लखैं बडी ही भूल।
दीन्हें दई गुलाबकों इन डारिन ये फूल॥
(वि०)

श्रीकृष्ण सबका आश्रय है अतएव मायाका भी आश्रय है।

कामका अधिकार स्त्रीका ही है। सख्यका अधिकार मित्रका ही है। सौहृदका अधिकार माता-पिताका ही है। क्रोधका अधिकार वैरीका ही है। भयका अधिकार दोषी वैरीका ही है। ऐक्यका अधिकार ज्ञानी भक्तोंका ही है। सबकी दृष्टि पृथक्-पृथक् है। अतएव एकको दूसरेकी दृष्टिसे देखना या विचार करना मूर्खता है। आजकल जो लोग विचारक बनकर श्रीकृष्णकी लीला और उनके स्वरूपका विचार करने लग जाते हैं, उसमें सबसे पहली भूल अधिकारकी है। उन्हें अपने अधिकारकी खबर नहीं है। उन अधिकारोंकी बात तो दूर रही। वे अपने (मनुष्यके) अधिकारसे ईश्वरेश्वरका विचार करते हैं। अतएव वस्तु हाथ नहीं लगती। कुछ-का-कुछ समझकर आक्षेप करने लगते हैं।

जो लोग भगवती गीताको उसके अक्षरोंमें ही बराबर समझ चुके हैं उन्हें श्रीकृष्णको अक्षरात् परतः पर पूर्णब्रह्म मान लेनेमें जरा भी सन्देह नहीं है। और जब उनकी ईश्वरेश्वरतामें किसी तरहका सन्देह नहीं रहा तब उसकी किसी भी लीलामें सन्देह या आक्षेप नहीं रहना चाहिये। जब अग्नि अग्नि सिद्ध हो चुका तब उसे किसी तरहसे, किसी भावसे भी छुओगे, जरूर जलोगे। श्रीकृष्ण जब परमात्मा सिद्ध हो चुके तो सभी भावोंसे भजन या सम्बन्ध करनेवालोंका उद्धार होगा ही। भजन भी एक तरहका सम्बन्ध है। नित्य निरन्तर मनोवृत्ति ही भजन है।

'सौहृद' शब्द जातीयतावाचक है। उनमें मातृ-सम्बन्ध, पितृ-सम्बन्ध मुख्य हैं और उनमें भी मातृत्वका सम्बन्ध मुख्यतम है। क्योंकि यह स्नेह अन्ध भी हो सकता है। काम-सम्बन्ध भी अन्ध है। वात्सल्य और कामसम्बन्धी स्नेह सुदृढ़, सर्वतोऽधिक और अन्ध होते हैं। अतएव मुख्यतम हैं। इनकी वास्तविकतामें कोई कैसा भी प्रतिबन्ध काम नहीं कर सकता। वैदिक—धार्मिक प्रतिबन्ध तो बनावटी प्रतिबन्ध हैं, स्वाभाविक नहीं। किन्तु दैहिक और लौकिक प्रतिबन्ध तो स्वाभाविक हैं, प्राकृतिक हैं और सर्व वैदिक प्रतिबन्धोंसे बलवान् हैं। किन्तु वात्सल्य और काम-सम्बन्धके आगे ये सब प्रतिबन्ध (रुकावटें) भी अकिञ्चित्कर हो जाते हैं। कामका सम्बन्ध तो लौकिक, वैदिक प्रतिबन्धोंको कुछ भी नहीं मानता—यह बात तो अब सर्वसाधारणके भी समझमें आ चुकी होगी। क्योंकि नित्य ही ऐसे दृष्टान्त सामने आते हैं।

हमें श्रीगोपीजनोंके लिये लौकिक कामिनियोंका दृष्टान्त देना सर्वथा अभीष्ट नहीं है, किन्तु लौकिकोंको लौकिक रीतिसे ही समझाना पड़ता है। अन्यथा 'क्व काचः क्व मणिर्महान्' वस्तुस्थिति है। श्रीगोपीगण और उनकी सब लीलाएँ वास्तवमें सर्वथा दिव्य ही हैं—यह हम पहले सिद्ध कर चुके।

> गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
> संबन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
> तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।

ये कुल सम्बन्ध अनुग्रहमार्गके हैं। और आजकलकी धार्मिक जनताके मार्यादिक सम्बन्ध हो सकते हैं। भक्ति और आत्मनिवेदन—ये दो सम्बन्ध मार्यादिक हैं। श्रीकृष्णकी अवतार-अवस्थामें अनुग्रहमार्गीय सम्बन्ध हो सकते हैं और उनकी अनवतार-अवस्थामें तो मार्यादिक सम्बन्ध ही हो सकते हैं। स्नेह और भक्ति-सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। स्नेह ही महत्त्वमिश्र होकर भक्ति कहा जाता है। और स्नेह तो स्नेह ही रहता है। गोप-बालकोंका श्रीकृष्णके साथ स्नेह-सम्बन्ध था किन्तु उसके साथ माहात्म्य नहीं था। इसलिये वह स्नेह ही था। और युधिष्ठिर आदिका श्रीकृष्णके साथ स्नेह-सम्बन्ध था किन्तु माहात्म्यसहित था इसलिये भक्ति ही था। यह स्नेह अनुग्रहमार्गीय था।

अब यह विचारना है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह और सौहृद—ये जो मनके प्रवाह हैं, क्या वे बनावटी थे, या बनावटी हो सकते हैं। श्रीकृष्णमें श्रीयशोदाका जो सौहृद पुत्रस्नेह मनःप्रवाह था, क्या वह प्राकृत—स्वाभाविक नहीं था? क्या वह बनावटी था? नहीं-नहीं। पूर्वोक्त सभी प्रवाह स्वाभाविक थे और अप्रतिबद्धग थे। कंसके मनःप्रवाहको रोकनेके उपाय क्या थोड़े हुए थे, किन्तु उसका मनःप्रवाह श्रीकृष्णके स्वरूपमें इतना प्रबल बह रहा था कि किसी भी प्रतिबन्धकी न चली। रतिका प्रवाह इन सब प्रवाहोंसे भी प्रबलतम है। स्वयं श्रीभगवान्ने आज्ञा की है—

> 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।'

श्रीशुकदेवजीको भी गोपीजनोंके मनःप्रवाहको इस तरह कहना पड़ा—

> तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
> तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
> (श्रीमद्भा० १०। ३०। ४४)

श्रीयशोदाके आगे जब उद्धव आये, तब श्रीयशोदाकी यह दशा थी—

> यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
> शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा॥

श्रीगोपीजनोंने अपने मनःप्रवाहको इस तरह प्रकट किया है—

> गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
> माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तद्विस्मरामहे॥

इतना ही नहीं, आजतक श्रीकृष्णके विषयमें गोपीजनोंके मनःप्रवाहको बड़े-बड़े महात्मा लोग इस तरह कहते आये हैं—

> प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
> बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं खलु यस्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकांक्षति ॥

देखिये, भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करनेवाला तपस्वी विषयोंसे मनको हटाकर जैसे-तैसे एक क्षणभरके लिये ही श्रीकृष्णमें धरना चाहता है। किन्तु अपनी सास प्रभृतिसे डरती हुई यह गोपी भगवान् श्रीकृष्णमेंसे हटाकर क्षणभरके लिये ही अपने मनको घरके काम-काजमें लगाना चाहती है, पर लगता नहीं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि बड़े-बड़े योगी जिस भगवान् श्रीकृष्णके आभासको एक लवभरके लिये अपने हृदयमें ले आना चाहते हैं पर वह आता ही नहीं। और देखिये यह भोली गोपकुमारिका अपने हृदयमें आसन जमाकर सदाके लिये बैठे श्रीकृष्ण परब्रह्मको निकालना चाहती है, पर वे निकलते ही नहीं। कितनोंने यह भी कहा है—

हस्तोदरे विनिहितैककपोलपाले-
रश्रान्तलोचनजलस्नपितानानायाः ।
प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य
निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः ॥

जिस दिनसे प्रिय श्रीकृष्णका मङ्गलमय मथुरागमन हुआ है, उसी दिनसे एक हस्त अपने कपोल-चन्द्रपर रक्खे हुई और अश्रान्त अश्रुधारासे मुखको सींचती हुई इस भगवत्प्रियाको देखिये। एक क्षणभर भी निद्रा आना दुर्लभ हो गया है।

यहाँतक हमने साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्णके पूर्ण आविर्भावके समयमें जो-जो सम्बन्ध और मनःप्रवाह हो सकते हैं, उनकी चर्चा की। ये सब सम्बन्ध अनुग्रहविशेषके हैं। ये सम्बन्ध जन्मसे ही सुदृढ़ और सर्वतोऽधिक होते हैं। साधन-साध्य नहीं किन्तु भगवद्वासना-साध्य होते हैं। वासना सप्तम स्कन्धमें दो प्रकारकी कही हैं—जीववासना और भगवद्वासना। विश्वरचनारूप कर्म भगवत्कर्म है। और व्यष्टिदेहादिरचना-कर्म जीवकर्म है। विश्व और विश्वपतिका विभागरूप कर्म जब करना होता है, उस समय जो भगवान्‌की इच्छाविशेष वासना होती है, वह भगवद्वासना है। वह दो प्रकारकी है—सद्वासना और असद्वासना। विश्वमें जड और चेतन समाविष्ट हैं। जडमें भी सत् हैं, असत् हैं; और चेतनोंमें सत् हैं, असत् भी हैं। जिनपर साधारण पुष्टि (अनुग्रह) है, वे सत् हैं; और जिनपर नहीं है, वे असत् हैं।

अनुग्रहपर वैषम्य-दोष लगाया जा सकता है। अतएव उस दोषको दूर करनेके लिये भगवद्वासना है। जिनपर सती वासना हो जाती है, उनपर अनुग्रह होता है; वे दैवी जीव होते हैं। जिनके विषयमें असती वासना होती है, वे आसुर जीव होते हैं। वासना और अनुग्रहके तारतम्यसे इनमें भी तारतम्य होता है। यही बात संक्षेपमें इस प्रकार कही गयी है—

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।' (गीता)

यह मर्यादामार्गकी बात है। मर्यादामार्गमें साधारण अनुग्रह है। किन्तु इससे पृथक् एक विशेषानुग्रहमार्ग अलग है। जब भगवान् पुरुषोत्तम विशेषानुग्रहको स्वीकार करता है तब श्रीकृष्णरूपमें प्रकाशित होता है। और जिन जीवोंपर विशेषानुग्रह किया जाता है, वे जीव भी उसी समय विभिन्न देह धारण करते हैं। उस समय उनके तामस, राजस, सात्त्विक मनपर निगाह नहीं दी जाती। सबको अपने उपयोगमें लिया जाता है। ये गोप-गोपी, गाय-वत्स आदि हैं। इन सबमें रसरूप भगवान्‌ने अपना आवेश किया और स्वमय—आनन्दमय बनाया। और तन्मय बनानेका साधन लीला है।

पञ्चम अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायपर्यन्त सात अध्यायोंमें बाल-लीलाका निरूपण है। उस बाल-क्रीडाके द्वारा ही प्रपञ्चविस्मृति और अपने (श्रीकृष्ण) में पूर्ण स्नेह करा दिया। इन्हीं श्रीकृष्ण-लीलाओंमें कितनी ही प्रमाण-लीलाएँ हैं, कितनी ही प्रमेय-लीलाएँ हैं; कितनी ही साधन-लीलाएँ हैं और कितनी ही फल-लीलाएँ हैं। उनके प्रकरण भी हैं। तामसप्रकरण, राजसप्रकरण, सात्त्विकप्रकरण और गुणप्रकरण। यह विषय भिन्न है, इसलिये इसे यहीं छोड़ दिया है। कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की सभी लीलाएँ संसारियोंको अक्लेशसे संसारमुक्त करा देनेके लिये हुई हैं, इसमें सन्देह नहीं है। आज साक्षात् श्रीकृष्णकी अनवतार अवस्था है। आज उनके साथ लौकिक सम्बन्ध और वैसे मनःप्रेमप्रवाह होने असम्भव हैं। आज तो 'शास्त्रद्वारैव मोचकः'। भगवच्छास्त्रोक्त भगवद्धर्मोंके द्वारा ही हृदयको द्रुत करना होता है। भगवद्वासनायुक्त हृदयकी द्रुति ही भक्ति है—जिसको हम स्नेह, प्रेम, प्यार शब्दोंसे कहते हैं। लाक्षा (लाख) की तरह मन है। द्रवयुक्त भी कठिन। अतएव अनुभवी साहित्यवेत्ता कहते हैं कि—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेश्वरे मनोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

भगवद्धर्मोंके द्वारा पिघले हुए मनकी जो वृत्ति सर्वेश्वर

श्रीकृष्णके विषयमें धारारूपको प्राप्त हो जाती है, वह मनोवृत्ति ही भक्ति कही जाती है। सर्वेश्वरता माहात्म्य है। मनोवृत्ति (स्नेह-खिंचाव) ही भक्तिका स्व-रूप है।

यही बात समाधिभाषामें कही है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

यहाँ 'गुहाशयता', 'गुण' दोनों माहात्म्य हैं और 'मनोगति' धारावाहिक स्नेह है। और 'अविच्छिन्ना' सुदृढता है। सर्वशक्ति भगवान्‌में सुदृढ़ सर्वतोऽधिक रीतिसे धारावाहिक रूपमें मनका गिरते रहना, स्नेह होना ही निर्गुण भक्ति है।

कितने ही कहते हैं कि ब्रह्मत्वेन ज्ञान ही भक्ति है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ज्ञान भिन्न पदार्थ है और स्नेह-पदार्थ भिन्न है। करोमि, जानामि, स्निह्यामि—ये तीन अनुव्यवसाय (निश्चय) जुदे-जुदे होते हैं। इसलिये कर्म, ज्ञान और स्नेह भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। क्रियते तत् कर्म, ज्ञायते येन तत् ज्ञानम्, स्निह्यते प्रीयते येन स स्नेहः। जिससे तृप्त—सुखी हो जाय, वह स्नेह।

यदि कोई कहे कि यदि ब्रह्मविद्या (ब्रह्मज्ञान) से स्नेह—भक्तिसुखको जुदा पदार्थ मानोगे तो निरतिशय पुरुषार्थ न होनेसे स्वर्गकी तरह भक्तिकी भी हेयता हो जायगी। यद्यपि स्वर्गको पुरुष चाहता है, किन्तु वह निरतिशय नहीं है। उससे भी बढ़-चढ़कर सुखप्रद पदार्थ हैं—ब्रह्मानन्द प्रभृति। इसलिये वे निरतिशय पुरुषार्थ नहीं हैं। इसी तरह यदि भक्तिसुख-पदार्थ ब्रह्मविद्या नहीं है तो फिर वह भी निरतिशय पुरुषार्थ नहीं रहेगा।

इसका उत्तर यह है कि भक्तिसुख निर्दोष निरतिशय पुरुषार्थ होनेसे हेय कभी नहीं हो सकता। परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तममें तीन स्वरूपात्मक धर्म हैं—सत्, चित् और आनन्द। क्रिया, ज्ञान और आनन्द (प्रेम)। यदि भक्ति-पदार्थ ज्ञान (चित्) नहीं है तो आनन्द है। आनन्दही-की लहर प्रेम (भक्तिसुख) है। वह भगवत्पदार्थ होनेसे निर्दोष है, नित्य है और निरतिशय भी है; अतएव वह हेय किसी तरह नहीं हो सकती और अतएव निरतिशय पुरुषार्थ भी है।

कितने ही कहने लगते हैं कि इस भक्तिसुखसे वैराग्य होता है कि नहीं? यदि नहीं होता तो मुमुक्षुत्व होना भी असम्भव है और ऐसी अवस्थामें मुक्ति मिलना कठिन है। इसका भी इतना ही उत्तर है कि भक्तिसुखसे वैराग्य होना, और अतएव उसकी मुक्ति भी, भक्तोंको अभीष्ट ही नहीं है। भक्तोंको तो सर्वदा भक्तिसुखमें ही मग्न रहना अभीष्ट है। अतएव समाधिभाषामें कहा है—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥'
'विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः।'
× × × ×
'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'

साक्षात् अवतार-अवस्थाके अभावमें तत्प्रतिनिधि अर्चावतार और गुण-लीला-श्रवण हैं। अतएव समाधि-भाषामें कहा है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः॥

अवतार-अवस्थामें आविर्भाव तो सिद्ध ही है। अतः मुक्तिके लिये वैदिक या शास्त्रीय साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती। स्वाभाविक भगवद्धर्म भगवत्सम्बन्धी काम, क्रोधादि और मातृत्व आदि सम्बन्धोंसे ही मुक्ति हो जाती है। क्योंकि उस अवस्थामें साधनोंसे मुक्ति नहीं होती किन्तु स्व-स्वरूपसे ही मुक्तिका दान करते हैं—यह बात भी समाधिभाषामें कही है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वशक्ति श्रीकृष्णका पृथ्वीपर आविर्भाव मनुष्यमात्रको निःसाधन मुक्तिका दान करनेके लिये ही हुआ है। अन्यथा पृथ्वीपर प्रकट होनेका दूसरा कारण मिलता नहीं। इसके लिये पाँच विशेषण हेतुगर्भ कहे हैं। भगवान् है, सर्वसमर्थ है, अतएव स्वरूपसे ही मुक्तिदान करता है। अव्यय और अप्रमेय है। न तो इसमें कुछ फेरफार होता है, और न यह किसीकी समझमें ही आता है, इसलिये दूसरोंके उपयोगमें आने योग्य भी नहीं है। परार्थ भी प्रादुर्भाव नहीं है। यदि भजनीय होनेसे प्रादुर्भाव अपेक्षित है कहो तो भी ठीक नहीं; कारण कि निर्गुण है, प्राकृत गुण-

रहित है। लोकमें प्राकृत गुण ही भजनीय होते हैं। यदि लीला करनेके लिये प्रादुर्भाव मानो तो गुणात्मा है। सब जगत् ही उसकी लीला है। सबका वही उपादान है। इसके लिये प्रकट होनेकी अपेक्षा नहीं है।

ऐसी अवस्थामें यदि भगवान् स्व-स्वरूपसे मुक्तिका दान भी न करें तो उनकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) ही व्यर्थ हो जाय। अनवतार-अवस्थामें भगवान्‌की भक्ति और उनका ज्ञान मोक्ष देता है। ज्ञान और भक्तिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार (प्रादुर्भाव) होता है, और तब उनमें जीवका सायुज्य (मोक्ष) होता है। किन्तु अवतार-अवस्थामें तो प्रादुर्भाव स्वतःसिद्ध है, अतएव आविर्भावार्थक ज्ञान और भक्ति दोनोंकी ही अपेक्षा नहीं है। केवल स्वाभाविक काम-क्रोधादि चित्तद्रुतिरूप[१] सम्बन्धोंके द्वारा स्वरूप-सम्बन्ध होनेसे ही मोक्ष होता है। जो भी भगवत्स्वरूपसे सम्बन्ध करता है वही मुक्त हो जाता है।

भगवत्सम्बन्ध दो प्रकारका है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। शाब्द-सम्बन्ध परोक्ष है। वह अनवतार-अवस्थामें शास्त्रके द्वारा होता है और चाक्षुषादि विषय-सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। दोनों जगह विषय भगवान् हैं। दोनों जगह भगवान्‌का ही सम्बन्ध होता है। परोक्ष सम्बन्धमें द्व्यन्तरित होता है और प्रत्यक्षमें साक्षात्सम्बन्ध होता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि सम्बन्धके निमित्त हैं। ये तापक हैं, अतएव इनसे चित्तकी द्रुति होती है। चित्तद्रुति ही भक्ति या स्नेह है। अतएव ये सब स्वाभाविक सम्बन्ध हैं और बलवान् भी हैं। इनसे बहुत जल्दी भगवान्‌में निरोध होता है, और प्रपञ्चकी विस्मृति होती है। यह बात हम पहले लिख चुके हैं।

चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वाभाव्यात्कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
बाह्यपिण्डस्य नाशेऽपि तिष्ठत्येव मनोमयः।
अतः स्थायीति विद्वद्भिरयमेवोपवर्णितः॥
कठिना शिथिला वा धीर्न गृह्णाति न वास्यते।
द्रुते चित्ते निधीयेत स्वाकारः प्रियवस्तुना॥

१. एवं सति येन केनाप्युपायेन य एवं संबध्यते तस्यैव मुक्तिर्भवति। कामादयः षट् साधनानि भगवत्संबन्धे। तत्र कामः स्त्रीणामेव। इत्यादि। पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योर्नोपयोगः। तेषां मर्यादया स्वरूपाविर्भावस्य नियतत्वात्। (दशम-सुबोधिनी)

लाक्षाकी तरह चित्तद्रव्य यद्यपि कठिन है, तथापि ताप देनेवाले कामादि विषयोंके साथ योग होनेसे वह पिघल जाता है। ऐसी अवस्थामें चित्तके साथ जिस प्रियवस्तुका सम्बन्ध होता है तो उसीका रंग उसमें मिल जाता है। और फिर वह इस तरह घुल-मिल जाता है कि इस बाह्य शरीरके नाश हो जानेपर भी मनोमय स्वरूप रहा ही आता है। ऐसा पदार्थ भक्तियोग ही है। सर्वेश्वर सर्वशक्ति श्रीकृष्णभगवान्‌में कामादिके द्वारा जब चित्तवृत्ति फँस जाती है, अथवा कामादि सम्बन्धके द्वारा द्रुत हुए चित्तमें जब भगवत्स्वरूपका प्रवेश होता है, तब फिर वह किसी तरह भी नहीं निकलता। ऐसे महानुभाव भगवद्भक्तोंमें उत्तमोत्तम हैं।

समाधिभाषामें कहा है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥
गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तद्विस्मरामहे॥

काम-क्रोधादि स्वाभाविक सम्बन्धोंके द्वारा जो भगवत्सम्बन्ध होता है वह सुदृढ़ और सर्वतोऽधिक होता है। और वह फिर किसी तरहसे भी हटता नहीं। इतना ही नहीं, प्रत्युत सर्वप्रपञ्चका भी प्रलय हो जाता है। महात्माओंने इस निरोधका इस तरह वर्णन किया है—

दोहः प्रायो न भवति गवां दोहनं चेद्ध पाकः
क्षीराणां चेत् स भवति तदा दुर्लभं तद्दधित्वम्।
दध्नः सिद्धौ क्व खलु मथनं मन्थने क्वोपयोग-
स्तक्रादीनामिति गतिरभूदद्य गोधुग्गृहेषु॥

हे उद्धव! जिस दिनसे श्रीकृष्ण मथुरा पधारे उस दिनसे आजतक ग्वालगृहोंमें यह दशा हो रही है कि पहले तो गायोंका दोहना बनता ही नहीं; यदि किसीके घरमें दूध दुह लिया तो फिर उसे औंटाये कौन? किसीने यदि औंटा भी लिया तो फिर उसको जमाकर दही बना लेना असम्भव हो जाता है। दही हो भी जाय तो कोई भी उसको मथता नहीं। और कहीं यदि मथ लिया जाता है तो फिर उसका कोई भी उपयोग नहीं करता।

यह दशा निरोधकी है। सारा जगत् और जगत्‌का

व्यवहार भूल जाय और एक श्रीकृष्णमें ही मन फँस जाय— बस, इसे ही निरोध कहते हैं। यह व्यापारनिरोध है। इसका फल कार्यनिरोध है। अर्थात् प्रपञ्चका एकदम प्रलय, भगवत्प्राप्ति—इन दोनोंके पूर्व कारणनिरोध हैं। भगवल्लीलाएँ ही कारणनिरोध हैं। उनमें काम, क्रोध, भय, स्नेह आदिकी लीलाएँ मुख्य निरोध हैं। 'नितरां रोधो यैस्ते निरोधाः, भगवच्चरित्राणि।' अतएव कहा है—

निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्॥
अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चयः।
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः॥
प्रपञ्चविस्मृतिस्तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते।
निरोधो यौगिकश्चात्र रोधनात्मा सतां मतः॥

इस सम्पूर्ण सन्दर्भका सार यह है कि अपनी दुर्विभाव्य सम्पूर्ण शक्तियोंको साथ लेकर पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णका जगत् (व्रज) में प्रकट होकर अनेक चरित्र करना कारणनिरोध है। यदि भगवान् प्रकट होकर स्वाभाविक लीलाएँ न करते तो भक्तोंका निरोध न होता। दुनियाको भूलकर श्रीकृष्णमें ही मनकी आसक्ति हो जाना, यह व्यापारनिरोध है। और फिर भक्तोंके प्रपञ्चका एकदम लयको प्राप्त हो जाना ही फलनिरोध है।

ये तीनों निरोध भगवच्चरित्रोंमें विद्यमान हैं। और दशम स्कन्धकी कथाओंमें इनका स्पष्ट निरूपण है।

'भजते तादृशीः क्रीडा यां श्रुत्वा तत्परो भवेत्।' इत्यादिमें पूर्वनिरोध, और 'तन्मनस्कास्तदालापाः' इत्यादिमें मध्यनिरोध, एवं 'तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्' इत्यादिमें फलनिरोधका निरूपण है। इन सब निरोधोंका मूल भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीला प्रभृति मुख्यलीलाएँ हैं। अतएव श्रीशुकब्रह्मने कहा है—

'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।'

जो कोई इस रासलीला-प्रकरणका श्रवण-मनन करेंगे, उनका कामरूप हृद्रोग थोड़े ही समयमें दूर हो जायगा।

(समाप्त)

आध्यात्मिकता, अहिंसा, गोरक्षा और निरामिषता

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीयुत के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

भारतमें निरामिषताका प्रचार संसारके आश्चर्योंमेंसे एक है। इसका जितना गहरा और व्यापक प्रचार भारतमें हुआ, उतना और कहीं नहीं हुआ। इस अद्वितीय वस्तु-स्थितिके अनेक हेतु दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें सबसे प्रबल कारण तो 'अहिंसा परमो धर्मः'—इस उदात्त सिद्धान्तकी शिक्षा ही है। अहिंसाका व्रत आध्यात्मिक जीवनकी सबसे पहली सीढ़ी है और इसपर पैर रक्खे बिना हम निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञानकी उच्चतर भूमिकाओंपर आरूढ होकर भगवत्प्रेम एवं भगवत्साक्षात्कारके निरतिशय, शाश्वत एवं सीमारहित आनन्दको कभी प्राप्त ही नहीं कर सकते।

आध्यात्मिकताके स्वरूपके सम्बन्धमें लोगोंकी अनेक अनिश्चित धारणाएँ हैं और उसके विषयमें लोगोंने कहा-सुना भी बहुत कुछ है। कुछ लोग कर्मकाण्डको, कुछ किसी मतविशेषमें विश्वास करनेको, कुछ धार्मिक विधि-विधानोंको, कुछ प्रार्थनाको, कुछ तपको, कुछ त्यागको, कुछ सदाचारको और कुछ लोकोपकारको ही आध्यात्मिकताका स्वरूप मानते हैं। परन्तु ये सब आध्यात्मिकताके पोषकमात्र हैं, उसके स्वरूप नहीं। अजन्मा एवं अविनाशी, सच्चिदानन्दस्वरूप विशुद्ध चेतन ही पुरुषका वास्तविक स्वरूप है, इस अनुभूतिका नाम ही आध्यात्मिकता है। प्रकाश, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द और कल्याण—आत्माके ये स्वाभाविक गुण हैं। प्रेमका क्रियात्मक स्वरूप ही अहिंसा है और अहिंसाका क्रियात्मक स्वरूप निरामिषता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि हिन्दूधर्ममें यज्ञ-यागादिपर बड़ा जोर दिया गया है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि यज्ञके सिद्धान्तका क्रियात्मक विकास किस प्रकार हुआ। बौद्ध-धर्मने यज्ञ-यागादिका प्रत्यक्ष विरोध किया। यही नहीं, भगवान् मनुने, जो बुद्धके बहुत पहले हुए थे, अपने मानव-धर्मशास्त्रमें 'मांस' शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति की है—'मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।' अर्थात् जिसका मांस मैं इस जन्ममें खाऊँगा, वह दूसरे जन्ममें मुझे खायेगा। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि केवल जपके द्वारा मनुष्यको यज्ञादिसे मिलनेवाला सम्पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है।

महाभारतमें उपरिचर वसुका आख्यान मिलता है, जिसमें

जीवित प्राणियोंके बदले आटे आदिके बने हुए पशुओं (पिष्टपशु) की आहुति देनेकी बात कही गयी है। इसके भी पूर्व रामायणमें यह बात कही गयी है कि मनुष्यका जो आहार होता है, उसके आराध्य देवताओंका भी वही आहार होता है ('यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः')। इस प्रकार भारतमें जब मनुष्योंका आहार सर्वथा निरामिष हो गया तो यज्ञोंका प्रचार अपने-आप कम हो गया। उपनिषदोंके इस कथनने कि यज्ञ-यागादि भवसागरसे पार ले जानेके लिये कमजोर बेड़े हैं ('प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'), तथा साथ ही यौगिक साधनाओं एवं उनसे मिलनेवाले समाधि आदिके सुखने और भक्ति एवं प्रपत्तिजनित आनन्दने यज्ञोंका प्रचार और भी कम कर दिया। जहाँ-तहाँ यज्ञ अब भी होते हैं। परन्तु मुझे दृढ़ विश्वास है कि समय पाकर वैदिक यज्ञका स्थान सम्पूर्णतः जपयज्ञ ग्रहण कर लेगा।

हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि कम-से-कम गौकी अवध्यताके सम्बन्धमें हिंदुओंकी मान्यता सदा ही अचल रही है। गौकी उपासना हिंदुओंकी प्रकृतिके अत्यन्त गहरे स्तरमें पहुँच चुकी है। सम्भवतः इसका कारण उनकी यह अनुभूति है कि हव्य पदार्थोंमें गायका घी और चरु (खीर) देवताओंको सबसे अधिक प्रिय हैं। इसमें एक कारण उनकी यह भावना भी हो सकती है कि देवताओंको इन पदार्थोंकी आहुति दिये बिना वर्षा एवं अन्य दैवी दैनोंके रूपमें देवताओंकी कृपा नहीं हो सकती। यही कारण है कि गौ एवं ब्राह्मणोंकी एक साथ मङ्गलकामना की गयी है—'गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम्।' गौ एवं ब्राह्मणोंके अभ्युदयपर ही जगत्का अभ्युदय अवलम्बित है। भगवान् मनु कहते हैं—

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

'अग्निमें छोड़ी हुई आहुति भगवान् सूर्यको मिलती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे जीवोंकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है।'

गीतामें भी कहा है—

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
> यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

'अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं पोषण होता है, मेघों (वर्षा) से अन्नकी उत्पत्ति होती है, यज्ञोंसे वर्षा होती है, यज्ञ कर्मके द्वारा सम्पन्न होते हैं, कर्मकी शिक्षा वेदोंसे मिलती है और वेदोंकी उत्पत्ति अविनाशी परमात्मासे होती है।'

गोपूजाका एक कारण यह भी हो सकता है कि गौ अतिशय उपकारी जन्तु है और मनुष्येतर प्राणियोंमें अहिंसाकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। महात्मा गाँधीने अपनी निराली शैलीमें, जिसमें सरलता और गम्भीरताका सम्मिश्रण होता है, एक बार कहा था—'गौ दयाकी एक कविता है।'

यहाँ एक बात और ध्यानमें रखनेकी है कि पुराणोंमें कई पशु-पक्षियोंका जो विविध दैवताओंके वाहनरूपमें वर्णन मिलता है, उसने भी मनुष्येतर प्राणियोंके प्रति दयाका भाव जाग्रत् करनेमें सहायता पहुँचायी है। यह सबपर विदित है कि भगवान् विष्णुका वाहन होनेके कारण गरुड़ पक्षीका हमलोग कितना आदर करते हैं। बंदरोंको हमलोग इसलिये नहीं मारते कि हिंदू-भावनाके अनुसार वानरजातिका हनुमान्‌जीके साथ सम्बन्ध है। नटखट गिलहरी भी हमें इसलिये प्रिय है कि सेतुबन्धके समय कहते हैं एक गिलहरीने उस बृहत् आयोजनमें हाथ बँटानेके लिये एक छोटे-से पत्थरको तोड़ा था और उसकी इस छोटी-सी सेवाके उपलक्ष्यमें भगवान् श्रीरामने उसकी पीठ थपथपायी थी। इसी प्रकार हाथीका गणेशजीके साथ और मयूरका सुब्रह्मण्य (स्वामिकार्तिक) के साथ सम्बन्ध है। यहाँतक कि कुत्तेका भी भैरव तथा भगवान् दत्तात्रेयके साथ सम्बन्ध माना जाता है।

पुनः नैतिक दृष्टिसे तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनुभवके रूपमें हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि धर्मके नामपर अथवा आहारके लिये प्राणियोंकी हिंसा करनेसे मनुष्यका हृदय कठोर और पशुओंकी भाँति संवेदनाशून्य हो जाता है। भावोंकी पवित्रताका इस प्रकार ह्रास हो जानेका अवश्यम्भावी परिणाम होता है और हुआ है—पारस्परिक द्वेष एवं वैर-विरोध, काम और लोभका उद्रेक तथा दंगे और युद्ध। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके द्वार हैं (देखिये गीता अध्याय १६) तथा आत्माका पतन करनेवाले हैं; अतः इनका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है। कौन जानता है कि मनुष्यका मनुष्यके प्रति जो हृदयहीन एवं निष्ठुर व्यवहार आज देखनेमें आ रहा है, कितने अंशमें उसका हेतु उसकी मूक प्राणियों—पशु-पक्षियोंके प्रति निर्दयता ही है। कौन कह सकता

है कि युद्ध आदिके रूपमें जो महान् विपत्तियाँ जगत्पर आ रही हैं, उनका कारण हमारा अन्य प्राणियोंके प्रति दुर्व्यवहार नहीं है ? इस सम्बन्धमें हमें उपनिषदोंके इस महान् उपदेश-को नहीं भूलना चाहिये कि आहारसे ही मन बनता है—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' ।

साथ ही यह बात भी याद रखनेकी है कि पशु-पक्षियों-के प्रति हमारा क्रूर व्यवहार बहुधा हमारे इस भ्रान्त नैतिक सिद्धान्त–हमारी इस अहम्मन्यताके कारण होता है कि मनुष्य सारे चराचर जगत्का स्वामी है और पशु-पक्षी उसीके आहार अथवा उसीके भोग एवं मनोविनोदकी सामग्री हैं। इस प्रकारकी मनोवृत्ति नितान्त अनुचित एवं वर्जनीय है। इसका यदि दमन न किया जायगा तो इससे कुछ व्यक्तियों अथवा कुछ राष्ट्रोंको अन्य लोगों अथवा अन्य राष्ट्रोंके साथ अपने स्वार्थ-साधनके यन्त्र अथवा क्रीतदासके रूपमें व्यवहार करनेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलेगा। मनुष्यको यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि वह किसीको जीवनदान नहीं दे सकता और न किसी जीवको उत्पन्न ही कर सकता है, अतः उसे किसीके प्राण लेनेका कोई अधिकार नहीं है। महात्मा गाँधीने बहुत ठीक कहा है 'मेरा विश्वास है कि मनुष्यको सृजनकी सामर्थ्य नहीं दी गयी है, अतएव उसे किसी छोटे-से-छोटे—नगण्य-से-नगण्य प्राणीको भी मारनेका अधिकार नहीं है। मारनेका–प्राण लेनेका अधिकार केवल सिरजनहारको ही है।' केवल आत्म-रक्षाके लिये मनुष्य दूसरे प्राणीको मार सकता है, और किसी हालतमें नहीं।

अब हमलोग इस प्रश्नकी आर्थिक दिशापर विचार करें। मांसाहारकी अपेक्षा निरामिष भोजन सामान्यतः सस्ता पड़ता है। इसके अतिरिक्त खेतीके कामके लिये बैलोंकी आवश्यकता होती है। इस दृष्टिसे भारत-जैसे देशमें गायों एवं बैलोंकी हिंसा आर्थिक अपराध है। मांसाहारके पक्षपाती यह भी कहते हैं कि यदि मांसाहारका त्याग कर दिया जाय तो अन्न आदि निरामिष खाद्य पदार्थ इतने महँगे हो जायँगे कि लोग उन्हें खरीद न सकेंगे। परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि पृथ्वीके सभी भागोंमें अधिक व्यापक रूपसे तथा अधिक उपजकी दृष्टिसे प्रचुर मात्रामें खेतीका उद्योग ही नहीं किया गया है।

विज्ञान, आरोग्य-शास्त्र एवं चिकित्साशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी हम अनिवार्यरूपसे इसी निर्णयपर पहुँचते हैं। चिकित्सकोंका इस विषयमें एक मत है कि दाल, साग-भाजी, फल, मेवे तथा घी, दूध, दही आदि गव्य पदार्थ मनुष्यके लिये स्वस्थ एवं युक्त आहार हैं। आमिष-भोजनका मानव-देह तथा मनपर दूषित प्रभाव पड़ता है। निरामिष-भोजी मजदूर अधिक समयतक उतना ही कठोर परिश्रम कर सकते हैं, और उतने ही कष्टसहिष्णु एवं प्राणशक्ति-सम्पन्न होते हैं, जितने आमिषभोजी मजदूर। वैज्ञानिकोंका यह कहना है कि मनुष्यकी शरीररचना ठीक वैसी ही है, जैसी अहिंसक जन्तुओंकी। यह कितने दुःखकी बात है कि भारतवर्षमें भी डाक्टर लोग रोगियोंको Bovril और Wincarnis–जैसी अपवित्र जान्तव ओषधियाँ देते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे उपर्युक्त दवाओंके स्थानमें वैसे ही गुणोंवाली काष्ठादि अथवा रासायनिक ओषधियोंकी खोज करके उन्हें रोगियोंको दें। डा० केलोग (Dr. Kellogg)-जैसे सम्मान्य एवं प्रख्यात पाश्चात्त्य चिकित्सकने अपनी निश्चित सम्मति यह दी है कि सब लोगोंको प्रत्येक हालतमें निरामिष भोजन ही करना चाहिये। उनका कथन है कि 'कच्चे अथवा पकाये हुए मांसमें मनुष्य-शरीरके पोषणके लिये आवश्यक अथवा वाञ्छनीय ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो निरामिष खाद्य सामग्रीमें न पाया जाता हो अथवा उससे न निकाला जा सके।'*

विज्ञान आजकल जीवोंके शरीरोंपर चीर-फाड़ आदिके प्रयोग करनेपर उतारू है, क्योंकि उससे चिकित्सासम्बन्धी ज्ञानकी वृद्धिमें सहायता मिलती है। परन्तु अबतक यह विवादास्पद ही है कि जिस कोटिकी वैज्ञानिक उन्नति एवं प्रगति अबतक हुई है, वह इस प्रकारके प्रयोगोंके बिना नहीं हो सकती थी। बहुत-से वैज्ञानिकोंका यह मत है कि इस प्रकारके प्रयोगोंके बिना भी वह हो सकती थी। जो कुछ भी हो, मनुष्यके नामपर क्रूरताका कलङ्क लगाकर तेजीसे विज्ञानकी उन्नति करनेकी अपेक्षा उन्नतिकी चाल धीमी रखना अधिक वाञ्छनीय था।

गौओंके सम्बन्धमें इतनी बात और कही जा सकती है कि हम हिंदू गौको जो माता कहकर पुकारते हैं, यह उचित ही है। बच्चोंके लिये लगभग माँके दूधके समान ही हितकारी

* There is nothing necessary or desirable for human nutrition to be found in meats or flesh, which is not found in and derived from vegetable products.

एवं पुष्टिकारक पदार्थ यदि कोई है तो वह गायका दूध ही है । बड़ी अवस्थाके लोगोंके लिये भी गायका दूध मुख्यरूपसे आवश्यक है । हमारे शरीरोंपर पोषक तत्त्वोंकी जो न्यूनता पायी जाती है, उसका कारण भी अधिकांशमें दुग्धाहारकी कमी ही है । आजके लोगोंमें जो जीवनी शक्ति, ओज एवं रोगोंके आक्रमणको रोकनेकी शक्तिका ह्रास देखनेमें आता है उसका कारण भी यही है । राजयक्ष्मा आदि सांघातिक रोग भी प्रायः उन्हीं लोगोंपर अपना जोर दिखलाते हैं, जिन्हें पर्याप्त मात्रामें प्राणपोषक आहार नहीं मिलता और फलतः जिनकी जीवनी शक्ति बहुत क्षीण हो गयी है । आजकल जहाँ-तहाँ 'दूध अधिक पियो' के नारे सुनायी देने लगे हैं । परन्तु यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यदि हम अधिकाधिक संख्यामें गौओंका वध करते चले जायँगे और बची-खुची गौओंकी नस्ल नहीं सुधारी जायगी और उन्हें अच्छी तरह खिलाया-पिलाया नहीं जायगा और वे आजकलकी भाँति अपर्याप्त मात्रामें दूध देती रहेंगी तो 'दूध अधिक पियो' के नारे अरण्यरोदनके समान ही सिद्ध होंगे । हमें चाहिये कि हम अच्छी और विशाल गोचर-भूमियोंकी व्यवस्था करें, वैज्ञानिक पद्धतिसे गौओंकी नस्ल सुधारें और साथ ही भारतमें गोवधको बंद कराने तथा भारतसे बाहर गौओंके चालानको रोकनेका दृढ़ सङ्कल्प एवं प्रयत्न करें ।

लोग बहुधा यह प्रश्न करते हैं कि 'क्या वनस्पतियोंमें प्राण नहीं होता ? तब हमें शाक-भाजी और अन्न आदि खानेका क्या अधिकार है ?' इसके प्रमाणमें वे सर जगदीशचन्द्र वसुका हवाला देते हैं । वसु महाशयने यह सिद्ध कर दिया है कि चेतन एवं अचेतन सभी जीवोंमें प्रतिक्रिया होती है, और वनस्पतियोंमें भी प्राण रहता है । परन्तु वे लोग इस बातको नहीं जानते कि भगवान् मनु बहुत पहले (कल्पके आदिमें) इस सिद्धान्तका निरूपण कर चुके हैं—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ।' (अर्थात् उद्भिज्ज जातिके जीवोंमें भी भीतरी चेतना रहती है और उन्हें सुख-दुःखका अनुभव भी होता है ।) परन्तु इससे प्रश्नकर्ताओंका पक्ष सिद्ध नहीं होता । वनस्पतियोंमें संवेदनशील मस्तिष्क एवं स्नायुजालकी रचना नहीं होती; इन्हींके रहनेपर वेदनाका अनुभव तीव्र एवं असह्य होता है । ऋषिलोग तो कन्द-मूल एवं पककर झड़े हुए फलों एवं पत्तोंसे जीवननिर्वाह करते थे । परन्तु इस प्रकारका तपोमय जीवन सामान्य मनुष्योंके लिये न तो सम्भव है और न उनसे यह आशा की जाती है कि वे इस प्रकारका जीवन व्यतीत करें । इसीलिये शास्त्र उन्हें इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा भी नहीं देते । फिर यह कहना तो बनता ही नहीं कि वनस्पतियोंको पीड़ाका वैसा ही अनुभव होता है अथवा उन्हें उतनी ही तीव्र वेदना होती है, जितनी पशु-पक्षियोंको होती है ।

शिकारके नामपर भी बेचारे मूक प्राणियोंको बड़ी यन्त्रणा दी जाती है । प्रत्येक सम्पन्न और अविवेकी मनुष्य कंधेपर बंदूक लेकर अपने मूक भाइयोंका वध करनेके लिये चल देता है । इस सम्बन्धमें हमें ईसपकी कहानियोंमें ढेला मारनेवाले बालकोंके प्रति मेढकोंकी इस उक्तिको याद कर लेना चाहिये कि 'तुम लोगोंकी खिलवाड़ हमारे लिये प्राणघातक सिद्ध हो रही है ।' हिंसक जीवोंकी शिकार करना दूसरी बात है । किन्तु केवल अपनी निशानेबाजी प्रदर्शित करनेके लिये हमलोग कितने निरीह पक्षियों एवं निरपराध खरहों तथा निर्दोष हरिनोंकी जान लेते हैं । यही नहीं, लोगोंकी इस कामके लिये जितनी अधिक प्रशंसा होती है, उतनी ही अधिक उनमें जीवोंका वध करनेकी शक्ति होती है । जिस निष्ठुर मनोवृत्तिके कारण शिकारीलोग निरीह एवं निर्दोष जीवोंको मारनेमें नहीं हिचकते, वही उन्हें अन्य राष्ट्रोंके मनुष्योंके प्रति भी वैसा ही निष्ठुर एवं हृदय-हीन बना देती है ।

यह कहना कि स्वास्थ्य, बल एवं दीर्घजीवनकी दृष्टिसे मांसाहारी लोग मांस न खानेवालोंकी अपेक्षा अधिक लाभमें रहते हैं, ठीक नहीं है । निरामिषभोजियोंमें भी दीर्घायु, स्वस्थ एवं सबल मनुष्य उतनी ही संख्यामें पाये जाते हैं जितने मांसाहारियोंमें । यही नहीं, बीमा-कंपनियाँ तो मांसाहारियोंकी अपेक्षा मांस न खानेवालोंके जीवनकी बीमा अधिक संख्यामें करती हैं । यदि वस्तुस्थिति इसके विपरीत हो तो भी हिंदुओंने अपनी बुद्धिके द्वारा यही पता लगाया है कि निरामिष भोजनमें यदि किसी बातकी न्यूनता भी हो तो वह

ब्रह्मचर्य एवं योगके द्वारा पूरी की जा सकती है। ऐसी स्थितिमें यह कितने आश्चर्यकी बात है कि भारतीय सेना-विभागने ब्राह्मण विद्यार्थियोंके लिये स्थलसेना एवं जलसेना दोनोंके द्वार एक प्रकारसे बंद कर दिये हैं और यह घोषणा कर दी है कि नौसेनाके सभी श्रेणियोंके सैनिकोंके लिये आमिष-भोजनकी ही व्यवस्था की जायगी। यदि भारतीय लोकमत उचित ढंगसे तथा प्रबल रूपसे अपना सिक्का जमा ले तो इस प्रकारकी अज्ञतापूर्ण रुकावटें तुरंत हट जायँ।

अब हम इस प्रश्नपर, खासकर गोरक्षाके प्रश्नपर प्रचार एवं सङ्गठनकी दृष्टिसे विचार करेंगे। भारतमें अहिंसा एवं निरामिषताके प्रचारके लिये फोनोग्राफ, रेडियो, मैजिक लैन्टर्न, तथा समाचारपत्रोंद्वारा आन्दोलन होना चाहिये, सार्वजनिक सभाओंमें इस विषयपर व्याख्यान होने चाहिये तथा गली-गलीमें घूमकर भजन-मण्डलियोंद्वारा उपदेश होने चाहिये, अहिंसा तथा निरामिषताका महत्त्व बतलानेवाले नाटक खेले जाने चाहिये तथा बायस्कोपके फिल्मोंद्वारा भी इनका प्रचार होना चाहिये। श्रीहर्षके नागानन्द नामक नाटकको देशभरमें खेलने तथा बायस्कोपमें दिखानेकी योजना होनी चाहिये। उसमें 'नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिरम कुरु प्राकृते चानुतापम्' (दूसरे प्राणियोंका वध न करो और पहले कभी किया हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करो)–यह जो उपदेश दिया गया है, लोगोंको उसका महत्त्व समझाना चाहिये और ऐसी चेष्टा होनी चाहिये कि लोग उसे याद रक्खें। यही नहीं, स्कूलोंकी पाठ्यपुस्तकोंमें तथा शिशुओंको सिखायी जानेवाली कविताओंमें अहिंसा एवं निरामिषताके भावोंको प्रधानता दी जानी चाहिये। सबसे अधिक उच्च साहित्य एवं कलाके द्वारा इस आन्दोलनको बराबर निश्चितरूपसे समर्थन मिलता रहना चाहिये।

रही संस्थाओंकी बात, सो हमारे देशमें कुछ अच्छी संस्थाएँ अवश्य हैं परन्तु वे इस दिशामें अधिक कार्य नहीं कर रही हैं। सरकारने एक पशु-चिकित्सा-विभाग खोल रक्खा है। जीवोंके प्रति निर्दयताको रोकनेके लिये S. P. C. A. नामकी एक सोसाइटी भी है और वह भरसक जानवरोंके साथ की जानेवाली क्रूरताका नियन्त्रण करती है। परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि इस सम्बन्धमें जो कानून है, उसे अधिक कारगर बनाया जाय। पिंजरापोल तथा गोशालाएँ बुड्ढी एवं ठाठ गौओं तथा कसाइयोंके हाथसे बचायी हुई गौओंकी रक्षा करती हैं। परन्तु ये सब संस्थाएँ इस समस्याको केवल आंशिक रूपमें हल कर पाती हैं और एक संस्था ५००-६०० से अधिक गौओंकी रक्षा नहीं कर पाती। ग्वालोंका यह हाल है कि वे गौओंका सारा-का-सारा दूध खींच लेते हैं और बछड़ोंके लिये एक बूँद भी नहीं छोड़ते, जिसका परिणाम यह होता है कि बछड़े भूखे रह जाते हैं। हमारे यहाँ बछड़ोंकी रक्षाके केन्द्रोंकी भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी शिशुओंकी रक्षाके केन्द्रोंकी। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता इस बातकी है कि शहरोंमें म्यूनिसिपल्टियोंकी ओरसे इस प्रकारकी व्यवस्था की जाय कि लोगोंको शुद्ध दूध मिल सके, तथा डेरी-फार्म खोले जायँ। ऐसा होनेपर शहरोंके ग्वालोंद्वारा गायोंके प्रति जो निर्दय एवं क्रूर व्यवहार होता है, वह अपने आप बंद हो जायगा और हम लोगोंके मनमें उसकी दुःखद स्मृतिमात्र शेष रह जायगी। हमें आशा है कि देर-सबेर—शायद बहुत जल्दी—ऐसा समय भी आ सकता है जब कि कानूनके द्वारा–जो जनताकी विवेकबुद्धिको कार्यान्वित करनेका साधन है—केवल गोवध ही नहीं अपितु आहारके लिये अथवा देवताओं-की बलिके रूपमें जीवमात्रकी हिंसा बंद कर दी जायगी और न केवल मनुष्योंमें पारस्परिक शान्ति एवं सौहार्दका प्रसार होगा अपितु अहिंसाके साम्राज्यमें समस्त जीवोंके प्रति दयाका बर्ताव होगा।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

आपके बहुत-से पत्र आये। आपके प्रश्न अधिक थे और मुझे समय कम मिल पाता है, इसी कारण आपको उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ, इसके लिये आपको विचार नहीं करना चाहिये।

आपने पत्रमें मेरे लिये प्रशंसात्मक शब्द प्रयुक्त किये सो नहीं करने चाहिये। इसके लायक तो भगवान् ही हैं। मुझको तो एक साधारण भाईके समान समझकर साधारण शब्द लिखने चाहिये।

आपने साकार प्रभुकी उपासना प्रारम्भ की किन्तु प्रभुके दर्शन न होनेके कारण फिर निराकारकी उपासना आरम्भ कर दी और बादमें निराकारकी उपासना भी अपने लिये दुस्तर समझकर छोड़ दी और साकारकी शुरू कर दी सो इस तरह एक साधनपर अविश्वास करके दूसरे साधनके लिये मनको चलायमान नहीं करना चाहिये। अपने निश्चयके अनुसार एवं महापुरुषोंके आज्ञानुसार एक ही साधनपर दृढ विश्वास करके तत्पर होकर लग जाना चाहिये। उपासना साकार एवं निराकार दोनों ही उत्तम हैं। इनमेंसे जिसमें आपको सुगमता मालूम पड़े वही कर सकते हैं।

आपने लिखा कि भक्ति पूरी न भी हुई और दयालु हरिकी दया हो गयी तो वे स्वयं गरुड़ छोड़कर आयेंगे, सो ठीक है। भगवान्‌की दया तो है ही, परन्तु विशेष दया प्रेमीके प्रेमको देखकर होती है। उनका प्रेमी भक्त जब कुछ भी सहारा न पाकर अधीर होकर रो उठता है और भगवान्‌से मिलनेके लिये अपने-आपको भी भूल जाता है तब भगवान् भी उसे दर्शन देकर कृतार्थ करनेके लिये उसके प्रेमके वश हो, गरुड़ तो क्या, प्यारीसे भी प्यारी वस्तुको भी छोड़कर तुरंत दौड़े आते हैं; आवश्यकता है उनमें अनन्य प्रेम होनेकी।

आपको श्री············ने शिक्षाके विषयमें मुझसे पूछनेके लिये कहा सो यह उनकी भावुकता है। मैं शिक्षा देनेका अधिकारी तो नहीं हूँ परन्तु फिर भी आपलोगोंका प्रेम है—इस नाते कुछ लिख दिया करता हूँ।

आपने लिखा कि 'यहाँपर कतिपय ब्राह्मणलोग विद्वान् होते हुए भी मैथिलोंकी अपेक्षा अधिक मांसाहारी हैं, फिर भी मैं अपने ज्ञानानुसार लोगोंको गीता पढ़ाया करता हूँ जिससे कुछ भाइयोंने तो हिंसा त्याग भी दी।' सो यह बहुत ही प्रशंसनीय कार्य है। हिंसा करनेवाले कुछ लोग आपसे प्रश्न करते हैं लिखा सो उनके प्रश्नोंका तथा आपके दूसरे पत्रके प्रश्नोंका उत्तर नीचे दिया जाता है।

(१) प्रश्न—जीव अजन्मा और अवध्य है, उसे भला कोई कैसे मार सकता है? इस पाञ्चभौतिक शरीरके पाँचों तत्त्व अपने-अपने अंशमें मिल जाते हैं। आत्मा तो निर्विकार है, वह न किसीको मारता है, न मरवाता है; फिर लोग हिंसा किस प्रकार करते हैं?

उत्तर—यह ठीक है कि जीव अजन्मा और अवध्य है, उसे कोई नहीं मार सकता तथा इस पाञ्चभौतिक शरीरके पाँचों तत्त्व अपने-अपने अंशमें मिल जाते हैं। आत्मा निर्विकार है, वह न किसीको मारता है और न मरवाता है परन्तु उस शुद्ध आत्माका जड शरीरके साथ संयोग होनेसे उस व्यष्टिचेतनकी जीव संज्ञा है। वह जीव अज्ञानसे इस पाञ्चभौतिक शरीरके साथ सम्बन्ध माननेके कारण बँधा हुआ है तथा इसके सुख-दुःखके साथ सुखी-दुखी होता है। अतः इस स्थूल शरीरसे प्राणोंका विच्छेद कर देना ही हिंसा है, लोग इस शरीरसे प्राणोंको जो अलग कर देते हैं यही हिंसा करते हैं।

(२) प्र०—मनुष्य क्या कर सकता है ? संसारमें जो कुछ होता है, सब ईश्वर ही करते हैं। इस विषयमें गीता अध्याय ११ के ३३ वें श्लोकका प्रमाण है। भगवान्‌ने कहा कि 'हे सव्यसाचिन्! ये तो मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं, तू तो निमित्तमात्र बन! फिर बकरोंको भी भगवान्‌द्वारा पहलेहीसे मारे गये क्यों न समझें ? लोग तो निमित्तमात्र हैं।

उ०—श्रीभगवान्‌ने गीतामें ११ वें अध्यायके ३३वें श्लोकमें जो अपने द्वारा पहले ही मारे हुओंको मारनेके लिये अर्जुनको निमित्तमात्र बननेकी आज्ञा दी सो तो उचित ही है। क्योंकि दुर्योधनके पास पाण्डवोंका राज्य और धन धरोहररूपसे था। उसको दुर्योधनने पाण्डवोंके माँगनेपर भी नहीं देना चाहा, बल्कि वह सेना एकत्र करके लड़नेको तैयार हो गया, यहाँतक कि आजीवन पाण्डवोंका अनिष्ट ही करता रहा। इन सब कारणोंसे वह आततायी था किन्तु बेचारे बकरे तो आततायी नहीं हैं, वे तो निरपराधी हैं। उनको मारनेके लिये तो भगवान्‌ने ऐसा कहीं नहीं कहा कि ये मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तुम इनको मारो, काटो और खाओ। बल्कि शास्त्रोंमें निरपराध प्राणियोंको मारना पाप बतलाया है तथा उस कर्मके फलस्वरूप नरकयन्त्रणा भोगनी पड़ेगी—ऐसा कहा है। अतः जो लोग अपनी भोगवासनाकी पूर्तिके लिये निरपराध प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, वे दण्डनीय होते हैं। इस पापके विषयमें भगवान् न तो कर्ता हैं और न प्रेरक ही। इसमें तो मनुष्यका काम ही हेतु है (गीता ३। ३७)।

(३) प्र०—भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें कहा है कि जो जन्मता है वह मरता है और मरनेवालेका जन्म निश्चित है। इससे शरीर-वध होगा तो दूसरा नया शरीर मिल जायगा। अतः इसमें कौन किसकी हिंसा करते हैं ?

उ०—भगवान्‌ने जो दूसरे अध्यायमें इस प्रकार कहा है सो तो मोहके कारण हुई अर्जुनकी मान्यताके अनुसार कहा था। भगवान् तो ऐसा मानते ही नहीं। वे तो अर्जुनसे कहते हैं कि—'हे अर्जुन! यह जीव अवध्य है, इत्यादि। किन्तु तुम यदि इसे विनाशशील मानते हो तो जो जन्मता है वह मरता भी है तथा मरनेवालेका जन्म भी निश्चित है। अतः तुम्हारी मान्यतासे भी तुमको शोक नहीं करना चाहिये।' इसलिये भूलसे माननेवाला अज्ञानी जीव ही जीवोंकी हिंसा करता है।

(४) प्र०—गीताजीमें श्रीकृष्णने जब कि सम्पूर्णतः अहिंसा और अध्यात्मयोगका वर्णन किया तो फिर अर्जुन किस ज्ञानसे लड़नेको तैयार हो गया ? जब युद्धमें अर्जुनके द्वारा ही इतनी हिंसा हुई और उसको हिंसक नहीं समझा गया तो फिर मांसाहारियोंको ही हिंसक क्यों माना जाता है ?

उ०—गीतामें अहिंसावादका प्रतिपादन होते हुए भी न्याययुक्त हिंसाको हिंसा नहीं माना है। अर्जुनद्वारा युद्ध करनेपर दुर्योधनादिकी हिंसा न्याययुक्त इसीलिये है कि धरोहररूपसे रक्खे हुए राज्य और धनको पाण्डवोंके माँगनेपर भी न देना और उलटे डाकुओंकी तरह युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाना—यह अन्याय एवं अत्याचार है। बेचारे बकरे तो अन्यायी एवं अत्याचारी नहीं हैं, वे तो निरपराध हैं। अतः इनके मारनेवाले एवं खानेवाले सभी हिंसक समझे जाते हैं।

(५) प्र०—जो स्वयं मारते तो नहीं हैं परन्तु बाजारसे मांस मोल लेकर खाते हैं, क्या वे भी हिंसक माने जाते हैं ?

उ०—अवश्य। शास्त्रमें ६ प्रकारके हिंसक माने गये हैं। १ स्वयं प्राणिवध करना, २ वध करवाना, ३ मांस बेचना, ४ मांस खरीदना, ५ मांस पकाना और ६

मांस खाना। अतः इनमेंसे कोई-सा भी हो, वह हिंसक ही समझा जाता है।

(६) प्र०—उरप्रेरक तो स्वयं भगवान् हैं, हमलोगोंसे जो कुछ होता है सब वे ही कराते हैं, फिर शास्त्र जीवपर दोष क्यों देते हैं ?

उ०—शास्त्रोक्त न्याययुक्त प्रेरणा भगवान्‌की प्रेरणा है। शास्त्रसे विपरीत जो हमारे अन्तःकरणमें प्रेरणा होती है, उसका हेतु काम है—

अर्जुनके यह पूछनेपर कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।'

श्रीभगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसीको तू इस विषयमें वैरी जान।' इसलिये शास्त्रने जीवपर दोष लगाया है।

(७) प्र०—हिंसा किसे कहते हैं ?

उ०—स्थूल देहसे प्राणोंके विच्छेद कर देनेका नाम हिंसा है।

(८) प्र०—आत्मा न जन्म लेता है तथा न मरता है। न उसे सुख होता है तथा न दुःख ही। वह शुद्ध है अतः वह पुण्य-पापका भागी भी नहीं होता फिर ग्रन्थकारोंने नरक, स्वर्ग तथा निर्वाणपदका वर्णन किसके लिये किया ? उसका भागी कौन होता है ?

उ०—आपका कहना ठीक है कि आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न सुख-दुःखका भागी ही होता है और न पुण्य-पापको भोगनेवाला ही। किन्तु उस शुद्ध आत्मा और जड शरीरके संयोगसे व्यष्टि चेतनकी जीव संज्ञा है। उस जीवको ही यह सब सुख-दुःख तथा पाप-पुण्य आदिका फल होता है और नरक, स्वर्ग तथा निर्वाणपद आदि भी जीवके लिये ही शास्त्रोंने वर्णन किया है। इस स्थूल देहको जला देनेके बाद भी इस जीवका सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है। जब महाप्रलय होता है तब सूक्ष्मशरीर भी प्रकृतिमें विलीन हो जाता है तब इसका सम्बन्ध प्रकृतिसे यानी कारणशरीरसे रहता है। जबतक जीवका कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है तबतक जीवका आवागमन नहीं मिटता और उसको कर्मानुसार सुख-दुःखादि भोग भोगने पड़ते हैं। कारणशरीरका सम्बन्ध अनादि है और उसका हेतु अविद्या (माया) है। उस अविद्याका नाश ज्ञानसे होता है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तो ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये कि जिसकी कृपासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर अविद्याका नाश हो—

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)*

* 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१०।१०)*

अथवा महापुरुषोंकी शरण जाना चाहिये। उनकी कृपासे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर अज्ञानका नाश हो सकता है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४।३४)†

उपर्युक्त श्लोकोंका विस्तारसे अर्थ गीतातत्त्वाङ्कमें देखना चाहिये।

(९) प्र०—यह पाञ्चभौतिक शरीर तो यहीं नष्ट हो जाता है फिर गीतामें दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादि किसके लिये कहा गया है?

उ०—इस पाञ्चभौतिक शरीरको जला देनेके बाद भी जीवका सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है। इससे वह सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव पुनः दूसरे नये शरीरको धारण कर लेता है। इसी विषयको समझानेके लिये 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादि कहा गया है।

(१०) प्र०—आत्मा तो आकाशवत् है। जब यह घट फूट जाता है तो आकाशका आकाश ही रह जाता है। कहीं घटके फूटनेसे आकाश भी नष्ट होता है? अथवा गंदे घड़ेका मैल क्या आकाशको भी मैला कर सकता है? यदि नहीं तो फिर इस शरीररूपी घटद्वारा किये हुए पुण्य-पापका भागी यह आत्मा कैसे होता है?

उ०—आपका कहना ठीक है। किन्तु यह आत्मा इस शरीररूपी घटद्वारा किये गये पुण्य-पापका भागी नहीं होता। जीव होता है। क्योंकि आत्मा शुद्ध है, निर्लेप है और असङ्ग है।

(११) प्र०—प्राण और आत्मामें क्या भेद है?

उ०—प्राण जड है और एक शरीरको त्याग कर दूसरे शरीरमें आता-जाता रहता है। आत्मा चेतन, ज्ञाता, साक्षी और अचल है।

(१२) प्र०—विशिष्टद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्यके मतमें ईश्वर, जीव और माया पृथक्-पृथक् हैं तथा जीव मायासे छूटनेके लिये ईश्वरको भजता है परन्तु श्रीशङ्कराचार्यके मतमें जीव और ईश्वरको एक माना है सो क्या बात है?

उ०—श्रीरामानुजाचार्यका कथन द्वैतवादसे है तथा श्रीशङ्कराचार्यका कथन अद्वैतवादसे। अतः अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनों ही आचार्योंका कहना ठीक है।

(१३) प्र०—भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायमें कहा कि 'हे अर्जुन! ये योद्धागण तुम्हारी निन्दा करेंगे। तुम्हारे लिये इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?' तथा वे ही आगे चल कर कहते हैं कि 'जो निन्दा-स्तुति और मानापमानको बराबर समझता है, वह स्थिरधी है।' ऐसा क्यों?

उ०—भगवान्ने दोनों जगह अलग-अलग दृष्टिसे दो बातें कही हैं। पहली बात तो मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहनेवाले बद्ध जीवके विषयमें है तथा दूसरी मानापमानमें समताकी बात जीवन्मुक्त महापुरुषके विषयमें है।

---

* 'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

† 'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(१४) प्र०—यज्ञशिष्ट भोजनको अमृत भोजन कहा गया है, परन्तु यज्ञशेष घृत क्यों नहीं खाया जाता ?

उ०—यज्ञशिष्ट भोजनको अमृत भोजन कहा गया सो ठीक है। यज्ञशेष घृत भी खा सकते हैं।

(१५) प्र०—जूआ भी तो ईश्वरका अंश है। फिर जूआ खेलना पाप क्यों है ?

उ०—जूआ ही क्यों, जो कुछ भी है, सभी ईश्वरका अंश है। तथा सबको ईश्वरका रूप मानकर चाहे जो क्रिया करें, पापका भागी नहीं बनना पड़ता, क्योंकि ईश्वर सबमें है। और ऐसी सर्वत्र समबुद्धि हो जानेके कारण मनुष्य राग-द्वेषसे रहित हो जाता है तथा राग-द्वेषसे रहित पुरुषके कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते, वरं वे कर्म कर्म ही नहीं हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥
(४। २०)*

किन्तु यह भी निश्चय समझ लेना चाहिये कि ऐसा सर्वत्र समबुद्धिवाला राग-द्वेषरहित पुरुष कभी भी जूआ आदि पापकर्म करेगा ही नहीं।

(१६) प्र०—वर्णव्यवस्थामें वीर्य प्रधान है या कर्म प्रधान ?

उ०—वर्णव्यवस्थामें वीर्य तथा कर्म (आचरण) दोनों ही प्रधान हैं। जो जाति और आचरण दोनोंसे ब्राह्मण हो, वही ब्राह्मण गिना जाता है। कोई जातिसे तो ब्राह्मण हो पर उसके आचरण ब्राह्मणों-जैसे न हों तो भी वह पूरा ब्राह्मण नहीं तथा आचरणोंसे ब्राह्मण हो और जातिसे न हो तो भी ब्राह्मण नहीं कहला सकता। फिर भी दोनों समान होते हुए भी जीविकानिर्वाहमें जाति प्रधान है तथा मुक्तिमें कर्म प्रधान है।

(१७) प्र०—मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण हनुमान्‌जीसे पाद-सेवा क्यों करवायी ?

उ०—हनुमान्‌जीसे पादसेवा करायी सो तो उचित ही है। क्योंकि वास्तवमें हनुमान्‌जी योनिसे तो बंदर ही थे, ब्राह्मण नहीं थे।

(१८) प्र०—बैंगनकी उत्पत्ति कहाँसे है ? तथा समाजमें विशेषकर विधवा और अन्य लोग इसे क्यों नहीं खाते ?

उ०—बैंगनकी उत्पत्ति तो पृथ्वीसे ही है परन्तु उसके बीजोंमें तामसीपन रहता है अतएव पुराणोंमें इसका निषेध है। विधवा स्त्रियाँ तथा बहुत-से लोग इसे नहीं खाते सो उचित ही है।

आपने श्रीगीताजीके प्रचारके लिये सप्ताह-गीताका प्रचार किया सो उत्तम बात है। वहाँके लोग हिन्दी नहीं जानते, अतः आप उनको गीता अपनी भाषामें समझाते हैं सो बहुत ही प्रशंसनीय कार्य है और कई भाइयोंकी श्रीगीताजीमें श्रद्धा हो गयी सो आनन्दकी बात है।

आपने लिखा कि अहिंसाके विषयपर पूर्ण विवेचन करके विस्तारसे लिखें सो अहिंसाका विषय बहुत गम्भीर है; अतः पत्रद्वारा अधिक विस्तारसे समझाना कठिन प्रतीत होता है। इस विषयमें यदि आपका कभी सम्मुख मिलना हो तो विशदरूपसे समझाया जा सकता है। फिर भी आपकी प्रसन्नताके लिये सूत्ररूपसे लिख दिया गया है।

निरपराधी प्राणियोंके शरीरसे प्राणोंका वियोग करनेपर उसका इस शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे नये शरीरसे सम्बन्ध होता है तो जीवको पहला शरीर छूटते तथा नया धारण करते समय बेहद दुःख होता है। इसी कारणसे हिंसाको पाप तथा अहिंसाको यानी किसी भी प्राणीको दुःख न पहुँचानेको परमधर्म माना गया है।

आपने लिखा कि अहिंसाका प्रकरण समझमें आ जानेसे कई भाई हिंसा करना छोड़ देंगे सो ठीक है। इसके लिये ऊपर लिखा हुआ अहिंसाका विषय भाई लोगोंको समझा देना चाहिये।

---

* 'जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।'

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—पं० श्रीइलाचन्द्रजी जोशी एम्० ए०)

आधुनिक मनोविज्ञान (अर्थात् मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-के प्रधान आचार्य ज़िगमुंड फ्रयड (Sigmund Freud)-ने मनुष्यकी अज्ञात चेतनाकी तुलना ग्रीक पौराणिक कथाके टिटान-जातीय दैत्योंसे की है, जिनके विद्रोहसे तंग आकर देवताओंने उन्हें तातारकी खाड़ीमें फेंक दिया था। इसके बाद उनके ऊपर विशाल पाषाण-पर्वत डाल दिये गये, जिनके दबावसे वे रसातलमें पड़े रहे, और ऊपर उठने न पाये।

यह उपमा इसलिये ठीक बैठती है कि फ्रयडके मतानुसार मानव-प्राणी जन्मके समयसे लेकर शैशवावस्थाकी एक विशेष अवधितक बाह्य जगत्से जितनी भी दुःखमयी अनुभूतियोंको (चाहे वे कैसी ही सूक्ष्म क्यों न हों) प्राप्त करता है, उन्हें भूलनेके लिये उन्हें अपनी ज्ञात चेतनाके नीचे दबाता चला जाता है। दबानेकी यह क्रिया Repression (दमन) के नाम-से मनोविज्ञानके विद्यार्थियोंके निकट परिचित है। इस निरन्तर दमन-क्रियाके फलस्वरूप उसके चेतना-जगत्के अतल प्रदेशमें अज्ञात चेतनाका राज्य स्थापित हो जाता है। शैशवावस्थामें मनुष्य यह जो अपने अज्ञातमें एक रहस्यमय गुप्त लोककी सृष्टि कर डालता है, जीवनकी अनुभूतियोंके साथ-साथ उसकी परिधि और गहराई बढ़ती चली जाती है; पर मुख्यतः शैशवावस्थामें दबायी गयी प्रवृत्तियाँ ही उसके परवर्ती जीवन-चक्रको अज्ञात रूपमें सञ्चालित करती रहती हैं। परवर्ती जीवनमें मनुष्य जिन कष्ट-कर अथवा समाज-विरोधी भावनाओंको दबाता है, उनके दबानेके मूल कारण शैशवावस्थामें दबायी गयी कष्टकर अनुभूतियाँ ही होती हैं। इसलिये फ्रयडके मतानुसार शैशवावस्थामें उपजी हुई अज्ञात चेतनाको ही प्रधान महत्त्व दिया जाना चाहिये।

पर फ्रयडने अज्ञात चेतनाकी यह जो सीमा बाँध दी है, वह बहुत-से विशिष्ट मनोवैज्ञानिकोंको मान्य नहीं है। युंग (Jung) ने, जो मनोविज्ञान-संसारमें फ्रयडसे कुछ कम विशिष्टता नहीं रखता, अपना यह निश्चित मत प्रतिपादित किया है कि मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें जिस अज्ञात चेतनाकी सृष्टि होती है, वही सब कुछ नहीं है; उसके मतानुसार मानव-शिशु अपने साथ एक सामूहिक अज्ञात चेतना (Collective unconscious) लेकर उत्पन्न होता है। यह सामूहिक अज्ञात चेतना हजारों, लाखों वर्ष पहलेसे संगठित होती चली आती है। जिस युगमें मनुष्य सभ्य नहीं हो पाया था, उस युगमें जो उच्छृंखल, पाशविक मनोवृत्तियाँ उसके जीवनकी प्रत्येक गतिविधिको सञ्चालित करती रहती थीं, वे प्राणिशास्त्रके नियमोंके अनुसार, विनाशको प्राप्त नहीं हुईं। विकासके स्वाभाविक नियमके क्रमसे जब मनुष्यने सभ्यताको अपनाया, तो उसके प्राचीन पूर्वजों (बर्बरों) की निर्द्वन्द्व मनोवृत्तियाँ विनष्ट न होकर उसकी अज्ञात चेतनाके अतल गह्वरमें मग्न होती चली गयीं। तबसे वे बराबर वंशानुक्रमसे मानव-जातिकी सामूहिक अज्ञात चेतनामें कालिदासके कथनानुसार 'भावस्थिर' होकर विराजती हैं। साधारण अवस्थामें वे सुप्त और निश्चल पड़ी रहती हैं; पर कभी-कभी मनुष्य जब असाधारण परि-स्थितियोंके संघर्षमें आता है, तो वे सुप्त पाशविक मनोभाव जगकर अज्ञात चेतनाके वज्र-बन्धनको तोड़कर गुप्त वेषमें बाहर निकल पड़ते हैं। ऐसे अवसरोंपर हम कहा करते हैं कि मानवका पशु या दानव जाग पड़ा है। इसी नियमसे कभी-कभी मनुष्यका देवत्व भी जाग पड़ता है।*

हम लोगोंने केवल प्राथमिक युगके असभ्य मनुष्योंके सुप्त मनोविकारोंको ही वंशानुक्रमिक उत्तराधिकारके रूपमें नहीं पाया है; बल्कि उसके भी पहले नर जब विकासवादके मतानुसार वानरके रूपमें वर्तमान था, तब जो संस्कार उन वानर-जातीय जीवोंमें वर्तमान थे वे भी अज्ञातरूपसे हमारी अज्ञात चेतनामें सन्निहित हो गये हैं। स्नायविक दुर्बलताके

---

* कारण यह है कि मनुष्यकी अज्ञात चेतनाका अतल क्षेत्र इतना व्यापक, गहन और अगाध है कि उसके भीतर देवत्वके भाव उसी प्रकार दबे पड़े हैं, जिस प्रकार दानवत्वके। पशुत्वकी अवस्थासे सभ्य मनुष्यका जो विकास हुआ है उसके इतिहाससे हम परिचित हैं, पर देवत्वकी अवस्थासे मानवने जो पशुत्वकी दशा प्राप्त की उसके इतिहासका पता जीवशास्त्रियोंको नहीं है; केवल सच्चे रहस्यवादी (Mystics) ही उस निगूढ़ इतिहाससे परिचित हैं। कपिलके सांख्य-वर्णित विकासका क्रम सूक्ष्मसे स्थूलकी ओर (देवत्वसे मान-वत्वकी ओर) जाता है, पर डार्विनके विकासवादका क्रम स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर (पशुत्वसे मानवत्वकी ओर) बढ़ता है। वास्तवमें ये दोनों क्रम सही होते हुए भी एकांगी हैं। यदि हम यह मान लें कि मानवकी विकास-धारा सरल-रेखान्वित नहीं, किन्तु वृत्तानुक्रमिक (Cyclic) है, तो सारा झगड़ा मिट जाता है। कपिल और डार्विन इस सम्बन्धमें एक दूसरेके पूरक हैं, विरोधक नहीं। —लेखक

रोगोंमें 'सोम्नेम्बुलिज़्म' (Somnambulism) अर्थात् 'निद्रित-जाग्रत् अवस्था नामके एक विचित्र रोगका उल्लेख डाक्टर लोग समय-समयपर किया करते हैं। इस रोगकी यह विशेषता है कि रोगी निद्रावस्थामें ही चलता-फिरता, उठता-बैठता है, और बहुत-से ऐसे आश्चर्यजनक कार्योंको सुचारुरूपसे करता है जिनके सम्बन्धमें कोई जानकारी उसे जाग्रत् अवस्था-में नहीं रहती। इसी प्रकारके एक रोगीके सम्बन्धमें डा० मेचनिकाफ़ने लिखा था कि वह 'सोम्नेम्बुलिज़्म' की अवस्थामें एक बार किसी अज्ञात आशङ्कासे भीत होकर पनालेके पाइपको पकड़ता हुआ एक बहुत ऊँचे मकानकी छतपर चढ़ गया और उसकी मुँड़ेरपरसे दूसरे मकानकी छतकी मुँड़ेरपर कूद गया; और इसी प्रकार एक छतसे दूसरी छतपर बंदरोंसे भी अधिक फुर्तीसे कूदता चला गया। इसके बाद जिस उपायसे ऊपर चढ़ा था, उसी उपायसे बंदरकी ही तरह बड़ी सरलतासे नीचे उतर आया। न कहीं तनिक भी उसका पाँव फिसला, न किसी प्रकारकी चोट आयी।

इस उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'सोम्नेम्बुलिज़्म'की असाधारण (बल्कि अप-साधारण) अवस्थामें उस व्यक्तिकी अज्ञात चेतनामें लाखों वर्षोंसे दबे हुए वानर-जातीय संस्कार जाग पड़े। यदि एक छतसे दूसरी छतपर कूदते समय उस व्यक्तिको जगा दिया जाता, तो उस विशेष परिस्थितिकी उत्तेजनासे उसके जो दीर्घकालसे सुप्त पशु-संस्कार जाग पड़े थे वे फिर एकदम लुप्त हो जाते, और वह फिरसे अपनेको सभ्य मानवके रूपमें पाकर नीचे गिर पड़ता।

इस प्रकारकी घटनाओंके कई प्रमाण मिल चुके हैं। एक व्यक्ति तैरना नहीं जानता था। उसे जब 'सोम्नेम्बुलिज़्म' के रोगने आ घेरा, और वह निद्रितावस्थामें ही चलने-फिरने लगा, तो एक बार किसी कल्पित आशङ्कासे भागकर एक नदीमें जाकर कूद पड़ा। उसके सगे-सम्बन्धियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही, जब उन्होंने देखा कि वह बड़ी निपुणता और स्वाभाविकताके साथ तैरने लगा है। पर उन्हें भय था कि वह कहीं डूब न जाय, इसलिये उन्होंने चिल्ला-चिल्लाकर उसे पुकारना आरम्भ किया। उसके चिल्लानेसे उसकी नींद जो टूटी, तो अपनेको नदीके बीचमें पाकर वह घबड़ा उठा, और 'सोम्नेम्बुलिज़्म' की निद्रित-जाग्रत् अवस्थामें तैरनेकी जो कला उसे सहज और स्वाभाविक जान पड़ती थी पूर्ण जाग्रत् अवस्था-में उसे वह भूल गया, और उसी क्षण पानीमें डूबकर मर गया। उसकी अज्ञात चेतनामें उसके आदिम पूर्वजोंकी तैरनेकी पटुताका संस्कार वर्तमान था। 'सोम्नेम्बुलिज़्म' की असाधारण परिस्थितिमें वह सुप्त संस्कार जाग पड़ा था। पर जगनेपर वह संस्कार फिर सुप्तावस्थाको प्राप्त हो गया।

इन दृष्टान्तोंसे युंगके सामूहिक अज्ञात चेतनाके सिद्धान्त-पर सन्देह करनेकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। इस सामूहिक अज्ञात चेतनाका क्षेत्र अनन्त विस्तृत है, और उसकी गहराई अतल-व्यापिनी है। इस कारण कोलम्बसद्वारा अमेरिकाके आविष्कारकी बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी वर्तमान युगके मनोवैज्ञानिकोंद्वारा अज्ञात चेतनाके विराट्, गुप्त महाराज्यके आविष्कारकी बात। इसकी सीमा-हीनताकी तुलना आकाशव्यापी नक्षत्रराज्यसे की जा सकती है, जिसके आगे हमारी जाग्रत् चेतनाकी परिधि अत्यन्त हास्यास्पदरूपसे संकीर्ण दिखायी देने लगती है।

मनुष्यकी इस रहस्यमयी अज्ञात चेतनामें प्रत्येक युगके प्रत्येक पलकी तुच्छ-से-तुच्छ, हलकी-से-हलकी, छोटी-से-छोटी अनुभूतिका सूक्ष्मातिसूक्ष्म आभास अङ्कित रहता है। एक-एक क्षणकी साधारण-से-साधारण घटनाकी स्मृति सब समय उसमें वर्तमान रहती है। पर उस अनन्त और अपार स्मृतिराशिमेंसे केवल कुछ इनी-गिनी स्मृतियाँ ही हमारी जाग्रत्-चेतनामें आ पाती हैं, शेष सब उसी अतलतामें मग्न रहती हैं। फिर भी, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, विशेष प्रकारकी असाधारण परिस्थितियोंमें उन असंख्य स्मृतियोंमें बहुत-सी ऐसी स्मृतियाँ समय-समयपर उमड़ती रहती हैं, जिनके लिये हमारी जाग्रत् चेतना तैयार नहीं रहती।

एक विशेष बात इस सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य यह है कि अज्ञात चेतनासे जो सुप्त मनोभाव समय-समयपर उभड़कर ऊपर जाग्रत् चेतनाकी सतहतक पहुँचनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें गुप्त वेष धारण करना पड़ता है; अन्यथा जाग्रत् चेतना और अज्ञात चेतनाके बीचकी सीमामें एक ऐसा ज़बर्दस्त प्रहरी सर्वदा, सब समय जाग्रत् रहता है, जो अज्ञात चेतनाके किसी भी मनोभावको उसके सहज, स्वाभाविक रूपमें जाग्रत् चेतना-के राज्यमें प्रवेश नहीं करने देता। इसलिये अज्ञात चेतना प्रतिपल अपना रूप बदलकर नये-नये रंगों और नये-नये ढंगोंसे प्रहरीकी आँखोंमें धूल झोंकती हुई ऊपर (जाग्रत् चेतनाकी सतहमें) उठनेका उद्योग निरन्तर करती रहती है। इस प्रहरीका विशेष परिचय हम आगे चलकर देंगे। यहाँपर केवल यह सूचित कर देना आवश्यक है कि सभ्य जगत्में स्वयंसिद्धिके बतौर माने गये कुछ विशेष सामाजिक संस्कार

इस प्रहरीको जन्म देते हैं। हमारी अज्ञात चेतनामें युग-युगोंसे सञ्चित उद्दाम वासनाओंको यदि 'फ्री पास' दे दिया जाय तो वे पलमें हमारे सामाजिक सङ्गठनको नष्ट-भ्रष्ट कर डालें। इसलिये हमारे सामाजिक संस्कारोंने मिलकर एक ऐसी शक्तिको जन्म दिया है, जो अज्ञात चेतनामें निहित समाज-विरोधी वासनाओं तथा भावनाओंको निरन्तर दमन करती रहती है। फल यह होता है—हमारी अज्ञात चेतनाको ऊपर उठनेके लिये गुप्तवेष धारण करनेको बाध्य होना पड़ता है, और इस कलामें उसकी निपुणता वास्तवमें अत्यन्त विस्मयजनक है। हमारे स्वप्न अज्ञात चेतनाकी इसी कलाके निदर्शनस्वरूप हैं। हमें अपने बहुत-से स्वप्न ऊटपटाँग और अर्थहीन से लगते हैं। पर वास्तवमें वे हमारी अज्ञात चेतनासे उठे हुए मनोविकारोंके ही प्रतिरूप होते हैं, जो गुप्तवेष बनाकर हमारी जाग्रत् चेतनाके सामने आते हैं। स्वप्नोंके विषयमें विस्तृत रूपसे किसी दूसरे प्रकरणमें लिखा जायगा।

पहले ही कहा जा चुका है कि अज्ञात चेतनापर प्रतियुगके प्रतिपलकी प्रत्येक अनुभूति अपना आभास अङ्कित कर जाती है। प्रत्येक घटना अपना चिह्न छोड़ जाती है। पर हमारी जाग्रत् चेतनाके अज्ञातमें यह सब क्रियाचक्र चलता है। हम प्रतिदिन, प्रतिक्षण जो कुछ सुनते हैं, जो-कुछ देखते हैं, जो कुछ अनुभव करते हैं, उसके एक अत्यन्त नगण्य अंशसे हमारी जाग्रत् चेतना परिचित रहती है, शेष अंश सब अज्ञात चेतनाके अतलमें पहुँचकर डेरा जमाता है। किसी दृश्य, किसी शब्द, किसी अनुभूतिका एक अणुमात्र अंश भी अपना चिह्न उसमें अङ्कित किये बिना नहीं रहता। यह हो सकता है कि हम सारे जीवन-कालमें उन सब स्मृति-चिह्नोंके एक लक्षांशसे भी परिचित न हो पायें, पर यह निश्चित है कि विशेष प्रयोगोंद्वारा अथवा विशेष घटना-चक्रोंके सङ्घर्षके कारण उन असंख्य सुप्त स्मृतियोंमेंसे कोई भी स्मृति किसी समय उभड़ सकती है। हमारे यहाँ राजयोगके विशेषज्ञोंका यह कहना है कि विशेष-विशेष यौगिक क्रियाओंमें सिद्धि प्राप्त कर लेनेसे पूर्वजन्मकी घटनाओंका बोध हो सकता है। हम यहाँपर जन्मान्तरके प्रश्नपर विवाद खड़ा नहीं करना चाहते। पर इतना निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि यौगिक प्रयोगोंसे पूर्वजन्मकी न सही, पर इसी जन्ममें अनुभूत बहुत-सी ऐसी छोटी-से-छोटी घटनाओंकी स्मृति जागरित हो सकती है जिन्हें हम एकदम ऐसे भूले हुए होते हैं, जैसे उन घटनाओंका हमारे जीवनमें कभी कोई सम्बन्ध रहा ही न हो। अनुभवद्वारा यह जाना गया है कि विशेष-विशेष परिस्थितियोंमें मनुष्यकी जाग्रत् चेतनामें शैशवावस्थाके प्रारम्भिक युगकी (जब उसकी आयु एक वर्षसे अधिक नहीं रही होगी) किसी विशेष घटनाकी स्मृति स्पष्ट रूपसे जाग पड़ती है।

अज्ञात चेतनामें सञ्चित होनेवाली स्मृतियोंके सम्बन्धमें बड़े-बड़े रोचक दृष्टान्त मनोविज्ञानवेत्ताओंद्वारा संगृहीत होते रहते हैं। उनमेंसे एकका उल्लेख हम यहाँपर करना चाहते हैं। घटना इस प्रकार है—

जर्मनीके किसी शहरमें एक अशिक्षिता स्त्रीको एक बार ज्वरने धर दबाया। पादड़ियोंने उसकी दशा देखकर कहा कि उसे भूत लग गया है। कारण यह था कि वह सन्निपातमें आकर लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओंमें बातें कर रही थी। एक निपट अशिक्षिता स्त्रीके मुँहसे प्राचीन भाषाओंके व्याकरण-शुद्ध वाक्य निकलते देखकर लोगोंको आश्चर्य होना स्वाभाविक था। उसके मुँहसे जो-जो वाक्य निकलते जाते थे, वे लिख लिये गये। मालूम हुआ कि वह केवल शुद्ध वाक्य ही नहीं बोल रही थी, बल्कि प्रत्येक वाक्यका एक-दूसरेसे सम्बन्ध भी था। अन्तमें गहरी जाँचके बाद भेद खुला। एक मनोविज्ञान-विशेषज्ञ डाक्टरने आकर उस स्त्रीके पूर्व-जीवनके इतिहासकी विशेष-विशेष घटनाओंका पता लगाना आरम्भ किया। पता लगा कि नौ वर्षकी अवस्थामें वह स्त्री एक प्रोटेस्टेन्ट पादड़ीके यहाँ रही थी, जो हिब्रू भाषाका पण्डित था। उस पादड़ीकी मृत्युतक वह उसीके यहाँ रही। यह भी मालूम हुआ कि वह पादड़ी अपने घरके भीतर टहलता हुआ ऊँचे स्वरमें कुछ विशेष-विशेष पुस्तकोंको पढ़ा करता था। खोजनेपर उक्त पादड़ीके यहाँ लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओंकी जो पुस्तकें मिलीं, उनमें वे वाक्य ज्यों-के-त्यों पाये गये, जिन्हें उस अशिक्षिता स्त्रीने ज्वरके प्रकोपमें दुहराया था। यह बात स्पष्ट हो गयी कि उसको जाग्रत् चेतनाने उन वाक्योंको प्रयोजनहीन समझकर उनकी पूर्ण अवज्ञा की थी और उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया था, पर उसकी अज्ञात चेतनामें उनकी स्मृति अङ्कित हो चुकी थी। रोगकी उत्कट अवस्थामें उसकी अज्ञात चेतनाने ईश-आराधनाके लिये उसे प्रेरित करना चाहा। उसका यह प्रयास तो ठीक सफल नहीं हुआ, पर उसके संसर्गसे पादड़ीके मुँहसे सुने कुछ धर्मसम्बन्धी वाक्योंकी स्मृति जाग पड़ी।

अज्ञात चेतनाके लिये यह नियम कदापि लागू नहीं हो सकता कि—

'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय।'

उसके लिये कोई घटना या कोई अनुभूति 'बीती'—अर्थात् भूतकालसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं रहती। प्रत्येक अनुभूति, प्रत्येक घटनाकी स्मृति उसमें प्रतिपल, प्रतिक्षण वर्तमान रहती है। मान लिया जाय कि तीस वर्ष पहले हमें कोई अपमान सहन करना पड़ा। उसे भूलनेके लिये इतना दीर्घ समय यथेष्ट है और हमारी जाग्रत् चेतना उसे भूल भी चुकी है। पर तीस वर्ष बाद भी यह बात पूर्णरूपसे सम्भव है कि किसी विशेष घटनाचक्रके संघर्षसे मथित होनेके कारण उस भूले हुए अपमानकी वेदना हमारी अज्ञात चेतनासे उत्थित होकर एक रहस्यमय तड़ित्-तरंगद्वारा हमारी जाग्रत् चेतनाको निपीड़ित करने लगे। कारण यह है कि हमारी जाग्रत् चेतना उस कष्टकर अनुभूतिको भले ही भूली-सी रहे, पर जहाँ वह एक बार अज्ञात चेतनाके संसर्गमें आयी वहाँ फिर यह असम्भव हो जाता है कि उसका अस्तित्व मिट जाय। अज्ञात चेतना निरन्तर इस प्रयत्नमें रहती है कि उस सुप्त वेदनाको ऊपर जाग्रत् चेतनाके राज्यकी ओर प्रेरित करती रहे। दोनों चेतनाओंके सीमाप्रान्तमें जो पूर्वोक्त प्रहरी प्रतिपल पहरा देता रहता है, उसका ध्यान क्षणभरके लिये भी स्थानान्तरित हुआ नहीं कि अज्ञात चेतना उसी दम अपने भीतर दबी हुई उस दीर्घ-विस्मृत अनुभूतिको जाग्रत् चेतना-लोकमें भेजनेमें सफलता प्राप्त कर लेती है। पूर्णरूपसे विस्मृत अवस्थामें भी दबी हुई मर्म-वेदना अनेक गुप्त तथा अज्ञातरूपोंमें फूटकर हमारी जाग्रत् चेतनाको उसके अनजानमें निपीड़ित करती रहती है। कोई सुप्त मार्मिक व्यथा किन-किन विचित्र रूपोंमें, कैसे रहस्यमय उपायोंसे परिवर्तित होकर फूटती रहती है—यह एक बड़ा ही कौतूहलोद्दीपक और विस्मयकर प्रकरण है, जिसपर फिर कभी विचार किया जायगा।

गोपाल-लीला

(रचयिता—श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा)

(१)

रवितनया निज गजगतिसे
इतराती बहती जाती
कर लहर लहरपर नर्तन
कल स्वरसे 'कलकल' गाती

(२)

ऊषाकी अरुण मधुरिमा
झुक नीले जलमें झाँकी
श्यामारुण ललित कपोलों-
वाली थी छबि यमुनाकी

(३)

अरविन्द बंद थे जो, अब—
धीरे-धीरे थे खुलते
अलसाये-से मुख उनके
थे लहर-करोंसे धुलते

(४)

उनमेंसे भौंरे निकले
धर मधुर अधरपर गुंजन
कारागारोंको भूले
कर कलिकाओंका चुंबन

(५)

लतिकालिंगित द्रुमदलमें
भर देता मलयज कंपन
जब थिरक-थिरककर चलता
भर बाँहोंमें आलिंगन

(६)

थीं कुंजोंमें रँगरलियाँ
चिड़ियाँ थीं मंगल गातीं
चलती थीं फुदक-फुदककर
फुर-फुर फिर वे उड़ जातीं

(७)

बालारुण धीरे-धीरे
चढ़ता था सघन गगनमें
धीरे-धीरे ही धरता
बालक पग सँभल धरणिमें

(८)

पादपकी लंबी छाया
अब छोटी होती जाती
ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता जाता
लघुता भी बढ़ती जाती

(९)

रवि-किरणें चमक उठीं, जब—
व्रज-रजने उनको भेंटा
बस, तरणि-बिम्ब ही इस मिस
तारणी रेणुमें लोटा

(१०)

था दृश्य प्रभात-समयका
सोकर थी शोभा जागी
सुख-विह्वल हिल-हिल जाता—
था वृंदावन बड़भागी

(११)

यह क्या हो गया अचानक !
सब सूनी हुईं दिशायें
निस्तब्ध हो गया मधुवन
खगगण न बधाई गायें

(१२)

आहा ! यह वंशीध्वनि ही
अब गूँज रही वन-वनमें
प्राणोंको पुलकित करती
भर जाती तनमें, मनमें

(१३)

यह सुधा-नदी-सी बहती
भर गयी कर्ण-गह्वरमें
आँसू बह चले नयनसे
छाया है हास अधरमें

(१४)

अवयवमें कम्पन कैसा !
क्या खड़ा न रह पाऊँगा ?
हूँ तो पाषाण-हृदय मैं,
क्या गल-गल बह जाऊँगा

(१५)

अब नेत्र मुँदे जाते हैं
सुख मनमें नहीं समाता
मस्तिष्क घूमता मेरा
मन मूर्छित होता जाता

(१६)

पगकी यह ध्वनि है कैसी ?
यह मोदभरी किलकारी !
आनंद-रंग भर कोई
है चला रहा पिचकारी !!

(१७)

वंशीध्वनि बंद हुई है
यह कौन सामने आता ?
गौ-ग्वालोंसे घिर करके
गोपालों-सा दिखलाता

(१८)

हो नील निलयमें बिजली
बिखरे हों काले बादल
उनमें राकेश उगा हो
पर, कवि, तू ही है पागल

(१९)

क्या नीलाकाश करेगा—
समता इस नील बदनकी ?
अलकोंसे मेघ तुलेंगे ?
शशि-चपला, मुख-अम्बरकी ?

(२०)

उन बड़ी-बड़ी मतवाली
आँखोंसे तिरछे देखा
बोले, "यह देख सुदामा !"—
पड़ गयी भृकुटिपर रेखा

(२१)

आरक्त कपोलों ऊपर
नच उठे अलंकृत कुंडल
ऊषाके यमुना-जलमें
नाचें ज्यों दो शशि-मंडल

(२२)

बोले—"यह देख सुदामा!
मैंने कल लता लगाई
सच बात बता दे मुझको
क्यों आज पड़ी मुरझाई ?"

(२३)

इतना कहते-ही-कहते
वाणी उनकी भर आयी
आँखोंकी कोरोंमें दो—
मोती-से दिये दिखायी

(२४)

सुबल बढ़ा झट आगे
बोला—"हो पागल भैया
मैं अभी बता दूँ औषध
हरियावे लता कन्हैया

(२५)

"सचमुच?", "हाँ"—"तो बतलाओ"
"मुरलीकी तान सुनेगी
सुनते ही मधुर त्रिताला
यह शीघ्र लहलही होगी"

(२६)

अधरोंपर हरित मुरलिका
उच्छ्वासभरी थी शोभित
निकली वह सुस्वर-अवली
कर डाला जग-जग मोहित

(२७)

मुरलीपर कोमल अंगुलि
चंचल थी, राग भरी थी
पवन-प्रचालित अलकों-
की अवली पलकोंपर थी

(२८)

पीताम्बर मस्त फहरता
था मुकुट झुका कुछ बाँका
उसपर था लहर-लहरता
चंद्रार्ध पंख मोरोंका

(२९)

गायें निस्पंद खड़ी थीं
थी धार दूधकी ढलती
यमुना भी मचल पड़ी थी
ठहरी थी चलती-चलती

(३०)

वह लता सिहरती जाती
नव पल्लव अंकुर उगते
लहलहा उठी फिरसे वह
वंशीध्वनि रुकते-रुकते

(३१)

उल्लास-रागसे रंजित
हँस पड़े नयन अनियारे
खिल उठे कमल दो सुंदर
हर्षातिरेकके मारे

(३२)

"देखो न कभी मुरझाये
अब आगे कृश-तनु लतिका"
"हम सींचेंगे नित इसको
यह काम हमारे मनका"—

(३३)

बोला श्रीवत्स कि, "यह तो
करुणेश ! तुम्हींपर निर्भर
दर्शनमें कुछ अमृत है
पर विरह तुम्हारा विषधर"

× × × ×

(३४)

नटनागर यों ही रमते
थे कालिंदीके तटपर
आ पड़ीं अस्तगत किरणें
इतनेमें वंशीवटपर

(३५)

गायें सब कर लीं आगे
पीछे ग्वालोंका दल था
गोपाल बीचमें उनके
फूलोंमें नील कमल था

(३६)

गोधूलि-कालमें पावन
गो-धूलि भरा था मंडल
किंचित्कुंचित घन-केशों-
में चूर्ण-तारकोंका दल

(३७)

शारद बादल-सी उड़ती
फिरती थी रेणु बिखरकर
व्रज-इंदु-रश्मियाँ छिटकीं
उसमेंसे निखर निखरकर

(३८)

रमणीगण उमड़ पड़ा था
द्वारेपर, अटा-घटापर
घनश्याम देखने आयीं
चपला-सी चमक चमककर

(३९)

हरि-अलकोंमें व्रज-रजके
कण झलक रहे थे कैसे
श्यामाकी काली साड़ी-
में जड़े सितारे जैसे

(४०)

चरणोंमें बँधकर नूपुर
रुनझुन-रुनझुन थे करते
मानो इस मिस पदवन्दन
नँदनन्दनका वे करते

(४१)

बोलीं—"सुंदर री माई
मनमोहन श्याम सलोना
कितना प्यारा यह लगता
ललचौना लोना-लोना

(४२)

सखि ! लख इन अधरोंने तो
छवि बीर-बहूटी लूटी ।"

× × × ×

हरि गये रह गयीं खोयी-
सी बैठी गोप-वधूटी
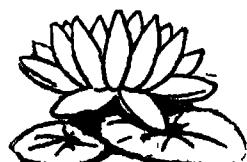
कामके पत्र

(१)

गोपीभावकी उपासना

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई इसके लिये क्षमा करें। आपको गोपीभावकी उपासना प्रिय है सो बड़ी ही अच्छी बात है। परन्तु सावधान रहियेगा, कहीं मनमें कामभावना, इन्द्रियसुखेच्छा न पैदा हो जाय। गोपीभाव 'सर्वसमर्पण' का भाव है। इसमें निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग है। गोपीभावमें न तो लहँगा, साड़ी या चोली पहननेकी आवश्यकता है, न पैरोंमें नूपुर और नाकमें नथकी ही। गोपीभावकी प्राप्तिके लिये श्रीगोपीजनोंका ही अनुगमन करना होगा। ध्यान कीजिये—श्रीकृष्ण मचल रहे हैं और माँ यशोदा उन्हें माखन देकर मना रही हैं। श्रीकृष्ण कुञ्जमें पधार रहे हैं, श्रीमती राधिकाजी उनकी अगवानीकी तैयारीमें लगी हैं। गोपीभावमें खास बात है 'रसकी अनुभूति।' 'श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र प्राणनाथ हैं। वे ही परम प्रियतम हैं। उनके सिवा मेरे और कुछ भी नहीं है।' इतना कह देनेमें ही रस नहीं मिलता। रसके लिये रसभरा हृदय चाहिये। वाणीसे बाह्य रसका भान मात्र होता है। एक पतिप्राणा पत्नी प्रेमभरे हृदयसे पतिको जब 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' कहती है, तब उसके हृदयमें यथार्थ ही यह भाव मूर्तिमान् रहता है। इसीसे उसे रसानुभूति होती है। इसीसे वह प्राणनाथके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेमें नहीं हिचकती या यों कहना चाहिये कि उसके प्राणोंपर असलमें पतिका ही अधिकार होता है। पतिको प्रियतम कहते समय उसके हृदयमें स्वाभाविक ही एक गुदगुदी होती है, आनन्दकी रस-लहरी छलकती है। इसी प्रकार भक्तका हृदय भगवान्‌को जब सचमुच अपना 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' मान लेता है, तभी वह गोपीभावकी प्राप्तिके योग्य होता है। और ठीक पत्नीकी भाँति जब भगवान्‌को पतिरूपमें वरण कर लिया जाता है तभी उन्हें 'प्रियतम' और 'प्राणनाथ' कहा जा सकता है।

(२)

शरीरका मोह छोड़कर भजन करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण। शरीरकी जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। शरीरसे भगवान्‌का भजन और भगवत्स्वरूप जगत्‌के प्राणियोंकी सेवा बने, तभी शरीरकी सार्थकता है। नहीं तो, शरीर नरकतुल्य है और ऐसे शरीरको धारण किये रहना नरकरूपसे ही जीना है। श्रीशंकराचार्यजीने कहा है—'को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः।' और तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—'ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।' जबतक शरीर भीषण रोगोंसे आक्रान्त नहीं हो जाता, तबतक इससे भजन और सेवाका काम भलीभाँति लेना चाहिये। आरामतलबी बहुत बुरी है। रात-दिन शरीरको धोने-पोंछने और सजानेमें लगे रहना, और इसीकी चिन्तामें रमे रहना जरा भी बुद्धिमानी नहीं है।

> अमेध्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले
> स्वभावदुर्गन्धिविनिन्दितान्तरे।
> कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते
> रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः॥

ऐसे रक्त-मांस, मज्जा और कीटाणुओंसे भरे, दुर्गन्धिपूर्ण मल-मूत्रसे युक्त शरीरके लिये, उसके भोगविलासके लिये भगवान्‌को भूले रहना बहुत बड़ी मूर्खता है। शरीर और शरीरका सुख कितने दिनोंका है? जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधिसे ग्रस्त इस देहका कोई भरोसा नहीं, कब नष्ट हो जाय। इसमें और इसके सम्बन्धी विषयोंमें सुख समझना सर्वथा मोहका ही कार्य है। खेदकी बात तो यही है कि मनुष्य शरीरकी सेवामें और इसके लिये भोगोंके जुटानेमें ही दिन-रात व्यस्त

रहता है, उसे स्वाद-शौकीनी, धन-पुत्र, स्त्री-सुख आदिमें ही रसकी भ्रान्त अनुभूति होती है। अप्राकृत भगवदीय प्रेमरसके तो समीप भी वह नहीं जाना चाहता। कितने दुःखकी बात है यह कि मनुष्य जान-बूझकर नरकको और उसकी दीर्घकालव्यापिनी यन्त्रणाओंको तो सिर चढ़ाकर स्वीकार कर लेता है परन्तु जिसकी जरा-सी झाँकीसे सारे दुःख सदाके लिये मिट जाते हैं, जिसके ध्यानमात्रसे प्राणोंमें अमृतका झरना फूट निकलता है, जिसकी लीला-कथाके कथन और श्रवणका प्रेम अनन्त जीभों और कानोंकी अदम्य कामनाएँ जगा देता है, जिसके रूप, गुण और नामकी महिमा जीवको नरकोंसे निकालकर दिव्यधाममें पहुँचा देती है, उस भगवान्से सदा दूर रहना चाहता है!

आपसे यही प्रार्थना है कि आप इस बातको अच्छी तरह समझिये और शरीरका मोह छोड़कर उसे आराम-तलबीसे छुड़ाकर भगवान्की सेवामें लगानेका प्रयत्न कीजिये। निश्चित समझिये—शरीरके पालन-पोषणमात्रसे कभी सुख नहीं मिलेगा। न तो यह हजार पालन-पोषण करनेपर भी बीमारी और मौतसे बचा ही रहेगा और न इसकी सेवा आपको सुख-शान्ति ही देगी। शरीरका पालन-पोषण तो कुत्ते-सूअर आदि भी करते हैं, वे भी खाते, पीते, सोते और मैथुन करते हैं। जो मनुष्य भगवान्का भजन नहीं करता वह तो दर-दर दुरदुराये जानेवाले कुत्ते, इधर-उधर मल खाकर भटकनेवाले सूअर, काँटे खाकर जीनेवाले ऊँट और दिन-रात बोझ ढोनेवाले गधेके समान ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—वह हृदय पत्थरके तुल्य है जो भगवान्के नाम-गुण-कीर्तनको सुनकर गद्गद नहीं होता, जिसके शरीरमें रोमाञ्च नहीं होता और आँखोंमें आनन्दके आँसू नहीं उमड़ आते। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

> हिय फाटहु फूटहु नयन जरउ सो तन केहि काम।
> द्रवइ स्रवइ पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

(३)

श्रीकृष्णका परम स्वरूप और उनका प्रेम

आपका पत्र मिला। आपका लिखना ठीक है। श्रीकृष्ण-प्रेमी भक्त वैष्णव सचमुच ऐसा ही मानते हैं कि तत्त्वरूप निराकार ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं। परमात्मा उनके अंश हैं, और षडैश्वर्य (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) के पूर्ण आधारस्वरूप भगवान् श्रीनारायण श्रीकृष्णके विलास-विग्रह हैं। श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता श्रीराधा सर्वथा अभिन्न हैं। सर्वथा द्वैतरहित एक ही परम भगवत्तत्त्व लीला-रसास्वादनके लिये दो रूपोंमें प्रकट है। इन्हीं दो रूपोंको 'विषय' और 'आश्रय' कहा है। श्रीकृष्ण 'विषय' हैं और श्रीराधाजी 'आश्रय'। विषय 'भोक्ता' होता है और आश्रय 'भोग्य'। लीलाके लिये कभी-कभी श्रीकृष्ण 'आश्रय' बन जाते हैं और श्रीराधाजी 'विषय' सजती हैं। श्रीराधाजी भगवान्के स्वरूपभूत आनन्दका ही मूर्तिमान् रूप हैं। परन्तु लीलाके लिये श्रीराधारानी प्रेमकी परिपूर्ण आदर्श हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दके। इसीसे लीलामयी श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे श्रेष्ठ 'आराधिका' हैं, उन्हें निज सुखका बोध नहीं है। वे जानती हैं श्रीकृष्णके सुखको और श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही नित्य परम सुखका अनुभव करती हैं। उनकी सङ्गिनी और सखी समस्त गोपियाँ भी इसी भावकी मूर्तियाँ हैं। वे श्रीराधाकृष्णके सुखसे ही सुखी होती हैं। उनमें निजेन्द्रियसुखकी वासना कल्पनाके लिये भी नहीं है। इसीसे वे प्रेममय भक्तिमार्ग और प्रेमी भक्तोंकी परम आदर्श पथप्रदर्शिका हैं।

भगवान्के प्रेमी भक्तोंके अनुग्रहसे इस प्रेमरूप भक्ति-मार्गपर आरूढ़ हुआ जा सकता है। इसके विपरीत भक्तोंका अपराध बन जानेपर साधनासे उत्पन्न भाव भी क्रमशः क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। भावकी प्रगाढ़

स्थितिका नाम ही 'प्रेम' है। प्रेममें भी जहाँतक महिमा-ज्ञान है वहाँतक कुछ कमी है। वास्तविक प्रेम तो सर्वथा विशुद्ध माधुर्यमय होता है। इस प्रेमपर किसी भी विघ्न-बाधाका कोई भी प्रभाव नहीं होता। यहाँतक कि ध्वंसका कारण उपस्थित होनेपर भी यह ध्वंस नहीं होता—'सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे' वरं उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्'। निर्मल और निष्काम—केवल प्रेम-काममय अन्तरंग साधनोंके द्वारा जो 'भाव' सबसे ऊँचे स्तरपर पहुँचता है उस भावजन्य प्रेमको 'भावोत्थ' कहते हैं। और श्रीभगवान् स्वयं अपने सान्निध्य, संग और प्रेमदानसे जिस 'भाव' को पोषण करते हैं और जिसे ऊँचे-से-ऊँचे स्तरपर ले जाते हैं, उस 'भाव' से उत्पन्न प्रेमको 'अतिप्रसादोत्थ' कहा है। श्रेष्ठ भावुक भक्तके प्रति श्रीभगवान्‌का यही सर्वोत्कृष्ट दान है। यह साधनसापेक्ष नहीं है। इसकी प्राप्ति तो तभी होती है जब भगवान् स्वयं देते हैं। इस प्रकारकी प्रेमदान-लीला प्रत्यक्षमें एक ही पावन धाममें हुई थी। वह धाम है—'श्रीवृन्दावनधाम'। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष उच्चतम है। इससे भी उच्च स्तरका पुरुषार्थ—जो भक्तोंकी भाषामें 'पञ्चम पुरुषार्थ' माना जाता है—है 'भावोत्थ विशुद्ध माधुर्यमय प्रेम'। और भगवत्-प्रदत्त 'अतिप्रसादोत्थ' भगवत्स्वरूप प्रेम तो सबसे बढ़कर है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमके ही वशमें हैं; प्रेमसे ही उनका आकर्षण होता है और उन्हींसे यथार्थ प्रेमकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेम चाहनेवाले साधकोंको प्रेममय श्रीकृष्णकी ही उपासना करनी चाहिये।

(४)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रका उत्तर कई दिनों बाद लिख रहा हूँ, क्षमा करेंगे। आपके प्रश्नोंके उत्तर निम्नलिखित हैं—

भगवद्बुद्धिकी सेवा

(१) आपके पास जो कुछ भी है, सब भगवान्‌का है। घर-द्वार, धन-दौलत, कुटुम्ब-परिवार सब भगवान्‌के हैं। आप तो उन सबकी यथायोग्य सेवा और सदुपयोग करनेके लिये भगवान्‌के द्वारा नियुक्त किये हुए मुनीम हैं। आपने जो उन वस्तुओंको अपनी और अपने भोगसुखके लिये ही मिली हुई मान लिया है, यही आपकी गलती है। आप उनके मालिक कदापि नहीं हैं और न वे सब वस्तुएँ आपके भोगके लिये ही हैं। आप 'गृहस्थी' हैं, यह ठीक है। परन्तु गृहस्थीका अर्थ 'घरके मालिक' नहीं है। गृहस्थीके माने हैं 'घरके सेवक'। घरमें जितने लोग हैं वे सब आपके सेव्य हैं। स्वाँगके अनुसार यथायोग्य व्यवहार-बर्ताव करते हुए आप उन सबकी सेवा कीजिये। सेवासे मुँह मोड़िये नहीं और अपना कुछ भी मानिये नहीं। ईमानदार मुनीम मालिकके कारबारकी देख-रेख और सार-सँभाल पूरी सावधानीके साथ करता है; परन्तु अपना कुछ भी नहीं मानता। वह वफादारीसे सजग रहकर काम न करे तो नमकहराम होता है और मालिकके धनपर मन चलावे तो बेईमान! इसी तरह आप घरको मालिककी दूकान समझकर उनकी दी हुई उन्हींकी वस्तुओंसे उन्हींके आज्ञानुसार यथायोग्य उन्हींकी सेवा करते रहिये। इस कर्तव्यपालनसे कभी न चूकिये।

धन साथ नहीं जाता, वह यहीं रह जाता है और सच्ची बात तो यह है कि जैसे किसी गड्ढेमें रुका हुआ पानी कुछ ही समयमें गंदा, दुर्गन्धभरा, विषैला और पीनेवालोंके लिये रोगरूपी फल देनेवाला बन जाता है, वैसे ही सदुपयोगसे रहित जमा हुआ धन नाना प्रकारसे दूषित और दोष उत्पन्न करनेवाला बनकर महान् पीड़ा पहुँचानेमें कारण बन जाता है। धनको अपना न मानकर भगवान्‌के कार्यमें उसका मुक्तहस्तसे

उपयोग करना चाहिये। असलमें वह है इसीलिये। इसीलिये वह आपको मिला है। मालिककी चीज मालिकके माँगनेपर भी न देना और अपनी मानकर मोहवश उसे अपने अधीन बनाये रखनेका प्रयत्न करना जैसे अपराध है, वैसे ही भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के माँगनेपर ममता और अहङ्कारवश उन्हें न देना भी बड़ा अपराध है। जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहीं मानो भगवान् उस वस्तुको माँग रहे हैं। भगवान्‌की इस माँगको ठुकरा देनेवाला भगवान्‌का चोर होता है। मरनेसे पहले ही या मरते समय वह वस्तु तो उससे छीन ही ली जाती है क्योंकि वह उसकी थी नहीं, बेईमानी और चोरीके अपराधके दण्डस्वरूप उसे परलोकमें भीषण दु:ख और बुरी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति विशेष रूपसे होती है। इसलिये जहाँ गरीबी है, जहाँ दु:ख है, जहाँ अन्न-वस्त्र और आश्रयका अभाव है, वहीं आदरपूर्वक भगवान्‌की चीज भगवान्‌के अर्पण करते रहना चाहिये। परन्तु इस अर्पणमें भी अभिमान न आने पावे। जिनकी चीज थी, उनके माँगनेपर उन्हें दे दी, इसमें अभिमानकी कौन-सी बात है, यह तो साधारण कर्तव्यमात्र है।

प्रेमभावकी सेवा

(२) अथवा निर्मल प्रेमभावसे तन-मन-धनके द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये। प्रेममें ऊँच-नीचकी भावना न होकर बराबरीका भाव होता है। वरं प्रेमास्पद विशेष आदरका पात्र होता है। माता, पत्नी या मित्र अपनी सन्तान, पति या मित्रकी सेवा करते हैं, उसमें उनके मनमें यही रहती है कि किस प्रकार स्वाभाविक सेवासे हम इन्हें सुख पहुँचा सकें। उनको सुख पहुँचानेमें इनको सुख मिलता है, अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहता और इस सेवाके लिये वे बड़े-से-बड़ा त्याग भी आसानीसे कर डालते हैं। इस त्यागमें उन्हें कभी क्षोभ नहीं होता, वरं आनन्द होता है। और न कर सकनेपर दु:ख होता है। प्रेम प्रतिक्षण बढ़नेवाला होता है, 'प्रतिक्षणवर्धमानम्'। इसलिये प्रेमसे की जानेवाली सेवा भी प्रतिपल बढ़ती रहती है। उसमें कभी उकताहट नहीं होती और न ऐसी सेवाकी कोई सीमा ही निर्धारित होती है। जितनी हो उतनी ही थोड़ी। इसमें न उपकारकी भावना है और न बदलेकी। न कभी अहसान बताया जाता है और न मनमें कोई गौरव या अभिमान ही होता है। इसमें सेव्यको सुखी प्रेमवश देखनेपर स्वाभाविक ही सुख मिलता है, और इसी सुखकी अदम्य अभिलाषाके कारण नित नयी-नयी सेवा की जाती है। इस सेवामें उत्साह और सेवाभाव बढ़ता ही रहता है। इसमें की हुई सेवाकी स्मृति नहीं रहती; क्योंकि यह सेवा उपकाररूप नहीं होती, यह तो आत्मसुख-सम्पादनकी चेष्टामात्र होती है। जैसे अपना भला करके कोई यह नहीं मानता—मैंने किसीका उपकार किया है, इसी प्रकार प्रेमभावसे की हुई पर-सेवामें भी 'स्व'भाव रहनेसे उपकारकी भावना नहीं होती। 'पर' को 'स्व' और 'स्व' को 'पर' बनाकर दोनोंका एकीकरण कर देना प्रेमका ही काम है।

दयावृत्तिकी सेवा

(३) प्रेमभाव न हो तो दयासे सेवा करनी चाहिये। प्रेमकी भाँति दयामें सेवा ग्रहण करनेवालेके प्रति सम्मान-का शुद्धभाव सेव्यभाव नहीं रहता, और न बराबरीका भाव ही रहता है। दया उसीपर होती है, जो 'दयाका पात्र' समझा जाता है। इसका यही अर्थ है कि दया-वश जिसकी सेवा की जाती है वह दीन–दया पानेयोग्य है और सेवा करनेवाला दयालु है। संसारमें कोई भी स्वाभिमानी जीव दूसरोंकी दयाका पात्र नहीं बनना चाहता। बाध्य होकर बनना पड़ता है। दया पाया हुआ मनुष्य दब-सा जाता है। उसमें बराबरीके भावसे सिर ऊँचा करनेकी हिम्मत प्राय: नहीं रह जाती। ऐसा करनेपर

उसे कृतघ्न या अकृतज्ञ समझे जानेका डर रहता है। यह बात प्रेममें नहीं है। इसीलिये प्रेमका स्तर दयासे कहीं ऊँचा है। इतना होनेपर भी दया बहुत बड़ी चीज है। दया साधुपुरुषका स्वभाव होता है। जो हृदय बड़े-से-बड़े दुःखमें भी सदा निर्विकार, सम और अचल रहता है वही पराये दुःखको देखकर उससे जलने लग जाता है और तुरंत ही पिघल जाता है। उससे वह दुःख सहन नहीं होता। इसीसे तुलसीदासजी-ने कहा है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

कवियोंने संत-हृदयको मक्खनके समान कोमल बतलाया है पर असलमें वे संत-हृदयका यथार्थ निरूपण नहीं कर सके। क्योंकि मक्खन तो स्वयं ताप पाकर पिघल जाता है परन्तु संत अपने तापसे कभी नहीं पिघलते। वे अपने दुःखोंकी जरा भी परवा नहीं करते। महान् पवित्र आत्मा संत तो दूसरोंके तापसे द्रवित होते हैं। पर-दुःख देखकर दयालु पुरुषके हृदयमें दयाका पवित्र आवेश होता है और उस आवेशका इतना प्रभाव होता है कि उस समय उसे यह भी पता नहीं रहता कि यह दुखी पुरुष— जिसके दुःखको देखकर दयाका आवेश हुआ है अपना है या पराया, मित्र है या शत्रु! शास्त्रमें कहा है—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा तथा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥

(अत्रिसंहिता)

'पराये हों या अपने, मित्र हों या वैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर रक्षा करनेकी जो स्वाभाविक चेष्टा होती है उसीका नाम दया है।'

शुद्ध दयाके भावसे की हुई सेवामें भी अहसान बतानेकी भावना नहीं रह सकती। वहाँ तो दयाकी वृत्तिसे हृदय इतना प्रभावित होता है कि दुखीको दुःखसे बचानेका सक्रिय प्रयत्न किये बिना उसमें शान्ति होती ही नहीं। सारांश यह कि दयालु पुरुष भी दीनोंकी सेवा अपने ही चित्तकी प्रसन्नता और शान्तिके लिये करता है। जहाँ अपने-परायेका भेद है। अपना या अपना मित्र हो तो दुःख दूर करनेकी चेष्टा की जाय, पराया या शत्रु हो तो उसे दुःखमें देखकर भी उपेक्षा की जाय। यह शुद्ध दयाका कार्य नहीं है। शुद्ध दयाको भेदजनित उपेक्षा कभी सहन नहीं होती। आजकल जो उपकार या सेवा-कार्य होता है, वह प्रायः शुद्ध दयाका भी नहीं होता, ईश्वरबुद्धि या प्रेम-भावकी तो बात ही दूसरी है। सेवा करके या किसी-को देकर तो उसे भूल ही जाना चाहिये। उसकी पहचान भी ठीक नहीं। ऐसी चेष्टा तो कभी होनी ही नहीं चाहिये जिससे आपके द्वारा किसी समय सेवा प्राप्त किये हुए मनुष्यको सकुचाना पड़े, सेवा ग्रहण करनेके लिये पश्चात्ताप करना पड़े, अपने हार्दिक शुभ विचारोंको दबाना या छोड़ना पड़े और बदला उतारनेके लिये चेष्टा करनी पड़े। किसीको कुछ देना हो तो चुपकेसे देना चाहिये, जिसमें दूसरों-के सामने उसको अपमानित न होना पड़े। उसको सदा गुप्त रखना चाहिये। कभी उसके लिये उसपर अहसान नहीं करना चाहिये और न उसपर किसी बातके लिये दबाव डालना या उससे बदला चुकानेकी आशा रखनी चाहिये। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के काममें लगी समझकर प्रसन्न होना चाहिये।

अधिक धनसे हानि

(४) अधिक धन कमानेकी चेष्टा भी परमार्थके साधनमें विघ्नरूप ही होती है। धनका मोह मनुष्यकी बुद्धिको अनिश्चयात्मिका बना देता है। खास करके बटोरकर जमा रखनेकी बात तो और भी बुरी है। बहता हुआ धन ही उत्तम पोषक और पवित्र होता है। रुका हुआ

तो, जैसे हृदयसे रक्तके सञ्चालनकी क्रिया बंद होनेपर वह दूषित होकर मृत्युका कारण बन जाता है, वैसे ही, पारमार्थिक भावोंके विनाशका ही कारण होता है।

साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि जो कुछ भी धन कमाया जाय, वह न्याय और धर्मके आधार-पर ही होना चाहिये। अन्यायका धन तो अपने या पराये, जिसके भी काममें आवेगा, बुद्धिको बिगाड़कर आत्मा-का पतन ही करनेवाला होगा !

श्रीमद्भगवद्गीता और वर्तमान युद्ध

(लेखक—डा० श्रीमुहम्मद हाफिज़ सय्यद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

इस समय प्रत्येक व्यक्तिके मनपर—चाहे वह धनी हो या कंगाल, मूर्ख हो या विज्ञ—वर्तमान युद्ध-परिस्थिति-की चिन्ता सवार है। प्रत्येक व्यक्ति भविष्यमें उसपर क्या बीतेगी, इस बातको लेकर चिन्तित है और उसका चिन्तित होना ठीक ही है। मृत्यु हमारे सामने मुँह बाये खड़ी है, क्योंकि युद्ध ठीक हमारे घरमें आ गया है।

प्रत्येक मनुष्यको इस बातका निश्चय है कि देर-सबेर मुझे इस नश्वर शरीरको छोड़ना ही होगा। मृत्यु-के समान ध्रुव इस जगत्में कुछ भी नहीं है—चाहे वह बम-वर्षासे हो या गोलियोंकी बौछारसे, महामारी अथवा जनपदध्वंससे हो अथवा स्वाभाविक ढंगसे। मृत्युके निर्दय पंजेसे कोई भी मनुष्य बच नहीं सकता। इस विवशतापूर्ण स्थितिको सिद्धान्तके रूपमें बहुत लोग तो स्वीकार करते हैं परन्तु अपने दैनिक जीवनमें वस्तुत: इसका ध्यान नहीं रखते। हमलोग कालके गालसे छूटनेके लिये अनेक उपाय करते हैं और इस बातको भूले रहते हैं कि वास्तवमें मृत्युके पंजेसे छुटकारा सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त, जिन्हें जीवन-मरणके प्रश्नका थोड़ा-बहुत ज्ञान है और जो इस विषयसे बिल्कुल अनभिज्ञ हैं, उन दोनोंके दृष्टिकोणमें कुछ तो अन्तर होना ही चाहिये। जिन लोगोंकी निरी भौतिक दृष्टि है, उनके लिये तो मृत्यु जीवनका अन्त है; किन्तु जिनकी दृष्टि आध्यात्मिक है, जिनका जीवनकी अविच्छिन्नता, अवि-नश्वरता एवं नित्यतामें विश्वास है,—उन्हें मृत्युसे कोई भय नहीं होता।

अब जिन लोगोंको भगवद्गीताके तात्त्विक उपदेशोंको अध्ययन करने एवं समझनेका अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ है तथा जिनका उन उपदेशोंमें विश्वास ही नहीं है, उन दोनोंकी दृष्टिमें स्पष्ट ही अन्तर होना चाहिये। इस ग्रन्थरत्नके द्वितीय अध्यायमें सबसे मुख्य एवं तात्त्विक विवेचन इस बातका हुआ है कि मनुष्यका जीवन और मरण दोनों ही आत्माकी उपाधियाँ हैं—दोनों ही आगमापायी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भलीभाँति स्पष्ट एवं असन्दिग्ध शब्दोंमें, अपने प्रिय शिष्य अर्जुनको यह समझाया है कि जो बात किसी प्रकार टाली नहीं जा सकती उसके विषयमें शोक करना व्यर्थ है। यदि मृत्युके साथ ही हमारी सारी आशाओं और अभिलाषाओं-का अन्त हो जानेवाला है तो फिर लाख शोक करने और रोने-कलपनेपर भी वे लौटकर नहीं आ सकतीं। किन्तु यदि हमारा वास्तविक स्वरूप अखण्ड, अविकारी, अव्यय एवं अविनाशी है तो उसे शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती और मृत्यु ध्वंस नहीं कर सकती। जिस क्षण हमें यह निश्चय हो जाता है, उसी क्षण हमारा मृत्युसे भय जाता रहता है और चित्त शान्त एवं स्थिर हो जाता है। बाहरी रूपके नाशसे हमारे मनमें क्षोभ नहीं होता। हम इस बातको भली-भाँति जान लेते हैं कि कोई भी शस्त्र, चाहे वह कितना ही घातक क्यों न हो, हमारे वास्तविक स्वरूपको स्पर्श नहीं कर सकता; क्योंकि वह अमर एवं अविनाशी है।

इस प्रकार जिनका भगवद्गीताके उपदेशोंमें विश्वास है, उनके लिये उचित यह है कि वे अपने आभ्यन्तर स्वरूपकी सत्यतामें भीतरी एवं अटल विश्वास करें तथा शरीरकी मृत्युके साथ अपने स्वरूपनाशका भय सर्वथा त्याग दें।

इस भीतरी निश्चयका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें लापरवाह हो जायँ। स्वधर्म-पालनसे हम किसी भी हालतमें छुटकारा नहीं पा सकते। यदि हम गृहस्थ हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने परिवारकी रक्षा एवं सँभाल करें, अनावश्यकरूपमें अपनेको सङ्कटमें न डालें। परन्तु यदि सङ्कट आ ही जाय तो फिर वीरताके साथ उसका सामना करें।

हम भारतीय इस समय निःशस्त्र एवं आत्मरक्षाके साधनोंसे शून्य हैं; ऐसी दशामें हम अपने प्राणों एवं शरीरके अवयवोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं कर सकते, न हमारे अंदर अपने बचावके लिये शत्रुपर प्रहार करनेकी शक्ति है, अतः हमारे लिये सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम भरसक अहिंसा-व्रतका पालन करें और यदि हमपर यकायक आक्रमण हो तो उस समय हम हँसते हुए प्राणोंकी बलि देनेको तैयार हो जायँ। हमें सदा गीताके इस अमर एवं अमूल्य उपदेशको याद रखना चाहिये—'मनुष्यका आत्मा न जन्मता है न कभी मरता है और न उत्पन्न होकर विनाशको ही प्राप्त होता है। वह अजन्मा, नित्य, सनातन एवं अनादि है; शरीरके विनाश होनेपर उसका विनाश नहीं होता।' (२। २०)

ऊपर जो कुछ कहा गया है, धार्मिक आदेशके रूपमें नहीं कहा गया है कि कोई उसे अन्धविश्वासके रूपमें माने ही। महात्मा श्रीकृष्णप्रेमजीके शब्दोंमें 'गीताका प्रयोजन सिद्धान्तोंसे नहीं वरं ज्ञानसे है; और ऊपर जो बात कही गयी है वह एक ऐसा तथ्य है जो इसी भूमिकामें जिज्ञासुको स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है और जिस समय आत्माको यह ज्ञान हो जाता है कि न तो वह मारता है और न मरता है, उस समय उसे एक विलक्षण शान्तिका अनुभव होने लगता है। बाह्य रूप और व्यक्तियाँ अनिवार्यरूपसे आती-जाती रहती हैं; परन्तु उन सबके अन्तरालमें रहनेवाली स्थिर वस्तु न आती है न जाती है, क्योंकि वह सदा रहती है।'

एक बात और है, जिसका हमें इस समय विचार करना चाहिये। इसका मनन करनेसे चाहे कैसा भी हृदयविदारक सङ्कट हमारे सामने आये, उसका मुकाबला करनेके लिये हम धैर्य एवं साहसपूर्वक तैयार हो जायँगे। चाहे हमारे सामने वर्तमान युद्ध-परिस्थिति न भी आती तो भी किसी महामारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था अथवा स्वाभाविक शक्तिक्षयके कारण नियत समयपर हमारी मृत्यु होती ही। जिस वस्तुका आदि है, उसका अन्त होगा ही। यह देखनेमें ठोस प्रतीत होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् स्थिर कैसे रह सकता है। अनवरत परिवर्तन, क्षय एवं विनाश इसके स्वरूपगत धर्म हैं। प्रत्येक बाह्यरूप वास्तविक एवं अपरिणामी सत्यके स्वरूपको आच्छादित करनेवाली अनित्य मायिक उपाधि है। 'असत् पदार्थोंकी कोई सत्ता नहीं है और सत्का कभी अभाव नहीं होता।' ऐसी दशामें शोक, दुःख एवं भयके लिये स्थान ही कहाँ है। क्या ये प्रबल युक्तियाँ यथेष्ट मानसिक शान्ति एवं समताका भाव जाग्रत् करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं ? भगवद्वाणीके ज्ञानकी परीक्षाका यही तो समय है।

आज सारे जगत्में अन्धकारके जो गहरे बादल छाये हुए हैं, उनके भीतर आशा एवं आलोककी रश्मि यदि कहींसे आती है तो वह उस परम पुरुष परमात्मासे ही आती है, जो हमारी सत्ताका मूल स्रोत है, जो हमारे जीवनका जीवन है और जिसके अनेक नाम और रूप हैं। हमें चाहिये कि हम उसके अधिक-से-अधिक निकट जाकर उसकी शरण ग्रहण करें।

विरहियोंकी प्रेम-साधना

(लेखक—श्रीशंभुप्रसादजी बहुगुना एम्० ए०)

मानव-आत्मा अपनी विकलतामें जिस छबिकी अनिन्द्य सुन्दर मूर्तिको पहचानती है उसका रूप, उसके गुण, उसकी भावना मनुष्यको सुन्दर-से-सुन्दर लगने लगती है। कालिदासका दुष्यन्त संगीतकी मधुर ध्वनि, जिसका सम्बन्ध उसके हृदय तथा जीवनसे था, सुनकर विकल होता है और सोचता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

यह जननान्तरसे चला आता हुआ स्थिर भाव (प्रेम) है जो सुन्दर वस्तुओंकी उपस्थितिसे चेतनामें सजग होकर चिरसुन्दरकी प्राप्तिसे होनेवाली आनन्दानुभूतिके लिये प्राणोंको विकल कर देता है। वस्तुकी उपस्थिति चेतनामें जिस स्मृतिको जागरित करती है वह आनन्दकी स्मृति होनेसे तो सुखद है किन्तु जब उसका सम्बन्ध आनन्दकी आधारवस्तुके अभावसे होता है तो उसमें दुःखकी छाया भी आ जाती है। साधारण अवस्थामें ये दोनों-अभावात्मक दुःख और भावात्मक सुखकी—अनुभूतियाँ एक साथ ही मिली होती हैं। इसीलिये विरहीको विरहमें भी सुख है। प्रेमी विषम दशाओंको भी प्रियके ही आसरे झेलता है। वह प्रेमी प्राणधनीके ध्यानमें ही आठ पहर, चौसठ घड़ी डूबा रहता है—

आठ पहर चौसठ घड़ी रहता प्रियका ध्यान।
छूट गया उससे स्वयं पीछे आतम ज्ञान ॥

और जब वियोगीका तन-मन प्रिय-मिलनकी चाह और घनीभूत आशामें एकाकार हो जाता है तब न मौत ही आती है और न मरा ही जाता है—

नहीं मृतक नहिं जीवता, नहिं आवे नहिं जाय।
नहिं सूता नहिं जागता, नहिं भूखा नहिं खाय ॥

—दादू

रात दिवस मोहि नींद न आवत, भावत अन्न न पानी।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर, जागत रैन बिहानी ॥

—मीरा

अंतर उद्वेग दाह आँखिन प्रवाह आँसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हूँ, हँसिबो न रोइबो हूँ
खोय खोय आप ही मैं चेटक लहनि है ॥
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनँदघन
विरह विषम दशा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन बीच बिना बन्यो आय
हाय कौन विधि रची नेहीकी रहनि है ॥

—घनानन्द

नेहीकी इस 'रहनि' में रहनेवालेकी आँखें प्रियके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखतीं, उसके कान प्रियकी वाणीके अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनते, उसकी जिह्वा रात-दिन प्रियका नाम ही उच्चारती है। उसका अंग-अंग प्रियके रसरंगमें भीग जाता है। उसके मन-सिंहासनपर अपने आराध्यका ही ध्यान विराजता है—

जब ते निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे
तब ते गही है उर आन देखिबे की आन।
रस भीजे बैननि लुभाइ कै रचे हैं तहीं
मधुमकरंद सुधा नावों न सुनत कान ॥
प्रान प्यारी ज्यारी घनआनँद गुननि कथा
रसना रसीली निस बासर करत गान।
अंग अंग मेरे उन ही के संग रंग रँगे
मन-सिंहासन पै विराजै तिन ही कौ ध्यान ॥

—घनानन्द

अंग-अंगको प्रियके रंगमें डुबा देनेवाला यह विशेष योग ही वियोग है। जिसमें प्रियतमकी अभावात्मक रूप-रेखा तो आँखोंके सम्मुख रहती है किन्तु यथार्थमें

प्रियकी शारीरिक अनुपस्थितिसे पूर्ण आनन्दानुभूति प्राणीको नहीं होती। आनन्दानुभूतिका विश्वास उसे शरीरकी उपस्थितिमें होता है[1]। इसलिये वह परमात्माको भी साकार रूपमें ही देखना चाहता है, मनुष्यरूपमें भगवान्को पाकर भक्तको उसकी प्रीतिका पूरा विश्वास हो सकता है, प्रेमके लिये दृढ़ आधार मिल सकता है; क्योंकि प्रेमको दृढ़ता समान जातिकी वस्तुओंमें ही मिल सकती है—

पीरिति रतन करिबो जतन, जदि समाने समाने हय।

—चण्डीदास

मनुष्य मनुष्यके प्रेमको ही भलीभाँति समझ सकता है। ईश्वर ईश्वर रहकर हमारी श्रद्धा भले ही पाले किन्तु उस दशामें हमारे अटूट विश्वासपर अवलम्बित प्रेमका पात्र सहज ही नहीं हो सकता। उसके ईश्वरत्व-तक पहुँचनेके लिये मनुष्यत्वकी ही सीढ़ीपर पहले चढ़ना पड़ता है इसीलिये निर्गुणी कबीरने भी सगुणका बहिष्कार नहीं किया वरं निर्गुणके भी परे पहुँचनेके लिये उसकी सेवा करनेका उपदेश देते हुए कहा—

सर्गुणकी सेवा करो, निर्गुणका करि ग्यान।
सर्गुण निर्गुण के परे तहैं हमारा ध्यान॥

और सगुण भक्तिके समर्थक तुलसीने स्पष्ट शब्दोंमें उसे चुनौती दी है जो अज्ञानके बिना ज्ञान, अन्धकारके बिना प्रकाश और सगुणके बिना निर्गुणको बतला दे। उसे वे अपना गुरु मान लेंगे—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

उच्च कोटिके भक्त और ज्ञानियोंको भी जब साकारकी आवश्यकता होती है तब साधारण मनुष्यका काम तो रूप—आकारके बिना चल ही नहीं सकता। अरूप रूप पाकर ही सुन्दर होता है। आत्मा रूपमें ही अपने सौन्दर्यको देख सकता है, आनन्दकी अनुभूति कर सकता है। अस्तु, मनुष्य मनुष्य होनेके नाते अपनी भावनाओंके देवताको भी मनुष्यकी ही भाँति क्रिया-कलाप करता हुआ देखना चाहता है[1]। अपने सुख-दुःखमें भाग लेते हुए देखकर ही उसे भगवान्की प्रीतिमें दृढ़ विश्वास हो सकता है। मनके टिकनेके लिये हम आधार चाहते हैं—

जान छबीले कहो तुम ही जो न दीसौ तो आँखिन काहि दिखाऊँ।
कौन सुधाई सनी बतियानि बिना इन काननि लै कहा प्याऊँ॥
हाय मर्यो मन पीर तें प्रीतम या दुखियाहि कहा परचाऊँ।
चाहत जीव धर्यो घनआनँद रावरी सौं कहुँ ठौर न पाऊँ॥

—घनानन्द

इसीलिये वियोगमें प्रियके दर्शनको प्रेमी भावात्मक रूपमें ही नहीं, स्पर्शात्मक रूपमें भी चाहता है। क्योंकि उसके बिना उसका मन आनन्दकी अनुभूतिमें विश्वास कर नहीं पाता। आनन्दानुभूतिमें विश्वास होनेके लिये आवश्यक रूपकी प्राप्तिमें ही विरहीकी तड़फन है। चातककी प्यास है। इस प्यासकी तृप्तिके लिये जिस अमृतकी चाहना प्रेमी करता है, वही प्रियका साक्षात्कार है उसमें स्पर्शन-दर्शन, तन-मनका एकी-करण हो जाता है। उसकी प्राप्ति ही विरहीको सुखी कर सकती है।

जब राम अकेला रहि गया, तन मन गया बिलाय।
दादू विरही तब सुखी, जब दरस परस मिलि जाय॥

जबतक यह बात नहीं होती, (प्रेमी) विरही सुखी नहीं हो सकता—

जब लग नैन न देखिये, परगट मिलै न आय।
एक सेज संगहि रहै, यह दुख सह्या न जाय॥

संयोगमें प्रिय आँखोंके सम्मुख भी रहता है और मनकी आँखोंके सम्मुख भी, किन्तु वियोगमें वह मनके

१. सब सह सकता है, परोक्ष ही कभी नहीं सह सकता प्रेम।
बस प्रत्यक्ष भावमें उसका रक्षित-सा रहता है क्षेम॥
—पञ्चवटी

१. हम और कछू नहिं चाहति हैं छन कौ किन मानस रूप मिलौ।
—घनानन्द पृ० १०८

ही सम्मुख रहता है। प्रेमी उस मनके वासीको चर्म-चक्षुओंके सम्मुख भी देखनेके लिये बेचैन रहता है—

घनआनँद रस ऐन, कहो कृपानिधि कौन हित।
मरत पपीहा नैन, दरसौ पै बरसो नहीं॥

—घनानन्द

निकट बसौ दूर रहौ, एक मंदिर माँह माधवे।
कै मिलिहौ कै तन तजौं, अब मोहे जीण नहि माधवे॥

—हरिदास निरञ्जनी

मनमें बसकर भावते, कहो कवन यह हेत।
प्रगट दगन कौं आइ कै, क्यों न दिखाई देत॥

—रसनिधि

सब घटि साँई रमि रहा, सूनी सेज न कोय।
भाग तिन्हींका हे सखी, जा घट परगट होय॥

—कबीर

कहु रहीम कैसे बने, अनहोनी ह्वै जाय।
मिला रहै औ ना मिलै, तासों कहा बसाय॥

—रहीम

प्रेमी उस दिनके लिये तरसता रहता है जिस दिन उसे प्रियके दर्शन-स्पर्शन हो सकेंगे—

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है मिलिबो अंग लगाइ॥
हौं जानूँ जे हिलमिलि खेलूँ तन मन प्रान समाइ।
या कामना करौ परिपूरन समरथ हौ रामराइ॥

—कबीर

तुलसीका हृदय सीताके शब्दोंमें कह रहा है—

कबहूँ, कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन-चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे।
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे॥
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे।
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे॥

—गीतावली

विरहिन मीरा भी उस घड़ीके लिये विकल है जब हरि हँसकर उसे कण्ठ लगावेंगे—

वा बिरियाँ कब होसी, मोकूँ हरि हँसि कंठ लगावैं।

और प्रेमी घनानन्द उस दिनके लिये उत्कण्ठित हैं जब सिंगारकी मूर्तिकी अच्छी छबि देखनेका सौभाग्य उनको प्राप्त होगा। और वे अपने आराध्यके कमल-चरणोंको चूम-चूमकर अपने कपोलोंसे माँजेंगे—

मूरति सिंगारकी उजारी छबि आछी भाँति
दीठि लालसाके लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति रसना सवाद पाँवड़े पुनीत कारी
पाय चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं॥
जान प्यारे प्रान अंग अंग रुचि रंगनि मैं
बोरि सब अंगनि अनंग दुख भाजिहौं।
कब घन आनँद ढरौहीं बानि देखे सुधा
हेत मन घट दरकनि सु बिराजिहौं॥

वह उस सौभाग्यशाली दिवसके लिये उत्कण्ठित हैं जब प्रिय अपने रसीले सुन्दर रूप-रंगसहित सम्मुख खड़े होकर विरहको नष्ट करनेवाले आनन्दके घनको बरसायेंगे—

छबिको सदन मोद मंडित बदन चंद
तृषित चखनि लाल कब धौं दिखाय हौ।
चटकीलौ भेष करे मटकीली भाँति सौही,
मुरली अधर धरें लटकत आय हौ॥
लोचन दुराय कछु मृदु मुसिक्याय नेह—
भीनी बतियानि लड़काय बतराय हौ।
विरह जरत जिय जानि आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि आनँदको घन बरसाय हौ॥

किन्तु वह घड़ी सहज ही नहीं आ जाती। उसके लिये कठिन तपस्या करनी पड़ती है। विरहकी विषम दशाओंमें अपने मनके मैलोंको जलाना पड़ता है। विरहकी सब दशाओंमें दृढ़ विश्वास बनाये रखनेवाला प्रेमी ही अन्तमें प्रियको प्राप्त करता है।

बाट बिरह की सोधि करि पंथ प्रेम का लेहु।
लव के मारग जाइ के दूसर पाँव न देहु॥

—दादू

एकै निश्चय प्रेम को जीवन युक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जातैं मिलैं गोपाल॥

—सूरदास

सच्चे प्रेमीको अपने प्रेमके बलका पूर्ण विश्वास रहता है। इसी विश्वासके बलपर वह कहता है—

रूई दिये रहौगे कहाँ लौं बहराइबे की
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलि है ॥
—घनानन्द

इस प्रेमके भरोसे ही कबीरको काशी छोड़कर मरते समय मगहर जानेमें दुःख नहीं हुआ और दृढ़ विश्वासीकी भाँति उसने कहा था 'जो कासी तन तजै कबीरा, रामै कहा निहोरा रे।' सूरदास भी तो इसी बलसे श्रीकृष्णको चुनौती देते हुए कहते हैं—

आज एक एक करि टरिहौं,
कै हम ही कै तुम ही माधव
अपुन भरोसे लरि हौं।

यह विश्वास है जिसके बलपर सब विपरीत परिस्थितियोंमें भी प्रेमी अपने प्रियको एकरस प्रेम करता है—

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ॥
—दोहावली

उसे एकलग आशा-भरोसा अपने प्रियका ही होता है।

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
स्वाति बूँद घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

दूसरी ओर वह ताकना ही नहीं चाहता—

एकै आस एकै विश्वास प्रान गहैं बास,
और पहिचानि इन्हें रही काहू सो न है।
—घनानन्द

अन्यत्र चाहे अमृत ही क्यों न हो उसके लिये वह विष-तुल्य है। सब सुन्दर वस्तुओंका, प्रियके अभावमें, विरहीको विष-तुल्य लगना अत्यन्त साधारण बात है। कमल सूर्योदय होनेपर ही खिलता है। अन्य प्रकाश उसके लेखे 'अन्धकार' ही है।

चातकि चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही को
सूरे पन पूरे जिन्हें विष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज पुंज
ता बिन बिचारनि ही जोति जाल तमी है ॥
—घनानन्द

प्रिय उसे चाहे छोड़ दें वह प्रियको नहीं छोड़ सकता। चन्द्रमाको चकोर अनेक मिल सकते हैं किन्तु चकोरके लिये तो चन्द्रमा एक ही है—

चाहौ अन चाहौ जान प्यारे पै आनँदघन
प्रीति रीति विषम सुरोम रोम रमी है।
मोहि तुम एक तुम्है मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है ॥*
—घनानन्द

किन्तु प्रेमीके इस विश्वासकी कठिन परीक्षा होती है। उसपर घने संकट आते हैं। लेकिन वह अडिग रहता है। आखिर उसकी स्थिरताको देखकर बेचारे दुःख ही दीन होकर लौट जाते हैं—

घन आनँद जान सुनौ चितदै हित रीति दई तुम तौ तजि कैं।
इत साहस सों घन संकट कोटिक आए समाजनि कों सजि कैं ॥ †
मन कें पन पूरन पूरि रह्यो सु तजै कित या विधि सों अजि कैं।
यह देखि सनेह विदेह दसा अति हीन ह्वै दीन गये लजि कैं ॥
—घनानन्द

भरी सराय लखकर आनेवालेको लौटना ही पड़ता है। प्रियमें ही जो लवलीन है उसपर प्रियकी सुदृष्टि न हो यह असम्भव है। और परम प्रिय (परमात्मा) की सुदृष्टि होते हुए दुःख-संकट टिक नहीं सकते। इसीलिये तुलसीने कहा है—

कोटि बिघिन संकट बिकट, कोटि सत्रु जो साथ।
तुलसी बल नहिं करि सकें, जो सुदृष्टि रघुनाथ ॥

---

* हूँ सरखी बहु आपने, मारे तो एक आप।
—दयाराम

हमसे तुमको बहुत हैं, तुमसे हमको नाहिं।
—कबीर

तुमसे हमकूँ कबरे मिलोगे हमसी लाख करोर।
—मीरा

तुम्हसे तुम्हहि नाथ मोको, मोसो जन तुमको बहुतेरे।
तुलसी—गीतावली

† झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदयको सबने आ डेरा डाला ॥
—जयशङ्कर-'प्रसाद' आँसू

सांसारिक सब दुःखोंको तो प्रेमी (भक्त) ईश्वरके भरोसे छोड़कर सह लेता है—

काहे कों सोचि मरै जियरा परी तोहिं कहा बिधि बालनि की है।
हैं घनआनँद स्याम सुजान सम्हारि तू चातकि ज्यों सुख जी है॥
ऐसे रसामृत पुंजहिं पाय कै को सठ साधन छीलर छी है।
जाकी कृपा नित छाय रही दुख ताप तें बौरे बचाय ही ली है॥

किन्तु भगवान्का साक्षात्कार न होनेसे जो दुःख उसे होता है उसे सहना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है—

अंतर हौ, किधो अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं॥
जो घन आनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी में धँसौं कै अकासहिं चीरौं॥
—घनानन्द

कै बिरहिन को मीच दे कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सहा न जाय॥
—कबीर

कै मिलि हौ कै तन तजौं, अब मोहि जीण नहिं माधवैं।
—हरिदास निरंजनी

प्राण शरीरका बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाना चाहते हैं किन्तु दर्शनकी आशा उन्हें रोक लेती है—

दृग नीर सों दीठिहुँ देहुँ बहाय पै वा मुख कौ अभिलाषि रही।
रसना विष बोरि गिराहि गसौं वह नाम सुधानिधि भाषि रही॥
घनआनँद जान सुबैननि त्यौं रुचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय परै कबहूँ पिय कारन यौं जिय राखि रही॥

किन्तु विलम्बजनित निराशा भी अपना गहरा रंग जमा लेती है और प्रेमी निराश होकर कहने लगता है—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किए दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती, प्रीति करै जनि कोय।
—मीरा

किन्तु फिर भी घोर-से-घोर निराशामें भी आशाकी किरण उसे जीवित रखती है—

तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल
थाके ये बिकल नैना ताहि नपि नपि रे।
हिए मै उदेग आगि लागि रही रात द्योस
तोहि कों अराधौं जोग साधौं तपि तपि रे॥
जान घनआनँद यों दुसह दुहेली दसा
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीव तें भई उदास तऊ है मिलन आस
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे॥

और यदि एक बार भी प्रियकी कृपा-कोर विरहीको मिल गयी तो उसके जीवनमें हरियाली आ जाती है—

गई दसा सब बाहुड़े, जे तुम प्रगटेहु आइ।
दादू ऊजड़ सब बसै, दरसन देउ बसाइ॥

परन्तु इस कृपाको पानेके लिये सब कुछ खोना पड़ता है। क्योंकि—

प्रेम न खेती नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाय।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाय॥
—कबीर

जो तनकी आस छोड़, सिर काट लेता है, वही प्रीतमका दीदार देख सकता है—

सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगैं थैं हरि मुलकिया आवत देख्या दास॥
—कबीर

विरहीकी वेदना, दर्शनमें विलम्ब होनेसे बढ़ती ही जाती है किन्तु फिर भी उसका विश्वास उससे कहता है—

इस शिथिल आहसे खिंच कर तुम आओगे-आओगे।
इस बढ़ी व्यथाको मेरी रो रो कर अपनाओगे॥
—प्रसाद

वह अपनी आत्माको प्रबोधता है—

गुननि बँधे हैं निरगुन हू आनँदघन
मति बीर यहै गति चाहै धीर जातु री।
आतुर न है री अति चातुर बिचार थाकी
और सब ढीले कृपा ही के एक आतुरी॥

कृपाकी आतुरी हृदयमें चाहिये प्रियतम सामने आ खड़े होंगे—

चाह मीठी पीर जिन्हैं उठति अनँदघन
तेई आखैं साखैं और पाखैं कहा जान ही॥
—घनानन्द

अद्भुत प्रियतम की प्रभा, सबमें रह्यो समाय।
व्याकुलता जा हिय बसै, प्रियतम ताहि लखाय॥

यों तो विरहमें भी प्रियतम समीप ही रहते हैं, दृष्टि-के आगे ही डोलते रहते हैं—

दीठि आगे डोलौ जो न बोलौ कहा बसु लागै।
मोहि तो वियोगहु मैं दीसत समीप हौ॥
—घनानंद

प्रिय चाहे कितना ही छिप रहना चाहे किन्तु ध्यान-में आनेसे तो रुक नहीं सकता—

और सबै सहौं कछू कहौं न कहा है बस
तुम्हैं बदौं तो पै जो बरजि राखौ ध्यान को।
—घनानंद

ऐसी सुहाय तो मेरो कहा बस,
देखि हौ पीठि दुराय हौ जो मुख।
—घनानंद

अदृश्य हो जानेपर प्रेमी कहता है—

बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदेसे जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥
—सूरदास

या तन तै बिछुरै ते कहा! मन तैं अनतैं जु बसौ तब जानौं।
—देव

कहा भयो जो बीछुरे? तो मन मो मन साथ।
उड़ी जात कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ॥
—बिहारी

सतत ध्यानसे, भावके भूखे प्रेमी (भगवान्) को भक्तका प्रेम तो मिलता ही है किन्तु भक्तको भी वह कृपा प्राप्त होती है जो कृष्ण चन्द्रकी चाँदनी है और जिसके आगे तीनों लोकोंका राज्य भी तुच्छ है। भक्तों तथा प्रेमियोंने अतीतसे इस कृपा (भक्ति) की ही कामना की है।

कुछ बहिनोंके पत्रोंके उत्तर

[कुछ बहिनें अपना पूरा नाम-पता दिये बिना ही पत्र लिखती हैं और बड़े आग्रहसे उसका उत्तर चाहती हैं। नाम-पता न लिखनेके बहुत-से उचित कारण भी हो सकते हैं परन्तु मुझे सबका उत्तर 'कल्याण' में छापनेमें बड़ी कठिनाई होती है। कई पत्र तो ऐसे होते हैं, जिनका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करने योग्य नहीं होता; परन्तु पत्रके रूपमें सहज ही लिखा जा सकता है। ऐसे पत्रोंका उत्तर तो प्रायः रह ही जाता है। जिनको उत्तर नहीं मिलता, उन बहिनोंको दुःख भी होना सम्भव है परन्तु उसका कोई उपाय नहीं है। बहिनोंसे निवेदन है कि वे अपना पूरा नाम-पता लिख दिया करें। वे जिस पतेपर उत्तर मँगावेंगी उसी पतेपर उत्तर लिखा जायगा। वे चाहेंगी और उचित होगा तो 'कल्याण' में भी उत्तर छापे जा सकते हैं। पूरा नाम-पता न होनेके कारण किसी बहिनको पत्रका उत्तर न मिले तो वह कृपया क्षमा करें। आज यहाँ बारह बहिनोंके पत्रोंका उत्तर संक्षेपमें प्रकाशित किया जाता है। स्थानाभावसे उनके लंबे-लंबे पत्र नहीं छापे जा रहे हैं। उत्तर पढ़नेसे पत्र लिखनेवाली प्रत्येक बहिनको सहज ही पता लग सकता है कि उनके पत्रका उत्तर कौन-सा है। —सम्पादक]

(१) श्रीकृष्णके भजनके लिये आपका मन छटपटाता है, यह मनकी बहुत ही उत्तम दशा है। और आपका बड़ा सौभाग्य है। संसारमें अधिकांश लोग तो ऐसे ही हैं जिनका मन भगवान्की ओर जाता ही नहीं, दिन-रात अनुकूल-प्रतिकूल विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहता है। भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप, गुण, नाम, लीला आदिका अध्ययन और मनन करते रहना चाहिये और जहाँतक बने—किसी भी प्रकारकी दूसरी चाह न करके उनके विशुद्ध भजनकी ही कामना करनी चाहिये। नाम-जप सदा-सर्वदा बनता रहे—इसका अभ्यास करना चाहिये। फिर भजन अपने-आप ही होगा और यों करते-करते वह ऐसी स्थितिपर पहुँच जायगा कि जिससे आपका जीवन सफल होगा।

(२) क्रोध असलमें बहुत बड़ा शत्रु है। जबतक क्रोध है तबतक साधनमें आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। क्रोध मनुष्यके

विवेकको हर लेता है, क्रोधके आवेशमें मनुष्य राक्षस-सा बनकर अपना-पराया अनिष्ट करनेके लिये भाँति-भाँति दुःसाहसपूर्ण पाप कर बैठता है और उनके परिणाम-स्वरूप इस लोकमें अपमान, अकीर्ति, अशान्ति, आघात, रोग, शोक, विषाद, वियोग, आकुलता, उद्वेग, धननाश और जनहानि आदिके दुःखोंको और परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणा, तथा घोर पशु-पक्षी और कीट-पतङ्गादि योनियोंको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्ने काम-क्रोधको पापके कारण, तथा काम-क्रोध-लोभको आत्माका पतन करनेवाले नरकके दरवाजे बतलाया है और इनसे छूटकर परमार्थका साधन करनेवालेको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६। २१-२२)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये आत्माका पतन करनेवाले तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये। अर्जुन! नरकके इन तीनों दरवाजोंसे छूटा हुआ पुरुष सच्चे कल्याणके लिये आचरण करता है और इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

क्रोधके त्यागके लिये नीचे लिखे उपाय करने चाहिये—

(क) मनके प्रतिकूल कार्योंको भगवान्का विधान मानकर सन्तुष्ट रहना।

(ख) यह निश्चय रखना कि मेरे अनिष्ट होनेमें मेरा अपना किया हुआ कर्म ही कारण है। जिसके द्वारा मेरा अनिष्ट हुआ है वह तो केवल निमित्तमात्र है और भगवान्की दयाका पात्र है।

(ग) प्रत्येक कार्यमें निरन्तर अनुकूलताकी भावना करना।

(घ) क्रोध आनेपर उस समय मौन रहनेका नियम करना। कुछ भी न बोलना।

(ङ) क्रोध आनेपर उसी समय जोर-जोरसे नाम-कीर्तन करने लगना।

(च) क्रोध-नाशके लिये भगवान्से प्रार्थना करना। नित्य प्रातःकाल दृढ भावना करना कि भगवत्कृपासे आज मुझको क्रोध नहीं आ सकता। हरगिज नहीं आ सकता।

(छ) क्षमाशील संतोंका प्रत्यक्ष या उनकी वाणीका संग करना—एकनाथ-जैसे क्षमाशील संतोंके जीवन और उपदेशोंको पढ़ना।

(ज) जगत्की नश्वरताका विचार करके वैराग्यकी भावना करना। क्रोधकी उत्पत्ति कामसे होती है और कामकी रागसे। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको क्रोध नहीं होता।

(झ) पेटको सदा साफ रखना और उत्तेजना पैदा करनेवाले मांस, मद्य, प्याज, लहसुन, राई, लालमिर्च आदि चीजोंको न खाना। मांस-मद्यका तो बिल्कुल ही त्याग कर देना।

(ञ) जिनको डाक्टरी दवासे परहेज न हो और जो बाहरी उपाय भी करना चाहते हों, वे कुछ दिनोंतक पोटास बाईकार्ब २० ग्रेन और पोटास ब्रोमाइड २० ग्रेन दो-तीन आउंस पानीमें द्रव करके पी सकते हैं। इससे स्वभाव बदलता है। परन्तु एक ही साथ लगातार बहुत दिनोंतक इसका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। जो डाक्टरी दवा नहीं खाते, उन्हें भूलकर भी इनको नहीं लेना चाहिये।

(३) धर्मकी आड़में अत्याचार करनेवाले लोगोंके कारण भगवान्के नामपर अश्रद्धा होना आश्चर्यकी बात नहीं है। वर्तमान नास्तिकताके प्रसारमें धर्म और भगवान्के नामपर अत्याचार-अनाचार करनेवाले लोग भी एक प्रधान कारण हैं फिर चाहे वे महन्त-पुजारीके वेषमें हों या संन्यासी अथवा गृहस्थके। परन्तु समझदार

लोगोंको इससे धर्म और भगवान्‌के नामपर अश्रद्धा क्यों करनी चाहिये। भगवान्‌का नाम तो सर्वथा दोषरहित है और वह आश्रय लेनेवालेका कल्याण ही करता है। वेषको लजानेवाले पापी भी भगवान्‌के राज्यमें अपने कियेका फल पावेंगे ही। इसमें भी शङ्का क्यों करनी चाहिये ? हाँ, इतना अवश्य है कि स्त्रियोंको अपने पतिदेवके सिवा—किसीसे भी न तो एकान्तमें मिलना चाहिये और न किसीका चरण-स्पर्श आदि ही करना चाहिये। चाहे वह महात्मा ही माना जाता हो। पता नहीं किस वेषमें कैसा धोखा हो जाय !

(४) बीमारीकी अवस्थामें स्नान किये बिना भगवान्‌का नाम जपनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है। भगवन्नाम स्वयं परम पवित्र है और अपने सहज स्वभावसे अपवित्रको भी पवित्र करनेवाला है। उसे हर अवस्थामें लेते रहना चाहिये।

(५) भगवान्‌के जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा तथा प्रेम हो, उस स्वरूपकी पहले मनमें धारणा करनी चाहिये। धारणा मूर्ति या चित्रके द्वारा भी की जा सकती है और शास्त्रके वर्णन पढ़कर भी। चित्र सामने रखकर धारणा करना कुछ सहज होता है। सारे अङ्गकी धारणा हो जानेपर आँखें मूँदकर प्रत्येक अङ्गोंकी मानसिक कल्पना करके वस्त्राभूषणोंसहित पूरा शरीर बन जानेपर उसीमें चित्तको लगाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। फिर मानसिक उपचारोंसे मानस पूजा करनी चाहिये। पूरे शरीरका ध्यान न हो तो केवल श्रीचरणोंका या श्रीमुखका ही ध्यान करना चाहिये। नियमित अभ्यास करते रहनेपर ध्यान अवश्य हो सकता है।

(२)

(१) आप सोलह नामके महामन्त्रका छः सालसे जाप कर रही हैं, यह बड़ी ही उत्तम बात है। आपने जो संख्या लिखी है, वह मन्त्रोंकी नहीं, नामोंकी मालूम होती है क्योंकि आपने रोज १० । २० माला जप करना लिखा है। इस हिसाबसे इतने मन्त्रोंका जाप नहीं हो सकता। जो कुछ भी हो, आप श्रद्धापूर्वक जप करती ही रहें। यह तो संख्यासे जप करनेकी बात हुई। बिना संख्याके घरका सारा काम करते समय जीभसे हर समय जप करते रहना चाहिये। जितनी देर जीभसे बोलनेका काम पड़े, उतनी ही देरको जप बंद रहे। बोलना भी उतना ही चाहिये जितना आवश्यक हो, ज्यादा बोलनेसे उतनी देरतक नाम-जप तो छूटता ही है और भी कई प्रकारके नुकसान होते हैं।

(२) आपको चाहिये कि आप नित्य सबेरे नियमपूर्वक भगवान्‌की प्रार्थना करें और यह दृढ़ निश्चय करें कि 'क्रोध, लोभ, मोह आदिका मुझपर कुछ भी असर कभी नहीं होगा। मैं भगवान्‌का नाम लेती हूँ। भगवान्‌के नामके प्रतापसे इनका बहुत ही शीघ्र सर्वथा नाश हो जायगा।' असलमें बात भी ऐसी ही है। भगवान्‌का नाम लेनेवालेके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं परन्तु जबतक पूरे नाश नहीं होते, तबतक जैसे अमावसकी रात दो घड़ी बीतनी बाकी रहनेपर भी अन्धेरा दीखता है, वैसे ही दोषोंका नाश सर्वथा निकट होनेपर भी दोषोंकी प्रतीति होती है।

(३) आप घर-गृहस्थीका भार सम्हालती हैं और पातिव्रत-धर्मका ध्यान रखती हैं यह भी बहुत उत्तम है। आपके कार्योंसे आपके पतिदेव प्रसन्न हैं—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जो नारी अपने स्वभाव और कार्यसे पतिदेवको प्रसन्न रखती हैं और भजन भी करती हैं, वह बहुत ही श्रेष्ठ हैं।

(४) भगवान् श्यामसुन्दरकी सूरतका ध्यान करना चाहती हैं यह उत्तम है। भगवान्‌का सुन्दर चित्र सामने रखकर ध्यान कीजिये। या अपनी पतिदेवमें ही भगवान्‌की भावना करके उन्हींका ध्यान कीजिये।

(३)

(१) 'आपके माता-पिता लड़कपनमें ही चल बसे और किसी दूसरेने चार हजार रुपये लेकर आपका विवाह एक वृद्ध सज्जनसे कर दिया।' यह उन्होंने बहुत ही बुरा किया। पैसेका लोभ मनुष्यका सारा विवेक हर लेता है और उसे पशु बना देता है। परन्तु आपको इसमें अपने भाग्यको ही कारण मानना चाहिये और जबतक पतिदेव जीवित हैं, तबतक सेवा-शुश्रूषासे उनको सदा सन्तुष्ट रखना चाहिये। पति-सेवासे स्त्रीका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल होता है।

(२) आत्महत्याका विचार भूलकर भी कभी मत कीजिये। इस शरीरके छूटते ही यदि सारे दुःखोंसे छुटकारा मिल जाता हो, तब तो आत्महत्या भी की जा सकती है परन्तु ऐसी बात नहीं है। शरीर छूटनेपर जीव नहीं मरता, वह अपने कर्म-संस्कारोंको लेकर सूक्ष्म शरीरके साथ दूसरे शरीरका आश्रय करनेके लिये चला जाता है और वहाँ उसे अपनी अच्छी-बुरी करनीका फल बेबस होकर भोगना पड़ता है। मनुष्य हजार चेष्टा करनेपर भी कर्मफल-भोगसे बच नहीं सकता। फिर आत्महत्या तो खुद एक बहुत बड़ा पाप है। यह सच है कि जब चारों ओरसे दुःख आ पड़ते हैं, तब मनुष्यके लिये उनका सहन करना बहुत कठिन हो जाता है और उस अवस्थामें उसके मनमें बराबर यही आता है कि 'इस जीवनसे तो मरना कहीं अच्छा है।' परन्तु यह उसकी कमजोरी है।

(३) जो लोग आपको तरह-तरहके ताने देते हैं, सताते हैं, मारते हैं, वे बहुत बड़ा पाप कर रहे हैं। अभी उन्हें अपने कुकर्मोंका भान नहीं है पर जब उनका फल सामने आवेगा, तब उन्हें भी कम दुःख नहीं होगा। सताना तो किसीको भी नहीं चाहिये परन्तु गरीब, असहाय और दुर्बलको—जो उसका उचित प्रतीकार करनेमें असमर्थ है,—सताना तो बहुत ही बुरा है। असहायकी 'हाय' सतानेवालेका सर्वनाश कर डालती है। परन्तु उसे यह बात पहले सूझती नहीं और स्वार्थवश या स्वभावदोषसे कौतूहलवश वह गरीबोंको सताता रहता है। उन पुरुषोंको धिक्कार है, जिनके बुरे बर्तावसे धर्मपरायणा अबलाओंके मनमें आत्महत्याकी भावना पैदा होती है। आपको अपनेमें धर्मका बल और कष्ट-सहनका सामर्थ्य उत्पन्न करना चाहिये और फिर अन्यायका खुला प्रतिवाद करना चाहिये। कमजोरीके कारण अन्यायको चुपचाप सहकर मन-ही-मन कुढ़ते तथा शाप देते रहनेकी अपेक्षा अन्यायका न्याययुक्त परन्तु स्पष्ट एवं दृढ़ प्रतिवाद करके हरेक कष्ट सहनेको—यहाँतक कि मर जानेको भी तैयार रहना कहीं उत्तम है। आत्महत्या पाप है परन्तु अन्यायका तीव्र और खुला प्रतिवाद करके अन्यायीके हाथसे मर जाना बलिदान है। इस बलिदानका फल आत्माके लिये बुरा नहीं होता। एक बात है—अन्याय करनेवालेके अन्यायके साथ ही द्वेष होना चाहिये, उसके शरीर और आत्माके प्रति नहीं। तभी वास्तविक त्यागपूर्ण बलिदान होता है।

(४) सतानेवालोंकी कुमतिके नाशके लिये भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये। जैसे हम अपने किसी प्यारे सम्बन्धीकी बीमारी मिटानेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं, वैसे ही इस मानस रोगके लिये भी प्रार्थना करनी चाहिये। ईश्वर-विश्वास और प्रार्थनामें बड़ा बल है। भगवान् आपकी इस कल्याण-कारिणी प्रार्थनासे आपपर बहुत ही प्रसन्न होंगे; क्योंकि आप इसके द्वारा बुरा करनेवालेका भी महान् कल्याण चाहती हैं।

(५) भगवान्के 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥' इस सोलह नामके मन्त्रका जाप और श्रीरामचरितमानस-का पाठ कीजिये। इससे बड़ा मङ्गल होता है।

(६) प्रार्थनाके लिये किसी स्तोत्र, संस्कृतके श्लोक या कविताकी आवश्यकता नहीं है । आप अपनी ही भाषामें अपने भावोंको अपने अन्तर्यामी भगवान्के सामने रखकर उनकी कृपा माँगिये और यह विश्वास कीजिये कि भगवान्की कृपा आपको अवश्य-अवश्य प्राप्त है; क्योंकि भगवान् जीवमात्रके सुहृद् हैं । 'सुहृदं सर्वभूतानाम् ।' वे अपनी कृपाका अनुभव भी विश्वासीको शीघ्र करा देते हैं ।

(७) भगवान् बड़े दयालु हैं, वे विश्वासपूर्वक भजन करनेवालेके पिछले सारे पापोंका नाश कर डालते हैं । वे कहते हैं—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥'

'भगवान् कृपामय हैं, भगवान् ऐसे हैं जो महान् पापीको भी सदा हृदयसे लगानेको तैयार हैं, वे किसीसे भी घृणा नहीं करते तथा न किसीकी उपेक्षा ही करते हैं ।' ऐसा विश्वास करके अपने पापोंके लिये पश्चात्ताप करती हुई आप मन-ही-मन भगवान्के शरण हो जाइये । भगवान् सारे दोष क्षमा करके आपको अपनालेंगे, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । गीतामें भगवान्ने घोषणा की है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि कोई महान् पापी भी अनन्य भावसे (यह समझकर कि भगवान् ही मेरे एकमात्र इष्टदेव, सहायक और रक्षक हैं । उनका विरद ही है कि जो भी आर्त होकर उनके शरण जाता है, वे उसके पाप-जीवनकी ओर न देखकर उसे अपनालेते हैं और जैसे मा दुर्गन्धभरे मलसे लिपटे अपने बच्चेको स्नेहवश गोदमें लेकर स्वयं उसका मल धोकर साफ कर देती है वैसे ही भगवान् भी उसके सारे पाप-ताप धो डालते हैं । ऐसे एकमात्र वे ही हैं, और कोई नहीं) मुझको भजता है तो उसे भी 'साधु' ही मानना चाहिये । क्योंकि उसका निश्चय (अनन्य भावसे भगवान्को भजनेका निश्चय) यथार्थ है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । भैया अर्जुन ! तू निश्चय सत्य समझ कि मेरा भक्त (पापी ही हो परन्तु मुझमें अनन्य विश्वास करके भजनेवाला) कभी नष्ट (बुरी गतिको प्राप्त) नहीं होता ।'

भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास कीजिये ।

(४)

(१) 'आपके पतिदेव दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगे हैं, उनका मन घरमें नहीं लगता, वे आपकी किसी बातको सुनना नहीं चाहते, कुछ कहनेपर लड़ाई-झगड़ेकी नौबत आ जाती है ।' यह बहुत ही बुरी बात है । जब मनुष्य किसी पापके व्यसनमें पड़ जाता है, तब उसकी बुद्धि मारी जाती है । उसे अच्छी बात बुरी और बुरी बात अच्छी लगने लगती है । फिर कामिनीका मोह तो और भी भयानक होता है । परन्तु आपको निराश नहीं होना चाहिये । यह आवश्यक नहीं है कि रास्ता भूला हुआ आदमी कभी रास्तेपर आवे ही नहीं । आप उनकी सेवा कीजिये, उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा कीजिये और मन-ही-मन उनके कल्याणके और बुद्धिके सुधारके लिये भगवान्से प्रार्थना कीजिये । मुझे तो विश्वास है, आपका पवित्र धर्मबल उनपर आज नहीं, तो आगे चलकर जरूर असर डालेगा और उनके जीवनकी गतिको पलट देगा । 'कल्याण' भाग १५, पृष्ठ १५५५ में प्रकाशित 'पतिव्रता क्या कर सकती है ?' शीर्षक श्रीरामनाथजी सुमनका लिखा हुआ लेख पढ़िये । भारतकी नारी साक्षात् जगदम्बा है । वह नारी बनी है जगत्का कल्याण करनेके लिये ही । मर्दोंके गंदे और कठोर दिलकी ओर न देखकर उनपर दया कीजिये और

अपनी तपस्याका बल देकर उन्हें पापसे बचाइये। हिन्दू-स्त्री साक्षात् तपोमूर्त्ति है। आप अपनी तपोमयी मूर्त्तिको सम्हालिये और अपने तपोबलसे पतिदेवको रास्तेपर लानेका प्रयत्न कीजिये।

(२) बच्चोंको छोड़कर कहीं भी जानेका विचार न कीजिये। जायँगी भी कहाँ? जहाँ जायँगी वहीं नीच प्रकृतिके पुरुष आपको तंग करेंगे। बस, आपकी तपस्या और तपस्यासे प्राप्त भगवत्कृपा ही आपको बचायेगी, और निश्चय जानिये यदि आपने तपस्या और भगवत्कृपाका आश्रय लिया तो आपकी साधना अवश्य सिद्ध होगी।

(३) झूठ, कपट और चालाकी सदा ही बुरे हैं और सत्य, निष्कपटता तथा सरलता सदा ही अच्छे हैं। झूठ, कपट आदिका तो त्याग ही करना चाहिये। अवश्य ही सरलताके माने मूर्खता नहीं है। सत्यका व्यवहार निष्कपट होकर ही करना चाहिये परन्तु करना चाहिये बुद्धिमानीके साथ।

(४) पुरुषको क्या कहा जाय। वह तो मानो पापका पुतला बन जाता है। घरकी सती स्त्रीको छोड़कर पराये नरककुण्डमें गोते लगाना कितना बुरा है, इसपर धीरजके साथ विचार करना चाहिये।

(५)

(१) 'आप बहुत इज्जतदार घरानेकी हैं परन्तु घरमें काफी खर्च होनेके कारण आपके पिताजीके पास धनका अभाव है, इसलिये वे सदा चिन्तामें डूबे रहते हैं। आपकी उम्र बाईस सालकी हो गयी है। लोग तरह-तरहके ताने मारते हैं जो आपको सहन नहीं होते और इसलिये आपका मन घरसे निकल जाने या जहर खानेका हो जाता है।' इससे मालूम होता है कि धनके अभावमें आपका विवाह नहीं हो पाता (यद्यपि आपने कुछ लिखा नहीं है) जिससे आपको इतना क्लेश है। हिंदू-समाजमें आज घर-घर यही हाल है। यह बहुत बड़े कलङ्ककी बात है कि धनके अभावमें सुयोग्य कन्याएँ कुँआरी रहती हैं और उन्हें इस प्रकारके घातक विचारोंका शिकार होकर मन-ही-मन दुःखकी आगमें जलना पड़ता है। समाजका यह कलङ्क शीघ्र ही न मिटा तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। परन्तु आपको धैर्य रखना चाहिये और बाहर निकलने तथा जहर खानेकी कल्पना तकको छोड़ देना चाहिये। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये जिससे वे आपका मनोरथ पूर्ण करें। बाहर निकलना बहुत बड़े जोखिमका काम है, और आत्महत्याकी चेष्टा तो प्रत्यक्ष ही पाप है। विवाह हो ही जायगा। नहीं तो, आप समाजकी सेवा करके अपना त्यागमय पवित्र जीवन बिता सकती हैं। आप अपना पूरा नाम-पता लिखें तो आपसे पूछा जा सकता है कि आपके इस कष्टमें हमलोग किस प्रकारसे क्या सेवा कर सकते हैं।

(२) माताजीके कड़े स्वभावकी ओर खयाल मत कीजिये। उनके मनमें आपके प्रति स्नेह भरा है। झंझटोंसे घबड़ाकर वे कभी-कभी झुँझला उठती हैं। उनके दिलकी दशाको देखिये। आवेशमें आकर ऐसा कुछ भी न कीजिये जिससे उनका दिल और भी दुखी हो।

(३) आप कभी घरसे बाहर नहीं जातीं, समय मिलनेपर रामायण पढ़ती हैं। सुबह-शाम रसोई बनाती हैं, दिनमें सिलाई-बुनाईका काम करती हैं, अपना समय कभी व्यर्थ नहीं जाने देतीं, यह बहुत ही अच्छा करती हैं। जिनका समय आलस्य-प्रमादमें नहीं बीतता, वे अवश्य ही भाग्यवान् हैं।

(४) घरवालों, सम्बन्धियों और माताजीको चाहिये कि इस हालतमें पड़ी हुई लड़कीको—जो मन-ही-मन सदा जलती रहती है—कभी कुछ भी कड़ी बात न कहें। न कोई ताना ही मारें। वरं ऐसा स्नेह-

पूर्ण बर्ताव करें जिससे उसकी जलन शान्त हो । इस अवस्थामें पड़े हुए आदमीको सताना बहुत बड़ा पाप है ।

(६)

(१) 'कल्कि भगवान्का अवतार हो चुका है और वे २००० संवत्में प्रकट होनेवाले हैं ।' इसमें कहाँतक सत्य है, मुझे कुछ भी पता नहीं है । श्रीभगवान्का अवतार हो और इतनी जल्दी हो तो हम लोगोंके लिये बहुत बड़े सौभाग्यका विषय है । आजकल कई लोग कई जगहसे अलग-अलग अवतार होनेकी बात कह रहे हैं, इनमें कौन-सा अवतार सत्य है, यह भी कुछ समझमें नहीं आता । एक ही कल्कि भगवान्के एक ही साथ अनेकों अवतार हों यह भी सम्भव नहीं । फिर इन सब सूचनाओंका क्या रहस्य है, इसको भगवान् ही जानें । मेरी समझसे तो अभी अवतारका समय नहीं आया है । शास्त्रसे भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है । परन्तु यदि भगवान् हम लोगोंपर कृपा करके प्रकट हो जायँ तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात और क्या हो सकती है । अतएव इस विषयमें अधिक छान-बीन न करके भगवान्का भजन करते रहना चाहिये । २००० संवत् अब दूर नहीं है । यदि तबतक शरीर रहा और भगवान् प्रकट हो गये तो सम्भव है हम लोगोंको भी दर्शन मिल जाय । नहीं तो, भजन तो होना ही चाहिये ।

(२) पश्चात्तापके माने हैं, अपने किये हुए दोष-के लिये अत्यन्त ही दुखी होना । पापका फल दुःख होता है, पश्चात्तापमें भी बड़ा ही दुःख होता है, और दुःखकी प्राप्तिसे पाप नष्ट हो जाते हैं । इसीसे पश्चात्ताप-से पापनाशकी बात कही जाती है । जैसा पाप हो वैसा ही पश्चात्ताप भी होना चाहिये । पश्चात्तापका दूसरा अंग है, 'पुनः जीवनभरमें वैसा पाप कभी न बने ।' आज पछता लिये और कल वही काम फिर करने लगे । यह वास्तविक पश्चात्ताप नहीं है और इससे पापनाश भी नहीं होता । पश्चात्ताप तो उस मानस-अग्निका नाम है जो अपने प्रचण्ड तापसे पूर्वकृत पापको और वैसे ही पापके बीजको भी जला देती है ।

(७)

भगवत्प्राप्ति या भगवद्दर्शनका उपाय है—भगवान्के लिये, एकमात्र भगवान्के दर्शनके लिये ही चित्तमें अनन्य कामना और दुर्निवार उत्कण्ठा हो जाना । जब हम भगवान्का विछोह क्षणभरके लिये भी न सह सकेंगे और हमारे प्राण जलसे निकाली हुई मछलीकी भाँति भगवान्के लिये स्वाभाविक ही तड़फड़ाने लगेंगे तब भगवान् भी हमें दर्शन दिये बिना नहीं रह सकेंगे । ऐसी अनन्य लालसा और उत्कण्ठा पैदा होनेपर भगव-द्दर्शनमें देर नहीं लगती !

(८)

आपका एक पत्र फाल्गुनमें मिला था, अब दूसरा भी मिल गया । विवाहके पहले अनजानमें अपने किसी सम्बन्धीकी महान् नीचताके कारण आपसे भूल हो गयी और उसके लिये आपके चित्तमें बड़ा भारी पश्चात्ताप है । सो सच्चे पश्चात्तापसे बड़े-बड़े पापोंका सहज ही प्रायश्चित्त हो जाता है । फिर यह तो लड़कपनमें अविवेककी दशामें हुआ था । आप इसके लिये बहुत चिन्ता न करें । भगवान्से आर्त प्रार्थना करें । वे अपनी दयासे आपके अनुतापकी आगमें उस पापको जला देंगे । विवाहके बाद आप सदैव पतिको सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करती आयी हैं, यह बहुत अच्छी बात है । पतिदेवका आपपर पूरा विश्वास है तथा वे दयालु और बहुत सज्जन पुरुष हैं, यह आपका सौभाग्य है । पिछली बातोंपर ज्यादा विचार न कर अब आप सच्चे हृदयसे सदा ऐसा प्रयत्न करें और पतिकी ऐसी निष्काम और निष्कपट सेवा करें

जिससे उनका विश्वास आपमें और भी बढ़े तथा उनके हृदयका प्रेम आपको विशेषरूपसे प्राप्त हो। पिछली भूलकी चर्चा करनेमें इस समय कोई लाभ नहीं दिखायी देता। जो मनुष्य भगवान्के सामने अपनी भूलोंको खुले दिलसे स्वीकार कर लेता है और दीन होकर भगवान्से क्षमा चाहता है, भगवान् अवश्य ही उसे क्षमा करते हैं। भगवान्की कृपापर विश्वास कीजिये। मनुष्य चाहे जितना पापी हो, यदि वह सच्चे हृदयसे अनुताप करता है और भगवान्की कृपाके बलपर आगेके लिये पापोंके पूर्ण त्यागका दृढ़ संकल्प कर लेता है तो भगवान्की कृपा शीघ्र ही उसे निर्मल बना देती है। भगवान्ने गीता (९। ३०-३१)में स्वयं कहा है—

'महान् पापी भी यदि अनन्यभावसे मेरा (भगवान्को ही समस्त पापोंके बीजसहित नाश करनेमें समर्थ, परम दयालु, परम आश्रय, परम रक्षक और परम गति मानकर एकमात्र उन्हींका भरोसा करके और भजनको ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ जानकर) भजन करता है तो उसे 'साधु' ही समझना चाहिये। क्योंकि उसका निश्चय बिल्कुल ठीक है। वह तुरंत ही (पापात्मासे बदलकर) धर्मात्मा हो जाता है और उसे सदा रहनेवाली परमा शान्ति प्राप्त होती है। अर्जुन! तू निश्चय ही यह सच समझ कि इस प्रकार भजन करनेवाला मेरा भक्त कभी नष्ट (बुरी स्थितिको प्राप्त) नहीं होता।'

आप श्रीभगवान्के शरण हो जाइये। यह निश्चय मानिये कि वे किसीसे भी घृणा नहीं करते। वरं जो सारी दुनियाँमें घृणाका पात्र समझा जाता है, शरण आनेपर भगवान् उसे भी अपना लेते हैं और स्नेहमयी जननीकी भाँति अपने ही हाथों उसके सारे मल (पाप-ताप) को धोकर परम पवित्र बना लेते हैं। उनके पावन चरणोंकी शरण चाहनेवाले किसीको भी निराश नहीं होना पड़ता, फिर चाहे वह कैसा भी हो, अतएव घबड़ानेकी कोई भी बात नहीं है। न हताश होकर जीवनको दुःखमय बनानेकी ही आवश्यकता है। हो सके तो आत्मशुद्धि और भगवान्की प्रीति-सम्पादनके लिये प्रतिदिन चौदह माला—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

मन्त्रका जप कीजिये और निर्मल-निष्कपट भावसे तथा अपने सुखकी इच्छा न रखकर पतिको ही सुख पहुँचाने और उनके सुखमें ही अपने सुखका अनुभव करनेकी पवित्र भावनासे पतिदेवकी सेवामें लगी रहिये। पतिकी इस सेवाके द्वारा ही परमपति भगवान्की सेवा कीजिये। ऐसा करनेपर भगवत्कृपासे आपको सहज ही सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है।

(९)

हिन्दू-शास्त्रकारोंने इसीलिये जवान स्त्रियोंका मैके (पीहर)में रहना खतरनाक बतलाया है। पीहरमें रहना आवश्यक ही हो तो कम-से-कम दो बातोंका पूरा ध्यान अवश्य रखना चाहिये—१ कभी भी श्रृंगार नहीं किया जाय और २ किसी भी पुरुषके पास अकेलेमें कभी न रहा जाय, चाहे वह कितना ही निकट सम्बन्धी क्यों न हो। इस युगमें तो पुरुष मूर्तिमान् पाप बन गया है। पापसे सबको सदा बचना ही चाहिये और जिसे अपनी पवित्रताका विशेष ध्यान है, ऐसी नारीके लिये तो पुरुषसे सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है। आपका भाव पहले पवित्र था परन्तु पीछे कुसङ्गसे आपमें दोष आ गये, यह ठीक ही है। संगके अनुसार ही मनुष्यके जीवनका निर्माण होता है। तीर्थोंके पापकी बात भी सोलहों आने सही है। पाप करने तथा पापोंको छिपानेके लिये आज तीर्थोंका उपयोग किया जा रहा है। इसीसे आज सचमुच बहुतसे तीर्थस्थान व्यभिचार और बदमाशीके अड्डे बन

गये हैं। यह तीर्थोंका दोष नहीं। तीर्थोंका दुरुपयोग करनेवालोंने ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है। ऊपरसे ज्ञानोपदेश करना और भीतर-ही-भीतर पापोंके नरक-कुण्डमें डूबे रहना—यही आजके इस दम्भपूर्ण कलियुगका स्वरूप है। आप इससे नहीं बचीं, इसमें क्या आश्चर्य है? सन्तोषकी बात है कि अब आपको अपनी पिछली करनीपर बड़ा भारी पछतावा हो रहा है और आप स्वयं ही अपनेको धिक्कार देती हुई श्रीभगवान्‌के शरणापन्न होना चाहती हैं। आप घबड़ायें नहीं। भगवान् अशरण-शरण, पतितपावन और दीनबन्धु हैं। आप आर्त्त होकर उनसे प्रार्थना कीजिये। वे आपकी अवश्य सुनेंगे। अब आपके मनमें एकमात्र भगवत्प्रेम और भगवत्प्राप्तिकी ही अभिलाषा है, यह बहुत ही अच्छी बात है। इस अभिलाषाको उत्तरोत्तर बढ़ाते रहिये। भगवान्‌के नामका नियमितरूपसे प्रेम, विश्वास और श्रद्धाके साथ जप कीजिये और उनके स्वरूपका ध्यान कीजिये। पापोंसे तो आपको घृणा हो ही गयी है। घर छोड़नेकी जरूरत नहीं है। घर छोड़कर आप जायँगी भी कहाँ? छोटे-छोटे बच्चोंका पालन करना भी आपका धर्म है। भगवान्‌की सेवा समझकर उनका पालन-पोषण कीजिये। आपकी यह इच्छा है कि—'मेरे सास-ससुर आदिका भी कल्याण हो।' परन्तु आप यह सोचकर सङ्कोच करती हैं कि जब मेरा अपना ही ठिकाना नहीं, तब उनका कल्याण चाहना मेरे लिये बहुत दूरकी बात है। सो ठीक है। परन्तु आपकी यह इच्छा वास्तवमें बहुत ही शुभ है। और इसमें कोई असम्भव बात भी नहीं है। पारसका स्पर्श होनेपर जैसे लोहा भी तुरन्त सोना बन जाता है और फिर वह बहुतोंकी दरिद्रताका नाश कर सकता है वैसे ही अनन्य तथा निष्काम भजनका संस्पर्श मनुष्यको सर्वथा निष्पाप बनाकर उसे 'पतित'से 'पतितपावन' भक्तके रूपमें परिणत कर देता है और फिर उसके सङ्ग, जीवनके आदर्श तथा उपदेशसे अनायास ही बहुतोंका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

आप भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करके उनके शरण हो जाइये। आपके मनमें सच्चा पश्चात्ताप है और सचमुच ही आप यदि श्रीभगवान्‌से अभयदान चाहती हैं तो निश्चय ही भगवान् आपको अभय कर देंगे। भगवान्‌का तो यह व्रत ही है—'मम पन सरनागत भय हारी।'

बुरा कर्म करनेपर पुरुषको कम पाप होता है और स्त्रीको ज्यादा, ऐसी बात नहीं है। पुरुष हो या स्त्री—मेरी समझसे तो उसीको अधिक पाप होता है जो जान-बूझकर बुरा कर्म करता है और अपनी पापवासनाकी पूर्तिके लिये दूसरोंको भी किसी-न-किसी उपायसे बुरे कर्ममें लगाता है। उन नराधम पुरुषोंको धिक्कार है जो अपनी नारकीय वासनाओंकी पूर्तिके लिये भोली-भाली, विशेष परिस्थितिको प्राप्त स्त्रियोंकी बुरी वासनाओंको जगाकर उन्हें नरकमें ढकेलते हैं और अपने परम दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पापमय बनाकर नरक-कुण्डोंकी भीषण आगको अपने भोगके लिये और भी जोरसे भड़काते हैं!

(१०)

आपके कोई सहोदर भाई नहीं है, इससे आपको मुझे 'भाई' कहनेमें सुख मिलता है, सो बड़ी अच्छी बात है। आप बड़ी खुशीसे मुझको अपना भाई मानिये!

मेरी समझसे लड़कियोंका विवाह उनके युवती होनेसे पहले हो जाना चाहिये। वर्तमान युग बहुत ही बुरा है। चारों ओर वासनाओंका जाल छाया है। समाजकी स्थिति और साधन भी ऐसे ही हैं जो वासनाओंको जगाते और बढ़ाते रहते हैं। ऐसी हालतमें युवतियोंका अविवाहित रहना धर्मसङ्गत तो

है ही नहीं, अनाचार और दुराचारकी वृद्धिमें भी बड़ा भारी सहायक है। परन्तु बड़ी कठिनता है दहेजके दु:खकी। कन्याका गरीब पिता कहाँसे दहेजके लिये रुपये जुटावे? इस समय तो ऐसे विचारशील त्यागी पुरुषोंकी जरूरत है जो समाजमें बढ़ती हुई इस पाप-धाराको रोकनेके लिये दहेज न लेनेकी प्रतिज्ञा करें और गरीब घरोंकी सुशीला कन्याओंका अपने लड़कोंसे सम्बन्ध कर लें। साथ ही प्रत्येक सहृदय अविवाहित युवकका भी यह धर्म है कि वह दहेज लेनेसे इन्कार कर दे और बिना दहेजके विवाहके लिये ही अपनी स्वीकृति दे।

आपको अपने एक सम्बन्धीके घर जाना पड़ा और वहाँ एक दुष्टने बलका प्रयोग करके आपका धर्म नष्ट करना चाहा, यह बहुत ही दु:खकी बात है। ऐसी दु:खद घटनाएँ आजकल घर-घर घट रही हैं! पता नहीं, इन नराधमोंको किस नारकी योनिमें किन-किन भयानक यम-यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ेगा! यह सन्तोषकी बात है कि आपने साहसके साथ द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारकर उस दुष्टका सामना किया और उसके मनोरथका नाश कर दिया जिससे उसे सिर नीचा करके अलग बैठकर आपसे क्षमा-याचना करनी पड़ी। वास्तवमें ऐसे नराधम क्षमाके पात्र नहीं होते। धर्मशीला स्त्रियोंको ऐसे अवसरोंपर प्राणोंका मोह छोड़कर रणचंडी बन जाना चाहिये और अपने पवित्र शीलकी रक्षाके लिये हरेक उपायसे काम लेना और पापीको दण्ड देनेका प्रयत्न करना चाहिये।

मेरी समझसे इस घटनासे आपपर कोई दोष नहीं आता। दोष तो तब होता है जब किसी कुकर्ममें अपनी सम्मति होती है या उसमें अपनेको सुख मिलता है। जब आपको स्वप्नमें भी इस बातका पता न था और अत्यन्त घृणा थी तब आप दोषी कैसे हो सकती हैं। समाज यदि आपको दोषी माने तो इसमें समाजकी भूल है। फिर भी, आपको उसके द्वारा अपने शरीरका स्पर्शमात्र हो जानेका बड़ा दु:ख है और इसमें आप 'अशुद्धि' का अनुभव करती हैं यह आपका शील है। हिंदू-स्त्रीके स्वभावमें सनातनसे ही यह शील वर्त्तमान है और इसीसे वह धन्य है! मनकी इस ग्लानिको मिटाने तथा मनकी शुभ इच्छा पूर्ण होनेके लिये आप श्रीभगवान्‌की आर्त-प्रार्थना और उनके पवित्र नामका जप कीजिये!

(११)

आपने अपनी माताजीको माला फेरते देखकर छोटी उम्रमें ही माला ले ली थी और उस समय किसी कार्यवश माला जेबमें रख लेनेपर आपको ऐसा लगता था मानो आपकी कोई प्यारी चीज खो गयी है। यह बहुत शुभ बात थी। अच्छे मा-बापके बच्चे बचपनमें ही उनकी देखादेखी अच्छी बातें सीख जाते हैं। विवाह होनेपर आप घरके कामोंमें लग गयीं तथा माला और भगवान्‌को भूल जानेसे आपके चित्तकी शान्ति जाती रही। यह भी ठीक ही है। मनुष्य वर्त्तमानमें जैसा कार्य करता है, उसके मनमें वैसी ही स्फुरणा होती है, और स्फुरणाओंके अनुसार ही नये कर्म होते हैं तथा वैसा ही जीवन बन जाता है। चित्तमें अशान्ति होनेपर क्रोध आदि दोषोंका होना भी अनिवार्य ही है। लड़कपनके अभ्यास और भगवान्‌की कृपासे समय-समयपर आपके मनमें वैराग्यकी भावनाएँ आतीं परन्तु आपका मन यह कह देता कि अभी सारी जिन्दगी पड़ी है और इससे आप साधन नहीं कर पातीं। सो यह तो मनका धोका है। अभी आरामसे भोग-सुख भोगें—पीछे भजन कर लेंगे, ऐसी भावना बहुतोंके मनोंमें होती है परन्तु है यह बहुत ही हानिकारक! पता नहीं, कल क्या होगा। भजन और दान आदि शुभ कर्मोंको कलपर न छोड़कर तुरंत ही करना चाहिये!

अब पतिदेवका देहान्त हो जानेपर आपके मनमें वैराग्य आता है और शेष जीवनके प्रत्येक श्वासको आप श्रीभगवान्‌के भजनमें लगाना चाहती हैं। यह बहुत ही उत्तम भाव है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे ऐसा भाव होता है। इसमें आपके लड़कपनका शुभ अभ्यास भी एक बड़ा कारण है। भजनका अभ्यास बढ़ाइये और साथ ही भावमें अनन्यता और निष्कामताको भी बढ़ाते रहिये। आप किसी तीर्थस्थानमें अकेली रहकर भगवान्‌का भजन करना चाहती हैं परन्तु घरवाले कहते हैं कि यह समय अकेले रहनेका नहीं है सो मेरी समझसे वे लोग बहुत ठीक कहते हैं। समय सचमुच बड़ा भयानक है। आपको घरमें रहकर ही भगवान्‌का भजन करना चाहिये। घरके कामको भगवान्‌की सेवा माननेसे प्रत्येक कार्य भजन बन जाता है। घरमें आसक्ति और ममता नहीं होनी चाहिये, और न मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना रहनी चाहिये। आपने यह लिखा ही है कि आपको संसारी सुखोंकी जरा भी इच्छा नहीं है और आपका किसीमें मोह भी नहीं है।

आप घरमें रहकर भगवान्‌में मन लगानेकी चेष्टा कीजिये। भगवान्‌को जीवन-सर्वस्व मानकर अपनेको उनके अर्पण कर दीजिये। मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान कीजिये। ध्यान न हो तो श्वासके आने-जानेमें जो धीमी-सी आवाज होती है उस आवाजमें मनसे नामकी धुन जमाकर श्वास-श्वाससे नाम-जप कीजिये। यह न हो तो बहुत धीरे-धीरे नाम-जप करती रहिये और मन-ही-मन उसे सुननेका प्रयत्न कीजिये। इससे नामका ध्यान आप ही हो जायगा। किसी समय किसी काममें मन लगाना पड़े तो जीभसे भगवान्‌के नामका जप सदैव करते रहना चाहिये। कोई खास बाधा न हो तो गिनती करके लाख या पचास हजार भगवन्नामका जप प्रतिदिन नियमित रूपसे अवश्य करना चाहिये। 'राम' और 'नारायण' नाममें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही भगवान्‌के नाम हैं। आप किसी भी नामका जप कर सकती हैं।

(१२)

भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीला बड़ी ही पवित्र और रहस्यमयी है। आपको यह विश्वास करना चाहिये कि स्वरूपतः तो श्रीभगवान् गोपियोंसे कभी अलग होते ही नहीं। क्योंकि सब एक ही भगवत्तत्त्वका प्रकाश है।

दूसरी बात यह है, कि गोपियाँ प्रेमिका हैं, कामुका नहीं। 'काममें निज सुखकी वासना रहती है' और 'प्रेमका स्वरूप है एकमात्र प्रेमास्पदके सुखमें ही सुखी रहना।' श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। वे चाहते हैं गोपियाँ उनसे न मिलें। इसीमें उनको सुख है तभी तो वे उन्हें छोड़कर मथुरा चले गये हैं। फिर गोपियाँ प्रेमिका होकर उनसे कैसे मिल सकती हैं चाहे वे कितने ही निकट क्यों न रहते हों? गोपियाँ वियोगकी आगमें जलती हैं परन्तु वह वियोग यदि श्रीकृष्णको अभीष्ट है तो उस वियोगकी आग गोपियोंके लिये परम सुखदायिनी और सर्वथा इष्ट है। इसीसे प्रेमिका गोपियाँ नजदीक रहकर भी कभी श्रीकृष्णसे नहीं मिलीं।

श्रीमद्भागवतमें और गोपियोंके नाम होते और केवल श्रीराधाजीका नाम न होता तब सन्देहकी बात थी। भागवतमें तो किसी भी गोपीका नाम नहीं है, इससे राधाजीका भी नहीं है। स्पष्ट संकेत अवश्य है। इस विषयमें 'कल्याण' में समय-समयपर बहुत-से लेख निकल चुके हैं। उन्हें देखना चाहिये।

'कल्याण'के अगले विशेषाङ्कमें आचे महाभारतकी संक्षिप्त कथाएँ प्रकाशित करनेकी व्यवस्था की जा रही है।

अमृत-कण

१–अरे, जगदरण्यका भूला पथिक ! तू इधर आ और मुझसे मार्ग पूछ । ये अनेकों पगडंडियोंपर, जिन-पर चलकर तू भूला-भटका फिरता है, चलकर अबतक कितने ही पथिक मर मिटे; पर वे शान्तिपुर न पहुँच सके।

× × × ×

२–क्या ही विचित्र घटना है कि हम सवारीपर बैठकर मंजिलपर पहुँचना चाहते हैं, और वह घूम-फिर यहीं-की-यहीं रह जाती है ।

३–तुम गहरे कुँएसे बाहर आनेका प्रयत्न करो, न कि और भीतर घुसते जाओ और निकालनेवालेको जोर-जोरसे पुकारो । ऐसा करनेपर तुम कदापि बाहर नहीं निकल सकते ।

४–इस खेलको खेलते-खेलते असंख्य युग बीत गये पर इसका भेद नहीं पाया । हम इन मिट्टीके घर बनाने और बिगाड़नेमें ही मर मिटे ।

५–हम तुमको अपना सब खेल बताना चाहते हैं परन्तु किसी भाँति भी नहीं बता सकते । क्योंकि वे अलभ्य भाव हम विदेहके अंदर भरे हुए हैं जब हम सदेह बनकर बताना चाहते हैं, तब वे भाव नहीं रहते ।

६–अरे, नदीको नावमें डूबनेका भय हो रहा है कितने अचम्भेकी बात है ?

७–मुझे बड़ा दु:ख होता है यह देखकर कि आनन्दका समुद्र मोह-मायाके बालू-कंकड़ोंको देखकर सूख जानेके भयसे व्याकुल हो रहा है, जिसकी एक ही लहर उन बालू और कंकड़ोंको नष्ट-भ्रष्ट करके अपनेमें मिला सकती है ।

८–अरे, आराम चाहनेवालो ! आरामको ढूँढ़ो । इन दु:खकी चीजोंमें आराम कहाँ ? ढूँढनेमें जल्दी करो। परन्तु घबड़ाकर दु:खमें ही सुखका अनुभव न करने लगो; क्योंकि बालूसे तैल कभी नहीं निकलता ।

९–ऐ पक्षी, तू खूब उड़-उड़कर, लोक-लोकोंका भ्रमण कर । परन्तु यह कभी न सोचना कि इस उड़नेका कारण क्या है ।

१०–हम सहज ही इस मधुशालामें घुसे थे सैर करनेके लिये, परन्तु यहाँका रंग देखकर हम अपनेको भूल गये । इन शीशियोंके रंग-रूपको ही देखकर हम पागल हो गये ।

११–हमने जिस पथिकसे पार जानेका मार्ग पूछा, उसने यही कहा कि ऐसे ही चले जाओ । यह किसीने नहीं कहा कि ये सारे रास्ते किनारे तकके ही पहुँचनेके हैं ।

१२–ऐ मेरे कुम्हार! क्या तूने मुझ प्यालेको इसी-लिये बनाया था कि गैरोंसे बोसे लिवाये। नहीं नहीं, मैं ऐसा अपमान कभी नहीं सह सकता । यदि तुझे मेरी कद्र करना है तो अपने लबोंसे लगा ले। नहीं तो, मुझे फोड़कर जर्रा-जर्रा कर दे और उसी मिट्टीकी सूरतमें अनन्तकाल तक रहने दे ।

१३–इस बाजारमें जो आया, भूल उसके पीछे लगी । इसलिये इसमें न आना ही अच्छा है ।

—'गंगहरे'

स्वाध्याय

(स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः)

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'चैतन्य महाप्रभु जब दक्षिणकी यात्रा करने गये थे तब एक स्थानपर उन्होंने एक ब्राह्मणको श्रीमद्भगवद्गीता-का पाठ करते देखा । ब्राह्मण सम्भवतः संस्कृत नहीं जानता था, क्योंकि वह श्लोकोंका शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता था । लेकिन पाठके समय उसके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुप्रवाह चल रहा था । महाप्रभु उसके पीछे पाठ समाप्त होनेतक खड़े रहे और जब वह पाठ समाप्त करके अपने समीप एक संन्यासीको देख उन्हें प्रणिपात करने लगा तो महाप्रभुने 'श्रीहरिः' कहकर उसे आशीर्वाद देनेके पश्चात् पूछा—'विप्रवर ! आप गीता-जीके श्लोकोंको समझते हैं ?' ब्राह्मणने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं अज्ञ भला इन गूढ़ श्लोकोंको क्या जानूँ ! मैं तो इनको पढ़ते समय यह देखता हूँ कि एक रथपर अर्जुन धनुष-बाण डाले बैठे हैं और श्यामसुन्दर एक हाथमें घोड़ोंकी रास तथा दूसरेमें चाबुक लिये रथके आगे बैठे हैं तथा अर्जुनकी ओर मुख घुमाकर कुछ कह रहे हैं । उनके पतले-पतले लाल-लाल होंठ बोलते समय बड़ी सुन्दरतासे हिल रहे हैं । यही देखते-देखते मैं भूल जाता हूँ कि पाठ समाप्त भी करना है ।' महाप्रभु बच्चोंकी भाँति फूट पड़े । रोते-रोते ब्राह्मणको हृदयसे लगाया। उन्होंने कहा—'गीताजी-का ठीक-ठीक अर्थ केवल तुम्हींने समझा है ।' क्या तुम कह सकते हो कि उस विप्रकी भाँति तुमने एक दिन भी सप्तशतीका स्वाध्याय किया है ?'

'भगवन् ! मैंने इस प्रकार तो स्वाध्याय नहीं किया ।'

'तब तुम कैसे कहते हो कि माँ तुमपर प्रसन्न नहीं होतीं ? माँ और अप्रसन्न ! बच्चे ! माँ तो प्रसन्नताकी मूर्तिका दूसरा नाम है । वह करुणामयी नित्य प्रसन्न हैं । तुम उन्हें सचमुच कभी पुकारते ही नहीं । कैसे हो सकता है कि तुम पुकारो और माँ आवें नहीं ?'

'किन्तु मैंने तो…………।'

'रुको ! तुमने दुर्गासप्तशतीके पाठ सविधि समाप्त कर दिये और नवाक्षर बीजमन्त्रोंका जप भी किया हवन-तर्पणके साथ । यही तो तुम कहना चाहते हो ? पर सच कहो क्या तुम्हारे मनमें श्रद्धा थी ? मन एकाग्र और प्रेमसे पूर्ण था ? तुम बता सकते हो कि यदि ग्रामोफोनमें सप्तशतीके रेकार्ड बनाकर सहस्र बार बजाये जावें तो माँ आवेंगी या नहीं ?'

'भला रेकार्ड बजानेसे माँ कैसे आवेंगी ?'

'ठीक—रेकार्ड बजानेसे माँ नहीं आ सकतीं, क्योंकि वह जड है और उससे क्रियामात्र होती है—भावहीन । माँ, क्रियाधीन या कर्मपरतन्त्र नहीं हैं । वे यदि परतन्त्र हैं भी तो भाव या प्रेमपरतन्त्र । इसीसे रेकार्ड बजानेपर नहीं आतीं और तुम्हारी पूजापर उन्हें आना चाहिये क्यों ?'

'मैं ऐसा ही सोचता हूँ ।'

'अब बताओ कि तुम्हारा पाठ और जप रेकार्डकी भाँति रटन्त हुआ या मानवकी भाँति प्रेमपूर्ण भाव तथा एकाग्र चित्तसे ?'

'गुरुदेव ! मुझे अपने प्रश्नका उत्तर तो प्राप्त हो गया; लेकिन श्रीचरणोंने आदेश किया था कि स्वाध्यायमात्र-से इष्ट देवताका साक्षात् होता है ?'

'मैंने कहा अवश्य था; किन्तु कहा था मानवके लिये। स्वाध्यायमात्रका अर्थ दूसरे साधनोंकी अपेक्षा बिना केवल स्वाध्यायसे, यह कहना था। पहले स्वाध्यायको समझ लो! जिसकी आवृत्ति करते-करते उसे हृदयका एक भाग बना लिया जाय, जो अपने हृदयका एक अध्याय हो जाय, वही स्वाध्याय है। फिर चाहे वह मन्त्र-जप हो या ग्रन्थ-पाठ। ऐसे ही स्वाध्यायसे आराध्यकी प्राप्ति अथवा इष्ट-सिद्धि होती है।'

[२]

हम सबकी भाँति महेशने भी आध्यात्मिक पुस्तकोंको यों ही सूँघ लिया था। कुछ सुन-सुना लिया था। पिता माँ दुर्गाके उपासक थे, घरमें माताके गुणोंका वर्णन होता ही रहता था। बचपनसे पिताने दुर्गाकवच रटा दिया था। भयके ही कारण सही, महेश उसका नित्य पाठ करता था। बचपनके संस्कार धीरे-धीरे वैसा ही सुसंग पाकर पुष्ट होते गये। अब महेशको माताके अतिरिक्त दूसरे किसीकी चर्चा भाती नहीं थी।

घरपर अन्न-वस्त्रका अभाव था नहीं, पत्नी भी अनुकूल मिली थी। यों तो 'जीवन अतृप्तिका एक नाम' है ही; फिर भी महेश उतना हाय-हाय करनेवाला नहीं था। दूसरे, पिताने बराबर उसे समझाया था कि सर्वेश्वरी जगन्मातासे उसकी 'मंगल मंजुल गोद' माँगनेके अतिरिक्त दूसरे तुच्छ सांसारिक पदार्थ माँगना महामूर्खता है। 'जब हम जगन्माताके राजकुमार हो सकते हैं तो भिखमंगे क्यों बनें?' महेशको इस भिक्षुक मनोवृत्तिसे घृणा थी। वह चाहता था केवल माताका दर्शन।

एक चाह होती है और दूसरी होती है भूख। हम संसारमें जाने क्या-क्या चाहते हैं, यदि कोई बिना हाथ-पैर हिलाये दे दे तो। लेकिन जिसके लिये हम भूखे होते हैं, उसके लिये आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। महेशमें माताके दर्शनोंकी जो चाह थी, वह बढ़ी और बढ़ते-बढ़ते भूख बन गयी।

पिताका शरीरान्त होनेसे घरका सारा भार महेशके ही सिर आ गया। वह अब स्वयं पिता बन चुका था, इससे उसका दायित्व और भी बढ़ गया था। घरके जंजालोंसे अवसर ही नहीं मिलता था। कई बार विन्ध्याचल जानेका विचार हुआ; किन्तु जा न सका। 'ये कार्य तो जीवनभर अवकाश न देंगे।' यह सोचकर उसने जानेका निश्चय ही कर लिया। जहाँ निश्चयमें शक्ति है, वहाँ बाधा क्या?

अष्टभुजाके दर्शन करके जब वह मन्दिरसे निकला तो उसने पंडेसे पूछा 'इस रमणीक वनमें कोई महात्मा भी रहते हैं?' पता लगा कि पहाड़ीके उस ओर यहाँसे तीन-चार मीलपर एक अच्छे सिद्ध महापुरुष रहते हैं, लेकिन वहाँ जानेका मार्ग बड़ा कठिन है। महेशने कठिनाइयोंकी चर्चा व्यर्थ समझी। वह पंडेकी बतायी पगडंडीसे चल पड़ा। झाड़ियोंमें झुकते, कण्टकोंमें उलझते, ऊँची-नीची चट्टानोंपर चढ़ते-उतरते किसी प्रकार वह उस गहन वनकी एकान्त फूसकी कुटियामें पहुँच गया।

एक तूँबी, एक कुल्हाड़ी, चिमटा, मृगचर्म और धूनीके पास कुछ काष्ठ, बस वहाँ इतना ही सामान था। जगत्‌के नेत्रोंसे दूर वहाँ एक जटा-भस्मधारी श्यामकाय महापुरुष धूनीके समीप दिगम्बर शक्ति-आसनपर बैठे थे। हाथोंमें रुद्राक्षकी माला घूम रही थी। महेशने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। महापुरुषके नेत्र उठे। उस बेधक एवं गम्भीर दृष्टिने सब समझ लिया। 'तू आ गया यहाँ? कैसे आया है?'

'श्रीचरणोंके दर्शनार्थ?' एक क्षण रुककर महेशने पुनः हाथ जोड़कर पूछा 'प्रभो! क्या इस अधमको भी

माँ अपनावेंगी ? मैं भी उनके पादपद्मोंके दर्शन पा सकता हूँ ?'

महात्मा मुसकराये 'अवश्य ! स्वाध्याय करो ! इष्टकी सिद्धि जप और पाठसे ही होती है ।'

महेशने अनुनय किया और उसे दुर्गासप्तशतीके अष्टोत्तर शत पाठ तथा नवाक्षर बीजमन्त्रके जपका आदेश हुआ । 'तुम आओगे, यह माताने प्रथम ही मुझे सूचित किया था । अब जाओ ! दिन ढल रहा है, बस्तीतक अँधेरा होनेसे पूर्व पहुँचना ठीक होगा । जङ्गल तो हम जंगली लोगोंके लिये ही उपयुक्त है ।'

महेशने पुनः साष्टाङ्ग प्रणिपात किया और धूनीसे मिली प्रसादस्वरूप भस्मको वस्त्रमें बाँधकर लौटा ।

वह घर आया और पहुँचनेके तीन दिन पश्चात् ही उसने विधिपूर्वक फलाहार एवं भूमि-शयन करते हुए सप्तशतीका पाठ और जप प्रारम्भ कर दिया । कुल एक सौ आठ ही पाठ तो करने थे, पूरे हो गये । जप भी समाप्त हो गया, पर माताका साक्षात् हुआ नहीं ।

'मुझसे विधिमें कोई त्रुटि हुई नहीं, माँने दर्शन क्यों नहीं दिया ?' गुरुके वचनोंपर अविश्वासके लिये हृदयमें स्थान नहीं था । अपनी त्रुटिका स्वयं ज्ञान न होनेपर वह फिर गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित होने विन्ध्याचलको चला ।

[३]

पाठ-पाठमें भी भेद होता है । सप्तशतीका पाठ तो सभी करते हैं; किन्तु महेशजीका पाठ कुछ और ही ढंगका है । वे श्लोकोंको केवल वाणीसे पढ़ नहीं जाते, हृदयसे उनका पाठ करते हैं । जिन सात सौ श्लोकोंको पण्डितलोग एक घंटेमें समाप्त कर देते हैं, उन्हींमें लगते उन्हें पूरे सात घंटे । पाठके पश्चात् जब जप प्रारम्भ होता—दूसरा ही कोई उनसे बार-बार भोजनके लिये आग्रह करता तो वे उठ पाते । अन्यथा उन्हें स्मरण ही नहीं होता कि कुछ और भी संसारमें मुझको करना है ।

दुर्गापाठके उन सीधे-सादे श्लोकोंकी स्फूर्ति जब हृदयसे होती, पता नहीं कितने गुरुतर गम्भीर अर्थोंका उनसे उद्भव होता । वे गहन तत्त्व जो हम सब बड़े-बड़े भाष्योंके द्वारा भी समझ नहीं पाते, दीर्घकालीन शास्त्रोंके पठन-पाठनसे भी कठिनतासे उपलब्ध होते हैं, महेशजीको उन श्लोकोंमें सरलतासे प्राप्त हो जाते थे । इसे चाहे माँकी कृपा कहिये या एकाग्रताका परिणाम ।

धीरे-धीरे वासनाएँ शान्त होती गयीं और दशा यहाँतक पहुँच गयी कि 'माँका दर्शन हो' यह इच्छा भी पता नहीं कहाँ चली गयी । पाठमें स्वाभाविक रुचि थी और जपमें आनन्द आता था । यह भूल ही गया कि पाठ कितना हुआ और जप कितना ? जब कभी महेशजी गुनगुनाते रहते—

सब कुछ लेलो किन्तु—तुम्हारी पूजाका अधिकार रहे ।
प्यार रहे न रहे पर प्रिय, मुझपर पूजाका भार रहे ॥

एक दिन प्रातःकाल सदाकी भाँति उनके कमरेका द्वार खुला नहीं । पत्नी घबड़ायी और आठ बजते-बजतेतक जब पुकारनेपर भी द्वार न खुला तो उसने बढ़ईसे किवाड़ तुड़वा दिये । महेशजीके नेत्रोंसे गङ्गा-यमुना बह रही थीं । वे किसी दूसरे ही लोकमें थे । बड़ी देरमें वे प्रकृतिस्थ हुए ।

लोग कहते हैं कि महेशजी रात्रिमें कमरा बंद करनेपर 'माँ, माँ' कहकर प्रायः किसीसे बातें किया करते हैं ।

माताजीसे वार्तालाप

(८)

वैयक्तिक आरम्भविरोधी शक्तियाँ—हृत्पुरुषका जगत्

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १६, पृष्ठ १२८० से आगे]

'यदि हमारा सङ्कल्प विश्वसङ्कल्पकी अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनि-मात्र ही है तो फिर वैयक्तिक आरम्भके लिये स्थान ही कहाँ है ? क्या व्यक्ति विश्वगतियोंको अंकित करनेके लिये केवल एक यंत्रमात्र है ? क्या उसमें सृजन अथवा मौलिक रचना करनेकी कोई शक्ति है ही नहीं ?'

कौन कहाँसे, चेतनाकी किस भूमिकापरसे वस्तुओंको देखता और उनके सम्बन्धमें बोलता है, अथवा सत्ताके किस भागसे वह उनपर क्रिया करता है, इसपर सब कुछ निर्भर करता है ।

चेतनाकी एक भूमिकापरसे देखनेपर व्यक्ति तुमको ऐसा दिखायी देगा कि वह निरा यन्त्र या केवल अङ्कित करनेवाला ही नहीं है, बल्कि वह स्रष्टा भी है । परन्तु इसी बातको तुम चेतनाकी दूसरी तथा और भी ऊँची भूमिकासे एवं विशालतर दृष्टिकोणसे देखो तो तुम देखोगे कि यह केवल आभासमात्र है । विश्वगतिक्रममें जो कुछ भी घटना घटती है, वह जो कुछ पहले घट चुका है उसका परिणामरूप होती है । अभिव्यक्तिकी समग्र लीलामेंसे किसी एक सत्ताको अथवा क्रियाओंकी समग्रतामेंसे किसी एक क्रियाको पृथक् कर लेनेका तुम्हारे पास क्या उपाय है ? किसी वस्तुके मूल अथवा आरम्भको तुम कहाँसे पकड़ना चाहते हो ? समग्र लीला एक मजबूत जुड़ी हुई साँकलकी भाँति है, इसकी एक कड़ी दूसरी कड़ीमें अगोचररूपसे जुड़ी हुई है । इस साँकलमेंसे किसी चीजको भी अलग नहीं किया जा सकता और उसका इस तरह वर्णन नहीं किया जा सकता कि वह स्वयं ही अपना मूल और आरम्भ है ।

और जब तुम यह कहते हो कि व्यक्ति किसी गतिकी उत्पत्ति या सृष्टि करता है तो इस बातसे तुम्हारा क्या अभिप्राय होता है ? क्या उसको वह केवल अपनेमेंसे ही, अथवा यह कहें तो चल सकता है कि शून्यमेंसे, उत्पन्न करता है ? यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने-आपमेंसे इस प्रकार किसी विचार अथवा अनुभव अथवा क्रिया या और किसी चीजकी सृष्टि कर सके तो वह तो जगत्का स्रष्टा ही होगा । जब कोई व्यक्ति अपनी चेतनाको उस एक महत्तर चेतनामें वापस ले जाता है जहाँसे वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, तभी वह स्रष्टा बन सकता है । समस्त गतियोंके आदिकारणस्वरूप जो एकमात्र सचेतन शक्ति है, उसके साथ तदाकार होनेपर ही वह किसी क्रिया-विशेषका आरम्भ करनेवाला या प्रवर्त्तक हो सकता है ।

*चेतनाकी कई भूमिकाएँ हैं और एक भूमिकाका विधि-*विधान दूसरी भूमिकाके विधि-विधान-जैसा ही नहीं होता । इसलिये, तुम जब व्यक्तिको स्रष्टा कहते हो, तब तुम उसके किस भागका विचार कर रहे होते हो ? कारण, व्यक्ति अनेक तत्त्वोंद्वारा बनी हुई सत्ता है । क्या तुम उसके हृत्पुरुषके विषयमें कहते हो या उसकी मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ताके विषयमें ? किसी गतिका जो अदृश्य मूल है, उसके तथा उसका जो प्रकटीकरण होता है, व्यक्तिके द्वारा उसकी जो बाह्य अभिव्यक्ति होती है, उसके बीचमें ये सब तथा दूसरी-दूसरी बहुत-सी भूमिकाएँ हैं, क्रम हैं; और प्रत्येक क्रमपर उस गतिमें बहुतेरे हेर-फेर, बहुत-से विकार, बहुत-सी विरूपताएँ हो जाती हैं । इन परिवर्तनोंके कारण ही यह भ्रम हो जाता है कि इस गतिका मूल अमुक स्थानपर है, यह एक नयी सृष्टि अथवा एक नया आरम्भ है । यह ऐसा ही है जैसे कि जब कोई एक छड़ीको पानीके अंदर डाल देता है तब वह छड़ी उसको उसकी असली सीधी रेखामें दिखायी न देकर एक कोणाकार रेखामें मुड़ी हुई दिखायी देती है । परन्तु यह एक भ्रम है, दृष्टिका एक विकार है । उस समय जो कुछ तुम्हें दिखायी देता है, वह तो कोई वास्तविक कोण भी नहीं होता ।

प्रत्येक वैयक्तिक चेतना विश्वगतिमें कोई ऐसी चीज ले आती है, जिसको एक दृष्टिकोणसे विश्वगतिमें उसका अपना विकार और दूसरे दृष्टिबिन्दुसे विश्वगतिमें उसका अपना विशिष्ट गुण कहा जा सकता है । ये वैयक्तिक गतियाँ भागवत गतिकी लीलाका एक अङ्ग ही हैं । ये अपने-आपमें कोई

आरम्भ नहीं हैं, ये तो उन चीजोंके परिवर्तित स्वरूप हैं जिनके प्रारम्भको तुम्हें विश्वके समष्टिरूपमें खोजना चाहिये।

पृथक्त्वका भाव सर्वत्र फैला हुआ है, किन्तु यह एक भ्रम ही है। सत्य चेतनामें प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवाले साधकको जिन मिथ्या भावोंसे अपने-आपको शुद्ध कर लेना है, उनमें एक भाव यह भी है। मन जगत्को छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बाँट लेता है। वह कहता है कि 'यहाँपर इस चीजका अन्त होता है, वहाँसे यह चीज आरम्भ होती है', और इस तरह टुकड़े करके देखनेकी क्रियाद्वारा वह विश्वगतिको विकृत करनेमें सफल होता है। वास्तवमें एक, विश्वव्यापी, सर्वग्राही चेतना है जिसका एक महान् प्रवाह इस नित्य-निरन्तर विकसित होते जाते हुए विश्वमें अभिव्यक्त होता रहता है। यह सत्य है जो यहाँकी प्रत्येक वस्तुके पीछे स्थित है, पर इसके साथ-साथ यहाँ यह भ्रम भी है जिसके कारण सत्य हमसे छिपा रहता है, इसपर परदा पड़ा रहता है—यह भ्रम कि ये गतियाँ अनेक हैं, एक दूसरेसे पृथक् हैं, अपने-आपमें स्थित हैं, अपने-आपमें हैं और अपने-आपके लिये हैं तथा इनमें प्रत्येक कोई ऐसी चीज है जो बाकीके विश्वब्रह्माण्डसे अलग है। ये गतियाँ ऐसा समझती हैं कि उनकी जो एक दूसरेपर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है वह एक बाहरी चीज है, मानो वे विभिन्न पृथक्-पृथक् जगतोंकी तरह हैं जो एक दूसरेके सम्मुख खड़े हैं पर उनमें किसी दूरके बाहरी सम्बन्धके अतिरिक्त और कोई परस्पर सम्पर्क स्थापित करनेवाला तत्त्व नहीं। हर-एक गति अपनेको इस प्रकार देखती है मानो उसका एक ऐसा पृथक् व्यक्तित्व है, जो उसे अपने अधिकारसे प्राप्त है। पृथक्त्वके इस भानको, इस भ्रमको विश्वलीलाके अङ्गभूत इसलिये होने दिया गया है कि यह आवश्यक था कि वह एक चेतना अपने-आपको बाहर प्रकट कर सके और अपने रूपोंको स्थिर कर सके। परन्तु चूँकि भूतकालमें यह होने दिया गया है, इसका यह अर्थ नहीं कि पार्थक्यका यह भ्रम सदा बना ही रहना चाहिये।

विश्वलीलामें भाग लेनेवाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे यन्त्र हैं जिन्हें अपने स्वरूपका—वे इस लीलाके एक यन्त्र हैं, इसका—कुछ भी ज्ञान नहीं होता; वे ऐसे अभिनेता होते हैं, जो बिना समझे-बूझे कठपुतलियोंकी तरह नाचते रहते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो सचेतन हैं, और वे इस बातका ज्ञान रखते हुए अपना अभिनय करते हैं कि यह एक लीला है। और कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें विश्वगतिका पूर्णज्ञान होता है और जो इस विश्वगतिके साथ तथा अखण्ड भागवत-चेतनाके साथ एक होते हैं, पर फिर भी वे इस प्रकारका अभिनय करना स्वीकार करते हैं मानो वे कोई अलग वस्तु हों, समग्रताका एक खण्ड हों। उस अज्ञान और इस पूर्णज्ञानके बीचमें कई मध्यवर्ती अवस्थाएँ हैं, इस लीलामें सम्मिलित होनेके कई रूप हैं। एक अज्ञानकी अवस्था है, जिसमें तुम किसी कामको इस विश्वासके साथ करते हो कि तुम्हींने उसको करनेका निश्चय किया था। दूसरी इससे कम अज्ञानपूर्ण अवस्था है और इस अवस्थामें तुम किसी कामको यह जानते हुए करते हो कि तुमको वह काम करना पड़ा है, किन्तु तुम्हें इस बातका पता नहीं होता कि तुमको वह क्यों और कैसे करना पड़ा। और फिर चेतनाकी एक ऐसी अवस्था भी होती है, जिसमें तुम्हें पूर्णज्ञान रहता है—कारण इस अवस्थामें तुमको इस बातका पता होता है कि वह कौन-सी शक्ति है जो तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम यह जानते होते हो कि तुम तो एक यन्त्र हो, तुमको इसका ज्ञान होता है कि तुम्हारे कर्म कैसे और क्यों होते हैं, उनकी प्रक्रिया और प्रयोजन क्या है। अज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें तुम यह मानते हो कि तुम्हीं अपने कर्मोंके कर्त्ता हो, उस समयतक बनी रहती है जबतक कि तुम्हारे विकासके लिये उसकी आवश्यकता होती है। किन्तु ज्यों ही तुम किसी उच्चतर अवस्थामें चले जानेके योग्य हो जाते हो त्यों ही तुमको यह दिखायी देने लगता है कि तुम उस एक चेतनाके यन्त्रमात्र हो; अब तुम ऊपरकी ओर कदम बढ़ाते हो और एक ऐसी भूमिकामें ऊपर उठ जाते हो जो उससे भी अधिक सचेतन है।

'विरोधी शक्तियाँ जिस प्रकार प्राणमय जगत्में हमपर आक्रमण करती हैं, उसी प्रकार मनोमय भूमिकापर भी उनका आक्रमण होता है क्या ?'

इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देनेके लिये बहुत-से ऐसे विषयोंका आशय बताना पड़ेगा, जिनमें अभी तुरंत प्रवेश करनेका समय नहीं आया है।

मन एक गति है। परन्तु मनरूपी इस गतिके भी कई प्रकार हैं, कई स्तर हैं जो एक दूसरेका स्पर्श करते और आपसमें ओतप्रोततक होते रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जिस गतिको हम मनके नामसे पुकारते हैं वह दूसरी भूमिकाओंमें भी प्रविष्ट होती रहती है। स्वयं मनोमय जगत्के ही कई स्तर हैं। ये सभी मनोमय भूमिकाएँ और मनोमय शक्तियाँ यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी उनकी गतियोंके

गुणमें भेद होता है और उनके वर्णनको सुगम करनेके लिये हमें उनको एक दूसरेसे पृथक् करके बोलना पड़ता है। इस प्रकार हम उच्चतर मन, मध्यवर्त्ती मन, भौतिक मन और अत्यन्त स्थूल मन भी—इन सबका अलग-अलग भेद करके बोलते हैं। इनके अतिरिक्त मनके और भी बहुतेरे भेद किये जा सकते हैं।

अब कुछ मनोमय भूमिकाएँ ऐसी हैं, जो प्राणमय जगत्से बहुत ऊपर ऊर्ध्वमें स्थित हैं और वहाँतक प्राणमय जगत्का प्रभाव नहीं पहुँच पाता, वहाँ विरोधी शक्तियाँ या सत्ताएँ हैं ही नहीं। परन्तु दूसरी-दूसरी मनोमय भूमिकाएँ हैं—और ये अनेक हैं—जहाँ प्राणमय शक्तियाँ पहुँच सकती और उनमें ओतप्रोत हो सकती हैं। जो मनोमय भूमिका भौतिक जगत्से सम्बन्ध रखती है, जिसे हम साधारणतया भौतिक मन कहते हैं, उसकी बनावट और गति असली मनकी अपेक्षा अधिक स्थूल और जड होती है और यह भौतिक मन बहुत कुछ प्राणमय जगत् और विरोधी शक्तियोंके प्रभावमें रहता है। भौतिक मन साधारणतया निम्न प्राणकी चेतना और उसकी गतियोंके साथ एक प्रकारकी मित्रताका सम्बन्ध जोड़े रहता है। निम्नतर प्राण जब किन्हीं इच्छाओं और आवेगोंको प्रकट करता है तब यह मन, यह अधिक स्थूल मन, उनकी सहायताके लिये पहुँच जाता है, उनके लिये लंबी-चौड़ी दलीलें, तर्क और बहाने निकाल-निकालकर उनके औचित्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा करता तथा उनका समर्थन करता रहता है। मनका यही स्तर प्राणमय जगत्के सुझावोंके लिये बहुत अधिक खुला हुआ रहता है और बहुधा इसी स्तरपर प्राणमय जगत्की शक्तियाँ आक्रमण किया करती हैं। परन्तु हममें एक उच्चतर मन भी है, जो निःस्वार्थ भावनाओं और प्रकाशमय चिन्तनोंके क्षेत्रमें विचरण करता रहता है, यही मन आकारोंका जन्मदाता है; और फिर हममें शुद्ध भावनाओंका एक मन है, ऐसी भावनाओंका जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है,—ये महत्तर मन-लोक प्राणमय गतियों और विरोधी शक्तियोंसे सर्वथा मुक्त हैं, कारण ये उनकी पहुँचके बहुत ऊपर स्थित हैं। वहाँ परस्पर-प्रतिकूल गतियाँ हो सकती हैं, ऐसी गतियाँ और रचनाएँ हो सकती हैं जिनका सत्यके साथ मेल न खाता हो अथवा जो एक दूसरेसे टकराती हों; किन्तु वहाँ प्राणमय क्षोभ नहीं है, वहाँ ऐसी कोई चीज नहीं है जिसको विरोधी या शत्रु कहा जा सके। सच्चा दार्शनिक मन, चिन्तन करनेवाला, आविष्कारक तथा आकार निर्माण करनेवाला मन और जिन्हें अभीतक आकार नहीं प्राप्त हुआ है ऐसी विशुद्ध भावनाओंवाला मन, इस हीनतर आक्रमण और प्रभावकी पहुँचके परे है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिन विरोधी सत्ताओंके विषयमें मैंने अभीतक कहा है उनसे अधिक शक्तिशाली तथा जिनका मूल कुछ और उच्चतर भूमिकामें है, वहाँकी बिगड़ी हुई अथवा विरोधी सत्ताओं-द्वारा इन मनोंकी गतियोंकी नकल भी नहीं की जा सकती हो अथवा उनकी सृष्टिका दुरुपयोग नहीं किया जा सकता हो।

'हृत्पुरुषके जगत्की अवस्थाएँ क्या हैं? इस जगत्तक विरोधी शक्तियोंकी कैसी पहुँच है?'

हृत्पुरुषका जगत् अथवा उसकी चेतनाकी भूमिका जगत्का वह भाग है, हृत्पुरुष हमारी सत्ताका वह भाग है जो सदा भागवत चेतनाके प्रभावमें रहता है, विरोधी शक्तियाँ इसपर किसी प्रकारकी साधारण-सी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामञ्जस्यका जगत् है, और इसमें प्रत्येक वस्तु एक प्रकाशसे दूसरे प्रकाशको तथा एक प्रगतिसे दूसरी प्रगतिको प्राप्त होती रहती है। यह भागवत चेतनाका, व्यक्तिमें रहनेवाले दिव्य आत्माका निवास-स्थान है। यह प्रकाशका, सत्यका, ज्ञानका, सौन्दर्यका और सामञ्जस्यका केन्द्र है। जिनकी सृष्टि यह दिव्य आत्मा अपनी उपस्थितिके द्वारा हममेंसे हर-एकके अंदर थोड़ा-थोड़ा करके करता रहता है। यह भागवत चेतना—जिसका कि यह एक अभिन्न अंग है—के द्वारा ही प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही वह गभीर आन्तर सत्ता है जो तुममेंसे हर-एकके अंदर है और जिसे तुम्हें ढूँढ़ लेना होगा जिससे कि तुम अपने अंदरमें रहनेवाले भगवान्के सम्पर्कमें आ जाओ। यह हृत्पुरुष ही है जो भागवत चेतना और तुम्हारी बाह्य चेतनाके बीच सम्बन्ध स्थापित कराता है, हृत्पुरुष ही आन्तर जीवनको बनाता है, यही है जो बाह्य प्रकृतिमें भागवत संकल्पके अनुसार व्यवस्था और नियमकी अभिव्यक्ति करता है। यदि तुम अपने अंदर रहनेवाले अपने हृत्पुरुषसे अपनी बाह्य चेतनामें अवगत हो जाओ तथा उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध शाश्वत चेतनाको पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्यकी तरह सदा अज्ञानद्वारा कर्ममें प्रवृत्त होनेके बदले तुम अपने अंदर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञानकी उपस्थितिका अनुभव करते हुए विकासको प्राप्त होते रहोगे, इसीको तुम आत्मसमर्पण करोगे और इसीपर पूर्णरूपसे अपने-आपको उत्सर्ग करके तुम इसीके द्वारा प्रत्येक कर्ममें प्रेरित होते रहोगे।

कारण, हृत्पुरुष तुम्हारा वह भाग है, जो पहले ही अपने-आपको भगवान्‌को सौंपे हुए है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतनाके अत्यन्त बाह्य और स्थूल सीमाओंपर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी सम्पूर्ण प्रकृतिका रूपान्तर करेगा। यहाँ किसी प्रकारके अन्धकारको स्थान नहीं है, यही तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकांश मनुष्य, उनके अंदर आत्माका जो यह भाग है, उससे अनभिज्ञ हैं। योगसाधना इसलिये की जाती है कि तुम अपने इस भागसे सचेतन हो जाओ, जिससे कि तुम्हारे रूपान्तरकी प्रक्रिया, शताब्दियोंमें पूर्ण होनेवाले एक मन्द और लंबे प्रयासके बदले एक ही जीवन अथवा चंद वर्षोंमें ही पूरी की जा सके।

मृत्युके बाद भी इस हृत्पुरुषका अस्तित्व रहता है; कारण, यह तुम्हारा शाश्वत आत्मा है, और यही चेतनाको जन्म-जन्मान्तरमें आगे बढ़ाता रहता है।

तुम्हारे अंदर जो सत्य भागवत व्यक्तित्व है, वह हृत्पुरुष ही है। कारण, व्यक्तित्वका अर्थ है अभिव्यक्तिका एक विशेष प्रकार, जो व्यक्ति-व्यक्तिका अपना एक अनूठा होता है, और तुम्हारा हृत्पुरुष उस एक भागवत चेतनाके—जिसने तुम्हारे अंदर रूप ग्रहण किया है—असंख्य पहलुओंमेंसे एक पहलू है। परन्तु व्यष्टि-चेतना और विश्व-चेतनाके बीच जो भेदभाव तुम्हारी प्रकृतिके अन्य भागोंमें है, वह हृत्पुरुषकी चेतनामें नहीं है। वहाँ तुमको इस बातका ज्ञान रहता है कि अभिव्यक्त करनेका तुम्हारा जो एक विशिष्ट प्रकार है, वही तुम्हारा व्यक्तित्व है; पर इसके साथ-साथ वहाँ तुमको इस बातका भी ज्ञान रहता है कि तुम्हारे द्वारा जो यह अभिव्यक्ति होती है, वह उस एक अखण्ड विश्व-चेतनाकी ही बहिर्गत अभिव्यक्ति है। यह ऐसा है मानो तुमने अपने एक अंगको अपने-आपमेंसे बाहर निकाल लिया हो और उसको अपने सामने रक्खा हो और अब वह अंग और तुम दोनों आपसमें एक दूसरेको देख रहे हों और दोनोंके बीच क्रियाओंकी एक लीला खेली जा रही हो। इस द्वैतभावकी आवश्यकता इसलिये हुई जिससे कि अपने बहिर्गत रूपके साथ सम्बन्ध बनाया और स्थापित किया जा सके तथा उसको भोगा जा सके, किन्तु हृत्पुरुषकी चेतनामें यह भेदभाव, जो द्वैतभावका पोषक है, केवल भ्रमरूप एक दिखावामात्र अनुभव होता है; वहाँ इस भावका इससे अधिक और कोई मूल्य नहीं है।

'अध्यात्मभूमिका और हृत्पुरुषकी भूमिकामें कोई भेद है क्या? क्या ये भूमिकाएँ अलग-अलग हैं?'

हाँ, हृत्पुरुषकी भूमिका व्यक्तिगत अभिव्यक्तिकरणसे सम्बन्ध रखती है; तुममें जो भगवान् हैं, जो लीलामें गतिशील होनेके लिये आविर्भूत हुए हैं, उनका वह गतिशील स्वरूप ही तुम्हारा हृत्पुरुष है। परन्तु जब हम अध्यात्मके विषयमें बोलते हैं, तब हमारे ध्यानमें कोई ऐसी चीज होती है जो बाह्य अभिव्यक्तिकरणमें होनेकी अपेक्षा भगवान्‌में केन्द्रित है। आध्यात्मिक भूमिका कुछ ऐसी चीज है, जो बहिर्वर्ती लीलाके पीछे और ऊपर स्थितिशील होकर विद्यमान है। यह प्रकृतिके उपकरणोंको धारण करती है, उन्हें सहारा देती है; किन्तु यहाँकी बाह्य अभिव्यक्तिमें वह अपने-आपको सम्मिलित या लीन नहीं करती।

परन्तु इन विषयोंकी चर्चा करते हुए जिन शब्दोंका हम उपयोग करते हैं, उन शब्दोंसे ही कहीं हम बँध न जायँ इस बातसे हमें सावधान रहना चाहिये। मैं जब हृत्पुरुष अथवा अध्यात्मके विषयमें कुछ कहती हूँ, तब उस समय मेरा अभिप्राय उन वस्तुओंसे होता है जो अत्यन्त गभीर-और वास्तविक हैं, जो शब्दोंके नीरस ऊपरी तलके परेकी चीजें हैं और जिनमें पृथक्त्वकी अवस्थामें भी अन्तरङ्ग सम्बन्ध रहता है। बौद्धिक व्याख्याएँ और विवेचन इतने अधिक बाह्य और कठोर होते हैं कि वे वस्तुओंके वास्तविक सत्यको नहीं पकड़ सकते। फिर भी यदि बातचीत करनेवाले ऐसे लोग न हों जिन्हें एक दूसरेके साथ वार्तालाप करनेका बहुत अधिक अवसर प्राप्त होता हो तो शब्दोंके भावको अच्छी तरह समझानेकी जरूरत पड़ती ही है, इसके बिना तुम एक दूसरेके अभिप्रायको अच्छी तरह नहीं समझ सकते। किसी वार्तालापके लिये आदर्श अवस्था वह होती है जब कि उस वार्तालापमें भाग लेनेवाले मन परस्पर एक स्वरमें इतनी अच्छी तरह मिले हुए हों कि उनके शब्द अनायास होनेवाले पारस्परिक बोधके लिये केवल सहारा-मात्र ही हों और जो कुछ चर्चा होती हो, उसकी पद-पदपर व्याख्या करनेकी आवश्यकता न पड़े। जिन लोगोंसे तुम्हें रात-दिन बातें करनेका अवसर मिलता है, उनके साथ बात-चीत करनेमें उपर्युक्त लाभ रहता है; ऐसे लोगोंके मनोंमें एक सम-स्वर सामञ्जस्यकी स्थापना हो जाती है और कही हुई बातका मर्म उनके अंदर तुरंत पैठ जाता है।

जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है, ऐसी भावनाओंका एक जगत् है और शब्दोंके पीछे जो सत्य है, उसको ग्रहण करनेके लिये तुम्हें इस जगत्‌में प्रवेश करना

चाहिये। जबतक तुम्हारी समझ शब्दोंके बाह्य रूपोंसे ही बनती है, तबतक बहुत सम्भव है कि उनके सत्य भावको समझनेके लिये तुम्हें एक बड़ी उलझनमें पड़ा रहना पड़े। परन्तु यदि तुम अपने मनकी नीरवतामें प्रवेश करके उस जगत्‌में ऊपर उठ सको जहाँसे भावनाएँ रूप ग्रहण करनेके लिये अवतरित होती हैं, तो तुम्हें तुरंत सत्य बोध होगा। यदि तुम्हें इस बातसे असन्दिग्ध हो जाना है कि तुम एक दूसरेके भावको ठीक-ठीक ही समझ लेते हो तो तुममें यह योग्यता हो जानी चाहिये कि तुम अपने हृदयोंकी नीरवतामें एक दूसरेकी बात समझ सको। एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें तुम्हारे मन परस्पर इतने अधिक समस्वर और सामञ्जस्यमय हो जाते हैं कि तब शब्दोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती और एक व्यक्ति दूसरेके विचारको अनुभव कर लेता है। परन्तु यदि यह समस्वरता नहीं है तो तुम्हारे अभिप्रायमें कुछ-न-कुछ विकार आ ही जायगा; कारण तब तुम जो कुछ कहोगे, उसमें दूसरेका मन अपना ही कुछ अभिप्राय जोड़ देगा। मैं एक शब्दका प्रयोग उसके किसी विशिष्ट अर्थमें या उस अर्थकी किसी विशिष्ट छायामें करती हूँ, तुम दूसरे ही अर्थ या छायाको उस शब्दके आशयमें ले आनेके अभ्यासी हो। अब यही तो होगा कि उस शब्दसे जो मेरा अभिप्राय है उसको तुम ज्यों-का-त्यों नहीं समझ सकोगे बल्कि उस शब्दका जो अर्थ तुम्हारे लिये बन चुका है उसे ही समझोगे। केवल वाणीके व्यवहारमें ही नहीं किन्तु पढ़नेके सम्बन्धमें भी यही सत्य लागू होता है। यदि तुम किसी ऐसी पुस्तकको समझना चाहते हो, जिसमें किसी गभीर विषयकी शिक्षा दी गयी है तो तुम्हें उस पुस्तकको अपने मनकी नीरवतामें पढ़ सकनेके योग्य होना चाहिये। तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिये, उस पुस्तकके कथनको अपने अंदरकी गहराईमें उतर जाने देना चाहिये, उस क्षेत्रतक पहुँच जाने देना चाहिये, जहाँ शब्द नहीं रहते और फिर वहाँसे उसे शनैः-शनैः अपनी बाह्य चेतना और उसके ऊपरी तलतक वापस लौट आने देना चाहिये, और तबतक इन्तजार करना चाहिये। परन्तु यदि तुम शब्दोंको अपने बाह्य मनतक एक ही छलाँगमें कूदकर पहुँच जाने दोगे और फिर इन दोनोंको परस्पर जोड़ देने और उनका मेल मिला देनेकी चेष्टा करोगे तो तुम उन शब्दोंके वास्तविक अभिप्राय और शक्तिको गँवा दोगे। जबतक तुम अपने अव्यक्त मनके साथ, जो अभिव्यक्तिके केन्द्रके पीछे-पीछे विद्यमान रहता है, एकता प्राप्त न कर लो तबतक तुम्हारी समझको भूलसे रहित नहीं कहा जा सकता।

पहले एक जगह हमलोग वैयक्तिक मनकी चर्चा कर चुके हैं और उस समय यह कहा गया था कि प्रत्येक वैयक्तिक मन एक अलग-अलग जगत् है जो एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है, हर-एक अपने-आपमें ही बंद है और एकका दूसरे जगतों-के साथ किसी प्रकारका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं-सा ही है। परन्तु यह अवस्था मनके हीनतर क्षेत्रमें ही है, वहाँ तुम्हारी अपनी रची हुई रचनाएँ ही तुम्हें अपने अंदर बंद कर लेती हैं और इन रचनाओंमेंसे या अपने मनकी चौहद्दीमेंसे बाहर निकल आना तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है। इस क्षेत्रमें तुम अपने-आपको ही अथवा वस्तुओंमें जो तुम्हारा अपना प्रतिबिम्ब है, उसीको समझ सकते हो। परन्तु यहाँ अर्थात् अनभिव्यक्त मनके उच्चतर क्षेत्रों और उसकी पवित्र-तर ऊँचाइयोंमें तुम स्वतन्त्र हो। जब तुम इसमें घुसते हो तब अपने ही मनकी सीमासे बाहर निकल जाते हो और एक ऐसे विश्वव्यापी मनोमय लोकमें प्रवेश पा जाते हो, जिसमें प्रत्येक व्यष्टिगत मनोमय जगत् इस प्रकार निमग्न हो जाता है मानो वह किसी बड़े भारी समुद्रमें समा गया हो। वहाँ, उस भूमिकामें दूसरेके अंदर जो कुछ हो रहा हो, उसको तुम पूरा-पूरा समझ सकते हो तथा उसके मनको इस प्रकार जान सकते हो मानो वह तुम्हारा अपना ही मन हो; कारण, वहाँ कोई पृथक्त्वका भाव है ही नहीं जो एक मनको दूसरे मनसे अलग करे। इस क्षेत्रमें पहुँचकर जब तुम दूसरोंके साथ एक हो जाते हो, केवल तभी तुम उनको समझ सकते हो; अन्यथा तुम उनके साथ एकस्वर नहीं हो पाते, तुम उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते, तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन ही नहीं होता, जिसके द्वारा तुम अपने मनके अतिरिक्त दूसरोंके मनमें जो कुछ हो रहा हो उसको ठीक-ठीक जान सको। जब तुम किसी दूसरे मनुष्यके सामने होते हो, उस समय वह मनुष्य क्या विचार या क्या अनुभव कर रहा है—इस बातका प्रायः तुम्हें कोई ज्ञान नहीं होता; किन्तु यदि तुम अभिव्यक्तिकी इस बाह्य भूमिकाके परे जा सको, इसके ऊपर उठ सको, यदि तुम उस भूमिकामें प्रवेश कर सको जहाँ नीरव सम्भाषण सम्भव है, तो तुम दूसरेके मनको उसी प्रकार जान सकोगे जिस प्रकार तुम अपने मनको जान लेते हो। तब विचारोंको व्यक्त करनेके लिये शब्दोंकी उपयोगिताका महत्त्व बहुत कम हो जाता है; कारण, पूर्ण समझ तो शब्दोंके परे किसी दूसरी ही वस्तुमें रहती है और कुछ थोड़े-से शब्द तुम्हारे प्रयोजनके लिये पर्याप्त होते हैं। वहाँ लंबी-लंबी व्याख्याओंकी आवश्यकता नहीं रहती, इस बातकी

आवश्यकता नहीं होती कि किसी विचारको पूरे विस्तारसे व्यक्त किया जाय; कारण, वहाँ वक्ताके अभिप्रायका तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है।

'क्या कभी ऐसा समय भी आयेगा, जब विरोधी शक्तियाँ रहेंगी ही नहीं?'

जब इस जगत्‌में उनकी उपस्थितिका कोई उपयोग न रह जायगा, तब वे स्वयमेव लुप्त हो जायँगी। उनकी जो क्रिया होती है वह हमारी परखकी प्रक्रियाके तौरपर उपयोगमें लायी जाती है, जिससे कि हमारी कोई भी त्रुटि छूट न जाय, इस रूपान्तरके कार्यमें कोई भी चीज बाकी न बच जाय। उनके सामने जरा-सी भी भूल न चलेगी। अपनी सत्ताको रूपान्तरित करनेमें यदि तुमने कुछ भी, किसी मामूलीसे ब्यौरेकी भी अवहेलना की तो वे झट आ पहुँचेंगी और उस उपेक्षित स्थानपर अपना हाथ रक्खेंगी और तुम्हारे लिये उसको इतना दुःखदायी बना देंगी कि तुम उसका परिवर्तन करनेके लिये बाध्य हो जाओगे। इस प्रक्रियाके लिये जब उनकी आवश्यकता न रह जायगी, तब उनका रहना निरर्थक हो जायगा और वे लुप्त हो जायँगी। भगवान्‌के इस महान् कार्यमें उनकी आवश्यकता होनेके कारण ही उनको यहाँ रहने दिया गया है; और जब यह आवश्यकता जाती रहेगी, तब या तो वे रूपान्तरित हो जायँगी या चली जायँगी।

'क्या ऐसा होनेमें बहुत समय लगेगा?'

यह सब तुम्हारे दृष्टिकोणपर निर्भर करता है। कारण काल सापेक्षिक है; कालकी चर्चा कई दृष्टिकोणोंसे की जा सकती है,—साधारण बाह्य मानव दृष्टिकोणसे की जा सकती है, आन्तर चेतनाके गभीरतर दृष्टिकोणसे भी और भगवान्‌की दृष्टिसे भी।

यदि तुम भागवत चेतनाके साथ एक हो गये हो तो फिर किसी कार्यके किये जानेमें चाहे मनुष्यकी काल-गणनाके हिसाबसे एक हजार वर्ष लग जायँ या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता; कारण, उस अवस्थामें तुम मानव-प्रकृतिकी अवस्थाओंका अतिक्रमण कर भागवत प्रकृतिकी अनन्तता और शाश्वततामें प्रवेश कर जाते हो। किसी कामको शीघ्र समाप्त कर डालनेकी तीव्र व्याकुलतारूपी जिस व्याधिसे मनुष्य ग्रस्त रहते हैं—कारण वे उद्योगके परिणामको अपनी आँखोंके सामने होता हुआ देखना चाहते हैं—उससे तुम मुक्त रहोगे। उद्वेग, उतावली और बेचैनीसे कुछ बनता नहीं। ये तो ऐसे हैं जैसे समुद्रपर फेन; ये ऐसे महान् आडम्बर हैं जो अपने-आप समाप्त हो जाते हैं। निरन्तर दौड़-धूप और कूद-फाँद किये बिना, कर्मण्यताके आवेशमें उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना मनुष्योंको ऐसा जान पड़ता है मानो वे कुछ कर ही न रहे हों। परन्तु इन तथाकथित हलचलोंसे वस्तुओंका परिवर्तन हो जायगा, यह समझना एक भ्रम है। यह एक ऐसी बात है, जैसे कोई एक कटोरेको हाथमें उठा ले और उसमेंके जलको थपेड़ता रहे। अवश्य ही इस क्रियासे जल इधर-उधर हिलेगा, किन्तु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह रहेगा जल-का-जल ही। कर्म करनेका यह भ्रम मानव-प्रकृतिके सबसे बड़े भ्रमोंमेंसे है। इससे प्रगति होनेके बजाय प्रगतिमें बाधा पहुँचती है; कारण, इस भ्रममें पड़कर तुम सदा किसी उत्तेजित गतिकी ओर दौड़ पड़नेकी आवश्यकताका बोध करने लगते हो। कितना अच्छा हो यदि तुम इस भ्रमको जान जाओ, इसकी निरर्थकता समझ जाओ, और तुमको यह दिखायी देने लगे कि तुम्हारी इस दौड़-धूपसे संसारमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। कहीं भी तुम्हें इसके द्वारा कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग इस प्रकारकी दौड़-धूप करते हैं, वे ऐसी शक्तियोंके केवल खिलौने होते हैं, जो इन्हें अपने आमोदके लिये नचाया करती हैं। और ये शक्तियाँ भी कोई उत्तम कोटिकी नहीं होतीं।

जगत्‌में जो कुछ भी किया गया है, वह उन थोड़े-से महापुरुषोंद्वारा ही किया गया है जो क्रियाओंके परे आत्माकी नीरवतामें स्थित रह सकते हैं; कारण, ऐसे लोग ही भागवत शक्तिके उपकरण होते हैं। ये ही हैं गतिशील प्रतिनिधि, सचेतन उपकरण; ये ही उन शक्तियोंको उतार कर लाते हैं जो जगत्‌का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चञ्चल कर्मण्यताद्वारा। शान्ति, नीरवता और स्थिरताकी अवस्थामें ही जगत्‌का निर्माण हुआ था और प्रत्येक बार जब भी किसी सच्ची चीजकी रचना करनी होगी तो उसे शान्ति, नीरवता और स्थिरताकी अवस्थामें ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत्‌में कुछ कर सकनेके लिये तुम्हें इन तरह-तरहकी निरर्थक बातोंके लिये परिश्रम करना और सुबहसे शामतक दौड़-धूप करना आवश्यक है।

चक्रवत् घूमती रहनेवाली इन शक्तियोंसे किनारा खींचकर एक बार यदि तुम शान्त क्षेत्रोंमें पहुँच जाओ तो तुम देखोगे

कि यह भ्रम कितना बड़ा है ! तब तुम्हें मानवजाति ऐसी दिखायी देगी मानो यह कोई अंधे प्राणियोंका समूह हो, जो इस बातको जाने बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते-फिरते हैं और जो केवल एक दूसरेके साथ टकराते और ठोकर खाते रहते हैं। और इसीको ये लोग 'कर्म' और 'जीवन' कहते हैं ! यह तो थोथी हलचल है; कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

मैंने एक बार कहा था कि दस मिनटतक सार्थकरूपसे बोलनेके लिये दस दिनतक मौन रहना चाहिये। उसमें मैं यह और जोड़ दे सकती हूँ कि एक दिन सार्थकरूपसे कार्य करनेके लिये एक वर्षतक शान्त रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवनके लिये आवश्यक, नित्यकी दिनचर्या-सम्बन्धी सामान्य कार्योंके विषयमें नहीं कह रही हूँ, बल्कि उनके लिये कह रही हूँ जिन्हें संसारमें कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि वे संसारमें कुछ करनेके लिये आये हैं। और नीरवतासे मेरा अभिप्राय आन्तरिक शान्तिसे है, और यह उन्हींको प्राप्त हो सकती है जो अपने कर्मोंसे अपने-आपको तदाकार किये बिना, उसमें सराबोर हुए बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तिओंके कोलाहल और रूपसे अंधे और बहरे हुए बिना ही कर्म कर सकते हों। अपने कर्मोंसे अपने-आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तियोंके परे जो एक दृष्टि है उसमें ऊपर उठो, शाश्वतकी चेतनामें प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे कि सच्चा कर्म क्या है।

जैन कवियोंके आध्यात्मिक पद

(लेखक—श्रीयुत अगरचन्दजी नाहटा)

हिन्दी-साहित्यमें 'संतसाहित्य'का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तवमें हिन्दीभाषाका सर्वत्र प्रचार भी संतोंके कारण ही हुआ, उनके भावपूर्ण पदोंका लोकमानसपर गहरा प्रभाव पड़ा। संतोंके अतिरिक्त प्रायः सभी कवियोंने ही केवल शृङ्गाररसका ही पोषण किया है या रीतिग्रन्थोंका निर्माण किया, जो कि सर्वसाधारणके लिये किसी कामकी चीज नहीं हैं। उस शृङ्गारिक साहित्यसे तो जनतामें विकारभाव एवं विलासिता बढ़ने लगी। इसका प्रतीकार या परिवर्तन संतोंके वैराग्योत्पादक साहित्यसे ही हुआ, अर्थात् विषका प्रतीकार उन्होंने अमृत प्रदान करके किया—जिसके कारण भारतीय समाज उनका चिरऋणी रहेगा।

शान्तरसके साहित्यका निर्माण, वास्तवमें संत महापुरुषों-द्वारा ही हो सकता है क्योंकि उनका जीवन शान्तिसे ओतप्रोत होता है। उनके प्रत्येक शब्द वास्तविक अनुभूतिसे सराबोर होते हैं जिनमें प्रभावोत्पादनका अधिक परिमाणमें होना स्वाभाविक ही है। हिन्दीके शृङ्गार-रसके सुकवियोंकी रचनाओं एवं संतोंकी पदावलियोंके प्रचारकी ही तुलना करें तो स्पष्ट विदित होगा कि जनसाधारणके लिये उपयोगी साहित्य संतोंका ही है। इसी कारण तुलसीदासजीकी रामायण, सूरदासजीके मधुर पद, मीरा आदिके मधुर पद लाखों ही नहीं बल्कि करोड़ों मनुष्योंके हृदयहार हो रहे हैं। जनता उनके मधुर पदोंको बड़े आदरसे प्रेमपूर्वक नित्य स्मरण करती है एवं मधुर स्वरोंसे गाकर आत्मामें अपूर्व आनन्दोल्लासका अनुभव करती है। अन्य उत्तमोत्तम शृङ्गार-रसके कवियोंके साहित्य एवं असाधारण काव्यपूर्ण रचनाओंके जानकार इने-गिने व्यक्ति ही मिलेंगे। उनकी पहुँच विद्वानों एवं कवियोंसे अधिक नहीं प्रतीत होती। वास्तवमें जीवनको आदर्श एवं उच्च बनानेके लिये संतसाहित्य अनुपम और अमर निधि है।

गीताप्रेससे प्रकाशित भजन-संग्रहके पाँचों भाग इस बार मँगाकर देखे तो बड़ा आनन्द हुआ। गीताप्रेसका अति सुलभ मूल्यमें इन पदोंका प्रकाशन निस्सन्देह सराहनीय प्रयत्न है। इन भजन-संग्रहोंमें मुसलमान कवियोंतककी रचनाओंको स्थान मिला है, पर जैन संतोंके सैकड़ों पदोंके प्रकाशित हो चुकनेपर भी उनमेंसे एकको भी स्थान न मिलना कुछ अखरा, पर वास्तवमें जैनसाहित्यसे जनसाधारण-की बात ही क्या, साहित्यिक विद्वान् लोग भी बहुत कम परिचित हैं—यही एक कारण प्रतीत हुआ। अतएव, इस लेखमें जैनपदसाहित्यका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयत्न किया जा रहा है, आशा है सर्वधर्मसममानी व्यक्तियोंके लिये यह उपयोगी प्रतीत होगा।

१ आनन्दघनजी—इनका नाम लाभानन्दजी था, कहा जाता है कि आपका अधिकांश जीवन जोधपुर राज्यवर्ती मेड़तेमें व्यतीत हुआ। इनके समय एवं जीवनके विषयमें निश्चित साधन अद्यावधि अनुपलब्ध है—जो कुछ कहा जाता है केवल प्रवादके आधारसे—अतः उसमेंसे सत्यासत्यका निर्णय करना कठिन काम है। इनकी रचनाओंसे इतना तो अवश्य जाना जाता है कि यह पहुँचे हुए आत्मानुभवी अध्यात्मी एवं निरीह संत थे। इनकी वाक्यरचना गूढ़ रहस्यमयी प्रभावोत्पादक तथा सरस है, उनमें इनका अध्यात्मानुभव पद-पदपर झलक रहा है। आपकी रचनाओंमें ऋषभदेवसे नेमिनाथ तक २२ तीर्थंकरोंके २२ स्तवन (स्तुति) और बहुतसे पद हैं। पदोंकी संख्या ७२ कहे जानेपर भी ११२ तक जा पहुँची है और वे गुजराती विवेचनसहित प्रकाशित हो चुके हैं* पर उनमेंसे कतिपय पद आपके रचित नहीं प्रतीत होते। उनके अतिरिक्त कई नये पद भी हमारे संग्रहकी प्राचीन प्रतिमें, जो कि उपलब्ध प्रतियोंमें सबसे प्राचीन हैं, पाये जाते हैं। हमारे संग्रहके गुटकेमें ६६ पद हैं। प्रतिके कई पूर्व पत्र फट जानेसे कतिपय पद उनमें पूरे नहीं मिलते। इस गुटकेमें अन्यत्र लेखनकाल सं० १६८४ लिखा है। अतः आनन्दघनजीका समय इससे कुछ पूर्व होना सम्भव है। आपके रचित स्तवन भी विवेचनसहित प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी रचना अति गम्भीर एवं गूढ़ है, इसके विषयमें आपके रचित स्तवनोंके विवेचन कर्त्ता श्रीमद्ज्ञानसारजी कहते हैं—

'आशय आनन्दघनतन—अति गम्भीर उदार।
बालकबाँह पसारि जिम, कहे उदधि विस्तार॥

पदोंका रसास्वादन तो समस्त पदोंके पढ़नेपर ही हो सकता है, अतः प्रकाशित पद-संग्रहको देखनेका अनुरोध करते हुए नमूनेके तौरपर १-२ पद यहाँ दे रहा हूँ।

चेतावनी पद, राग बिलावल

क्या सोवे उठ जाग रे। क्या०
अंजलि जल ज्युँ आयु घटत है, देत पहोरिया घरिया घाउ रे॰
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले, कोन राजा पतिशाह राउ रे॥क्या०१
'कहा बिलम्ब करे अब बाउरे तरी भव जलनिधि पार पाउ रे
आनन्दघन चेतनमय मूरति शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे॥क्या०

आत्माका स्वरूप-राग आशावरी

अवधू नाम हमारा राखे सो परम महारस चाखे। अवधू०
नहीं हम पुरुषा नहीं हम नारी, वर्णन भाँत हमारी।
जाति न पाँति न साधन साधक, नहीं हम लघु नहिं हम भारी॥अवधू०१
नहीं हम ताते नहीं हम सीरे नहिं दीरघ नहिं छोटा।
नहीं हम भाई नहिं हम भगिनी, नहीं हम बाप न बेटा॥अवधू०२
नहीं हम मनसा नहीं हम शब्दा, नहीं हम तरण की धरणी
नहीं हम भेख भेखधर नाहीं नहीं हम करता करणी। अवधू०३
नहीं हम दरशन नहीं हम परशन, रसन गंध कुछु नाहीं
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं। अवधू०४

कतिपय पदोंके आरम्भिक वाक्य नीचे दे देता हूँ, जिससे उनकी गम्भीरताका पता चल जाय।

अवधू राम राम जग गावे, बिरला अलख जगावे।
आशा औरन की क्या कीजे, अवधू ज्ञान-सुधारस पीजे।
साधो भाई अपना रूप जब देखा।
साधु भाई समता रंग रमीजे, अवधू ममता संग न कीजे।
अवधू क्या सोवे तन मठ में, जाग बिलोकन घर में।
अवधू अनुभव कलिका जागी, मति मेरी आतम सुमिरन लागी।
निसानी कहाँ बताऊँ रे, तेरो अलख अगोचर रूप।

२ चिदानन्दजी—इनका नाम कपूरचन्दजी था, ये खरतरगच्छके यति चुन्नीजी (चारित्रनिधि) के शिष्य एवं ज्ञानानन्दजीके, जो बनारसमें रहते थे, गुरुभ्राता थे। पावापुरी तीर्थमें आपने ध्यान किया था। प्रवादके अनुसार आप योगोपलब्धि सम्पन्न पुरुष थे। आपकी रचनाएँ—१ बहुत्तरी पदसंग्रह, २ सवैया बावनी, ३ पुद्गल गीता, ४ अध्यात्म बावनी, ५ दयाछत्तीसी, ६ परमात्मछत्तीसी, ७ प्रश्नोत्तरमाला और ८ स्वरोदय—ये ८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं और सभीका संग्रह श्रीचिदानन्दसर्वसंग्रह भा० १-२-में शा: कुँवरजीने (भावनगर) प्रकाशित कर दिया है। पदोंका गुजराती विवेचन भी कुँवरजीद्वारा लिखित जैनधर्म प्रसारक सभा-

---

* अध्यात्मज्ञान-प्रसारक-मण्डल, पादरा (बुद्धिसागरकृत विवेचनसहित)

प्र०—जैनधर्म प्रसारक सभा (मोतीचन्द गिरधर कापड़िया-कृत विवेचन)

प्र०—मूल पद प्र० भीमजी माणिक—बम्बई, बालाभाई छगनलाल अहमदाबाद। एवं रत्नप्रभाकर ग्रन्थमाला—फलौधी॥

भावनगरसे प्रकाशित हो चुका है । ग्रन्थोंके आधारसे चिदानन्दजीका ग्रन्थ-रचना-काल १९०५ । ६ है । इनकी रचना हृदयस्पर्शी सरल एवं कवित्वपूर्ण है । इन्होंने दृष्टान्त देकर गहन विषयको सुगमतासे समझानेका बहुत सुन्दर प्रयत्न किया है । इनके सभी पद सुबोध एवं सुन्दर हैं, स्थानाभावसे यहाँ तो दो ही पदोंको देकर सन्तोष करना पड़ता है, पाठकोंसे इनके सभी पदोंको पढ़नेका विशेष अनुरोध है ।

परमात्मपद-प्राप्ति—राग काफ़ी या बिलावल

आतम परमातम पद पावे, जो परमातम सुं लय लावे । आतम०
सुण के शब्द कीट भृंगी को, निज तन मनकी सुध बिसरावे ।
देखहु प्रगट ध्यान की महिमा, सोई कीट भृंगी हो जावे ॥ आतम०(१)
कुसुम संग तिल-तेल देख फुनि, होय सुगंध फुलेल कहावे ।
शुक्ति गर्भगत स्वाति उदक होय, मुक्ता फल अति दाम धरावे ॥ (२)
पुन पिंचु मंद पलाशादिक में, चंदनता ज्युं सुगंध थी आवे ।
गंगा में जल आन आनके, गंगोदक की महिमा भावे ॥ (३)
पारसको परसंग पाय पुनि लोहा कनक स्वरूप लिखावे ।
ध्यानाध्यान धरत चित में इम, ध्येय रूपमें जाय समावे ॥ आतम(४)
भज समता ममता को तज मन, शुद्ध स्वरूप थी प्रेम लगावे ।
'चिदानन्द' चित्त प्रेम मगन भया, दुविधा भाव सकल मिट जावे ॥ आ०

लघुता—राग विहाग या तोड़ी

लघुता मेरे मन मानी, लई गुरुगम ज्ञान निशानी ।
मद अष्ट जिन्होंने धारे, ते दुर्गति गये बिचारे ।
देखो जगतमें प्राणी, दुख लहत अधिक अभिमानी ॥ ल०(१)
शशि सूरज बड़े कहावे, ते राहुके वश आवे ।
तारा गण लघुता धारी, स्वर्भानु भीति निवारी ॥ ल०(२)
छोटी अति जो पणगंधी, लहे षटरस स्वाद सुगंधी ।
करटी मोटाई धारे, ते छार शिरपर डारे । ल०(३)
जब बालचन्द होई आवे, तब सहु जग देखन धावे ।
पूनम दिन बड़ो कहावे, तब क्षीण कला होइ जावे । ल०(४)
गुरवाई मनमाँ वेदे नृप श्रवण नासिका छेदे ।
अंगमा हे लघु कहावे, ते कारण चरण पुजावे ॥ ल०(५)
शिशु राजधाममें आवे, सखि हिलमिल गोद खिलावे ।
होय बड़ा जान नहीं पावे, जावे तो शीश कटावे ॥ (६)
अन्तर मद भाव बहावे, तब त्रिभुवन नाथ कहावे ।
इम चिदानन्द ए गावे, रहणी बिरला कोई पावे । ल० (७)

अन्य कतिपय पदोंके प्रारम्भिक वाक्य इस प्रकार हैं—

कथनी कथे सब कोई, रहणी अति दुर्लभ होई ।
अवधु निरपख विरलो कोई, देख्या सब जग जोई ॥
जौं लौं तत्वन सूझ पड़े रे,
सुअधा आप विचारो रे, परपख नेह निवार ।
बिरथा जनम गँवायो, मूरख बिरथा०
जग सुपनों की माया, रे नर । जग०
ज्ञान कलाघट भासी,
सोहं सोहं सोहं सोहं, सोहं रटना लगी रे ।
औघट बिणसत बार न लागे,
जाग अवलोक निज शुद्धता स्वरूप की ।

३ ज्ञानानन्द—यह खरतरगच्छीय यति चारित्रनिधिके शिष्य थे । इनका समय सं० १९०० के लगभग है । आपके रचित ७५ एवं ३७ पद ज्ञानविलास और संयम-तरंगके नामसे छपे हैं । रचना सरल एवं हृदयग्राही है । इनके दो पद बतौर नमूनेके नीचे दिये जाते हैं । पदोंके अतिरिक्त आपकी अन्य रचना अज्ञात है । इनके विषयमें मेरा एक लेख जैनसत्यप्रकाश वर्ष ४ अं० १२ में प्रकाशित हो चुका है ।

जगावन—राग भैरव

भोर भयो उठ जाग रे मनुवा, साहेब नाम सँभारो । भो०
सुताँ सुताँ रयन बिहानी, अब तुम नींद निवारो ।
मंगलकारी अमृत बेला, थिर चित काज सुधारो ॥ (१)
खिनभर जो तु याद करेगो, सुख निपजेगो सारो ।
बेला बीताँ हुवे पछतावो क्युं कर काज सुधारो ॥ (२)
घर व्यापार दिवस बितायो, रात नींद गवाँयो ।
इन बेला निधि चारित्र आदर 'ज्ञानानन्द' रमायो ॥ (३)

देहस्वरूप—राग आसावरी

अवधू सुता क्या इस मठ में ।
इस मठ का है कवन भरोसा, पड़ आवे चटपट में ।
छिन में ताता छिन में शीतल, रोग शोक बहु मठ में ॥ अ० (१)
पानी किनारे मठ का वासा, कवन विश्वास ए तट में ।
सुताँ सुताँ काल गमाया, अजहुँ न जाग्यो घट में । ॥ अ० (२)
घर की फेरी आटो खायो, खरची न बाँधी वट में ।
इतनी सुनि निधि चारित्र मिलकर, ज्ञानानन्द आये घट में ॥ अ० (३)

४ विनय विजय-तपागच्छके सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं । संस्कृतमें इनकी रचना शान्तसुधारस गीतगोविन्दकी भाँति

देशी राग-रागिनियोंमें अपने ढंगकी अनुपम है। लोकप्रकाशादि और भी संस्कृतके महान् ग्रन्थ आपने रचे हैं—जिससे आपके प्रकाण्ड पाण्डित्यका परिचय मिलता है। आपके हिन्दी भाषाके ३७ पद विनयविलासके नामसे प्रकाशित हो चुके हैं। इसमेंसे १ पद यह है।

संसारकी अस्थिरता

थिर नाँहि रे थिर नाँहि, जावत धन यौवन थिर नाँहि।
पलक एक में देह दिखावत, जैसो बादल छाँहि।थिर०(१)
मेरे मेरे कर मरत बिचारे, दुनियाँ अपनी करि चाही।
कुलटा स्त्री ज्यों उलटा होवे, या साथ किसी के नाँ जाही।थिर०(२)
कहे दुनियाँ कहा इसे बाउरे मेरी गति समजो नाँहि।
केते ही छोरे में प्यासे, केते ओर गहे बाँहि।थिर०(३)
सजन सनेह सकल रे चंचल, किसके सुत किसकी माई।
रितु बसन्त शिर रूख पात ज्यों, पाय परोगो को नाहिं।थिर०(४)
अजर अमर अकलंक अरूपी, सब लोकन कुँ सुखदाई।
'विनय' कहे भय दुख बन्धन तें, छोडनहारा वे साईं।थिर०(५)

५ **यशोविजय**—आप असाधारण विद्वान् थे। काशीमें आकर आपने न्यायशास्त्रका बहुत ही तलस्पर्शी अभ्यास किया था। कहा जाता है कि केवल न्यायपर ही आपने १०० ग्रन्थ रचे थे। काशीकी विद्वत्सभामें जयप्राप्ति कर आपने 'न्यायविशारद' का पद प्राप्त किया था। आपका रचित साहित्य बहुत विशाल है। हिन्दीमें आपके रचित ७५ पद 'यशविलास' के नामसे प्रकाशित हो चुके हैं। आपका समय सं० १६८०से १७४४ है। इनके पदोंमेंसे एक पद नीचे दिया जाता है।

जीव-प्रबोध—राग सारंग

जिउ लागि रह्यो पर भाव में।
सहज स्वभाव लख्यो नहिं अपनो, पड़ियो मोह जंजाल में॥ जि० (१)
बंधे मोक्ष करे नहिं करनी, डोलत ममता बाऊ में।
चहे अन्ध ज्यूँ जलनिधि तरवो, बैठो काँणे नाऊ में॥ जि० (२)
अरति पिशाची परवश रहतो, खिनहुँ न समर्यो आउ में।
आप बचाय सकत नहिं मूरख, घोर विषय के घाउ में॥ जि० (३)
पूर्व पुन्य धन सबहिं ग्रसत है, रहत न मूल बढ़ाऊ में।
तामें तुज कैसे बनि आवे, नय व्यवहार के दाऊ में॥ जि० (४)
जस कहे अब मेरो मन लीनो, श्री जिनवर के पाउ में।
यहि कल्यान सिद्धि को कारन, ज्यूँ वेधक रस लाउ में॥ जि० (५)

ज्ञानसारजी—आप बड़े मस्त योगी थे। आपका जन्म सं० १८०१ में, दीक्षा १८२१ माह शुक्ला ८, स्वर्ग १८९८में हुआ था। आपका अन्तिम जीवन बीकानेरके श्मशानमें बीता, समाधिस्थान भी वहीं है। आप बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। बीकानेर-नरेश सूरतसिंहजी एवं जैसलमेर-नरेश आदि आपके परम भक्त थे। आपके जीवन एवं कृतियोंके विषयमें हमारा 'श्रीमद् ज्ञानसारजी और उनका साहित्य' शीर्षक एक निबन्ध *हिन्दुस्थानी भा० ९ अंक २में प्रकाशित* हो चुका है। विशेष जाननेके लिये पाठकोंको उसे पढ़नेका अनुरोध किया जाता है। आपके १५० के करीब पद हमारे संग्रहमें हैं। इनके पदोंपर आनन्दघनजीके पदोंकी छाप स्पष्ट है। नमूनेके रूपमें आपका एक पद नीचे दिया जाता है।

पद न० ५२, राग आशा

साधो भाई निहचे खेल अकेला, सो हम निहचे। खेला सा०
ना हमरे कुल जात न पाँता, यह मेरा आचारा।
मदिरा मांस विवर्जित जो कुल, उन घर में पैसारा॥ सा० (१)
जो हमरी कोऊ करे निन्दा, किञ्चित् अमरस आवे।
फिर मन में जग रीति विचारें, तब अति ही पछतावै॥सा० (१)
प हमरी हम चर्चा माखो, पै इनमें इकसारा।
जो हम 'ज्ञानसार' पद चीन्हें, तो हुवे भवदधिपारा॥सा०(१५)

ऊपर केवल श्वेताम्बर संतोंका ही उल्लेख किया गया है। दिगम्बर जैन विद्वानोंका हिन्दी-पद-साहित्य, जैनग्रन्थ-रत्न-कार्यालय एवं जिन-वाणी-प्रचारक-कार्यालय, कलकत्तासे प्रकाशित हो चुका है।
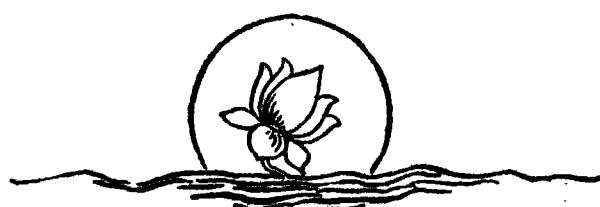
प्रार्थनाकी आवश्यकता

(लेखक—स्वामी श्रीअशेषानन्दजी)

जगत्के सभी महान् धर्म स्पष्ट शब्दोंमें प्रार्थनाकी आवश्यकता एवं उपयोगिताको घोषित करते हैं। विधि-विधानों एवं विशिष्ट सिद्धान्तोंमें मतभेद हो सकता है। दार्शनिक तथ्यों एवं उन पदार्थोंके सम्बन्धमें जिनका जीवनमें स्थायी महत्त्व है सर्वथा विभिन्न मान्यता हो सकती है। परतम परेश एवं उनकी प्राप्तिके साधनके सम्बन्धमें नितान्त विरुद्ध धारणाएँ हो सकती हैं। परन्तु प्रार्थनाके महत्त्व एवं उपयोगिताके विषयमें किसी प्रकारका वैमत्य नहीं हो सकता। इस आदिम एवं महत्त्वपूर्ण साधनाका मनुष्यजातिके सभी विभिन्न मतों एवं मार्गोंमें प्रायः समान रूपमें समावेश पाया जाता है। जिस प्रकार एक सूतका धागा रंग-बिरंगे पुष्पोंको ग्रथित करके एक कमनीय हारके रूपमें सजा देता है, उसी प्रकार यह साधना सभी ईश्वरवादी सम्प्रदायोंको समन्वयके सूत्रमें पिरोये हुए है। धर्मोंकी तुलनात्मक समीक्षा करने-वालेको घोर विरोध एवं वैमत्यके अन्तरालमें इस साधनाके रूपमें मौलिक एकताकी झाँकी मिलेगी—वह एकता जो विभिन्न मतों एवं भगवान्के विभिन्न उपासकोंको शाश्वत सौहार्द एवं बन्धुत्वके पाशमें बाँध रखनेवाली है। विभिन्न धर्मोंके अनुयायी यदि दूसरे धर्मोंकी त्रुटियों एवं विषमताओंको तूल न देकर उन बातोंपर जो विशेष महत्त्वकी और सबमें समानरूपसे पायी जाती है अधिक जोर दें और उदार दृष्टिसे काम लें तो मेरा विश्वास है कि सारी लड़ाई, सारे झगड़े तत्काल शान्त हो जायँ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि प्रार्थनाका स्वरूप क्या है, प्रार्थना किसे कहते हैं। इस प्रश्नका उत्तर उतना आसान नहीं है। फिर भी विषयकी स्पष्ट धारणा-के लिये—अपने लिये तथा दूसरोंको समझानेके लिये भी—किसी-न-किसी प्रकारकी परिभाषा करनी ही होगी। भगवान्के लिये हृदयके आन्तरतम प्रदेशकी खोज और पुकारका नाम ही प्रार्थना है। प्रार्थनाके लिये यह आवश्यक है कि हमारा किसी ऐसी उच्चतर शक्तिमें विश्वास हो, जो विश्वकी गतिविधिका नियन्त्रण करती है और मनुष्यजातिके भाग्यका वारा-न्यारा करती है। जिसे दुनिया दे नहीं सकती, चोर चुरा नहीं सकते और मृत्यु छीन नहीं सकती—उस अमूल्य निधिको हस्तगत करनेके लिये आत्माकी नैसर्गिक ललकका नाम ही प्रार्थना है। यह नैसर्गिक खोज प्रत्येक मनुष्यकी अन्तरात्मामें निहित है, परन्तु उसका स्पष्ट एवं तीव्र अनुभव भक्तके ही हृदयमें होता है। भक्त अपने भगवान्को पानेके लिये उसी प्रकार लालायित रहता है, जिस प्रकार भूखा मनुष्य भोजनके लिये छटपटाता है। जिस प्रकार जहाजपर रहनेवाले कुतुबनुमे (दिग्बोधक यन्त्र) की सुई सदा उत्तरकी ओर रहती है उसी प्रकार भक्तका सारा अस्तित्व, उसकी सारी भावनाएँ और विचार भगवान्की ओर मुड़े रहते हैं। इन्द्रियोंके क्षणिक सुखकी ओरसे मुँह मोड़कर वह भगवान्को पानेके लिये, उनकी मधुर झाँकीके लिये तरसता रहता है।

संशयग्रस्त नास्तिकका स्वभाव ठीक उस मक्खीका-सा होता है, जो एक क्षण मिठाईपर बैठती है और दूसरे ही क्षण सड़ी हुई लाशपर जा बैठती है। भक्तका स्वभाव इससे सर्वथा विपरीत होता है। मधुलोभी भ्रमरके समान, जो सदा पुष्पोंपर ही बैठकर अन्तर्मुख एवं एकाग्र चित्तसे मकरन्दका पान करता रहता है, वह निश्चल विश्वास एवं अडिग निश्चयके साथ सदा-सर्वदा भगवान्के ही आश्रित—उन्हींके परायण रहता है, उसकी दृष्टि उन्हींके चरणारविन्दोंपर लगी रहती है और

वह अनिर्विण्ण चित्तसे अपने नियत कर्तव्योंका—स्वधर्मका पालन करता रहता है। आधुनिक जगत्के एक महान् संत बड़े ही रोचक ढंगसे घरेलू दृष्टान्त एवं उदाहरण देकर जिज्ञासुओंको समझाया करते थे। एक बार वे कहने लगे—'चातक पक्षीके स्वभावका अनुकरण करना सीखो। जानते हो वह क्या करता है? वह जलसे लबालब भरे हुए किसी सरोवरके तीरपर बैठा रहता है। प्याससे छटपटाते रहनेपर भी वह उस सरोवरमें अपनी चोंचको डुबानातक नहीं, भूलकर एक बूँद भी जल ग्रहण नहीं करता। उस सुलभ जलसे अपनी प्यासको बुझानेकी अपेक्षा वह तड़प-तड़पकर मर जाना अच्छा समझता है। स्वातिकी एक बूँदके लिये वह ललकभरी दृष्टिसे आकाशकी ओर टकटकी लगाये रहता है और लगातार कई दिन और राततक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहता है। वर्षाके जलको छोड़कर वह और किसी जलको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका उसी जलसे अनन्य प्रेम है। जबतक दैव नहीं बरसते तबतक वह प्यास और गर्मीसे जलता रहता है परन्तु उकताता नहीं; धैर्य नहीं छोड़ता। उसके मुखपर आप विषादकी रेखा कभी नहीं देखेंगे। जब बादल पानी बरसाते हैं, तब उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है और तभी वह अपनी प्यास बुझाता है, इसके पूर्व नहीं।'

इसी प्रकार एक सच्चा और वास्तविक भक्त आन्तरिक शान्ति एवं स्थायी सन्तोषके लिये भगवान्पर ही निर्भर करेगा। भगवान्के, अपने इष्टदेवके अतिरिक्त वह किसी वस्तुको नहीं जानता। जीवनके तुच्छ भोगोंकी वह तनिक भी परवा नहीं करता। इस निरानन्द जगत्के क्षणिक सुखोंको वह तुच्छ एवं नगण्य समझकर उनका तिरस्कार करता है और अत्यन्त घृणाके साथ उन्हें पैरोंतले रौंदता है। उन वस्तुओंको जो संसारकी दृष्टिमें बहुत मूल्यवान् हैं वह धूलके समान समझता है। इस पार्थिव जगत्की कोई भी वस्तु उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकती। यहाँका धन और यश, यहाँकी प्रतिष्ठा और अधिकार—जिन्हें हमारे आधुनिक डिक्टेटर निर्बल राष्ट्रोंपर प्रभुत्व जमाने और शासन करनेके लिये इतना अधिक महत्त्व देते हैं—उसकी दृष्टिमें अत्यन्त हेय हैं। उसकी वाणीसे निरन्तर भगवन्नामका उच्चारण होता रहेगा, उसका हृदय अपने प्रियतम भगवान्से मिलनेके लिये छटपटाता रहेगा और उसकी आत्मा प्राणोंका पोषण करनेवाली सान्त्वना एवं मन-बुद्धिके अगोचर शान्तिके लिये परतम परेशको दर्दभरे शब्दोंमें पुकारती रहेगी। उसकी दृष्टिमें परतम भगवान् ही एकमात्र स्पृहणीय एवं संग्राह्य वस्तु हैं; क्योंकि कोलाहल, संघर्ष एवं विपत्तिके निर्दय प्रहारोंसे जर्जरित एवं खण्डित हुए इस जगत्में भगवान् ही एकमात्र शान्तिके आगार एवं विश्रामस्थल हैं। सच्चा भक्त सदा-सर्वदा भगवान्के सान्निध्यका अनुभव करता और उनके साथ सम्भाषण करनेका प्रयत्न करता है। काम-क्रोधादि विकार उसे पथभ्रष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु वह उनके धोखेमें न आकर उनके प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त कर लेता है और अपने सम्पूर्ण हृदयको भगवत्तत्त्वमें निविष्ट कर देता है। वह निर्भयतापूर्वक जगत्के बन्धनोंको तोड़ देता है और महामना हनुमान्की भाँति अपने प्रभुके चरणोंमें सर्वतोभावेन आत्मनिवेदन कर स्वेच्छापूर्वक निष्काम सेवा समर्पित करता है। घोर सङ्कट एवं दुःखके समय उसे अपनी असहायताका अनुभव होता है और प्रार्थनाके भावसे भावित होकर स्वाभाविक ही उसके हाथ अपने-आप बँध जाते हैं, अञ्जलि जुड़ जाती है। जब उसका इकलौता लाल, उसकी आँखोंका तारा, किसी भयानक रोगका शिकार हो जाता है और डाक्टर-वैद्य उसके बचनेकी आशा छोड़कर पल्ला झाड़ देते हैं, तब उस घोर सङ्कट और पुत्रवियोगकी आशङ्काके समय भी भगवान्का श्रद्धालु भक्त उनकी सर्वसमर्थता—शक्तिपर

विश्वास नहीं छोड़ता । अदम्य उत्साह और अडिग विश्वासके साथ वह अतिशय दीनता एवं निर्भरतापूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करता है—'प्रभो ! तुम्हारी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो । परिणाम जो कुछ भी हो, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करनेको तैयार हूँ । मैं नहीं चाहता कि मेरा शोक और कष्टसे एक अलौकिक ढंगसे छुटकारा हो । सङ्कट और दुःख सदा मेरे सामने मुँह बाये खड़े रहें, मृत्यु भले ही मुझपर आक्रमण करे और मेरे जीवनमें निराशाओंका ताँता लग जाय; किन्तु मेरे स्वामिन् ! मेरी एक अभिलाषा पूर्ण कर दो—वह यह कि मेरे चित्तसे तुम्हारी स्मृति न हटे । मैं किसी भी अवस्थामें रहूँ, मेरा चित्त तुम्हारे वात्सल्यपूर्ण प्रेम और सजगताका सदा-सर्वदा चिन्तन करता रहे ।'

उसका समर्पण इतना गहरा होता है और उसका प्रेम इतना प्रगाढ़ कि घोर दुःखके समय बड़े-से-बड़े सङ्कटमें भी उसका हृदय भगवद्भावसे भावित रहता है और भगवान्‌की सर्वग्रासिनी दयाका ही आश्रय पकड़े रहता है । वह सङ्कटको टालनेके लिये अथवा किसी लौकिक कामनाकी पूर्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि उसकी सारी कामनाएँ तो उसके विश्वासकी आगमें पहले ही जल चुकी होती हैं । गोस्वामी तुलसीदासजीके निम्नलिखित दोहेकी उसके हृदयपर गहरी छाप पड़ जाती है और उसे वह अपने दैनिक जीवनमें उतारनेकी अनवरत चेष्टा करता है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम ।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं रबि रजनी एक ठाम ॥

बाइबलमें भी इसी तत्त्वका इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—'मैं तुम्हारा भगवान् बड़ा मानी—इकलखोरा हूँ, मैं किसी दूसरेकी सत्ताको नहीं सह सकता । चाहे तुम मुझे—भगवान्‌को प्रसन्न कर लो, चाहे शैतानको । भगवान् और शैतान दोनोंकी तुम एक ही कालमें आराधना नहीं कर सकते ।'

जगत्‌के सभी महान् पैगंबरों और आचार्योंने प्रार्थनाके द्वारा ही तत्त्वज्ञान—बोधको प्राप्त किया । प्रार्थनाने ही एक बड़े अनोखे और अभिनव ढंगसे उन्हें तत्त्व-साक्षात्कार एवं पूर्णताकी प्राप्ति करायी । उनके जीवनको हम दीनता, निर्भरता एवं प्रार्थनाका एक लंबा उपाख्यान अथवा महाकाव्य कह सकते हैं । करुणा एवं प्रेमके सन्देशवाहक ईसाका ही उदाहरण लीजिये—उनपर जब कभी कोई विपत्ति आती थी, जब कभी उनकी आत्मा घबड़ाकर क्षुब्ध एवं विचलित हो उठती थी, तत्काल वे एकान्तमें जाकर मूक भाषामें अपने परम पितासे प्रार्थना करने लगते थे । वे रातों और दिनों जागते और उपवास रखते तथा सारा समय भगवान्‌के साथ गहरी बातचीतमें व्यतीत करते । भगवान् बुद्धने, जिन्हें एड्विन आर्नल्ड 'एशियाकी ज्योति' ("The Light of Asia") कहते हैं, अविरत लगन एवं अदम्य उत्साहके साथ ध्यान एवं प्रार्थनाके मार्गका अनुसरण करके ही परमतत्त्वका साक्षात्कार किया और जगत्‌की एक महान् विभूति एवं ज्योतिःस्तम्भ बन सके । कैसा दृढ़ निश्चय और अदम्य संकल्प-शक्ति थी उनमें । उनके उपदेश इतने आश्वासनपूर्ण, इतने उत्साहप्रद हैं कि वे दुर्बल, संशयग्रस्त हृदयमें भी नवीन शक्ति, नवीन स्फूर्ति एवं नवजीवनका सञ्चार करते हैं । उनके निम्नलिखित जादूभरे शब्द बार-बार मनन करने योग्य हैं—'इहासने शुष्यतु मे शरीरम् ।' 'मेरा यह शरीर चाहे सूख जाय और मेरी हड्डियाँ चूर-चूर होकर धूलमें मिल जायँ; मेरी चमड़ी, मांस और मज्जा सूखकर झड़ जायँ; परन्तु जबतक मेरी आत्मा ज्ञानके दिव्यालोकसे आलोकित न हो उठेगी, तबतक मैं अपने आसनसे तिलभर भी न हटूँगा ।'

अर्वाचीन भारतके एक महान् संत श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव भी, जो भगवत्प्राप्त महापुरुष माने जाते हैं, बालोचित सरल प्रार्थना एवं निश्छल विश्वासके द्वारा ही

जीवनके सर्वोच्च ध्येयको प्राप्त कर सके थे। वे भगवान्को 'माँ' कहकर पुकारते और आन्तरिक लालसा एवं प्रबल मनोभावोंके उद्दाम-प्रवाहके रूपमें अपने हृदयकी प्रार्थना उन्हें सुनाते। वे अत्यन्त करुण स्वरमें चिल्ला उठते—'इस नश्वर जीवनका एक दिन और बीत गया। फिर भी, ओ माँ! मैं तुम्हारा दर्शन नहीं कर पाया। नाम, यश, धन अथवा मान—इनमेंसे मैं कुछ भी नहीं चाहता। माँ, तुम कहाँ हो? जल्दी मेरे सामने प्रकट क्यों नहीं होतीं? क्या मैं इतना अधम और पामर हूँ कि तुम मेरे सामने आनेमें झिझकती हो? अथवा तुम निरी कल्पनाकी वस्तु हो और लोग व्यर्थ ही तुम्हारी अनुनय-विनय करते हैं? प्राचीन कालमें तुम अनेकों संत-महात्माओंको दर्शन देकर कृतार्थ कर चुकी हो। मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम वैसी ही कृपा मुझपर भी करो और मेरे जख्मी हृदयको शान्ति प्रदान करो। इस विशाल जगत्में तुम्हारे सिवा मेरा अपना कोई नहीं है। मुझपर दया करो।' कहा जाता है कि जब रामकृष्ण अत्यन्त अधीर हो उठे और माँके विरहमें प्राण देनेपर उतारू हो गये तब उनके नेत्रोंसे पर्दा हटा और रामकृष्णपर माँ कालीकी प्रत्यक्ष कृपा हुई। रामकृष्णने उस समयके अपने अनुभवका निम्नलिखित शब्दोंमें वर्णन किया है—

'उस समय मुझे ऐसी तीव्र वेदना हो रही थी मानो मेरे हृदयको कोई गीले तौलियेकी तरह निचोड़ रहा हो। मुझपर बड़ी बेचैनी सवार थी और मेरे मनमें यह भय घुस गया था कि शायद इस जीवनमें मुझे माँका दर्शन न बदा हो। साथ ही उनका दर्शन किये बिना जीवन भाररूप मालूम होता था और मैं अधिक देरतक उनके वियोगको न सह सका। अकस्मात् मेरी दृष्टि उस तलवारपर पड़ी, जो दीवारके सहारे लटक रही थी। जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय कर मैं पागलकी भाँति लपका और तलवारको हाथमें लेकर चाहता ही था कि अपना काम तमाम कर दूँ कि इतनेमें ही दयामयी माँ यकायक मेरे सामने प्रकट हो गयीं और मैं अचेत होकर भूमिपर गिर पड़ा। यद्यपि बाहरसे मैं सर्वथा चेतनाशून्य था किन्तु मेरे भीतर एक विलक्षण प्रकारके विशुद्ध आनन्दका अटूट प्रवाह बह रहा था और मैं माँ कालीके सजीव, स्पष्ट सान्निध्यका अनुभव कर रहा था।'

भक्तिका मार्ग सुगन्धित एवं कोमल फूलोंसे बिछा हुआ सुखमय मार्ग नहीं है। इस मार्गपर चलनेवालेके लिये सन्देह, निराशा और उत्साहकी शिथिलताके अवसर भी आते हैं। इस पथके पथिककी यात्रा सर्वथा निर्बाध एवं निष्कण्टक नहीं होती। उसकी यात्रामें एक ऐसी मंजिल भी आती है, जिसे रहस्यवादकी भाषामें 'आत्माकी अँधेरी रात' (the dark night of the soul) कहते हैं। यह वह मंजिल है, जिसमें साधकके पैर लड़खड़ाने लगते हैं और वह अपनेको धैर्यच्युत करनेवाली आपदाओं और चकनाचूर कर देनेवाली निराशाओंके भँवरमें पड़ा हुआ पाता है। उस समय उसके मनको शंकाएँ और सन्देह आ घेरते हैं। उसे किसी प्रकारकी पारमार्थिक साधनामें रस नहीं मिलता। उसकी दृष्टि दोषयुक्त और मन विद्रोही हो जाता है और स्वयं भक्तिमार्गके महत्त्वमें उसे संशय और सन्देह होने लगता है। प्रार्थना और स्तवन उसे अरण्यरोदनके समान निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं। वह भगवान्से नाराज हो जाता है और उन्हें जली-कटी सुनाने लगता है। निराशाके घोर अन्धकारमें वह यहाँतक आगे बढ़ जाता है कि भगवान्को निष्ठुरतापूर्ण कटु शब्द कहने लगता है और उनकी सभी करतूतोंको किसी कूटनीतिज्ञकी कपटभरी चालें बतलाकर उनपर दोषारोपण करने लगता है। वह खुल्लमखुल्ला यह कहने लगता है कि 'ईश्वर बड़ा ही निर्दय है, उसे आर्त मनुष्यों, दुःखों एवं कष्टोंके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। वह इतना निठुर और

हृदयहीन है कि लाख रोने-गिड़गिड़ानेपर भी उसका पत्थर-सा हृदय नहीं पसीजता। मेरा उपास्यदेव कितना अकृतज्ञ है, इस बातको बिना जाने ही उसपर भरोसा करके मैंने बड़ी भूल की है।'

महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत तुकाराम-जैसे महात्माको भी अन्धकार और विषादके इस शिकंजेमेंसे निकलना पड़ा था। घोर निराशाके क्षणोंमें वे पुकार उठते कि 'मेरे लिये तो भगवान्का अस्तित्व ही नहीं रह गया; मेरी सारी प्रार्थनाएँ उसी प्रकार बेकार हैं, जैसे पत्थरकी निर्जीव प्रतिमा अथवा प्राणहीन शरीरसे की हुई प्रार्थना निरर्थक होती है। मुझे ऐसे निष्ठुर भगवान्का भक्त कहलानेमें भी लज्जा मालूम होती है, जो इतने प्रेमसे आराधना करनेपर भी टस-से-मस नहीं होता।' परन्तु भक्त यदि सच्चा होता है तो शरद्-ऋतुके बादलोंकी भाँति उसकी यह मानसिक स्थिति अधिक दिन ठहरती नहीं। भगवान्के दिव्य धामसे जहाँ कृपाकी वायु बहने लगी कि वह तत्काल विलीन हो जाती है। भक्तकी सच्चाईकी परीक्षाके लिये—यह देखनेके लिये कि वह कितने पानीमें है—उसे दुःखोंकी आगमें जलाया जाता है। जैसे आगमें तपाये जानेसे सोनेका रंग निखर उठता है, उसी प्रकार कष्टोंकी आगसे भक्तका चरित्र और भी उज्ज्वल एवं विशुद्ध हो जाता है। चित्त निर्मल और आसक्ति प्रबल होनेपर भगवान्से की गयी प्रार्थनाका उत्तर भी अवश्य मिलता है। भगवान् सचमुच दीन एवं निरीह लोगोंकी रक्षा करते हैं। अवश्य ही यह तब होता है, जब उनका भगवान्में अनन्य एवं पूर्ण विश्वास हो जाता है। जिस समय प्रबल आँधी पक्षीके घोंसलेको उड़ा देनेके लिये उसपर प्रहार करती है उस समय माता पक्षी अपने बच्चेको बचानेके लिये दौड़ पड़ती है। उसी प्रकार भगवान्के प्रेमी भक्त जब संकटोंसे इस प्रकार घिर जाते हैं कि उनके प्राणोंपर आ बनती है, उस समय भगवान्को बरबस प्रकट होना पड़ता है।

वे ठीक ऐसे समयमें आते हैं, जब भक्तकी सारी आशाएँ व्यर्थ हो जाती हैं और जब उसे किसी दूसरी जगहसे सहायता मिलनेकी तनिक भी सम्भावना नहीं रहती। क्या हमारे शास्त्र डंकेकी चोट नहीं कहते कि भगवान् प्रेम और करुणाकी मूर्ति तथा समस्त कल्याण-गुणोंके आकर हैं? वे प्रेममय, आवेगमय और अतिशय उदार हैं। हृदयकी दर्दभरी पुकार होनेपर उनकी करुणाका बाँध टूट जाता है और जो भाग्यवान् जन अपने-आपको उनकी दयामयी रक्षामें डाल देते हैं उनकी सारी अभिलाषाओंको वे पूर्ण करते हैं। भगवान् भक्तके पास अलौकिक दृश्यों एवं नादोंके रूपमें अपने दूतको भेजते हैं और साधकको अनेकों ऐसे विलक्षण अनुभव होते हैं, जिनसे उसे उत्साह मिलता है और उसके विश्वासकी पुष्टि होती है। इस प्रकारके अतीन्द्रिय दृश्यों-को नेत्रहीन भी देख सकते हैं और उन अलौकिक शब्दोंको बहरे भी सुन सकते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में बिल्कुल ठीक कहा है—'साधकको चाहिये कि वह ध्यानका अभ्यास किसी ऐसे स्थानमें करे जहाँकी भूमि समतल और चिकनी हो, जहाँके आसपासका दृश्य नयनाभिराम हो, जहाँ नमी न हो, धूल न उड़ती हो और इतना अधिक हल्ला न होता हो कि जिससे बरबस ध्यान उस ओर खिंच जाय। धीरे-धीरे जब एकाग्रता प्रगाढ़ होने लगती है तब साधकके नेत्रोंके सामने तुषार, धूआँ, सूर्य, अग्नि, स्फटिक और चन्द्रमा आदिकी विविध आकृतियाँ प्रकट होने लगती हैं और उसे दूरसे आती हुई सितारकी मधुर झनकार अथवा घंटेका घर्घर नाद सुनायी देने लगता है।'

अन्तमें उसके इष्टदेवका तेजोमय विग्रह उसके नेत्रोंके सामने प्रकट हो जाता है और जिस प्रकार सूर्योदयके पूर्व कुहरा छिप जाता है, उसी प्रकार इष्ट-

देवका साक्षात्कार होनेपर उसके सारे शोक और सन्देह विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी सोतेसे जलका प्रवाह फूट निकले, उसी प्रकार उसके हृदयमें अकस्मात् आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है, उसे रोमाञ्च हो आता है, आनन्दके आवेगसे उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है, उसका गला रुँध जाता है और उसके हृदयके भावोंको व्यक्त करनेके लिये उसकी वाणी असमर्थ हो जाती है। इस प्रकारकी अलौकिक घटना घटनेपर भक्तको ऐसा अनुभव होता है मानो उसे एक ही क्षणमें समस्त भूमण्डलका राज्य मिल गया हो और उसके लिये जगत्में अब कुछ भी प्राप्तव्य न रह गया हो। इस अपूर्व अनुभवके बलसे उसके हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और उसके सारे बन्धन क्षणभरमें टूट जाते हैं। उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाता है। अब किसी प्रकारके विकार उसे फँसा नहीं सकते, किसी प्रकारकी कामना उसे वशीभूत नहीं कर सकती और वह जगत्में उस शेरकी भाँति निर्द्वन्द्व होकर विचरता है, जो पिंजरेको तोड़कर बाहर निकल आया हो और निर्भीक होकर शानसे यथेष्ट घूमता हो। वह भगवान्का अतिशय प्रिय हो जाता है और उसे वे आत्मवत् मानने लगते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें इसी प्रकारके अमूल्य दानकी प्रतिज्ञा करते हैं। वे कहते हैं—'जिन्होंने अपने मनको मुझमें लगा दिया है, सारे कर्मोंको मेरे अर्पण कर दिया है और जो अनन्य भक्तिके द्वारा मेरा ध्यान करते हैं, उन्हें मैं दु:ख और मृत्युके सागररूप इस संसारसे शीघ्र ही उबार लेता हूँ। जिस भक्तके कोई भी इच्छा नहीं रह गयी है, जिसका किसीके प्रति द्वेष नहीं है, जो दयालु है और जिसका चित्त प्रेमकी सनातन डोरीसे मुझमें निरन्तर जुड़ा हुआ है, वह मुझे प्यारा है।'

यदि हम पारमार्थिक जीवनमें सचमुच आगे बढ़ना चाहते हैं और भगवान्के साहचर्यका दिव्य आनन्द लूटना चाहते हैं तो हमें निरन्तर भगवान्की प्रार्थना करनी होगी। हमें इसी जीवनमें तत्त्वका साक्षात्कार करनेकी अविराम चेष्टा करनी चाहिये। एक क्षण भी उनकी स्मृतिसे खाली नहीं जाना चाहिये। जीवन थोड़ा है और समय तेजीसे भाग रहा है। प्रार्थनाकी छोटी-सी क्रिया भी महान् फल देनेवाली होती है, उससे बहुत बड़ा लाभ होता है। कठोर तपश्चर्या अथवा बाह्य क्रिया-कलापसे पाप और अज्ञानका समूल नाश नहीं हो सकता। प्रार्थनासे ही हमारा सारा मैल धुल सकता है और हमारे सारे पाप निर्मूल हो सकते हैं। शास्त्रोंमें जितने प्रकारके प्रायश्चित्त कहे गये हैं, प्रार्थना उन सबमें अधिक बलवान् और समर्थ है। प्रार्थना और भगवन्नामके उच्चारणसे डाकू और हत्यारा रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि हो गया। ये ज्वलन्त उदाहरण हमें महात्माओंके पद-चिह्नोंका अनुसरण करने और एक स्वरसे दृढ़ विश्वास एवं आशापूर्ण भरोसेके साथ निम्नलिखित वेदमन्त्रका उच्चारण करनेके लिये प्रेरित करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।'

'असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे हमें अमरताकी ओर ले जाओ।'

प्रभो! आपका कल्याणमय स्वरूप सदा-सर्वदा हमारे हृदयमन्दिरको आलोकित करता रहे।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

भोजन-व्यवस्था

पिता—केशव ! उस दिन मैं बतला रहा था कि भोजन हमारे शरीरमें किस प्रकार पचता है और किस प्रकार वह हमारे शरीरको बनाने, बढ़ाने और उसमें शक्ति पैदा करनेके हेतु काम आता है । अब आज यदि तुम सुनना चाहो तो बतलाऊँगा कि शरीरको इस प्रकार बनाने, बढ़ाने और सशक्त बनानेमें कौन और किस प्रकारका भोजन हमारे लिये सबसे अधिक उपयोगी है और उसे हमको किस प्रकार खाना चाहिये ।

केशव—जी हाँ, बताइये, मैं अवश्य सुनूँगा ।

पिता—अच्छा, तुम्हें याद है कि मैंने उस दिन कौन-कौन-सी चीजें बतलायी थीं, जिनका हमारे शरीरको भोजनसे प्राप्त होना जरूरी है ।

केशव—जी हाँ, आपने भोजनसे प्राप्त होनेवाले छः प्रकारके पदार्थ बतलाये थे । उनके नाम हैं—(१) प्रोटीन या मांसवर्धक पदार्थ; (२) बसाजातीय (३) कार्बोहाइड्रेट्स (या कार्बोज) जो तापवर्धक पदार्थ हैं; (४) खनिज या लवणजातीय पदार्थ, (५) विटामिन या प्राणपोषक पदार्थ और (६) जल ।

पिता—शाबाश ! तुम्हारी स्मरणशक्ति बहुत मजबूत है । अच्छा तो, अब यह आसानीसे समझा जा सकता है कि जिस भोजनसे हमारा शरीर इन चीजोंको अधिक-से-अधिक परिमाणमें और कम-से-कम प्रयासद्वारा ग्रहण कर सकता हो, वही भोजन हमारे लिये सबसे उत्तम कहा जायगा ।

केशव—अवश्य ।

पिता—बस, तो फिर अब इसी दृष्टिसे हम प्रत्येक खाद्य वस्तुकी जाँच करेंगे और देखेंगे कि वह हमारे भोजनकी सूचीमें कौन-सा स्थान ग्रहण कर सकती है । सबसे पहले हम उन वस्तुओंको लेंगे जिनसे हमारे शरीरको प्रोटीन प्राप्त होता है । तुम जानते हो कि प्रोटीन क्या चीज है ?

केशव—जी हाँ, इससे हमारी मांसपेशियाँ बनती हैं ।

पिता—हाँ, मांस वास्तवमें प्रोटीन ही है, चाहे वह पशु-पक्षीका मांस हो, चाहे मनुष्यका अथवा पेड़-पौधोंका हो । पशु-पक्षियोंके मांसके प्रोटीनको 'पशु-प्रोटीन' कहते हैं और पेड़-पौधोंके प्रोटीनको 'वनस्पति-प्रोटीन' कहते हैं । वनस्पति-प्रोटीनकी सबसे अधिक मात्रा मटर, मूँग, अरहर, सोयाबीन आदि द्विदल अनाजोंमें मिलती है । यह सब प्रोटीन वास्तवमें नाइट्रोजन, गंधक, फास्फरस, लोहा इत्यादि १८ प्रकारके तत्त्वोंका एक रासायनिक सम्मिश्रण है, किन्तु जिस प्रकार केवल लाल, पीले और नीले तीन ही रंगोंके मेलसे सैकड़ों प्रकारके रंगीन चित्र तैयार किये जा सकते हैं, उसी प्रकार इन अठारहों तत्त्वोंके भिन्न-भिन्न क्रम और मात्राके योगसे लाखों और करोड़ों जातिके प्रोटीन बन सकते हैं, जो एक दूसरेसे रूप, गुण और स्वभावमें बिल्कुल भिन्न हुआ करते हैं । हर एक प्राणीका प्रोटीन दूसरे प्राणीके प्रोटीनसे बिल्कुल भिन्न ही जातिका देखा जाता है । यहाँतक कि वनस्पति-प्रोटीनमें भी पालकका चौराईसे भिन्न होता है और चौराईका मटर या मूँगसे भिन्न । इस प्रकार अलग-अलग चीजोंमें अलग-अलग जातिके प्रोटीन पाये जाते हैं । हमारी पाचनेन्द्रियोंका काम यह है कि इन सब प्रोटीनोंका

विश्लेषण करके और उनके अणुओंको तोड़-फोड़कर उनके अठारहों तत्त्वोंको फिरसे मिला दें और उन्हें मानव-प्रोटीनके रूपमें बदल दें, जिससे हमारा शरीर उन्हें ग्रहण कर सके और अपनेमें मिला सके। इस कार्यमें यदि कोई तत्त्व किसी प्रोटीनमें हमारी आवश्यकता-से कम पाया गया तो वह प्रोटीन अच्छा नहीं कहा जा सकता और यदि अधिक पाया गया तो वह भी बेकार मलके रास्ते बाहर निकल जाता है।

केशव—तो सबसे उत्तम प्रोटीन कौन-सा होता है और वह किन-किन चीजोंमें पाया जाता है।

पिता—सबसे उत्तम प्रोटीन वह है जिसमें मनुष्य-मांसका प्रोटीन बननेके लिये जिन-जिन तत्त्वोंकी जरूरत होती है वे सब ठीक उसी मात्रामें मौजूद हों, जैसा वे हमारे शरीरमें पाये जाते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पशु-प्रोटीनमें सबसे उत्तम और निर्दोष है दूध और दूधसे बनी हुई चीजोंका प्रोटीन, तथा वनस्पति-प्रोटीनमें है हरे शाक—जैसे पालक और चौराईका प्रोटीन। अंडे और पशुओंके मांसका प्रोटीन भी मनुष्यके प्रोटीनसे मिलता-जुलता होता है, किन्तु वह दूधके प्रोटीनसे घटिया दरजेका होता है और उसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि वह पेटमें बहुत जल्दी सड़ने लग जाता है और उसके द्वारा यूरिक एसिड नामका ज़हर भी अधिक मात्रामें बना करता है, जिससे गुर्दोंका काम बढ़ जाता है और शरीरमें भाँति-भाँतिके भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—सब प्रकारकी वातजनित पीड़ाएँ, गठिया, एपेण्डिक्स प्रदाह (Appendicitis), कैंसर, रक्तावरोध आदिकी शिकायतें प्रायः मांसाहारियोंमें ही पैदा हुआ करती हैं। अतएव नैतिक या धार्मिक दृष्टिसे कोई न भी विचार करे तो केवल स्वास्थ्यकी ही दृष्टिसे भी मांस खाना मनुष्यके लिये किसी प्रकार भी उचित या कल्याणकारी नहीं कहा जा सकता।

केशव—लेकिन दुनियामें मांस खानेवाले तो बहुत हैं?

पिता—हाँ हैं, परन्तु उनमें जो विचारवान् लोग हैं वे धीरे-धीरे अपनी इस बुरी आदतको छोड़ते जाते हैं। शाकाहारियोंकी संख्या यूरोप और अमेरिकामें भी दिन-पर-दिन बराबर बढ़ती जा रही है। जर्मनीका सर्वेसर्वा और वर्तमान महायुद्धका मुख्य अभिनेता हर हिटलर भी शाकाहारी ही है और उसके भोजनकी सादगी सारे संसारमें प्रसिद्ध हो चुकी है। हमारी भारतीय सेनाके अधिकतर ब्राह्मण, सिक्ख और राजपूत लोगोंका आहार भी मुख्यतः केवल गेहूँ, जौ और बाजरा ही हुआ करता है, किन्तु फिर भी वे अपने मांसाहारी शत्रुओंको यूरोप और मिश्रके मैदानमें कितनी ही बार नीचा दिखाकर अपने बल और पौरुषकी धाक सारे संसारमें जमा चुके हैं। वास्तवमें मांसाहार मनुष्य-जातिके लिये सर्वथा अस्वाभाविक कार्य है। धार्मिक या नैतिक दृष्टिसे देखो, चाहे स्वास्थ्यकी दृष्टिसे निरपराध और अबोध पशुओंकी हत्या करके उनका मांस खाना मनुष्यके लिये किसी प्रकार भी कदापि उचित या स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

केशव—अच्छा तो फिर प्रोटीनकी समुचित मात्रा प्राप्त करनेके लिये हमें कौन-कौन-सी चीजें खानी चाहिये?

पिता—पहले कह तो चुका हूँ कि सबसे बढ़िया प्रोटीन दूध और दूधसे बनी हुई चीजोंमें रहा करता है। मांसका प्रोटीन दूधके प्रोटीनका मुकाबला कर ही नहीं सकता। अतएव यदि मांसाहारी लोग मांसको छोड़कर दूधका सेवन यथेष्ट मात्रामें करने लग जायँ तो उनका शरीर मांसाहारकी खराबियोंसे बचकर अधिक अच्छा बन जाय। जिनको दूध न पचता हो वे दही, मट्ठा या दूधका छेना खा सकते हैं। इनमें भी वही प्रोटीन है जो दूधमें है। साथमें यदि सेम,

मटर, सोयाबीन, दाल अथवा पालक, बथुआ आदिके हरे साग भी खाये जायँ तो प्रोटीनकी कमी शरीरमें कभी और किसी प्रकार भी नहीं पायी जा सकती।

केशव—अच्छा, अब बसाजातीय पदार्थ क्या हैं ? और कैसे प्राप्त हो सकते हैं, वह भी बतलाइये।

पिता—हाँ, सुनो। बसाकी भी दो किस्में होती हैं (१) पशु-बसा—जैसे जानवरोंकी चर्बी अथवा घी, मक्खन इत्यादि और (२) वनस्पति-बसा—जैसे तिल, सरसों, अलसी, मूँगफली आदिका तेल इत्यादि। बसा और कार्बोज शरीरमें गर्मी या ताप पैदा करनेके लिये एक प्रकारसे ईंधनका काम देते हैं और इन्हींसे शरीरको शक्ति तथा स्फूर्ति भी मिलती है। जिस समय भोजनमें बसाका भाग आवश्यकतासे अधिक हो जाता है तो वह शरीरमें चर्बीके रूपमें इकट्ठा होता रहता है और यदि वह बहुत ही अधिक मात्रामें न इकट्ठा हो जाय, तो उससे शरीरका कल्याण ही होता है, क्योंकि इससे न केवल शरीरका बाहरी रूप गोलवार और सुडौल दीखता है, बल्कि भीतरके कई कोमल अङ्ग जैसे आँत, गुर्दे इत्यादि भी चर्बीकी हल्की पर्त चढ़ी रहनेके कारण सर्दी-गर्मीके प्रभावसे बचे रहते हैं। साथ ही इनपर राई, लाल मिर्च आदि तेज मसालोंका भी विशेष हानिकारी प्रभाव नहीं पड़ने पाता। इसीसे किसी-किसी प्रान्तमें लाल मिर्चका दोष दूर करनेके लिये लोग उसके साथ अधिक घीका प्रयोग करते हैं। बसाके अभावमें तेज मसाले आँतोंकी दीवारमें प्रदाह उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु उनके साथ यदि घी या मक्खन खाया जाय तो उनकी तेजी कम हो जाती है। लेकिन याद रहे कि शरीरमें बहुत अधिक चर्बीका जमा होना भी अच्छा नहीं है, क्योंकि उससे भीतरी यन्त्रोंके काममें बड़ी बाधा पहुँचती है और शरीर बिल्कुल सुस्त, ढीला, मोटा और बेढंगा बन जाता है। जिन लोगोंके शरीरमें चर्बी अत्यधिक बढ़ गयी हो उन्हें सब प्रकारकी चिकनाईवाले पदार्थोंसे परहेज करना चाहिये और भोजनमें फल तथा शाककी मात्रा काफी बढ़ा देनी चाहिये। साथ ही कुछ शारीरिक परिश्रम भी बढ़ा देना चाहिये। इससे शरीरकी फालतू चर्बी छँट जायगी और शरीर सुडौल तथा स्वस्थ बन जायगा।

केशव—क्या प्रोटीनकी तरह बसाजातीय पदार्थ भी उत्तम, मध्यम आदि श्रेणीमें विभाजित किये जा सकते हैं ?

पिता—हाँ अवश्य। सबसे ऊँची श्रेणीमें हम मक्खन, घी आदिको रख सकते हैं क्योंकि इनमें विटामिन ए (A) और डी (D) की मात्रा बहुत अधिक रहती हैं। इसके बाद नारियलके तेलका नम्बर आता है, क्योंकि यह अन्य तेलोंकी अपेक्षा अधिक सुपाच्य होता है और इसको हमारा शरीर अधिक सरलताके साथ ग्रहण कर सकता है। तीसरी श्रेणीमें हम मूँगफलीके तेलको रख सकते हैं और सरसों, तिल तथा और दूसरे तेलोंको हम चौथी या अन्तिम श्रेणीमें रख सकते हैं। हमारे यहाँ बाजारोंमें आजकल जो मक्खन या घी मिलता है वह बिल्कुल शुद्ध और असली बहुत कम होता है। ज्यादातर उसमें मिलावट ही रहती है। विशेषकर जबसे वनस्पति घीका प्रचार हुआ तबसे तो यह मिलावटकी मात्रा और भी बढ़ गयी। किन्तु फिर भी जैसा कुछ वह मिलता है उसका भी दाम इतना महँगा पड़ता है कि गरीब भारतीयोंकी समाईसे वह बाहर है। इसलिये घी और मक्खनका व्यवहार यहाँ गरीबोंमें प्रायः बिल्कुल ही नहीं किया जाता और तेलका व्यवहार भी यद्यपि दक्षिण भारतमें (विशेषतः मूँगफलीका तेल) बहुत ज्यादा प्रचलित है किन्तु उत्तर भारतमें वह अच्छी दृष्टिसे नहीं देखा जाता। उसके

विरुद्ध यह गलत धारणा फैली हुई है कि वह हमारे शरीरको हानि पहुँचाता है। लेकिन याद रहे कि तेल भी घीके समान न सही तो भी काफी लाभदायक और पौष्टिक पदार्थ है और जहाँ घी न मिले वहाँ इसीका सेवन करना चाहिये। साथ ही ताजे हरे पत्तीवाले शाक तथा कार्बोज या माड़ी जातिवाले पदार्थ भी खाना न भूलना चाहिये, क्योंकि इनसे ही तेल और घी-के पचनेमें सहायता मिलती है।

केशव—अच्छा, कार्बोज या माड़ी जातिकी वस्तुएँ कौन-कौन-सी हैं?

पिता—गुड़, चीनी, शहद, अरारूट, साबूदाना इत्यादि कार्बोजके ही उदाहरण हैं। आलू, शकरकन्द, चावल, जौ आदिमें भी इसकी मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। भोजनके समय इसकी पाचन-क्रिया मुखसे ही आरम्भ होती है। मुखकी लारके साथ मिलकर इसमें एक प्रकारका रासायनिक परिवर्तन होने लगता है, जिससे यह शर्कराका रूप धारण कर लेता है और फिर पेटमें पहुँचकर आसानीसे पच जाता है। शरीरमें बसाकी तरह यह भी ईंधनका काम देता है और हमारे अंदर गर्मी पैदा करके शक्ति तथा स्फूर्ति बढ़ाता है। दूध और सब प्रकारके मीठे फलोंमें भी चीनीका अंश मौजूद रहता है, जो गन्नेकी चीनीसे कहीं ज्यादा अच्छा और सुपाच्य हुआ करता है। चीनी तथा सब प्रकारके कार्बोज या माड़ीको पचानेके लिये विटामिन बी (B) का होना बहुत जरूरी है, किन्तु गन्नेकी चीनी या मिश्रीमें किसी प्रकारका भी विटामिन नहीं पाया जाता। यही कारण है कि जो लोग अधिक मिठाई या चीनी खाया करते हैं उनका पाचन खराब हो जाया करता है, और उन्हें अपच, मन्दाग्नि, अतिसार, पेचिश आदिकी शिकायतें पैदा हो जाती हैं। कभी-कभी आँतोंको इससे इतनी गहरी हानि पहुँच जाती है कि सारा जीवन भारस्वरूप बन जाता है। अस्तु, चीनी और मिठाईकी अपेक्षा यदि दूध, फल और मेवे खाये जायँ तो वे अधिक लाभदायक होंगे। अनाजोंका श्वेतसार भी वास्तवमें चीनी ही है और उसके द्वारा भी यह आवश्यकता बहुत अच्छी तरह पूरी हो जाती है। गन्नेकी चीनीसे ये सब चीजें ज्यादा अच्छी और सुपाच्य होती हैं, क्योंकि एक तो इनमें आवश्यक विटामिन मौजूद रहते हैं और दूसरे कुछ प्रोटीन, लवण तथा बसा आदि भी पाये जाते हैं। अतएव शरीरके लिये कार्बोजका भाग चीनीसे लेनेके बजाय उपर्युक्त चीजोंसे लेना ज्यादा उपयोगी है। शहद भी इस दृष्टिसे बड़ी ही उपयोगी चीज है क्योंकि वह एक प्रकारसे पहलेहीसे पचा-पचाया हुआ भोजन है और पेटमें पहुँचते ही सीधे खूनमें सोख लिया जाता है।

केशव—अच्छा इसे तो समझ लिया। अब खनिज या लवणजातीय पदार्थ क्या हैं, उन्हें भी बता दीजिये।

पिता—ये कई प्रकारके क्षार हैं जो प्रोटीनकी तरह हमारे शरीरकी बनावटमें काम आते हैं। दाँतों और हड्डियोंकी बनावटमें प्रायः दो तिहाई भाग इन्हीं क्षारोंका रहा करता है जिनमें चूनेका क्षार (Calcium) सर्व-प्रधान है। शेष एक तिहाई भाग प्रोटीनका होता है। ये सब क्षार मुख्यतः हमें शाक-तरकारियोंसे तथा नमक-से प्राप्त होते हैं। साथ ही फल, दूध और अनाज आदिमें भी इनकी बहुत कुछ मात्रा रहती है। अनाजों-में क्षारका भाग अधिकतर उनके छिलकोंमें ही रहा करता है किन्तु ये छिलके मिलोंकी पिसाईमें निकालकर अलग कर दिये जाते हैं। गेहूँमें लोहा, फास्फरस, मेग्नी-शियम और पोटेशियम नामक क्षार मौजूद रहते हैं, किन्तु ये सब चोकरमें ही पाये जाते हैं, जिसे हमलोग छानकर आटेसे अलग कर दिया करते हैं। इस प्रकार

हम गेहूँका एक बहुमूल्य अंश नित्य फेंक देते हैं। हमें चाहिये कि सदा चोकरसहित आटेकी रोटियाँ खाया करें। छने हुए आटेसे बेछना हुआ आटा कहीं ज्यादा पुष्टिकर और स्वास्थ्यदायक होता है।

दूधमें लोहे और ताँबेको छोड़कर प्रायः हर एक प्रकारके आवश्यक क्षार उचित मात्रामें मौजूद रहते हैं। और चूने (Calcium) का अंश तो उसमें प्रधान रूपसे पाया जाता है। अतएव बढ़ते हुए बच्चोंके लिये दूध एक अत्यन्त आवश्यक भोजन है, क्योंकि उनकी हड्डियोंके बनने और बढ़नेके लिये चूनेका अंश बहुत जरूरी है और यह दूधसे जितनी अच्छी तरह प्राप्त हो सकता है उतना किसी और चीजसे नहीं। एक सेर दूधमें करीब एक माशा चूना मौजूद रहता है। इसके अतिरिक्त शाक-तरकारियोंमें भी प्रायः सभी प्रकारके क्षार यथेष्ट मात्रामें मौजूद रहते हैं। विशेषकर हरे और पत्तीदार शाकमें ताँबे और लोहेका अंश मुख्य रूपसे पाया जाता है। लोहेकी आवश्यकता हमारे खूनकी बनावटमें मुख्य रूपसे रहा करती है। खूनके लाल कण, जिनके कारण खूनका रंग लाल दिखायी देता है, मुख्यतः लोहेसे ही बनते हैं। ये लाल कण आक्सीजन-को हमारे श्वासकी वायुसे खींचकर सम्पूर्ण शरीरके कोषाणुओं (cells) में पहुँचाया करते हैं और कोषाणुके तमाम विकारोंको जलानेमें सहायता देते हैं। साथ ही भोजनका पचा हुआ रस भी, जो खूनमें पहुँचता है इन्हीं लाल कणोंकी सहायतासे नित्य आक्सीजनद्वारा जलाया जाता है और इस प्रकार शरीरके अंदर गर्मी, शक्ति और स्फूर्ति पैदा करनेका काम किया करता है। जिन लोगोंके भोजनमें लोहेका अंश पर्याप्त रूपसे नहीं रहता, उनके खूनमें लाल कणोंका बनना रुक जाता है और उन्हें खूनकी कमी या 'रक्ताल्पता' (anaemia) का रोग आ घेरता है। ऐसे लोगोंको चाहिये कि अन्य पौष्टिक और हल्के भोजनके साथ-ही-साथ पालक, बथुआ आदि हरे और पत्तीदार शाकका सेवन भी आरम्भ कर दें। ताँबा भी लोहेको रक्तके निर्माणमें सहायता दिया करता है। बिना ताँबेकी सहायताके लोहा अनपचा-सा रहकर मलके साथ बाहर निकल जाता है और शरीरका कोई उपकार नहीं कर सकता।

केशव—अच्छा, अन्य प्रकारके लवणोंकी कमी-बेशीसे स्वास्थ्यपर क्या प्रभाव पड़ता है?

पिता—लवणोंकी कमी या अभावसे शरीरमें भाँति-भाँतिके रोग हो जाया करते हैं, जैसे देहमें खुजली, दाँत और हड्डियोंके रोग, खूनकी खराबी, अपच, मन्दाग्नि, वातरोग, हृदयकी दुर्बलता, घेघा इत्यादि। ज़्यादा लवण खानेसे भी सूजन आदि रोग पैदा हो जाते हैं। वास्तवमें शरीरके स्वास्थ्यके लिये सब प्रकारके लवणोंका परस्पर ठीक अनुपातमें मौजूद रहना बहुत जरूरी है। यदि इनके अनुपातमें कुछ भी कमी-बेशी हुई तो शरीर रोगी हो जायगा। बायोकेमिक (Biochemic) चिकित्सा-प्रणालीका निर्माण भी बस इसी एक सिद्धान्तको लेकर किया गया है। इस प्रणालीके डाक्टर लोग हर प्रकारके रोगके लिये बारह मुख्य-मुख्य लवणोंमेंसे जब जिस लवणके अनुपातमें कमी जान पड़ती है उस समय उसे ही खिलाकर रोगीको अच्छा कर दिया करते हैं।

केशव—लेकिन हमारे अंदर किसी लवणके अनुपातमें कमी-बेशी न होने पावे इसके लिये क्या उपाय है?

पिता—विशेषज्ञोंने इसके लिये बतलाया है कि यदि हम अपने भोजनमें नित्य चोकरदार आटेकी रोटी और ताजी हरी तरकारियाँ एवं पत्तीदार शाक शामिल रक्खें तथा आध सेर दूध भी रोज पी लिया करें तो फिर किसी लवणके अनुपातमें कमी न पड़े। दाल और तरकारियों-में जो नमक ऊपरसे डाला जाता है वह भी शरीरके लिये आवश्यक है। इससे खून सदा शुद्ध रहता है

और नसोंमें पानीका दौरा ठीक होता है। किन्तु अधिक नमक खाना हानिकारी है। मुख्यतः चावल खानेवालोंको तो नमक कम ही खाना चाहिये। साथ ही जिन लोगोंको किसी प्रकार गुर्देका रोग हो—जैसे पथरी, बहुमूत्र, गठिया इत्यादि, उन्हें भी नमक खाना हानिकारी होगा। शेष साधारण लोगोंके लिये रोज केवल एक चुटकी नमक काफी होता है।

केशव—लवणोंका हाल तो मालूम हो गया। अब छः प्रकारके विटामिन क्या होते हैं, उन्हें भी बतलाइये।

पिता—विटामिन, जैसा कि मैं उस दिन बतला चुका हूँ, एक प्रकारके प्राण-पोषक तत्त्व हैं जिनके द्वारा शरीरके भिन्न-भिन्न भागोंको भोजनसे पोषण पहुँचता है। इनके अस्तित्वका पता अभी कुछ ही समय हुए, वैज्ञानिकोंको लगा है। तीस-पैंतीस वर्ष पहले इनके सम्बन्धमें कोई कुछ नहीं जानता था। उस समय लोगोंका यह खयाल था कि शारीरिक पोषणके लिये केवल प्रोटीन, बसा, कार्बोज तथा लवणजातीय पदार्थ ही आवश्यक होते हैं। अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। निदान लगभग तीस वर्ष हुए कुछ वैज्ञानिकोंने इन चारों वस्तुओंको निश्चित मात्रामें अलगसे मिलाकर एक कृत्रिम भोजन तैयार किया और उसे चूहे, कबूतर आदि कुछ जानवरोंको खिलाकर देखा। शीघ्र ही ये जानवर बीमार हो गये और मरने लगे। किन्तु ज्यों ही उन्हें स्वाभाविक भोजन दिया गया कि वे फिर चंगे हो गये। इस प्रकार जब-जब उन्हें कृत्रिम भोजन दिया जाता तब-तब वे बीमार पड़ जाते और ज्यों ही स्वाभाविक भोजन दिया जाने लगता त्यों ही वे अच्छे हो जाते। अतएव सिद्ध हुआ कि स्वाभाविक भोजनमें उपर्युक्त चारों पदार्थोंके अतिरिक्त कुछ और ऐसी वस्तु या वस्तुएँ मौजूद हैं जो जीवधारियोंके शरीर और स्वास्थ्यके लिये आवश्यक हैं। अस्तु, लन्दनके एक डाक्टरने* इस वस्तुकी उपस्थिति गेहूँ आदि कई अनाजोंके चोकरमें तथा सागमें प्रयोगोंद्वारा सिद्ध की और उसका नाम विटामिन (Vitamin) रक्खा। कुछ दिनों बाद एक दूसरे डाक्टरने† एक दूसरे प्रकारका ऐसा ही तत्त्व मक्खनमें सिद्ध किया और उसका नाम 'विटामिन ए' रक्खा। अनाजवाला तत्त्व अब 'विटामिन बी' के नामसे प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार नित्य नये-नये विटामिनोंकी खोज होने लगी और उनके नाम अंग्रेजी वर्णमालाके अक्षरोंपर 'विटामिन ए', 'विटामिन बी', 'विटामिन सी' आदि रक्खे जाने लगे। कुल मिलाकर अबतक छः प्रकारके विटामिनोंका पता लग चुका है। ये सब विटामिन खाद्य वस्तुओंसे शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके लिये जरूरी तत्त्व खींचकर उनका पोषण किया करते हैं। इनके अभावमें वे अंग रोगी और कमजोर हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'विटामिन ए' हमारे भोजनमेंसे जरूरी तत्त्वोंको खींचकर हमारे नेत्र, फेफड़ों और पाकाशयमें पहुँचाते हैं, जिससे उन-उन अंगोंकी पुष्टि होती है और उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। 'विटामिन ए' की अनुपस्थितिमें शरीरकी बाढ़ रुक जाती है और आँखोंमें एक विशेष प्रकारका रोग (Xerophthalmia) हो जाता है। 'विटामिन बी' की सहायतासे हमारा मस्तिष्क, हृदय, मांसपेशियाँ और आँतें मजबूत होती हैं और इसके अभावमें एक दूसरे प्रकारकी बीमारी हो जाती है जिसे 'बेरी-बेरी' (Beri-Beri) का रोग कहते हैं। इसी प्रकार 'विटामिन सी' हमारे रक्तको शुद्ध रखता है और इसके अभावमें 'स्कर्वी' (Scurvy) नामका रोग हो जाता है। 'विटामिन डी' हमारी हड्डियोंकी रचनामें सहायता करता है और इसके अभावमें 'अस्थि-विकृति' (Rickets) का रोग हो जाता है; 'विटामिन ई' सन्तानोत्पादनकी

* Dr. Casimer Funk.

† Dr. E. V. Mccollum.

शक्ति देता है और 'विटामिन जी' हमारी चमड़ीको नीरोग रखता है। इसके अभावमें 'पेलग्रा' (Pellagra) नामका रोग पैदा हो जाता है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि ये सभी प्रकारके विटामिन सूर्यके प्रकाशसे जन्म लेते हैं और वहींसे फल, अनाज तथा शाकोंमें पहुँच जाया करते हैं। इलाहाबादके डाक्टर नीलरत्नधरकी तो राय है कि एकमात्र 'विटामिन सी' को छोड़कर शेष सभी प्रकारके विटामिनोंकी कमी केवल सूर्यके प्रकाश अर्थात् घाम-सेवन करनेसे ही पूरी की जा सकती है।

केशव—किन-किन खाद्य वस्तुओंमें कौन-कौन-से विटामिन पाये जाते हैं?

पिता—'विटामिन ए', जैसा कि पहले कह चुके हैं, मुख्यतः मक्खनमें सबसे ज्यादा पाये जाते हैं। दूध और पत्तीदार शाकोंमें, (जैसे पालक, करमकल्ला आदिमें) भी इनकी प्रचुर मात्रा पायी जाती है। 'विटामिन बी' गेहूँके चोकर, चावलके कने तथा पत्तीदार शाकोंमें सबसे ज्यादा मौजूद रहते हैं। 'विटामिन सी' अधिकतर संतरे, नींबू तथा नारंगीकी जातिवाले फलोंमें पाये जाते हैं। 'विटामिन डी' मक्खनमें 'विटामिन ए' के साथ-ही-साथ मौजूद रहते हैं। 'विटामिन ई' गेहूँ, हरी पत्तियों तथा बिनौले इत्यादि कुछ वनस्पति जातीय तेलोंमें मिलते हैं। संक्षेपसे इन तमाम विटामिनोंके बारेमें तीन मुख्य-मुख्य बातें याद रखना जरूरी है—

(१) प्रथम तो यह कि एक ही खाद्य वस्तुमें सब प्रकारके विटामिन नहीं मिला करते, कुछमें विटामिन 'ए' और 'डी' मिलता है, तो कुछमें विटामिन 'बी', 'सी' या 'जी' मिलता है। हाँ, दूधमें अवश्य प्रायः सभी प्रकारके विटामिन एक साथ पाये जाते हैं।

(२) शरीरके लिये विटामिनोंकी बहुत थोड़ी मात्रा आवश्यक हुआ करती है, किन्तु होती है आवश्यकता सभी प्रकारके विटामिनोंकी।

(३) सब प्रकारके विटामिन प्रायः ताजी, हरी वस्तुओंमें और उनकी स्वाभाविक अवस्थामें ही पाये जाते हैं। वस्तुओंको उबालने, सुखाने, गरम करने, या मसालोंके मेलसे रख छोड़नेमें बहुत-से विटामिन नष्ट हो जाया करते हैं। प्राचीन कालमें लोगोंका भोजन अत्यन्त सादा और स्वाभाविक ढंगका हुआ करता था। इसलिये मालूम न रहनेपर भी उस समय उनके शरीरको सब प्रकारके विटामिन प्राप्त होते रहते थे। किन्तु जबसे हमारी खूराकमें कृत्रिमताकी वृद्धि होने लगी तभी-से उसमें सब प्रकारके विटामिनोंका भी अभाव होने लगा और भाँति-भाँतिके रोग हमारे शरीरमें घर करने लगे। पहले हमारे यहाँ इतनी घनी बस्तियाँ न थीं, खुले हुए देहातोंमें रहना था, जाँतेका पिसा आटा खाते थे, हाथका कुटा चावल खाते थे, दूध, घी और मक्खन घरमें ही पैदा होता था, खेतोंसे नित्य ताजी तरकारियाँ आती थीं और ऋतुके तमाम ताजे फल भी हमें प्राप्त थे। मिठासके लिये गुड़ और शक्कर भी हम लोग घरका ही बना खाया करते थे; किन्तु अब घने शहरोंके बीच तंग गलियोंमें रहना होता है, मिलोंका पिसा आटा, मशीनका कुटा चावल, कारखानेकी बनी सफेद चीनी, सालोंका रक्खा डब्बोंका सुरक्षित फल, मक्खन और दूध तथा इनके साथ दूषित वनस्पति घी खानेको मिलता है। फिर यदि हमारे भोजनमें विटामिनों-का अकाल हो और हम भाँति-भाँतिके रोगोंके शिकार बने रहें तो आश्चर्य ही क्या है। अस्तु, यदि अधिक झंझटमें न पड़कर अब भी हम अपना खान-पान पहले-हीकी तरह सादा और स्वाभाविक बनाये रहें तो फिर विटामिनोंके बारेमें अधिक चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं।

भगवन्नाम-जपकी सूचना और लोककल्याणके लिये पुनः अपील

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

अबकी बार भी सदाकी तरह दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। सूचना निकलनेमें कुछ देर हो गयी थी, इससे अनुमान था कि इस बार जप शायद कम होगा परन्तु भगवान्‌की कृपासे दस करोड़की जगह पचास करोड़ दस लाख सत्तर हजार नौ सौ (५०१०७०९००) मन्त्रोंका जाप हो गया है। अबतक ५५१ स्थानोंकी सूचनाएँ नोट हुई हैं, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं। जप करने-करानेवाले महानुभावों तथा बहिनोंके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। **समय बहुत भयानक है। भगवन्नाम ही परम साधन है। इससे कल्याणके सभी पाठकोंसे पुनः अपील की जाती है कि इस बार विशेष प्रयत्न करके आगामी देवोत्थानी एकादशी कार्तिक शु० ११ तक एक अरब मन्त्रोंका जप करें और करावें। इससे उनका और जगत्‌का महान् कल्याण होगा। सूचना भेजनी चाहिये। इस बार जहाँ-जहाँसे सूचनाएँ आयी हैं, उन स्थानोंके नाम ये हैं—**

अकबरपुर, अगवानपुर, अड़ास पो. आनन्द, अण्डा पो. कौंच, अन्धेरी, अनन्तपुर, अनन्तनाग, अपहर, अमरपुर, अमरावती, अमलनेर, अमृतसर, अमोद, अभौत पो. पिण्डरा, अम्बाला छावनी, अम्बागढ़, अम्बाबाय, अम्बाह, अल्मोड़ा, अल्लेप्पे, अलवर, अलीगढ़, अथोगी पो. अमवा, अहमद-नगर, अहमदाबाद, आकोट, आकोला, आगरा, आजमगढ़, आनन्दपुर कालू पो. जोधपुर, आनन्दपुरा पो. बहादुरपुर, आबूरोड, आर्बागल पो. सूरजगढ़, आमरेली, आमलजर, आलमपुरा पो. फतेहाबाद, आवराद पो. खलीखेड, इन्दौर, इलाहाबाद, ईडर, उदनाबाद पो. गिरीडीह, उदयनगर, उदयपुर, उमराला, उमरेठ, उलाव, एखलासपुर पो. भभुआ, एरोड़, ओरछा, अंकलेश्वर, अंकोला, आँव पो. मगरादर, कच्छ-मांडवी, कच्छ-भुज, कटौना पो. रामपुर, कयदवानी, कदमकुआ, करमसद, करनाल, कराची, कराढ़, कराड़खेड़ा पो. पिछौर, करौलीरोड, कलकत्ता, कलोल, कवंत, कसीमपुर, कसरावाँ, कहलगाँव, काँकर, काँकरोली, काँकेर, काठमाँडू, कानके, कानपुर, कामठी, कालूचक पो. बिहपुर, कासर, कासिमपुर, किला रामकौर, काश्मीर, कुमारमुंडा, कुराली, कुंडूपुर, कुन्दा पो. प्रतापपुर, केज, केटा, कैराना, कैलगढ़, कोकिलामारी, कोटडीहरदा पो. गुलाबपुरा, कोठा, कोठारी, कोठिया पो. लखीमपुर, कोडीनार, कोडगल, कोप्पल पो. हैदराबाद, कोपरगाँव, कोसमी, कोहाट, खगौल, खजुरड़ा, खन्ती पो. लोरमी, खम्भात, खंभालिया, खरेड़ा, खलिया-पाली पो. गोरपाली, खवासपुर, खितौली-पट्टी माली पो. थल, खेलारी, खोरीपाकर पो. बलिया, गगवाना पो. लाडपुरा, गडोटा, गन्धवानी, गया, गरगडीमझी, गरीफा, गर्वा, गंगापुर टोका, गिरवाँ, गीताश्रम, गुजरात, गुड़गाँवा, गुडीवडा, गुरेह, गुलबर्गा, गुलरिया पो. मीरगंज, गुन्दी आहनी, गेया, गोधरा, गोनपुरा पो. चण्डी, गोरखपुर, गोराजू, गोहद, घुमनी सिकन्दरपुर पो. महासीर, घोरावाड़ी, चकमका पो. चोपड़ा, चकिया, चन्देरी, चलयाणा, चाकोद, चारवू, चिन्नामनूर, चिरियाँ, चीतणियाँ शेरी, चोपता जखणी, चौमूँ, चौराई पो. विधनू, चौवटीया, छतवाँ कलाँ, छापरा भाठा, छितौनी, छियाम, जगाधरी, जनकपुरा पो. मन्दसौर, जबलपुर, जमालपुर, जयपुर, जरसाड़, जरीडीह बाजार पो. बोकारो, जलगाँव, जलालाबाद, जसपालों, जाफराबाद, जामनगर, जामने, जासो, जुसरी, जुसा पो. संजेलि, जोधपुर, जोशीमठ, जोहटा, झखरावाँ पो. सिघौली, झगरपुर पो. बारा, झगड़िया, झड़गाँव पो. खनस्यूँ, झरिया, झाँझमेर, झाँसी, टांडामस्त, टेटिया पो. हवेली खरगपुर, टेहटा, ठासर, डभोई, डुनसी कट्टी पो. किट्टूर, डुमरिया खुर्द पो. नयागाँव, डेरा नत्थू पो. नसीराबाद, डेहरीवाला, डौंडी पो. गुहवन, डेहरी पो. गन्धवानी, तलोदरा, तांदुर, तुलसीपुर, तेरंगा, थासरा, दलसिंहराय, दामोदरपुर, दासूड़ी पो. बीकानेर, दार्लपूड़ी पो. ऐटीकोपोका, दिनदोरी, दिल्ली, दिलीपनगर पो. कसमा, दुमका, दुल्लापुर पो. कुंडा, देवगाँव पो. केलिया, देवास सीनियर, देहगाँव, दोड़ाइंचा, धतियाना पो. गोमावाँ, धरनाओड़ा, धरमराय, धरमशाला, धराउन पो. मखदुमपुर, धामपुर, धार, धुधुआ पो. बड़का डुमरा, धोराजी, धौलपुर, नड़ियाद, नजीबाबाद, नन्दबाई, नवाबगंज, नवीनगर कटेसर पो. सीतापुर, नरवल, नरवाणा, नलापुर, नवसारी, नवादा, नसीराबाद, नहान, नागपुर, नागरपारकर, नागौर, नाथद्वारा, नादो, नानात, नापासर,

नारायणपुर पो. हुसेरन, नासिक, नुनहड़, नूरपुर, नेसड़ा, नैनीताल पखौर पो. बीरसिंह ड्योढ़ी, नैरोबी (केनिया), पटना, पटोरी, पडवाँकलाँ पो. मुचान कोटली, पट्टा नया पो. जैनाला, परतवारा, परभणी, पहासू, पंजवारा, प्रतापगढ़, पाटली, पामली पो. सेमरी हरचंद सोहागपुर, पालीपाद, पाँचू, पिचौरा, पिलखना, पीपरझरी हट्टा, पीपरिया, पीपलरावा पो. सोनेकाछ, पुरकाजी, पुरी, पुवायाँ, पूर्णियाँ, पूना, पेटलाद, पेंठ, पेंडरा, पोखरी पो. गंगोलीहाट, पोण-कालीबंदर, फतेहपुर, फतेहाबाद, फरीदकोट, फलभरा पो. बांकल, फाफदार पो. मुरार, फुलखार, फुल्लापुर पो. कुंडा, बगड़, बगड़ेगा, बगरहट्टी पो. सुम्भा ड्योढ़ी, बंगलौर, बजरंगगढ़ पो. बानपुर, बघौल, बड़ेगाँव, बड़ोद, बड़ोदा, बदनावर, बदलपुरा, बरवड़ा, बदायूँ, बदौसा, बनखंडी, बनहल पो. धूधूचक, बन्नापुर पो. बघौली, बनारस, बनारी पो. जांजगिर, बम्बई, बरवाडीह पो. कोलेबीरा, बरीद, बरेली, बलरामपुर, बलौर पो. मनीगाछी, बस्ती, बसेड़ी, बहपुरा, बानीपरा पो. सूरत, बालकमऊ, बालसमुंद, बाकीसाणा, बालौन, बांटवाँ, बाँदा, बाम्बर्डे, बिछावाँ पो. सुल्तानगंज, बिजनौर, बिरधूभाई पो. कमसीन, बीदासर, बीना-इटावा, बुध पो. महमूदकोट, बुधगाँव, बुरहानपुर, बुलन्दशहर, बुलसर, बूढ़ादाना, बेगमाबाद, बेलगाँव, बेलव पो. शमशेरनगर, बैर, बोलाई पो. गुलाना, भटनागर पो. परगनापोहरी, भड़ियाहू, भड़ौंच, भभुआ, भाटगर, भाटापारा, भावनगर, भिलवाड़ी, भिवानी, भीकनगाँव, भुसावल, भेड़वन पो. सारंगढ़, भेलू, भैंसा पो. कनकी, भोमनी, भोरंदा पो. पाटन, भोहाड़ी, मखतल, मजनी खेड़ी पो. रूनीजा, मझौल, मण्डला, मथुरा, मदराक पो. शाहपुर, मद्रास, मधुकर चक पो. बिहारीगंज, मधुवन, मन्दसौर, मनपुरा (आगरा), मनपुरा पो. करेरा, मनाण, मनासा, मनिगाँव पो. किशनी, मनी मजरा, मल्ही पट्टी, मरहमतनगर, महमूदाबाद, मलकापुर, मल्लेश्वरम्, मसीहाबाद, महत्पुर, महासमुन्द, महिसारी, महुवा, महोबा, मानिकपुर बिस्सू, मारवाड़ जंक्शन, मालवाला देवड़ी, मालसर, मालाड, मालीपुर, मालेगाँव, मासी पो. औमाली, माहीकाँटा, मियाँवाली, मिर्जापुर पो. बहरियाबाद, मिरजापुर, मीरपुर खासा, मुक्तापुर, मुक्तेश्वर, मुजफ्फरपुर, मुजफ्फरनगर, मुनीमपुर पो. टिकैतगंज, मुरादाबाद, मुल्तान, मुरैना, मुहम्मदनगर पो. बखेरा, मूँदी, मेरठ, मेलमंगूहर, मेहसाणा, मेंदरा पो. अखनिया, मैनपुरी, मैमनसिंह, मोखुन्दा पो. रायपुर, मोछ पो. तरवाटपुर, मोरवी, मोहगाँव खुर्द पो. लखनादौन, मौतिहा पो. सैदाबाद, रणावर, रतड़िया, रतनगढ़, रत्नोद, रानीखेत, रामपुर, रामपुरा, रणावर, रामसदन पो. खुराई, रावलपिंडी, रीवाँ, रुठिआई, रुड़की, रुपौली पो. चोपड़ा रामनगर, रोसू पो. नोरवा, रौनाही, लक्ष्मणगढ़, लखनऊ, लखीमपुर खीरी, ललाना, लश्कर, लहरपुर, लहेरियासराय, लालपुरवाँ, लाहौर, लिगाड़िया पो. अम्बाह, लुधियाना, लोहना पो. ताकुला, वाघोड़िया, वघौल, वरोरा, वाधवान कैंप, वाधवान सीटी, वार, वासीखेत पो. गनाई गंगोली, वांकल, वांकानेर, विट्ठलगढ़, विजगापट्टम, विजापुर, विनुकोंडा, वीनागंज, वीरमगाँव, वीसनपुरा, वेओला, वेरावल, वेंगुर्ला, वृन्दावन, शाम्हो, शाहजहाँपुर, शिकारपुर, शिराका, शिवरीनारायण, शिवसागर, शेरपुरकलाँ पो. कुरेसर, शेंदुर्णी, शोरापुर पो. यादगीर, शोलापुर, स्यालकोट, सक्खर, सकरौली पो. वखन, सतशाला, सतारा, समी, सरखेज, समेला पो. बाजपट्टी, सरदारशहर, सरवन, सरसा, सरागाँव, सरीला, सरेड़ी, सहारनपुर, संगरना, संतोषपुर पो. बकेबर, संधारा, संबलपुर, सातपाटी, सादरा, सादुका पो. लिम्बड़ी, सारस्वतपुर, सालोल, सांगारवेड़ा कलाँ, साँदौल्याँ, सिकन्द्रा, सिकन्दराबाद, सिकन्दराराऊ, सिघौली, सियानी, सीतापुर, सीतामढ़ी, सुजानगढ़, सुनाम, सुभानपुर, सुमेरगंज पो. रामसनेही घाट, सुलतानपुर, सुलतानपुरा, सूरत, सेऊ पो. रसूलाबाद, सेओता, सेलोदपार पो. बेनी, सोना, सोनादा, सोहागपुर, हनमकोंडा, हरद्वार, हरसूद, हरिहरगंज, हाजीपुर पो. फजलपुर, हिंगनघाट, हिम्मतसर, हिरौली पो. कुसमरा, हुमेलवा, हैदरगढ़, हैदराबाद (दक्षिण), हैदराबाद (सिंध), होशियारपुर।

नाम-जप-विभाग—

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ५≈), बर्मामें ६) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ७||=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कसे निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ता० १२ तक न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले उसके पहले ही यदि वे हमें रुपये भेज चुके हों**, तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलीवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो कार्यालयको व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१६) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'**के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेंटद्वारा भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

सर्वोत्तम वशीकरण

गाली देनेवालेको बदलेमें गाली न दे, बुरा करनेवालेका भी बुरा न करे। क्रोधके बदलेमें क्षमा करे। अन्यायपूर्ण नीच साधनोंसे किसीसे काम न ले। दूसरोंपर जलनेवाला मनुष्य अपने हृदयकी जलनसे आप ही जलता रहता है। किसीका दिल दुखे ऐसी कठोर वाणी मुँहसे न कहे। अपने कठोर वचन-बाणोंसे जो दूसरोंके हृदयोंको बींधता रहता है, वह सर्वथा भाग्यहीन हो जाता है, उसके चेहरेपर अलक्ष्मीके चिह्न प्रकट हो जाते हैं। सत्पुरुष दुष्टोंके द्वारा की हुई निन्दा और गर्वभरी कटूक्तियोंको सह लेते हैं और संतोंके बताये हुए शान्तिमय मार्गपर चलते हैं। दुष्ट पुरुषोंके मुँहसे निरन्तर वचनरूपी बाण निकल-निकलकर दूसरोंके हृदयोंपर चोट पहुँचाते रहते हैं। वे चोट खाये हुए मनुष्य दिन-रात रोते और कलपते रहते हैं। अतएव अच्छे पुरुषोंको चाहिये कि वे भूलकर भी दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाले बुरे शब्द न कहें। तीनों लोकोंके सभी जीवोंके साथ दया, मैत्री, दान और मीठे वचनोंका व्यवहार करना चाहिये। यही सर्वोत्तम वशीकरण है।

(महाभारत)

कल्पना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ।।
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ।।
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ।।

[संस्करण ६२५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७॥=)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ।।
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ।।
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ।।

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≥)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U. P. (India).

श्रीहरिः

कल्याण जुलाई सन् १९४२ की

विषय-सूची

पुराने-नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह सोलहवें वर्षका १२वाँ यानी अन्तिम अङ्क है। इस अङ्कमें सभी पुराने ग्राहकों-का चन्दा पूरा हो जाता है।

(२) १७वें वर्षका पहला अङ्क 'संक्षिप्त महाभारताङ्क (प्रथम खण्ड)' होगा। यदि हो सकेगा तो इसमें द्रोणपर्वतककी कथाएँ संक्षेपमें सरल भाषामें देनेका विचार है। अकेले इसी अङ्कका मू० ५≡) होगा। यही वार्षिक मूल्य भी होगा। युद्धके कारण परिस्थितिवश यदि अगले अङ्क ग्राहकोंको नहीं पहुँचाये जा सकेंगे तो जितने अङ्क पहुँचेंगे उतनेमें ही कीमत पूरी समझ लेनी पड़ेगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ५≡) तुरंत भेज देने चाहिये। इस बार वी० पी० भेजे जानेकी सम्भावना प्रायः नहीं है।

(४) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस बार लड़ाईके कारण छपाईके काममें आनेवाली सभी चीजोंके दाम और भी अधिक बढ़ गये हैं तथा वस्तुओंके प्राप्त करनेमें भी भारी कठिनाई हो गयी है, जिसके कारण गत वर्षोंकी अपेक्षा घाटा तो बहुत अधिक रहेगा ही, अङ्क भी सभी ग्राहकोंको हम दे सकेंगे—ऐसी आशा कम है।

(५) यह विशेषाङ्क बहुत ही उपादेय, सुन्दर, सुबोध, चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद होगा। श्रीमहाभारतकी उत्तमता और उपादेयताके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। सम्भव है, बहुत जल्दी संस्करण समाप्त हो जाय, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये कि अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा पता, नाम, गाँव, डाकघर तथा जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहक-नंबर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें। नहीं तो अङ्क देरसे पहुँच सकता है।

(७) पुस्तकों तथा चित्रोंकी माँग गीताप्रेसको अलग लिखें। डाकके नियमानुसार 'कल्याण' के साथ और चीजें नहीं जा सकतीं।

(८) 'कल्याण' के प्रेमी सज्जन सदा ही नये ग्राहक बनाया करते हैं। इस बार भी वे तो बनावेंगे ही, परन्तु हम केवल ४०५०० अङ्क ही छाप रहे हैं और वर्तमान ग्राहक-संख्या लगभग ६२००० है इसलिये उन्हें अङ्क दे सकेंगे या नहीं, इसका निश्चय नहीं है।

(९) 'कल्याण' का नया वर्ष १ अगस्तसे शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

(१०) सजिल्द अङ्क बहुत देरसे जायगा। पहले जिल्द बाँधनेका अवकाश नहीं मिलता, इसलिये क्षमा करें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो, वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर जरूर सूचना दे दें।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

शिशुपालकी अनीति
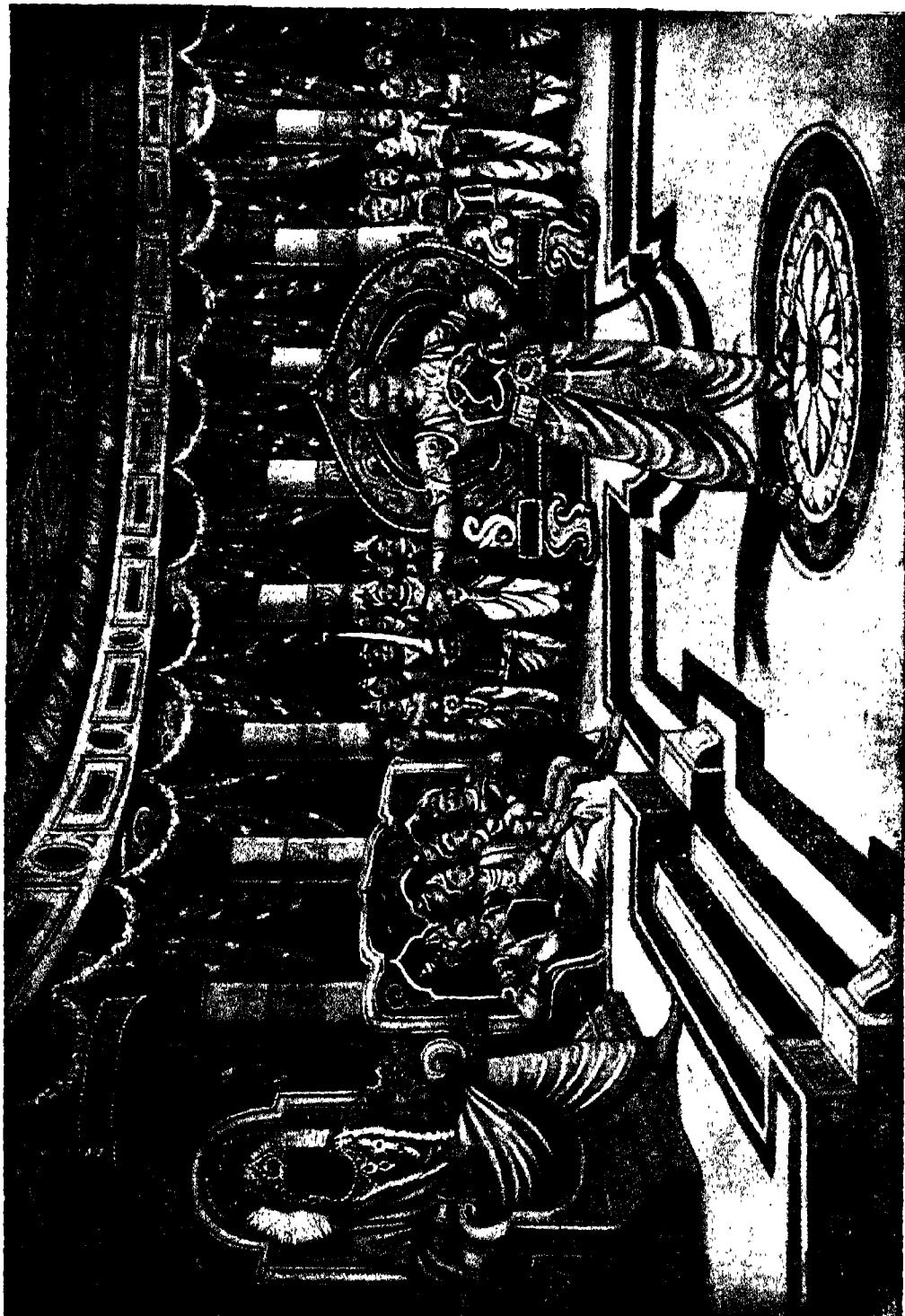
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ | गोरखपुर, जुलाई १९४२ सौर आषाढ़ १९९९ | संख्या १२ पूर्ण संख्या १९२

विनय

स्याम हौं तुम्हरे गरे परौं ।
जो बीतो तुमहीं सों बीती मनमाने सो करो ॥
करी अनीति कछू मित नाहीं नखसिख देखि भरौं ।
मो तन चितै आप तन चितवो अपनो बिरद ढरो ॥
कीजे लाज सरन आयेकी जिन जिय दोष धरौ ।
अपनी जाँघ उघारे नहिं सुख तुमही लाज मरौ ॥
बिनती करौं काहि हौं मिलिके सब कोउ कहत बुरो ।
रसिकदासकी आस कृपानिधि तुमही ढरो सो ढरौ ॥

—श्रीरसिकदेवजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥

(ऋ० ४ । २ । १)

आकर यहाँ विराजे मेरे आत्मदेव, माटीके घरमें ।
वे अविनाशी मरणशील यह, वे सत, यहाँ असत स्वर-स्वरमें ;
वे देवोंमें देव असंगी निहित इन्द्रियोंके दर्शनमें ॥
सर्वश्रेष्ठ यजनीय बने वे होता-यज्ञ शरीर-सदनमें ।
अपनी महिमासे मानवको त्याग-यागका पाठ पढ़ाने,
शुचि प्रदीप्तिको प्रेरित करते आए पुण्य प्रकाश बढ़ाने ।

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥

(ऋ० ४ । १८ । २)

आज दिखाई दिया मुझे पथ, यही राजपथ जाता घरको ;
मंगल-मार्ग सामने मेरे, अब क्यों खोजूँ डगर-डगरको ।

अब न चलूँगा इस जग-मगपर, इसमें जगमग चमके माया ।
मेरे लिये विकट बीहड़ वन, पग-पगपर कंटक-दल छाया ।
इसकी चकाचौंधमें पड़कर, भटक गया मैं भोजन भरको ;

अब मैं तोड़ पाश सम्मुखका अपनी सीधी राह चलूँगा ।
अबतक किये गये न किसीसे, ऐसे कर्म अनेक करूँगा ।
मुक्ति-युक्ति पाकर निकलूँगा इस भव-बन्धनसे बाहरको ।

अब भवसे विग्रह ठन जाए, पर भव-भव प्रसन्न हो जाए ;
नम्र बनूँ, पूछूँ निज गुरुसे चारु चरित उपदेश सुहाए ;
बहुत दिनोंके बाद देख लूँ प्रेम-पयोधि, स्नेह-निर्झरको ।

प्रार्थना

प्रभो ! अन्तर्यामिन् ! मेरे मनकी कोई भी दशा तुमसे छिपी नहीं है। कितना गंदा है वह ! वृथा गर्व, दम्भ, काम, क्रोध, विषयासक्ति, ममता, मान, मद, लोभ आदि कोई ऐसा दोष नहीं है, जिसने उसमें अपना डेरा न जमा रक्खा हो। बुद्धि कहती है, इनका रहना अच्छा नहीं है। ये लोक-परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाले बड़े बुरे वैरी हैं। परन्तु क्या करूँ, चेष्टा करनेपर भी ये मेरा साथ नहीं छोड़ते। सर्वशक्तिमान् ! मैं तो हार गया हूँ इनसे, और अपने पुरुषार्थसे सर्वथा निराश होकर तुम्हारी शरण आया हूँ। तुम्हारी शक्ति अतुल है। अब तो मेरे इन सदा दुःख देनेवाले दोषोंका शीघ्र ही नाश करके मनको पवित्र बना दो मेरे मालिक ! सचमुच मैं इनके मारे बेमौत मरा जा रहा हूँ, बचाओ—जल्दी बचाओ !

दीनबन्धो ! तुम्हें छोड़कर दीन-हीन और किसके दरवाजेपर जायँ ? ऐसा कौन है जो दीन-हीन कङ्गाल कुकर्मियोंपर स्नेह बरसाकर उन्हें आश्रय दे और अपनी कृपाशक्तिसे ही उनकी सारी दीनता, दरिद्रता, कुचेष्टा और कुप्रवृत्तिको मिटाकर उन्हें सुखी, सम्पन्न और सदाचारी बना दे ? मैं जो तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ यह भी असलमें तुम्हारी दयाका प्रभाव न समझनेका ही परिणाम है। तुम तो अहैतुक दयालु हो। मुझपर तो तुम्हारी असीम अनन्त दया है। मुझसे बदलेमें तुम कभी कुछ भी नहीं पाते, परन्तु तुम तो सभी तरहसे सदा-सर्वदा मुझपर अपनी दया बरसाते रहते हो। मैं कैसे सुखी और सदाचारी रहूँ, कैसे आनन्द और शान्ति प्राप्त करूँ, तुम रात-दिन वही कर रहे हो। अपने अबतकके जीवनकी घटनाओंको याद करता हूँ और अपनी नीचता एवं तुम्हारी नित्य एक-सी अनन्त दयालुताका विचार करता हूँ तो हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है। कहाँ मैं दुर्विनीत, दुर्बुद्धि, दुराचारी, दुष्ट प्रकृतिका दरिद्र क्षुद्र प्राणी, और कहाँ तुम महामहिम सर्वलोकमहेश्वर साक्षात् भगवान् ! परन्तु तुमने तो मुझको कभी नहीं भुलाया, कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। विपत्तियोंकी उन घड़ियोंमें जिस समय संसारमें सहारा देनेवाला मेरा कोई भी साथी नहीं था, कुविचारके उन क्षणोंमें जब मैं पाप-प्रवृत्तिमें पड़कर अतल नरक-कुण्डमें गिरना ही चाहता था। तुमने किस विलक्षण कौशलसे, कितनी शीघ्रतासे मुझे सहारा दिया—बचाया और उठाकर अपनी स्नेह-सुधासे सींचकर सुखी कर दिया। एक बार नहीं बार-बार; यह कोई पुरानी बात नहीं। अब भी तो रोज-रोज तुम यही कर रहे हो ! मैं अपने पाजीपनसे बाज नहीं आता और तुम अपने अनोखे विरदसे कभी विच्युत नहीं होते ! धन्य मेरे स्वामी !

दयामय ! मैं कितना नीच हूँ जो तुम्हारी इतनी और ऐसी अहैतुकी दयाको देख-देखकर भी भूल जाता हूँ। तुम्हारे चरणोंमें लोटकर केवल उन्हींको अपने प्राणोंके प्राण, जीवनके जीवन नहीं बना लेता ! तुम मेरी नीचताकी ओर न देखना ! कहाँ देखते हो ! मुझ-सा नीच कौन होगा ? मेरी नीचताकी ओर देखते तो इतना स्नेह, इतना प्यार कैसे दे सकते ? अब तो प्रभो ! यह करो और तुरंत ही करो—(क्योंकि पता नहीं यह क्षुद्र-सा मेरा जीवन-दीपक किस क्षण बुझ जाय।) कि मैं तुम्हारी कृपाको कभी भूलूँ ही नहीं, और प्रतिक्षण कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे तुम्हारे पावन चरणोंका स्मरण करता हुआ तुम्हारे दरवाजेपर ही पड़ा रहूँ।

—तुम्हारा ही एक व्याकुल, व्यथित पागल !

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाके उपदेश

[प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी]

१. दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन, परधनकी इच्छा और शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे मनकी शान्ति नष्ट हो जाती है।

२. जप और भजन करनेवाला पुरुष यदि अश्लील शब्द बोलता है तो उसका भजन व्यर्थ हो जाता है। ऐसे भजनसे क्या लाभ है ?

३. आजकल बहुत लोग अपनी बनायी हुई कविताओंको गाकर या पढ़कर अपना हित करना चाहते हैं। किन्तु इससे कोई विशेष लाभकी सम्भावना नहीं है। हमारी वाणीमें वह शक्ति कैसे आ सकती है, जो श्रीतुलसीदास-जी आदिके वचनोंमें है। हमारे अंदर वह तप या भगवत्प्रेम कहाँ है ? अतः जो अपना कल्याण करना चाहें उन्हें तो भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी वाणीका ही आश्रय लेना चाहिये।

४. जिसका देहाभिमान गल गया है वस्तुतः उसीने कुछ पाया है।

५. भजन निरन्तर होना चाहिये। यदि उसमें एक दिनका भी व्यवधान होगा तो कई दिनोंकी सञ्चित पूँजी नष्ट हो जायगी। इसलिये नियमित भजनमें कभी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

६. साधन करनेवालेकी प्रतिक्षण उन्नति होती है, परन्तु उसे यह बात मालूम नहीं होती। इसका कारण यह है कि जीवको भजनकी भूख बहुत बढ़ी हुई है। अतः जिस प्रकार बहुत भूखे आदमीको दो-चार ग्रास खानेसे तनिक भी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार जबतक पूरा भजन नहीं होता तबतक साधकको शान्ति नहीं होती।

७. अधिक लाभ उन्हीं लोगोंके सत्सङ्गसे होता है, जिनसे अपने इष्ट, साधनक्रम और मनका मेल होता है। दूसरी निष्ठाके साधनोंका सङ्ग करनेसे कई बार अपने साधनमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः उन्हीं सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये जिनसे अपना इष्ट मिले, क्रिया मिले और मन मिले।

८. देहमें अहंता और भोगपदार्थोंमें ममता—ये ही दुःखके प्रधान कारण हैं। लोग इन अहंता-ममताको लेकर ही सुख पाना चाहते हैं, परन्तु इनसे तो वे उल्टे दुःखमें ही पड़ते हैं।

९. राग-द्वेष—इन दोनोंको छोड़ दोगे तभी कुछ लाभ हो सकेगा। गुरु नानक साहब कहते हैं—

राग द्वेष दोनों खोइये, खोजिय पद निरबान।
नानक कहै पथ कठिन है, कोइ कोइ गुरुमुख जान॥

प्रेममय संसार

प्रेममय सुखद सकल संसार।
प्रेम परो ही सब या जगमें, करत प्रेम संचार॥
प्रेम ही जोग-जग्य-जप-तप है, प्रेम परम आधार।
प्रेमी जन भगवन्तहिं ध्यावैं, प्रेमहि है करतार॥
प्रेम-विहीन हृदय वैसा ही, जिमि बिन पतिकी नार।
या बिन कछू न ठौर ठिकानो, यह दैवी उपहार॥
सीतल चंद सुधा बरसावे, है मन मगन अपार।
कुमुदिनके मन हरष बढ़ावै, अपनो प्रेम पसार॥
प्रेम-विहीन पुरुष मृत-सम है, प्रेम जगतका सार।
प्रेम सबहिंको जीवन-धन है, साँचो सुख-आगार॥

—दानबिहारीलाल शर्मा

कल्याण

निश्चय करो—मैं सर्वशक्तिमान् भगवान्का सनातन अंश हूँ, भगवान्की शक्ति मुझमें भरी है। किसी पाप-तापकी ताकत नहीं जो भगवान्की शक्तिका सामना कर सके।

निश्चय करो—मैं सत् हूँ, चेतन हूँ और आनन्द हूँ। मेरी नित्य सत्ताको कोई भी मौत नहीं मिटा सकती। मेरे अखण्ड चित्स्वरूपमें कभी अज्ञान या मोहका प्रवेश नहीं हो सकता; और मेरे अनन्त अनामय एकरस आनन्दमें तो कभी कोई रूपान्तर होता ही नहीं।

निश्चय करो—मेरे नित्य निरामय चित् स्वरूपपर किसी भी जड पदार्थ या जागतिक स्थितिका कोई भी असर नहीं हो सकता। मेरी अखण्ड शाश्वत शान्तिको कोई भङ्ग कर ही नहीं सकता।

निश्चय करो—मैं नित्य निर्मल और अनन्त आनन्दके भण्डार भगवान्का स्व-अंश हूँ। कोई भी रोग, शोक, विषाद, भय, निराशा, दरिद्रता, दुर्भावना और दुराचार मुझमें नहीं रह सकते। मैं सदा नीरोग, सदा प्रसन्न, सदा निर्भय, सदा सम्पन्न, सदा सफल, सदा सद्विचारी और सदा सदाचारी हूँ।

निश्चय करो—भगवान्का निष्कपट निःस्वार्थ प्रेम मेरे हृदयमें भरा है। कृपा, सेवा, उदारता, स्वतन्त्रता, समानता, शान्ति, साधुता आदि तो मेरे उस प्रेमके परिकर हैं, जो नित्य निरन्तर निकल-निकलकर सर्वत्र फैलते और सबको सुख पहुँचाते रहते हैं।

निश्चय करो—मुझमें कोई अशुभ या अकल्याण है ही नहीं। क्योंकि परम शुभ और परम कल्याणस्वरूप भगवान् सदा मेरे हृदयमें बसते हैं और उसी हृदयको लेकर मैं सदा उन्हीं भगवान्में निवास कर रहा हूँ।

निश्चय करो—जो भगवान् मुझमें हैं और जिन भगवान्में मेरा निवास है, वही भगवान् सबमें हैं और उन्हीं भगवान्में सबका निवास है। अतएव दूसरा कोई है ही नहीं। भगवान् ही भगवान्में बसकर भगवान्की भागवती-लीला कर रहे हैं।

निश्चय करो—सत्य, अहिंसा, उत्साह, साहस, शक्ति, शान्ति, ज्ञान, वैराग्य, पुण्य, क्षमा, पवित्रता आदिसे मेरा हृदय सदा पूर्ण रहता है। ये कभी मेरे हृदयसे जा नहीं सकते—क्योंकि ये भगवान्के चरणसेवक हैं और भगवान् एक क्षणके लिये भी कभी मेरे हृदयसे विलग होते नहीं।

निश्चय करो—मैं कभी बुरा विचार, असत् सङ्कल्प, पाप-निश्चय और दूसरेके अनिष्टका चिन्तन कर ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्के सान्निध्यके कारण मेरा हृदय सदा सद्विचार, सत्-संकल्प, शुभ निश्चय और परहितके भावसे भरा रहता है।

निश्चय करो—मैं जगत्में आया हूँ केवल सुख, शान्ति, पुण्य, प्रेम, परमात्माकी भक्ति और भगवान्का अखण्ड ज्ञान पाने, और सारे जगत्में वितरण करनेके लिये। यही मेरे जीवनका परम व्रत है।

'शिव'

गुरुतत्त्व और सद्गुरुरहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

'सद्गुरु' शब्दका प्रयोग शास्त्रोंमें, विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न प्रसंगोंमें पाया जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि बहुत जगह 'गुरु' और 'सद्गुरु' दोनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी-किसी जगह 'सत्' विशेषण लगाकर असद्गुरुसे गुरुविशेषकी विलक्षणता बतलायी गयी है । अतएव 'सद्गुरु' से क्या समझा जाना चाहिये और प्रसङ्गतः असद्गुरु कौन है, इसपर भी विचार करना आवश्यक है । इस विषयमें शास्त्रका गूढ रहस्य क्या है, उसे जाननेकी भी स्वाभाविक ही इच्छा होती है । परन्तु इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये भी शास्त्रका आश्रय ही एकमात्र उपाय है । 'मालिनीविजयमें' है—

'स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥'

इससे यह सिद्ध होता है कि सद्गुरुका आश्रय प्राप्त किये बिना जीवको एक ही साथ भोग और मोक्षकी अभिन्नभावसे प्राप्ति नहीं होती । अर्थात् वह पूर्णत्वको प्राप्त नहीं हो सकता ।* सद्गुरुप्राप्तिकी जड़में भगवदिच्छा ही मुख्य कारण है और जीवकी इच्छा उस मूल भगवदिच्छाकी ही अनुगामिनी है, यह उपर्युक्त 'यियासुः शिवेच्छया' इस वाक्यांशसे स्पष्ट प्रकट है । परन्तु याद रखना चाहिये कि असद्गुरुकी प्राप्तिके मूलमें भी वह एक भगवदिच्छा ही काम करती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । इसका विशेष विवरण क्रमशः प्रकाशित होगा ।

परमेश्वरका साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके उनके साथ जिनका तादात्म्य नहीं हो गया है, ऐसे केवल तत्त्वका उपदेश करनेवाले आचार्यविशेषको असद्गुरु कहते हैं । जिन साधकोंके चित्तमें इस प्रकारके आचार्यके प्रति गाढ़ विश्वास है, वे आगमशास्त्रोंमें बतलायी हुई परामुक्तिको तो प्राप्त होते ही नहीं, मायाराज्यको लाँघनेमें भी समर्थ नहीं होते । उन्हें जो मुक्ति मिलती है, वह वास्तविक मुक्ति नहीं है—वह तो प्रलय-कैवल्यकी भाँति एक अर्धजड़ अवस्थामात्र होती है । वास्तविक मुक्तिमें पशुत्वकी निवृत्ति होकर शिवत्वकी अभिव्यक्ति होती है । परन्तु इन साधकोंका पशुत्व उस अवस्थामें भी नहीं छूटता† । यह मायापाश अथवा श्रीभगवान्‌की

---

* भोग और मोक्षकी साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है । 'भोक्ता' जब भोग्यके साथ एकीभूत हो जाता है, तब उस एकीभावको 'भोग' कहते हैं, 'मोक्ष' भी कहते हैं । 'प्रबोधपञ्चदशिका'में कहा गया है—

तस्या भोक्तृत्वाः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एव यः ।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम् ॥

वस्तुतः भोग और मोक्षकी अनुभूतिका सामरस्य ही जीवन्मुक्ति है । महेश्वरानन्दके मतसे (म० मञ्जरी, पृ० १७१) यही त्रिकदर्शनकी विशेषता है । 'श्रीरत्नदेव' में है—

मुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः ।
भुक्तिमुक्ती उभे देवि विशेषे परिकीर्तिते ॥

इस अवस्थाकी—अपनी विश्वात्मकताकी—'सर्वो ममायं विभवः' इस प्रकार अनुभूति होती है । यह विश्वात्मकता आत्माका स्वभाव है, आहार्य या आगन्तुक धर्म नहीं है ।

इस भोग और मोक्षकी एकताको बौद्ध भी जानते थे । सहजिया लोग कहते हैं कि वायुके जानेके मार्गको रोकने और चन्द्र-सूर्यके पथको निरुद्ध करनेपर, उस घोर अन्धकारमें मन या बोधिचित्तको दीपक बनाया जा सके तो 'महासुख' का प्रकाश होता है । तब उस जिनरत्न या वरगगण नामक अधःऊर्ध्व पथको अवधूती स्पर्श करती है, जिसके फलस्वरूप भव और निर्वाण दोनोंकी एक ही साथ सिद्धि होती है । भवभोग=पाँच प्रकार कामगुण, निर्वाण=महामुद्रासाक्षात्कार ।

† आगमसम्मत परामुक्ति ही पूर्णत्व है । आगमके मतमें न तो सांख्यका 'कैवल्य' पूर्णत्व है और न वेदान्तकी मुक्ति ही । द्वैत और अद्वैत दोनों ही आगमोंमें इसका समर्थन मिलता है । जयरथ कहते हैं (तन्त्रालोक टीका ४ । ३१) वेदान्तकी मुक्ति सवेद्य प्रलयकालकी अवस्थाके सदृश है । वे इस मुक्तिको 'विज्ञानकैवल्य'के समान भी नहीं मानते । इससे अनुमान होता है कि उनके मतानुसार इस अवस्थामें (वेदान्तकी मुक्तिमें) आणव-मल पूर्णरूपसे वर्तमान रहता है । वह ध्वंसोन्मुख भी नहीं हो सकता । परन्तु विज्ञानकैवल्यमें आणव-मल कम-से-कम ध्वंसोन्मुख तो होता

वामा नाम्नी शक्तिके द्वारा रक्षित होनेके कारण ऐसे साधकमें असद्गुरुके प्रति प्रगाढ़ अनुराग और विश्वास उत्पन्न हो जाता है ।

परन्तु ऐसी बात नहीं है कि इनमेंसे किसी-किसीको सद्गुरुकी प्राप्ति न होती हो । भगवत्कृपाको प्राप्त—शक्तिपातके द्वारा पवित्रताको प्राप्त—साधक जब अपने स्वरूप-लाभके लिये व्याकुल हो उठता है, तब ज्येष्ठा शक्ति नाम्नी भगवदिच्छाकी * प्रेरणासे उसके चित्तमें सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये शुभ इच्छा जाग उठती है । यही इच्छा 'शुद्ध विद्याके विकास' और 'सत्तर्क' के नामसे प्रसिद्ध है ।

असद्गुरु हो या सद्गुरु—दोनोंकी ही प्रवृत्तिके मूलमें है भगवदिच्छा । असल बात यह है कि शक्तिपातकी प्रवृत्ति क्रमिक होती है । इसीसे कोई-कोई साधक असद्गुरु और अपूर्ण तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका आश्रय लेकर उसके पश्चात् सद्गुरुके आश्रयको प्राप्त होता है, और कोई कोई पहलेसे ही सद्गुरुकी कृपा प्राप्त कर लेते हैं । शक्तिपातकी विचित्रताके कारण ही, गुरु और शास्त्रगत सद्भावोंकी विचित्रता होती है । जो शास्त्र या गुरु परिपूर्ण तत्त्वको प्रकट नहीं करते, वे ही माया, या वामाशक्तिके द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण असत्शास्त्र या असद्गुरु कहलाते हैं । पूर्ण सत्यके प्रतिपादक शास्त्र और गुरु ही सत्शास्त्र और सद्गुरु हैं । वास्तविक मोक्ष न होनेपर उसे मोक्ष मानने और उसीको प्राप्त करनेकी स्पृहा होनेमें, एकमात्र माया ही कारण है । यह माया ही इस प्रकार जीवको इधर-उधर विभिन्न दिशाओंमें भटकाकर कष्ट देती है । परन्तु मायाके पीछे-पीछे भगवान्‌की करुणा भी जाग्रत् रहती है । इसीसे साधकका चित्त दृढ़ संस्कारवश असत्शास्त्र और असद्गुरुमें आस्थावान् होनेपर भी उसमें भगवत्कृपासे सत्तर्क और परामर्शज्ञानका आविर्भाव हो सकता है । उस समय क्या सार है और क्या असार—इसे समझनेमें कोई कष्ट नहीं होता । इस प्रकार शुद्ध विद्याके प्रभावसे—ज्येष्ठाशक्तिके अधिष्ठानवश—पवित्रताकी प्राप्ति होती है और बिना किसी विघ्नके सत्पथका आश्रय प्राप्त करनेकी शक्ति पैदा हो जाती है ।

(२)

सत्तर्क या शुद्ध विद्याका उदय कैसे हो ? किरणागमके मतानुसार किसीमें सत्तर्क गुरुके उपदेशद्वारा तो किसीमें शास्त्रके द्वारा सत्तर्ककी उत्पत्ति होती है । परन्तु ऐसे उत्तम साधक भी होते हैं जिनमें सत्तर्क गुरुके उपदेश या शास्त्रादिकी अपेक्षा नहीं होती और अपने-आप ही सत्तर्क या शुद्ध विद्याका उदय हो जाता है । इनमें वस्तुविषयक सुनिश्चित ज्ञान अपनेसे (स्वतः) ही उत्पन्न होता है—वह गुरु आदिके अधीन नहीं होता ।† यह ज्ञान जैसे स्वभावसिद्ध होता है, वैसे ही इस प्रकारका साधक भी स्वभावसिद्ध (सांसिद्धिक) होता है । परन्तु ऐसी बात भी नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञान सर्वथा निमित्त-हीन ही है । क्योंकि, भगवान्‌का शक्तिपात आदि अदृष्ट निमित्त तो अवश्य ही होता है । यह सत्य है कि इसमें कोई लौकिक निमित्त नहीं होता । परामर्श-उदयकी पूर्वोक्त कारण-परम्परामें गुरुसे शास्त्र श्रेष्ठ है और शास्त्रसे स्वभाव । क्योंकि, गुरु जैसे शास्त्राधिगमके लिये उपायरूप है, वैसे ही शास्त्र भी स्वभावप्राप्तिका द्वारभूत है । इसीलिये गुरु और शास्त्रकी कारणता गौण है, मुख्य नहीं । स्वभाव ही मुख्य कारण है ।‡

ही है—अवश्य ही सर्वथा ध्वंस भी हो सकता है । 'विज्ञानकेवली'की कर्म न होनेके कारण पुनरावृत्ति नहीं होती—आणव-मल ध्वंसोन्मुख होनेके कारण उससे कर्मोंकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । वेदान्त-मोक्षमें पुनरावृत्ति निवृत्त नहीं होती । कोई-कोई वेदान्त-मोक्षको 'विज्ञानकैवल्य'के सदृश मानते हैं । वैष्णवादिका मोक्ष इस मतके अनुसार प्रलयाकलकी तरहका है । उस स्थानमें दीर्घकालतक भोग होता है—फिर (नयी सृष्टिमें) जन्म होता है । न्यायादिका अपवर्ग आत्माका सर्वविशेषोच्छेद होनेके कारण अपवेद्य प्रलयाकलके सदृश है ।

* इस बातको सभीने माना है कि भगवान्‌की कृपासे सद्गुरुकी प्राप्ति होती है

† त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्डमें है—

'उत्तमानां तु विज्ञानं गुरुशास्त्रानपेक्षणम्' कहा जाता है कि वामदेव, कर्कटिका एवं अन्यान्य अकृतश्रवण व्यक्तियोंका ज्ञान इस प्रकार सांसिद्धिक ही था । आत्माके स्वरूपमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानका भेद नहीं है; वह परमुक्तरूप, सङ्कल्प-विकल्पहीन और मोहहीन है । नित्य सिद्ध होनेपर भी जीव इसको नहीं जानता, उसे उपलक्षण या परिचय नहीं है । गुरु और शास्त्र परिचय करा देते हैं । किसी-किसीको अपने-आप ही परिचय हो जाता है ।

‡ योगवाशिष्ठमें है—'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।' (निर्वाणप्रकरण १ । १२८ । १६३) अर्थात् गुरुवाक्यसे जो बोध पैदा होता है, उसमें शिष्यकी प्रज्ञा ही कारण है । अतएव गुरु और

(३)

जिसका सत्तर्क स्वभावतः (अपने-आप ही) उदित होता है, उसके अधिकारमें बाधा पहुँचा सके, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है । उसको बाह्य दीक्षा और बाह्य अभिषेककी आवश्यकता नहीं होती । वह स्वयं संवित्ति देवियोंके द्वारा ही दीक्षित और अभिषिक्त होती है । उसकी अपनी इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुखी होकर प्रमाताके साथ—उसके स्वात्माके साथ—ऐक्य सम्पन्न करा देती है । यही द्योतनकारिणी संविद् देवियाँ हैं । ये उसके ज्ञानक्रियाख्य प्रसुप्त चैतन्यको उत्तेजित करती हैं । यही दीक्षा है । जिस क्रियाके फलस्वरूप वह सर्वत्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, वही अभिषेक है । बहिर्मुख चित्तकी वृत्तियाँ ही अन्तर्मुखी अवस्थामें 'शक्ति' कहलाती हैं । इस प्रकारका साधक सारे आचार्योंमें श्रेष्ठ माना जाता है । उसकी विद्यमानतामें दूसरा कोई भी परानुग्रह आदि कार्योंका अधिकारी नहीं होता । साधारण साधक-गुरुसे शास्त्ररहस्य जाना जाता है । परन्तु जिसका ज्ञान स्वभावसिद्ध है, उस सत्तर्कसे समस्त शास्त्रोंका अर्थ समझा जा सकता है, बाह्य गुरुकी सहायता उसके लिये आवश्यक नहीं होती । ऐसा कोई सत्य न तो है और न हो सकता है,—जो शुद्ध विद्याकी ज्योतिसे प्रकाशित न हो सके । इसीलिये इस प्रकारका साधक किसी लौकिक निमित्तका आश्रय लिये बिना ही सारे शास्त्रोंके गूढ़ रहस्यको जान लेता है । यही प्रातिभ महाज्ञानकी विशेषता है ।

यहाँ जिस स्वभावज महाज्ञानकी बात कही गयी है, यह महाज्ञान वस्तुतः एक होनेपर भी उपाधिभेदसे अर्थात् भित्ति और उसके अंशके भेदसे नाना प्रकारका हो सकता है । जिसके आश्रयसे (उपजीव्य) ज्ञानका उदय होता है, उसे उस ज्ञानकी भित्ति कहते हैं । यह अपने विमर्श और परकृत तत्तत् कर्मके अभिधायक शास्त्रको छोड़कर और कुछ नहीं है । स्वभावसिद्ध ज्ञान किसीका भी आश्रय करके उदय नहीं होता, इसीसे उसे भित्तिहीन कहा जाता है । परन्तु किसी-किसी जगह यह भित्तिविशिष्ट भी हो सकता है । वह कैसे होता है, इसीपर विचार करना है ।

जिनके स्वतः ही सत्तर्कका उदय होता है, उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवभावका आविर्भाव होता है । उनको सांसिद्धिक गुरु कहा जा सकता है । उनको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता । कारण, वे आत्मामें कृतकृत्य होते हैं; इसलिये दूसरेपर अनुग्रह ही उनका एकमात्र प्रयोजन रहता है ।

स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नाद्
नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥

अर्थात् योगभाष्यकार व्यासदेवने ईश्वरके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, इस प्रकारके सांसिद्धिक गुरुके सम्बन्धमें भी वही बात कही जा सकती है—

'तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् ।'

इस परानुग्रहको ग्रहण करनेवाले अपनी-अपनी योग्यताके तारतम्यसे विभिन्न प्रकारके हुआ करते हैं । जो शिष्य निर्मल संवित्-सम्पन्न या शुद्धचित्त होता है, उसपर अनुग्रह करनेके समय गुरुको किसी उपकरणका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं होती । वे केवल निष्काम (अनुसन्धानहीन) दृष्टिके द्वारा ही इस प्रकारके अनुग्रह चाहनेवाले योग्य शिष्यपर अनुग्रह कर देते हैं । निजबोधरूप स्व-शक्तिके सञ्चारद्वारा शिष्यको अपने साथ समभावापन्न कर लेना ही अनुग्रहका लक्षण है ।

तं ये पश्यन्ति तादृरूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥

इस प्रकारके निष्काम शिष्यपर अनुग्रह करनेमें उपकरणकी आवश्यकता नहीं होती । यह निर्भित्तिक ज्ञानका उदाहरण है ।

परन्तु अनुग्राह्य शिष्य यदि वैसा निर्मल संवित्सम्पन्न नहीं होता तो उपकरणकी आवश्यकता होती है । अर्थात् ऐसे अवसरपर सांसिद्धिक गुरुमें 'मैं इसपर इस प्रकार अनुग्रह करूँगा ।' ऐसी अनुसन्धानमूलक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसीसे बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता होती है और शास्त्रीय मर्यादाका आश्रय लेना पड़ता है । इसीसे गुरु स्वयं परमेश्वर-रूप होनेपर भी उपायभूत शास्त्रादिके श्रवण और अध्ययनके प्रति आदर दिखलाते हैं । अनुग्रह चाहनेवाले अशुद्धचित्त शिष्य भाँति-भाँतिके होते हैं, इसीसे उनकी विभिन्न मानसिक प्रकृतिके अनुसार आवश्यक उपकरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं । ऐसे प्रसंगमें जिन शास्त्रोंमें इन उपकरणोंका वर्णन है,

शास्त्रसे उत्पन्न ज्ञानमें भी स्व-परामर्श ही प्रधान है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

उनकी भी आवश्यकता होती है, नहीं तो परानुग्रह किया नहीं जाता । मनुष्यके चित्त भिन्न-भिन्न हैं, इसीलिये शास्त्रोंके भी विभिन्न प्रकार हैं । ठीक वैसे ही, जैसे रोगोंकी विभिन्नताके कारण औषधमें भेद होता है ।

> यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
> तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ॥

इसीलिये भित्तिको सर्वगत कहा जाता है । परन्तु कोई-कोई किसी निर्दिष्ट शास्त्रके अनुसार तदुचित अनुग्राह्य शिष्योंपर कृपा किया करते हैं । यहाँ भित्ति अंशगत होती है । इतना ही नहीं, उन-उन शास्त्रात्मक अंशोंमें भी मुख्य और अमुख्य (गौण) का भेद है—जैसे वेद और आगम । अथवा वेद, स्मृति और पुराण । फिर आगममें भी वाम, दक्षिण, कौल, त्रिक आदि हैं । यहाँ किसीको यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस प्रकार शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षा करानेवाले गुरु स्वभावसिद्ध प्रातिभ ज्ञानविशिष्ट नहीं हैं । वस्तुतः गुरुको अपने लिये कुछ भी कर्तव्य न होनेके कारण उन्हें स्वार्थ-सम्पादनके लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है । दूसरोंके लिये ही इन सबकी अपेक्षा है ।

इससे यह प्रतीत होता है कि गुरु स्वयं स्वतन्त्र और सांसिद्धिक परामर्शविशिष्ट होनेपर भी उनके अनुग्रह-प्रदर्शनका प्रकार शिष्योंके अधिकारानुसार भाँति-भाँतिका होता है । निर्मलचित्त अनुग्राह्य शिष्यके लिये अनुग्रह निरुपाय होता है, और दूसरोंके लिये सोपाय* । ये सांसिद्धिक गुरु ही 'अकल्पित' गुरु कहलाते हैं । इन्होंने दूसरे आचार्यकी सहायतासे सिद्धि नहीं पायी है, इसीसे इनको 'अकल्पित' कहते हैं । † इन गुरुओंके सम्बन्धमें शास्त्रवाणी है—

> अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद् वेत्ति तत्त्वतः ।
> स सिद्धिभाग् भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः ॥
> एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
> दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने ॥

[क] 'अकल्पित' गुरुके सम्बन्धमें कहा जा चुका है । सांसिद्धिक होनेपर भी जिनमें स्वयं उद्भूत ज्ञानकी पूर्णता नहीं होती, परन्तु उसके लिये किसी गुरुकी अपेक्षा न करके जो 'मैं ही परमहंस हूँ' इत्यादि प्रकारसे केवल अपनी भावनाके बलसे शास्त्रज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें 'अकल्पितकल्पक' कहते हैं । उनका ज्ञान सांसिद्धिक है इसलिये वे 'अकल्पित' हैं और आत्मभावनाके बलसे उन्हें शास्त्रज्ञान प्राप्त हुआ है इसलिये 'कल्पित' हैं । इसीसे उनका ऐसा नाम है । शक्तिपातरूपी उपायके तीव्रतादि भेदसे ये गुरु अनेकों प्रकारके हुआ करते हैं ।

इन सबके स्वयं प्रवृत्त ज्ञानकी पूर्णता केवल आत्मभावनारूप निमित्तसे ही होती है सो बात नहीं है; ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत, होम आदि अन्यान्य निमित्तोंद्वारा भी हो सकती है । इन सब विभिन्न उपायोंके प्रभावसे इस महाज्ञानीको अकृत्रिम (अकल्पित) महान् अभिषेक प्राप्त होता है—शास्त्रज्ञानादिमें अधिकार प्राप्त होता है । यह अभिषेक गुरु आदिके द्वारा अनुष्ठित नहीं होता ।

[ख] इसके अतिरिक्त 'कल्पित' और 'कल्पिताकल्पित' गुरु भी होते हैं । जिनके सत्तर्कका उदय अपने-आप नहीं होता, उन्हें किन्हीं अकल्पित या अन्य गुरुको भक्तिपूर्वक यथाविधि सेवा करके प्रसन्न करना पड़ता है और शास्त्रसम्मत-क्रमके अनुसार उनसे दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ ज्ञानको प्राप्त करना

* बोधिचित्तविवरणमें कहा गया है—'देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा ।' इत्यादि । बौद्ध लोग भी कहते हैं कि शिष्योंकी योग्यताके अधिकार-भेदसे ही गुरुओंके उपदेश पृथक्-पृथक् होते हैं । अवश्य ही आपातदृष्टिसे उपदेशमें भेद दीखनेपर भी सारे सद्गुरुओंका मूल उपदेश एक ही है ।

† प्रातिभ ज्ञान अकृत्रिम है, अकल्पित गुरु ही अकृत्रिम हैं । कोई-कोई जो गुरु आदिकी सहायताके बिना ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यह तन्त्रसम्मत है । यह यदि तीव्र-तीव्र शक्तिपातके फलरूप होता है तो, साथ-ही-साथ 'शिवत्व' की प्राप्ति हो जाती है—देह रह भी सकता है, नहीं भी । देह रहनेपर भी वह शिवदेह होता है—उसमें प्रारब्ध नहीं रहता । वह स्वच्छन्दावस्था है । यदि मध्य-तीव्र शक्तिपातके फलरूप होता है तो, प्रातिभ ज्ञानका उदय हो जाता है—बाह्य गुरुकी आवश्यकता नहीं होती । बौद्धधर्ममें भी कुछ-कुछ ऐसा ही माना है । श्रावकसे प्रत्येक बुद्धकी यही विशेषता है कि वह 'अनाचार्यक' है—भीतरसे ही ज्ञान पाता है, उसे गुरुकी अपेक्षा नहीं होती । श्रावक बाह्य गुरुकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञानशाली है । परन्तु यह भी ठीक-ठीक अकल्पित गुरुके सदृश नहीं है । कारण प्रत्येक बुद्ध हेतुप्रत्ययके विचारद्वारा अपना परिनिर्वाण चाहता है । अकल्पित गुरु इससे बहुत ऊपर हैं । अवश्य ही महायानका साधक अकल्पितसे मिलता-जुलता-सा है । वह साधक सारे जीवोंकी मुक्तिके लिये बिना ही गुरुके बुद्धत्व, तद्रूप सर्वज्ञत्व और सर्वसामर्थ्य चाहता है ।

पड़ता है। इस प्रकार गुरु-आराधनके क्रमसे उनमें शुद्ध विद्याका उदय हो सकता है। यही आगे चलकर अभिषेक प्राप्त होनेपर परानुग्रह आदिका अधिकार पाते हैं। इनको 'कल्पित' गुरु कहते हैं। परन्तु कल्पित अर्थात् दूसरे आचार्यके द्वारा निष्पादित होनेपर भी इनमें समस्त पाशोंको पूर्णरूपसे काट देनेकी शक्ति होती है।

[ग] कोई-कोई 'कल्पित' होनेपर भी गुरु आदिकी अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभाके बलसे ही अकस्मात् लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते और उसका रहस्य समझ लेते हैं। 'कल्पित' होनेपर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होनेके कारण ये 'अकल्पित' होते हैं। इसीसे ऐसे गुरुको 'कल्पिताकल्पित' कहते हैं। इनमें कल्पितांशकी अपेक्षा अकल्पित भाग ही श्रेष्ठ होता है।

[घ] पूर्वोक्त विवरणसे समझा जा सकता है कि ये चारों प्रकारके गुरु कल्पित और अकल्पित,—इन दोनों भेदोंका परस्पर मिश्रणजनित अवान्तर विभाग हैं। फलतः कल्पित और अकल्पित गुरुमें कोई भेद नहीं है—कल्पित गुरु भी शिष्यका पाशच्छेदन करके शिष्यत्वकी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। कारण, स्वयं परमेश्वर ही आचार्यदेहमें अधिष्ठित होकर बन्धन खोलते हैं—नहीं तो एक जीव दूसरे जीवका उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्रमें कहा गया है—

यस्मान्महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥

अर्थात् स्वयं महेश्वर ही मानुष-मूर्ति धारण करके कृपापूर्वक गुरुरूपसे (माया) मग्न जीवोंका उद्धार करते हैं।

यहाँ हम मनुष्य-गुरुकी चर्चा कर रहे हैं। वस्तुतः सिद्धगुरु और दिव्यगुरु भी हैं। अवश्य ही सबके मूलमें तो एकमात्र परमेश्वर ही अनुग्राहक हैं। उनके सिवा और कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता।

गुरुका प्रकारभेद तो ज्ञानेन्द्रियादिके प्रणालीभेदके कारण है। किसी भी उपायसे हो या बिना उपायसे, ज्ञान उत्पन्न होना चाहिये। ज्ञान होनेपर कार्य होगा ही। अग्नि चाहे लकड़ीसे लकड़ी घिसकर जलायी जाय, चाहे जलती अग्निसे स्पर्श करके जलायी जाय—दाहिका शक्ति दोनोंमें समान ही होती है। तथापि दोनों अग्नियोंमें कुछ भेद माना जाता है। इसीलिये फल और सामर्थ्यमें अभेद होनेपर भी ऊँचा आसन अकल्पित गुरुको ही दिया जाता है।

नित्यसिद्ध परमशिवमें और बन्धनसे मुक्त होकर शिवत्वको प्राप्त होनेवालेमें सर्वज्ञत्वादि सामर्थ्य समान होनेपर भी जैसे परम शिवका उत्कर्ष अधिक मानना पड़ता है, वैसे ही अकल्पित गुरुकी महिमा भी स्वीकार करनी पड़ती है। वस्तुतः अकल्पित गुरुके सामने कल्पितादि गुरु या तो चुपचाप निष्क्रिय बने बैठे रहते हैं अथवा उनका अनुवर्त्तन करते हैं।

अतएव 'सद्गुरु' शब्दसे या तो साक्षात् परमेश्वरको समझना चाहिये अथवा उनके अनुग्रहप्राप्त तत्साधर्म्ययुक्त जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुषको। ये अधिकारी देवता, सिद्ध और मनुष्य—तीनों ही हो सकते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'असद्गुरुमें गुरुत्व कहाँ है?' 'गुरु' शब्दका वास्तविक अर्थ लेनेपर ही इस प्रकारकी शङ्का होती है। 'गुरु' शब्दका सङ्कुचित अर्थ ग्रहण करनेपर यह शङ्का नहीं होती। क्योंकि, मायासे उद्धार न कर सकनेपर भी जो ऊँचे लोकोंके भोगैश्वर्य और अजरत्व, अमरत्व, आदि परिमित सिद्धियाँ दे सकते हैं, वे भी व्यवहारतः 'गुरु' ही कहे जाते हैं। मायिक जगत्में भी भिन्न-भिन्न उच्च स्तरोंमें आनन्द और भोग्यकी कमी नहीं है। पृथ्वीतत्त्वसे लेकर कलातत्त्वतक प्रत्येक तत्त्वमें ही भोग्यविषय और भोगोपकरणोंसे भरे अनेकों भुवन हैं। इन सब भुवनोंमें भी गुरु हैं। इनके सिवा, भुवनेश्वरगण भी ज्ञानसम्पन्न अधिकारी पुरुष होते हैं। योगी पूर्ण सिद्धावस्था लाभ करनेके पूर्व ऐसी शक्तिको प्राप्त हो सकते हैं कि जिसके द्वारा वे व्यक्तिविशेषको—वह जिस तत्त्वमें है, उसे वहाँसे,—उठाकर दूसरे वाञ्छित तत्त्वमें और उस तत्त्वके भुवनविशेषमें वहाँके ऐश्वर्यका भोग करनेके लिये भेज सकते हैं। इसके लिये दीक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। उन-उन भुवनेश्वरोंकी आराधनाके द्वारा भी* उन भुवनोंमें गमन और निवास किया जा सकता है। इन सब भोग-लोकोंसे भी भोगके अन्तमें पतन होना अवश्यम्भावी है। हाँ, वहीं किसी सद्गुरुकी कृपासे रास्ता मिल जाय तो दूसरी बात है। ये सब गुरु केवल भोग दे

* तन्त्रशास्त्रमें भोगदीक्षाकी बात भी है; पर वह अलग चीज है। उसे सद्गुरु देते हैं। शिष्य भोगार्थी होता है, इसलिये सद्गुरु उसे दीक्षाद्वारा मनोवाञ्छित भोगके लिये तदुचित लोकमें भेज देते हैं। क्रमशः भोग क्षय करके ऊपर उठते-उठते वह भी पूर्णत्वको प्राप्त होता है, परन्तु इसमें बहुत लंबा समय लग जाता है।

सकते हैं, दिव्यज्ञान नहीं दे सकते। इसी कारण ये मायासे नहीं तार सकते। यही उपर्युक्त असद्गुरु हैं।

ऐसे गुरु भी हैं जो ज्ञान दे सकते हैं; परन्तु भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। ज्ञान देकर वे मायासे मुक्त कर देते हैं परन्तु विज्ञानके अभावसे वह अधिकार नहीं पा सकता। वह स्वयं मुक्त हो जाता है, परन्तु दूसरेको मुक्त नहीं कर सकता। परोपकार नहीं कर सकता। ऐसा गुरु 'ज्ञानी गुरु' होता है—योगी नहीं होता। वह प्रकृत सद्गुरु भी नहीं है। सिद्धयोगी होनेके कारण जो एक ही साथ योगी और ज्ञानी—उभयात्मक होते हैं, वे ही 'सद्गुरु' हैं। वे शिष्यके भोग-मोक्ष दोनोंका विधान कर सकते हैं। कारण, वे विज्ञान प्रदान करते हैं। पूर्णत्वकी प्राप्ति उन्हींकी कृपासे हो सकती है।

'ब्रह्मानन्दं परमसुखदम्' कहकर जिन सद्गुरुको नमस्कार किया जाता है और गुरुप्रणाममें जिनको 'तत्पदका प्रदर्शक' तथा 'ज्ञानाञ्जन-शलाकाद्वारा अज्ञान तिमिरान्धके ज्ञानचक्षु खोल देनेवाले कहा जाता है, वे दोनों एक ही हैं।' साधारणतः 'गुरु' शब्दसे सद्गुरु ही समझा जाता है। कारण, गुरुरूपी भगवान् अथवा गुरुदेहमें अधिष्ठित भगवान् अपनी क्रियाशक्तिके द्वारा (दीक्षाके द्वारा) पशुके स्वतःसिद्ध दिव्यज्ञानरूप चक्षुओंका अवरोध करनेवाले अनादि मलका नाश कर देते हैं। जिससे उसका पशुत्व मिटकर उसमें सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वकी अभिव्यक्ति होती है और उसे शिवसाधर्म्यकी प्राप्ति हो जाती है।

इस क्रिया-शक्तिका दर्शन, स्पर्श आदि विभिन्न उपायोंसे प्रयोग किया जा सकता है और उसीके अनुसार दीक्षामें भी प्रकारभेद हुआ करता है। शिष्यको उद्धार करनेकी शक्ति ही गुरुका लक्षण है। योगवाशिष्ठमें कहा है—

'दर्शनात् स्पर्शनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥'
(निर्वाणप्रकरण १। १२८। १६१)

अर्थात् जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्शनका शब्दके द्वारा शिष्यके देहमें शिवभावका 'आवेश' करा सकते हैं वे ही देशिक या गुरु हैं। कुण्डलिनी जगकर षट्चक्रका भेद करके जब ब्रह्मरन्ध्रमें परशिवके साथ जा मिलती है, तब यह 'आवेश' हुआ करता है। सत्यसङ्कल्प गुरु केवल एक बार कृपापूर्ण दृष्टिपात करके ही इस सुमहान् कार्यको सम्पन्न कर सकते हैं।

योग्य शिष्यका उद्धार करना और अयोग्यको योग्य बनाकर उसे तार देना यही गुरुका कार्य होता है। बोधसारमें नरहरिने कहा है—

तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
श्रीगुरुः प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मताम्।
प्रापय्य पद्मतामेनं प्रबोधयति तत्क्षणात्॥

अर्थात् श्रीगुरु विवेक-वैराग्ययुक्त वेदान्त युक्तियोंके द्वारा अपद्मको भी पद्मरूपमें परिणत कर देते हैं। फिर उसे उसी क्षण जगा देते हैं। भास्कररायने ललिता सहस्रनामके भाष्य (१०) में स्पष्ट ही कहा है—'अयोग्येऽपि योग्यतामापाद्य श्रीगुरुसूर्यो बोधयति।' अर्थात् श्रीगुरुरूपी सूर्य अयोग्यको भी योग्य बनाकर प्रबुद्ध कर देते हैं।*

(५)

वैदिक शास्त्रकी तरह 'आगम' में भी श्रौत, चिन्तामय और भावनामय—इन तीन प्रकारके ज्ञानका वर्णन मिलता है।† इनमें पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानमें हेतु है। विक्षिप्त

---

* 'नवचक्रेश्वर-तन्त्र' में कहा गया है—

'पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः॥'

अर्थात् जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत—इन चारोंको सम्यक् रूपसे जानते हैं, वे ही गुरु हैं। 'गुरुगीता' के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति, हंस, विन्दु और निरञ्जन—इन्हीं चारोंको यथाक्रम पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत कहा गया है—

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसं प्रकीर्तितः।
रूपं विन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

'स्वच्छन्द-संग्रह'में भी यह श्लोक है। परन्तु उसमें अन्तिम पद है—'रूपातीतं हि चिन्मयम्।' 'योगिनीहृदय'में इसी क्रमसे चारोंका उल्लेख है। परन्तु संत दादूजीके शिष्य सुन्दरदासजीने अपने 'ज्ञान-समुद्र' नामक ग्रन्थमें ध्यानके वर्णनप्रसंगमें पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यह क्रम माना है (श्लोक ७६–८४) जैनग्रन्थोंमें भी इन चार ध्यानोंकी बात मिलती है। इसके द्वारा जाना जाता है कि पूर्ण और शुद्धतम ज्ञान ही गुरुका लक्षण है।

† बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी श्रुतचिन्ताभावनामयी प्रज्ञाका वर्णन है।

चित्तके शास्त्रार्थ-ज्ञानको 'श्रौतज्ञान' कहते हैं । यह सबसे निकृष्ट है । शास्त्रार्थकी आलोचना करके 'यहाँ यही उपयोगी है' इस आनुपूर्वीके द्वारा व्यवस्था करना 'चिन्तामय ज्ञान' है । यह मन्दाभ्यस्त और स्वभ्यस्त-भेदसे दो प्रकारका है । स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञानसे 'भावनामय ज्ञान' उत्पन्न होता है, जिसको पण्डितोंके मोक्षका एकमात्र कारण माना है। वस्तुतः यही श्रेष्ठमय ज्ञान है । इसीसे योग और योगफलकी प्राप्ति होती है । भावनामय ज्ञान न होनेपर अशुद्ध शिष्यको मायिक तत्त्वसे उद्धार करके इच्छानुसार सकल सदाशिवमें अथवा निष्कल परमशिवमें मुक्त करना सम्भव नहीं है। अर्थात् गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी होनेपर भी यदि वह भावना-विशेषके अभावसे उक्त तत्त्व-विशेषका साक्षात्कार न करके अशुद्ध ही बना रहता है तो वह पूर्वोक्त प्रकारसे उद्धार और योजन करनेमें समर्थ नहीं होता । परन्तु सिद्ध योगी मायिक तत्त्वोंकी सिद्धि प्राप्त करके भी सदाशिवादि उत्तम पदका स्वभ्यस्त ज्ञानी होनेके कारण योजना कर सकता है । यद्यपि योगी उन-उन तत्त्वोंकी सिद्धि प्राप्त करता है, तथापि योग-बलसे शिष्योंकी उन-उन तत्त्वोंमें योजना नहीं कर सकता । कारण, निम्न-स्तरके तत्त्वोंकी योगज सिद्धि मुक्तिका उपाय नहीं है ।

प्रश्न यह है कि जिसके प्रभावसे योगी सारे जगत्‌का बन्धन काट सकता है, वह सदाशिवादिसे उच्चस्तरके तत्त्वकी योगसिद्धि उसे क्यों नहीं होती ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि योगीकी भाँति ज्ञानी भी अभ्यासहीन है, तथापि ज्ञानी सर्वथा स्वभ्यस्त भावनाके विज्ञान-प्रसंगमें शिव-भावको प्राप्त हो गया है, इसलिये वह दीक्षादि क्रममें योगीकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिये योगीके प्रकार-भेदके सम्बन्धमें भी कुछ साधारण ज्ञान होना आवश्यक है । आगमके मतानुसार संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध-भेदसे योगी चार प्रकारके होते हैं । जिस साधकने योगका उपदेशमात्र पाया है उसे 'संप्राप्त' और योगाभ्यासमें भली-भाँति लगे हुए साधकको 'घटमान' कहते हैं । ये दोनों प्रकारके साधक जब स्वयं ही योग अथवा ज्ञानमें सुप्रतिष्ठ नहीं हैं, तब दूसरेका उपकार करनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं ? परन्तु जिनका योग सिद्ध हो गया है, उनमें स्वभ्यस्त ज्ञान भी अवश्य ही होता है । इस ज्ञानके द्वारा वे दूसरेको मुक्त कर सकते हैं—अन्य प्रकारसे अर्थात् सिद्धिके प्रभावसे नहीं । योगी और ज्ञानीमें यही सर्वश्रेष्ठ हैं; कारण, योगी होकर भी ये ज्ञानी हैं । जो सुसिद्ध योगी हैं, वे व्यवहार-भूमिसे अतीत हैं । वे किसी समय भी अपने स्वरूपसे स्खलित नहीं होते । वे किसी भी स्थानमें रहें, कैसा भी फल भोग करें—सदा निर्विकार रहते हैं । वे नररूपी विरूपाक्ष हैं । सकलाधार सिद्धि एकमात्र उन्हींमें प्रकट होती है । परन्तु वे गुरु-भावका अवलम्बन करके साक्षात्‌रूपसे मर्त्यगणोंको मुक्त नहीं करते—विद्येश्वरगणोंके द्वारा करते हैं ।

अतएव ज्ञान और योगका विचार करके 'मालिनी तन्त्र' में कहा है कि मुमुक्षुके लिये स्वभ्यस्त ज्ञानवान् गुरु ही श्रेष्ठ हैं । इसीलिये 'स्वभ्यस्त विज्ञान' ही गुरुका एकमात्र लक्षण है—'योगित्व' नहीं ।

परन्तु योगी गुरु भी हैं । यह सत्य है कि निरे योगीकी अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है । कहाँ ज्ञानी गुरु करना चाहिये और कहाँ योगी गुरु, एवं कहाँ-कहाँ इनको न करना चाहिये, इस विषयमें आचार्य अभिनवके गुरु शम्भुनाथने निज मुखसे कहा है कि 'जो शिष्य मोक्ष और ज्ञान चाहता है, उसके लिये स्वभ्यस्त ज्ञानी गुरुकी आवश्यकता है । अन्य प्रकारके गुरु प्राप्त होनेपर भी उसके लिये ऐसे गुरुका होना अपरिहार्य है । कारण,—

शान्तिदेवके 'बोद्धचर्यावतार' की प्रभाकरकृत पञ्जिका नाम्नी टीकामें इस प्रज्ञाको भूमिप्रविष्ट प्रज्ञासे पृथक् किया गया है । 'अभिधर्म-कोश' में भी श्रौत ज्ञानादिका विवरण है । वैभाषिक मतसे श्रुतमयी प्रज्ञाका विषय 'नाम', चिन्तामयी प्रज्ञाका विषय 'नाम' और 'अर्थ' एवं भावनामयी प्रज्ञाका विषय केवल 'अर्थ' है । सौत्रान्तिक मतसे श्रुतप्रज्ञा=आप्तप्रमाणजनिश्चय; चिन्ताप्रज्ञा=युक्तिनिर्ध्यानजनिश्चय; भावनाप्रज्ञा=समाधिजनिश्चय है । जो शीलवान् और श्रुतचिन्ता-प्रज्ञावान् है, वही भावनाका अधिकारी है । (देखिये—अभिधर्म-कोश [६])

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥

जो गुरु विज्ञान दानमें समर्थ नहीं है, वह शक्तिहीन है। जो स्वयं अज्ञ है, वह दूसरेको ज्ञान कैसे दे सकता है ? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'भावना ही तो मुख्य है, अज्ञ गुरुके द्वारा भी शिष्यकी भावनाके कारण उत्तम फल हो सकता है। अतएव अज्ञ प्राप्त गुरुके त्यागकी क्या आवश्यकता है ?' जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखकर भी अधम पदपर स्थित रहता है वह अभागा है। जो भोग, मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी योगसिद्ध ही होना चाहिये। यही तीसरे प्रकारका योगी है। जो मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु ज्ञानी होना चाहिये। इस गुरुसे भोगसिद्धि नहीं होती। जो मितयोगी है अर्थात् जो 'घटमान' और 'सिद्ध' अवस्थाके बीचका है, वह गुरु होनेपर केवल भोगांश दे सकता है—मोक्ष और विज्ञान नहीं दे सकता। केवल 'संप्राप्त' और 'घटमान' अवस्थामें स्थित योगी तो शिष्यको मोक्ष और विज्ञानकी बात बहुत दूर है, भोगमात्र भी नहीं दे सकता। वह तो केवल उपाय बतला सकता है। जो मितयोगी भी नहीं है, ऐसे योगाभ्यासीकी अपेक्षा मितज्ञानी भी गुरुकी दृष्टिसे श्रेष्ठ है, क्योंकि, वह ज्ञानके साधनोंका उपदेश देकर शिष्यको क्रमशः मुक्त कर सकता है।

गुरु यदि ऐसे मितज्ञानी हों तो शिष्यको क्या करना चाहिये ? एक ही पूर्ण ज्ञानी गुरु या सद्गुरु न मिलनेकी अवस्थामें साधकको चाहिये कि वह भिन्न-भिन्न परिमित-ज्ञान गुरुओंसे अंशांशिक क्रमसे ज्ञान ले-लेकर अपने आत्मामें अखण्डमण्डल पूर्ण ज्ञानका सम्पादन करे। एक ही मित-ज्ञानीसे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव अपने ज्ञानकी पूर्णताके लिये विशेष प्रयत्नके साथ असंख्य गुरु करनेकी आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्यवाय नहीं होता।

सद्गुरुकी प्राप्ति भगवान्के अनुग्रह बिना नहीं होती। जहाँ तीव्र शक्तिपात होता है, वहाँ पूर्ण ज्ञानसम्पन्न ऐसे गुरु मिल जाते हैं—जिनकी कृपामात्रसे स्वात्मविज्ञानका पूर्ण रूपसे उदय हो जाता है। फिर बार-बार गुरु करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रभुसे—

प्रभु मैं चरण-कमलकी चेरी।
आई शरण हरण करिए अब सब भव बाधा मोरी॥
तुम सर्वज्ञ अखिल जग स्वामी मैं अल्पज्ञ कमेरी।
परमधाम अमिताभ तुम्हारा, मेरी सृष्टि अँधेरी॥
प्रभु सच्चिदानन्द परमेश्वर गति अति अलखित तेरी।
शरणागत प्रपन्नकी तुमने जीवन-विपति निबेरी॥
'शशि' असहाय प्रबल माया-प्रिय षड्रिपु-राहु गहेरी।
बन्धन-मुक्ति हेतु श्री-पद-नख-भानु-उदयकी देरी॥

—शशिप्रभा देवी

हिंदूधर्ममें सत्यका समग्र रूप

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्. ए.)

कर्मके इस नियमको एक प्रकारसे सभी धर्मोंने स्वीकार किया है कि मनुष्य भला-बुरा जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल उसे उसी जीवनमें अथवा जन्मान्तरमें अवश्य भोगना पड़ता है। परन्तु यह नियम किस प्रकार काम करता है, इसका साङ्गोपाङ्ग एवं वैज्ञानिक निरूपण केवल हिंदूधर्ममें ही हुआ है। इसी नियमका अङ्गभूत जो यह सिद्धान्त है कि जो भी सुख-दुःख हम इस जीवनमें भोगते हैं, उनमेंसे कुछ हमारे प्राक्तन कर्मोंके फल हैं, इसकी सत्यताका अनुभव दूसरे धर्म नहीं कर पाये हैं। कुछ बच्चे जन्मसे ही रुग्ण रहते हैं। उन्होंने इस जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया हो, जिसका फल उन्हें भुगतना पड़ रहा है—यह बात नहीं कही जा सकती। दूसरे धर्म इन बच्चोंके दुःखभोगका कारण नहीं बता सकते। ईश्वर यदि न्यायी एवं सर्वसमर्थ है तो प्रत्येक जीवके दुःखभोगका कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। एक हिंदूधर्म ही हमें यह बतलाता है कि ऐसे बच्चोंके दुःखभोगका कारण उनके पूर्वकृत कर्म ही हैं। श्रीमती एनी बेसेंटके एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जो जन्मसे ही रुग्ण रहती थी और कष्टमय जीवन बिताकर कुछ ही दिनोंके बाद इस लोकसे चल बसी थी। उन्होंने इस प्रश्नपर विचार किया कि उस कन्याको इतना कष्ट क्यों हुआ। उन्होंने कई पादरियोंसे इस प्रश्नका उत्तर पूछा। यही नहीं, उन्होंने विभिन्न धर्मोंके सिद्धान्तोंका निरूपण करनेवाली पुस्तकें भी पढ़ीं। परन्तु जबतक उन्होंने हिंदूधर्मके ग्रन्थ नहीं पढ़े, और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका ठीक-ठीक पता न लगा तबतक उन्हें इस प्रश्नका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। ऐसे बहुत-से हेतु हैं, जिनके कारण हमें बाध्य होकर पूर्वजन्मको स्वीकार करना पड़ता है। महाकवि कालिदासने अपनी अनुपम कृति अभिज्ञानशाकुन्तलमें एक जगह कहा है कि अपने प्रियजनोंसे संयुक्त होनेपर भी हम कभी-कभी किसी दूरस्थ बन्धुके लिये उत्कण्ठित-से हो जाते हैं। इसका कारण वे यही बतलाते हैं कि ऐसे अवसरोंपर हम अपने किसी पूर्वजन्मके स्नेहीको याद करते होते हैं*।

हालके पैदा हुए शिशुको माँका स्तन पान करना कौन सिखलाता है? उसने पिछले जन्मोंमें माँका दूध अवश्य पिया होगा और उसका पिछला अभ्यास इस जन्ममें भी उसके काम आता है। पूर्वजन्मके होनेमें एक और भी प्रमाण है। सभी धर्म एक स्वरसे आत्माकी अमरताको—नित्यताको स्वीकार करते हैं। परन्तु जिस वस्तुका आदि है, उसका अन्त भी अवश्य होना चाहिये। अन्त उसी वस्तुका नहीं होता, जिसका आदि नहीं है। अतः आत्माको अविनाशी माननेपर उसे अनादि भी मानना होगा। कोई भी दूसरा धर्म नहीं बतला सकता कि आत्मा जन्मके पूर्व किस अवस्थामें था। एक हिंदूधर्ममें ही इसका पूरा-पूरा विवरण मिलता है।

सभी धर्म मृत्युलोकके अतिरिक्त स्वर्ग और नरक नामक लोकोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु जहाँ दूसरे धर्म यह कहते हैं—अथवा संकेत करते हैं कि स्वर्ग और नरकमें जाकर कोई वापस नहीं आता, हिंदूधर्म यह कहता है कि कोई भी आत्मा स्वर्ग अथवा नरकमें सदा नहीं रह सकती। क्योंकि स्वर्ग अथवा नरक हमें अपने किसी कर्मके फलरूपमें ही प्राप्त होते हैं और कर्म सभी आदि-अन्तवाले होते हैं।

---

* रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

आदि-अन्तवाले कर्मका फल कभी अनादि अथवा अनन्त नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग अथवा नरकमें चाहे किसी जीवको दीर्घकालतक निवास करना पड़े, परन्तु कभी-न-कभी उसे वहाँसे अवश्य हटना पड़ेगा। हिंदूधर्मके अनुसार स्वर्ग अथवा नरकमें नियत कालतक (चाहे वह अवधि हजारों वर्षोंकी ही क्यों न हो) रह चुकनेके बाद जीवको पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि मरनेके बाद सभी जीवोंको स्वर्ग अथवा नरकमें जाना ही पड़ता है। सुकृती लोग ही स्वर्गमें जाते हैं तथा पापाचारी नरकोंमें जाते हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्होंने जीवनमें न तो कोई विशेष पुण्य ही किया है न पाप ही। हिंदूधर्मके अनुसार ऐसे जीव न स्वर्गमें जाते हैं न नरकमें वरं मरनेके बाद तुरंत ही उनका मर्त्यलोकमें पुनः जन्म हो जाता है।

मोक्ष नामक स्थितिको भी केवल हिंदूधर्मने ही माना है, दूसरे धर्मोंने उसे स्वीकार नहीं किया है। स्वर्ग अथवा नरककी प्राप्ति एक निश्चित अवधिके लिये ही होती है; किन्तु मोक्षसुखको निरवधि अथवा शाश्वत माना गया है। स्वर्ग अथवा नरक जिस प्रकार हमें कर्मोंके फल रूपमें मिलता है, उस प्रकार मोक्ष किसी कर्मका फल नहीं है। स्वर्ग अथवा नरककी भाँति यदि मोक्ष भी हमारे कर्मका फल होता तो वह भी अन्तवाला होता। मोक्ष तत्त्वज्ञानका फल है। आत्मा अपने स्वरूपको जान लेता है। उसे यह अनुभव हो जाता है कि मैं शरीरसे भिन्न शुद्ध चित् अथवा ज्ञानस्वरूप हूँ। प्रकृतिकी संहारशक्ति सभी प्राकृतिक-जड वस्तुओंका नाश कर सकती है, परन्तु वह शुद्ध चित् अथवा ज्ञानका नाश नहीं कर सकती। अतः एक बार आत्माको जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं शुद्ध चित् अथवा ज्ञानस्वरूप हूँ, तो फिर शरीरका अन्त हो जानेपर भी आत्माकी इस स्थिति (मोक्षकी स्थिति) का कदापि अन्त नहीं हो सकता जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, मोक्ष किसी कर्मका फल नहीं है। किन्तु कर्म अज्ञानके पर्देको हटानेमें सहायक होते हैं, जिस पर्देके कारण आत्मा अपने स्वरूपको नहीं पहचान पाता। तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली मोक्षरूप इस अविनाशी स्थितिको केवल हिंदूधर्मने स्वीकार किया है। यही मनुष्यजीवनका परम पुरुषार्थ है।

सभी धर्मोंने सृष्टिकी उत्पत्तिका कोई-न-कोई सिद्धान्त माना है। सभी धर्म इस बातको स्वीकार करते हैं कि एक समय ऐसा था जब कि यह जगत् नहीं था। इसीको प्रलयकाल कहते हैं। दूसरे धर्मोंकी मान्यता यह प्रतीत होती है कि प्रलय अनादिकालीन था। परन्तु हिंदूधर्म यह कहता है कि प्रलयके पूर्व भी सृष्टि थी, और उस सृष्टिके पूर्व प्रलय था—इस प्रकार सृष्टि एवं प्रलयका यह चक्र अनादिकालसे चला आता है। सन्ध्योपासनके समय जो यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥'

(ब्रह्माजीने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोककी रचना पूर्वकल्पके अनुसार ही की)—उससे इस बातका संकेत मिलता है कि प्रत्येक सृष्टिके पूर्व भी कोई-न-कोई सृष्टि अवश्य थी। प्रत्येक सृष्टिके आदिमें जो विषमता देखनेमें आती है, वह प्राक्तन सृष्टिमें किये हुए जीवोंके विविध कर्मोंका फल है। प्रत्येक सृष्टिके आदिमें कुछ जीव मनुष्यके रूपमें उत्पन्न होते हैं, कुछ पशुओंके रूपमें जन्म लेते हैं। इसकी संगति इस सिद्धान्तको माननेसे ही हो सकती है कि इन जीवोंने प्राक्तन सर्गमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म किये थे।

केवल हिंदूधर्म ही यह कहता है कि पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्यों-जैसी ही आत्मा होती है। शुद्ध चैतन्य ही आत्माका स्वरूप है। और पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओंमें भी मनुष्योंकी भाँति चेतनता होती ही है। जैसा भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है, 'यदि हम हाथमें लाठी लेकर किसी पशुकी ओर दौड़ें तो वह डरकर भागेगा। भागते समय वह यही सोचेगा कि यदि लाठी मेरे शरीरपर पड़ेगी तो मुझे पीड़ा होगी। इसके विपरीत जब हम घास लेकर किसी जानवरकी ओर बढ़ते हैं तो वह हमारे निकट आ जाता है, क्योंकि वह समझता है कि घास खानेसे उसे तृप्ति मिलेगी।' देवीमाहात्म्यमें कहा है—

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते न हि केवलम्।
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः॥

'मनुष्य समझदार होते हैं—यह सत्य है, किन्तु केवल वे ही समझदार होते हों—यह बात नहीं है; क्योंकि पशु, पक्षी आदि सभी जीव समझदार होते हैं।'

इसपर कोई यह सोच सकता है कि पशु-पक्षी आदि जीवोंको भले-बुरेकी पहचान नहीं होती और मनुष्यको इसकी पहचान होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि पशु-पक्षी आदि जीवोंमें आत्मा नहीं होती। परन्तु भले-बुरेकी पहचान बुद्धिके द्वारा होती है, और मनुष्यकी बुद्धि पशु-पक्षियोंकी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक उन्नत होती है। आत्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्य है और वह पशु-पक्षियोंमें उसी रूपमें होता है जिस रूपमें मनुष्यके अंदर होता है। छोटे बच्चों तथा पागलोंको भी भले-बुरेकी पहचान नहीं होती। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अंदर आत्मा नहीं होती। कुछ पुराने एवं सधे हुए अपराधियोंमें भी भले-बुरेकी पहचान नहीं होती। इससे हमें यह मानना पड़ेगा कि पशु-पक्षियोंमें भी मनुष्योंकी भाँति आत्मा होती है, अन्तर केवल बुद्धिके तारतम्यको लेकर ही होता है।

सभी धर्म यह कहते हैं कि विश्वको ईश्वरने रचा है। हम इस बातको जानते हैं कि किसी वस्तुकी उत्पत्तिके लिये दो कारण अपेक्षित हैं—एक चेतन कर्ता और दूसरा वह उपादान, जिससे उस पदार्थकी रचना की जायगी। पहलेको निमित्तकारण तथा दूसरेको उपादानकारण कहते हैं। सभी धर्म इस विषयमें एकमत हैं कि ईश्वर जगत्का निमित्तकारण है। परन्तु जगत्का उपादानकारण, जिससे यह जगत् बना है, क्या है? दूसरे धर्मोंके पास इस प्रश्नका उत्तर नहीं है। उनकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि जगत्की उत्पत्ति शून्यसे हुई। परन्तु शून्यसे—अभावसे किसी भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। एक हिंदूधर्म ही इस प्रश्नका समुचित उत्तर देता है। वह यह कहता है कि इस विश्वको भगवान्ने अपनेमेंसे ही रच डाला। उन्हें विश्व-की रचनाके लिये किसी बाह्य उपादानकी अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीरमेंसे जाल रच देती है, उसी प्रकार ईश्वरने अपने आपमेंसे इस विश्वको रच डाला। इसके बाद हिंदूधर्म विस्तारसे सृष्टिकी प्रक्रियाका निरूपण करता है। सर्वप्रथम आकाशकी उत्पत्ति हुई, आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सत्यका समग्र रूप हिंदूधर्ममें ही पाया जाता है, दूसरे धर्मोंमें उसकी अंशरूपमें ही उपलब्धि होती है।

कामके पत्र

(१)

ब्रह्मज्ञान, पराभक्ति, भगवान्‌की लीला

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें बहुत देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। व्यतिरेक और अन्वय—दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मज्ञानकी साधना होती है। आजकल अवश्य ही ऐसी प्रथा-सी हो गयी है कि लोग वेदान्तका अर्थ ही व्यतिरेक-साधना करते हैं। वे 'नेति-नेति' कहकर जगत्‌को स्वप्न, गन्धर्वनगर, शशशृंग और रज्जुमें सर्प आदिकी भाँति सर्वथा असत् बतलाकर सबका अस्वीकार तो करते हैं, परन्तु सब कुछको एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन-स्वरूप मानकर ब्रह्मका स्वीकार नहीं करते। इसीलिये कभी-कभी जगत्‌का बाध करते-करते ब्रह्मका भी बाध हो जाता है और मनुष्यका चित्त एक जड शून्य भूमिकापर जा पहुँचता है। जगत् वस्तुतः न कभी था, न है, न होगा—यह सत्य है, परन्तु इसके साथ यह भी सर्वथा सत्य है कि जगत्‌के रूपमें जो कुछ भी भास रहा है, वह, तथा जिसको भासता है, वह भी ब्रह्म ही है। जगत्‌को सर्वथा वस्तुशून्य समझना 'व्यतिरेक' साधना है और चेतनाचेतनात्मक समस्त विश्वमें एक चेतन अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्मसत्ताका अनुभव करना 'अन्वय' साधना। दोनों साधनाओंके समन्वयसे जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' तत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है।

यह श्रीभगवान्‌का सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप है। इसके जान लेनेपर ही समग्र पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण-की प्रेमलीला या व्रजलीलाके समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। दिव्य हृदय और दिव्य नेत्रोंके बिना व्रजलीलाके दर्शन नहीं हो सकते। विविध साधनाओंके द्वारा हृदय जब समस्त संस्कारोंसे शून्य होकर शुद्ध सत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जब सम्पूर्ण विश्वमें एक अखण्ड अनन्त समरस सर्वव्यापक सर्वरूप अव्यक्त ब्रह्मकी साक्षात् अनुभूति होती है तभी प्रेमकी आँखें खुलती हैं, तभी भगवान्‌की लीलाके यथार्थ और पूर्ण दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है और तभी प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ पूर्णैक्यमय मिलन होता है। यही ज्ञानकी परा निष्ठा है। 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा।' श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
> **समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥**
> **भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।**
> **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**

'साधक जब प्रसन्न-अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, जब उसे न तो किसी बातका शोक होता है और न किसी बातकी आकांक्षा ही। समस्त प्राणियोंमें उसका समभाव हो जाता है, तब उसे मेरी पराभक्ति—पूर्ण प्रेम प्राप्त होता है। और उस पराभक्तिके द्वारा मुझ भगवान्‌के तत्त्वको—मैं जो कुछ और जितना कुछ हूँ—वह पूरा-पूरा जान लेता है और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें मिल जाता है।'

यह ब्रह्मज्ञान और यह पराभक्ति—केवल ऊँची-ऊँची बातोंसे नहीं मिलती। निरी बातोंसे तो ब्रह्मज्ञानके नाम-पर मिथ्या अभिमान और भक्तिके नामपर विषय-विमोहकी प्राप्ति ही होती है। सत्संग, साधुसेवन, सद्विचार, वैराग्य, भजन, निष्काम कर्म, यम-नियमादिका पालन और तीव्रतम अभिलाषा होनेपर ही इनकी प्राप्ति संभव है। भगवत्कृपाकी तो शरीरमें प्राणोंकी भाँति सभी साधनाओंमें अनिवार्य आवश्यकता है।

(२)

कार्यकर्ता साधकोंके प्रति

इधर आपसमें कुछ कलह तथा द्वेष बढ़ा दीखता है, यह नया नहीं है। मनमें छिपा था वही बाहर निकल रहा है। पहले थोड़ा काम था और थोड़े कार्य-कर्ता थे, इससे थोड़े रूपमें था। अब ज्यों-ज्यों काम बढ़ा, आदमी बढ़े, त्यों-ही-त्यों छिपे दोषोंका भी अधिक प्रकाश और प्रसार होता गया। फिर, इस समय तो सारे भूमण्डलका ही वातावरण विक्षुब्ध हो रहा है। ऐसी अवस्थामें ऐसा न होना ही आश्चर्यकी बात थी। तथापि जो लोग साधनाके उद्देश्यसे यहाँ काम करने आये हैं या करना चाहते हैं उनके लिये तो यह स्थिति अवश्य ही शोचनीय है। सच पूछिये तो बात यह है कि लोगोंने अभीतक अपने जीवनका एक उद्देश्य ही निश्चित रूपसे स्थिर नहीं किया है, और जिन्होंने कुछ किया था, वे भी प्रपञ्चमें पड़कर शायद उसे भूल-से गये हैं। शुद्ध सेवाके भावसे, खास करके परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे काम करनेवालोंको नीचे लिखी बातोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये और जहाँतक बने, इन सब बातोंको अपनेमें प्रकट करनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये।

१—जीवनका उद्देश्य है—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति (या भगवत्प्राप्ति)। यह उद्देश्य हमेशा याद रहे और प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हो। सदा यह ध्यान रहे कि मुझे लौकिक या पारलौकिक प्रत्येक कार्यके द्वारा केवल 'भगवत्सेवा' करना है। जैसे धन कमानेकी इच्छावाला मनुष्य स्वाभाविक ही सदा सावधान रहता है और जान-बूझकर ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे धनकी आमदनीमें बाधा हो, धनका व्यर्थ व्यय और नाश हो। उसे धनकी जरा-सी हानि भी सहन नहीं होती, इसी प्रकार सच्ची सेवा करनेवाला साधक कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो भगवान्‌की रुचिके प्रतिकूल हो या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके पथमें जरा भी विघ्नरूप हो।

२—सब जीवोंमें भगवान्‌का निवास है। यह समझकर सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबका हित-साधन करे और सबके साथ निष्कपट सत्य व्यवहार करे। जिसके व्यवहारमें सम्मान, प्रेम, हित और सत्य समाया है वह सहज ही सबका प्रिय हो जाता है। कटुता तो अभिमान, द्वेष, अहित और कपटसे आती है।

३—धार्मिक भाव हो—

(क) प्रातःकाल उठते और रातको सोते समय अपने इष्टदेव भगवान्‌का स्मरण करे।

(ख) अपने शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सन्ध्या, गायत्री-जप और प्रार्थना प्रतिदिन यथासमय करे।

(ग) भगवान्‌के नामका नियमित जप तो करे ही। दिनभर जीभसे नाम-जप करनेकी आदत डाले। नित्य भगवद्गीता और रामचरितमानस आदिका नियमित स्वाध्याय करे।

(घ) भगवान्‌में और अपने धर्ममें श्रद्धा-विश्वास रक्खे और उसे बढ़ाता रहे।

(ङ) भगवान्‌के विधानमें न तो कोर-कसर देखे और न उसे पलटनेकी कभी इच्छा ही करे।

(च) जहाँतक बने—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-व्रतका अधिक-से-अधिक पालन करे। जान-बूझकर इन व्रतोंको भङ्ग न करे।

(छ) संग्रह-परिग्रह कम-से-कम करे। योगक्षेमके लिये भगवान्‌पर अटूट श्रद्धा रक्खे। किसी भी लाभके लोभसे कभी भूलकर भी अन्याय और अधर्मका आश्रय न ले।

(ज) बाहर और भीतरसे स्वच्छ रहनेकी चेष्टा करे। शरीर, दाँत और कपड़ोंपर मैल न जमने दे। रहनेके स्थानको भी साफ-सुथरा रक्खे। सद्विचारोंके द्वारा मनको पवित्र करता रहे।

(झ) गुरुजनोंपर तथा शास्त्रपर श्रद्धा रक्खे। माता-पिताकी सेवा करे। स्त्री-बच्चे तथा सेवकोंके साथ प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार करे। अपनी हानि सहकर भी दूसरोंकी सेवा करे। याद रखना चाहिये दूसरोंका भला करनेवालोंका परिणाममें कभी बुरा हो ही नहीं सकता।

(ञ) खान-पानमें संयम, सादगी और शुद्धिका पूरा खयाल रक्खे।

(ट) तन-वचनसे ऐसा कोई भी काम कभी न करे जिसको देख-सुनकर घरके लोगों, साथी कार्यकर्ताओं, सेवकों और पड़ोसियों आदिमें भगवान्के प्रति अविश्वास, धर्ममें शिथिलता और चरित्रमें दोष आनेकी सम्भावना हो।

(ठ) गरीब, दीन, मजदूर और विपत्तिग्रस्त नर-नारियोंके प्रति विशेष सहानुभूति तथा प्रेमका बर्ताव करे।

(ड) परनिन्दा, पर-चर्चा, परदोष-दर्शन आदिसे यथासाध्य बचा रहे।

४—चरित्र शुद्ध हो—

जिसके आचरण शुद्ध हैं, वही सच्चा मनुष्य है और वही भगवत्प्रेमका भी अधिकारी हो सकता है। यह जानकर इन बातोंपर ध्यान रक्खे—

(क) जहाँतक हो युवती स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बहुत कम रक्खे। एकान्तमें तो साथ रहे ही नहीं। कार्यवश किसीसे मिलनेकी जरूरत पड़े तो दृढ़ताके साथ उसमें भगवद्‌बुद्धि या मातृबुद्धि करे। स्त्रीमात्रमें ही भगवती या मातृभावना करनी चाहिये। मनमें इतनी विशुद्धि पैदा कर लेनी चाहिये कि किसी भी स्त्रीके चिन्तन, दर्शन या बातचीतसे मनमें कोई विकार आवे ही नहीं।

(ख) रुपये-पैसेके सम्बन्धमें सदा स्पष्ट और ईमानदार रहे। दूसरेकी छदामपर भी चित्त न चले। छोटे या बड़े प्रत्येक लेन-देनमें एक-एक पैसेका हिसाब पूरा और दुरुस्त रक्खे और उसे अधिकारियोंको दिखानेमें जरा भी संकोच या अपमान न समझे। जहाँ-तक हो, हिसाब हाथों-हाथ दे दिया जाय।

(ग) गंदे साहित्य, गंदी बातचीत और गंदे नाटक-सिनेमा आदिसे सर्वथा बचा रहे।

(घ) चरित्र-सम्बन्धी दिनचर्या प्रतिदिन लिखे और अपनी भूलोंपर पश्चात्ताप करके भविष्यमें भूल न करनेका निश्चय करे।

५—स्वार्थसिद्धिकी कामना न हो। जैसे—

(क) सेवा करनेसे लोगोंकी मुझपर श्रद्धा होगी तो मैं महात्मा कहलाऊँगा, लोग मुझे अपना गुरु, सरदार या नेता समझेंगे। मेरा सम्मान-पूजन करेंगे, मेरे आज्ञाकारी होंगे। मेरी कीर्ति फैलेगी और इतिहासोंमें मेरा नाम अमर रहेगा।

(ख) मुझे खाने-पीने-पहननेकी कोई तकलीफ नहीं होगी। शिष्यों, सेवकों तथा अनुयायियोंके द्वारा मुझे सदा अच्छा आराम और अभाव-पूर्तिके लिये आवश्यक सामग्रियाँ अपने-आप मिलती रहेंगी। फिर जीविकाका तो कोई प्रश्न रहेगा ही नहीं।

६—अभिमान न हो। जैसे—

(क) मैंने सेवाके लिये कितना त्याग किया है जो तन-मन-धनसे सेवामें लगा हूँ।

(ख) मैं योग्यता होनेपर भी अवैतनिक या केवल निर्वाहमात्रके लिये थोड़ेसे रुपये लेकर इतना काम करता हूँ, अतएव वेतन लेकर या अधिक वेतन लेकर काम करनेवालोंसे श्रेष्ठ हूँ। वे मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं!

(ग) मैं धर्म या देशकी सेवा करता हूँ, दूसरे लोग तो केवल परिवार या अपने ही भरण-पोषणमें लगे हैं, इसलिये मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ।

(घ) मुझमें विद्या अधिक है, मैं एम० ए०, आचार्य आदि डिग्रियोंको प्राप्त हूँ। कम पढ़े-लिखे लोग बुद्धि-विचारमें मेरे समान कैसे हो सकते हैं?

७-स्वभाव और वाणीके व्यवहारमें दृढ़ताके साथ पूरी नम्रता, कोमलता और प्रेम हो—

(क) कार्यपद्धति या संस्थाके नियमोंका पालन स्वयं दृढ़तासे करके अपने साथियोंसे करवावे।

(ख) परन्तु स्वभावमें और वाणीमें अमृत-सी मिठास भरी हो, जिससे किसीको भी उसका व्यवहार अखरे नहीं।

(ग) स्वयं आचरण करके अपने साथियोंमें नम्रता, कोमलता, विनय, प्रेम तथा शुद्ध सेवाका भाव जाग्रत् करे—उपदेश या आदेशसे नहीं। जो स्वयं उत्तम आदर्श व्यवहार नहीं करता, उसके उपदेशका दूसरोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और उसे यह आशा भी नहीं रखनी चाहिये कि मेरे उपदेशसे लोग उत्तम व्यवहार करेंगे। दूसरोंकी बाट न देखकर उत्तम व्यवहार-की शुरुआत पहले अपनेसे ही करनी चाहिये।

८-आर्थिक लोभ न हो—

सेवाके भावसे ही सेवा-कार्य हो; स्वच्छन्द जीविका-निर्वाह और धनकी वृद्धिके उद्देश्यसे नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि अपने और परिवारके निर्वाहके लिये—यदि किसी संस्थामें पूरा समय देकर काम करना है तो वहाँसे कुछ ले ही नहीं। निर्वाहके लिये खर्च लेनेमें जरा भी आपत्ति नहीं; बल्कि न लेनेमें आपत्ति है। खर्च नहीं लिया जायगा तो समय तथा बुद्धि दोनोंका व्यय करके निर्वाहकी चेष्टा दूसरी तरहसे करनी पड़ेगी जिससे अबाध सेवाकार्यमें रुकावट होगी। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि अनावश्यक खर्च जरा भी बढ़ाया तो जाय ही नहीं, जहाँतक हो इन्द्रियसंयम, भोजनाच्छादनमें सादगी तथा अपना काम अपने हाथों करनेकी आदत डालकर उत्तरोत्तर खर्च घटाता रहे। आवश्यकता और अभाव जितना ही कम होगा, उतना ही खर्च भी कम होगा और खर्चके लिये रुपयोंकी जरूरत जितनी कम होगी उतनी ही सेवा शुद्ध होगी। रहन-सहनमें गरीबों और त्यागियोंका आदर्श सामने रखना चाहिये, भोगियों और धनवानोंका नहीं। झूठी मान-बड़ाई, आरामतलबी और विलासितामें पैसा खर्च करना अथवा पैसे बटोरकर धनी बननेकी चाह रखना—दोनों ही बातें साधकके लिये अत्यन्त हानिकर तथा सेवामें कलङ्क लगानेवाली हैं।

९-आत्मश्रद्धा, समयका सदुपयोग, नियमानुवर्तिता, आज्ञाकारिता, सहयोग और श्रेय—

(क) भगवान्में, भगवत्कृपामें और भगवत्कृपाके बलपर अपने आत्मामें पूर्ण श्रद्धा हो। यह दृढ़ निश्चय करे कि मैं सब दोषोंसे मुक्त रहकर स्वाभाविक ही सत्कार्योंके द्वारा पूरी सफलताके साथ भगवान्की सेवा कर सकता हूँ और करूँगा।

(ख) जिस कामके लिये जो समय नियत हो, उस समय वही काम करे, समयका दुरुपयोग तो कभी न करे। व्यर्थकी बातोंमें, दूसरोंके दोषकथनमें, ताश-शतरंजमें और आलस्य-प्रमादमें जीवनके बहुमूल्य समयको जरा भी न खोवे। सदा-सर्वदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगा रहे। निकम्मे आदमीको ही प्रमाद सूझा करता है।

(ग) संस्थाके सिद्धान्तों और नियमोंका पालन करे और उसके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पूरी जिम्मेवारी मानकर तत्परताके साथ अपना कार्य करे और उसीके अनुकूल अपना

जीवन बनानेकी श्रद्धायुक्त चेष्टा करे ।

(घ) नम्रताके साथ अधिकारियोंकी आज्ञाका कर्त्तव्य समझकर सुखपूर्वक पालन करे । कभी भी व्यवस्थामें गड़बड़ी पैदा न करे । अपनी ऐसी सुविधा न चाहे जिससे संस्थाकी कार्य-व्यवस्थामें अड़चन आवे और दूसरोंपर बुरा असर पड़े ।

(ङ) आवश्यकतानुसार मिल-जुलकर काम करनेमें कभी अपमान न समझे, सहयोगियोंके साथ राग-द्वेषरहित प्रेमका बर्ताव करे, उनके कार्यकी उचित प्रशंसा करके—नये हों तो सम्मानपूर्वक उन्हें काम सिखाकर उत्साह दिलाता रहे और उन्हें अपनेसे नीचा न समझे । प्रतिद्वन्द्विता और दलबंदी कभी न करे ।

(च) किसी भी कार्यकी सफलताका श्रेय अपनेको न मिलकर अपने किसी साथीको मिले तो उसमें यथार्थ ही सुख माने । शुद्ध सेवक श्रेय मिलनेके लिये काम नहीं करता, वह तो भगवत्सेवाके लिये करता है । उसे अपने कर्त्तव्यपालनसे काम है, नाम या यशसे नहीं । इसलिये उसे तो चाहिये कि काम स्वयं करे और श्रेय साथियोंको दिलावे । किसी दूसरेकी सफलताके श्रेयमें हिस्सा बटानेकी कभी इच्छा या चेष्टा न करे, और न डाहसे उसके कार्यमें दोषारोपण करके उसके श्रेयको कम करने या मिटानेकी ही कल्पना करे ।

मेरी समझसे इन बातोंपर खयाल रखकर इनका पालन करनेसे बहुत कुछ सुधार हो सकता है । यद्यपि है तो यह मेरा परोपदेशमात्र ही । अच्छा तो तब था जब मैं स्वयं इनका पालन करता । मेरी स्थिति तो उस चोरकी-सी समझिये जो स्वयं चोरी नहीं छोड़ सकता परन्तु अपने अनुभवके रूपमें चोरीके बुरे नतीजे जेलके कष्ट आदिको बतलाकर दूसरे लोगोंसे कहता है कि 'भैया ! मैं तो अपनी करनीका फल पा रहा हूँ परन्तु आपलोग ऐसा काम न कीजियेगा जिससे मेरी ही भाँति आपलोगोंको भी पछताना पड़े ।'*

(३)

घर छोड़नेकी आवश्यकता नहीं

आपका मैनपुरीका लिखा पत्र मिला । आपकी भावुकता सराहनीय है परन्तु प्रत्येक काम बहुत विचारके बाद करना चाहिये । आपकी अभी बाईस सालकी उम्र है । घरमें जवान पत्नी और छोटा बच्चा है—जो आपके ही आश्रित हैं । घरमें और लोग भी हैं । ऐसी हालतमें घबराकर घरसे निकल जाना कहाँतक उचित है, इसपर आपको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये । आपने छः महीनेमें घरसे चले जानेका और फिर एकान्तमें रहनेका निश्चय किया है, सो तो ठीक है । परन्तु ऐसा एकान्त आपको वहाँ मिलेगा जहाँ आपका चित्त भजनमें ही लगा रहे । ऐसी जगह दुनियामें आज कहाँ है ? सच्चा एकान्त तो मनके निर्विषय होकर भगवत्परायण होनेमें है । आपको आजकी दुनियाका अनुभव नहीं है, इसीसे आप घरको 'मायाजाल' और बाहरको 'मायासे मुक्त' मानते हैं । अनुभव तो यह बतलाता है कि मायाका जाल घरकी अपेक्षा बाहर ज्यादा फैला है । घरमें तो एक जिम्मेवारी होती है, कर्त्तव्यका एक बोध जाग्रत् रहता है, जिससे जीवन प्रमादालस्यमें नहीं पड़ता । बाहर तो सारा जीवन बेजिम्मेवार हो जाता है । और यदि खाने-पहननेको अच्छा मिलनेका सुयोग हो गया तब तो प्रमादसे जीवन छा जाता है । घरसे घबराकर कभी नहीं भागना चाहिये । घरको अपना न मानकर भगवान्का मानिये और घरवालोंको

* यह पत्र गीताप्रेसके एक कार्यकर्त्ताके लिये लिखा गया था । किसी भी सेवा करनेवाली संस्थाके कार्यकर्त्ता इससे अपने लिये उपयोगी बातें लेकर लाभ उठा सकते हैं ।

भगवान्‌की मूर्ति मानिये तथा घरहीमें रहकर घरकी वस्तुओंके द्वारा तन-मन-धनसे उनकी नम्रता-पूर्वक सेवा कीजिये। मुँहसे भगवान्‌का नाम लेते और मनको भगवान्‌में लगाते आपको कोई रोक नहीं सकता। फिर, आप स्वयं ही लिखते हैं कि 'घरवाले हमें ईश्वरका भजन करनेसे रोकते नहीं हैं।' फिर आप क्यों भागना चाहते हैं ! मेरे पास आजकल कम उम्रके विवाहित और अविवाहित युवकोंके ऐसे बहुत-से पत्र आते हैं जो घबराकर घरसे भागना चाहते हैं। मैं सबसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि भागनेसे ही भजन नहीं बनेगा, न मायाजाल ही छूटेगा और न भगवत्प्राप्ति होगी। सदाचारी, संयमी, सहनशील, नम्र और भजनके अभ्यासी बनिये। घरमें रहकर प्रतिकूलताका सहन कीजिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि सहन-शीलताके अभावसे ही ऐसी वृत्ति होती है—मनके प्रतिकूल किसी भी बातको सहनेकी शक्ति न होनेसे पिण्ड छुड़ाकर भागनेको मन होता है। यह कमजोरी है—त्याग नहीं; यह मनके अनुकूल परिस्थितिमें राग है—विषयोंसे वैराग्य नहीं। अतएव मेरी नम्र सम्मति तो यही है और बड़े बलके साथ दृढ़तापूर्वक मैं यह कहता हूँ कि आप इस अवस्थामें घर छोड़नेका विचार बिल्कुल त्याग दें और अपने स्वभावको सहिष्णु बनाकर माता-पिताकी और घरकी भगवद्भावसे सेवा करें।

(४)

समाजका पाप

एक पढ़ी-लिखी बहिनका बड़ा ही करुणापूर्ण पत्र मिला है। पत्रसे पता लगता है बहिन बहुत विचारशील हैं और उच्च पतिव्रताके आदर्शको मानती हैं परन्तु लगातार दुर्व्यवहारसे इस समय घबरा-सी गयी हैं। लिखती हैं—'मैं भारतकी अभागी स्त्रियोंमेंसे ही एक हूँ।·········मैंने प्राचीन भारतकी आदर्श नारियोंका आदर्श सामने रखकर ही···· पतिगृहमें प्रवेश किया। ·······सासूजीका स्वभाव अत्यन्त उग्र था····मैं हर तरह उनके अनुकूल चलती थी········किन्तु फिर भी वे प्रसन्न न रहती थीं। मैं कुछ तो स्वभावसे ही भीरु हूँ तथा कुछ विचार इस प्रकारके थे कि जो मेरे सर्वस्व हैं, ये उन्हींकी जननी हैं, यह एक बड़ा गुण और सारी बातोंपर परदा डालनेके लिये पर्याप्त था, इसीसे मैं उनका मन देखती रहती थी। माँ-बेटोंमें परस्पर कलह न हो, इसी डरसे उनकी बात पतिसे छिपा रखती थी···· धीरे-धीरे फल यह हुआ कि मेरे स्वामीकी मुझपर अरुचि बढ़ने लगी। उनका कहना था मैं माँका पक्ष लेती हूँ—माँका कहना था कि मैं पतिको सिखाकर उनसे लड़ाती हूँ और इस तरह मैं (निर्दोष होनेपर भी) दोनोंकी सहानुभूति खो बैठी। सब तरफसे प्रतिसमय मुझपर वाक्-बाणोंकी वर्षा होती रहती।········मेरी सेवामें पतिको अवगुण-ही-अवगुण दीखते।········मैं अधिक दुखी होनेपर एकान्तमें रोकर आँखें पोंछ फिर तैयार हो जाती। सुननेमें शायद कुछ नहीं लगता किन्तु मेरा वह समय कितना कठिन था, उसे शब्दोंमें कैसे बताऊँ ! आधार मेरे दो ही थे 'एक मेरा आदर्शवाद और दूसरा पतिका स्वच्छ चरित्र।'

इसके बाद पतिके चरित्रमें दोष आनेकी बात लिखकर वे लिखती हैं—'········मैंने हर तरह चेष्टा कर देखी, प्रेमसे समझाया, नम्रतासे विनय की। बुराइयाँ दिखायीं, रोयी, कलपी। सभी कुछ किया परन्तु कुछ न हुआ········। आजकल वेश्याओंसे भी अधिक जुल्म 'सोसाइटी-गर्ल्स' ने ढा रक्खा है। अत्यन्त लज्जाकी बात है किन्तु आजकल-के बिगड़े हुए पुरुष वेश्याओंसे भले घरोंकी कन्याओंको ही अधिक पसन्द करते हैं और वे (कुमारियाँ) भी सोसाइटीमें बैठकर सभी कुछ खुशीसे करती हैं। कालेज-की लड़कियोंमें शेक्सपियरको लेकर दुर्भावना फैली हुई है। 'कुछ भी पाप नहीं—मनुष्यका सोचना ही पाप-पुण्यको गढ़ना है। व्यभिचार पाप नहीं, मन-बहलाव

है ।' दया आती है, घृणा भी और अत्यन्त वेदना भी। ……………अब मैं विश्वास करने लगी हूँ कि मेरा एकमात्र कल्याण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देनेमें ही है। परन्तु जब-जब मैं भगवान्‌की रूप-माधुरी आँखोंमें बिठाना चाहती हूँ तभी-तभी जैसे बरबस भगवान्‌की मूर्तिमें पतिका स्वरूप दीखने लगता है। या ऐसा कहूँ कि उन्हींकी कल्पना करने लगती हूँ और मन उपासनामें नहीं लगता।'

अन्तमें लिखती हैं—'……पतिने मेरे साथ ऐसे बर्ताव किये किन्तु जिस दिन उन्हें दिनभरके बाद भी न देख पाऊँ तो हृदय विकल हो उठता है। एक अभाव-सा प्रतीत होता है। वे जैसे भी हैं किन्तु मैं उन्हें देखती रहूँ यही मनमें रहता है। यदि दो-चार दिन भी किसी कारणवश उपासनाके लिये पूजागृहमें न जाऊँ तो हृदयमें उतनी विकलता नहीं होती।………आह! जितना प्रेम स्वामीसे करती हूँ उतना ही यदि भगवान्‌से कर सकूँ।……'

लंबे पत्रमेंसे कुछ ही अंश ऊपर उद्धृत किया गया है। भारतकी इन आदर्शपर चलनेवाली देवियोंको धन्य है! मैं तो इनके पत्रके उत्तरमें इतना ही लिखना चाहता हूँ कि आप अपने आदर्शपर दृढतासे स्थिर रहें। जरा भी शंका-सन्देह न करें। दूसरोंकी ओर देखनेसे अपने आदर्शकी रक्षा नहीं होती। आदर्शकी रक्षा तो एकाकी ही होती है और होती है अपने ही बलिदानसे! आजकलके पाप-पुण्य न माननेवाले स्वेच्छाचारी पुरुष और कालेज गर्ल्सकी बुराइयोंका फल समाजके लिये बहुत ही भयानक होगा। इससे समाजमें ऐसी भयानक दुःखकी आग भड़केगी जो सबको जला देगी—वैसे समय आप-सरीखी देवियोंकी यह तपस्या ही उस आगसे किसी हदतक समाजको बचानेमें समर्थ होगी। आप अपनी तपस्यासे कभी मुँह न मोड़ें। भगवान्‌पर अटल विश्वास रक्खें—निश्चय समझें कि,—इस जन्ममें, नहीं तो अगले जन्ममें—सत्यकी और सतीत्वकी विजय अवश्य होगी।

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥'

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'कल्याणकर कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' पता नहीं, किस कर्मके फलस्वरूप आप इस समय कष्ट पा रही हैं। अवश्य ही यह कष्ट आपके इस जीवनके पवित्र आदर्शवाद, ईश्वरविश्वास, सहनशीलता, नम्रता और भलेपनका परिणाम कदापि नहीं है। इसका सुन्दर परिणाम जब सामने आवेगा, तब आप आनन्दसे पूर्ण हो जायँगी और साथ ही उसका सुन्दर प्रभाव आपके पतिदेवके लिये भी परम कल्याणकारी होगा। आप जहाँतक बने—अलग रहनेकी भावना छोड़ दीजिये। आपके विचार बहुत सुन्दर हैं। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये; वे सबको सुबुद्धि देकर सन्मार्गपर लगावें। भगवान्‌के नामका जप कीजिये और मन-ही-मन पतिदेवके परम कल्याणकी भावना करती रहिये। विश्वास कीजिये—वृन्दावनबिहारीमें आपकी लगन सची होगी तो वे अवश्य आपको अपनावेंगे। अपना विशुद्ध प्रेम देंगे और उससे आपका जीवन सफल हो जायगा। इस समय तो आपका यह तप हो रहा है। सचमुच इसे कष्ट न समझकर तप मानिये। अन्य सारी बातोंका उत्तर स्पष्टरूपसे डाकद्वारा पत्रसे लिखा जा सकता है।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम।'

(५)

कोई किसीका नहीं है

पत्र मिला। आपने लिखा कि 'क्या कारण है कि एक जीव अच्छे श्रीमान्‌के घरमें जन्म लेकर, जिसको कुछ भी तकलीफ नहीं, असमयमें ही कालके गालमें चला जाता है। बालक आया था सोने-सा शरीर लेकर। ग्यारह महीने अपनी लीलाएँ दिखायीं, मुझे मुग्ध किया, मातृस्नेहमें डाला। फिर प्रभुने वियोग दिला दिया।' इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मके अनुसार जगत्‌में जन्म लेता है और उस जन्मका

प्रारब्ध पूरा होते ही कर्मवश ही चला जाता है। इसमें प्राय: किसीका कोई वश नहीं चलता। असलमें यहाँ न कोई किसीका पुत्र है—न माता-पिता हैं। ये सब तो नाटकके स्टेजपर खेलनेके स्वाँगकी भाँति हैं। श्रीमद्भागवतमें राजा चित्रकेतुकी कथा आती है। राजा चित्रकेतुके एकमात्र शिशु राजकुमारकी मृत्यु होनेपर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे पुत्रशोकके मारे रोते-कलपते हुए चेतनाहीन-से हो गये। तब महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदजी उनके पास आये, उन्होंने समझाते हुए राजासे कहा—'तुम जिस बालकके लिये इतना शोक कर रहे हो, बतलाओ तो वह इस जन्म और इससे पहलेके जन्मोंमें वस्तुत: तुम्हारा कौन था और तुम उसके कौन थे और अगले जन्मोंमें उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा ? जैसे जलके वेगसे धूलके कण कभी परस्पर मिल जाते हैं और कभी बिछुड़ जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें जीवोंका मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।....हम, तुम और हमलोगोंके साथ इस जगत्में जितने भी शरीरधारी जीव हैं, वे सब इस जन्मके पहले इस रूपमें नहीं थे, और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगे। इसीसे सिद्ध है कि इस समय भी उनका वस्तुत: अस्तित्व नहीं है। सत्य वस्तु कभी बदलती नहीं है। ऐसे एक भगवान् ही हैं। वे ही सारे प्राणियोंके स्वामी हैं। उनमें न जन्मका विकार है न मृत्युका। वे सदा इच्छा-अपेक्षारहित हैं। उन्हींके द्वारा यह प्राणियोंकी रचना, पालन और संहारका खेल होता रहता है।.... असलमें अनित्य होनेके कारण ये शरीर असत्य हैं और इसी कारण विभिन्न अभिमानी भी असत्य हैं। त्रिकालाबाधित सत्य तो एकमात्र परमात्मा ही हैं। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।'

इसपर भी जब राजाका शोक पूरी तरहसे दूर नहीं हुआ, तब नारदजीने राजकुमारके जीवात्माको बुलाकर उसे समझाया, तब जीवात्माने कहा—

'नारदजी महाराज ! मैं अपने कर्मोंके अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें पता नहीं कितने जन्मोंसे भटक रहा हूँ। उनमेंसे ये लोग किस जन्ममें मेरे माँ-बाप हुए। अलग-अलग जन्मोंमें अलग-अलग सम्बन्ध हो जाते हैं। इस जन्ममें जो मित्र है, वही दूसरे जन्ममें शत्रु हो सकता है, इस जन्मका पुत्र अगले जन्ममें पिता हो सकता है। इसी तरह सब परस्पर भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र, प्रेमी-द्वेषी, मध्यस्थ-उदासीन बनते रहते हैं। जैसे सोना आदि खरीद-बिक्रीकी चीजें एक व्यापारीसे दूसरे व्यापारीके हाथोंमें आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी कर्मवश भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है।....जबतक जिसका जिस वस्तुसे सम्बन्ध रहता है तभीतक उसकी उसमें ममता रहती है। जीव गर्भमें आकर जबतक जिस शरीरमें रहता है तभीतक उसको अपना शरीर मानता है। वास्तवमें तो जीव अविनाशी, नित्य, जन्मादिरहित, सर्वाश्रय और स्वयं-प्रकाश है।....इसका न कोई प्रिय है न अप्रिय है, न अपना है न पराया है। ये राजा-रानी इसके लिये क्यों शोक कर रहे हैं ?'

इसपर राजा चित्रकेतुको विवेक हो गया। अतएव जीव वास्तवमें अपना नहीं है। जीवोंमें कर्मवश आना-जाना लगा रहता है। भोग पूरे होते ही उसे चले जाना पड़ता है। संयोग-वियोगमें कर्म ही प्रधान कारण हैं। प्रभु तो निरपेक्ष नियन्तामात्र हैं।

(२) सरस्वती देवीके वशमें होनेकी कोई साधना मैंने कभी की नहीं है। ग्रन्थोंमें ऐसे बहुत-से प्रयोग पाये जाते हैं जिनसे सरस्वती देवीकी कृपा-प्राप्ति मानी गयी है। परन्तु अपना अनुभव न होनेसे कुछ लिखा नहीं जा सकता। विभिन्न पुराणों, मन्त्रग्रन्थों और तन्त्रोंमें ऐसे अनेक प्रयोगोंका वर्णन है। बंगला लिपिमें छपे 'तन्त्रसार' नामक ग्रन्थमें ऐसे बहुत-से प्रयोगोंका उल्लेख किया गया है।

(६)

कर्म-रहस्य

कर्मके सम्बन्धमें बात यह है कि कर्म तीन प्रकारके हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण । मनुष्य प्रतिक्षण सकामभावसे जो कुछ भी कर्म करता है वह 'क्रियमाण' है । मनुष्यका किया हुआ प्रत्येक कर्म कर्मसंग्रहमें संगृहीत होता रहता है जो समयपर कर्मफलदायिनी भागवती शक्तिके द्वारा 'प्रारब्ध' बनाया जाकर यथा-योग्य शुभाशुभ फल प्रदान करता है । यह जमा होनेवाला कर्म सञ्चित है । इस क्षणके पूर्वतकके हमारे सारे कर्म इस कर्मकी गोदाममें जा चुके हैं । इस कर्म-राशिमेंसे जितने कर्म अलग करके एक जन्मके लिये फलरूपसे नियत कर दिये जाते हैं, वही 'प्रारब्ध' है । इसीके अनुसार जाति, आयु, भोग इत्यादि प्राप्त होते हैं । प्रारब्धका यह फल साधारणतया सभीको बाध्य होकर भोगना पड़ता है । कोई भी सहजमें इस प्रारब्धफलभोगसे अपनेको बचा नहीं सकता—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस प्रकार भागवती-शक्तिके नियन्त्रणमें प्रारब्धके अनुसार मनुष्यको कर्मफल भोगना ही पड़ता है । परन्तु यह नियम नहीं है कि पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके सञ्चितसे ही प्रारब्ध बने । प्रबल कर्म होनेपर वह इसी जन्ममें सञ्चितसे तुरंत प्रारब्ध बनकर अपना शुभाशुभ फल—फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही भुगता देते हैं । इसके भी नियम हैं । मतलब यह कि प्रारब्धके अनुसार जो फल नहीं होना है, वह उस प्रारब्धके अनुसार तो होगा ही नहीं—यह सत्य है—परन्तु 'वह होगा ही नहीं' यह निश्चित नहीं है । नवीन कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, वह कोई ऐसा प्रबल कर्म भी कर सकता है—जो हाथों-हाथ प्रारब्ध बनकर उसे तुरंत फलप्रदान कर दे । जैसे किसीके पूर्वकर्मजनित प्रारब्धके अनुसार 'पुत्र होनेका विधान नहीं है'—परन्तु वह शास्त्रीय 'पुत्रेष्टि यज्ञ' विधि तथा श्रद्धापूर्वक कर ले तो उसको पुत्र हो सकता है । इसी प्रकारके प्रबल कर्मोंद्वारा धन, मान, आरोग्य, आयु आदि पदार्थोंकी प्राप्ति भी हो सकती है । ठीक ऐसे ही प्रबल अशुभ कर्मोंके द्वारा इसी जन्ममें अशुभ फल भी (पूर्वकर्मजनित प्रारब्धमें न होनेपर भी) मिल सकते हैं । इससे पूर्वकृत कर्मोंके द्वारा बने हुए प्रारब्धका नाश नहीं हो जाता । उसके बीचमें ही नया फल मिल जाता है और उस फलकी अवधि समाप्त होते ही पुनः वही प्रारब्ध लागू हो जाता है ।

जैसे कर्म अपना फल अवश्य देता है, यह कर्मका अटल नियम है । वैसे ही यह भी नियम है कि 'सम्यक् ज्ञान' अथवा 'भगवान्में पूर्ण समर्पण' से सारी कमराशि भस्म भी हो जाती है । 'सञ्चित'—अनन्त जन्मोंके संगृहीत कर्म जल जाते हैं। उनमें 'प्रारब्ध' उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रह जाती । नवीन 'क्रियमाण' कर्म कर्तृत्वके अभावसे 'सञ्चित' नहीं बन सकते। भूँजे हुए बीजोंसे जैसे अंकुर नहीं उत्पन्न होते, वैसे ही वे सञ्चित-का उत्पादन नहीं कर सकते । रहा 'प्रारब्ध' का भोग—सो वह भी भोक्तापनका अभाव और ब्रह्मानन्द-स्वरूप हो जानेसे अथवा भगवान्के प्रत्येक मङ्गलमय विधानमें एकरस आनन्दका नित्य अनुभव होते रहनेसे सुख-दुःख उपजानेवाला नहीं होकर खेलमात्र होता है । इस प्रकार तीनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं । यही कर्मविज्ञानका शास्त्रीय नियम है और यह सर्वथा सत्य है । कर्मकी भूमिकामें इसे असत्य बतलानेका साहस करना दुःसाहस मात्र है ।

भगवान्की दृष्टिसे बात दूसरी ही है । वहाँ भूत, भविष्य और वर्त्तमानका भेद नहीं है । उनके लिये सभी वर्त्तमान है । और जो कुछ भी होता है, सब पहलेसे रचा हुआ ही होता है । यह उनकी नित्यलीला है । जगत्की छोटी-बड़ी सभी घटनाएँ उनकी इस नित्य-लीलाका ही अंग हैं । वहाँ कुछ भी नया नहीं बनता,

केवल नया—नित्य नया-नया दीखता है। रचा हुआ तो है पहलेसे ही। जैसे सिनेमाके फिल्ममें सारे दृश्य पहलेसे अङ्कित हैं, हमारे सामने एक-एक आते हैं, वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सभी इस विराट् फिल्ममें अंकित हैं। क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवका नगण्य संकल्प भी इस फिल्मका ही दृश्य है।

(७)

दुःखमें भी भगवान्‌की दया

मनुष्यकी दृष्टि अत्यन्त सीमित है। वह अपनी आँखोंके सामने घटनेवाली कुछ घटनाओंको ही केवल देख सकता है। उसकी दृष्टिमें केवल स्थूल देह ही सत्य है और वह ममता-मोहके चक्करमें फँसकर चाहता है कि मेरा और मेरे सम्बन्धियोंके स्थूल शरीर मुझसे अलग न हों। यदि कहीं उसकी इच्छाके विपरीत कोई घटना घटित हुई तो वह बहुत दुखी होता है और विक्षिप्त होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और उनकी दयालुतापर ही आक्षेप करने लगता है। परन्तु इससे भगवान्‌की दयापूर्ण दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे सदासे सबका कल्याण करते आये हैं और कल्याण ही करते रहते हैं।

इसे इस प्रकार समझिये—कोई दयालु स्वामी अपने किसी कर्मचारीको कोई उच्चपद देना चाहता हो और इसीके लिये उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानके लिये परिवर्तन कर रहा हो—परन्तु वह कर्मचारी और उसके घरवाले उच्चपद पानेकी बात न जानें, उस परिवर्तनका विरोध करें और रोयें-पीटें, पर दयालु स्वामी उनके रोने-गिड़गिड़ानेपर तनिक भी ध्यान न देकर अपनी दयाकी वर्षा करता है। आपके सुपुत्र होनहार थे। उनके कर्म उज्ज्वल और साधना ऊँची थी—इस बातका यह प्रबल प्रमाण है कि अन्तिम श्वासतक उन्होंने भगवन्नामका उच्चारण किया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने उन्हें इससे भी उत्तम स्थिति देनेके लिये आपसे अलग किया और अपने पास बुलाया। भगवान् अपनी वस्तुको अपनालें, उसे बुलाकर सर्वदाके लिये अपने पास रख लें—यह हमारे लिये प्रसन्नताकी बात होनी चाहिये। परन्तु हमारी ममता, हमारे जन्म-जन्मान्तरोंका अभ्यस्त मोह हमें बार-बार कष्ट देता है और वही हमें इस बातके लिये प्रेरित करता है कि हम भगवान्‌की इच्छा पूरी न होने दें—अपनी इच्छा पूरी करें।

केवल आपके पुत्रको सुख हो और आपको दुःख—यह भी इस घटनाका उद्देश्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि आपकी पूरी ममता भगवान्‌पर ही होनी चाहिये। जैसे भगवान् जीवके अनन्य प्रेमी हैं वैसे ही वे उसके अनन्य प्रियतम भी हैं। वे चाहते हैं कि जीव मुझसे ही हँसे—मुझसे ही खेले और मुझसे ही प्रेम करे। जब जीव उनके दिये हुए खिलौनोंसे इतना उलझ जाता है कि स्वयं उनको भी भूल जाता है तब वे उन खिलौनोंको छीनकर उसकी पूरी ममता अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इस घटनाको पूर्णरूपसे आपके और आपके पुत्र—दोनोंके लिये ही हितकर समझिये। इसपर विचार कीजिये और अपने एकमात्र सुहृद्, पूर्ण हितैषी भगवान्‌के प्रेम और श्रद्धासे सराबोर होकर उनके भजनमें लगे रहिये।

सागवालीका बाट

कृष्णनगरके पास एक गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। वे पुरोहितीका काम करते। एक दिन यजमानके यहाँ पूजा कराकर घर लौटते समय उन्होंने रास्तेमें देखा कि एक मालिन (सागवाली) एक ओर बैठी साग बेच रही है। भीड़ लगी है। कोई साग तुलवा रहा है तो कोई मोल कर रहा है। पण्डितजी रोज उसी रास्ते जाते और सागवालीको भी वहीं देखते। एक दिन किसी जान-पहचानके आदमीको साग खरीदते देखकर वे भी वहीं खड़े हो गये। उन्होंने देखा—सागवालीके पास एक पत्थरका बाट है, उसीसे वह पाँच सेरवालेको पाँच सेर और एक सेरवालेको एक सेर साग तौल रही है। एक ही बाट सब तौलोंमें समान काम देता है। पण्डितजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सागवालीसे पूछा—'तुम इस एक ही पत्थरके बाटसे कैसे सबको तौल देती हो। क्या सबका वजन ठीक उतरता है?' पण्डितजीके परिचित व्यक्तिने कहा—'हाँ, पण्डितजी! यह बड़े अचरजकी बात है। हम लोगोंने कई बार इससे लिये हुए सागको दूसरी जगह तौलकर आजमाया, पूरा वजन उतरा।' पण्डितजीने कुछ रुककर सागवालीसे कहा—'बेटी! यह पत्थर मुझे दोगी?' सागवाली बोली,—'नहीं बाबाजी! तुम्हें नहीं दूँगी। मैंने बड़ी मुश्किलसे इसको पाया है। मेरे सेर-बटखरे खो जाते तो घर जानेपर माँ और बड़े भाई मुझे मारते। तीन वर्षकी बात है—मेरे बटखरे खो गये, मैं घर गयी तो बड़े भाईने मुझको मारा। मैं रोती-रोती घाटपर आकर बैठ गयी और मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारने लगी। इतनेहीमें मेरे पैरके पास यह पत्थर लगा। मैंने इसको उठाकर ठाकुरजीसे कहा—महाराज! मैं तौलना नहीं जानती, आप ऐसी कृपा करें जिससे इसीसे सारे तौल हो जायँ। बस, तबसे मैं इसे रखती हूँ। अब मुझे अलग-अलग बटखरोंकी जरूरत नहीं होती। इसीसे सब काम निकल जाता है। बताओ, तुम्हें कैसे दे दूँ?' पण्डितजी बोले—'मैं तुम्हें बहुत-से रुपये दूँगा।' सागवालीने कहा,—'कितने रुपये दोगे तुम? मुझे वृन्दावनका खर्च दे दोगे? सब लोग वृन्दावन गये हैं; मैं ही नहीं जा सकी हूँ।' ब्राह्मणने पूछा, 'कितने रुपयेमें तुम्हारा काम होगा?' सागवालीने कहा,—'पूरे ३००) रुपये चाहिये।' ब्राह्मण बोले,—'अच्छा बेटी! यह तो बताओ तुम इस शिलाको रखती कहाँ हो?' सागवालीने कहा,—'इसी टोकरीमें रखती हूँ बाबाजी! और कहाँ रक्खूँगी?'

ब्राह्मण घर लौट आये और चुपचाप बैठ रहे। ब्राह्मणीने पतिसे पूछा,—'यों उदास-से क्यों बैठे हैं? देर जो हो गयी है।' ब्राह्मणने कहा,—'आज मेरा मन खराब हो रहा है, मुझे तीन सौ रुपयेकी जरूरत है।' स्त्रीने कहा,—'इसमें कौन-सी बात है? आपने ही तो मेरे गहने करवाये थे। विशेष जरूरत है तो लीजिये, इन्हें ले जाइये, होना होगा तो फिर हो जायगा।' इतना कहकर ब्राह्मणीने गहने उतार दिये।

ब्राह्मणने गहने बेचकर रुपये इकट्ठे किये और दूसरे दिन सबेरे सागवालीके पास जाकर उसे रुपये गिना दिये और बदलेमें उस शिलाको ले लिया। गङ्गाजीपर जाकर उसको अच्छी तरह धोया और फिर नहा-धोकर वे घर लौट आये। इधर पीछेसे एक छोटा-सा सुकुमार बालक आकर ब्राह्मणीसे कह गया—'पण्डिताइनजी! तुम्हारे घर ठाकुरजी आ रहे हैं, घरको

अच्छी तरह झाड़-बुहारकर ठीक करो।' सरलहृदया ब्राह्मणीने घर साफ करके उसमें पूजाकी सामग्री सजा दी। ब्राह्मणने आकर देखा तो उन्हें अचरज हुआ। ब्राह्मणीसे पूछनेपर उसने छोटे बालकके आकर कह जानेकी बात सुनायी। यह सुनकर पण्डितजीको और भी ताज्जुब हुआ। पण्डितजीने शिलाको सिंहासनपर पधराकर उसकी पूजा की। फिर उसे ऊपर आलेमें पधरा दिया।

रातको सपनेमें भगवान्ने कहा—'तू मुझे जल्दी लौटा आ, नहीं तो तेरा भला नहीं होगा। सर्वनाश हो जायगा।' ब्राह्मणने कहा,—'जो कुछ भी हो, मैं तुमको लौटाऊँगा नहीं।' ब्राह्मण घरमें जो कुछ भी पत्र-पुष्प मिलता उसीसे पूजा करने लगे। दो-चार दिनों बाद स्वप्नमें फिर कहा—'मुझे फेंक आ, नहीं तो तेरा लड़का मर जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'मर जाने दो, तुम्हें नहीं फेंकूँगा।' महीना पूरा बीतने भी नहीं पाया था कि ब्राह्मणका एकमात्र पुत्र मर गया। कुछ दिन बाद फिर स्वप्न हुआ—'अब भी मुझे वापस दे आ, नहीं तो तेरी लड़की मर जायगी।' दृढ़निश्चयी ब्राह्मणने पहलेवाला ही जवाब दिया। कुछ दिनों पश्चात् लड़की मर गयी। फिर कहा कि 'अबकी बार स्त्री मर जायगी।' ब्राह्मणने इसका भी वही उत्तर दिया। अब स्त्री भी मर गयी। इतनेपर भी ब्राह्मण अचल अटल रहा। लोगोंने समझा, यह पागल हो गया है। कुछ दिन बीतनेपर स्वप्नमें फिर कहा गया,—'देख, अब भी मान जा, मुझे लौटा दे, नहीं तो सात दिनोंमें तेरे सिरपर बिजली गिरेगी।' ब्राह्मण बोले—'गिरने दो, मैं तुम्हें उस सागवालीकी गंदी टोकरीमें नहीं रखनेका।' ब्राह्मणने एक मोटे कपड़ेमें लपेटकर भगवान्को अपने माथेपर मजबूत बाँध लिया। वे सब समय यों ही उन्हें बाँधे रखते। कड़कड़ाकर बिजली कौंधती—नजदीक आती पर लौट जाती। अब तीन ही दिन शेष रह गये। एक दिन ब्राह्मण गङ्गाजीके घाटपर सन्ध्या-पूजा कर रहे थे कि दो सुन्दर बालक उनके पास आकर जलमें कूदे। उनमें एक साँवला था, दूसरा गोरा। उनके शरीरपर कीचड़ लिपटा था। वे इस ढंगसे जलमें कूदे कि जल उछलकर ब्राह्मणके शरीरपर पड़ा। ब्राह्मणने कहा,—'तुमलोग कौन हो भैया! कहीं इस तरह जलमें कूदा जाता है? देखो, मेरे शरीरपर जल पड़ गया, इतना ही नहीं, मेरे भगवान्पर भी छींटे पड़ गये। देखते नहीं, मैं पूजा कर रहा था।' बच्चोंने कहा—'ओहो, तुम्हारे भगवान्पर भी छींटे लग गये? हमने देखा नहीं बाबा, तुम गुस्सा न होना!' पण्डितजीने कहा,—'नहीं भैया! गुस्सा कहाँ होता हूँ। बताओ तो तुम किसके लड़के हो?—ऐसा सुन्दर रूप तो मैंने कभी नहीं देखा! कहाँ रहते हो भैया? आहा! कैसी अमृतघोली मीठी बोली है।' बच्चोंने कहा—'बाबा! हम तो यहीं रहते हैं।' पण्डितजी बोले—'भैया! क्या फिर भी कभी मैं तुमलोगोंको देख सकूँगा।' बच्चोंने कहा,—'क्यों नहीं बाबा? पुकारते ही हम आ जायँगे।' पण्डितजीके नाम पूछनेपर—'हमारा कोई एक नाम नहीं है, जिसका जो मन होता है उसी नामसे वह हमें पुकार लेता है।' साँवला लड़का इतना कहकर बोला—'यह लो मुरली, जरूरत हो तब इसे बजाना, बजाते ही हमलोग आ जायँगे।' दूसरे गोरे लड़केने एक फूल देकर पण्डितजीसे कहा,—'बाबा! इस फूलको अपने पास रखना, तुम्हारा मङ्गल होगा।' वे जबतक वहाँसे चले नहीं गये, ब्राह्मण निर्निमेष-दृष्टिसे उनकी ओर आँखें लगाये रहे। मन-ही-

मन सोचने लगे—'आहा ! कितने सुन्दर हैं दोनों, कभी फिर भी इनके दर्शन होंगे ?'

ब्राह्मणने फूल देखकर सोचा—'फूल तो बहुत बढ़िया है, कैसी मनोहर गन्ध आ रही है इसमें, पर मैं इसका क्या करूँगा और रखूँगा भी कहाँ । इससे अच्छा है, राजाको ही दे आऊँ । नयी चीज़ है, वह राजी होगा ।' यह सोचकर पण्डितजीने जाकर फूल राजाको दे दिया । राजा बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे महलमें ले जाकर बड़ी रानीको दिया । इतनेहीमें छोटी रानीने आकर कहा,—'मुझे भी एक ऐसा ही फूल मँगवा दो । नहीं तो मैं डूब मरूँगी ।'

राजा दरबारमें आये और सिपाहियोंको उसी समय पण्डितजीको खोजने भेजा । सिपाहियोंने ढूँढते-ढूँढते जाकर देखा—ब्राह्मणदेवता सिरपर शिला बाँधे पेड़की छायामें बैठे गुनगुना रहे हैं । वे उनको राजाके पास लिवा लाये । राजाने कहा,—'महाराज ! वैसा ही एक फूल और चाहिये ।' पण्डितजी बोले,—'राजन् ! मेरे पास तो वह एक ही फूल था, पर देखिये, चेष्टा करता हूँ ।' ब्राह्मण उन लड़कोंकी खोजमें निकल पड़े । अकस्मात् उन्हें मुरलीवाली बात याद आ गयी । उन्होंने मुरली बजायी । उसी क्षण गौर-श्याम जोड़ी प्रकट हो गयी । ब्राह्मण रूपमाधुरीके पानमें मतवाले हो गये । कुछ देर बाद उन्होंने कहा—'भैया ! वैसा एक फूल और चाहिये । मैंने तुम्हारा दिया हुआ फूल राजाको दिया था । राजाने वैसा ही एक फूल और माँगा है ।' गोरे बालकने कहा—'फूल तो हमारे पास नहीं है परन्तु हम तुम्हें एक ऐसी जगह ले जायँगे जहाँ वैसे फूलोंका बगीचा खिला है । तुम आँखें बंद करो ।' ब्राह्मणने आँखें मूँद लीं । बच्चे उनका हाथ पकड़कर न मालूम किस रास्तेसे बात-की-बातमें कहाँ ले गये । एक जगह पहुँचकर ब्राह्मणने आँखें खोलीं । देखकर मुग्ध हो गये । बड़ा सुन्दर स्थान है, चारों ओर सुन्दर-सुन्दर वृक्ष-लता आदि पुष्पोंकी मधुर गन्धसे सुशोभित हैं । बगीचेके बीचमें एक बड़ा मनोहर महल है । ब्राह्मणने देखा तो वे बालक गायब थे । वे साहस करके आगे बढ़े । महलके अंदर जाकर देखते हैं, सब ओरसे सुसज्जित बड़ा सुरम्य स्थान है । बीचमें एक दिव्य रत्नोंका सिंहासन है । सिंहासन खाली है । पण्डितजीने उस स्थानको मन्दिर समझकर प्रणाम किया । उनके माथेमें बँधी हुई ठाकुरजीकी शिला खुलकर फर्शपर पड़ गयी । ज्यों ही पण्डितजीने उसे उठानेको हाथ बढ़ाया कि शिला फटी और उसमेंसे भगवान् लक्ष्मीनारायण प्रकट होकर शून्य सिंहासनपर विराजमान हो गये !

भगवान् नारायणने मुसकराते हुए ब्राह्मणसे कहा—'हमने तुमको कितने दुःख दिये परन्तु तुम अटल रहे । दुःख पानेपर भी तुमने हमें छोड़ा नहीं, पकड़े ही रहे । इसीसे तुम्हें हम सशरीर यहाँ ले आये हैं ।'

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इह लोक और परलोक सबको छोड़कर हमारी शरण आ गये हैं भला ! उन्हें हम कैसे छोड़ सकते हैं ।' इधर देखो—यह खड़ी है तुम्हारी सहधर्मिणी, तुम्हारी कन्या और तुम्हारा पुत्र । ये भी मुझे प्रणाम कर रहे हैं । तुम सबको मेरी प्राप्ति हो गयी । तुम्हारी एककी दृढ़तासे सारा परिवार मुक्त हो गया ! ('भारतामित्र'से)

भक्त वेंकट

दक्षिणमें पुलिवेंदलाके समीप पापघ्नी नदीके किनारेपर एक छोटे-से गाँवमें वेंकट नामक एक ब्राह्मण निवास करता था । ब्राह्मण भगवान् श्रीरंगनाथजीका बड़ा भक्त था । वह दिन-रात भगवान्के पवित्र नामका जप करता । ब्राह्मणकी पत्नीका नाम था रमाया । वह भी पतिकी भाँति ही भगवान्का भजन किया करती थी । माता-पिता मर गये थे और कोई सन्तान थी नहीं—इसलिये घरमें ब्राह्मण-ब्राह्मणी दो ही व्यक्ति थे । दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम था । वे अपने व्यवहार-बर्तावसे सदा एक-दूसरेको सुख पहुँचाते रहते थे ।

पिता राजपुरोहित थे, इससे उन्हें अपने यजमानोंसे यथेष्ट धन-सम्पत्ति मिली थी । वे बहुत ही सदाचारी, विद्वान्, भगवद्भक्त और ज्ञानी थे । उन्होंने मरते समय वेंकटसे कहा था—'बेटा ! मेरी पूजाके कमरेसे दक्षिणवाली कोठरीमें आँगनके बीचोंबीच सात कलसे सोनेकी मोहरोंके गड़े हैं । मैंने बड़े परिश्रमसे धन कमाया है । मुझे बड़ा दुःख है कि मैं अपने जीवनमें इसका सदुपयोग नहीं कर सका । बेटा ! धनकी तीन गति होती है । सबसे उत्तम गति तो वह है कि अपने ही हाथों उसे सत्कार्यके द्वारा भगवान्की सेवामें लगा दिया जाय । मध्यम गति वह है कि उसे अपने तथा अपनी सन्तानके शास्त्रविहित सुख-भोगार्थ खर्च कर दिया जाय, और तीसरी अधम गति उस धनकी होती है जो न तो भगवान्की सेवामें लगता है और सुखोपभोगमें ही लगता है । वह गति है उसका दूसरोंके द्वारा छीन लिया जाना अथवा अपने या पराये हाथों बुरे कर्मोंमें खर्च होना । यदि भगवान्की कृपासे पुत्र सतोगुणी होता है तो मरनेके बाद धन सत्कार्यमें लग जाता है, नहीं तो वही धन कुपुत्रके द्वारा बुरे-से-बुरे काम—शराब, वेश्या और जूए आदिमें लगकर पीढ़ियों तकको नरक पहुँचानेमें कारण बनता है । बेटा ! तू सपूत है—इससे मुझे विश्वास है कि तू धनका दुरुपयोग नहीं करेगा । मैं चाहता हूँ—इस सारे धनको तू भगवान्की सेवामें लगाकर मुझे शान्ति दे । बेटा ! धन तभी अच्छा है, जब कि उससे भगवत्स्वरूप दुखी प्राणियोंकी सेवा होती है । केवल इसीलिये धनवानोंको भाग्यवान् कहा जाता है । नहीं तो, धनके समान बुरी चीज नहीं है । धनमें एक नशा होता है जो मनुष्यके विवेकको हर लेता है और नाना प्रकारसे अनर्थ उत्पन्न करके उसे अपराधोंके गड्ढेमें गिरा देता है ! भगवान् श्रीकृष्णने भक्तराज उद्धवजीसे कहा है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(श्रीमद्भागवत ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, मद, ऊँच-नीचकी और अपने-परायेकी भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, होड़, लम्पटता, जूआ और शराब—इन पंद्रह अनर्थोंकी जड मनुष्यमें यह अर्थ (धन) ही माना गया है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि इस 'अर्थ' नामधारी 'अनर्थ'को दूरसे ही त्याग दे।'

'बेटा! मैं इस बातको जानता था, इसीसे मैंने तुझको आजतक इस धनकी बात नहीं बतायी। मैं चाहता था, इसे अपने हाथसे भगवान्की सेवामें लगा दूँ, परन्तु संयोग ऐसे बनते गये कि मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। मनुष्यको चाहिये कि वह दान और भजन-जैसे सत्कार्योंको विचारके भरोसे कलपर न छोड़े। उन्हें तो तुरंत कर ही डाले। पता नहीं कल क्या होगा। इस 'कल-कल' में ही मेरा जीवन बीत गया। मेरे प्यारे बेंकट! संसारमें सभी पिता अपने पुत्रके लिये धन कमा-कर छोड़ जाना चाहते हैं, परन्तु मैं ऐसा नहीं चाहता। बेटा! मुझे प्रत्यक्ष दीखता है कि धनसे मनुष्यमें दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है। इससे मैं तुझे अर्थका धनी न देखकर भजनका धनी देखना चाहता हूँ। इसीलिये तुझसे यह कहता हूँ कि इस सारे धनको तू भगवान्की सेवामें लगा देना। तेरे निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ पैतृक सम्पत्ति है—जमीन है, खेत है और थोड़ी-बहुत यजमानी है वही काफी है। जीवनको सादा, संयमी और ब्राह्मणोचित त्यागसे सम्पन्न रखना, सदा सत्यका सेवन करना, और करना श्रीरंगनाथ भगवान्का भजन। इसीसे तू कृतार्थ हो जायगा, और इसीसे तू पुरखोंके तारनेवाला बनेगा। बेटा! मेरी इस अन्तिम सीखको याद रखना।'

बेंकट अपने पितासे भी बढ़कर विवेकी था। उसने कहा—'पिताजी! आपकी इस सीखका एक-एक अक्षर अनमोल है। सच्चे हितैषी पिताके बिना ऐसी सीख कौन दे सकता है। मोहवश संसारके भोगोंमें फँसाकर जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले पिता-माता तो बहुत होते हैं परन्तु अज्ञानके बन्धनसे छूटनेका सरल उपाय बतलाने-वाले तो आप-सरीखे पिता विरले ही होते हैं। मुझे यह धन न देकर आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। परन्तु पिताजी! मालूम होता है, मेरी कमजोरी देखकर ही आपने धनकी इतनी बुराइयाँ बतलाकर धनको महत्त्व दिया है। वस्तुतः धनकी ओर भजनानन्दियोंका ध्यान ही क्यों जाना चाहिये? धनमें और धूलमें फर्क ही क्या है? जो कुछ भी हो—मैं आपकी आज्ञाको सिर चढ़ाता हूँ, और आपके सन्तोषके लिये धनकी ओर ध्यान देकर इसे शीघ्र ही भगवान्की सेवामें लगा दूँगा। अब आप इस धनका ध्यान छोड़कर भगवान् श्रीरंगनाथजीका ध्यान कीजिये और शान्तिके साथ उनके परम धाममें पधारिये। मेरी माताने मुझे जैसा आशीर्वाद दिया था वैसे ही आप भी यह आशीर्वाद अवश्य देते जाइये कि मैं कभी भगवान्को भूलूँ नहीं—मेरा जीवन भगवत्परायण रहे और आपकी यह पुत्रवधू भी भगवान्की सेवामें ही संलग्न रहकर अपने जीवनको सफल करे।'

पिताने 'तथास्तु' कहकर भगवान्में ध्यान लगाया, और भगवान्के नामकी ध्वनि करते-करते ही उनका मस्तक फट गया। बेंकट और रमायाने देखा—एक उजली-सी ज्योति मस्तकसे निकलकर आकाशमें लीन हो गयी।

बेंकटने पिताका शास्त्रमर्यादाके अनुसार संस्कार

किया। फिर श्राद्धमें समुचित ब्राह्मण-भोजनादि करवाकर पिताके आज्ञानुसार स्वर्ण मुहरोंके घड़ोंको निकाला और तमाम धन-राशि गरीबोंकी सेवाके द्वारा भगवत्सेवामें लगा दी गयी।

तबसे वेंकट और रमायाकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने अपना सारा जीवन साधनामय बना डाला। पत्नी अपने पतिकी साधनामें सहायता करती और पति पत्नीकी साधनामें सहायक होता। कहीं किसी कारणसे किसी एकके अंदर कोई दोष दीखता या किसी एकके जरा भी गिरनेकी सम्भावना होती तो दूसरा उसे उचित परामर्श देकर, विनयसे समझाकर, और प्रेमसे सावधान करके रोक लेता। दोनों एक ही भगवत्पथपर चलते थे और दोनोंसे ही दोनोंको बल मिलता था। यही तो सच्चा दाम्पत्य है।

एक दिन दोनों ही भगवान्‌के प्रेममें तन्मय होकर उनको अपने सामने मानकर—अन्तरके नेत्रोंसे देखकर नाच रहे थे और मस्त होकर कीर्तन कर रहे थे। भगवान् यों तो प्रतिक्षण ही भक्तोंके समीप रहते हैं, पर आज तो वे वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये और उन्हींके साथ थिरक-थिरक नाचने लगे। भक्त भगवान्‌पर मुग्ध थे और भगवान् भक्तोंपर। पता नहीं—यह आनन्दका नाच कितने समयतक चलता रहा। भगवान्‌की इच्छासे जब वेंकट-रमायाको बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्होंने देखा, दोनोंका एक-एक हाथ अपने एक-एक हाथसे पकड़े भगवान् श्रीरङ्गनाथ दोनोंके बीचमें खड़े मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखकर दोनों निहाल हो गये। आनन्दका पार नहीं था। उनके शरीर प्रेमावेशसे शिथिल हो गये। दोनों भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌ने उठाकर दोनोंके मस्तक अपनी दोनों जाँघोंपर रख लिये और उनपर वे अपने कोमल करकमल फिराने लगे। इतनेहीमें दिव्य विमान लेकर पार्षदगण पहुँच गये। भगवान् अपने उन दोनों भक्तोंसहित विमानपर सवार होकर वैकुण्ठको पधार गये। कहना नहीं होगा कि भगवान्‌के संस्पर्शसे दोनोंके शरीर पहले ही चिन्मय दिव्य हो गये थे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भगवान्‌की भगवत्तापर, जो मनुष्यको उसकी बुरी आदतों तथा उनके परिणामोंसे सर्वथा मुक्त कर देती है, उन्हीं लोगोंको आश्चर्य होता है जिनमें आध्यात्मिक बुद्धि नहीं है। जो लोग अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाशको अभिव्यक्त करनेकी सच्ची चेष्टा कर रहे हैं और उसका पथप्रदर्शकके रूपमें उपयोग करते हैं, वे यह जानते हैं कि जो श्रद्धालु हैं तथा अपनी श्रद्धाको कार्यान्वित करनेमें लगे हुए हैं, उनके लिये सब कुछ सम्भव है।

शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रधान आचार्य और उनके सिद्धान्त

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्यशास्त्री)

(१) श्रीवल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैत वेदान्तके आदि आचार्य तथा प्रधान प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी माने जाते हैं। इनका जन्म वि० सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को रायपूर (सी० पी०) के चम्पारण्य नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिताका नाम लक्ष्मणभट्टजी और माताका नाम श्रीइलम्मागारु था। ये उत्तरादि तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाड़ नामक ग्राममें रहते थे। आपका गोत्र भारद्वाज और सूत्र आपस्तम्ब था। आपके पूज्य पिताने सौ सोमयज्ञ किये थे। उसी सोमयज्ञकी पूर्तिके उपलक्ष्यमें एक लाख ब्राह्मण-भोजन काशीमें जाकर करानेके लिये लक्ष्मणभट्टजी सपत्नीक घरसे चले थे। रास्तेमें चम्पारण्यमें श्रीवल्लभाचार्यका जन्म हुआ। आप अपने पिताके द्वितीय पुत्र थे।

काशीमें आकर, उपनयन संस्कारके बाद, आपने श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे वेद-शास्त्रादिका सम्पूर्ण अध्ययन किया। ११ वर्षकी अवस्थामें आपने अध्ययन समाप्त कर लिया था। काशीसे चलकर वृन्दावन होते हुए आप विजयनगर साम्राज्यके सुप्रसिद्ध राजा कृष्णदेवरायकी सभामें जाकर बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हराया। वहींपर आपको वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त हुई और राजाने आदरसहित आपको स्वर्ण-सिंहासनपर बैठाकर आपका पूजन किया। तत्पश्चात् उज्जैन आदि घूमते हुए आप फिर काशी लौट आये।

श्रीवल्लभाचार्य वृन्दावनमें रहकर श्रीकृष्णकी उपासना करने लगे। कहा जाता है कि श्रीकृष्णने इनकी अचल भक्ति और कठोर तपसे प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया और बालगोपालकी पूजाका प्रचार करनेका आदेश किया। तभीसे वल्लभ-सम्प्रदायमें बालगोपालकी पूजा अविच्छिन्नरूपसे चली आ रही है। श्रीवल्लभाचार्यके परमधाम सिधारनेके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती चली आ रही है कि एक दिन काशीके हनुमानघाटपर गङ्गास्नानके स्थानसे—जहाँपर वल्लभाचार्यजी स्नान कर रहे थे—एक उज्ज्वल अग्निशिखा उठी। श्रीवल्लभ सबके सामने ही ऊपर उठने लगे और देखते-देखते आकाशमें लीन हो गये। इस प्रकार वि० सं० १५८७ में ५२ वर्षकी अवस्थामें आचार्यने परमधामको प्रयाण किया।

श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी, सिद्धान्त-रहस्य, भागवत-लीला-रहस्य, एकान्त-रहस्य, विष्णुपद, अन्तःकरणप्रबोध, आचार्यकारिका, आनन्दाधिकरण, नवरत्न, निरोधलक्षण और उसकी विवृति, संन्यासनिर्णय आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। परन्तु आपकी सबसे प्रसिद्ध तथा प्रधान पुस्तक जो कि आपके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेवाली है वह ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य है। पीछेके आपके अनुयायियोंने इसी अणुभाष्यकी विशिष्ट टीका-टिप्पणी करके आपके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। अतएव अणुभाष्यको शुद्धाद्वैत सम्प्रदायवालोंका आदिग्रन्थ कहा जाय तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी। आचार्यकृत भागवतकी 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या भी अपना विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि इस व्याख्याको आचार्यने पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार ही लिखा है। इसी महत्त्वपूर्ण व्याख्याके कारण इस सम्प्रदायवाले भागवतको प्रस्थानत्रयीके समकक्ष प्रमाणकोटिमें मानते हैं[1]।

(२) श्रीविट्ठलनाथजी—आचार्य विट्ठलनाथजी वल्लभाचार्यजीके पुत्र थे। जैसे वल्लभाचार्यजी महाप्रभुजीके नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकारसे ये 'गोसाईं' जीके नामसे प्रसिद्ध हैं। विट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गके प्रसारमें बहुत ही बड़ा कार्य किया। भगवान्‌की सेवा-पद्धतिकी अच्छी ढंगसे व्यवस्था की तथा इन्हींके उद्योगसे गुजरातप्रान्तमें वैष्णवधर्मका इतना अधिक प्रचार हुआ। इन्होंने वल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंकी पुष्टि करनेके लिये अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की। तीसरा अध्याय दूसरा पाद ३४ सूत्रके बादका अणुभाष्य इन्हींकी रचना है। 'विद्वत्प्रकाश' लिखकर इन्होंने सुबोधिनीके कठिन स्थलोंको सुगम बना दिया। 'भक्तिहंस' तथा 'भक्तिहेतु' में इन्होंने भगवान्‌के अनुग्रहको ही भक्तिका प्रधान कारण सिद्ध किया है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डन' नामक सुप्रसिद्ध

१. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४९)

ग्रन्थकी रचना की है जिसमें इन्होंने वल्लभके शुद्धाद्वैतमतका विशेष रूपसे प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ इस मतका अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थकी प्रामाणिकताको पीछेके सब आचार्योंने स्वीकार किया है। इनकी मृत्यु माघकृष्ण सप्तमी संवत् १६४२ में हुई। उस समय इनकी उम्र लगभग ७० वर्षकी थी। वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथजीने 'अष्टछाप' की स्थापना कर व्रजसाहित्यकी उन्नतिमें जो उन्नत भाग लिया है, वह साहित्यप्रेमी पाठकोंसे अविदित न होगा।

(३) श्रीव्रजनाथ भट्ट—ये शुद्धाद्वैतवादी थे। इन्होंने वल्लभाचार्यके 'अणुभाष्य' पर 'मरीचिका' नामक वृत्तिकी रचना की है। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है। इन्होंने लिखा है कि मैंने इस ग्रन्थकी रचना सम्राट् जयसिंहकी आज्ञासे की। अणुभाष्यके टीकाकार गोस्वामी पुरुषोत्तमजीका नामोल्लेख इस ग्रन्थमें नहीं है। इससे ज्ञात है कि ये गोस्वामी पुरुषोत्तमदाससे पहले हुए थे। पुरुषोत्तमजी १८वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इससे व्रजनाथभट्टका काल १७वीं शताब्दी ज्ञात होता है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डन' की 'सुवर्णसूत्र' नामक टीका लिखी है।

(४) गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज—ये विट्ठलनाथजीके पुत्र बालकृष्णके वंशधर थे। इनके पिताका नाम पीताम्बर और पितामहका नाम यदुपति था। ये सम्भवतः १८वीं शताब्दीमें हुए थे। इन्होंने 'अणुभाष्य' की टीका लिखी है जिसका नाम 'भाष्य-प्रकाश' है। इसमें इन्होंने शंकर आदि पूर्वाचार्योंके मतोंका खण्डन कर शुद्धाद्वैतका मण्डन किया है।

(५) श्रीबालकृष्ण भट्टने 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थकी रचना की है जिसमे इन्होंने सात प्रमेयोंका वर्णन बड़े अच्छे ढंगसे किया है।

(६) गोस्वामी गिरिधरदासजी महाराजने 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' नामक नितान्त उपादेय ग्रन्थको केवल ९५ पद्योंमें लिखा है जिसमें शुद्धाद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन परमतके निरसनके साथ बड़ी सुन्दर रीतिसे किया गया है।

१. इन आचार्योंके विशेष विवरणके लिये द्रष्टव्य है—पण्डित बलदेव उपाध्यायविरचित 'भारतीय दर्शन' पृ० ५१३–५२०।

सिद्धान्त

शुद्धाद्वैत नाम-करणका कारण

श्रीवल्लभाचार्यका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है। महाप्रभु जीव और ब्रह्मकी नितान्त एकताके पक्षपाती हैं। अतः अद्वैतके वे पक्के माननेवाले हैं। इनके मतसे ब्रह्म नितान्त शुद्ध है अर्थात् वह मायासे अलिप्त है। अतएव मायाशबल ब्रह्मके माननेवाले अद्वैतवादी शाङ्कर वेदान्तसे अपने मतकी भिन्नता प्रतिपादन करनेके विचारसे इन्होंने अपने मतका नाम 'शुद्धाद्वैत' रक्खा। 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' में इस नाम-करणका यही कारण बतलाया गया है[१]।

मत—ब्रह्मकी कल्पना

श्रीवल्लभाचार्यके मतसे यह परब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। भगवान् अखिलरसामृतमूर्ति, अखिल लीलानिकेतन श्रीकृष्ण ही यह परमब्रह्म हैं[२]। अग्निसे स्फुलिङ्गोंके समान उस परब्रह्मसे जीवोंका आविर्भाव होता है[३]। जगत् भगवान्की लीलाका विलास है। आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक भगवत्शक्तियोंके कारण इस जगत्का विकास तथा लय होता है[४]। शुद्धाद्वैतवादियोंके मतसे जीव अणु और सेवक है। प्रपञ्च-भेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। वल्लभाचार्यके मतानुसार सेवा द्विविध है—फलरूपा और साधनरूपा। सर्वदा श्रीकृष्णश्रवणचित्ततारूप मानसी सेवा फलरूपा और द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा है। इनके मतसे गोलोकस्थ परमानन्दसन्दोह वृन्दावनमें भगवत्कृपासे गोपीभाव प्राप्त करके अखण्ड रासोत्सवमें निर्भर रसावेशके साथ पतिभावसे भगवान्की सेवा करना ही मोक्ष है। इनकी रायमें ज्ञानमार्ग कठिन है, भक्तिमार्ग भी उत्कृष्ट नहीं, केवल प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है।

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
(चौखम्भा सं० पृ० २८ पृ० २४)

२. देखिये 'प्रमेयरत्नार्णव' पृ० ११–१५

३. देखिये 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' पृ० ७

४. देखिये 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' पृ० ८–१३

ब्रह्म और जगत्का सम्बन्ध

शुद्धाद्वैत वेदान्तके अनुसार ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। कारण सत् और कार्य भी सत् है; अतएव जगत् भी सत् है। हरिकी इच्छासे ही जगत्का आविर्भाव हुआ है। उसकी इच्छासे ही जगत्का तिरोधान होता है। ब्रह्म खेलके लिये अपनी इच्छासे जगत्रूपमें परिणत हुआ है। जगत् ब्रह्मात्मक है, प्रपञ्च ब्रह्मका ही कार्य है। वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवादको स्वीकार करते हैं। उनके मतसे जगत् मायिक नहीं है और न भगवान्से भिन्न ही है। उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। जगत् सत्य है, पर उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत्का जब तिरोभाव होता है तब वह कारणरूपसे और जब आविर्भाव होता है तब कार्यरूपसे स्थिर रहता है। भगवान्की इच्छासे ही सब कुछ होता है। क्रीड़ाके लिये उसने जगत्की सृष्टि की। अकेले क्रीड़ा सम्भव नहीं है अतएव उसने जीव और जगत्को रचा।

जीवकी कल्पना

जीव ब्रह्मका अंश और अणु है। यह जीव हृदयमें रहता है और ब्रह्मकी तरह शुद्ध और चेतन है। चैतन्य जीवका गुण है। उसके हृदयमें रहनेपर भी उसका चैतन्य सर्वत्र फैल सकता है और अनेक स्थानोंमें व्याप्त रहता है।

मुक्तिकी प्राप्ति

इस मतके अनुसार गोलोकस्थ श्रीकृष्णकी सायुज्यप्राप्ति ही मुक्ति है। श्रीकृष्णकी पतिरूपसे सेवा करना और सर्वात्मभाव रखना ही मुक्ति है। समस्त विश्व ब्रह्मात्मक है। जब सब कुछ सनातन ब्रह्मके रूपमें दिखायी देने लगता है, तब सर्वात्मभाव सिद्ध होता है। शुद्ध जीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर, कृष्णके प्रेममें उनकी स्वामिरूपमें सेवा करके परमानन्दरसमें तन्मय रहता है। इस प्रकार तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति मिलती है।

मुक्तिके साधन

श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार शम-दमादि मुक्तिके बहिरङ्ग साधन हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन अन्तरङ्ग साधन हैं। भगवान्में चित्तकी प्रवणता सेवा है और सर्वात्मभाव मानसी सेवा है। आचार्यके मतमें पुष्टिमार्गीय साधन ही श्रेष्ठ है। इसीसे ही चारों प्रकारके पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। यह पुष्टिमार्ग क्या है, इसका प्रारम्भ कैसे हुआ तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदायमें इसकी क्या विशेषता है इस विषयका कुछ विस्तृत विवेचन नीचे पाठकोंके लाभार्थ उपस्थित किया जाता है।

'पुष्टि' शब्दका अर्थ

शुद्धाद्वैत वेदान्तमें 'पुष्टि' शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें किया जाता है। बहुत-से देशी तथा विदेशी विद्वान् इस शब्दसे अन्नपानके द्वारा शरीरकी पुष्टि करनेवाले सम्प्रदायकी कल्पना करते हैं तथा उनके भ्रान्त विचारके अनुसार 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' की ही गूँज उन्हें वल्लभाचार्यके पवित्र सिद्धान्तोंमें सुन पड़ती है। परन्तु आचार्यने ऐसे जीवनकी बड़ी निन्दा की है[1]। अतएव 'पुष्टि' शब्दका यह उपर्युक्त अर्थ कदापि नहीं हो सकता। इस कठिन शब्दके अज्ञानसे ही समुज्जृम्भित ये अनर्गल कल्पनाएँ हैं। इस शब्दका ठीक अर्थ भगवान्का अनुग्रह है। भागवतपुराण (२।१०।४) में स्पष्ट ही लिखा है कि 'पोषणं तदनुग्रहः' अर्थात् पोषण या पुष्टि भगवान्के अनुग्रहको कहते हैं। इसी श्लोकांशके आधारपर वल्लभने अपने सिद्धान्तको 'पुष्टि' के नामसे पुकारा है। वल्लभाचार्यका यह मत है कि भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती और यह भक्ति भगवान्के अनुग्रहसे ही प्राप्त हो सकती है। अतएव उन्होंने अपने इस मतको 'पुष्टिमार्ग' का नाम दिया है। यहाँ यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वल्लभाचार्यका सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्रमें शुद्धाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार यह भक्तिके क्षेत्रमें 'पुष्टिमार्ग' के नामसे पुकारा जाता है।

'पुष्टिमार्ग'की प्राचीनता

पुष्टिमार्ग अर्थात् भगवान्के अनुग्रहको ही मुक्तिका एकमात्र साधन बतलानेका सिद्धान्त आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकालसे चला आता है। यह उपनिषदोंमें यत्र-तत्र सूत्ररूपमें पाया जाता है। मुण्डक उपनिषद्में आत्माकी उपलब्धिका कारण बतलाते हुए न तो प्रवचनको कारण माना है, न मेधाको और न बहुशास्त्र-श्रवणको; प्रत्युत यही बतलाया है कि जिसपर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है[2]। कठोपनिषद् (१।२।२०) में भी—

१. विषमाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः। (संन्यासनिर्णय ६)

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

—कहकर भगवान्‌के प्रसादसे ही आत्मस्वरूपके दर्शन करनेकी बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रहका यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है।

'पुष्टिमार्ग'का उद्गमस्थान

अब प्रश्न यह उठता है कि पुष्टिमार्गका उद्गमस्थान कहाँ है? आचार्यने अपने 'पुष्टिमार्ग' की पुष्टि कहाँसे की? क्या उपनिषदोंमें यहाँ-वहाँ बिखरे हुए उपर्युक्त कतिपय संकेत ही इस सिद्धान्तके परिपोषक हुए? अथवा आचार्यको अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिये किसी अन्य स्थानसे प्रचुर सामग्री मिली। प्राचीन आचार्योंने अपने सम्प्रदायके दार्शनिक आधारके लिये सदा ही प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता—को मूल माना है। महाप्रभुने भी वैसा ही किया है, परन्तु यह विनम्र लेखक अनेक वर्षोंके अध्ययनके बाद इसी सिद्धान्तपर पहुँचा है कि आचार्यका यह समग्र सिद्धान्त-समुच्चय, पुष्टिमार्गका यह समस्त अनुष्ठान, शुद्धाद्वैतका यह परिमार्जित सिद्धान्त—यह सब तत्त्व श्रीमद्भागवतकी जाज्वल्यमान विभूति है। आचार्यकृत भागवतकी टीका 'सुबोधिनी' के देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। भागवत वेद-वेदान्तका सार है[1]। इसमें वैदिक सिद्धान्तोंकी ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुतिमें जो सूत्ररूपमें है उसका भाष्य हमें भागवतमें उपलब्ध होता है। भागवतमें भगवदनुग्रहको बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकोंको जलाकर उसे अपना लेते हैं; तथा दुःखोंसे मुक्तिकी व्यवस्था कर देते हैं[2]। अतः इन प्रमाणोंके कारण यह सिद्ध है कि 'पुष्टि' की भक्तिमयी साधना तथा 'शुद्धाद्वैत' के उन्नत तत्त्व—ये सब भागवतकी ही देन हैं। भागवतकी इसी विशेषताके कारण इस सम्प्रदायवाले इस ग्रन्थरत्नको 'प्रमाणचतुष्टय' में मानते हैं[3]।

१. सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(भा० १२। १३। १५)

२. भागवत—८। २३। ८

३. समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।
(शु० मा० पृ० ४९)

पुष्टिमार्गकी आवश्यकता तथा विशिष्टता

यह संसार विपत्तियोंका आगार है। चारों ओरसे विपत्तियाँ आकर हमें थपेड़ा मार रही हैं। अतः सब आचार्योंके सामने सर्वदा यही विकट प्रश्न उपस्थित होता आया है कि इस जगत्‌के त्रिविध दुःखोंसे आत्यन्तिकी निवृत्ति किस प्रकार होगी। प्राचीन आचार्योंने ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके मार्ग मुमुक्षुजनोंके लिये इन दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। वल्लभाचार्य इन मार्गोंकी उपयोगिताको मानते हैं परन्तु उनकी दृष्टिमें इन साधनोंका ठीक-ठीक आचरण इस कलिकालमें नहीं हो सकता। महाप्रभुने अपने 'कृष्णाश्रयस्तोत्र' में इस कुटिल कालका बड़ा ही सजीला वर्णन किया है[1]! ऐसे कलि-कल्मषसे पूर्ण समयमें क्या ज्ञानकी निष्ठा हो सकती है? अथवा भक्ति-मार्गका ही आचरण क्या भलीभाँति हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। यदि हो भी सकता है, तो केवल वेदाध्ययन-निरत त्रिवर्णके पुरुषोंको ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियोंकी मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गोंके अनुसरणसे कभी हो सकती है? इन निराश्रयोंका उद्धार सदाकी भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभुने इन लोगोंके भी कल्याणके लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया[2]। इस मार्गमें परम ब्रह्म श्रीकृष्णभगवान्‌का अनुग्रह ही एकमात्र साधन है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रयके निष्पादनमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें समर्पण कर दें। यदि पूर्णभक्तिके साथ हम श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें अपनी निराश्रय आत्माको डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-

१. म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
(कृष्णाश्रयस्तोत्र)

२. हरिजन-उद्धारके इस युगमें वल्लभाचार्यजीका यह पुष्टिमार्ग कितना महत्त्व रखता है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस मार्गमें वर्णजाति आदिका भेद-भाव नहीं है तथा सब अपनी आत्मोन्नति करनेके लिये स्वतन्त्र हैं।

पोषण न करेगा ! अवश्य करेगा । परन्तु हममें चाहिये उसके अनुग्रहपर पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपापर नितान्त भरोसा ।

वल्लभने पुष्टिमार्गकी मर्यादामार्गसे विशिष्टता स्पष्टरूपसे दिखलायी है । मर्यादामार्गमें जीव फलके लिये अपने कर्मोंके अधीन है । 'कर्मानुरूपं फलम्' मर्यादामार्गका प्रसिद्ध सिद्धान्त है । परन्तु पुष्टिमार्गमें कर्मकी क्या आवश्यकता है[1] ! मर्यादामार्गमें शास्त्रविहित ज्ञान, कर्मके आचरणसे ही मुक्तिरूपी फल मिलता है परन्तु पुष्टिमार्गमें ज्ञान, कर्मकी नितान्त निरपेक्षता बनी रहती है[2] । इसी कारणसे सब निराश्रय दीन जीवोंका एकमात्र मोक्षसाधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग जिसमें भगवान् अपनेमें मनसा, वाचा, कर्मणा आत्मसमर्पणशील जीवोंका प्रपञ्चसे उद्धार अपनी दयाके बलसे कर देते हैं[3] । अतः यह मार्ग सब जीवोंके लिये—वर्ण, जाति, देश किसी भी भेदभावके बिना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है । यह मार्ग मुक्ति-साधनका सार्वजनिक राजमार्ग है । यही इस मार्गकी विशेषता है[4] ।

उपसंहार

श्रीवल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैतसिद्धान्तका व्यावहारिक दृष्टिसे भले ही कुछ विशेष महत्त्व न माना जाय, परन्तु भक्तिक्षेत्रमें प्रचारित उनके पुष्टिमार्गका इस दृष्टिसे विशेष मूल्य है । अबतक मोक्षकी साधना जो ज्ञानमार्गके अनुसार कुछ विद्वानोंके लिये ही सीमित थी, इस मार्गके द्वारा सबके लिये सुलभ हो गयी । मुक्तिकी पुण्यस्थलीमें नीच पुरुषोंका भी प्रवेशाधिकार हो गया । स्त्रियाँ तथा शूद्रलोग भी यह समझने लगे कि हम भी अब भक्तिके द्वारा मुक्त हो सकते हैं । इस प्रकार शूद्रादि जातियाँ यवनधर्म ग्रहण करनेसे रुक गयीं तथा अपने धर्मके द्वारा ही आत्मोन्नतिका उपाय सोचने लगीं । संक्षेपमें पुष्टिमार्गकी सार्वजनीनता ही उसकी विशिष्टता तथा उपादेयता है ।

नाम-महिमा

(१)

राम नाम रत्न राशि, राम नाम अमृत है,
राम नाम स्वाँति बूँद, चातक के हिय की ।
राम ही संजीवन है, राम नाम कल्प तरु,
राम नाम वसुधा, गिरीशजा के पिय की ॥
राम नाम आनँद, अखण्ड, ब्रह्म, व्यापक है,
राम नाम शीश मणि, भव्य भक्ति तिय की ।
राम नाम कामधेनु, हार, चारु, चिन्तामणि,
"गङ्गहरी" शुभ ज्योति जीवन के जिय की ॥

—'गङ्गहरी'

१ देखिये ब्र. सू. २ । ३ । ४२ पर अणुभाष्य ।

२. अतएव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेवेति भावः । (ब्र. सू. ३ । ३ । २९ पर अणुभाष्य)

३. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः । (ब्र. सू. ४ । ४ । ९ पर अणुभाष्य)

४. समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि । समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ (प्रमेयरत्नार्णव पृ० १८ । २४)

स्वयम्भू ज्योति

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई० मैसी)

प्रत्येक आत्माके अंदर एक आन्तरिक प्रकाश होता है, जिसका अनुसन्धान एवं विकास किये जानेपर उसका (आत्माका) दिव्य स्वरूप स्पष्टतया प्रकट हो सकता है। यह वह अव्यक्त अपार्थिव अनिर्वचनीय स्वयम्भू ज्योति है, वह गूढ आन्तरिक प्रकाश है, जो संसारमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको आलोक प्रदान करता है (which lighteth every man that cometh into the world)। उसीके प्रकाशके पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे सारे पदार्थोंको प्रकाश मिलता है*'— श्रुतिके इस वाक्यके पीछे भी यही अनुभूति काम कर रही है। यहूदियोंके पैगंबर माइका (Micah) ने कहा है—'ईश्वर मुझे प्रकाशके सम्मुख लायेंगे और मैं उनके धर्म और न्यायके दर्शन करूँगा' (He will bring me forth to the light, and I shall behold His righteousness)। इस प्रकाशको वही देख पाता है, जो श्रद्धापूर्वक इसकी खोज करता है, जो इसके सहारे सत्यका दर्शन करना चाहता है, न कि वह जो इसकी अभिव्यक्तिकी ओरसे उदासीन रहता है। वह उसे उस मार्गका दर्शन करा देता है जो शान्ति, विश्राम एवं विजयके नित्य निकेतनकी ओर ले जानेवाला है—जहाँ पहुँचनेपर मनुष्यको लौकिक संघर्षसे विश्राम मिलता है एवं जगत्‌के तूफानों एवं झंझावातोंसे ऊपर उठकर वह अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्तिके वातावरणमें पाता है, जिसपर कालकी गतिका अथवा मनुष्यकी बदलनेवाली परिस्थिति-का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह उन्हें उन तेजोमय अट्टालिकाओंके शिखरोंकी झाँकी करा देता है, जो इस मर्त्यलोकसे इतने ऊपर उठे हुए हैं कि उनका प्रकाश स्वर्गीय दीपावलीके प्रकाशसे घुल-मिलकर एक हो जाता है। वहाँ यह जाननेके लिये कि हमारे आध्यात्मिक जीवनके अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वप्न उस दिव्य अनादि भागवतीय जीवनकी— जिसे हम ईश्वर कहते हैं तथा जिसके आधारपर एवं जिस उपादानसे समस्त सत्ता एवं रूपोंकी रचना होती है—प्रभाके सच्चे एवं वास्तविक प्रतीक अथवा प्रतिध्वनि एवं प्रतिबिम्ब हैं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इस मर्त्यलोकको ही ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाया जाय अथवा स्वर्गको ही मनुष्यके दृष्टिपथमें ले आया जाय।

एक सच्चे एवं श्रद्धालु साधकको आध्यात्मिक जीवनकी सत्यता एवं वास्तविकताके लिये किसी बाह्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसके आत्मामें ओतप्रोत रहता है। आत्मबलके दृढतम आधार तथा अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिके निर्माणके लिये वह बाह्य प्रमाणका भरोसा नहीं करेगा, जिसका खण्डन भी किया जा सकता है। उसके भीतर एक ऐसी आवाज होती है, जो तूतीसे भी तेज होती है, जो किसी भी बाह्य प्रमाणसे अधिक प्रामाणिक होती है, जो लौकिक बाजारोंके कोलाहलके भी ऊपर सुनी जा सकती है। आत्माके अंदर एक गूढ दिव्य दृष्टि होती है, जो लौकिक विद्यासे अन्तर्हित रहती है, जो दर्शनों-के टेढ़े-मेढ़े कठिन रास्तोंसे दूर होती है, जो अन्य सभी शक्तियोंकी भाँति स्पष्टरूपसे स्वीकार करने, प्रयत्नपूर्वक साधने तथा सावधानीके साथ पोषण करनेसे विकसित होती है। यह मानव-प्रकृतिकी सबसे बड़ी मौरूसी सम्पत्ति है, यह परतम शक्ति है और कैथलिक सम्प्रदायके कई ईसाई उपासनाके समय इसे आवाहन

* तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

करते हैं एवं जगाते हैं । इसका अपलाप अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती । यह अदम्य एवं निश्चयात्मक होती है । इसे स्वीकृतिकी आवश्यकता नहीं है एवं इसका अपलाप सम्भव नहीं है । इसकी क्रिया सीधे एवं प्रत्यक्षरूपसे होती है और श्रद्धापूर्वक विचार करनेपर ऐसा मालूम होगा कि जहाँतक हमारा सम्बन्ध है इसका निर्णय निर्भ्रान्त होता है; क्योंकि चाहे उसका निर्णय अन्तिम न हो किन्तु हमारे लिये उससे अधिक निर्णय सम्भव नहीं है । हम सबके अंदर भीतरी-से-भीतरी आवाज, यदि हम उसे सुनभर सकें, भगवान्‌की ही आवाज है ।

यह सत्य है कि इस आवाजको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुननेकी आवश्यकता है । पहले-पहल यह अत्यन्त धीमी होती है, परन्तु जितना अधिक हम उसे सुनेंगे उतनी ही वह स्पष्ट होती जायगी । उस भीतरी सहज दृष्टिके द्वारा जो हमारे आन्तरतम प्रदेशमें निश्चित रूपसे जाग्रत् होती है, यदि कोई बात हमें सत्य प्रतीत होती है तो किसी तर्कका आश्रय लेकर हमें उसे तुरंत स्वीकार करने एवं ग्रहण करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिये । जब कोई वस्तु, घटना अथवा बाह्य-रूप हमारे सामने अपनी सत्ताको कायम कर देता है तो हमें इस बातको लेकर उसका अपलाप नहीं करना चाहिये कि हम दूसरे तथ्योंके साथ, जो उसकी स्वीकृतिमें बाधक प्रतीत होते हैं, उसका सामञ्जस्य नहीं बैठा सकते । प्रकाशकी सत्ता इसलिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि अन्धकार भी साथ-ही-साथ विद्यमान है; बल्कि इस प्रकारका जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण है—हमारी सीमित शक्तियोंकी सविशेषता । इसी सविशेषताके कारण हम असीमके धरातलपर समग्रका उसके पूर्ण रूपमें दर्शन नहीं कर सकते—जिस धरातलपर सीधी रेखा चक्राकार हो जाती है और जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सत्यकी रज्जुमें ग्रथित एवं एकीभूत हो जाते हैं । जीवनके अनेक अत्यन्त बहुमूल्य रत्नोंसे हम इसलिये वञ्चित रह जाते हैं कि हम उन्हें ग्रहण करनेसे डरते हैं और आत्माकी उन दैवी प्रेरणाओंकी उपेक्षा करते हैं, जिन्हें कार्यान्वित करनेसे हम सत् एवं यथार्थ वस्तुकी उपलब्धि कर सकते हैं । इस पद्धतिसे यदि दुर्दैववश कभी हम किसी भ्रान्त निर्णयपर पहुँच जायँ तो भी यदि हम सच्चे और ईमानदार हैं तो वह निर्णय अपने-आप शीघ्र ही हमारी बुद्धिसे हट जायगा । हमें इस बातसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमारी सदाके लिये हानि हो जायगी । अवश्य ही हमें सत्यको जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करना चाहिये और जब कि भगवान्‌का दिव्य राज्य हमारे सामने हो, तब हमें प्राथमिक सिद्धान्तोंपर नहीं विरमना चाहिये । हमें चाहिये कि जो वस्तु स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है, उसकी सिद्धिके लिये तर्क एवं हेतुशास्त्रके गुरोंकी अपेक्षा न करें किन्तु अपनी प्रकृतिकी स्थायी शक्तियोंपर विश्वास करके, जिस प्रकार माली बगीचेमें फूल चुनता है, उसी प्रकार केवल सौन्दर्य एवं संग्राह्यताकी दृष्टिसे ही तथ्योंका संग्रह करें । पुष्पोंकी रमणीयता अथवा संग्राह्यता उनके वैज्ञानिक नामों अथवा उद्भिज्जवर्गमें उनके यथार्थ स्थानके ज्ञानसे नहीं बढ़ती ।

आध्यात्मिक विकासकी क्रिया तबतक अबाधित रूपसे चालू रहनी चाहिये, जबतक वह स्वयम्भू ज्योति हमारे समग्र स्वरूपमें व्याप्त होकर उसपर आधिपत्य न कर ले, जबतक कि हम यह न कहने लगें कि 'मैं नहीं किन्तु मेरे अंदर रहनेवाला मेरा प्रभु ही सब कुछ है ।' उस समय हमें यह अनुभूति हो जायगी कि हम यह जड शरीर नहीं हैं किन्तु वस्त्रकी भाँति उसे धारण कर उसका उपयोग करनेवाले हैं, हम भावसमूह नहीं हैं किन्तु उनका निग्रह करनेवाले हैं, हम सङ्कल्प

नहीं हैं किन्तु उनकी सृष्टि करनेवाले हैं । परमात्मा ज्योतिःस्वरूप हैं, हमें उस प्रकाशको ग्रहण करनेके लिये अन्तर्मुख होना पड़ेगा, ताकि हम उन्मुक्तरूपसे उनकी सेवा कर सकें, जिनकी सेवा ही निरतिशय स्वतन्त्रता—पूर्ण मुक्ति है—(whose service is perfect freedom). "परमात्माकी ज्योति ही इन्द्रियोंकी ज्योतिको प्रकाशित करती है । 'ज्योतिपर अधिष्ठित ज्योति' का यही भाव है । इन्द्रियोंकी ज्योति हमें जगत्‌की ओर आकर्षित करती है, ईश्वरकी ज्योति हमें उनके दिव्य धाममें बुलाती है ।"*

ईश्वरप्रणिधान

(समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्)

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

बाबा रघुनाथदासजी कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे । बचपनमें ग्रामपाठशालामें पढ़ने जाते अवश्य थे; किन्तु जिस दिन अध्यापकने हाथ लाल कर दिये, उसी दिनसे उन्होंने भी सरस्वतीको नमस्कार कर लिया । माताके एकमात्र वही सन्तान थे, सो भी पितृहीन । ऐसे प्यारे बच्चे कहाँ पढ़ा करते हैं ?

कोई चिन्ता थी नहीं । माताके स्नेहने अभावका अनुभव करने ही नहीं दिया था । भोजन, खेल और अखाड़ा, बस वे इतना ही जानते थे । शरीर अच्छा बना हुआ था । आकार भी लंबा था । लंबी आकृति, पुष्ट शरीर और गेहुँआँ रंग, एक भव्य मूर्ति प्रतीत होती थी ।

सौभाग्य किसीका सगा नहीं है । माताका शरीरान्त होते ही अवस्था बदल गयी । घरपर कोई सम्पत्ति तो थी नहीं । यजमानोंके घर जाकर, सैकड़ों युक्तियोंसे माता सब काम चलाती थी । उसकी अनुपस्थितिमें अपने सिर भार पड़ा । यजमानी कभी की हो तो करते भी बने । कभी एक मित्रके घर भोजन कर आये और कभी दूसरेके ।

इस प्रकार कितने दिन काम चलता ? अन्तमें नौकरी कर ली पुलिसमें । घरपर तो कोई था नहीं, जिसकी चिन्ता करनी हो । पैसेके लिये झूठ-सच करनेसे वैसे भी उन्हें घृणा थी । सङ्ग अच्छा मिल गया । अक्षरज्ञान तो था ही, अपने साथीकी देखादेखी 'रामचरितमानस'को उलटा-सीधा पढ़नेका अभ्यास करने लगे । प्रारम्भसे वैष्णव साधुओंपर श्रद्धा थी । कोई साधु आ जाता तो उसे भोजन बनवाकर प्रसाद कराकर तब जाने देते । पासमें एक साधुकी कुटी थी । समय मिलता तब वहाँ दिनमें एक चक्कर अवश्य लगा आते । एक-दो दोहे रामायणके साधु महाराजसे सुन आते । हो सकता तो कुछ सेवा भी कर देते ।

साधु महाराज रामनवमी अयोध्याजीमें करना चाहते थे । काशी, प्रयाग, चित्रकूट होकर घूमते-घामते उन्हें अयोध्याजी जाना था । पौषमें चलनेका विचार था, जिसमें माघभर तीर्थराजमें कल्पवास किया जा सके । रघुनाथ त्रिपाठीने भी उनके साथ चलनेका निश्चय किया । छुट्टीकी अर्जी भेजनेपर जब वह स्वीकृत नहीं हुई तो नौकरीसे इस्तीफा दे दिया ।

* " 'Tis God's Sight that illumines the senses' light,
That is the meaning of 'Light upon light'.
The senses' light draws us earthwards,
God's Light calls us heavenwards."

साधु महाराजके साथ प्रयागमें कल्पवास करके चित्रकूट दर्शन करनेके अनन्तर अयोध्या पहुँचे। वहाँका जो दृश्य देखा तो फिर इच्छा न हुई कि उस दिव्यभूमिका परित्याग किया जाय। साधु महाराज तो रामनवमी करके विदा हो गये और रघुनाथ त्रिपाठीने बाबा सीतारामदासके चरणोंकी शरण ग्रहण की। गुरुदेवकी कृपासे वे रघुनाथ त्रिपाठीसे बाबा रघुनाथदास हो गये। लाल पगड़ीके स्थानपर मस्तक जटाओंसे भूषित हुआ।

[२]

मनुष्यको देखकर कोई नहीं कह सकता कि उसके भीतर कितने महान् संस्कार दबे पड़े हैं और कब वे किस रूपमें जाग्रत् होंगे। कौन जानता था कि एक पुलिसका अनपढ़ सिपाही एक दिन उत्कृष्ट तितिक्षु एवं प्रगाढ़ भगवद्भक्त होगा। लेकिन हुआ कुछ ऐसा ही।

श्रीसरयूजीके विमल पुलिनपर कटिमें मौंजी मेखला तथा एक कौपीन लगाये बाबा रघुनाथदास वर्षके आठ मास व्यतीत कर देते थे। केवल चातुर्मास्यमें, जब सरयूजी पुलिनको गर्भस्थ कर लेतीं तो, वे घाटकी एक बुर्जमें आ जाते थे। वहाँ न धूनी थी और न कन्था। एक तुंबी अवश्य वे साथ रखते थे, नित्यकर्ममें उपयोगके लिये।

दिनमें एक बार सरयूजीमें प्रातःस्नान करनेके उपरान्त चले जाते हनुमानगढ़ी और कनकभवन। उधरहीसे पेटको भी भाड़ा देते आते। कण्ठ और कर तुलसीकी मणियोंसे भूषित थे ही। करकी सुमिरनी अविश्रान्त चलती ही रहती थी। एक ही कार्य था "सीताराम, सीताराम" बस।

पता नहीं उनके उस गौरचर्मको स्थूल एवं कृष्णप्राय बनानेमें कितनी शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओंने श्रम किया होगा। सरयूजीकी लहरें ही बता सकती हैं कि उनकी सीतारामकी ध्वनिकी कितनी मालाएँ श्रीकौशलकिशोरके पावन पदोंमें समर्पित हो गयी हैं। स्वयं बाबा रघुनाथदासको इन उलझनोंसे कोई मतलब नहीं था। सरदी आवे या गरमी जाय, उनके लिये सब समान। उनकी समझसे 'सीताराम'का जप कभी भी पूरा नहीं हो पाता था। वे उसमें नित्य अतृप्त बने रहते थे।

यम-नियम तो व्यापक हैं। इनके बिना कोई किसी भी साधनका अधिकारी होता ही नहीं। जो पल-पलमें आसन बदलता है, वह अभ्यास क्या करेगा! एक आसन सभी साधकोंको सिद्ध करना ही पड़ता है। बाबा रघुनाथदासजीके लिये यम-नियमोंकी चर्चा व्यर्थ है। ये तो उनके स्वभाव बन गये थे। जब वे सिद्धासन लगाकर बैठते थे तो आवश्यकता होनेपर ही उठते थे। चार-छः घंटेतक तो क्या, एकादशीको वे पूरी रात्रि एक ही आसनपर बैठे रहते थे।

मन और प्राणका अभिन्न सम्बन्ध है। प्राणनिरोधसे मनोनिरोध और मनोनिरोधसे प्राणनिरोध सम्पन्न होता है। बाबा जब अपनी 'सीताराम' रटमें तल्लीन होते तो मनको कहीं जानेका अवकाश ही नहीं मिलता। इस मनोनिरोधमें जैसा दृढ़ एवं दीर्घकालीन प्राणायाम हो जाता था, वैसा चेष्टापूर्वक कभी हो नहीं सकता। जब मन ही एकाग्र है तो इन्द्रियाँ कहाँ जायँ? उसके सहयोगके बिना उनमें शक्ति ही कहाँ है? प्रत्याहार तो स्वयं हुआ करता है।

बाबा रघुनाथदासजीने न कभी प्राणायाम किया और न प्रत्याहार। ये स्वयं हो जाते हैं, यह भी उन्होंने कभी सोचा नहीं। धारणा यदि थी तो 'सीताराम' नामकी और ध्यान था तो 'युगल सरकार' का। यह धारणा-ध्यान भी वे जान-बूझकर योग करनेके लिये नहीं करते थे।

जब वे आसन लगाकर प्रारम्भ करते 'सीताराम, सीताराम' तो उन्हें शरीर और संसार दोनों ही विस्मृत हो जाते थे। प्रारम्भ तो वे करते थे उच्च स्वरसे; पर धीरे-धीरे स्वर गिरता और अन्तमें वाणी रुक जाती। जप श्वाससे चलता और जब श्वास भी शिथिल हो जाता तो मनीराम इस गुरुतर कार्यको सम्हालते। सामने रहते थे युगल सरकार और दोनों नेत्रोंसे दो धाराएँ कपोल, हृदय और घुटनोंपर होती हुई श्रीसरयूजीकी रेणुकामें अदृश्य होती जाती थीं। इसके अतिरिक्त भी कोई समाधि हो तो वह हुआ करे। इतना अवश्य है कि यह सबीज समाधि ही थी।

[३]

'नाम' स्वयं महान् है और कहीं उसके साथ नामीका स्मरण भी रहे, तब तो उसकी तुलना केवल उसीसे हो सकती है। क्या आश्चर्य था जो नामके सहारे बाबा रघुनाथदास इस भौतिक शरीरसे ऊपर उठ जाते थे? जिस समय वे आसन लगाकर बैठते थे, लोग कहते हैं कि उनका न श्वास चलता था, न हृदय, और न शरीरमें उष्णता ही रहती थी। वे कनक-भवनसे लौटकर प्रायः ग्यारह-बारह बजे बैठते थे और दस बजे रात्रितक उधर जानेवाले देखते थे कि वे वैसे ही बैठे हैं। प्रातः साढ़े तीन बजे सरयू स्नान करनेवाले एक साधु कहते हैं कि वे 'उस आसनसे चार बजेके लगभग उठते हैं। उठकर स्नानादिमें लग जाते हैं। पता नहीं वे सोते कब होंगे? सोते हैं भी या नहीं?'

एक दिन प्रातःस्नान करनेवालोंने देखा कि रघुनाथदासजी ज्यों-के-त्यों बैठे हैं। जब वे दस बजे तक भी न उठे तो भक्तोंने पुकारा, हिलाया। बड़ी कठिनतासे उन्होंने नेत्र खोले। पता नहीं, उन्हें क्या हो गया था? न तो किसीकी बात सुनते थे और न समझते थे। ऐसे चारों ओर देखते थे, मानो कोई आश्चर्य देख रहे हों। हाथ जोड़कर रोने भी लगते थे। भक्तोंने उठाकर स्नान कराया। प्रसाद सम्मुख आने-पर भी जब उन्होंने नहीं उठाया तो भक्तोंने उनके मुखमें अपने हाथसे ग्रास दिये।

थोड़े दिनों यही क्रम चलता रहा। भक्तजन लगभग नौ-दस बजे बाबा रघुनाथदासको स्नान कराते और उन्हें अपने हाथसे भोजन कराते। वे अब कभी अपने-आपमें रहते नहीं थे। भक्त उन्हें सरयू-किनारेसे उठाकर कनकभवनमें ले आये। उसी कनकभवनमें जो आरम्भसे ऐसे प्रभुके लड़ैते लालोंका क्रीड़ाप्राङ्गण बनता रहा है, बाहरी घेरेके एक कमरेमें उनका आसन लगा दिया।

एक दिन लोगोंने देखा कि बाबाके मुखमण्डलसे दीप्त प्रकाश निकल रहा है। उनकी ओर देखा नहीं जाता। नेत्र चकाचौंध करते हैं। मस्तिष्कमें वहाँ पहुँचते ही 'सीताराम, सीताराम' की ध्वनि इतनी प्रबलतासे गूँजती है कि प्रतीत होता है कि यदि मुखसे दुराग्रहपूर्वक सीताराम न कहा जाय तो मस्तिष्क फट जायगा। वहाँ पहुँचते ही प्रत्येक व्यक्ति बराबर वहाँ रहनेतक सीताराम कहनेको विवश हो जाता है।

एक-एक करके अठारह दिन व्यतीत हो गये। भक्तोंने सब प्रकारसे हिलाकर, पुकारकर, शंख-घड़ियाल बजाकर प्रयत्न कर लिया, बाबा रघुनाथदासके नेत्र नहीं खुले। उनके मुखका प्रकाश प्रखरतर होता गया। यही प्रकाश बतलाता था कि शरीरमें अभी प्राण हैं। आज है रामनवमी। ठीक बारह बजे उधर प्रभुके जन्मकी पहली तोप दगी और इधर उसी क्षण रघुनाथदासजीके कमरेमें एक धड़ाका हुआ। एक भक्तने बढ़कर देखा और फिर वहाँ भीड़ हो गयी। मस्तक ठीक मध्यसे फट गया था। शरीर रक्तारुण बना था और रघुनाथदास श्रीरघुनाथके दिव्यधाममें पहुँच चुके थे!

अज्ञात चेतनाका अगाध रहस्य

(लेखक—श्रीइलाचन्द्रजी जोशी एम्० ए०)

(२)

पहले ही कहा जा चुका है कि हमारी जो अनुभूतियाँ हमारे लिये दुःखद होती हैं, उन्हें हमारी जाग्रत् चेतना निरन्तर दबाती चली जाती है, और फलस्वरूप भूलती जाती है। एक बार दबनेपर वे प्रत्यक्षरूपसे आजीवन दबी रहती हैं, पर परोक्षरूपसे वे विभिन्न रूपोंमें फूटती रहती हैं। फल यह होता है कि हमारे सारे जीवनपर अज्ञात और अप्रत्यक्ष-रूपसे उनका प्रभाव पड़ता रहता है, और वह प्रभाव हमारे मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यके लिये विषमय सिद्ध होता है। हमारे विचारों और मनोभावोंमें बहुत-सी विकृतियाँ आ जाती हैं, हमें पग-पगपर भय, शङ्का और ग्लानिका अनुभव करना पड़ता है। हम अपनेको हीन समझने लगते हैं, और हीनताकी यह अनुभूति समाजसे और संसारसे हमें विच्छिन्न करनेके प्रयत्नमें तत्पर रहती है। समाजसे सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न कर सकनेके कारण सारा जीवन हमारे लिये भारस्वरूप हो जाता है और घोर निराशा और गहन विषादके भावोंसे वह घन अन्धकारमय बन जाता है।

यह क्रम ठीक उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥*

यदि इन दो श्लोकोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक विधिसे की जाय, तो वह इस प्रकार होगी—

आधुनिक मनोविज्ञान-विश्लेषकों (Psycho-analysts) का यह मत है कि सभी मानवीय कर्मोंको प्रेरणा देनेवाली एक मूल शक्ति है। इस मूल शक्तिको भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकोंने अलग-अलग नाम दिये हैं। फ्रायडने उसका नाम दिया है "Libido", जिसका भावार्थ है "आकाङ्क्षा"। गीताकारने इसी "आकाङ्क्षा" को पहले "संग" और फिर "काम" कहा है। जीवनकी आकाङ्क्षा, प्रेमकी आकाङ्क्षा, शक्ति और उन्नतिकी आकाङ्क्षा, ये सब भाव मानवीय आत्माको सब समय सञ्चालित और आलोड़ित करते रहते हैं। पर समाज और संसारके कठोर वास्तविक रूपके संघर्षमें आनेसे उसे पग-पगपर भयङ्कर बाधाओंका सामना करना पड़ता है, जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। इसलिये वह स्वभावतः क्रोधके वशीभूत होता है। पर जब वह देखता है कि उसका वह क्रोध अथवा आक्रोश शून्यमें पत्थर फेंकनेके बराबर निष्फल है, तो उसके भीतर एक प्रकारकी भ्रान्ति या जड़ता-का-सा भाव उत्पन्न हो जाता है, और वह सङ्घर्षकी कठोर अनुभूतियोंको भुलानेके उद्देश्यसे उन्हें अपनी अज्ञात चेतनाके भीतर दबा देता है, गीताकारने दमन (Repression) की इसी क्रियाका फल स्मृति-विभ्रम और बुद्धिनाश बतलाया है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अत्यन्त युक्तिसङ्गत है। कारण यह है कि दमनके फलस्वरूप व्यक्तिका सचेत मन सङ्घर्षके कटु अनुभवोंकी स्मृतियोंको एकदम भुला देता है। पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं वे स्मृतियाँ पूर्णतः विलुप्त नहीं हो जातीं। वे अज्ञात चेतनामें दबी और छिपी रहती हैं, और समय-समयपर नाना विकृत रूपोंसे फूटती रहती हैं। फलस्वरूप व्यक्तिके स्वभावमें जो विकृतियाँ आ जाती हैं वे उसकी सारी आत्माको, सारे जीवनको विषमय बना देती हैं। इसी कारण गीताकारने कहा है कि "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"—बुद्धिका नाश हो जानेसे व्यक्ति भी नाशको प्राप्त हो जाता है।

फ्रायडके मतानुसार मनुष्यके मनका यह अन्तर्दमन चक्र शैशवावस्थामें ही प्रधानरूपसे चलता है। मानव-शिशु जन्म

---

* पुरुष प्रारम्भमें विषयोंका ध्यान करता है, जिससे आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्तिसे काम (सुख-भोगकी इच्छा) उत्पन्न होता है और कामसे क्रोधकी सृष्टि होती है। क्रोधसे संमोह (भ्रान्ति या प्रमाद) उत्पन्न होता है और संमोहसे स्मृति-भ्रम हो जाता है। स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिनाश हो जानेसे पुरुष स्वयं विनाशको प्राप्त होता है।

खेनेके समयसे ही स्वभावतः आत्म-तृप्तिकी आकांक्षा रखता है और सुखके लिये लालायित रहता है। प्रारम्भिक कालमें उसकी यह आत्मसुखाभिलाषा मातृ-स्तन-पानसे तृप्त हो जाती है। पर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे संघर्षोंका सामना करनेको बाध्य होना पड़ता है। तीन या चार वर्षकी आयुमें ही संघर्षका कटु अनुभव करने लग जाता है। शिशुके भीतरी संघर्ष—अन्तर्द्वन्द्वका उग्रतम रूप तब देखनेमें आता है, जब उसकी माता उसके छोटे भाई या बहनको जन्म देती है। तब वह देखता है कि इतने दिनोंतक उसकी माता सुखके जिन साधनोंको केवल उसीके लिये काममें लाती रही है, वे अब आधे-आधे बँटने लगे हैं। एक ओर तो अपने नवजात भाई या बहनके प्रति भयंकर आक्रोशका भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है, और दूसरी ओर उसके माता-पिता अनेक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपोंसे उसके मनपर यह संस्कार जमा देते हैं कि उसका छोटा भाई (या बहन) उसकी ममता और प्रेमका पात्र है, और उसके लिये प्रसन्न-चित्त होकर आत्मत्याग करनेको तत्पर रहना उसका कर्तव्य है। कहना नहीं होगा कि इस सामाजिक और नैतिक संस्कारको शिशु अपनी अविकसित बुद्धिके अनुसार ग्रहण करता है, पर इसीसे उसके मनमें अन्तर्द्वन्द्व मचने लगता है, और वह विवश होकर अपने स्वार्थकी स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियोंको दबाकर अपनी जाग्रत् चेतनासे उन्हें हटाकर अज्ञात चेतनामें निर्वासित करने लगता है। पर इस दमनकी प्रतिक्रिया अदृश्य और अज्ञात रूपसे उसके सारे जीवनकालमें चलती रहती है।

शैशवकालमें प्रवृत्तियोंके दमनका केवल एक ही दृष्टान्त हमने ऊपर दिया है। इस प्रकारके और भी कितने ही दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं। फ्रयड और आडलरके मतानुसार, हमारा सारा परवर्ती जीवन शैशव-कालके अन्तर्द्वन्द्वोंकी प्रतिक्रियाके ही अनुरूप गठित और परिचालित होता है। केवल यही नहीं, शैशवावस्थामें जो अनुभूतियाँ हमारी अज्ञात चेतनामें अंकित हो जाती हैं, वे नये-नये रूपकों, विभिन्न प्रतीकोंके रूपमें जीवनभर हमारी आत्माको विकल करती रहती हैं। उदाहरणके लिये बचपनमें माता-पितासे डरनेका संस्कार परवर्ती जीवनमें स्वयं अपनी प्रज्ञा (Conscience) से डरनेका रूप धारण कर लेता है। शिशु अपने अनेक कार्योंके सम्बन्धमें अपने माता-पिताके निषेध-वाक्यों और धमकियोंको सुनते-सुनते अपनी एक निजी प्रज्ञाका निर्माण कर डालता है। यह प्रज्ञा उसके मनमें उसके कुछ विशेष-विशेष समाज-निषिद्ध कार्योंके सम्बन्धमें उसे तीव्र रूपसे तिरस्कृत करती रहती है। साधारण कोटिका मनुष्य (Normal individual) इस आत्म-तिरस्कारकी प्रवृत्तिको अपने असामाजिक और उच्छृंखल मनोविकारोंके सुधारके काममें नियोजित करता है, पर असाधारण या अप-साधारण (Abnormal) कोटिका व्यक्ति अपनी मनोविकृतियोंसे ऐसा ग्रस्त रहता है कि आत्म-तिरस्कारकी भावना उसके जीवनको नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है, और वह सदा शंकित, चिन्तित और संकुचित रहता है।

इस प्रकारकी विकृत मनोवृत्तिवाला व्यक्ति समाज और संसारके साथ अपने जीवनका सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता। आत्म-दमनकी मनोवृत्ति, और दबायी गयी वासनाओंके आलोडनके कारण उसके भीतर जो अन्तर्द्वन्द्व चलता है उसका समाधान वह एक विचित्र ढंगसे करता है। वह अपने मनमें तरह-तरहकी रंगीन आकाशी कल्पनाओंका जाल बुनता है। इस प्रकार वास्तविक जगत्में उसकी जो प्रकृतिगत उच्छृंखल वासनाएँ अतृप्त रह गयी थीं उन्हें वह कल्पनाके रूपकमय आभासोंद्वारा चरितार्थ करना चाहता है। उदाहरणके लिये बहुधा यह देखा गया है कि जो स्त्री वास्तविक जीवनमें पतिके सुखसे वञ्चित रही है, वह धर्मकी ओर झुककर अपनी अतृप्त प्रेमाकांक्षाको भगवान्‌की ओर प्रेरित करनेके लिये उत्सुक हो उठती है, और मीराकी तरह सच्चे हृदयसे, सम्पूर्ण आत्मासे, भगवान्‌को पतिरूपमें वरण करके अपने संकीर्ण प्रेमको महत् और गहन रूप देनेमें समर्थ होती है। दबी हुई आकांक्षाओंको इस प्रकार सुन्दर और समुन्नत रूप देनेको अंगरेजीमें (Sublimation) कहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा न होकर यह होता है कि व्यक्तिकी दबी हुई आकांक्षाएँ उसे विकृतिकी ओर ढकेलती हैं। उदाहरणके लिये बहुत-सी पतिवञ्चिता स्त्रियाँ हिस्टीरिया-ग्रस्त हो जाती हैं, न समाजमें उनका जी लगता है न संसारमें, न धर्ममें उनकी

प्रवृत्ति रहती है, न किसी कर्ममें; वे घोर स्वार्थ-परायण और अहंवादिनी बन जाती हैं, और नाना प्रकारकी विकृतियाँ उनके मनको आ घेरती हैं। जो उदाहरण स्त्रियोंके सम्बन्धमें उपस्थित किये गये हैं वही अतृप्ताकांक्षी पुरुषोंके सम्बन्धमें भी पेश किये जा सकते हैं, फ्रायडका कहना है कि अतृप्त वासनाओंकी चरितार्थता ही इस प्रकारकी विकृतियोंके निराकरणका एकमात्र उपाय है। पर युङ्ग (Jung) का कहना है कि न अतृप्त वासनाओंकी चरितार्थतासे मनुष्यके अन्तर्द्वन्द्वोंकी समस्या हल हो सकती है, न उन वासनाओंको समुन्नतरूप देनेसे। उसकी राय किसी अतृप्त आकांक्षाकी समुन्नति (Sublimation) के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया समय-समयपर व्यक्तिके मनमें उत्पन्न होती है वह उसके मनमें अशान्ति उत्पन्न करती है। अन्तर्द्वन्द्वोंसे छुटकारा पानेका जो सर्वश्रेष्ठ उपाय युङ्गने बताया है वह गीताके निष्काम कर्मयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हम जो कुछ भी तथाकथित 'पाप' अथवा 'पुण्य'—कर्म करें उनमें लिप्त न रहकर उन्हें भगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर दें, और निष्काम हृदयसे, लोकसंग्रहके कार्यमें जुटे रहें। सभी श्रेष्ठ दार्शनिकोंने मानसिक उलझनों (Complexes) से मुक्ति पानेका जो एकमात्र उपाय निर्देशित किया है, उसे अब बहुत दिनों बाद आधुनिक मनोविज्ञान-विशारद भी मानने लगे हैं।

जीव और ईश

(लेखक—श्रीकृष्ण)

प्रत्येक पिण्डमें जो अन्तःकरणके सहित आनन्दस्वरूप चेतन है वह जीव कहलाता है। सर्वव्यापी चेतन एक होनेपर भी अन्तःकरणयुक्त जीव अनेक देह होनेके कारण अनेक दिखायी देते हैं; जैसे एक ही सर्वव्यापक आकाश अनेक घटरूप उपाधियोंके कारण अनेक घटाकाशोंके रूपमें दिखायी देता है।

महासागरमें जल अखण्ड रूपसे एक समान व्याप्त है; किन्तु जब हमारी दृष्टि उसके किसी एक विशेष सूक्ष्म स्थानपर जाती है तब उसे जलबिन्दु कहते हैं और जब सम्पूर्ण जलका विचार करते हैं तब उसे महासागर कहते हैं। एक उदाहरण और लीजिये। हमारे पास चौसठ पैसे हैं; उनमेंसे एक-एकको तो पैसा कहते हैं और सारे समुदायको रुपया। प्रत्येक टुकड़ेमें ताँबा और राजाका सिक्का होता है। इस राजाके सिक्केसे युक्त ताँबेके एक टुकड़ेको पैसा कहते हैं और सबको मिलाकर एक रुपया कहा जाता है। वैसे ही एक-एक देहमें व्याप्त अन्तःकरणयुक्त चेतनको जीव कहते हैं और सब देहोंमें व्याप्त अन्तःकरणयुक्त चेतनको ईश, ईश्वर, परमेश्वर या भगवान् कहा जाता है। जीवको अपने देहका ही अभिमान होता है परन्तु ईशको सारी सृष्टिका होता है। देहमें व्याप्त संस्कारयुक्त चेतनको जीव कहते हैं और संस्काररहित चेतनको चेतन, आत्मा, कूटस्थ, साक्षी इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। इसी प्रकार सारी सृष्टिमें व्याप्त सब जीवोंके संस्कार-समुदायसहित चेतनको ईश, ईश्वर, परमेश्वर या भगवान् कहते हैं और संस्कार-समुदायरूप उपाधिसे रहित चेतनके ब्रह्म, परब्रह्म, पराविभूति इत्यादि नाम हैं। यों तो जीव, आत्मा, ईश और ब्रह्म सब एक ही सच्चिदानन्द है। जीवका अन्तःकरण विकार यानी अज्ञान या अविद्यासे युक्त है। इसी अविद्याके कारण वह स्वयं आनन्दघन होनेपर भी अपनेको दुखी मानता है तथा पूर्ण होनेपर भी अपूर्ण मानता है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके आगे एक देह तो इतना अल्प है कि नहींके बराबर है। इसीसे उस देहके अभिमानी जीवका ज्ञान भी अत्यन्त अल्प है—नहीं-जैसा है। इसीलिये वह अज्ञानी कहलाता है। अल्प उपाधियोंमें व्याप्त जीव अल्पका अभिमानी होनेसे अल्पज्ञ है और सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त होनेके कारण ईश सर्वज्ञ एवं स्वयंसिद्ध है। इसीसे ज्ञान उसकी उपाधि कहा जाता है।

वे भगवान् सर्वशक्ति, सत्यसङ्कल्प, पूर्ण दया और पूर्ण करुणा आदि दिव्य गुणोंसे विभूषित हैं, इसीसे सगुण विभूति या सगुण ब्रह्म कहे जाते हैं। अज्ञानी जीव अपूर्ण, निःसहाय और दुःखी होनेके कारण पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी कृपा सम्पादन करना चाहे, उनकी सहायता माँगे—यह बिलकुल स्वाभाविक ही है। भगवान्‌के बिना जीवका कोई और सहायक न होनेसे उसे भगवान्‌की अनन्यशरणागति ही इष्ट होती है। जीवके एकमात्र सहारे भगवान् ही हैं; उनपर उसका स्वभावसे ही अत्यन्त उत्कृष्ट और अविच्छिन्न प्रेम है, क्योंकि तत्त्वतः तो वे एक ही हैं। जैसे जीवका, वैसे ही भगवान्‌का भी जीवपर स्वाभाविक प्रेम है। जीव भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जान ले—उसका यह स्वभाव ही है, इसके लिये कोई प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु अज्ञानवश वह इस सम्बन्धको भूले हुए है। तो भी स्वाभाविक होनेके कारण वह प्रेम सहजहीमें प्रकट हो सकता है। किन्तु इस ओर उसकी दृष्टि जाय तब न। वह तो विषयोंमें इतना लिप्त है कि ईश्वरकी ओर जानेके लिये उसके पास समय ही नहीं है। यदि वह एक क्षणके लिये भी विषयोंसे मुख मोड़ ले तो वह सहज ही ईश्वरकी ओर मुड़ सकता है और उसके हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकट हो सकता है, जिसके सुखकी त्रिलोकीमें कोई उपमा नहीं है।

भगवान् सर्वज्ञ हैं; वे यह जानते ही हैं कि जीव अपना ही अंश है। इसीसे जीवपर उनका स्वाभाविक प्रेम है। वे जीवको कभी नहीं भूलते। उसकी पूर्ण सहायता करनेको और उसके योगक्षेमका निर्वाह करनेके लिये तो वे तैयार बैठे हैं। वे यहाँतक करना चाहते हैं कि उसके अन्तःकरणमें व्याप्त अज्ञानको दूर करके ज्ञान-ज्योति प्रकट कर दें जिससे उसके सब विकार दूर हो जायँ, और फिर कोई दुःख हो ही नहीं, तथा वह जन्म-मरणकी उपाधिसे मुक्त होकर परमानन्द और अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाय। परन्तु बात यह है कि भगवान् तो जीवकी ओर मुँह किये बिल्कुल तैयार खड़े हैं किन्तु जीवने उनकी ओर पीठ करके विषयोंकी ओर आप मुँह घुमा रक्खा है। वह विषयोंमें ही लिप्त है, उनमें ही रममाण है; अतः जब भगवान् देखते हैं कि यह जीवरूप बालक खेलमें ही रम रहा है, तो वे फिर उसे नहीं छेड़ते। वे जानते हैं कि कभी तो थकेगा, कभी तो विषयोंसे अघायेगा और उनसे उपरति होगी, तब हम उसको तुरंत ही अपनालेंगे। बीच-बीचमें भी जब वह संसाररूपी खेलमें खेलता-खेलता गिर जाता है और दुःखी होने लगता है, तब वे उसकी सहायता करते रहते हैं। इस तरह जीवपर उनकी सदा ही कृपा रहती है, तो भी वह विषयोंमें इतना अन्धा हो जाता है कि उनकी की हुई कृपाको देख भी नहीं सकता। यदि उसे उनकी कृपाका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो उसकी वृत्ति स्वयं ही भगवान्‌की ओर लग जाय।

उपर्युक्त कथनके अनुसार यदि जीवको ईश्वरके साथ अपने सम्बन्धका ज्ञान हो तो उसका उनके प्रति स्वाभाविक प्रेम प्रकट हो जाय। यह प्रेम स्वाभाविक होनेके कारण शुद्ध है। इसमें किसी फलकी इच्छा नहीं है। यह अहैतुक है, इसमें सुख, भय आदि कोई भी हेतु नहीं हो सकता। अपने ऊपर जो अपना प्रेम होता है वह निर्हेतुक स्वाभाविक और निरन्तर हुआ करता है। उसीको परम प्रेम कहते हैं। जितना प्रेम अपनेपर होता है उतना किसी दूसरेपर नहीं हो सकता। दूसरेपर प्रेम करनेमें किसी-न-किसी फलकी इच्छा अवश्य रहेगी, भले ही वह आनन्दकी ही हो। यदि ईश्वरपर प्रेम हो तो जीवकी वृत्ति उनमें ही लगेगी, क्योंकि वहाँ परम सुखका अनुभव होता है। फिर उसकी वृत्ति विषयमें जायगी ही नहीं। इस प्रकार यदि विषयोंमें उसकी आसक्ति नहीं होगी तो उनसे उसका बन्धन कैसे होगा और जब बन्धन नहीं तो दुःख कहाँ!
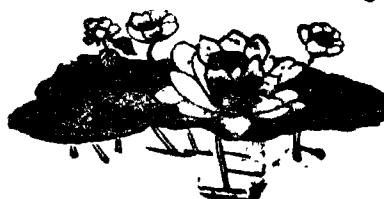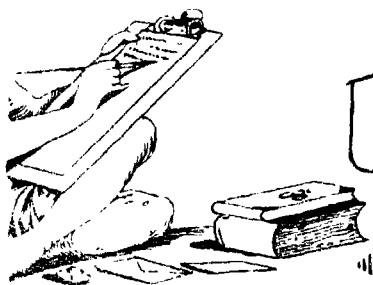
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सप्रेम हरिस्मरण। आपके बहुत-से पत्र आये, जिनमें प्रश्न अधिक थे तथा उनका उत्तर देनेके लिये समय भी अधिक आवश्यक था, किन्तु मेरे पास समय बहुत कम रहता है, इसीलिये पत्रोत्तर देनेमें इतना विलम्ब हो गया, अतः इसके लिये विचार न करें। अब इसके लिये समय निकालकर आपके पत्रोंका उत्तर नीचे दिया जाता है—

आपने पत्रमें घर, कुटुम्ब तथा घरवालोंसे हठपूर्वक अपने अलग होनेके समाचार लिखे सो मालूम किये।

आपने अपनेको प्रमेहकी बीमारीसे पीड़ित बतलाते हुए इसकी चिकित्साके लिये बहुत रुपया खर्च हो जानेपर भी आराम न होनेकी बात लिखी सो मालूम की। इसके लिये वैराग्य और संयमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन, पथ्य-परहेज एवं संयमसे रहना ही मुख्य ओषधि है।

आपने अपनी जन्मकुण्डली मुझे दिखाकर उचित सलाह लेनेके लिये लिखा सो आपके प्रेमकी बात है किन्तु जन्मकुण्डलीका न तो मुझे कोई विशेष ज्ञान ही है तथा आजकल जन्मकुण्डलीकी सारी बातें न मिलनेके कारण न मेरी इनपर विशेष श्रद्धा ही है। अतः आपको जन्मकुण्डली मेरे पास भेजनेके लिये प्रयास नहीं करना चाहिये।

आपने अपनेको शारीरिक अस्वास्थ्य तथा मन, बुद्धि और कर्मका दुखी बतलाया सो इसके लिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे इनका नाश होकर आपके चित्तमें प्रसन्नता हो सकती है।

आपने लिखा कि मैं सब काम छोड़कर छबीले लाला-को भजना चाहता हूँ किन्तु यह काम प्रारम्भिक अवस्थामें आरम्भ न होनेके कारण अब मन अन्यत्र भटकता है, जप-ध्यान पूर्णरूपेण नहीं बनते हैं इससे मुझको पश्चात्ताप भी है सो मालूम किया। बीती हुई अवस्थामें साधन शुरू न किया तो कोई बात नहीं; अब भी बाकीकी अवस्थाको तो साधनमय ही बना देना चाहिये, न जाने मृत्यु कब अचानक आ उपस्थित हो जाय। यदि बाकीकी अवस्था भी यों ही गफलतमें चली जायगी तो आगे इससे भी ज्यादा पछताना पड़ सकता है। पर, फिर क्या होगा? मनुष्य-जीवन, जो भगवान्‌को प्राप्त करनेका एकमात्र साधन था, वह यों ही खो दिया। अस्तु, अपने हृदयसे श्रद्धा और प्रेमकी कमीको हटाकर साधनके लिये तत्पर होकर लग जाना चाहिये। विवेक और वैराग्यबुद्धिसे मनको समझाकर तथा भजनको अमृतके समान समझकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक तत्परतासे निरन्तर भजन करना चाहिये। यदि इस प्रकार न हो सके तो भजनके लिये हठपूर्वक जी तोड़कर परिश्रम तो करना ही चाहिये।

आपने लिखा कि कभी-कभी सच्चे प्रेम-बिन्दुका

आभास अवश्य होता है परन्तु वह लव मात्र होता है। अतः उसकी वृद्धिके लिये भजन और सत्संग करना उत्तम है।

आपने पूछा कि रसखान भक्तकी तरह छबीले लाला चंद दिनोंमें प्राप्त हो जायँ, यह लालसा कब पूर्ण हो? सो इसके लिये अनन्य श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है।

आपने मुझसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की तथा मेरा एक फोटो मँगाया सो आपके प्रेमकी बात है किन्तु फोटो भेजना मैं नीतिविरुद्ध मानता हूँ अतएव इस विषयमें मैं लाचार हूँ।

आपने मेरी शरण लेनेके लिये लिखा सो इस प्रकार नहीं लिखना चाहिये; क्योंकि मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, शरण लेने योग्य तो एक परमात्मा ही हैं। उनकी शरण होनेसे वे सब कुछ कर सकते हैं।

आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न १—माला जपनेकी क्या विधि है? अर्थात् माला जपते समय किन-किन अँगुलियोंका मणिकेके साथ स्पर्श करें तथा एक माला पूर्ण होनेपर फिर किधरसे जपें?

उत्तर—मालापर जप करनेमें अँगूठा, मध्यमा और अनामिका इन तीनों अँगुलियोंको परस्पर मिलाकर मणिकासे स्पर्श होता है तथा प्रथम आरम्भ करते समय सुमेरुके पाससे आरम्भ कर सुमेरुके पास ही जाकर समाप्त करे किन्तु सुमेरुको उल्लंघन नहीं करना चाहिये अर्थात् जो मणिका सबके अन्तमें फेरी गयी थी फिर उसी मणिकासे आरम्भ कर वापस सुमेरु तक लाना चाहिये।

प्र० २—माला जपते समय सुमेरु आते ही अड़चन-सी मालूम पड़ती है। क्या इस अड़चनको दूर करनेके लिये १००० मणिकाओंकी माला बनवाकर उसपर जप सकते हैं?

उ०—माला जपनेमें सुमेरुके आनेपर अड़चन नहीं मालूम होनी चाहिये। कोई-कोई भाई १००० मणिकाओंकी भी माला बनवाकर जप करते हैं किन्तु इसका विधान नहीं है। अतएव इसके लिये १०८ मणिकाओंकी माला ही उत्तम है।

प्र० ३—भगवान् श्रीकृष्णके नाम-जपके लिये माला तुलसी या चन्दनकी होनी चाहिये अथवा रुद्राक्षकी?

उ०—भगवान् श्रीकृष्णके नामका मन्त्र जपनेके लिये माला तुलसी और चन्दन दोनों प्रकारकी ही उत्तम मानी जाती हैं। रुद्राक्षकी माला तो श्रीशिवमन्त्रके जपके लिये विशेष उपयोगी समझी जाती है।

प्र० ४—यदि नाम-जप मालाद्वारा नहीं करें तो क्या कोई शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन होगा?

उ०—नाम-जप यदि मालाद्वारा नहीं कर सकें तो अँगुलियोंके पोरुओंपर भी कर सकते हैं अथवा बिना संख्याके भी नाम-जप किया जा सकता है। इसमें शास्त्राज्ञाका कोई उल्लङ्घन नहीं होता।

प्र० ५—मालापर नाम-जप संख्यापूर्वक करना ठीक है या माला हाथमें लेकर बिना संख्याके प्रेमपूर्वक नाम-जप करना उत्तम है?

उ०—सकामभाव और निष्कामभाव दोनों प्रकारसे मालापर ही नाम-जप करना उत्तम है। निष्कामभावसे जप करनेमें यदि माला न भी हो तो कोई हर्जकी बात नहीं है किन्तु फलकी इच्छा रखनेवालोंको तो कामना-सिद्धिके लिये मालापर ही मन्त्रका जप करना आवश्यक है।

प्र० ६—'कृष्ण' इस नामको मन्त्र मानकर प्रत्येक कार्यमें सिद्धिके उद्देश्यसे जप सकते हैं या नहीं?

उ०—जप सकते हैं।

प्र० ७—प्यारे श्रीकृष्णके प्रसन्नार्थ विधिपूर्वक षोडशोपचारसे पूजा किस प्रकार करनी चाहिये? कृपया इसे विस्तारसे लिखें।

उ०—इसका विधिपूर्वक विस्तार 'गीताप्रेस, गोरखपुर'

से प्रकाशित 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नाम्नी पुस्तिका मँगाकर उसमें देखना चाहिये ।

प्र० ८—ग्रहोंकी शान्तिका सत्य और अटल उपाय क्या है ?

उ०—ग्रहोंकी शान्तिके लिये शास्त्रोंमें जो जप, पूजा और अनुष्ठानादि बतलाये गये हैं उन्हींको विधिपूर्वक करना चाहिये । किन्तु सब ग्रहोंकी शान्तिके लिये सबसे बढ़कर उपाय तो भगवान्का निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक भजन करना ही है । यही सत्य और अटल उपाय है । इससे सब ग्रहोंकी शान्ति अपने-आप हो जाती है ।

प्र० ९—**स्वहस्तग्रथिता माला स्वहस्तघृष्टचन्दनम् ।**
स्वहस्तलिखितं स्तोत्रं शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

कृपया इस उपर्युक्त श्लोकका आशय समझाइये ? इसके कर्ताने किस उद्देश्यसे अपने हाथकी गुँथी माला, अपने हाथका घिसा चन्दन और अपने हाथके लिखे स्तोत्रका निषेध किया ?

उ०—इस श्लोकका तात्पर्य किसीके निषेधमें नहीं है, इसका अर्थ है—'अपने हाथसे गुँथी हुई मालापर जप करनेसे तथा अपने हाथसे घिसे हुए चन्दनका तिलक करनेसे और अपने हाथसे लिखे गये स्तोत्रके पाठसे (मनुष्य) इन्द्रके भी ऐश्वर्यको हरण कर लेता है ।'

प्र० १०—भगवान्से याचना करनेपर याचक जो चाहता है, भगवान् वही दे देते हैं । अतः मैं ग्रहशान्ति चाहता हूँ, क्या भगवान् दे देंगे ?

उ०—यदि इसमें आपका हित होगा तो भगवान् ग्रहशान्ति कर भी सकते हैं तथा इसमें आपका लाभ भगवान् न समझें तो न भी करें ।

प्र० ११—मुझे स्वप्नमें अधिकतर लिङ्गेन्द्रियके दर्शन होते हैं । इसमें शिवजी मेरी ईश-आराधनामें रुकावट डालते हैं या मायाका प्रपञ्च है अथवा किसी बुरे समयकी सूचना है ?

उ०—इसमें न तो शिवजी ही ईश-आराधनामें विघ्न डालते हैं और न यह मायाका प्रपञ्च ही है एवं न किसी बुरे समयका सूचक ही है । इसमें तो स्वभावका दोष ही स्वप्नमें भासित होता है । उसका सुधार करनेके लिये रात्रिको सोते समय गजेन्द्रमोक्ष, श्रीगीताजी अथवा श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करते-करते या भगवान्के नामका जप करते-करते सो जाना चाहिये । इससे बुरे स्वप्नोंका नाश हो सकता है ।

प्र० १२—कृपया धैर्यधारणका साधन बतलाइये ?

उ०—मनसे विरुद्ध कोई घटना उपस्थित हो या मनसे प्रतिकूल किसी पदार्थकी प्राप्ति हो तो उसे अपने कर्मानुसार भगवान्का किया हुआ विधान या भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानना चाहिये । इस प्रकार माननेसे धैर्य धारण हो सकता है और मनकी प्रसन्नता भी होती है ।

प्र० १३—आप मेरे उद्धारका ध्यान भूल न जाइयेगा ?

उ०—भगवान्की शरण होकर करुणा और प्रेम-भावसे भगवान्से प्रार्थना और भजन-ध्यान करना चाहिये । इससे सहज ही उद्धार हो सकता है । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, किसीका उद्धार करनेकी मैं अपनेमें सामर्थ्य नहीं मानता । भगवान्की शरण होनेसे वे सब कुछ कर सकते हैं ।

प्र० १४—भोजनमें टमाटर, बैगन, लहसुन, लौकी, प्याज, गोभी और गाजर आदि पदार्थ क्यों नहीं खाये जाते ?

उ०—टमाटर और लौकी खानेमें तो कोई हर्ज नहीं है, गोभीमें जीवहिंसा होती है तथा लहसुन, प्याज, गाजर और बैगन इत्यादिको तामसी पदार्थ समझकर शास्त्रने निषेध किया है क्योंकि इनको खानेसे अन्तःकरणकी वृत्तियाँ खराब होती हैं । इसलिये त्याज्य हैं ।

प्र० १५—दिव्य शब्दका प्रयोग किन-किन लोकोंके विषयमें आता है, क्या नाशवान् स्वर्गलोकादि भी दिव्य हैं ?

उ०—जो पदार्थ प्रकाशमान हो, अलौकिक हो, शुद्ध हो ऐसे पदार्थके विषयमें दिव्य शब्दका प्रयोग किया जाता है। इस भूलोकके देदीप्यमान शुद्ध पदार्थ भी दिव्य हैं किन्तु इनकी अपेक्षा देवता और उनके भोग दिव्य हैं। तथा ये सब ब्रह्माके प्रपञ्चके अन्तर्गत ही हैं। इन सबसे परम दिव्य भगवान्‌का स्वरूप और उनका धाम है, जो ब्रह्माके प्रपञ्चसे अत्यन्त विलक्षण है और परम दिव्य है।

प्र० १६—इस ब्रह्माण्डके हरि, हर और ब्रह्मा—ये तीन देव ही मुख्य हैं तो अनेकानेक ब्रह्माण्डोंमें भी यही बात होगी?

उ०—स्वयं परमात्मा ही अनन्त ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपमें संस्थित होते हैं।

प्र० १७—तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें 'रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मांड' इस प्रकार कहा है तो क्या श्रीकृष्ण और श्रीविष्णु-भगवान्‌के विषयमें भी यही समझा जाय?

उ०—हाँ; तुलसीदासजीका भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें 'रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मांड' यह मानना उचित ही है क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णु पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं। सत्ययुगमें श्रीविष्णु, त्रेतायुगमें श्रीराम तथा द्वापरयुगमें श्रीकृष्ण-रूपसे वे ही प्रकट हुए हैं। जैसे तुलसीदासजीकी दृष्टिमें 'रोम रोम' इत्यादि पद भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें है, उसी प्रकार सूरदासजीकी दृष्टिमें श्रीकृष्णके एवं ध्रुवकी दृष्टिमें श्रीविष्णुभगवान्‌के विषयमें समझना चाहिये।

प्र० १८—यदि भगवान्‌के अनन्यभक्त अपने-अपने इष्टके सिवा अन्य किसीको नहीं चाहते तो श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णुके उपासक उनके पृथक्-पृथक् लोकोंको प्राप्त होते होंगे?

उ०—नहीं; भगवान्‌का जो परम नित्यधाम है, वही भगवान् श्रीरामके भक्तोंके लिये साकेतलोक, श्रीकृष्णके भक्तोंके लिये वही गोलोक एवं श्रीविष्णुके भक्तोंके लिये वही वैकुण्ठधाम है।

प्र० १९—गीताडायरीको भले-बुरे हाथोंका स्पर्श होता है तो इसमें कोई अपराध तो नहीं है?

उ०—अपराध तो कुछ भी नहीं है क्योंकि श्रीगीताको डायरीका रूप दे रक्खा है। फिर भी अपवित्र हाथ लगानेसे बचाना ही अच्छा है।

प्र० २०—सुपात्रको दान दिया जाय फिर वही सुपात्र यदि कुपात्र बन जाय तो इसमें दाता अपराधी हुआ या दान लेनेवाला?

उ०—जो दान लेते समय सुपात्र है फिर वही यदि कुपात्र बन जाय तो दान देनेवालेका इसमें कोई दोष नहीं। लेनेवाला तो कर्मोंका फल भोगेगा ही।

प्र० २१—जब आत्मा अमर है तो फिर हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये?

उ०—आत्मा अमर होनेपर भी मरनेवाले प्राणीको दुःख होता है इसीलिये मारनेवालेको पाप लगता है। अतएव हिंसा नहीं करनी चाहिये।

प्र० २२—योगसाधनाद्वारा आयुकी वृद्धि तथा देह दिव्य हो सकता है या नहीं? शरीर दिव्य होनेपर फिर क्या यह पाञ्चभौतिक देह नहीं रहेगा? विधाताके नियम आयुवृद्धि होते-होते कर्कशता तो धारण नहीं करेंगे?

उ०—योगसाधनाद्वारा आयुकी वृद्धि तथा शरीर दिव्य हो सकता है परन्तु इस प्रकारका योग सिखलानेवाले योगीका इस समय मिलना असम्भव-सा है। तथा शरीर-की दिव्यता भी परम दिव्यता नहीं है बल्कि अपेक्षाकृत साधारण दिव्यता है, अतः शरीर दिव्य होनेपर भी यही पाञ्चभौतिक देह कायम रहेगा। आपका विधाता-विषयक प्रश्न मेरी समझमें नहीं आया।

प्र० २३—प्रारब्धका नाश कब हो सकता है ?

उ०—प्रारब्धका नाश प्रारब्धके भोग, प्रायश्चित्त तथा ईश्वर और महापुरुषोंके प्रसादसे हो सकता है ।

प्र० २४—मनुष्य देवताओंकी तरह तेजस्वी और अक्षय किस तरह बन सकता है ?

उ०—योगसाधन एवं ईश्वरकी अनन्य शरण होनेपर ईश्वरकी दया होनेसे बन सकता है ।

प्र० २५—क्या देवता आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते ?

उ०—देवयोनि भोगयोनि है, इसलिये उनका मुक्तिमें अधिकार नहीं है । किन्तु ईश्वरकी विशेष कृपासे हो सकता है ।

प्र० २६—क्या सुख भी दुःखकी तरह जबरन् भोगना पड़ता है ?

उ०—हाँ, सुख भी दुःखकी तरह बलात्कारसे प्राप्त हो सकता है, किन्तु साधक चाहे तो सुखका त्याग भी कर सकता है ।

प्र० २७—आजकल आकाशवाणी क्यों नहीं होती ?

उ०—श्रद्धा, भक्ति और आस्तिकभावकी कमीके कारण इस घोर कलिकालमें आकाशवाणी होनेका नियम नहीं है ।

प्र० २८—क्या रेडियो स्वर्गतक पहुँच सकता है ?

उ०—शब्द आकाशका गुण होनेसे वह आकाशमें सब जगह व्यापक हो जाता है किन्तु स्वर्गमें इस यन्त्रका सम्बन्ध नहीं है, इस कारण वहाँ रेडियो नहीं पहुँच सकता ।

प्र० २९—ईश्वरने संसार-वैचित्र्य किसलिये बनाया है ? यदि विनोदके लिये बनाया तो अनेक जीवोंको दुखी बनाना विनोद नहीं है, यह तो निर्दयता है ।

उ०—संसार-वैचित्र्य बनानेमें ईश्वरका न तो विनोद ही है तथा न उनकी निर्दयता ही है । परन्तु जीवोंके कर्म ही विचित्र हैं । उनको इन कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये ही बनाया गया है ।

प्र० ३०—जब सबसे पहले सृष्टि हुई थी तो सभी जीव एक-से कर्म करनेवाले हुए होंगे ?

उ०—सृष्टिके आरम्भका प्रश्न शास्त्र, युक्ति एवं न्याय-विरुद्ध है क्योंकि सृष्टि अनादि है, इसकी कभी शुरुआत नहीं है, इसलिये कर्मकी विचित्रता भी अनादि है ।

प्र० ३१—पतन होनेकी बुद्धि कहाँसे प्राप्त होती है ?

उ०—अविद्या, अहंकार, राग और द्वेष आदि दुष्ट स्वभावसे तथा नीच पुरुषोंके संगसे पतन होनेकी बुद्धि प्राप्त होती है ।

प्र० ३२—ईश्वरेच्छा प्रत्येक बातमें लागू क्यों नहीं होती ? जैसे सुख-दुःख और उत्पत्ति-प्रलय आदि ।

उ०—ईश्वरेच्छा सभीमें लागू होती है किन्तु ईश्वरका अपना कोई निजी स्वार्थ न होनेके कारण उनकी इच्छा शुद्ध होती है और जीवोंके हितके लिये ही जीवोंको कर्मानुसार फल भुगतानेके निमित्त होती है ।

प्र० ३३—"गहना कर्मणो गतिः" क्या यह बात मुक्त पुरुषके लिये भी लागू है ?

उ०—मुक्त पुरुषके लिये यह बात लागू नहीं है क्योंकि मुक्त पुरुष इसके रहस्यको जानता है । इसके विशेष विस्तारके लिये गीता अध्याय ४ के १७-१८ वें श्लोकोंका 'गीतातत्त्वांक' में अर्थ देखना चाहिये ।

प्र० ३४—स्वर्गमें साम्यवाद है या अपना-अपना कर्मभोग ?

उ०—स्वर्गमें साम्यवाद नहीं है, वहाँ तो कर्मोंके अनुसार दिव्य भोग भोगे जाते हैं । यथार्थ शुद्ध साम्यवाद तो भगवान्के नित्य परम धाममें है ।

प्र० ३५—आजकल-जैसे आश्चर्यप्रद आविष्कार क्या कभी पहले भी हुए थे ?

उ०—हिरण्यकशिपु तथा रावण आदि असुर और राक्षसोंके समयमें तो इससे भी बढ़कर थे। क्योंकि वे इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते थे तथा अन्तर्धान होना और फिर प्रकट होना इत्यादि भी कर सकते थे।

प्र० ३६—भगवान्‌ने जब तीन सुन्दर-सुन्दर युगोंका निर्माण किया तो फिर इस दानवराज कलिकी सृष्टि इस प्रकार क्यों की ? यदि इस कलिकालमें "हरेर्नामैव केवलम्" इससे कल्याण समझकर की तो फिर सभी लोग सदाचारी क्यों नहीं हैं ? इसपर इस समय होनेवाले पापोंसे यदि पृथ्वी भूकम्प करके जीवोंका संहार कर दे तो क्या कोई हिंसा है ?

उ०—पता नहीं। यह सब ईश्वरकी लीलामयी दिव्य इच्छा है।

प्र० ३७—अप्सराएँ वेश्या हैं या अलग जाति है ?

उ०—वे वेश्याएँ नहीं हैं, अप्सरा ही हैं। इनमें यही फर्क है कि वेश्या तो स्वेच्छासे पापकर्म करके पतनका मार्ग बनाती है तथा अप्सराएँ ईश्वरके विधानसे स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंको दिव्यभोग भुगतानेके लिये बनायी गयी हैं।

प्र० ३८—विदेह नगरीमें वेश्याएँ भी रहती थीं। फिर उस समय राजा जनकने उन्हें निकलवा क्यों नहीं दिया, जिससे कि लोगोंका पतन होनेसे बच जाय ?

उ०—उस समयकी परिस्थितिसे हम जानकार नहीं हैं, अतः इसका उत्तर राजा जनक ही दे सकते हैं।

प्र० ३९—स्तोत्रपाठ तथा स्वाध्याय मनमें करना चाहिये या कुछ उच्चारणसे ?

उ०—दोनों प्रकार कर सकते हैं किन्तु उच्चारण करके करना उत्तम है। क्योंकि मनमें करनेसे अशुद्धि रहनेकी सम्भावना है ?

प्र० ४०—श्रीगोपालसहस्रनाम, विष्णुसहस्रनाम, गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत इत्यादि क्या दुर्गासप्तशतीकी तरह कीलित हैं।

उ०—यह सब तन्त्रवादी और फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंके लिये ही कीलित हैं। निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवाले भक्तोंके लिये नहीं।

प्र० ४१—जल्दी-से-जल्दी काम बन जाय इस भावनासे भगवान् श्रीकृष्णके लिये स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, श्रवण, जप, ध्यान, चिन्तन और विधिवत् षोडशोपचारसे पूजा किस तरह करनी चाहिये ?

उ०—पत्रद्वारा इसे विस्तारसे समझाना कठिन है, कभी प्रत्यक्ष मिलना हो तो पूछ सकते हैं।

प्र० ४२—आराधनक्रम नित्य नियमपूर्वक आनन्दसे निभ सके इसके लिये मुझे कौन-से शुभ दिनमें आराधना प्रारम्भ करनी चाहिये ?

उ०—जिस दिन दिलमें श्रद्धा, प्रेम और उत्साह हो, उसी दिन आरम्भ कर देनी चाहिये क्योंकि इसके लिये वही शुभ मुहूर्त है।

प्र० ४३—भगवान्‌के घरमें देर है इसलिये अंधेर है, इसका क्या कारण है ?

उ०—आपने भगवान्‌के घरमें देरको अंधेर कहा सो उचित नहीं है क्योंकि भगवान्‌के घरका

फैसला सर्वथा यथार्थ होता है। वहाँ अंधेर नहीं है; पर यदि देर है तो उस देरमें भी जीवोंका हित ही भरा हुआ होता है।

प्र० ४४—भगवान् जो करते हैं अच्छा ही करते हैं, फिर क्या वर्तमान महासमर भी भगवान्का ही विधान है?

उ०—जब-जब पृथ्वीपर पापियोंकी वृद्धिके कारण भार हो जाता है, तब-तब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान् कोई-न-कोई निमित्त बना देते हैं। अत: वर्तमान समयका महायुद्ध भी पृथ्वीका भार उतारनेके लिये भगवान्का ही विधान है।

प्र० ४५—भजन करनेके लिये भगवान्ने जब मनुष्य-देह बनायी तो फिर माया पीछे क्यों लगायी?

उ०—माया तो अनादिकालसे पीछे लगी हुई है, भगवान्ने पीछेसे नहीं लगायी।

प्र० ४६—संवत् २००० के अन्तर्गत विश्वमें क्या कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है?

उ०—धन-जनका नाश और राज्यका परिवर्तन हो रहा है तथा और भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसी अच्छे परिवर्तन होनेकी या सत्ययुग आनेकी उम्मीद नहीं है।

प्र० ४७—भगवद्दर्शन प्रारब्धसे होता है या पुण्य-कर्मसे अथवा भगवदिच्छासे?

उ०—श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन, ध्यान करनेसे एवं भगवान्की दयासे भगवान्का दर्शन हो सकता है।

प्र० ४८—ज्योति:स्वरूप भगवान्का क्या स्वरूप है? क्या वे सबसे अगम्य एवं दुर्भेद्य आदि स्थानमें विराजते हैं?

उ०—भगवान्का ज्योति:स्वरूप ज्ञानमय है, वे आकाशके समान सभी जगह विराजते हैं।

प्र० ४९—ज्योति:स्वरूप भगवान्का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिये?

उ०—ज्योति:स्वरूप भगवान्का चिन्तन 'गीतातत्त्वाङ्क' में अध्याय ८ के नवें और १३ वें अध्यायके १७ वें श्लोकका विस्तृत अर्थ देखकर तदनुसार करना चाहिये।

प्र० ५०—श्रद्धा और विश्वास अडिग, अचल एवं पुष्ट किस प्रकार बने रह सकते हैं?

उ०—भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, धाम, महिमा, श्रद्धा और प्रेमके विषयका महापुरुषों-द्वारा बारंबार श्रवण या सच्छास्त्रोंका स्वाध्याय करनेसे श्रद्धा और विश्वासकी दृढ़ता हो सकती है।

प्र० ५१—विश्वकी विचित्र कारीगरी भगवान्की लीलासे ही हुई है या प्राणियोंके कर्मफलसे?

उ०—विश्वकी नाना प्रकारकी रचनामें प्राणियोंका कर्मफल ही प्रधान है। ईश्वरकी लीला तो निमित्तमात्र है।

प्र० ५२—जगत्की सुन्दरता मनको मोहित करके फिर विरह देती है। यह स्वभावत: है या हमारे मिथ्या मोहसे?

उ०—इसमें मिथ्या मोह ही हेतु है।

प्र० ५३—किसी प्राणिविशेषसे आसक्तिपूर्वक प्रेम होना प्राचीन संस्कारसे है या इसमें मनका मोहरूप दोष एवं मनकी दुर्निग्रहता हेतु है?

उ०—इसमें अन्त:करणके संस्कार, मनकी दुर्निग्रहता और मोह तीनों ही हेतु हैं।

प्र० ५४—कर्मबन्धन कैसे मिटे?

उ०—परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान एवं परमात्मा-

की प्राप्ति होनेसे कर्मका बन्धन मिट सकता है।

प्र० ५५—क्रोध और विषाद त्यागनेके क्या उपाय हैं?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे भगवान्के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्संग तथा दुखियोंकी सेवा करनेसे क्रोध और विषादका अत्यन्ताभाव हो सकता है।

प्र० ५६—जीवनमें अनर्थ, बड़ी-बड़ी गलतियाँ एवं किसीका अहित न हो, इस भावसे भगवान्से प्रार्थना करनेपर क्या भगवान् प्रारब्धका नाश कर सकते हैं?

उ०—निश्चय कर सकते हैं।

प्र० ५७—भगवान्की कृपाका अनुभव कैसे हो?

उ०—जो कुछ बिना इच्छा आकर प्राप्त हो जाय उसमें ईश्वरका दयापूर्ण विधान समझकर प्रसन्न रहनेसे और सत्पुरुषोंका संग करनेसे भगवान्की कृपाका अनुभव हो सकता है।

प्र० ५८—हिंसा तो सभी प्राणियोंसे होती है। क्या ईश्वर इससे अलग हैं?

उ०—आरम्भमात्र ही दोषयुक्त होनेके कारण किसी-न-किसी रूपमें हिंसा सभी प्राणियोंसे हो ही जाती है किन्तु ईश्वर हिंसासे अत्यन्त दूर हैं तथा ईश्वरके कर्म दिव्य और अलौकिक होनेके कारण वे कर्म कर्म ही नहीं हैं, इसलिये उनके कर्मोंमें प्रतीत होनेवाली हिंसा, हिंसा ही नहीं है क्योंकि उनका किसी भी कर्ममें आसक्ति और कर्तापनका अभिमान नहीं है। इसका विस्तृत विवरण 'गीता-तत्त्वाङ्क'के अध्याय ४ के १३ और १४ वें श्लोकोंके अर्थमें देखना चाहिये।

प्र० ५९—क्या सूरसागरमें ऐसा कहींपर पद आया है कि संवत् २००० के पश्चात् ८० वर्षके लिये सत्ययुगकी झलक होगी तथा रावणका पुत्र मेघनाद विश्वमें एकछत्र राज्य करेगा?

उ०—नहीं।

प्र० ६०—भौतिक विज्ञान और ईश्वरेच्छा—इनमें क्या सम्बन्ध है?

उ०—कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र० ६१—मुझे बायें कानसे तो घंटानाद-जैसा शब्द सुनायी देता है किन्तु दाहिने कानसे अभ्यास करनेपर भी सुनायी नहीं देता सो क्या कारण है?

उ०—मालूम नहीं।

प्र० ६२—शुकदेवजीकी तरह जो योगी इस प्रपञ्चसे अलग होकर विचरण करते हैं, वे लोमशजी अथवा काकभुशुण्डिजीकी तरह एक जगह रहकर भजन क्यों नहीं कर सकते?

उ०—यह प्रश्न युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि शुकदेवजी भी एक जगह रहकर भजन किया करते हैं।

प्र० ६३—मैं यह चाहता हूँ कि जैसे जल बिना मछलीकी दशा होती है वैसी भगवान्के वियोगमें मेरी दशा हो जाय, सो कैसे हो?

उ०—परम प्रेम और अनन्य श्रद्धा होनेसे इस प्रकारकी दशा हो सकती है।

हवन-यज्ञ और राजयक्ष्मा

(२)

(लेखक—डाक्टर श्रीकुन्दनलालजी एम्० डी०, डी० एस्० एल्०, एम्० आर० ए० एस्०)

इस विषयपर मेरा एक लेख 'कल्याण'के किसी अङ्कमें प्रकाशित हो चुका है। मुझे हर्ष है कि उससे अनेकों रोगियोंने लाभ उठाया और कई सज्जनोंने हवन-यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार कल्याणके उद्योगसे संसारके कल्याण करनेवाले यज्ञका प्रचार बढ़ा। साथ ही कुछ सज्जनोंने कई शङ्काएँ भी की हैं और कुछ महानुभावोंने ऐसी इच्छा प्रकट की है कि लोकहितके विचारसे यज्ञ-चिकित्साविधि भी 'कल्याण'में प्रकाशित होनी चाहिये ताकि जनसाधारण उससे लाभ उठा सकें। इन्हीं महानुभावोंके पत्रोंसे प्रभावित होकर समयका अभाव होनेपर भी उसी विषयपर आज पुनः लिखा जा रहा है। पहले शङ्काओंका उत्तर देकर फिर चिकित्सा-विधिपर प्रकाश डाला जायगा।

१—एक शास्त्रीजीने प्रश्न किया है कि वेदमें तपेदिक-के लिये यज्ञ-चिकित्साका विधान कहाँ है?

उत्तर-वेदभगवान्‌का प्रमाण पहले लेखमें दिया जा चुका है और भी देखिये—

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निरास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥
पक्षी जायान्य पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥

(अथर्व० का० ७ व० ७६ मं० ३–५)

'जो रोग पँसलियोंको तोड़ डालता है और समीपके फेफड़ोंमें जा बैठता है और जो कोई रोग गर्दनके नीचे कन्धों और पीठके बीचमें भी जम जाता है। उस स्त्री-द्वारा प्राप्त होनेवाले राजयक्ष्माके रोगको शरीरसे प्राणके बलसे निकाल दो।'

'स्त्रियोंके प्रति भोगसे प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष आदि रोग पक्षीके समान एक शरीरसे दूसरे शरीरमें सञ्चार कर जाता है। वही भोगके समय पुरुषके शरीरमें पहले थोड़ी मात्रामें ही या शनैः-शनैः प्रवेश कर जाता है। जिसने चिरकालसे जड़ न पकड़ी हो और जिसने खूब जड़ पकड़ ली हो—ऐसे दोनोंकी उत्तम चिकित्सा है।'

'हे क्षयरोग! तेरे उत्पन्न होनेके विषयमें हम निश्चयसे जानते हैं कि तू हे क्षय! जहाँसे उत्पन्न होता है। तू वहाँ किस प्रकार हानि कर सकता है। जिसके घरमें हम विद्वान लोग रोगनाशक हवि बनाकर उससे अग्निहोत्र करते हैं?'

कोई इस भ्रममें न पड़ जाय कि यक्ष्माकी चिकित्सा करते हुए केवल यज्ञ तो करें और रोगीको स्वच्छ वायुमें न रक्खें अथवा खानेको पौष्टिक भोजन या अनुकूल औषध न दें। अतः इससे अगले ही मन्त्रमें इस सम्बन्धमें इस प्रकार उपदेश किया गया है—

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र
वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व
रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥

(मं० ६)

'हे बलवान् जीव! तू अपने देहके कलश-भाग अर्थात् ग्रीवासे लेकर नाभितकके भागमें बाह्य रोगोंको विनाश करनेवाले बलसे युक्त होकर देहमें बसनेवाले प्राणोंके संग्राममें जीवनके विघ्नभूत रोगके नाशकारी स्वच्छ वायुरूप अमृतका पान कर। और हे रोगनाशक

जीव ! तू दिनके मध्यकालके सवनमें बलिवैश्वदेव, अतिथि-यज्ञ आदिके अवसरपर स्वयं भी सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और शरीरके धनस्वरूप रयि-प्राणमें स्थिति प्राप्त करके हम इन्द्रियगणमें भी उस प्राणको प्रदान कर। जिससे हम सब बलवान् और नीरोग रहें।'

फिर यज्ञचिकित्सामें जो ओषधि प्रयोग होती हैं उनके विषयमें पृथक्-पृथक् वर्णन भी वेदभगवान्‌में मिलता है। जैसे—

गूगलके विषयमें—

न तं यक्ष्मा आ रून्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगाइश्वा इवेरते॥
(अ० का० १९ सू० ३८ मं० १)

'जिसके शरीरको रोगनाशक गूगलका उत्तम गन्ध व्यापता है उसको राजयक्ष्माके रोग पीड़ा नहीं देते, उसको दूसरेका निन्दा-वचन भी नहीं लगता। उससे सब प्रकारके राजयक्ष्मा रोग शीघ्रगामी हरिणोंके समान काँपते हैं, डरकर भागते हैं।'

कुष्ठ नामक औषधके विषयमें—

एतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
(सू० ३९ मं० १)

'रक्षा करनेवाला दिव्य गुणवान्, हर्षोत्पादक कुष्ठ-नामक वनस्पति हिमवाले पर्वतसे हमें प्राप्त होता है। हे कुष्ठ! सब प्रकारके पीड़ाकारक ज्वरोंको और सब प्रकारकी पीड़ाकारिणी यातनाओंको नाश कर।'

इसी प्रकार क्षतावर इत्यादि ओषधियोंसे राजयक्ष्मा दूर होनेका वर्णन है। जो विस्तारसे पढ़ना चाहें, वे वेदका स्वाध्याय करें, जिसका स्वाध्याय करना हमारा परम धर्म है क्योंकि यह प्रभुकी अमृत वाणी है और हमें अक्षय सुख व शान्ति देनेवाली है।

२—दूसरे सज्जन लिखते हैं—'यह चिकित्सा तो बड़ी मँहगी पड़ती है, वेदकी बात तो ऐसी होनी चाहिये जिसे सर्व-साधारण आसानीसे कर सकें।'

उत्तर—भगवान्‌ने ओषधियोंके जंगल-के-जंगल उत्पन्न किये हैं। करोड़ों गाय-भैंसें उत्पन्न कीं जिनका घी, दूध खाये न चुके और दिन-रात यत्न करते रहो तब भी समाप्त न हो। अब यदि कोई प्राणी अथवा देश अपनी मूर्खता और आलस्यसे इन वस्तुओंकी रक्षा न कर इनको नष्ट होने दे और इसी कारण चीजें मँहगी हो जायँ तो इसमें वेदभगवान् अथवा वेदका ज्ञान देनेवाले प्रभुका क्या दोष? जैसी करनी वैसी भरनी। फिर भी इस अवस्थामें एक उपाय है जिससे यज्ञ-चिकित्सा अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा उपयोगी होनेके साथ-साथ सस्ती भी पड़ सकती है। वह यह है कि किसी स्वास्थ्य-गृह (सेनीटोरियम) में अथवा किसी अन्य उपयुक्त स्थान गङ्गा-तट इत्यादिपर बहुत-से रोगी एक साथ इसका प्रयोग करें। एक ही स्थानपर यज्ञ होनेसे सबको लाभ पहुँच सकता है और व्यय थोड़ा-थोड़ा सबपर बँट जाता है।

३—तीसरा प्रश्न यह आता है कि 'जब यज्ञ-चिकित्सा इतनी उपयोगी है और तपेदिक दिनोंदिन बढ़ रहा है तो सरकार इसको अपनी चिकित्सा-विधिमें सम्मिलित क्यों नहीं करती?'

उत्तर—प्रथम तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब उपयोगी बातोंको सरकार अपनाती है। ब्रह्मचर्य अत्यन्त उपयोगी है, पर सरकारी स्कूलोंमें उसकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं। युवक-युवतियोंका एक साथ पढ़ना अत्यन्त ही हानिकारक है पर सरकारी विश्वविद्यालयोंमें उन्हें एक ही साथ पढ़ाया जाता है। गौ कितनी महान् उपयोगी है पर सरकारकी आज्ञासे उसका वध होता है। फिर यह प्रश्न हमसे करनेके बजाय यदि सरकारसे ही

किया जाय तो अच्छा है, क्योंकि इसके उत्तरकी जिम्मेवारी वास्तवमें सरकारपर ही है। हम इस विषय-पर बिना किसी सरकारी सहायताके ३५ वर्षसे परीक्षण कर रहे हैं और १२ वर्षसे इस विषयपर समाचारपत्रोंमें लेख लिख रहे हैं और सबसे कह रहे हैं कि तपेदिक-के वेगको यदि देशसे रोका जा सकता है तो उसका उपाय केवल 'यज्ञ' है। विश्वास न हो तो सरकार स्वयं वैज्ञानिक खोज करा ले, पर किसीने ध्यान नहीं दिया। तब क्या किया जाय!

४—एक सज्जन, जो एक बड़े समाचारपत्रके सञ्चा-लक हैं, कहते हैं कि 'यह बात समझमें नहीं आती कि यज्ञसे तपेदिक दूर हो जाय।'

उत्तर—समझका क्षेत्र तो घटता-बढ़ता रहता है। रामायण आदिमें जब विमानका हाल पढ़ते थे तो बहुत-से नवीन युगके लोगोंकी समझमें ही नहीं आता था कि विमान भी हो सकता है। पर आज हवाई जहाज देखकर समझमें आ गया कि ठीक है। यज्ञके विषयमें भी रामायण बताती है कि पुत्रेष्टि-यज्ञसे मर्यादापुरुषोत्तम राम-जैसे पुत्र उत्पन्न हो सकते हैं। युद्धमें हारकर रावणका पुत्र मेघनाद यज्ञ करने बैठा था जिसको वानरोंने इसी कारण नहीं पूरा होने दिया कि यदि यज्ञ पूरा हो गया तो फिर उसको जीतना असम्भव हो जायगा। जब ऐसे-ऐसे कार्य भी यज्ञसे सिद्ध हो सकते हैं तो फिर एक बीमारीका दूर होना कौन कठिन बात है? भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें यज्ञकी महिमा इन शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञ-सहित प्रजा-को रचकर कहा, कि इस यज्ञद्वारा तुम लोग वृद्धिको प्राप्त हो, और यह यज्ञ तुम लोगोंको इच्छित कामनाओं-का देनेवाला होवे।'

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवता लोग तुमलोगोंकी उन्नति करें। इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर एक-दूसरेकी उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होओगे।'

आगे और भी कहा है कि यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही प्रिय भोगोंको देंगे। इत्यादि। यज्ञकी अपार महिमा है। समझमें नहीं आता तो परीक्षा करके देखना चाहिये। 'हाथ-कंगनको आरसी क्या।' अब हम चिकित्सा-विधिपर कुछ प्रकाश डालते हैं—

यज्ञ-चिकित्सा कैसे करनी चाहिये—

हवन-यज्ञ हिंदूधर्मका एक मुख्य अंग है। और हमारे ऋषियोंने 'पञ्चमहायज्ञ'का निरूपण करते हुए नित्य इसका करना आवश्यक बताया है। अत: यदि हम यह मान लें कि यज्ञ करनेकी विधि प्रत्येक हिंदू जानता है अथवा अपने कुल-पुरोहितसे मालूम कर सकता है तो कुछ अनुचित न होगा; क्योंकि यहाँ उस सब विधिका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। अतएव जिस प्रकार नित्यका हवन-यज्ञ किया जाता है उसी विधिसे इस चिकित्सामें भी हवन करना चाहिये, हाँ सामग्री इत्यादि विशेष होनी चाहिये।

१—स्थान स्वच्छ होना चाहिये। इस रोगका रोगी पर्वतपर बासाके वनमें अथवा गंगा-तटपर रहकर यज्ञ करे तो अधिक उपयोगी है।

२—रोगी स्वयं बैठकर यज्ञ कर सके तो उत्तम है। न कर सके तो पास ही पलंगपर लेटा रहे। शरीरपर वस्त्र कम-से-कम रक्खे ताकि रोमछिद्रोंद्वारा हवनकी गैस अंदर प्रवेश कर सके।

३—हवनकी अग्नि सदा देशी कपूरसे ही प्रदीप्त करनी चाहिये। जिन रोगियोंको शीघ्र-शीघ्र जुकाम नजला हो जाता है उनको कपूरका विशेषरूपसे प्रयोग करना चाहिये और उसके धूएँका अधिक-से-अधिक श्वास लेना चाहिये। इस विषयपर वैज्ञानिक ढंगसे परीक्षण हो

चुके हैं कि कपूरके धूएँमें न केवल नजला नाश करने-की शक्ति है, किन्तु वह उन नसोंको भी बलवान् बनाता है जिनके निर्बल होनेसे नजला शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार जिन रोगियोंको मोतीझरा, ज्वर बिगड़-कर तपेदिक़ हुआ हो उनको किशमिश और मुनक्काको विशेषरूपसे जलाना चाहिये क्योंकि यह बात भी वैज्ञानिक ढंगपर परीक्षणके पश्चात् मान ली गयी है कि इन वस्तुओंके धूएँसे टायफायडके कीटाणु केवल आध घंटेमें समाप्त हो जाते हैं ।

अब प्रश्न तपेदिक़-नाशक हवन-सामग्रीका रहता है । इस विषयमें निवेदन है कि रोगी दो प्रकारके होते हैं—एक वे जिनका रोग अभी प्रथम श्रेणीका है और जो चलते-फिरते, खाते-पीते और अपना काम भी करते हैं । दूसरे वे जिनका रोग दूसरी अथवा तीसरी श्रेणीपर पहुँच चुका है । अर्थात् रोग बहुत बढ़ चुका है । ऐसी कठिन स्थितिपर पहुँचे हुए रोगियोंके लिये तो उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके अनुसार भिन्न-भिन्न सामग्री होगी । परन्तु प्रथम श्रेणीके सज्जनोंके लिये हवन-सामग्री-का एक नुस्खा नीचे दिया जाता है जिससे न केवल उनके रोगको लाभ होगा किन्तु उनके पास रहनेवाले अन्य व्यक्ति भी सुरक्षित रहेंगे और उनके इस यज्ञसे वायुमण्डलमेंसे भी तपेदिक़का विष दूर हो जायगा ।

हवन-सामग्री

समभाग मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, इन्द्रायणकी जड़, शतावरी, असगन्ध, विधारा, शालपर्णी, मकोय, अडूसा, गुलाबके फूल, तगर, रास्ना, वंशलोचन, जायफल, क्षीर-काकोली, जटामांसी, पण्डरी, गोखरू, पिस्ता, बादाम, मुनक्का, लौंग, हर्रे बड़ी गुठलीसहित, आवँला, जीवंती, पुनर्नवा, नगेन्द्र वामड़ी, चीड़का बुरादा, खूबकला । चार भाग गिलोय, गूगल । चौथाई भाग केसर, शहद, देशी कपूर । दस भाग शक्कर (खांड) देशी । इस सामग्रीमें घी इतना मिलाना चाहिये कि सामग्री खूब तर हो जाय जिससे लड्डू-से बन सकें । समिधा आम, ढाक अथवा बासाकी खूब सूखी हो जिससे धूआँ बिल्कुल न हो ।

अन्य उपचार

भोजनमें गौ तथा बकरीका धारोष्ण दूध सबसे उत्तम है । यह जितना भी अधिक पच सकेगा उतनी ही शीघ्र आरोग्यता प्राप्त होगी । कुछ लोग—विशेषतया यूनानी चिकित्सक दूधको कफ़ बढ़ानेवाला बताकर मांस-रसपर जोर देते हैं, डाक्टर लोग दूधके साथ अंडेपर जोर देते हैं । पर हमारी सम्मतिमें यह सब सर्वथा भ्रममूलक और निराधार बातें हैं । तपेदिक़के रोगीके लिये दूधसे बढ़कर दूसरा कोई भोजन नहीं है । हमारे सब रोगी मांस और अंडे न खाकर ही पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं । बल्कि मांस, अंडा खानेवाले अनेकों रोगी इस पापको लिये हुए संसारसे बिदा होते हमने देखे हैं । दूधके अतिरिक्त मक्खन, दिनमें ताजा दही या मट्ठा, मलाई, मूँगकी दाल, मुगौरी, मूगकी कढ़ी, दलिया, पुराने चावल, साठीके चावल, गेहूँकी रोटी, आटेकी गरम पूरी, पराठा, चीले, सूजीका हलवा, लौकी, तुरई, मूली, परवल, पपीता, भसींडा, पालक, बथुआ, टमाटर, गाजर, आँवला इत्यादिका सेवन करना चाहिये ।

प्रातः उठना, ईश्वर-भजन करना, प्राणायाम करना, शुद्ध वायुमें घूमना, वस्तीकर्म, सूर्य-नमस्कार, आसन, प्रसन्नचित्त रहना, आमोद-प्रमोद करना, धार्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य हितकर है । जिस प्रकार भोजनमें दूधका महत्त्व है उसी प्रकार अन्य उपचारोंमें ब्रह्मचर्यका महत्त्व है ।

अपथ्य

अधिक परिश्रम, उपवास, चिन्ता, वीर्यनाश, गरिष्ठ पदार्थोंका भोजन, अशुद्ध वायुमें रहना, कपड़ेसे मुँह ढककर अथवा बंद कमरेमें सोना इत्यादि अपथ्य हैं ।

मनुष्य पशु कैसे बन गया ?

"अन्तरङ्ग सभाकी तीन बैठकें"

[कहानी]

(लेखक—मदनमोहन गुगलानी शास्त्री)

पहली बैठक

उस घने जंगलमें, जहाँ जानेके विचारमात्रसे मनुष्यका हृदय काँप उठे, वह सभा हो रही थी।

सभापति भी था, मन्त्री भी और सभासद् भी। सभापति वनराज 'सिंह' एक ऊँची शिलापर विराज रहे थे। बाकी सब-के-सब नीचे ही थे—कँटीली जमीनपर। सभापति कह रहे थे—

"........मैं नहीं समझ सकता इसका कारण क्या है ! मनुष्य—एक नन्हा-सा दुर्बल प्राणी—अपनेसे कई गुना अधिक बलशालियोंपर, हम पशुओंपर, शासन करे, हुकुम चलाये, और जब जी चाहे हमें मार गिराये, यह शरमकी बात है। मुझे दया आती है उन घोड़ोंपर, जो मनुष्यको पीठपर बिठाये लिये फिरते हैं, उन बैलोंपर जो मनुष्यके लिये सैकड़ों मन बोझ खींचा करते हैं और उन हाथियोंपर जो मनुष्यकी एक लोहेके लकुटियाके डरसे बिल्ली बने रहते हैं। क्या है मनुष्यको हक कि वह गाय, भैंस और बकरियोंके बच्चोंके मुँहसे छीनकर, उनका दूध दूहा करे ! क्या मनुष्यमें शक्ति इन सबसे अधिक है ! यदि नहीं, तो हम उससे दबें क्यों ? आज परस्पर वैरभाव छोड़कर आप सब यहाँ एकत्रित हैं। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं सोचा जा सकता जिससे मनुष्यके हाथों छुटकारा पाया जा सके, और हम फिरसे स्वतन्त्रतापूर्वक जंगलों व पहाड़ोंमें घूम सकें ?"

वह चुप हो गये।

मन्त्री 'शृगाल' देव विनीत भावसे बोले—

"महाराज, आपके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है। पर, क्षमा करें, मनुष्यको नीचा दिखा सकना आसान काम नहीं। यह मनुष्यका बल नहीं जो घोड़ों, बैलों व हाथियोंतकको दबाये हुए है, एवं वनराजपर वार करनेमें भी नहीं हिचकता। यह तो है मनुष्यकी बुद्धि। इसी बुद्धिके सहारे वह सीना अकड़ा कर चला करता है। जबतक मनुष्यमें बुद्धि है, वह काबूमें नहीं आ सकता। मनुष्यको नीचा दिखानेके लिये पहले उसकी बुद्धिका नाश आवश्यक है।"

"हमें तुम्हारी बात पसंद है", सभापति बोले, "तुमने ठीक ही कहा। हमें आज ऐसे उपाय सोचने होंगे जिनसे मनुष्यकी बुद्धि नष्ट की जा सके। इसमें यदि हम सफल हों तो पौबारह हैं। मित्रो, क्या तुम इस बारेमें कोई राय दे सकते हो ?"

सब चुप रहे। दो-तीन मिनट कोई भी बोला नहीं। अन्तमें झिझकते हुए 'ऋषभ' देव खड़े हुए।

"हजूर", वह बोले, "मेरी समझमें तो मनुष्यकी बुद्धि आसानीसे नष्ट की जा सकती है। यदि मनुष्यमें पर्याप्त पशुता भर दी जाय, तो उसकी बुद्धि अवश्य ही नष्ट होती जायगी। इसके लिये हमें बलियाँ देनी होंगी। हमें स्वयं मनुष्यके आहारका बड़े-से-बड़ा अङ्ग बन जाना होगा। तभी सफलता सम्भव है। कई-कई पशु खा चुकनेवाले मनुष्यमें उन सब पशुओंकी पशुताका सञ्चार क्योंकर न होगा ? मनुष्य एक बड़ा पशु बन जायगा और पशुताके ऐसे भयङ्कर कार्य करेगा, जिन्हें देखकर पशु भी दंग हुए बिना न रह सकेंगे। और........"

"ठीक है, ठीक है", सभापति बीचमें ही बोल पड़े, "तुम्हारी ही बात ठीक है। मनुष्य पशु-मांसका आहार करता है, पर थोड़ा। अब यदि पशु उसकी रुचि इस ओर बढ़ा दें, उसका जीवन केवल पशु-मांसपर ही निर्भर बना दें, तो मनुष्य धीरे-धीरे मनुष्यता छोड़ पशुताकी ओर बढ़ता जायगा। इसके लिये जाओ, जैसे भी हो, मनुष्यको तरह-तरहके प्रलोभन दो। अपनी जातिके लिये जानकी परवा मत करो। भेंड़ें, हरिण, घोड़े, गौवें, बैल सभी छोटेसे लेकर बड़ेतक, मनुष्यका आहार बननेका प्रयत्न करो। अपनी-अपनी पशुता पर्याप्तरूपमें उसमें भर दो। भगवान् पशु-

पति हमारी सहायता करेंगे। क्या आप सब तैयार हैं ?"

"तन-मनसे, तन-मनसे," चारों ओरसे आवाज आयी। सभा विसर्जित कर दी गयी।

दूसरी बैठक

बहुत समय बाद फिरसे वहीं सभा हुई। सभापति नये थे, मन्त्री नये थे, सभासद् नये थे। पर अपने पुरखाओंके चलाये हुए कार्यको वे भूले न थे। मन्त्री कार्य-विवरण सुना रहे थे—

"हजारों, लाखोंने जानकी परवा नहीं की। आगकी भीषण लपटोंमें जलाये जानेके कष्टको नहीं सोचा। छोटे-बड़े हर प्रकारके पशुओंने भाग लिया है। पक्षियोंने भी बड़ी सहायता की। आशासे अधिक उत्साह दिखाया जा रहा है इस काममें। सफलता भी हमें आशासे अधिक मिल रही है। मनुष्य दिन-प्रति-दिन बुद्धि खो रहा है। और तो और, वह अब अपने आपको भी एक पशु[1] मानने लगा है। यह इस बातका प्रमाण है कि पशुता उसमें घर करती जा रही है। शेर शेरके, बैल बैलके, घोड़ा घोड़ेके खूनका प्यासा नहीं। पर मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा बन चुका है। पशुता उसमें वह रंग दिखा रही है कि आकाशके देवता भी विस्मित होते होंगे।"

"सन्तोषजनक !" सभापति बोले, "यह सब कुछ सन्तोषजनक है। पर हमें अभी यत्न छोड़ नहीं देना चाहिये। इससे वह फिर होशमें आ जायगा। बुद्धि उसकी ठिकाने आ लगेगी। काम जारी रक्खो, और जारी रक्खो तबतक जबतक मनुष्यका नामतक बाकी है। मनुष्यकी सत्ता ही मिट जाने दो। सैकड़ों पशु खानेवाला मनुष्य सैकड़ों पशुओं-जैसे कार्य कर रहा है तो हजारों पशु खा चुकनेपर वह क्या कुछ न कर गुजरेगा। जब उसकी रग-रगमें हजारों पशुओंका खून दौड़ेगा तो वह अपने निकट बन्धुओंके खूनसे प्यास बुझानेमें न हिचकेगा। इस द्वन्द्वको पैदा हो जाने दो। मनुष्योंको आपसमें ही लड़ मर जाने दो। लगे रहो, पशुपति हमारी रक्षा करें, लगे रहो।"

"हम निरन्तर जानपर खेलते रहेंगे।" सभीने कहा। सभापति चल दिये। सभी उठ-उठकर चल दिये।

तीसरी बैठक

और भी सदियाँ बीत गयीं। स्थान वही रहा, सभापति बदल गये, सभासद् बदल गये। सभा फिरसे हुई। सभापति बोल रहे थे—

"आज सौभाग्यका दिन है। सदियों पूर्व अपने पुरखाओंद्वारा चलाये गये कार्यकी सफलताको हम अब निकटतम ही देख रहे हैं। हमारा सबसे बड़ा शत्रु आज अपने गलेपर स्वयं छुरी चला रहा है। खूनकी प्यास मनुष्यमें व्यक्तिगत नहीं रही। जातियोंकी जातियाँ, देशोंके देश, इस खूनकी प्याससे आकुल हो उठे हैं। वह उस कलहकी आगमें जल रहे हैं जो उनकी भस्मतकको जला देगी। मनुष्योंमें वह युद्ध प्रारम्भ हो चुका है जिसे उन्हींकी भाषामें 'विश्व-युद्ध' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यके रहनेका कोई स्थान ऐसा नहीं जो इस युद्धकी लपेटसे बच रहा हो। हर नया सूर्य लाखों नयी मनुष्योंकी लाशोंको देखता है। मनुष्यका सारा ऐश्वर्य शून्यतामें लीन हो रहा है। इससे अधिक सुखद समाचार और हो ही क्या सकता है ? पर अभी वह दिन आना है जब पशुमांसाहारी मनुष्य नरमांससे भूख मिटायेगा। माँ बच्चोंको, बड़े छोटोंको खा जायँगे मारकर। मनुष्यता-का सारा दम्भ मिट्टीमें मिल जायगा। उस दिनको आने दो, हाँ आने दो। अपना यत्न मत छोड़ो। भगवान् पशुपति हमारे मनोरथ पूरे करें। हाँ अब भी कहीं मनुष्य चेत गये और उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया तो हमारी कामना सफल न होगी ! अस्तु !"

"भगवान् पशुपति हमारे मनोरथ पूरे करें," यही सबने दोहराया। सभा एक बार फिर विसर्जित हुई।

1. Darwin Theory

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शङ्का—श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्डके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी, सुग्रीव, तारा और बालिको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका ज्ञान हो चुका था। प्रमाणमें क्रमशः इन सबके वचन देखिये—

हनुमान्‌जी

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

× × × ×

तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥

सुग्रीव

बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥
उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। माया कृत परमारथ नाहीं॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

तारा

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

बालि

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

यहाँतक इनकी बातें हुईं। अब सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे कहते हैं—

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥
कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥

इन सब वचनोंकी संगति नहीं लगती। उपर्युक्त चारों व्यक्ति तो भगवान् रामको पहचान गये थे, लेकिन स्वतः भगवान् राम अपनेको भ्रमयुक्त प्रकट कर रहे हैं। फिर वे सर्वज्ञ कैसे हुए ? यदि वे सर्वज्ञ हैं तो उन्होंने अपनी अल्पज्ञता क्यों प्रदर्शित की ? साथ ही वे अपना ऐश्वर्य भी दिखला रहे हैं। माना कि अल्पज्ञताका प्रदर्शन लीलाके लिये है; परन्तु जो पात्र उन्हें पहचान चुके हैं, उनसे छिपाव करनेका क्या कारण है ?

इसी तरहकी शङ्का लङ्काकाण्डकी निम्नलिखित चौपाइयोंको पढ़नेपर भी उपस्थित होती है। श्रीराम-रावण-युद्धके प्रसङ्गमें देखिये—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥

× × × ×

सुनु सरबग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥
नाभिकुंड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परम बलके धाम साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको भी क्या किसी सांसारिक बलिष्ठ जीवका वध करनेके लिये विशेष श्रमकी आवश्यकता पड़ती है ? यदि नहीं तो फिर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रभावको रामचरितमानस-जैसे ग्रन्थमें इतना घटाकर क्यों दिखलाया गया है ? और क्या विभीषणके 'सर्वज्ञ' राम यह स्वयं नहीं जानते थे कि रावणके नाभिकुण्डमें अमृत है, जिससे वह अमर बना हुआ है ? यहाँ भी तो उनकी अल्पज्ञता प्रदर्शित हो रही है। इसका क्या कारण है ? यदि लीलाके लिये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने प्रभाव-को छिपा रहे हैं तो जो विभीषण उन्हें सर्वज्ञ, चराचर-नायक, प्रणतपाल, सुर-मुनि-सुखदायकके रूपमें जानते-मानते थे, उनसे छिपावकी लीला करनेमें क्या रस है ?

समाधान—आपकी शङ्काएँ बड़ी सुन्दर और अतिशय गम्भीर हैं। इन प्रसङ्गोंका पाठ करते समय

मेरे हृदयमें भी यह विचार उठता था कि इनके सम्बन्धमें कुछ लिखकर 'कल्याण'के मानसप्रेमी पाठकोंकी सेवा की जाय। आज आपकी प्रेरणासे वह अवसर आ गया। अतः आपको अनेक धन्यवाद। मेरी अल्प मतिके अनुसार आपकी शङ्काओंका समाधान इस प्रकार है—

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार अपने नरवत् चरित्रद्वारा जगत्‌में लोक-वेदकी मर्यादाके शिक्षार्थ ही हुआ है। यथा—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

श्रीमद्भागवतमें भी प्रमाण है कि 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।' अर्थात् श्रीभगवान्‌का मनुष्यावतार मानव-समाजकी शिक्षाके लिये ही होता है, केवल राक्षसोंका वध ही उनके अवतरित होनेका हेतु नहीं होता। अतः बालि और सुग्रीवकी शारीरिक आकृति एक-समान होनेसे यह कहा गया है कि 'एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥' इस कथनसे जीव-मात्रको यह शिक्षा दी जा रही है कि यदि कहीं ऐसे नाजुक खतरेका काम सामने आ जाय तो सन्देहमें शीघ्रतावश सहसा नहीं कर डालना चाहिये। बल्कि वहाँ पूर्ण निश्चयका उपाय करके असन्दिग्ध होकर काम करना ही धर्म है। इसीलिये उस अवसरपर भगवान्‌ने 'मेली कंठ सुमन की माला'—सुग्रीवके गलेमें फूलोंकी माला पहनायी, ताकि उनकी स्पष्ट पहचान हो जाय और बाण छोड़नेपर धोखा न हो सके! नहीं तो तनिक भी चूक होनेपर कितना अनर्थ हो जाता! असुर-भावापन्न महाअभिमानी बालिके स्थानपर दैवीसम्पत्तिवाले शरणागत सुग्रीवका ही वध हो जाता! क्योंकि प्रभुका बाण अमोघ है। इसलिये ऐसे धोखेके समय एक परम सम्भावित धर्मशील मनुष्यको कितनी सजगतासे काम लेना चाहिये, यही शिक्षा यहाँ प्रदान की गयी है; उन पात्रोंसे अपनेको छिपानेका कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है। प्रभुके लीलाचरित्रोंका सुख तो मुख्यतः उन्हीं पात्रोंके लिये सफल होता है, जो श्रीभगवान्‌के ऐश्वर्यके अनुभवी होते हैं। यथा—'सो महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी॥' कारण कि 'सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दम-सीला॥' वस्तुतः श्रीभगवान्‌की माधुर्य-लीलाके परम अधिकारी वे ही हैं। 'सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥' मतलब यह कि जानकारोंको ही विशेष सुख मिलता है। जनकपुरमें विवाहमण्डपका प्रसङ्ग देखिये। वहाँ विप्रवेषधारी देवोंको श्रीप्रभुने पहचानकर मानसिक आसन दिया है। उनकी इस माधुर्य-लीला और शील-स्वभावको देखकर देवगण गद्गद हो रहे हैं और कहते हैं कि 'बड़ी साहबीमें नाथ बड़े सावधान हैं।' दीनोंपर इतनी दया और किसको हो सकती है। उदाहरणार्थ रामचरितमानस, बालकाण्ड, विवाह-प्रसङ्गका यह छन्द देखिये—

सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।
अवलोकि सीलु सुभाउ प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भए॥

श्रीभगवान्‌के अवतार-चरित्र ऐश्वर्य और माधुर्यमिश्रित ही होते हैं। यदि केवल ईश्वरताकी लीला हो तो ईश्वर ही माने जायँ, केवल मनुष्यताकी लीला हो तो मनुष्य ही माने जायँ। अतः मिश्रित लीला ही अवतारको सूचित करती है। श्रीप्रभुका अवतार-चरित्र लोकदृष्टिसे एक सम्भावित नरका आदर्श दिखाना ही सूचित करता है; किसीसे छिपाव करनेका कोई तात्पर्य नहीं है, चाहे वह श्रीभगवान्‌को जानता हो या नहीं। पहले यह कहा जा चुका है कि जिनको प्रभुके स्वरूपका ज्ञान होता है, उन्हींको उनकी लीला और भी कामकारी तथा सुखद होती है। प्रमाणमें और देखिये—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रत॥

अस्तु, किष्किन्धाकाण्डके उपर्युक्त पात्रोंके लिये श्रीप्रभुकी यह नर-लीला धर्म-शिक्षाके उद्देश्यसे अत्यन्त ही उपादेय एवं सुखद हुई है। वहाँ किसी छिपाव-दुरावका प्रयोजन नहीं है।

लङ्काकाण्डके राम-रावण-युद्धके प्रसङ्गमें भी 'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥' आदि चौपाइयोंको लेकर जो शङ्का है, वह ठीक नहीं है। वहाँ श्रीरामजीके प्रभावको घटाकर नहीं दिखलाया गया है, बल्कि वहाँ ऐश्वर्यका प्रमाण उद्घोषित है। यथा—'उमा काल मर जाकीं ईछा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥' यहाँ 'संतत दासन्ह देहिं बड़ाई'के विरदके अनुसार श्रीकरुणासिन्धुजी अपने भक्तवर श्रीविभीषणको भक्तिका प्रमाणपत्र प्रदान कर रहे हैं, अन्यथा उन अन्तर्यामी हृदयस्थ प्रभुको परीक्षा लेनेकी क्या आवश्यकता है? जिस प्रकार श्रीशिवजीने अपने प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी 'जाइ बिबाहहु सैलजहि, यह मोहि मागें देहु।' यह प्रकट आज्ञा पाकर भी सप्तर्षियोंको पार्वतीके पास प्रेम-परीक्षार्थ भेजा—'पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परिच्छा लेहु', उसी प्रकार उसी भावकी परीक्षा यहाँ विभीषणकी ली जा रही है। तात्पर्य यह कि जब श्रीशिवजी श्रीरघुनाथजीसे यह कह चुके थे कि 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥' और 'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं' इत्यादि, तब उन्हें पार्वतीजीकी प्रेम-परीक्षा लेनेकी क्या आवश्यकता पड़ी? जब प्रभुकी आज्ञा मानकर निश्चितरूपसे विवाह करना है, तब परीक्षाका प्रयोजन ही क्या है? परन्तु वह परीक्षा परीक्षाके लिये नहीं थी, बल्कि केवल इसलिये थी कि पार्वतीजीको प्रेममें पास करके, उनका सन्देह छुड़ाकर उनकी तपस्याकी पूर्णताका विश्वास दिला दिया जाय और हिमाचलको यह प्रेरणा कर दी जाय कि वे उन्हें अपने भवनमें लिवा ले जायँ—'गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन दूरि करेहु सन्देहु।' इसी प्रकार परम उदार श्रीसरकारने यहाँ विभीषणजीको उनके राज्याभिषेकसे पहले ही अपनी परीक्षा-लीलासे उत्तीर्ण करके स्वभक्तिका अमोघ एवं अपूर्व पदक प्रदान करनेकी करुणा दिखायी है। अतः यहाँ 'अल्पज्ञता' नहीं, बल्कि सर्वज्ञता और दयालुताकी असीम लीला हुई है तथा यह प्रसङ्ग बड़े ही गम्भीर रहस्यका है। यहाँ विभीषणजी-द्वारा संकेतित रावणके नाभिकुण्डकी सुधाके भावार्थमें श्रीभगवान्‌की सच्ची सुधा-सिन्धुता उमड़ित हो रही है।

(२) *शङ्का*—हमारे प्रातःस्मरणीय गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज श्रीरामोपासक होते हुए भी ग्रन्थारम्भमें 'वन्दे वाणीविनायकौ' क्यों रखते हैं? वहाँ तो सर्वप्रथम इष्टवन्दना ही होनी चाहिये थी। फिर वे आगे भी 'भवानीशङ्करौ वन्दे' लिखते हैं। ऐसा क्यों हुआ है?

(२) *समाधान*—मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामजीके उपासक पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने अपने सभी ग्रन्थोंमें मर्यादाशैलीको निभाया है। वैसे तो उन्हींके वचन हैं—'····सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥' इत्यादि; तथापि उन्होंने और सबकी वन्दना पहले करके अन्तिम वन्दना अपने इष्टस्वरूप श्रीरघुनाथजीपर ही समाप्त की है। जैसे मङ्गलाचरणके श्लोकों और भाषाकाव्यके पदोंमें देखिये—

'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।'
'पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥'

इसके पश्चात् पुनः रामनामकी ही वन्दना है, और किसी देवकी पुनः वन्दना नहीं की गयी है। इससे मालूम होता है कि आदिके बजाय अन्तका भाव उन्होंने श्रेष्ठ माना है और वही क्रम रक्खा है।

(३) *शङ्का*—श्रीकौसल्याजी श्रीदशरथजीके मरनेपर विलाप करती हुई कह रही हैं कि 'बार बार मोहि कहेउ महीपा। जानहु सदा भरत कुलदीपा॥' परन्तु श्रीदशरथजीने अपने जीवन-कालमें एक बार भी

श्रीकौशल्याजीसे नहीं कहा कि भरत हमारे कुलके दीप हैं। इसका क्या कारण है ?

(३) *समाधान*—श्रीकौशल्याजीने श्रीसुनयनाजीसे मिलनेपर उक्त वचन कहा है। यही प्रमाण है कि श्रीदशरथजीने उनसे बार-बार कई अवसरोंपर श्रीभरतजीको अपने कुलका दीपक बताया होगा। कब और किस अवसरपर कहा, यह ग्रन्थमें इसलिये नहीं वर्णित है कि कविश्रेष्ठ श्रीगोस्वामीजी कथाका अनावश्यक विस्तार न करके पहलेसे ही निश्चय कर चुके थे कि श्रीसुनयनाजीके मिलनेपर श्रीकौशल्याजीद्वारा इस बातका वर्णन करा देना ही पर्याप्त होगा। ऐसे प्रसङ्ग और भी हैं। यथा—'सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥' यह बात अवधकाण्डके किसी स्थलमें न लिखकर लङ्काकाण्डके लक्ष्मण-मूर्छाप्रसङ्गमें ही खोली गयी है। और भी 'रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥' यह बात वनकाण्डके सीताहरण-प्रसङ्गमें नहीं आयी है, परन्तु लङ्काकाण्डमें मन्दोदरीके द्वारा कहलवा दी गयी है—इत्यादि।

(४) *शङ्का*—श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें यह आता है कि उन्होंने शिशु-अवस्थामें सूर्यको गालमें रख लिया था—'बाल समै रबि भच्छ लियो तब तीनिहुँ लोक भयो अँधियारो।' परन्तु देखा जाय तो सूर्यका व्यास पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है तथा तेज भी असह्य है। फिर ऐसा करनेके लिये उन्होंने कितने योजनोंका मुँह फैलाया होगा ? ऐसे ही सञ्जीवनी लानेके समय वर्णन है कि 'सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा।' यह कितने आश्चर्यकी बात है ? पहाड़की जड़ न जाने कितनी गहराईतक होती है और लंबाई-चौड़ाई भी कुछ कम नहीं होती। अतः तर्ककी कसौटीपर तो उनके सम्बन्धकी ये बातें नहीं जँचती हैं।

(४) *समाधान*—श्रीहनुमान्‌जीके लिये श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्डमें यह प्रमाण है कि 'कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं ॥' श्रीरघुनाथजीका प्रताप 'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' की अघटित घटना घटित करनेमें पटु है। उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। इसपर ध्यान देनेसे ऐसी शंका कदापि नहीं उठ सकती। क्योंकि वहाँतक तर्ककी पहुँच नहीं है—'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।'

(५) *शङ्का*—श्रीरामचरितमानसके लक्ष्मण-मूर्छा प्रसङ्गमें आता है कि श्रीहनुमान्‌जी लङ्कासे सुषेण वैद्यको उसके घरसमेत उठाकर लाये थे—'आनेहु भवन समेत तुरंता।' तो क्या वे सचमुच उन्हें घरसहित उखाड़कर लाये थे ? और फिर काम हो जानेपर उनके घरको यथास्थान ले जाकर चिपका दिया था ? यहीं एक शङ्का और है। लङ्का सोनेकी थी, ऐसा बताया गया है। सोना अग्निमें तपकर पिघल जाया करता है। तब फिर जिस समय श्रीहनुमान्‌जीने लङ्का-दाह किया, उस समय राक्षसोंके घर पिघलकर बह क्यों नहीं गये ?

(५) *समाधान*—लङ्का-दाहके सम्बन्धमें श्रीरामचरितमानसमें जो कुछ कहा गया है, उसीको सत्य मानना चाहिये। क्योंकि वह मनुष्यकृत ग्रन्थ न होकर साक्षात् ईश्वरकृत अलौकिक ग्रन्थ है। उसमें रोचक, भयानक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन न होकर अक्षर-अक्षर यथार्थ है। स्वयं ग्रन्थकार श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें।'

(६) *शङ्का*—श्रीनारदजीके विषयमें श्रीशङ्करजीका उमाजीके प्रति यह वचन है—

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥

यदि यही बात है तो फिर जीवोंको व्यर्थ ही 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस पचड़ेमें क्यों पड़ना चाहिये ?

(६) *समाधान*—श्रीनारदजी परम भागवत (भगवद्भक्त) हैं। उनके लिये भगवान्का यही विरद है कि जिसमें भक्तका हित होगा, वही वे करते रहेंगे। कभी ज्ञानी बनाकर भक्तका हित करते हैं तो कभी अज्ञानी बनाकर। ज्ञानी बनाकर माया-मोहकी निवृत्ति करते हैं और मूढ़ बनाकर अहङ्कारकी जड़ उखाड़ते हैं। परन्तु जगत्के अभक्त जीवोंके लिये इस प्रकारका उत्तरदायित्व न लेकर यही नियम बना दिया गया है कि—

> 'करम प्रधान बिस्व करि राखा।
> जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

केवल अपने प्रपन्न दासोंका भार प्रभुपर रहता है, अतः श्रीनारदजीके सम्बन्धमें श्रीशिवजीका उपर्युक्त वचन जगत्के सामान्य जीवोंके लिये नहीं, बल्कि केवल भक्तोंके लिये है।

(७) *शङ्का*—सुग्रीवसे भगवान् कह रहे हैं कि 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।' परन्तु जानकीजीका हरण हुआ था पञ्चवटीमें। फिर सुग्रीवसे इहाँ क्यों कहा गया?

(७) *समाधान*—'इहाँ' का अर्थ 'वन' से है। यथा—'हम पितु बचन मानि बन आए।' अर्थात् यहाँ वनमें आनेपर (पञ्चवटीमें) वैदेहीका हरण हो गया है। उन्हींको खोजते-खोजते हम किष्किन्धातक आये हैं—'बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।' अतः 'इहाँ' शब्दका तात्पर्य किष्किन्धासे न होकर वनसे ही है, जिसके एक भागमें पञ्चवटी अवस्थित था।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

सर गुरुदासकी कट्टरता

कलकत्ता हाईकोर्टके जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी अपने आचार-विचार, खान-पानमें बड़े कट्टर थे। 'माडर्न रेव्यू' के गताङ्कमें श्रीअमलहोमने इस सम्बन्धमें उनके जीवनकी एक घटनाका उल्लेख किया है। लार्ड कर्जनके समय जो 'कलकत्ता-विश्वविद्यालय-कमीशन' नियुक्त हुआ था, उसके गुरुदास भी एक सदस्य थे। उसका कार्य समाप्त होनेपर शिमलेसे वे वाइसरायके साथ उनकी स्पेशलमें कलकत्ते जा रहे थे। कानपुरमें वाइसरायने उन्हें अपने डब्बेमें बुला भेजा। दोनोंमें बहुत देरतक कमीशनकी सिफारिशोंके सम्बन्धमें बातचीत होती रही, इतनेहीमें दोपहरके खानेका समय हो गया। वाइसरायने श्रीगुरुदाससे कहा कि 'जाइये, अब आप भी भोजन कीजिये।' उन्होंने इसके लिये धन्यवाद देते हुए कहा—'मैं रेलपर कुछ नहीं खाता।' यह सुनकर वाइसरायको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें विश्वास न हुआ। उन्होंने फिर पूछा तो उत्तर मिला—'मैं रेलपर कुछ गङ्गाजल रखता हूँ और केवल उसीको पीता हूँ।' इसपर वाइसरायने फिर पूछा 'तब फिर आपका लड़का क्या करेगा?' श्रीगुरुदासने कहा—'जबतक मैं उपवास करता हूँ, वह भला कैसे खा सकता है? घरकी बनी हुई उसके पास कुछ मिठाई है, भूख लगती है, तो वह उसे खा लेता है।' वाइसरायने कहा—'तो फिर मैं भी नहीं खाऊँगा, जबतक आप नहीं खाते। आगे किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी रहेगी और वहाँ आप अपने नियमानुसार भोजन कर लें।' श्रीगुरुदासने बहुत समझाया कि इसकी आवश्यकता नहीं है, आपको कष्ट होगा। पर वाइसरायने एक भी न सुनी और अपने ए० डी० सी० (शरीर-रक्षक) को तुरत बुलाकर पूछा कि 'अगले किस स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होगी?' उसने उत्तर दिया—'हुजूर, इलाहाबादमें।' वाइसरायने कहा—'अच्छी बात है, जबतक डाक्टर बनर्जीका भोजन नहीं हो जाता, हम वहीं ठहरेंगे।' प्रयाग स्टेशनपर स्पेशल रुक गयी, पिता-पुत्र दोनोंने जाकर सङ्गमपर स्नान किया और त्रिवेणी-तटकी रेतीपर दाल-भात बना-खाकर जब लौटे, तब कहीं गाड़ी आगे बढ़ी।

श्रीगुरुदास कहा करते थे कि जहाँ जिसके साथ, जो कुछ खा-पी लेनेसे जाति जाती है या नहीं, यह दूसरी बात है। पर इन नियमोंके पालनसे आत्मसंयम और अनुशासनकी कितनी अच्छी शिक्षा मिलती है, जिसका जीवनमें कुछ कम मूल्य नहीं है। नियमपालनमें किसीकी कट्टरता देखकर उसका उपहास भले ही किया जाय, पर हृदयमें उसके प्रति आदरभाव भी बिना जाग्रत् हुए न रहेगा। लार्ड कर्जन-सरीखे उद्दण्ड वाइसरायको भी इस कट्टर सनातनीके 'वहमों' का आदर करना पड़ा। परन्तु आजकल तो अनुशासन और संयमका कुछ मूल्य ही नहीं है। उनसे तो स्वतन्त्रता और सुखमें बाधा पड़ती है। आजकल तो जीवनका मन्त्र है—'स्वतन्त्रता और भोग', वैसा ही फल भी मिल रहा है। 'सिद्धान्त'

भारतीय पञ्चाङ्ग

(लेखक—डा० श्रीहंसराज गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सूर्य एवं चन्द्रमाकी ओर भूमण्डलके निवासियोंका ध्यान सभ्यताके आदिम युगसे ही, कदाचित् उससे भी पहलेसे, आकर्षित हुआ है। वेदमाता गायत्रीमें सूर्यदेवता (सविता) की ही स्तुति की गयी है। ईसामसीहसे कई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन आर्योंके सूर्यकी ओर मुँह करके स्नान करने तथा सूर्यकी स्तुति करनेका वर्णन मिलता है। अब जब हमें यह ज्ञात हुआ है कि सूर्यकी रश्मियोंसे केवल प्रकाश ही नहीं अपितु प्रचुर मात्रामें प्राणशक्ति भी मिलती है, तब हमें आर्योंके ज्ञानका स्पष्टरूपमें पता चलता है।

सूर्य हमारे कालज्ञानका प्रधान साधन है। भूमध्य-रेखाके किसी भी स्थानमें दिन और रात्रिका परिमाण बराबर होता है। भूमध्यरेखापर एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकका समय सदैव समान रहता है। एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतकके समयको एक दिन या अहोरात्र कहते हैं। हिंदुओंने दिनका विभाग इस प्रकार किया है—

६० घड़ी=१ दिन

६० पल=१ घड़ी

६० विपल=१ पल

उपर्युक्त गणनाके अनुसार १ विपल $\frac{2}{5}$ सेकंडके बराबर होता है। यह प्रसिद्ध है कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर अण्डाकार गति (Elliptic orbit) से घूमती है। जितने समयमें पृथ्वी सूर्यके चारों ओर एक चक्कर लगाती है, उतने समयको एक वर्ष कहते हैं। इसके परिमाणके सम्बन्धमें विभिन्न हिंदू ग्रन्थकारोंका यत्-किञ्चित् मतभेद है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार एक पूरे चक्करमें अनुमानतः ३६५ दिन, १५ घड़ी, ३१ पल, ३१.४ विपल अर्थात् ३६५ दिन, ६ घंटे, १२ मिनट, ३६. ५६ सेकंड या ३६५. २५८७५६४८१ दिन लगते हैं। इस प्रकार, यदि पाश्चात्योंके इस निर्णयको यथार्थ माना जाय तो मालूम होगा कि हिंदू गणितज्ञ बिना किसी प्रकारके वैज्ञानिक यन्त्रोंकी सहायताके भी उक्त परिमाणके अत्यन्त समीप पहुँच गये। सूर्यके इर्दगिर्द ३० डिग्रीका चक्कर लगानेमें पृथ्वीको जितना समय लगता है, उसे एक मास कहते हैं। इस समयका परिमाण सदैव समान नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी सूर्यको किसी एक केन्द्र (Focus) में रखकर अण्डाकार गतिसे घूमती है। सूर्य जब किसी नयी राशिमें प्रवेश करते हैं, तब नये मासका प्रारम्भ होता है। हिंदुओंने वैशाखसे प्रारम्भ करके प्रत्येक मासका अलग-अलग मान निश्चित किया है। इस प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके अनुसार आषाढ़ मास ३१ दिन, १५ घंटे, २८ मिनट, २४ सेकंडका होता है और फाल्गुन मास २९ दिन, १९ घंटे, ४१ मिनट, १२ सेकंडका।

हिंदू-पद्धतिके अनुसार दिनका प्रारम्भ अर्द्धरात्रिसे न होकर सूर्योदयसे होता है। उज्जैन भारतका ग्रीनिच (Greenwich) है, जहाँसे देशान्तर-रेखा (longitude) की गणना प्रारम्भ होती है। सूर्यके किसी राशिमें प्रवेशका समय उज्जैनकी देशान्तर-रेखापर स्थित भूमध्य-रेखाके किसी स्थानपर होनेवाले सूर्योदयके आधारपर निर्धारित किया जाता है। जिस दिन सूर्य किसी राशिमें प्रवेश करते हैं, मासकी पहली तिथि उसी दिन मानी जाती है। इसीको संक्रान्ति-काल कहते हैं। इस प्रकार हिंदुओंका मास २९ से ३२ दिनका होता है। ग्रीष्म-मास जाड़ेके महीनोंसे बड़े होते हैं। इस प्रकार

यह देखा जाता है कि जहाँ अंग्रेजी महीनोंके दिनोंकी संख्या बिल्कुल मनमाने ढंगसे निश्चित की गयी है, हिंदू-मासोंकी दिनसंख्या वैज्ञानिक आधारपर निर्धारित की गयी है। हिंदुओंके पञ्चाङ्गमें ३६६ दिनके वर्ष (leap year) की आवश्यकता नहीं होती।

सौर वर्षके अतिरिक्त, जिसके सम्बन्धमें ऊपर विचार किया गया है, हिंदुओंके यहाँ चान्द्र वर्ष भी होता है। यह मुसल्मानोंके हिजरी सन्‌से मिलता-जुलता है। हिजरी सन्‌का सम्बन्ध भी चन्द्रमासे है। चान्द्र वर्ष लगभग ३५४ दिन, ८ घंटे ४८ मिनट और ३३.६ सेकंडका होता है। इस प्रकार चान्द्र वर्ष सौर वर्षकी अपेक्षा करीब ११ दिन छोटा होता है। तीन वर्षमें यह अन्तर एक माससे अधिक हो जाता है। सौर एवं चान्द्र वर्षोंका मेल बैठानेके लिये हिंदू प्रति तीसरे वर्ष चान्द्र वर्षमें एक अधिक मास जोड़ लेते हैं। इस प्रकार हिंदुओंके चान्द्र मासोंसे भी वर्षकी ऋतुओंका भली प्रकार अनुमान हो जाता है। सौर एवं चान्द्र दोनों ही वर्षोंका ज्येष्ठ सर्वदा गरम होता है। पौष सदा ही ठंढा रहता है। नीचे दी हुई तालिकासे विक्रमाब्द, ईसवी सन् तथा हिजरी सन्‌की किसी तारीखको कौन-सा दिन पड़ेगा, केवल यही बात नहीं मालूम होती बल्कि तीनों संवत्सरोंकी अलग-अलग तारीखका भी पता चल सकता है।

सार्वभौम पञ्चाङ्ग

विक्रमाब्द **ईसवी सन्** **हिजरी सन्**

तीनोंके लिये

१		२		३		५		४	
वैशाख	११·२३३९८३	१	३६५·२५८७५६४८१			१	३५४·३६७०५६	मुहर्रम	·१३२९४४
ज्येष्ठ	४२·१६९२६१	२	७३०·५१७५१२९६२	रवि	०	२	७०८·७३४११२	सफर	२९·६६३५३२
आषाढ़	७३·५८९५३८	३	१०९५·७७६२६९४४४	सोम	१	३	१०६३·१०११६८	रबी १	५९·१९४१२०
श्रावण	१०५·२३४२६१	४	१४६१·०३५०२५९२५	भौम	२	४	१४१७·४६८२२४	रबी २	८८·७२४७०८
भाद्रपद	१३६·७०९५३८	५	१८२६·२९३७८२४०७	बुध	३	५	१७७१·८३५२८०	जुमादा १	११८·२५५२९६
आश्विन	१६७·७२८१५०	६	२१९१·५५२५३८८८८	गुरु	४	६	२१२६·२०२३३६	जुमादा २	१४७·७८५८८४
कार्तिक	१९८·१६९५३८	७	२५५६·८११२९५३७०	शुक्र	५	७	२४८०·५६९३९२	रजब	१७७·३१६४७२
मार्गशिर	२२८.०६२८७२	८	२९२२·०७००५१८५१	शनि	६	८	२८३४·९३६४४८	शाबान	२०६·८४७०६०
पौष	२५७·५५३१५०	९	३२८७·३२८८०८३३३	विक्रम	हिजरी	९	३१८९·३०३५०४	रमदान	२३६·३७७६४८
माघ	२८६·८७०९२७							शव्वाल	२६५·९०८२३६
फाल्गुन	३१६·३१८९८३							ज़ीकादह	२९५·४३८८२४
चैत्र	३४६·१३९२६१							ज़ुलहिज्जह	३२४·९६९४१२

६

मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त	सितंबर	अक्टूबर	नवंबर	दिसंबर	जनवरी	फरवरी
०	३१	६१	९२	१२२	१५३	१८४	२१४	२४५	२७५	३०६	३३७

कुंजी

§ १ (क) विक्रम संवत्‌के किसी वर्षकी अमुक तिथिको कौन-सा दिन पड़ा था या पड़ेगा, यह जाननेके लिये—

वह तिथि जिस मासकी हो, उस मासके सामने कोष्ठ १ में दी हुई संख्या तिथिकी संख्यामें जोड़ दीजिये। ३६५·२५८७५६४८१ और वर्षकी संख्याका गुणनफल भी उसमें जोड़ दीजिये। यह गुणनफल कोष्ठ २ की सहायतासे, जिसमें नौकी संख्यातक ३६५·२५८७५६४८१ के गुणनफल दिये हुए हैं, जल्दी मालूम किया जा सकता है। योगफलकी पूर्ण संख्या (integer) को ७ से विभाजित कीजिये और शेष संख्याको कोष्ठ ३ में ढूँढ़ निकालिये, जिसमें वारोंके नाम दिये हुए हैं।

(ख) हिजरी सन्‌के किसी सन्‌की अमुक तारीखको कौन-सा दिन पड़ा या या पड़ेगा, यह जाननेके लिये कोष्ठ १-२ के स्थानमें ४-५ का उपयोग करते हुए उपर्युक्त पद्धतिका अनुसरण कीजिये।

§ २ (क) विक्रम संवत्‌की किसी तिथिको ईसवी सन्‌की कौन-सी तारीख थी या पड़ेगी, यह जाननेके लिये § १ (क) में प्राप्त पूर्ण संख्या (integer) मेंसे २०८२० का अन्तर निकालिये। अन्तरको १४६०९७ से विभाजित कीजिये, बची हुई संख्याको ३६५२४ से विभाजित कीजिये, इसके बाद भी जो कुछ बच रहे उसे १४६१ से विभाजित कीजिये और फिर भी जो संख्या बचे उसे ३६५ से विभाजित कीजिये। यदि प्राप्त भजनफलोंको क्रमशः क, ख, ग, घ से निर्दिष्ट किया जाय और बची हुई संख्याओंमेंसे अन्तिम संख्याको 'ङ' से निर्दिष्ट किया जाय—बशर्ते कि ङ शून्य न हो, ख और ग ३ से अधिक न हों और ग २४ से अधिक न हो—तो जो तारीख हम मालूम करना चाहते हैं, वह ईसवी सन् (४०० क + १०० ख + ४ ग + घ) की पहली मार्चसे ङ वीं तारीख होगी।

इस सम्बन्धमें कोष्ठ ६ बहुत उपयोगी है। उसमें पहली मार्चसे लेकर अगले सभी मासोंकी पहली तारीखतककी दिन-संख्या दी गयी है।

इसकी विलोम प्रक्रिया उतनी ही सरल है।

(ख) हिजरी सन्‌की किसी तारीखको ईसवी सन्‌की कौन-सी तारीख थी या पड़ेगी, यह जाननेके लिये § १ (ख) में प्राप्त पूर्ण संख्यामें २२६९६६ जोड़ दीजिये और § २ (क) की प्रक्रियाका अनुसरण कीजिये। देखिये उदाहरण।

उदाहरण

संवत् १९५९ के आश्विनकी २४ वीं तारीखपर विचार कीजिये।

२४	२४
आश्विन	१६७·७२८१५०
१०००	३६५२५८·७५६४८१
९००	३२८७३२·८८०८३३
५०	१८२६२·९३७८२४
९	३२८७·३२८८०८
योग	७१५७३३·६३२०९७

शेष ४ (गुरुवार)

७१५७३३
२०८२०

१४६०९७	६९४९१३	४=क
३६५२४	११०५२५	३=ख
१४६१	९५३	०=ग
३६५	९५३	२=घ
	२२३	
अक्तूबर	२१४	१९०२
	९	

६९४९१३
२२६९६६
४६७९४७

इसे ३५४·३६७०५६ से विभाजित करनेसे भजनफल १३२० आता है और शेष १८२·४९ बच रहता है। इससे हिजरी तारीख सन् १३२० के रजबकी ६-ठी तारीख निकलती है।

प्रियतमसे—

(१)

अगम सिन्धुमें डगमग-डगमग होती मेरी नैया
आवो आवो पार लगाओ खेवनहार कन्हैया!
बीहड़ वनमें भटक रहा यह व्याकुल विपथ बटोही
निज मंजिलकी राह बता दो ओ प्रीतम निर्मोही!

(२)

जीवन-वन यह रस-विहीन-सा लगता सूना-सूना
धधक रहा रह-रहकर इसमें दुख-दावानल दूना
अन्तर्नभमें सुख-सावनकी सरस पवन बन डोलो
अपने रसकी नव रिम-झिमसे अब तो इसे भिगो लो

(३)

जगसे नाता तोड़ मोड़ मुख आकुल और उदासे
टेर रहे घनश्याम! तुम्हें ही प्रान-पपीहे प्यासे
कितनी बार शरत्-पूनम है आ-आकर मुसकायी
किन्तु यहाँपर मोहन! तुमने मुरली कहाँ बजायी?

(४)

क्षण-क्षणमें आशा होती है अब आये अब आये
ललक रहीं आँखें पल-पलमें पथपर पलक बिछाये
बाट जोहते युग बीता है, बढ़ती है बेहाली
कब आवोगे इस मधुवनमें ओ मेरे वनमाली!

(५)

बीत चला चुपके-चुपके ही यह मधुमास सलोना
कभी नहीं मुखरित हो पाया इस निकुंजका कोना
ओ मेरे मतवाले कोकिल! आज मधुर रस घोलो
एक बार भी तो तुम आकर इस डालीपर बोलो

(६)

बड़ी साधसे राह देखती बनकर गोपकिशोरी
मेरे घरमें आज कन्हैया! हो माखनकी चोरी
भाव-भरी चंचल चितवनसे मुझे लुभाने आवो
मुरलीके स्वर-संकेतोंमें मुझे बुलाने आवो

(७)

मेरी बुनी हुई चीज़ोंको तुम उधेड़ने आवो
पग-पगपर मेरे मनमोहन! मुझे छेड़ने आवो
मुसकाते मुखचन्द्र मनोरम लिये नयन मधुमाते
मन्दिरमें मेरे तुम आकर करो सरस रस-बातें

(८)

जड़-जंगममें दीख रहे तुम व्याप्त व्योममें तुम हो
मन-प्राणोंमें तुम्हीं प्राणधन! रोम-रोममें तुम हो
तो भी दृगको सुलभ तुम्हारी क्यों न हुई छबिछाया?
कैसा जादू ओ मायावी! कैसी है यह माया?

(९)

व्यथा-वेदना मेरी तुमसे जाकर कौन बताये?
कंठागत पागल प्राणोंको कौन आज समझाये?
क्या तुमसे है छिपा जगत्में बोलो घट-घटवासी!
जान जान अनजान हुए तुम बैठे बने उदासी!

(१०)

आज तुम्हारे लिये वृत्तियाँ अन्तरकी मचली हैं
आज विरहिणी तड़प रही ज्यों जल-विहीन मछली है
आज मिलनकी तीव्र लालसा जाग उठी प्राणोंमें
दृगमें पानी लिये प्रज्वलित आग उठी प्राणोंमें

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

सारङ्गपद*

(श्रीरामचन्द्र)

(प्रेषक—श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०)

विहरत चित्रकूट गिरि राम लखन सिय सङ्ग ॥(अन्तरा ॥)
तिहि वन किय ऋतुनायक आगम धरि हरि दरस उमङ्ग ।
सङ्ग अनङ्ग सौंह लहि सुन्दर निरखिय राम अभङ्ग ॥ १ ॥
रुचिर विचित्र सिला सिंहासन छत्र विटप बहुरङ्ग ।
सौरभ कलित ललित बिजना गति चलत सदागति (पवन) सङ्ग ॥ २ ॥
हिलत नमित सित कुसुमित शाखा चलत सुचामर ढङ्ग ।
ध्वज जिमि ताल तमाल महातरु सूचत विजय अभङ्ग ॥ ३ ॥
मरकत रङ्ग तरुन तर किसलय सुमन जवाहर पुञ्ज ।
गुच्छ अनार डार कचनारन सहकारन बहुरङ्ग ॥ ४ ॥
अलिकुल सङ्कुल करत कुतूहल चौकी भरत सुढङ्ग ।
किलकुल कोकिल कल कृत सुन्दर बन्दी जन मदभङ्ग ॥ ५ ॥
अनगिन चित्र विचित्र विहङ्गम स्वन सुनि पुलकत अङ्ग ।
तेइ मनु चङ्ग उपङ्ग मुरज वर बीना बेनु मृदङ्ग ॥ ६ ॥
निरमल मधुर सीत जल लहरत प्रतिसर तरल तरङ्ग ।
निरझर ढरत झरत उछरत जल स्वच्छ करत नग शृङ्ग ॥ ७ ॥
प्रफुलित कञ्ज मञ्जु मकरन्दित इमि शोभित जलसङ्ग ।
कुम्पी कनक किये करि किङ्करि पङ्कित कुङ्कुम रङ्ग ॥ ८ ॥
भ्रम पुष्कर पुष्कर करि करखत उदित पतङ्ग मतङ्ग ।
अति गति तरल तुरङ्गहि तरजत विविध विचित्र कुरङ्ग ॥ ९ ॥
आयुधशृङ्ग नखन धरि मृगभट मृगपति अति बल सङ्ग ।
वन-वन भ्रमत रमत नित निरखत रघुवर चरन सुरङ्ग ॥१०॥
मुकुट जटा मण्डित नव पल्लव कुण्डल कुसुमन तुङ्ग ।
धनु कर वाम विशिख कर दक्षिन कटितट कसिय निषङ्ग ॥११॥
रन विच कठिन मृदुल करपङ्कज रचत कुसुम सिय अङ्ग ।
रघुवर रूप अनूप निहारत भो अनङ्ग गति भङ्ग ॥१२॥
लहि रतिराज मित्र ऋतुराजहिं परि प्रभु चरन अभङ्ग ।
दशरथ राजकुमारहिं अर्पित राजविभूति अनङ्ग ॥१३॥
रघुवर चरन कमल जग जीवन रज मधु आश्रय सङ्ग ।
'जीवन' चहत सदा यहि जीवन बिन जीव न मनभृङ्ग ॥१४॥

---

* बूँदी—राजपूतानाके भूतपूर्व दीवान, वैकुण्ठवासी, बोहरा जीवनलालजी नागर (जन्म सं० १८७०—मृत्यु १९२६) कृत।

साधु

(रचयिता—श्रीजगदीशशरणसिंहजी एम्० ए० (प्रथम))

(१)

असनके लिए विविध फल-मूल,
तृप्तिके अर्थ सुधा-जल-पान।
शयनके हेतु धरा विस्तीर्ण,
वसन है वल्कलका परिधान॥
आज करके धन-मधुका पान,
हो रहे जो उन्मत्त अतीव।
विनयका उनसे शिष्टाचार,
करें क्यों, प्रकृति-विहारी जीव॥

(२)

वल्कलोंसे हम हैं परितुष्ट,
दुकूलोंसे तुमको सन्तोष।
हमें सुन्दरतासे क्या काम,
तुल्य है दोनोंका परितोष॥
दरिद्री है वह व्यक्ति अवश्य,
सदा जिसमें तृष्णा सुविशाल।
हृदयमें होनेपर सन्तोष,
कौन है रंक कौन भूपाल॥

(३)

धराकी शय्या है रमणीक,
और वल्कल हैं शुभ उपधान।
व्यजन अनुकूल अनिलका नित्य,
व्योम है सुन्दर महा वितान॥
चन्द्रका उज्ज्वल दीप अखंड,
विरति वनिताका सुख-सहवास।
धन्य हैं मुनि, भूपतिके तुल्य,
किया करते हैं, शान्त-निवास॥

(४)

सुधाकरकी किरणें हैं रम्य,
रम्य है तृण संकुल वनप्रान्त।
रम्य है साधु समागम मोद,
रम्य है काव्य-कला कल कान्त॥
रम्य है रमणीका मुख कंज,
कोपके अश्रु-विन्दुसे युक्त।
विरागी मेरा मन है किन्तु,
सभीके आकर्षणसे मुक्त॥

(५)

व्याल हो अथवा हो वन-माल,
मित्र हो अथवा रिपु बरिबंड।
मृत्तिका या कंचनकी राशि,
कुसुम शय्या या प्रस्तर खंड॥
एक तृण, अथवा तरुणी नारि,
हमारी हो सबमें सम-दृष्टि।
पुण्य वनमें शिव शिवका जाप,
अहर्निश शुभ-मंगलकी वृष्टि॥

(राजर्षि भर्तृहरिके श्लोकोंका भावानुवाद)

धर्मकी सार्वभौमिकता

(लेखक—पण्डित श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री)

हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र 'धर्म' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। उसके साथ कोई विशेषण नहीं दिया गया है। विशेषण देनेसे असीम वस्तु ससीम हो जाती है। जैसे 'फूल' कहनेसे विश्वब्रह्माण्डके सारे फूल समझे जाते हैं; परन्तु 'लाल फूल' या 'सफेद फूल' कहनेसे फूलोंका एक सीमित स्वरूप ही मालूम होता है, उसी प्रकार 'धर्म' कहनेसे संसारके सारे धर्मोंका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है और 'बौद्धधर्म', 'जैनधर्म', 'हिन्दूधर्म' आदि कहनेसे हमारे शास्त्रोक्त सार्वभौम 'धर्म'के एक अंशका ही बोध होता है। यद्यपि मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें—'एष धर्मः सनातनः'—कहकर कहीं-कहीं 'धर्म' शब्दके साथ 'सनातन' शब्द जोड़ दिया है, परन्तु उस सनातन शब्दसे 'धर्म' सीमित नहीं हुआ है, बल्कि उससे 'धर्म'का महत्त्व ही बढ़ गया है क्योंकि उसका अर्थ है कि—'*यही धर्म सनातन अर्थात् अनादि है।*'

हमारा सार्वभौम धर्म विश्वब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक है। 'धृ' धातुसे बननेके कारण 'धर्म' शब्दका अर्थ है—'जो सब वस्तुओंको धारण करता है' अथवा 'जिससे संसारकी सारी वस्तुएँ धृत या रक्षित होती हैं।' नारायण-उपनिषद्में लिखा है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

'धर्म ही समस्त संसारकी स्थितिका मूल है।' महाभारतमें महर्षि वेदव्यासजीने लिखा है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

'धारण करता है, इसलिये इसका नाम धर्म है, धर्म ही प्रजाओंको धारण करता है, जिसमें धारण करनेकी शक्ति हो वही धर्म है।' तन्त्रशास्त्रमें भी लिखा है—

या बिभर्त्ति जगत्सर्वं ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः॥

'ईश्वरकी इच्छारूप जो अलौकिक महाशक्ति समस्त जगत्को धारण करती है, वही 'धर्म' है।'

ईश्वर ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक हैं, सुतरां उनकी शक्ति भी सर्वपदार्थोंमें व्याप्त है। उस शक्तिसे ही आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये पाँच भूत तथा इनसे बने सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, नदी, पर्वत आदि सभी पदार्थ अपनी-अपनी अवस्थामें स्थित हैं। इसको अंग्रेजीमें प्रापर्टी (Property) भी कहते हैं। यह शक्ति न रहे तो क्षणभरमें संसारका प्रलय हो जा सकता है। पृथ्वीमें यह धारिका शक्ति न रहती तो क्षणभरमें यह गलकर जल हो जाती या हवा होकर उड़ जाती। इसी प्रकार 'धर्म' की इस धारिका शक्तिके न रहनेसे संसारकी कोई वस्तु या कोई जीव घड़ीभर भी अपनी अवस्थामें स्थित नहीं रह सकता। ईश्वरकी इच्छारूप इस धर्म-शक्तिके शासनसे—

भीषास्मादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

—कठोपनिषद्

'इसके भयसे अग्नि जलाती है, सूर्य ताप देता है और इसी शक्तिके भयसे इन्द्र, वायु और यम अपना-अपना कार्य करनेमें बाध्य होते हैं।'

जिस प्रकार राजाकी शक्ति उसके राज्यभरमें व्याप्त रहती है, प्रधान शासकसे लेकर एक मामूली सिपाहीके भीतर भी वह शक्ति काम करती है। यहाँतक कि एक

साधारण गृहस्थके घरमें भी उस व्यापक राजशक्तिके भयसे चोर घुसनेका साहस नहीं करता। उसी प्रकार ईश्वरेच्छारूपिणी इस अलौकिक धर्मशक्तिके शासनसे अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्ड धृत और रक्षित होते हैं।

यही हमारे शास्त्रोक्त धर्मका सार्वभौम लक्षण है। संसारके सभी धर्मोंका, धर्मके इस विराट् लक्षणमें अन्तर्भाव हो जाता है। किसी भी दूसरे धर्ममें 'धर्म' का ऐसा महान् लक्षण नहीं पाया जाता। परन्तु इस लक्षणसे धर्मके विषयमें हम मनुष्योंका कोई कर्तव्य-निर्देश नहीं होता, इसलिये शास्त्रोंमें धर्मका दूसरा लक्षण यह बतलाया है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिक दर्शन)

'जिसके द्वारा इहलोक तथा परलोकमें उन्नति और मोक्षकी प्राप्ति हो, उसका नाम धर्म है।' महर्षि वेदव्यासजीने भी महाभारतमें लिखा है—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

'धर्मके द्वारा ही समस्त जीव क्रमोन्नति लाभ करते हुए अन्तमें परम पदको प्राप्त करते हैं। सारे जीव प्रकृतिके निम्नतम स्तरमें उत्पन्न होकर ईश्वरकी शक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे वृद्धि और उन्नतिको प्राप्त करके अन्तमें परब्रह्ममें लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।'

मूल प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण समपरिमाणमें रहते हैं। जब उसमें रजोगुणकी वृद्धि होती है तभी सृष्टि होने लगती है, परन्तु रजोगुणकी सृष्टि जड सृष्टि है; उसमें केवल पञ्चभूत ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है, इसलिये उसमें चेतन परमात्माका प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति है। प्रकृतिमें सत्त्वगुणका प्राधान्य होनेसे जीवकी सृष्टि होने लगती है। सत्त्वगुणमें परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उसकी जीव संज्ञा होती है और उसमें क्रिया-शक्ति तथा ज्ञानशक्तिका विकास होता है। पहले यह सत्त्वगुण बहुत ही मलिन अवस्थामें रहता है, जैसे—वृक्ष, लता, पर्वत आदिमें। ये उद्भिज्ज हैं। पृथ्वी-को भेदकर उत्पन्न होनेके कारण ही इनका उद्भिज्ज नाम पड़ा है। इस योनिमें जीव २० लाख बार उत्पन्न होकर स्वेदज योनिमें आ जाता है। जो स्वेद या पसीनेसे कृमि, कीट, मच्छर आदि उत्पन्न होते हैं, उन्हें स्वेदज कहते हैं। इस योनिमें ११ लाख बार उत्पन्न होकर जीव पक्षी, साँप, मछली आदिकी अण्डजयोनिमें आ जाता है। अण्डेसे उत्पन्न होनेके कारण ही इनका नाम अण्डज है। इन योनियोंमें १९ लाख बार उत्पन्न होकर जीव जरायुज पशुयोनिमें आ जाता है। जरायुसे उत्पन्न होनेके कारण इनका नाम जरायुज है। ३० लाख बार क्रमशः उन्नततर इन जरायुजयोनियोंमें उत्पन्न होता हुआ जीव वानरयोनिमें आ जाता है। चार लाख बार इस योनिमें जन्म होनेके बाद जीव मनुष्ययोनिमें आकर उत्पन्न होता है। मनुष्योंमें भी असभ्य, अस्पृश्य, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि क्रमसे उन्नततर शरीरोंमें उत्पन्न होता हुआ जीव मुक्तिका अधिकारी होता है। जीवकी क्रमोन्नतिका यह सिलसिला धर्म-शक्तिके प्रभावसे ही अक्षुण्ण रहता है।

हमारे शास्त्रोक्त धर्मका यह दूसरा लक्षण भी संसारके समस्त जीवोंमें व्यापक है। कोई भी धर्म इससे पृथक् नहीं है; परन्तु इस लक्षणसे भी धर्मके सम्बन्धमें हमारा कर्तव्य क्या है, यह निश्चित नहीं हुआ। इस कारण धर्मका यह तीसरा लक्षण करना पड़ा कि, जिन कर्मोंसे धर्मकी इस उन्नतिशील क्रियामें सहायता हो, क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि हो और किसी दूसरे धर्ममें बाधा न पहुँचे वही धर्म है। हमारे शास्त्रोंमें यज्ञ, होम, दान, तप, सन्ध्यावन्दन, परोपकार, अतिथिसेवा आदि जिन कर्मोंका विधान है वे सभी धर्मकी इस उन्नतिशील क्रियाके सहायक हैं। एक बालक बढ़ रहा है। भोजन-

पान देकर उसकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना धर्म है। दूसरी ओर हत्या करके उसकी उन्नतिमें बाधा पहुँचाना अधर्म या पाप है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें जिन-जिन कर्मोंका विधान है सभीसे जीवोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचती है।

धर्म क्या है—इसका निष्कर्ष महर्षि वेदव्यासजीने पितामह भीष्मदेवके मुखसे कहलाया था।

कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पितामह भीष्म शरशय्यापर लेटे हुए थे। युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनसे अन्तिम उपदेश लेनेके लिये उनके पास पहुँचे। श्रीकृष्ण, द्रौपदी आदि भी साथमें थे। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदिके विषयके उपदेश सुननेके पश्चात् युधिष्ठिरने धर्मका संक्षिप्त लक्षण पूछा। उसके उत्तरमें महात्मा भीष्मदेवने कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'अपनेको बुरा लगे ऐसा बर्ताव दूसरेसे नहीं करना चाहिये। यही धर्मका सारसर्वस्व है।'

भीष्मदेवका यह उपदेश सुना तो सभीने था, पर उसे कार्यरूपमें परिणत किया था केवल द्रौपदीने।

कुरुक्षेत्र-युद्धके अन्तमें सारे कौरवोंके मारे जानेके अनन्तर राजा दुर्योधन ह्रदमें जा छिपे थे। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामा खोजते-ढूँढ़ते उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजाको सान्त्वना देते हुए कहा—'मित्र! तुम शोक न करो। तुम्हारे निन्यानबे भाई युद्धमें मारे गये हैं, उसके बदले आज रातको मैं पाँचों पाण्डवोंके सिर काटकर तुम्हारे सामने ला दूँगा।'

रात्रिको अश्वत्थामा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचे। पाँचों पाण्डव जहाँ नित्य सोते थे, उस दिन रात्रिको वे वहाँ नहीं थे। वहाँ द्रौपदीके पाँच पुत्र सोये हुए थे। अँधेरेमें अश्वत्थामा पाँच पाण्डव समझकर उन्हींके सिर काट ले गये। राजा दुर्योधनके पास पहुँचनेपर उन्होंने अँधेरेमें एक-एक सिर हाथमें लेकर दबाया। बालकोंके सिर महाबली दुर्योधनके हाथके दबावसे टूट गये। अन्तमें उन्होंने भीमका सिर माँगा। दबावसे वह भी टूट गया। तब उनके मनमें सन्देह हुआ कि जिस महाबली भीमका सिर अस्सी मन वजनकी लोहेकी गदाके प्रहारसे न टूटा वह आज हाथके दबावसे टूट गया! राजाको निश्चय हो गया कि ये पाण्डवोंके सिर नहीं हैं बल्कि उनके पुत्रोंके सिर हैं। तब उन्होंने विलाप करते हुए कहा—'हाय! हाय! गुरुपुत्र! तुमने यह क्या किया? मेरे वंशका तो नाश हो ही गया है। अब तुमने पाण्डवोंके कुलका भी नाश कर दिया। तुम हमारे सामनेसे हट जाओ।'

प्रातःकाल पुत्रोंके सिर कटे धड़ोंको देखकर द्रौपदी रोने लगी। पाँचों पाण्डव वहाँ आ पहुँचे। पुत्रोंकी मृत्युका कारण कोई भी न समझ सके। श्रीकृष्णने बताया कि—'कौरव-पक्षमें केवल दुर्योधन और अश्वत्थामा ही जीवित हैं। दुर्योधन भाग गया है, इस कारण उसका मित्र अश्वत्थामा ही उसे प्रसन्न करनेके लिये पाण्डव समझकर तुम्हारे पुत्रोंके सिर काट ले गये हैं।'

अपने ही गुरुके पुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अपने सारे पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनकर अर्जुन गरज उठे—'द्रौपदी! तुम मत रोओ, अश्वत्थामा स्वर्ग, मर्त्य या पाताल—त्रिलोकमें जहाँ कहीं हो मैं उसे पकड़ लाऊँगा और तुम्हारे सामने लाकर उसका सिर काट डालूँगा। उसके गर्म खूनसे नहाकर तुम अपने हृदयको शान्त कर लेना।'

श्रीकृष्णने मुसकराकर कहा—'चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।'

अर्जुनने कहा—'आपके चलनेकी कोई जरूरत

नहीं है। अश्वत्थामा कोई ऐसा बड़ा वीर नहीं है कि मैं अकेला उसे पकड़ न ला सकूँ।'

श्रीकृष्ण राजी न हुए। वे अर्जुनके साथ ही चल दिये। अर्जुनने द्वैपायन ह्रदके पास जाकर अश्वत्थामाको पकड़ लिया। श्रीकृष्णने कहा,—'बस अब झट इसका सिर काट डालो।'

अर्जुनने कहा—'नहीं, मैंने प्रतिज्ञा की है कि द्रौपदीके सामने ले जाकर इसे काटूँगा।'

श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा—'तब तो तुम काट चुके।'

अर्जुनने उनका कहना न माना। वे अश्वत्थामाको पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। अपनी आसन्न-मृत्यु समझकर अश्वत्थामा रो रहे थे, अर्जुनने अश्वत्थामा-के सिरके बाल अपने बायें हाथसे पकड़ रक्खे थे और उनके दाहिने हाथमें नंगी तलवार थी। अश्वत्थामाको देखते ही द्रौपदीके मनमें अपने पुत्रोंका शोक उमड़ आया। उन्होंने अर्जुनसे कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।
मा रोदि तस्य जननी गौतमी पतिदेवता॥

'छोड़ दो, इसे छोड़ दो, ब्राह्मण पूज्य हैं, मैं जिस प्रकार अपने पुत्रोंके शोकसे रो रही हूँ वैसे इनकी माता पतिपरायणा गौतमी न रोये।'

अन्तमें अर्जुनको उन्हें छोड़ ही देना पड़ा। द्रौपदी-ने 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—धर्मके इस सार उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ कर दिखाया।

यदि हम सब भी धर्मके इस एक उपदेशको प्रतिदिनके व्यवहारमें लावें तो संसार स्वर्ग हो जाय।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

(गतांकसे आगे)

केशव—अच्छा, भोजनके तमाम आवश्यक अंशोंको तो मैं समझ गया, परन्तु अभी यह नहीं मालूम हुआ कि कौन-कौन-सा अंश कितनी मात्रामें हमारे लिये आवश्यक है और उसे प्राप्त करनेके लिये हमें नित्य क्या-क्या और कितना आहार करना चाहिये।

पिता—इसका निर्णय हर एक व्यक्तिके लिये उसकी आयु, डीलडौल, शारीरिक परिश्रम और ऋतु तथा देशके विचारसे अलग-अलग ही किया जा सकता है। तुम जानते हो कि भोजनका प्रोटीन नामक अंश शरीरको बनाने और बढ़ानेका काम करता है। अतएव जिन लोगोंका शरीर अभी बनने या बढ़नेकी अवस्थामें है उनके (अर्थात् शिशु, बालक और नवयुवकोंके) भोजनमें प्रोटीनकी मात्रा बड़े-बूढ़ोंके (जिनके शरीरको अब आगे नहीं बढ़ना है) भोजनसे ज्यादा होनी चाहिये। इसी प्रकार जो कसरती लोग हैं या जिन्हें शरीरसे कठिन परिश्रम करना पड़ता है, उनके भोजनमें बैठलुओंकी अपेक्षा कार्बोज (Carbohydrates) नामक अंशकी अधिक आवश्यकता रहती है, क्योंकि उनके शरीरमें शक्तिका खर्च अधिक होता है और कार्बोजसे ही यह (मेहनत करनेकी) शक्ति उनके शरीरको मिल सकती है। देश और ऋतुका प्रभाव भी इस विषयमें कम महत्त्व-पूर्ण नहीं होता। जिन देशोंमें सर्दी अधिक पड़ती है वहाँ शरीरकी गर्मी ज़्यादा तेजीके साथ निकलती रहती है। अतएव उसे क़ायम रखनेके लिये भोजनमें वसाजातीय पदार्थोंका ज़्यादा होना जरूरी है। इसीलिये लैपलैंड, ग्रीनलैंड आदि बर्फीले देशोंके निवासी वसाजातीय पदार्थ बड़े शौक़से खाया करते हैं। वहाँके बच्चे मोमबत्तियोंके टुकड़े ऐसे प्रेमसे खा जाते हैं, जैसे तुमलोग मिठाइयाँ

खाते हो। एक बार एक ध्रुवप्रदेशके प्रसिद्ध यात्री सर जान फ्रैंकलिनने ग्रीनलैंडमें यह जानना चाहा कि वहाँके निवासी ज़्यादा-से-ज़्यादा कितनी चर्बी खा सकते हैं। अतएव उन्होंने अपनी संदूकसे कुछ मोमबत्तियाँ निकालकर एक एस्किमो (Eskimo) बालकको खिलाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे करके पूरी सात सेर मोमबत्तियाँ उस बालकके पेटमें समा गयीं। तब फ्रैंकलिन साहबको अपनी मोमबत्तियोंका स्टाक खतम हो जानेका भय पैदा हुआ और उन्होंने वह प्रयोग बंद कर दिया। इसी प्रकार एक योरूपीय बन्दरगाहपर भी उत्तरी रूसके कई मल्लाह सड़कके सरकारी लैम्पोंसे तेल पीते हुए पकड़े गये थे। मतलब यह कि भोजनमें चर्बीकी आवश्यकता गरम देशोंसे ठण्डे देशोंमें अधिक रहा करती है। हमलोग भी यहाँ जाड़ेके दिनोंमें बादाम, अखरोट, गाजरका हलुआ इत्यादि चिकनाईदार चीजें अधिक खाया करते हैं, किन्तु गरमीके दिनोंमें नहीं। पृथ्वीके अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारके उपायोंसे यह जाननेकी चेष्टा की है कि मनुष्यके आहारमें किस चीजकी कितनी मात्रा होनी चाहिये और अपने-अपने मतानुसार उन्होंने अलग-अलग श्रेणीके मनुष्योंके लिये अलग-अलग भोजनकी तालिकाएँ भी बना डाली हैं। किन्तु उनमें मतभेद बहुत अधिक है और सबसे ज़्यादा मतभेद प्रोटीनकी मात्राके विषयमें दिखायी देता है। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रोटीनका अंश भोजनमें सबसे ज़्यादा होना चाहिये और कुछ इसके विरुद्ध हैं। आजकल अधिकतर विद्वानोंकी राय इसके विरुद्ध ही पक्षमें दिखायी देती है। अस्तु, इनकी रायको ध्यानमें रखते हुए भोजनके भिन्न-भिन्न अंशोंकी मात्रा हर एक मनुष्यके लिये इस प्रकार आवश्यक जान पड़ती है—

कार्बोज (Carbohydrates) $\frac{3}{4}$ भाग।
वसाजातीय .... $\frac{1}{8}$ भाग।
प्रोटीन तथा थोड़ा लवणजातीय अंश $\frac{1}{8}$ भाग।
विटामिन छः प्रकारके .... न्यूनांशमें।

यह तालिका एक पूरी अवस्थाके मनुष्यके लिये है। बच्चों और बालकोंके भोजनमें कार्बोजकी मात्रा कुछ कम करके प्रोटीनकी मात्रा अधिक की जा सकती है, क्योंकि बच्चोंका शरीर बढ़ता रहता है। इसके विपरीत वृद्धोंके लिये प्रोटीनकी मात्रा कम करके कार्बोजकी मात्रा बढ़ा देनी चाहिये।

केशव—परन्तु इसके लिये हमें कौन-कौन-सा और कितना भोजन करना चाहिये?

पिता—इस सम्बन्धमें एक संयुक्तप्रान्तीय विशेषज्ञने* हमारे भोजनकी जो सूची तैयार की है वह हमारी उपर्युक्त तालिकाके बहुत कुछ अनुकूल बैठती है। उनके मतानुसार मानसिक परिश्रम करनेवाले स्वस्थ और पूर्णायु मनुष्यके लिये दिनभरके भोजनमें इस प्रकार सामग्री होनी चाहिये—

गेहूँका आटा ३ छटाँक, चनेका आटा २ छटाँक, दाल १ छटाँक, दूध १२ छटाँक, घी १$\frac{1}{2}$ छटाँक, चीनी १ छटाँक, शाक-तरकारी यथावश्यक। जोड़—२०$\frac{1}{2}$ छटाँक।

इस प्रकारके भोजनसे हमें कार्बोजका अंश २६.६ तोला, बसा ८ तोला और प्रोटीन ६·७५ तोला प्राप्त हो सकता है। यदि हम इसमें ऋतुके ताजे फलोंको और जोड़ दें तो यह सूची हम भारतीयोंके लिये एक काफ़ी अच्छी आहार-सूची कही जा सकती है। दुनियाके बहुत-से अन्यान्य विद्वानोंने भी अपने-अपने मतके अनुसार भाँति-भाँतिकी आहार-सूचियाँ बनायी हैं और उनमें बहुत कुछ मतभेद भी दिखायी देता है। किन्तु हमें यहाँ उस बहसमें पड़नेकी ज़रूरत नहीं और न इस प्रकारकी सूचियोंका हमारे साधारण दैनिक जीवनमें कुछ उपयोग ही है, क्योंकि कोई भी मनुष्य अपने भोजनको इस प्रकार रोज़ तौल-नापकर खाना न पसंद करेगा और न यह सदा उसके लिये सम्भव ही है।

* डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा।

इस प्रकारकी तौल-नाप तो मुख्यतः उन स्थानोंमें उपयोगी होती है जहाँ बहुत-से मनुष्योंको सामूहिक रूपसे खिलाने-पिलानेकी जरूरत पड़ती है। जैसे सेनामें सिपाहियोंके लिये, बोर्डिंग-हाउसमें छात्रोंके लिये, गुरुकुल, अनाथालय और आश्रमोंमें वहाँके निवासियोंके लिये। साधारण व्यक्तिके लिये तो स्वाभाविक भूख ही उसके भोजनकी सबसे बढ़िया तौल-नाप है। यह भूख यदि वास्तवमें सच्ची भूख है तो, हमें ठीक उसी परिमाणमें लगा करती है, जिस परिमाणमें हमें भोजनकी जरूरत रहती है। उदाहरणार्थ—गरम देशोंकी अपेक्षा ठंडे देशोंमें हमें भोजनकी ज़्यादा जरूरत रहती है, इसलिये वहाँ भूख हमें ज्यादा तेज़ लगती है। बैठलुओंकी अपेक्षा परिश्रमी लोगोंको भी भोजनकी ज़्यादा ज़रूरत पड़ती है, अतएव उनकी भूख भी अधिक तेज रहती है। बच्चोंको बड़ोंकी अपेक्षा ज़्यादा जल्दी-जल्दी भोजनकी ज़रूरत पड़ती है, अतएव उन्हें भूख जल्दी-जल्दी लगा करती है। अस्तु, साधारण दशामें हमारी भूख ही सब प्रकारकी वैज्ञानिक तौल-नापोंसे अच्छी और स्वाभाविक तौल-नाप कही जा सकती है और खाने-पीनेमें सदा इसीकी सलाह लेना कल्याणकर है। किन्तु बहुत-से लोग झूठी भूखको भी सच्ची भूख मान बैठते हैं और इसलिये हानि उठाया करते हैं। खान-पानकी ख़राबियोंसे बहुधा पेटमें एक प्रकारका ख़मीर या उफ़ान उठा करता है, जिसमें मनुष्यको भूखका-सा कष्ट मालूम होने लगता है। किन्तु यह एक झूठी भूख है और थोड़ी देरमें आप-से-आप शान्त हो जाया करती है अथवा यदि थोड़ा-सा पानी ही पी लिया जाय तो भी शान्त पड़ जाती है। ऐसी भूखको सच्ची मानकर यदि भोजन किया करें तो उससे अनेक प्रकारके रोग उठ खड़े होंगे। इसी प्रकार कुछ लोग रुचि या झूठी इच्छाको भी भूख समझ लेते हैं और फिर उससे हानि उठाते हैं। तरह-तरहके बढ़िया और स्वादिष्ट पदार्थोंको देखकर भूख न रहते हुए भी बहुधा खानेको मन चल आता है। किन्तु यह हमारे चञ्चल मनकी माँग है, शरीरकी माँग नहीं। अतएव इसे दबाना और शरीरकी माँगको ही सच्ची भूख समझना उचित है। सच्ची भूख क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी होती है। साथ ही वह हमें ज्यादा बेचैन भी नहीं किया करती। बल्कि उसमें चित्त एक प्रकारसे शान्त और प्रसन्न रहता है तथा देह हल्की जान पड़ती है। सच्ची भूखमें रूखा-सूखा भोजन भी अमृत-जैसा स्वादिष्ट लगता है और ऐसी ही भूखके लिये कहावत प्रसिद्ध है कि—

भूख भर खाय नींद भर सोवै।
उसका रोग दूर जा रोवै॥

अस्तु, सब प्रकारकी झूठी भूख और इच्छाओंको दबाकर सच्ची भूखको ही अपनी पथ-प्रदर्शिका बनाना आवश्यक है। साथ ही कुछ थोड़ी-सी और भी ऐसी बातें हैं, जिन्हें भोजनके समय ध्यानमें रखना चाहिये।

केशव—वे क्या हैं?

पिता—संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

(१) भोजनपर बैठनेके पहले शरीर और मनको सब प्रकारसे स्वच्छ और पवित्र कर लो। हाथ-पैर अच्छी तरह धो डालो और यदि स्नानका समय हो तो अवश्य नहा भी लो। चिन्ता और क्रोध पैदा करनेवाली सब बातोंको अलग रखकर केवल पवित्र और मनको प्रसन्न करनेवाली बातोंकी ही चर्चा छेड़ो; क्योंकि मनका पाचन-क्रियापर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) भोजनके समय वस्त्र साफ, पवित्र, ढीले और हल्के होने चाहिये। कोट, पतलून आदि पहनकर खाना ठीक नहीं, क्योंकि इनसे शरीर जकड़ा रहता है और पाचनेन्द्रियोंके काममें बाधा पहुँचती है।

(३) हर एक कौरको स्वाद ले-लेकर और खूब चबा-चबाकर खाना उचित है। जबतक जीभको

स्वाद मिलता रहे तबतक कौरको चबाते ही रहना चाहिये और जब वह मुखकी लारसे मिलकर बिल्कुल पतला पड़ जाय तभी उसे निगलना चाहिये। अमेरिका-के होरेस फ़्लेचर नामक एक मनुष्यने तो चबाकर खानेकी इस क्रियाको कलाके स्थानतक पहुँचा दिया था। और इसके द्वारा उसने पाचनसम्बन्धी कितने ही प्रकारके रोगोंको जड़से अच्छा कर दिया था। उसकी यह विधि अबतक 'फ़्लेचरिज्म'के नामसे पुकारी जाती है।

(४) भोजनकी चीजोंमें सफ़ाई और पवित्रताका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। बाजारू खोनचेवाले और दूकानदार लोग जो चीजें तैयार करते हैं। वह प्रायः बहुत गंदे ढंगसे बनाते हैं और उनसे भाँति-भाँतिके रोग फैला करते हैं। अतएव बाज़ारू चीजें न खाकर सदा घरकी ही बनी चीजें खानी चाहिये।

(५) नित्य सादा और स्वाभाविक ही भोजन करना चाहिये। मांस, अण्डे, शराब आदि कभी नहीं खाने-पीने चाहिये। ज़्यादा खटाई, मिर्च और मसालोंके मेलसे भोजनके स्वादको बदलना अच्छा नहीं, क्योंकि एक तो इससे भोजनके बहुत-से विटामिन नष्ट हो जाते हैं और उसकी उपयोगिता जाती रहती है; दूसरे पाचनेन्द्रियाँ भी मिर्च-मसालोंकी तेज़ीसे उत्तेजित होकर शिथिल पड़ जाया करती हैं और उनकी पाचनशक्ति कम हो जाती है। अचार भी अच्छी चीज नहीं है, उससे भी स्वास्थ्यपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(६) बासी या बिगड़ा हुआ भोजन भी करना अच्छा नहीं है। ऐसा भोजन तामसी कहलाता है और शरीरमें आलस्य उत्पन्न करके बुद्धिको क्षीण करता है।

(७) भोजनमें यथासम्भव हरे शाक और ताज़े फलोंकी मात्रा पर्याप्त रूपसे रहनी चाहिये। साथ ही भोजनकी चीजोंमें सदैव कुछ-न-कुछ परिवर्तन करते रहना भी रुचि और स्वास्थ्यको बढ़ानेवाला है।

(८) भोजनके लिये समय बाँधना और नित्य नियत समयपर ही भोजन करना बहुत आवश्यक है *। इससे बँधे हुए समयपर भूख लगती है और पाचनक्रिया ठीक रहती है। इस देशकी जल-वायुको देखते हुए पूरी आयुवाले हम भारतीयोंके लिये दिनमें केवल दो बार भोजन करना ठीक समझ पड़ता है†। बालकोंको अवश्य चार बार खाना उचित है। किन्तु हम देखते हैं कि बहुत-से बालक ऐसे होते हैं, जो हर समय अपना मुँह बकरीकी तरह चलाया करते हैं। उनके जेब मूँगफली, मेवे, बिस्कुट या चनोंसे भरे रहते हैं और वे रास्तेमें भी उसे खाते चलते हैं। यह आदत स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बहुत बुरी है। एक बारका खाया हुआ अन्न कम-से-कम पाँच या छः घंटेमें पचा करता है। अतएव इतने समयका अन्तर भोजनमें अवश्य रखना चाहिये।

(९) भोजन सदैव कुछ हल्के ही पेट करना चाहिये। खूब तनकर खानेकी आदत बड़ी हानिकारी होती है। इससे पेट और आँतोंपर बहुत तनाव पड़ता है और पचानेके काममें बाधा उपस्थित होती है। कभी-कभी अधपचा भोजन पेटमें पड़ा-पड़ा सड़ने भी लग जाता है और तब वह रक्तको दूषित करके भाँति-भाँतिके उपद्रव पैदा करता है। किन्तु कुछ लोगोंकी आदत होती है कि स्वादके लोभमें पड़कर अपनेको सम्हाल नहीं सकते और बेहद खा जाया करते हैं। अन्तमें जब पेट फूलने लगता है तब चूरनकी गोलियाँ ढूँढ़ते फिरते हैं। ऐसे आदमियोंकी तुलना कुछ विद्वानों-

---

* 'कालभोजनमारोग्यकारणम्' (आत्रेय मुनि)
अर्थात् 'नियत समयका भोजन आरोग्यका कारण है।'

† सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥
(चरक)

अर्थात् 'अग्निहोत्रके समान मनुष्योंको सन्ध्या और सबेरे नित्य दो बार भोजन करनेका विधान है। इसके बीचमें खाना ठीक नहीं।'

ने पशुओंके साथ की है ।* महात्मा गाँधीकी भी राय है कि 'यदि हम आवश्यकतासे अधिक खाते हैं तो वह चोरीका खाते हैं । जितना हम स्वादके लिये खाते हैं वह कच्चे पारेकी भाँति किसी-न-किसी रूपमें फूट निकलता है । हम उतने ही दुखी हो जाते हैं । हमारा स्वास्थ्य उतना ही बिगड़ जाता है ।' अस्तु, मिताहारकी ओर हमारा ध्यान सदैव रहना चाहिये । पेट हल्का होता है तो सारा शरीर हल्का रहता है और तबीअत हल्की रहती है । इसीलिये हमारे वैद्यक ग्रन्थमें लिखा है कि 'पेटके केवल दो कोने भोजनसे भरने चाहिये और तीसरा जलसे । किन्तु चौथा कोना सदैव हवाके चलने-फिरनेके लिये खाली छोड़ देना चाहिये ।'†

(१०) भोजनके उपरान्त थोड़ा लेटना, बैठना या आराम करना चाहिये, दौड़ना-धूपना या मेहनतके काम करना उचित नहीं ।

(११) महीनेमें एक या दो बार एकादशी या पूर्णिमाके दिन उपवास भी करना चाहिये । इससे पाचनेन्द्रियोंको आराम मिलता है और वे पहलेसे अधिक सबल हो जाती हैं । साथ ही भोजनसम्बन्धी जो कुछ भूलें हम किया करते हैं वे भी इस समय बहुत कुछ ठीक हो जाती हैं । हमारी जठराग्नि बढ़ जाती है और पाचनकी क्रिया तेज हो जाती है । साथ ही इससे हममें आत्मिक शक्ति भी प्रबल हो जाती है और विचार शुद्ध एवं बुद्धि पवित्र बन जाती है । लेकिन क्षीण और दुर्बल शरीरवालोंको हम उपवासकी राय नहीं दे सकते ।

इस प्रकार ये ग्यारह शिक्षाएँ भोजनके सम्बन्धमें सदा याद रखनेकी हैं ।

केशव—भोजनके साथ धर्मका भी कोई सम्बन्ध है ?

पिता—हम हिन्दुओंमें तो प्रत्येक कामके साथ धर्मका सम्बन्ध है । भोजनसे तो शरीर और मन बनता है जो धर्मसाधनके प्रधान हेतु हैं; फिर भोजनसे धर्मका सम्बन्ध कैसे न होता ? भोजन एक प्रकारका यज्ञ है जो मनुष्य-के अंदर विराजमान भगवान्‌की तृप्तिके लिये किया जाता है । यज्ञमें पवित्र वस्तु ही काममें आती है । इससे भोजन-में भी वही वस्तु काममें लेनी चाहिये जो पवित्र हो—उदाहरणार्थ, जो चीजें स्वभावसे पवित्र और सात्त्विक हों जैसे दूध, घी, मक्खन, फल, शाक आदि; जिनमें संग-दोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, बरतन या व्यक्तिके संयोगसे अपवित्रता न आ गयी हो; जो अन्याय और अधर्मसे पैदा किये हुए, दूसरेके हकको मारकर लाये हुए धनके कारण अपवित्र न हो ! एक बात और है—भोजन केवल अपने ही लिये नहीं बनाना-खाना चाहिये । अपने खानेसे पहले अतिथि-अभ्यागत, देवता, ऋषि तथा दूसरे-दूसरे जीवोंके लिये यथासाध्य हिस्सा निकाल-कर तब खाना चाहिये । भोजन शुरू करते समय अन्न-को भगवत्-स्वरूप पवित्र मानकर प्रणाम करना चाहिये और प्रत्येक कौरके साथ ऐसी धारणा करनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं पवित्र, बलसम्पन्न, शुद्धबुद्धिसम्पन्न और पुष्ट हो रहा हूँ । भोजन करते समय असद्विचार या असत् बातचीत नहीं करनी चाहिये । शुद्ध होकर जमीनपर बैठकर भोजन करना चाहिये ।

आहार-शास्त्र एक बहुत बड़ा शास्त्र है और इसकी सब बातें बतलानेमें एक भारी ग्रन्थ तैयार हो जायगा । इसलिये यहाँ संक्षेपमें हमने केवल इसकी मुख्य-मुख्य बातें ही बतला दी हैं । आगे चलकर जब तुम बड़े होओगे तो इस सम्बन्धमें स्वयं पढ़कर सब बातें जान सकोगे । परन्तु जो बातें हमने ऊपर बतला दी हैं उन्हें यदि ध्यानमें रक्खोगे और अपने व्यवहारमें लाते रहोगे तो हमारा विश्वास है कि बहुत-से नित्यप्रतिके दोषों और रोगोंसे अपनेको बचा सकोगे ।

केशव—मैं अवश्य इनपर ध्यान रक्खूँगा ।

---

* अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ —माधवाचार्य

† कुक्षेर्भागद्वयं भोज्यैस्तृतीये वारि पूरयेत् । वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ —भावप्रकाश

लोक-कल्याणके लिये नाम-जप कीजिये

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस समय संसारपर भयानक सङ्कट आया हुआ है और वह आगकी तरह बड़े जोरसे सब ओर फैलता जा रहा है । तमाम विश्वका वातावरण विक्षुब्ध है और प्रायः सभी लोग एक-दूसरेका पतन करनेके लिये राक्षसी प्रयत्नमें लगे हुए हैं । इसका परिणाम और भी भयानक होगा । विश्वके इस महान् सङ्कटको टालनेके लिये वातावरणको शुद्ध और शान्त करनेकी आवश्यकता है और इसका एकमात्र उपाय है——श्रद्धा-भक्ति-सहित श्रीभगवान्‌की आराधना । इसीलिये समय-समयपर 'कल्याण'ने अपने पाठकोंसे भगवन्नाम-कीर्त्तन, श्रीमद्भागवत, गीता तथा श्रीरामचरितमानसके पारायण, भगवन्नाम-जप आदिके लिये प्रार्थना की है और आनन्दकी बात है कि उसपर कुछ ध्यान भी दिया गया है । जगह-जगह भगवन्नाम-कीर्त्तन हुए और हो रहे हैं, श्रीमद्भागवतके भी पारायण हुए हैं——अभी बंबईके श्रद्धालु पुरुषोंने अष्टोत्तरशत भागवतपारायण कराये हैं। टांडो, आदममें सैकड़ों गीतापारायण हुए हैं । श्रीरामचरितमानसके भी हजारों पारायण जगह-जगह हुए हैं । हमारी नम्र प्रार्थना है कि ये सब कार्य और भी अधिक उत्साह, लगन तथा व्यवस्थाके साथ करने-कराने चाहिये । इन्हींसे जगत्‌का यथार्थ मङ्गल हो सकता है ।

गत मासके कल्याणमें 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंकी सेवामें अबसे लेकर कार्तिक शुक्ल ११ तक एक अरब उपर्युक्त १६ नामके मन्त्रका जप करने-करानेकी प्रार्थना की गयी है । नियम पूर्ववत् हैं । सभी भाइयों और माता-बहिनोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि वे अपने-अपने घर, मुहल्ले, गाँव और शहरोंमें इसके लिये विशेष चेष्टा करें। स्वयं करें तथा प्रेम और विनयसे अपने घरवालों, पड़ोसियों, इष्ट-मित्रों और सगे-सम्बन्धियोंसे प्रार्थना करके उनसे जप करवायें । यह जगत्‌की बहुत बड़ी सेवा है । जपकी सूचना नीचे लिखे पतेपर देनेकी कृपा करें ।

नाम-जप-विभाग

'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर 'यू.पी.'

श्रीहरिः

क्रोधके त्यागकी महिमा

यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते । देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा । स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥
यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति । देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति । यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥
यः सन्धारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते । यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥
यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः । न क्रुद्ध्येद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥

शुक्राचार्यजी अपनी कन्या देवयानीसे कहते हैं—देवयानी ! जो नित्य दूसरोंके द्वारा की हुई अपनी निन्दाको सह लेता है, तुम निश्चय जानो कि उसने सबको जीत लिया । जो बिगड़े हुए घोड़ेके समान उमड़े हुए क्रोधको रोक लेता है उसीको साधुलोग जितेन्द्रिय कहते हैं, केवल घोड़ेकी लगाम हाथमें रखनेवालेको नहीं । देवयानी ! जो पुरुष उमड़े हुए क्रोधको अक्रोधके द्वारा शान्त कर देता है, तुम निश्चय जानो उसने सबको जीत लिया। जो पुरुष उमड़े हुए क्रोधको क्षमाके द्वारा शान्त कर देता है और सर्पके द्वारा पुरानी केंचुल छोड़नेके समान क्रोधका त्याग कर देता है, असलमें वही 'पुरुष' कहलाता है । जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दाको सह लेता है और दूसरोंके द्वारा सताये जानेपर भी उनको बदलेमें नहीं सताता, वही अर्थ (परमात्माकी प्राप्ति) का अधिकारी होता है । जो सौ वर्षतक हर महीने बिना थके लगातार यज्ञ करता रहे और जो कभी किसीपर क्रोध न करे, इन दोनोंमें क्रोध न करनेवाला पुरुष ही श्रेष्ठ है ।

(महाभारत आदिपर्व)